सूर साहित्य संदर्भ



डा० रामस्वरूप आर्य

[redacted]

सूर साहित्य संदर्भ

सूर पंचशती समारोह समिति, बिजनौर

सूर साहित्य संदर्भ

संपादक :
डॉ० रामस्वरूप आर्य
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
वर्धमान कालेज, बिजनौर

…आशा है कि भविष्य में हम
…ी सफल होंगे तथा सरसाहित्य का अ…
[redacted]

प्रमुख वितरक : हिंदी बुक सेंटर
४/५ बी, आसफअली रोड, नई दिल्ली-१

प्रकाशक : सूर पंचशती समारोह समिति
बिजनौर (उ० प्र०)

मूल्य : १५०-००

संस्करण : १९७६

मुद्रक : न्यू इंडिया प्रिंटिंग प्रेस
खुरजा (उ० प्र०)

SOOR SAHITYA SANDARBH
by Dr. Ram Swaroop Arya
Price : Rs. 150.00

पुरोवाक्

संदर्भ-ग्रंथ की परंपरा में दूसरा ग्रंथ 'सूर साहित्य संदर्भ' आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इसके पूर्व 'रामचरितमानस' की चतुश्शती पर 'तुलसी मानस संदर्भ' का प्रकाशन हुआ था। साहित्यकारों, आलोचकों एवं सभी प्रकार के पाठकों ने उसको अपनाकर हमें प्रेरित किया। वस्तुतः ये कार्य एक निश्चित ध्येय की संपूर्ति के लिए किए गए हैं—हमारा लक्ष्य है काव्यकार के व्यक्तित्व और उसके कृतित्व का सम्यक् मूल्यांकन और उससे संबंधित तथ्यों का एक स्थल पर संकलन और प्रकाशन, जिससे तत्संबंधी सामग्री एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सके। यह तो हम नहीं कहते कि इस ध्येय में हमें पूरी सफलता मिली है; हाँ, हमने प्रयत्न अवश्य किया है।

महाकवि सूरदास की पंचशती से संबंधित समारोह प्रारंभ हो चुके हैं। सूर पंचशती राष्ट्रीय समारोह समिति ने इसके लिए विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया है। 'सूर साहित्य संदर्भ' भी उसी कार्यक्रम की एक कड़ी है। हमें विश्वास है कि सूर साहित्य के समस्त अध्येताओं, कृष्णभक्त रसिकों, साहित्य-मर्मज्ञों और आलोचकों द्वारा इस ग्रंथ को अपनाया जाएगा।

इस ग्रंथ का विषय-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था अतः संबंधित सामग्री के संकलन के लिए हमने अनेक लेखकों से व्यक्तिगत रूप से तथा पत्रों द्वारा संपर्क स्थापित किया। हमें प्रसन्नता है कि सूरसाहित्य के मूर्धन्य विद्वानों ने अपनी सम्मतियों एवं सुझावों के साथ-साथ ग्रंथ के लिए लेख लिखकर हमारा उत्साहवर्धन किया।

प्रथम खंड में सूरदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लेखों का संकलन किया गया है। 'सूरसागर' सूरदास जी का सर्वप्रमुख ग्रंथ है अतः उसके अनेक पक्षों पर विभिन्न लेखों में विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' पर भी स्वतंत्र लेख दिए गए हैं। ग्रंथ का एक मुख्य पक्ष है, इसका तुलनात्मक खंड, जिसमें १७ निबंध संकलित किए गए हैं। पुराणों तथा हिंदी-काव्यों के साथ-साथ इस खंड में अपभ्रंश, बंगला, गुजराती, मराठी, मलयालम, कन्नड़ व कश्मीरी के कृष्णकाव्य से सूरसाहित्य की तुलना क्षेत्र-विशेष के विद्वानों द्वारा की गई है। तुलनात्मक लेखों की श्रेणी में हम अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कृष्णकाव्य से सूरसाहित्य की तुलना विषयक लेख और देना चाहते थे किंतु बहुत प्रयत्न करने पर भी उनका जुटाना संभव न हो सका। हमें आशा है कि भविष्य में हम इस कार्य में भी सफल होंगे तथा सूरसाहित्य का और अधिक विस्तारपूर्वक तुलनात्मक

अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे। तृतीय खंड 'विविधा' में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सूरदास और उनके काव्य की समीक्षा की गई है।

'सूरसाहित्य संदर्भ' के संपादनकार्य में जिन विद्वानों के महत्त्वपूर्ण सुझाव और अभिमत प्राप्त हुए हैं तथा जिन विद्वानों ने कृपापूर्वक अपने लेख प्रदान किए हैं, उन सभी के प्रति हम हृदय से आभारी हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० सत्येन्द्र, श्री प्रभुदयाल मीतल, डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल, श्री रामनारायण अग्रवाल के प्रति हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं, जिनका आशीर्वाद हमें आरंभ से ही प्राप्त हुआ। हम सूर पंचशती समारोह समिति के अध्यक्ष तथा धामपुर शुगर मिल्स, धामपुर के मुख्य कार्यकारी अधिकारी श्री शोभाराम अग्रवाल तथा समिति के संरक्षक एवं अमरोहा निवासी श्री शान्तिस्वरूप सर्राफ के लिए धन्यवाद के शब्द नहीं जुटा पा रहे हैं, जिनके सहयोग के बिना यह ग्रंथ इस रूप में प्रकाशित होना संभव नहीं था।

ग्रंथ में सूरसाहित्य से उद्धृत अंशों के संदर्भ यथासंभव दिए गए हैं तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित सूरसागर का पाठ स्वीकार किया गया है। संदर्भित पद-संख्या स्कंधानुसार न होकर पूर्ण संख्या की द्योतक है।

संभव है कि ग्रंथ में कतिपय त्रुटियाँ रह गई हों, इन्हें संपादकों का प्रमाद मानकर सहृदय पाठकगण क्षमा करेंगे और अपने बहुमूल्य सुझावों से लाभान्वित करेंगे।

सूर जयंती, १९७६ ई०

□ **संपादकद्वय**

संदर्भ-ग्रंथ-समिति

संरक्षक :

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
डा० आनंदशरण रतूड़ी
श्री प्रभुदयाल मीतल
डा० सत्येंद्र
डा० हरवंशलाल शर्मा
डा० जनार्दनदत्त शुक्ल
श्री रामनारायण अग्रवाल
श्री सतीशचंद्र गुप्त
श्री गंगाशरण दीक्षित
श्री शांतिस्वरूप अग्रवाल

अध्यक्ष :

श्री शोभाराम अग्रवाल

विशिष्ट सदस्य :

डा० कृष्ण केशव गोयल
श्री एम० एल० जैथलिया
श्री शांतिप्रसाद मित्तल
श्री हितेशकुमार शर्मा
श्री ईश्वरशरण अग्रवाल
श्री कन्हैयालाल रस्तौगी
श्री सुरेंद्रपाल सिंह
श्री हरिश्चंद्र गर्ग
श्री बालकृष्ण खन्ना
श्री ब्रजभूषण बजाज
श्री बनवारीलाल गोयल
श्री कैलाशनारायण अग्रवाल
श्री कांतिप्रसाद
डा० चंद्रप्रकाश

सदस्य :

श्री गौरीशंकर द्विवेदी
बाबू वृंदावनदास
डा० चंद्रशेखरन नायर
डा० श्यामबहादुर वर्मा
आचार्य बैजनाथराय
डा० निजामउद्दीन,
डा० रामशंकर द्विवेदी
श्री चैतन्यस्वरूप गुप्त
श्री रामनारायण केला
डा० श्यामकिशोर

संपादक :

डा० रामस्वरूप आर्य

[illegible]

विषयानुक्रमणिका

तुलनात्मक खंड

विविधा

परिशिष्ट

व्यक्तित्व और कृतित्व

☐ डा० विश्वनाथ मिश्र

सूरदास का जीवनवृत्त

सूरदास के जीवनवृत्त के संबंध में सर्वाधिक सामग्री वल्लभ संप्रदाय के कुछ ग्रंथों में उपलब्ध होती है। वल्लभाचार्य जी के पौत्र और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रंथ है। इसमें सूरदास जी की जीवन-सामग्री उनके वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने के समय से आरंभ होती है। सूरदास जी की वार्ता के प्रारंभ में एक प्रकार से शीर्षक के रूप में लिखा है :

> **"अब श्री आचार्य जी महाप्रभून के सेवक सूरदास जी गौ-घाट पर रहते तिनकी वार्ता"**

और इसके बाद छह प्रसंगों में सूरदास जी के जीवन के संबंध में कुछ तथ्य दिए गए हैं। प्रथम प्रसंग में सूरदास जी को वल्लभाचार्य द्वारा अपने संप्रदाय में दीक्षित किए जाने का विवरण है। द्वितीय प्रसंग में श्री वल्लभाचार्य जी के साथ सूरदास जी के श्री गोकुल के दर्शन का वर्णन है। तृतीय प्रसंग में सूरदास और मुगल बादशाह अकबर की भेंट वर्णित है। चतुर्थ प्रसंग में मार्ग में कुछ बालकों को चौपड़ खेलते हुए देखकर इस खेल के रूपक के सहारे सूरदास जी द्वारा अपने पथ-बंधुओं को भगवद्भक्ति समझाने का वर्णन है। पंचम प्रसंग में यह बताया गया है कि सूरदास जी गोवर्धन से कभी-कभी श्री गोकुल में श्री नवनीतप्रिय के दर्शन के लिए आते थे। इसी प्रकार की एक यात्रा का विस्तृत वर्णन है जिसमें उन्होंने गोसाईं जी को माखनलीला, हिंडोला आदि के कई पद सुनाये थे। षष्ठ प्रसंग में सूरदास जी के महाप्रयाण का विवरण है। अपना अंतिम समय निकट जानकर सूरदास जी रासलीला की भूमि पारासौली आए और श्रीनाथ जी की ध्वजा को दंडवत् कर उसकी ओर मुख करके लेट गए। उनके मन में उस समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को देखने

की अभिलाषा थी। गोस्वामी जी ने उनके मन की पुकार सुन ली और आरती आदि से निवृत होकर उनके पास आ गए। उनके साथ उस समय कुंभनदास, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास आदि भी थे। सूरदास जी इस समय तक मूर्च्छित हो गए थे किंतु उन्हें शीघ्र ही चैतन्य लाभ हुआ। उसके बाद उन्होंने **'देखो-देखो हरि जू को एक सुभाय'** पद सुनाया। इसके अनंतर चतुर्भुजदास जी ने उनसे आचार्य महाप्रभु का यश-वर्णन करने के लिए कहा। सूरदास जी ने गाया : **'भरोसे दृढ़ इन चरनन केरो'**। गोस्वामी जी ने उनसे उनकी मनस्थिति के संबंध में प्रश्न किया। उत्तर में उन्होंने **'बलि-बलि-बलि हौं कुमरि राधिका नंद सुवन जासौं रति मानी'** पद गाया। इसी प्रकार नेत्रवृत्ति के संबंध में पूछने पर उन्होंने **'सज्जन नैन रूप रस माते'** पद सुनाया। इसके बाद उन्होंने अंतिम श्वास ली और इस संसार से विदा हो गए।

गोकुलनाथ जी ने 'निजवार्ता' नाम से अपना आत्मवृत्त भी लिखा है। उसमें सूरदास जी के संबंध में निम्नलिखित उल्लेख है :

'सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्राकट्य भयो है तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्य जी सों वे दस दिन छोटे हुते।'

गोकुलनाथ जी इन दोनों वार्ताओं के वक्ता मात्र कहे जाते हैं, इनके लेखन का कार्य उनके बड़े भाई के पौत्र हरिराय ने किया था। हरिराय जी ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' पर 'भावप्रकाश' नामक टीका भी लिखी थी। इस टीका में सूरदास जी के संबंध में दो नई बातें कही गई हैं :

१. सूरदास जी का जन्म दिल्ली के पास सीही गाँव में एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

२. सूरदास जी जन्मांध थे।

इन दोनों तथ्यों पर विचार करते हुए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हरिराय जी ने सूरदास जी के कोई सौ वर्ष बाद इन वार्ताओं को उपस्थित किया था।

वल्लभसंप्रदाय की कुछ और रचनाओं में भी सूरदास जी का उल्लेख है। गोस्वामी जी के छठे पुत्र यदुनाथ ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'वल्लभ दिग्विजय' (सं० १६५८) में लिखा है कि महाप्रभु ने अलर्कपुर (अड़ैल) से लौटते हुए ब्रजयात्रा में सारस्वत सूरदास पर अनुग्रह किया। विट्ठलनाथ भट्ट कृत 'संप्रदाय कल्पद्रुम' (सं० १७२९) में केवल इतना उल्लेख है कि महाप्रभु ने सूरदास को अपनी शरण में लिया। प्राणनाथ कवि कृत 'अष्टसखामृत' (सं० १७६७) में वल्लभाचार्य जी के प्रिय शिष्य सूरदास जी का जन्म सीही ग्राम के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में होने का उल्लेख है। उन्हें चर्मचक्षु विहीन तथा अंतर्दृष्टि से संपन्न कहा गया है, प्रतिदिन हरिलीला के लिए पद रचना की भी चर्चा है और उनका नाम सूरजदास बताया गया है। द्वारिकेश (सं० १७५१-१८००) रचित 'भावसंग्रह' में सूरदास जी को आचार्य महाप्रभु से दस

दिन छोटा कहा गया है और उन्हें सीही ग्रामवासी सारस्वत ब्राह्मण भी कहा गया है। श्रीनाथ भट्ट (सं० १७२५-१८३०) रचित 'संस्कृत-वार्ता-मणि-माला' में सूरदास जी को प्राच्य ब्राह्मण और जन्मांध लिखा है। महाप्रभु से उनकी भेंट अरिल्ल (अड़ैल) गाँव में बतायी गई है। सूरदास जी की रचनाओं में केवल 'सागर' का उल्लेख है। हरिराय जी के सेवक जमुनादास ने गुजराती में 'धौल' नाम देकर सूरदास जी का जीवनवृत्त पद्य में लिखा है। समस्त सामग्री 'भावप्रकाश' से गृहीत है। गोस्वामी गोपिकालंकार (जन्म सं० १८७९) ने 'वैष्णवाह्निक पद' में सूरदास जी का जन्म सं० १५३५ वैशाख शुक्ल ५, जब षष्ठी आ गई थी, लिखा है।

कुछ समसामयिक और परवर्ती ग्रंथों में भी सूरदास जी के उल्लेख मिलते हैं। नाभादास जी ने अपने ग्रंथ 'भक्तमाल' में सूरदास जी का अभिनंदन करते हुए एक छप्पय लिखा है, जिसमें उन्हें दिव्य-दृष्टि-संपन्न, हृदय में हरिलीला के आभास से समन्वित, काव्यरचना के शास्त्रीय संविधान से भली प्रकार परिचित और भगवान् के इस धरती पर अवतरण-क्रियाकलाप आदि के वर्णन में समर्थ बताया है। नाभादास जी ने सूरदास जी की रचनाओं के सामाजिकों पर विशेष प्रभाव का भी संकेत किया है। हरिराम व्यास ने, जो संभवतः सूरदास के समकालीन रहे होंगे, उन्हें पद-रचना में विशेष कुशल घोषित किया है। ध्रुवदास (सं० १६५०-१७४०) कृत 'भक्तनामावली' में सूरदास जी द्वारा वर्णित गोपियों की प्रेमभावना की सराहना है। कवि मियाँसिंह कृत 'भक्तविनोद' में सूरदास जी के संबंध में कुछ विस्तृत विवरण मिलता है: सूरदास जी जन्मांध थे। आठ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हुआ। बाल्यकाल में ही उन्होंने मथुरा की यात्रा की और कृष्णभक्ति को अपने मन में स्थान दिया। एक बार कुएँ में गिर पड़े थे और तब कृष्ण ने स्वयं आकर उद्धार किया था तथा उन्हें दृष्टिदान भी दिया था; किंतु सूरदास जी ने अंधे रहना ही स्वीकार किया। दिल्लीश्वर के सम्मुख उन्होंने अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन भी किया था। ये सभी प्रसंग जनश्रुतियों से संकलित प्रतीत होते हैं।

महाराज रघुराजसिंह कृत 'रामरसिकावली' में सूरदास जी को जन्मांध एवं उद्धव का अवतार कहा गया है तथा अकबर के सम्मुख उनके द्वारा अनेक चमत्कारों का भी वर्णन है। नागरीदास (सं० १७८०-१८१९) ने अपने नागर समुच्चय में एक ऐसे ब्रजवासी बालक का उल्लेख किया है जो होली के भड़ौआ बनाता था, गोसाईं जी ने उसे भगवद्यश वर्णन करने की सलाह दी। यह बालक कृष्णभक्त सूरदास नहीं वरन् कोई और रहा होगा, जिसे महाप्रभु वल्लभाचार्य ने नहीं वरन् किन्हीं अन्य गोस्वामी ने दीक्षा दी थी। वेणीमाधवदास ने अपने 'मूल गोसाईं चरित' में कामद गिरि के एकांत प्रदेश में तुलसीदास जी के साथ सूरदास के मिलन का वर्णन किया है। इस वर्णन में सूरदास जी को तुलसीदास जी के आगे इतना दैन्य प्रदर्शित करते

हुए दिखाया गया है कि वह अविश्वसनीय हो गया है। अधिकांश विद्वानों ने इस ग्रंथ को अप्रामाणिक माना है, इसलिए इसकी सामग्री वैसे ही संदिग्ध है।

समकालीन इतिहास ग्रंथों 'आइने अकबरी' और 'मुंतखिबुत्तवारीख' में अकबर के दरबार के रामदास गवैया के पुत्र सूरदास का उल्लेख है। ये सूरदास कोई और प्रतीत होते हैं अन्यथा वार्ता साहित्य में यह उल्लेख अवश्य होता। अकबर के नवरत्नों में से एक अबुल फजल के पत्रों के संग्रह 'मुंशीयात अबुल फजल' में भी काशी के किसी सूरदास के नाम एक पत्र है जिसमें बादशाह की आज्ञा से यह कहा गया है कि जिस करोड़ी की सूरदास ने शिकायत की है उसके स्थान पर वही व्यक्ति हाकिम रखा जाएगा जिसे सूरदास कहेंगे। ये सूरदास भी काशी के कोई अन्य सूरदास प्रतीत होते हैं, वल्लभ संप्रदाय के सूरदास नहीं।

सूरदास के संबंध में अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। कुछ तो जनसाधारण के बीच प्रचलित किंवदंतियाँ हैं और कुछ वल्लभ संप्रदाय में ही प्रचलित हैं। सामान्य जनश्रुतियों की सामग्री संदिग्ध है। सूरदास नाम के कई व्यक्ति हुए हैं और सभी के प्रसंग वल्लभ संप्रदाय के सूरदास के साथ जोड़ दिए गए हैं। इसी प्रकार माहात्म्य प्रदर्शन के लिए अनेक चमत्कारिक कथाएँ भी चल पड़ी हैं। कुछ सामान्य जनश्रुतियाँ हैं

१. सूरदास जी जन्मांध थे। एक बार वे कुएँ में गिर पड़े। स्वयं कृष्ण ने आकर उनका उद्धार किया और उन्हें दृष्टिदान भी दिया किंतु उन्होंने नेत्रहीन रहना ही स्वीकार किया।

२. सूरदास जी दृष्टि संपन्न थे। एक बार किसी सुंदरी को देखकर वे उसके प्रति आकर्षित हो उठे थे किंतु अपनी सात्त्विक प्रवृत्ति के कारण उन्हें अपना यह आचरण अशोभन प्रतीत हुआ और उन्होंने उसी सुंदरी से अपनी आँखें फुड़वा लीं।

३. सूरदास जी ने लक्षाधिक पदों की रचना की थी।

४. स्वयं कृष्ण ने अनेक पदों की रचना करके उन्हें 'सूरसागर' में जोड़ दिया था।

५. दृष्टि-चमत्कार संबंधी अनेक कथाएँ।

सूरदास जी के जीवन-वृत्त के संबंध में बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध इस सामग्री के अतिरिक्त सूरदास की अपनी रचनाओं का अनुशीलन भी अपेक्षित है। उनमें प्राप्त सामग्री ही सर्वाधिक प्रामाणिक कही जा सकती है। सूरदास जी के सामान्यतः तीन ग्रंथों की चर्चा मिलती है। 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी'। प्रथम निर्विवाद रूप से उनकी रचना स्वीकार की जाती है किंतु उसके कुछ पद प्रक्षिप्त बताए जाते हैं। द्वितीय और तृतीय की प्रामाणिकता के संबंध में मत-वैभिन्य है। सर्वप्रथम हम बाद की दोनों रचनाओं में उपलब्ध सामग्री और उसकी

प्रामाणिकता पर विचार करेंगे और उसके बाद 'सूरसागर' की सर्वाधिक प्रामाणिक सामग्री का अनुशीलन होगा।

सूरदास जी की तथाकथित रचना 'सूरसागर सारावली' में सूरदास के जीवन के संबंध में कुछ सामान्य तथ्य प्राप्त होते हैं। वल्लभसंप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व उन्होंने कर्म-योग, ज्ञानमार्ग और उपासना या भक्ति-भावना के साधना-पथों का अवलंब ग्रहण किया था, किंतु तत्त्व की बात तो उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य ने ही बताई और लीला के रहस्य का उद्‌घाटन किया। उसी दिन से सूरदास जी द्वारा हरिलीला गायन का क्रम चला और उन्होंने एक लाख पदों में भगवान् की वंदना की। इस ग्रंथ के एक पद की एक पंक्ति है **'गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।'**[१] इसका अर्थ विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से लिया है। डा० मुंशीराम शर्मा ने सरसठ वर्ष की अवस्था को सूरदास का महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षित होने का काल माना है। किंतु डा० रामकुमार वर्मा, द्वारिकादास पारीख, प्रभुदयाल मीतल आदि इस पंक्ति के आधार पर इस ग्रंथ को सूरदास द्वारा सरसठ वर्ष की अवस्था में रचित मानते हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस ग्रंथ को अप्रामाणिक घोषित किया है।

यही स्थिति 'साहित्य लहरी' की भी है। इस ग्रंथ के १०९-वें पद का आधार लेकर कुछ विद्वान् इसे सं० १६०७, कुछ सं० १६१७ और कुछ सं० १६२७ का सिद्ध करते हैं। इसी पद के आधार पर कुछ विद्वान् इसे नंददास के लिए रचित मानते हैं और कुछ नंददास के पुत्र कृष्णदास के लिए, कुछ कृष्ण-दास अर्थात् कृष्ण-भक्तों के लिए। इसी प्रकार ११८-वें पद के संबंध में मत-वैभिन्य है, जिसमें सूरदास ने अपने को ब्रह्मभट्ट, पृथ्वीराज रासो के रचयिता चंदबरदाई का वंशज आदि बताया है। डा० मुंशीराम शर्मा तो इसे प्रामाणिक स्वीकार करते हैं किंतु डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० हरवंशलाल शर्मा आदि ने इसे प्रक्षिप्त घोषित किया है।

सूरदास जी की सर्वस्वीकृत प्रामाणिक रचना 'सूरसागर' में आत्म-कथनात्मक उल्लेख थोड़े ही हैं, किंतु जितने भी हैं उनसे कवि के जीवन के संबंध में न सही, व्यक्तित्व के विषय में बड़ी स्पष्ट धारणा बनती है। इस प्रकार की कुछ उल्लेखनीय पंक्तियाँ हैं :

जाति परित्याग :

(क) **बिसरी देहु, गेह सुधि बिसरी, बिसरि गई कुल की कान्यौ।**[२]

(ख) **सूरदास-स्वामी के कारन तजी जाति अपनी।**[३]

---

१. सूरसारावली १००२ २. सूरसागर २०७३ ३. सूरसागर २०७६

अंधत्व :

(क) सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ ।[१]

(ख) सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैननिहूँ की हानि ।[२]

(ग) या झूठि माया कैं कारन, दुहु दृग अंध भयो ।[३]

सांसारिक अनुभव :

(क) सुत-संतान-स्वजन-बनिता-रति घन समान उनई ।[४]

(ख) सुत-सनेहि-तिय सकल कुटुंब मिलि निसि दिन होत खई ।
पद-नख-चंद-चकोर विमुख मन खात अंगार भई ।
विषय-विकार-दवानल उपजी मोह बयारि लई ।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ अजहुँ न टेब गई ।[५]

(ग) अब मैं जानी, देह बुढ़ानी ।
सीस, पाउँ, कर कह्यौ न मानत, तन की दसा सिरानी ।
आन कहत, आनै कहि आवत, नैन-नाक बहे पानी ।
मिटि गइ चमक-दमक अँग-अँग की, मति अरु दृष्टि हिरानी ।[६]

स्वामित्व-बोध :

(क) जन्म साहिबी करत गयौ ।[७]

(ख) तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन बस्तर मलि-मलि धोए ।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै विषयिनि के मुख जोए ।[८]

(ग) हरि हौं सब पतितनि कौ नायक ।[९]

भक्ति-भावना :

(क) अपनी भक्ति देहु भगवान ।
कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिनें रुचि आन ।[१०]

(ख) अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यौं गूंगें मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ।
× × ×
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन पद गावै ।[११]

---

१. सूरसागर ४७ २. सूरसागर १३५ ३. सूरसागर २६१
४. सूरसागर ५० ५. सूरसागर २६६ ६. सूरसागर ३०५
७. सूरसागर ६४ ८. सूरसागर ५२ ९. सूरसागर १४६
१०. सूरसागर १०६ ११. सूरसागर २

(ग) खेलत नंद आँगन गोविंद ।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावति, बदन मनोहर इंदु ।[१]

उक्त पंक्तियों से सूरदास के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भक्ति-भावना को अपनाकर वे जाति आदि के बंधनों से ऊपर उठ गए थे। जन्मांध तो वे नहीं थे। प्रारंभ में उनके आँखें थीं किंतु उनमें कुछ दृष्टिदोष था। परिणत वयः में वे पूर्णतः दृष्टिहीन हो गए थे। जीवन का अनुभव उनका बहुत व्यापक था। स्वामित्व की भावना उनमें पर्याप्त रूप से थी और उनके वैराग्य ग्रहण कर लेने पर भी बनी रही थी। भक्ति-भावना को अपनाने के अनंतर प्रारंभ में वे भगवान् के किसी रूप का भावन नहीं वरन् उन्हें भक्त-वत्सल, दीनदयाल कहकर स्मरण करते थे, किंतु इस प्रकार उनका मन रूप-रेख-गुण-जाति-युक्ति बिन निरालंब भटकता था। इसलिए उन्होंने सगुण लीला के पदों का गायन आरंभ किया। इस लीला-गायन में उन्होंने 'श्रीमद्भागवत्' को आधार बनाया और भगवान् के दशावतारों की कथा कही। इसपर भी उनका मन सर्वाधिक रूप से कृष्णलीला-गायन में लगा और कृष्ण-लीला में भी विशेष रूप से उनकी गोकुल की लीलाओं पर।

सूरदास के जीवन-वृत्त के संबंध में बाह्य तथा अंतर्साक्ष्य के रूप में उपलब्ध इस सामग्री के आधार पर बहुत अधिक कह पाना संभव नहीं है। उनके जन्मस्थान, जन्मतिथि, जाति, अंधत्व, दीक्षाग्रहण, महाप्रयाण आदि के संबंध में कुछ धारणाएँ बनती हैं, उन्हें ही हम आगे उपस्थित कर रहे हैं।

जन्मस्थान : सूरदास के जन्म स्थान का सर्वप्रथम उल्लेख हरिराय जी के 'भावप्रकाश' में मिलता है। दिल्ली के समीपस्थ सीही ग्राम में उन्होंने सूरदास जी का जन्म बताया है। इस ग्राम की भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थिति भी स्पष्ट है :

'दिल्ली के पास चार कोस उरे में एक सीही ग्राम है जहाँ परीक्षित के बेटा जनमेजय ने सूर्ययज्ञ कियो है।'

प्राणनाथ कवि ने भी अपने 'अष्टसखामृत' में इसी स्थान को सूर का जन्मस्थान बताया है। द्वारिकेश जी के भावसंग्रह में भी इसी स्थान का उल्लेख है। मियाँसिंह कृत 'भक्त विनोद' में किसी स्थान विशेष की चर्चा नहीं है। 'मथुरा प्रांत विप्र कर गेहा' बताया गया है। 'साहित्य लहरी' से वंशवृक्ष के पद में गोपाचल को सूरदास का जन्मस्थान कहा गया है। डा० श्यामसुंदरदास ने गौ-घाट के समीप स्थित रुनकता को सूरदास का जन्मस्थान बताया है।

---

१. सूरसागर ७१५

सूरदास के जन्मस्थान के विषय में इस प्रकार चार विकल्प हैं—सीही, ब्रजप्रदेश का कोई ग्राम, गोपाचल और रुनकता। अंतिम विकल्प रुनकता के लिए बाह्य-साक्ष्य या अंतर्साक्ष्य से किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। डॉ० श्यामसुंदरदास ने संभवत: गौ-घाट के सामीप्य के कारण उसे सूरदास का जन्मस्थान लिख दिया था। 'साहित्य लहरी' में उल्लिखित गोपाचल को डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने वर्तमान ग्वालियर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किंतु प्रश्न यह है कि जब सूरदास जी ने स्वयं गोपाचल को अपना जन्मस्थान लिख दिया था तो हरिराय जी ने उसे अस्वीकार कर सीही को उनका जन्मस्थान क्यों बताया? यह पद निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है और इसका रचयिता ग्वालियर का रहने वाला कोई ब्रह्मभट्ट था, वल्लभसंप्रदाय के कवि सूरदास नहीं। मियाँसिंह कृत 'भक्त-विनोद' का उल्लेख अपर्याप्त है। उससे, मथुरा के विस्तृत प्रांत का कौन-सा ग्राम अथवा नगर सूरदास का जन्मस्थान था; इसका कोई संकेत नहीं मिलता। अब केवल एक ही विकल्प रह जाता है सीही ग्राम। इसके विषय में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि गोकुलनाथ जी ने अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि संभवत: उनके समय तक सूरदास के जन्मस्थान के विषय में संप्रदाय के लोगों को निश्चित रूप से ज्ञात न हो और जब हरिराय जी 'भावप्रकाश' नामक टीका लिखने लगे हों तो उन्हें अपने अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ हो कि दिल्ली के समीपस्थ सीही ग्राम सूरदास की जन्मभूमि है और तभी उन्होंने उसे लिपिबद्ध कर दिया हो। आज भी दिल्ली से मथुरा की ओर आते हुए वल्लभगढ़ के पास एक सीही ग्राम स्थित है। इस ग्राम में यद्यपि सूरदास का कोई स्मारक नहीं है किंतु यहाँ के लोग कहते हैं कि सूरदास का जन्म यहीं हुआ था। इसी प्रकार वे हरिराय जी द्वारा उल्लिखित उस ऐतिहासिक प्रसंग की भी चर्चा करते हैं कि यहीं जनमेजय ने सर्पयज्ञ किया था। इस सामग्री के आधार पर सीही ग्राम को ही सूरदास का जन्मस्थान स्वीकार करना समीचीन है।

जाति : सूरदास की जाति के संबंध में इसी प्रकार अनेक विकल्प हैं। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के एक पद में सूर ने स्वयं अपने को जाट घोषित किया है। 'साहित्य लहरी' उपलब्ध वंशवृक्ष में वे अपने को ब्रह्मभट्ट बताते हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अंतर्साक्ष्य के आधार पर उन्हें 'ढाढ़ी' सिद्ध किया है। श्रीनाथ भट्ट ने 'संस्कृत-वार्ता-मणि-माला' में उन्हें प्राच्य ब्राह्मण कहा है। हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण ठहराया है। अपना निर्णय देने के लिए इन सभी मतों का सम्यक् परीक्षण अपेक्षित है।

सर्वप्रथम 'सूरसागर' में उपलब्ध मत लिया जाए। यदि सूरदास जी ने अपने को जाट घोषित किया होता तो गोकुलनाथ जी ने अपने 'वार्तासाहित्य' में और

हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में इसका अवश्य उल्लेख किया होता। इसी आधार पर यह पद प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। द्वारिकादास पारीख और प्रभुदयाल मीतल का कहना है कि कांकरौली के सरस्वती भंडार की हस्तलिखित प्रति में यह पद है ही नहीं। यह पद किसी जाट जाति के ही व्यक्ति का लिखा है, क्योंकि उसी की वीर-भावना के अनुरूप इसमें परुषावृत्तिमूलक अंत्यानुप्रास की योजना है। उसने सूरदास को भी अपनी ही जाति का बताकर अपनी जाति की महत्ता को स्थापित करना चाहा था और इसी उद्देश्य से यह पद 'सूरसागर' में जोड़ दिया था। यह पद सूरदास जैसे कोमलकांत और अपने विषय में मौन रहने वाले व्यक्ति के स्वभाव के पूर्णतः विपरीत है; इस आधार पर भी यह प्रक्षिप्त कहा जा सकता है।

सूरदास जी को ब्रह्मभट्ट सिद्ध करने की भी लगभग ऐसी ही कहानी है। इस संबंध में भी आपत्ति यह है कि सूरदास जी ने यदि स्वयं अपने को गोपाचल निवासी ब्रह्मभट्ट और चंद का वंशज कहा होता तो वार्ता साहित्य और उसकी टीका भावप्रकाश में भी उसका उल्लेख अवश्य होता।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अंतर्साक्ष्य के आधार पर सूरदास जी को ब्राह्मणेतर एवं ढाढ़ी सिद्ध करना चाहा है। इस संबंध में उन्होंने सूरसागर की निम्नलिखित पंक्तियों का आधार लिया है :

(क) हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ।

(ख) हौं तेरौ जनम-जनम कौ ढाड़ी सूरदास कहाऊँ।

(ग) मैं तेरे घर कौ हौं ढाढ़ी, मौ सरि कौउ न आन।

(घ) हौं तौ तुम्हारे घर कौ ढाढ़ी, नाऊँ सुने सचु पाऊँ।

(ङ) गिरि-गोवर्धन बास हमारौ, घर तजि अनत न जाऊँ।
ढाढ़िनि मेरी नाचै-गावै, हौ हूँ ढाढ़ बजाऊँ।

इस प्रकार के पद कृष्णदास, नंददास, चतुर्भुजदास आदि के भी मिलते हैं। यदि सूरदास जी को ढाढ़ी स्वीकार किया जाय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि ये सभी ढाढ़ी थे, जबकि ये निश्चित रूप से अन्य जाति के स्वीकृत हैं। सूरदास के संबंध में तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उनके कोई ढाढ़िन भी थीं और वे उसके साथ गोवर्धन में रहते थे, वल्लभसंप्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर लेने के बाद भी। किंतु वास्तविकता यह है कि पुष्टि-मार्ग की सेवा-प्रणाली में राधाष्टमी के दिन ढाढ़ी की भूमिका ग्रहण करने की प्रथा महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के समय से ही चली आ रही है और आज भी प्रचलित है। सूरदास, नंददास, कृष्णदास आदि भी संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण ढाढ़ी बने होंगे और उन्होंने इस प्रकार के पदों की रचना की होगी।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सेवक श्रीनाथ भट्ट ने 'संस्कृत-वार्ता-मणिमाला' में सूरदास जी को प्राच्य ब्राह्मण लिखा है। प्राच्य ब्राह्मण से उनका तात्पर्य मथुरा या ब्रजप्रदेश से पूर्व के ब्राह्मणों से हो सकता है। ब्रजप्रदेश के पूर्व के ब्राह्मण कान्यकुब्ज, गौड़, सरयूपारीण आदि होते हैं। यदि भट्ट जी के मत को मान लिया जाय तो सूरदास जी को इनमें किसी का होना चाहिए। वस्तुतः भट्ट जी का यह कथन सूरदास जी की जाति के संबंध में उनकी अनभिज्ञता ही प्रकट करता है। यदि वे वास्तव में जानते होते तो उन्होंने प्राच्य ब्राह्मण नहीं वरन् स्पष्ट रूप से लिखा होता कि वे कौन से ब्राह्मण थे।

गोस्वामी हरिराय जी ने सूरदास जी को सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। यदुनाथ जी ने अपने ग्रंथ 'वल्लभदिग्विजय' (सं० १६५८) में लिखा है कि महाप्रभु ने अलर्कपुर (अड़ैल) से लौटते हुए ब्रजयात्रा में सारस्वत सूरदास पर अनुग्रह किया। इस वक्तव्य से भी उनके सारस्वत ब्राह्मण होने का संकेत मिलता है, केवल सारस्वत अर्थात् सरस्वती-पुत्र नहीं, क्योंकि सरस्वतीपुत्र तो अष्टछाप के और भी कवि थे। कवि प्राणनाथ ने भी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण ही लिखा है। इस मत के संबंध में सबसे बड़ी आपत्ति यही है कि गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण क्यों नहीं लिखा ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि सूरदास वल्लभसंप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही अपने को जाति के बंधनों से मुक्त कर चुके थे, इसलिए गोकुलनाथ जी जब अपने वार्तासाहित्य का निर्माण कर रहे थे, उन्हें उसका भान नहीं हो सका। इसलिए वे ८२ भक्तों में ७२ की जाति का उल्लेख करते हुए भी सूरदास जी की जाति नहीं लिख सके। हरिराय जी सूरदास के जीवन-वृत्त के प्रथम अनुसंधाता कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपने अनुसंधान से ही सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। अंतर्साक्ष्य से भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है। सूरदास जी निश्चित रूप से उच्च जाति के रहे होंगे, तभी उन्होंने अनेक बार **'भगवंत भजन हित तजी जाति अपनी'** कहा है। यदि वे निम्न जाति के ढाढ़ी आदि होते जैसा कि डा० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है तो उन्होंने जाति परित्याग का नहीं वरन् भक्ति मार्ग के ग्रहण से महत्व-प्राप्ति का उल्लेख किया होता। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री के आधार पर सूरदास जी को सारस्वत ब्राह्मण स्वीकार किया जाना चाहिए।

जन्म तिथि : सूरदास जी की जन्मतिथि का उल्लेख सर्वप्रथम गोकुलनाथ जी की 'निजवार्ता' में मिलता है :

"सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्रागट्य भयो है तब इनको जन्म भयौ है। सो श्री आचार्य जी सों ये दस दिन छोटे हुते।"

श्री द्वारिकेश जी ने अपने 'भावसंग्रह' में सूरदास जी को महाप्रभु से दस दिन छोटा लिखा है। इसी तथ्य का उल्लेख गोस्वामी हरिराय जी के सेवक जमुनादास

कृत गुजराती ग्रंथ 'धौल' में है। डा० दीनदयालुगुप्त का कहना है कि नाथद्वारा में भी यह कहा जाता है कि सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य से अवस्था में दस दिन छोटे थे और वल्लभाचार्य जी के जन्मोत्सव के दस दिन बाद वहाँ सूरदास जी का जन्म दिवस भी मनाया जाता है।

महाप्रभु का जन्म दिवस सं० १५३५ की वैशाख कृष्णा १० उपरांत ११ रविवार स्वीकृत है। इस आधार पर सूरदास जी का जन्म वैशाख शुक्ला ५ उपरांत ६ मंगलवार को कहा जा सकता है। वल्लभाचार्य जी के वंशज गोपिकालंकार ने भी 'वैष्णवाह्निक पद' में सूरदास जी की यही जन्मतिथि बतायी है :

माधव शुक्ला पंचमि ऊपर छट्ठ अधिक सुखदाय।
संवत् पंद्रह पैंतीस वर्ष कृष्ण सखा प्रगटाय॥

जैसा कि ऊपर भी कहा गया है कि इसी तिथि को नाथद्वारा में सूरदास जी के जन्म दिवस का आयोजन भी होता है। इस प्रकार यही तिथि सूरदास जी के जन्म दिवस के रूप में स्वीकार्य है।

माता-पिता-परिवार आदि : सूरदास जी की प्रामाणिक रचनाओं में इस संबंध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'साहित्यलहरी' में दिया गया वंशवृक्ष संबंधी पद अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। साहित्यलहरी को प्रामाणिक मानने वाले प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास पारीख का भी यही विचार है। इस पद में सूरदास के पिता का नाम नहीं है किंतु अपने को चंद और सूरदास का वंशज घोषित करने वाले नानूरामजी से उपलब्ध चंद की वंशावली में उनका नाम रामचंद दिया है और इसे प्रामाणिक मानते हुए डा० मुंशीराम शर्मा ने 'आइने अकबरी' का संदर्भ दिया है, जिसमें अकबर की राजसभा के गायक रामदास के पुत्र सूरदास का उल्लेख है। यदि सूरदास जी अकबर के सभा-गायक रामदास के पुत्र होते तो गोकुलनाथ जी, हरिराय जी आदि ने इस तथ्य का उल्लेख अवश्य किया होता, ये सूरदास कोई और रहे होंगे, वल्लभ संप्रदाय के सूरदास नहीं। इस पद में सूरदास के छह भाइयों का भी उल्लेख है जिन्होंने बादशाह के साथ युद्ध में वीर गति पाई थी। यह इतनी बड़ी बात है कि अगर वल्लभ संप्रदाय के सूरदास के साथ घटित हुई होती तो वार्ता-साहित्य में इसका संकेत अवश्य होता। इसलिए यह भी स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार सूरदास के माता-पिता के संबंध में कोई बात पूर्ण विश्वासपूर्वक नहीं कही जा सकती।

शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान : सूरदास जी की रचनाओं के अनुशीलन से यह धारणा बनती है कि जीवन के व्यापक अनुभव के साथ काव्य-रचना के शास्त्रीय संविधान पर भी उनका अगाध अधिकार था। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने के

पूर्व लिखित विनय के पदों में उन्होंने जिस मर्मस्पर्शी शब्द-विधान, वाग्वैदग्ध्य और आलंकारिक कौशल का प्रदर्शन किया है, वह व्यवस्थित प्रयास के बिना केवल सहज प्रतिभा के प्रकाश से संभव नहीं है। उसी समय से उनके पदों में संगीतकला का सौष्ठव भी दृष्टिगत होने लगता है और वह भी निश्चित प्रयास के फलस्वरूप उद्भूत कहा जा सकता है। इसी प्रकार उनकी रचनाओं में ज्योतिष का जो ज्ञान यदा-कदा प्रदर्शित हुआ है, वह भी इसी विद्या के अध्ययन के अनुशीलन के आधार पर ही संभव है। कृष्णलीला को लेकर उन्होंने जिन पदों की रचना की है उनकी पृष्ठभूमि में 'श्रीमद्भागवत्' का गंभीर अध्ययन परिलक्षित होता है। इस आधार पर यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि सूरदास जी ने संस्कृत भाषा और साहित्य, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, संगीत आदि का सम्यक् अध्ययन किया होगा।

महाप्रभु वल्लभाचार्य से सूरदास की भेंट मथुरा और आगरा के बीच स्थित गौ-घाट पर हुई थी। वल्लभाचार्य जी ने उनसे हरिलीला-गायन के लिए कहा था। इससे प्रकट है कि उस समय तक वे भक्त के साथ-साथ कवि और गायक के रूप में भी प्रसिद्ध हो गए थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वल्लभाचार्य जी ने मायावाद के खंडन और भक्तिमार्ग के मंडन के लिए किए गए काशी और दक्षिण के प्रसिद्ध शास्त्रार्थों के अनंतर अड़ैल से लौटते हुए गौ-घाट पर सूरदास जी को दीक्षित किया था। सांप्रदायिक साहित्य के अनुसार काशी का शास्त्रार्थ सं० १५६३ और दक्षिण का सं० १५६५ में हुआ था। सूरदास को दीक्षा देने के अनंतर कुछ समय तक ब्रजवास के बाद जब वे अड़ैल लौटे थे तो उनके प्रथम पुत्र गोपीनाथ का जन्म हुआ था। गोपीनाथ की जन्मतिथि आश्विन कृष्णा १२ सं० १५६८ स्वीकृत है। इस प्रकार सूरदास जी ने सं० १५६७ में कभी वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ग्रहण की होगी। यदुनाथ कृत 'वल्लभ दिग्विजय' से भी इस तिथि की संपुष्टि होती है। सूरदास जी इस प्रकार ३२ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए होंगे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूरदास जी की दीक्षा तिथि को सं० १५८० में माना है। इसका कारण संभवतः सं० १५७६ में श्रीनाथ जी के मंदिर का पूर्ण होना है। यह सही है कि श्रीनाथ जी का मंदिर सं० १५७६ में पूर्ण हुआ था किंतु उसका आरंभ तो श्री पूरनमल खत्री ने सं० १५५९ की वैशाख शुक्ला तृतीया को ही करा दिया था और सं० १५६५ तक वह इतना बन गया था कि, 'वल्लभ दिग्विजय' और 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार वल्लभाचार्य जी ने उसमें श्रीनाथ जी को प्रतिष्ठित कर दिया था। इसलिए यह पूर्णतः संभव है कि उन्होंने सं० १५६७ में सूरदास को श्रीनाथ जी के कीर्तन का भार सौंप दिया हो। डा० रामरतन भटनागर और वाचस्पति त्रिपाठी ने श्रीनाथ जी के मंदिर के पूर्ण होने का आधार लेकर ही सूरदास जी का दीक्षाकाल सं० १५७७ माना है। प्रभुदयाल मीतल के अनुसार 'श्रीनाथ जी के

प्राकट्य' की वार्ता में सं० १५७७ को ही सूरदास जी के दीक्षा-ग्रहण का काल दिया गया है किंतु शेष सांप्रदायिक साहित्य में जब सं० १५६७ की ही संपुष्टि होती है तो उसे अस्वीकार कर देना उपयुक्त नहीं। निष्कर्षतः सूरदास जी ने सं० १५६७ में ३२ वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ग्रहण की होगी।

अष्टछाप की स्थापना : सं० १५८७ में काशी में महाप्रभु ने गंगा में जल-समाधि ग्रहण की। इसके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी ने गद्दी संभाली। सं० १५९९ में उनके स्वर्गवास के अनंतर उनके छोटे भाई विट्ठलनाथ जी ने कार्य संभाला। उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा-प्रणाली और कीर्तन-व्यवस्था को पुनः नियोजित किया। श्रीनाथ जी की आठ समय की झाँकियों के लिए उन्होंने आठ कीर्तनकार नियुक्त किए जिनमें से पाँच—सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्ण दास और विष्णुदास—वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और तीन—छीतस्वामी, गोविंद स्वामी और चतुर्भुजदास—विट्ठलदास जी के अपने। यह कार्य उन्होंने सं० १६०१-२ में गुजरात यात्रा के अनंतर संपन्न किया। सं० १६०७ में नंददास जी संप्रदाय में दीक्षित हुए, किंतु गोवर्धन में उनका स्थायी निवास सं० १६२० से आरंभ हुआ। तभी विष्णुदास के स्थान पर उन्हें कीर्तनकार बनाया गया। इन आठ कीर्तनकारों को अष्टसखा भी कहा जाता था, और इन्हीं की प्रसिद्धि आगे चलकर अष्टछाप के कवियों के रूप में हुई और सूरदास जी को इनमें प्रधान स्थान मिला। नंददास के प्रति उनके मन में विशेष स्नेह-भाव था।

अकबर और तुलसीदास से भेंट : गोकुलनाथ जी ने चौरासी वैष्णवन की वार्ता में सूरदास के साथ मुगल बादशाह अकबर की भेंट का वर्णन किया है। अष्टसखान की वार्ता में उसका विस्तृत विवरण है। तानसेन से सूरदास का एक पद सुनकर अकबर के मन में स्वयं सूरदास से उनके पद सुनने की इच्छा जागी। गोवर्धन आदमी भेजा गया। उसने आकर बताया कि सूरदास जी मथुरा में हैं, वहीं अकबर ने सूरदास से भेंट की। किंतु यह भेंट कब हुई इसके संबंध में कोई निश्चित मत नहीं है। डा० दीनदयालु गुप्त का विचार है कि यह भेंट सं० १६३६ में हुई होगी। उनका कहना है कि फतेहपुर सीकरी से अजमेर की यात्रा में कभी लौटते हुए अकबर सूरदास जी से मिला होगा। सं० १६३६ में यह भेंट इसलिए संगत है कि उसी वर्ष उसने धार्मिक आचार्यों की बहसें सुनी थीं और भिन्न-भिन्न मतों के महात्माओं को भी अपने दरबार में बुलाया था। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है कि सं० १६३२ में अकबर ने फतेहपुर सीकरी में 'इबादतखाना' (पूजाभवन) बनवाया था। इसलिए अधिक संभव है कि यह भेंट इसी के बाद कभी हुई हो। प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास पारीख का मत है कि यह भेंट सं० १६२३ में हुई होगी। सांप्रदायिक इतिहास के आधार पर उनका मत है कि सं० १६२३ की फाल्गुन कृष्णा ७ को

विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ जी को गोवर्धन से मथुरा ले गए थे। सूरदास जी भी श्रीनाथ जी की सेवा के लिए मथुरा गए थे और उन्हीं के साथ दो मास बाइस दिन मथुरा में रहने के अनंतर वापिस लौटे थे। इसी अवधि में कभी सूरदास जी के साथ अकबर ने भेंट की होगी।

सूरदास के साथ अकबर के मिलन के संबंध में सं० १६२३ के इस मत की संपुष्टि इतिहास से भी होती है। सं० १६२१ में तानसेन अकबर की राजसभा में आया था। उसके बाद तानसेन से सूरदास का कोई पद सुनकर अकबर के मन में सूरदास जी से मिलने की इच्छा जागी होगी। यह प्रसंग अकबर के साथ तानसेन के संपर्क के प्रारंभिक दिनों में भी संभव है। यदि डॉ० दीनदयालु गुप्त के मत को मान लिया जाय तो सं० १६३६ तक तो तानसेन अकबर को हजार बार सूरदास के पद सुना चुका होगा। इतिहास के पृष्ठों से ज्ञात होता है कि अकबर अकसर शिकार के लिए मथुरा की ओर जाया करता था। सं० १६२० में मथुरा के पास शिकार खेलते हुए ही उसे यह बताया गया था कि हिंदुओं से उसका शासन अपने तीर्थ स्थानों की यात्रा पर कर लेता है और उसे अनुचित समझ कर उसने उसे बंद करा दिया था।[1] इन ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह लगता है कि सं० १६२३ में वह मथुरा की तरफ पुनः शिकार खेलने गया हो। तभी उसने तानसेन से सुने हुए सूरदास जी के पद से उनके दर्शनों की इच्छा की संपूर्ति करनी चाही हो और यह ज्ञात होने पर कि सूरदास मथुरा में ही हैं, वहाँ उनसे मिला हो। वार्ता साहित्य के इस विवरण से कि सूरदास सं० १६२३ में वहाँ थे, यही तिथि अकबर के साथ भेंट के लिए समीचीन प्रतीत होती है। सूरदास जी की अवस्था उस समय अट्ठासी वर्ष की थी। यह अवस्था भी यात्रा के लिए बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, लेकिन उस समय तो उन्हें श्रीनाथ जी के साथ, जिन्हें उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया था, आना पड़ा था। सं० १६३६ में यदि सूरदास जी के साथ मथुरा में अकबर की भेंट मानी जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सत्तानवे वर्ष की अवस्था में वे मथुरा आए होंगे परंतु इसके लिए वार्तासाहित्य अथवा सांप्रदायिक साहित्य में कोई प्रमाण नहीं है।

अतः मीतल जी और पारीख जी का मत ही सही है कि अकबर और सूरदास की भेंट सं० १६२३ में हुई होगी।

सूरदास जी और तुलसीदास जी की भेंट का उल्लेख भी कुछ ग्रंथों में मिलता है। बाबा वेणीमाधवदास ने 'मूल गोसाईं चरित' में लिखा है कि गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से सं० १६१६ में सूरदास जी तुलसीदास जी से मिलने चित्रकूट आए थे। यह ग्रंथ स्वयं तुलसीदास जी के जीवन-वृत्त के संबंध में अप्रामाणिक माना जाता है,

---

१. अकबर दि ग्रेट, खंड १, डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० ७७

यह प्रसंग भी कल्पना प्रसूत है। सूरदास जी की अवस्था उस समय ८१ वर्ष की थी और उस आयु में सूरदास जी ने गोवर्धन से चित्रकूट तक की यात्रा की होगी; यह बात कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। यदि सूर ने किसी प्रकार यह यात्रा की होती तो वार्ता साहित्य में उसका उल्लेख अवश्य प्राप्त होता। 'प्राचीन वार्ता रहस्य' में सूर और तुलसी के मिलन का उल्लेख है परंतु उसमें तुलसीदास स्वयं पारसौली आकर सूरदास से मिले हैं।

सूरदास के आँखि है :

सूरदास संज्ञा का प्रयोग आज उन सभी व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो चक्षुविहीन होते हैं और यह शब्दार्थ संभवतः सूरदास के समय से ही चला आ रहा है। इस आधार पर यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि सूरदास चक्षुविहीन थे किंतु यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वे जन्मांध थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रकृति के पल-पल परिवर्तित स्वरूप, मानवीय रूप-शोभा, मानव-मुख की विविध मुद्राओं, उसके विभिन्न अंगों की अनेक प्रेरणाओं से बदलती हुई चेष्टाओं, इस जगत् के अनंत क्रियाकलापों आदि के जितने यथार्थ, सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट वर्णन किए हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि उन्होंने इस जीवन और जगत् के प्रवाह को बड़ी गंभीरता, व्यापकता और मनोयोग के साथ अपनी दोनों आँखों से देखा था और परिणत वयः में कभी दृष्टिहीन हो गए थे। फिर भी आस्तिकमना विचारकों का एक वर्ग उन्हें जन्मांध सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस संबंध में जन्मांध सिद्ध करने वाले विद्वानों के मतों का सम्यक् अनुशीलन अपेक्षित है तभी अपने मत का तर्क-सम्मत निरूपण संभव है।

आधुनिक विद्वानों में सूरदास को जन्मांध सिद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास डॉ० मुंशीराम शर्मा के 'सूरसौरभ' में दृष्टिगत होता है। उनका वक्तव्य है :

"सूर जैसे उच्चकोटि के भक्त की तो बात ही निराली है। वे भगवत्भक्त थे। अघटित घटना घटा देने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते। साधारण व्यक्ति जिस वस्तु को नेत्र रहते भी नहीं देख सकता उसे क्रांतदर्शी भक्त एवं महात्मा अनायास देख लेते हैं।"

डा० हरवंशलाल शर्मा का वक्तव्य भी कुछ इसी प्रकार का है :

"जन्मांध व्यक्तियों के अंतःकरण के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं और वे अंतर्जगत् से ही वाह्यजगत् का साक्षात्कार करने लगते हैं।……फिर सूर तो सूर थे, भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे, प्रकाशमय आराध्य में विलीन होकर स्वयं तेजोमय हो चुके थे फिर उनके लिए संसार में क्या वस्तु अप्रकाशित रह जाती? वे भक्ति द्वारा उस साधना स्थिति पर पहुँच चुके थे जहाँ पहुँचकर भक्त के लिए समस्त ब्रह्मांड हस्तामलकवत् हो जाता है।"

सूरदास को जन्मांध सिद्ध करने का सर्वाधिक प्रयास प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास पारीख ने किया है । उन्होंने अंतर्साक्ष्य के रूप में 'सूरसागर' की किन्हीं हस्तलिखित प्रतियों से निम्नलिखित पंक्तियाँ खोज निकाली हैं :

(क) किन तेरो गोविंद नाम धर्‌यौ ।
सूर की बिरियाँ निठुर ह्वै बैठे जन्म अंध कर्‌यौ ।
(ख) नाथ मोहि अबकी बेर उबारौ ।
करम हीन जनम को अंधौ मो तें कौन नकारौ ।
(ग) हरि बिन संकट में को काकौ ।
रह्यौ जात एक पतित जनम कौ आँधरौ सूर सदा कौ ।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उन्होंने हरिराज जी कृत 'भावप्रकाश', श्रीनाथ भट्ट कृत 'संस्कृत-वार्ता-मणिमाला', नाभादास रचित 'भक्तमाल', रघुराजसिंह रचित 'रामरसिकावली' और मियाँसिह कृत 'भक्तविनोद' का आधार लेकर सूरदास जी को जन्मांध सिद्ध किया है। उनका अपना तर्क है कि सूरदास सिद्ध-ज्ञानी-भक्त थे, इसलिए जन्मांध होते हुए भी वे इस विश्व के विभिन्न क्रियाकलापों का भली प्रकार वर्णन कर सके । इस संबंध में उनके कुछ वक्तव्य हैं :

१. सूरदास महाप्रभु की कृपा से तत्त्वज्ञानी और आत्मा (ईश्वर) में रति करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। वे स्वयं प्रकाश हो गये थे, अतएव वे बाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे । उन्होंने जो कुछ वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान शक्ति के आधार पर ही किया है ।

२. श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप 'सर्वरसमय' है अतः सिद्ध भक्त को उसकें बोध से काव्य शास्त्रोक्त दसों रसों का अनुभव हो जाता है । इस बात की पुष्टि सूरदास के पदों में प्राप्त दसविध रसों के वर्णन से भी होती है ।

३. परमब्रह्म श्री कृष्ण में दसों रस विद्यमान थे और वे सूरदास के परम इष्ट थे । अतः उनके साक्षात्कार से श्री कृष्ण के दशविध रसात्मक स्वरूप का अनुभव पूर्ण ज्ञान उन्हें प्राप्त होना स्वाभाविक है ।

इस तर्कविधान को संपुष्ट करने के लिए उन्होंने सूरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्‌धृत की हैं :

चरण-कमल बंदौं हरि राई ।
जाकि कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कुछ दरसाई ।[1]

अंत में उनका निष्कर्ष है कि सूरदास जन्म से ही अंधे थे ।

---

१. सूरसागर १

भगवान् के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु इन विद्वानों की तर्क-परंपरा पर सम्यक् विचार के लिए बाह्य तथा अंतर्साक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री का भली प्रकार परीक्षण अपेक्षित है। गोकुलनाथ जी कृत वार्ता साहित्य में सूरदास जी की जन्मांधता का कोई उल्लेख नहीं हैं। चौरासी वार्ता के प्रथम प्रसंग में यह कहा गया है कि जब आचार्य जी भोजन के अनंतर गद्दी पर विराजमान हुए तो सूरदास जी ने आकर उनके दर्शन किए। इसी प्रकार द्वितीय प्रसंग में सूरदास जी द्वारा श्री गोकुल और श्रीनाथ जी के दर्शन का उल्लेख है। चतुर्थ प्रसंग में मार्ग में सूरदास जी द्वारा चौपड़ के खेल में संलग्न लोगों के देखने का उल्लेख है। पाँचवें प्रसंग में सूरदास जी द्वारा गोवर्धन से श्री गोकुल और श्री नवनीतप्रिय के दर्शनों के लिए कभी-कभी आने की चर्चा है। छठे प्रसंग में सूरदास जी के महाप्रयाण के विवरण में सूरदास जी के मन में श्री विट्ठलनाथ जी के दर्शन की इच्छा जागने का उल्लेख है। इन सभी प्रसंगों में दर्शन का तात्पर्य प्रत्यक्ष दर्शन के स्थान पर मानस-दर्शन स्वीकार्य नहीं है। सूरदास जी से अंतिम क्षण में विट्ठलनाथ जी ने उनकी नेत्र-वृत्ति के संबंध में प्रश्न किया है, इससे यह भी संकेतित होता है कि उन दिनों उनकी आँखों में कष्ट रहा होगा। तृतीय प्रसंग में सूरदास के साथ मुगल बादशाह अकबर की भेंट का विवरण है और इस अवसर पर सूरदास जी के अंधे होने की भी चर्चा है। यह लगता है कि सूरदास जी उस समय तक दृष्टिहीन हो गए थे किन्तु उनकी आँखों में पीड़ा का क्रम उसके बाद भी चलता रहा एवं मृत्यु के क्षण तक भी बना रहा होगा। तभी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास जी की विदा बेला के समय उनकी नेत्र-वृत्ति के संबंध में भी प्रश्न किया था।

गोस्वामी हरिराय ने अपने 'भावप्रकाश' में सूरदास जी को जन्मांध लिखा है: 'सो सूरदास जी के जन्मते ही सों नेत्र नहीं।'

इसके अनंतर सूरदास नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए 'सूर' और 'आँधरा' का भेद स्पष्ट किया गया है: 'जन्मे पाछे नेत्र जायँ ति को आँधरा कहिये सूर न कहिये और ये तो सूर हैं।' सूर शब्द का आगे और भी स्पष्टीकरण है। सूरदास के नेत्रों का आकार भी नहीं था, केवल भौहें थीं, इसलिए वे सूर थे।

हरिराय जी के इस वक्तव्य पर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यदि सूरदास जी जन्मांध थे तो गोकुलनाथ जी ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया? उससे तो अष्टछाप के कवि सूरदास का व्यक्तित्व और भी अधिक गौरव-मंडित हो जाता। फ़िर यदि सूरदास जी सलपट अंध थे तो विट्ठलनाथ जी ने उनसे अंतिम समय में नेत्रवृत्ति के विषय में प्रश्न क्यों किया? यह प्रश्न तो यही बताता है कि सूरदास जी के आँखें थीं। क्या वृद्ध होने पर वे दृष्टिहीन हो गए थे और उनकी आँखों में पीड़ा रहती थी जो मृत्यु के क्षण भी थी। विट्ठलनाथ जी उससे अवगत थे। इसीलिए

उन्होंने नेत्रों की वृत्ति के संबंध में प्रश्न किया था। हरिराय जी ने सूरदास जी के व्यक्तित्व की गरिमा के संवर्द्धन के लिए उन्हें जन्मांध घोषित कर दिया था। उनके समकालीन और परवर्ती लेखकों श्रीनाथ भट्ट, नाभादास, रघुराजसिंह और मियाँसिंह द्वारा सूरदास को जन्मांध लिखने के पीछे हरिराय जी की प्रेरणा ही है। उनकी इस धारणा में जनश्रुतियों का योग भी स्वीकार किया जा सकता है। फिर उस युग में भगवद्कृपा से सब कुछ संभव माना जाता था, इसलिए इन आस्तिकमना सज्जनों ने सूरदास जी को जन्मांध, परंतु ईश्वरीय कृपा से दिव्यदृष्टि संपन्न, घोषित कर दिया है। किंतु आज के बुद्धिवादी, तर्कशील और यथार्थोन्मुख युग में, विपरीत प्रमाणों के होते हुए भी, यह स्वीकार कर लेना सर्वथा अनर्गल है।

सूरसागर में उपलब्ध निम्नलिखित पंक्तियों से सूरदास जी की जन्मांधता नहीं वरन् यही सिद्ध होता है कि वे वयः प्राप्ति पर ही दृष्टिहीन हुए थे :

(क) द्वै लोचन तुम्हरे द्वै मेरे।[१]

(ख) द्वै लोचन साबित नहिं तेउ।[२]

(ग) सूरदास की एक आँखि है ताहू मैं कछु कानो।[३]

(घ) सूरदास सो कहा निहोरौ नैननिहूँ की हानि।[४]

(ङ) या झूठी माया के कारन दुहुँ दृग अंध भयो।[५]

यद्यपि ये पंक्तियाँ सूरसागर में इसी क्रम से उपलब्ध नहीं हैं किन्तु ये इसी अनुक्रम में लिखित प्रतीत होती हैं। सूरसागर भी तो एक निश्चित क्रम से नहीं लिखा गया था। उसके पदों को तो बाद में श्रीमद्भागवत् के क्रम पर व्यवस्थित किया गया है। इन पंक्तियों से यही सिद्ध होता है कि सूरदास के दोनों ही आँखें थीं। वयः प्राप्ति पर उनकी एक आँख में दोष आ गया। फिर उनकी एक आँख तो बिल्कुल ही चली गई और दूसरी में कुछ दोष उत्पन्न हो गया। उसके बाद उनकी वह आँख भी जाती रही और वे दोनों आँखों से अंधे हो गए।

अतः अंतर्साक्ष्य के आधार पर यही कहा जा सकता है कि सूरदास जी जन्मांध नहीं थे। बाद में अंधे हुए थे।

गोलोकवास : सूरदास जी के देहावसान के समय का विवरण वार्ता साहित्य में उपलब्ध है और हम उसका उल्लेख पहले कर आए हैं। उससे निष्कर्ष निकलता है कि उस समय विट्ठलनाथ जी उपस्थित थे। किंतु संप्रदाय के जिन अन्य वरिष्ठ लोगों की उपस्थिति दिखाई गई है, उनमें नंददास का नाम नहीं है। इससे लगता है कि नंददास के, जो कि सूरदास के सर्वाधिक निकट थे, देहावसान के अनंतर और

---

१. सूरसागर २४०३ २. सूरसागर २४६८ ३. सूरसागर ४७
४. सूरसागर १३५ ५. सूरसागर २९१

विट्ठलनाथ जी के जीवनकाल में ही सूरदास का निधन हुआ होगा। नंददास जी का देहावसान उपलब्ध सामग्री की परीक्षा करते हुए डॉ० दीनदयालुगुप्त ने सं० १६३६ के लगभग माना है। विट्ठलनाथ जी का निधन सं० १६४२ में स्वीकृत है। विट्ठलनाथ जी को उनके अंतिम दिनों में कृष्णदास अधिकारी ने श्रीनाथ जी की सेवा से मुक्त कर दिया था। जब सूरदास जी का निधन हुआ तो वे सेवाकार्य से ही मुक्त होकर उनके पास आए थे। इस प्रकार सं० १६४० के लगभग सूरदास का गोलोकवास हुआ होगा। श्री प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास पारीख ने भी वार्तासाहित्य एवं अन्य सांप्रदायिक रचनाओं के आधार पर सूरदास के गोलोकवास का यही काल माना है। इस प्रकार लगभग १०५ वर्ष की दीर्घायु में सूरदास जी दिवंगत हुए।

☐ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सूरकालीन साधना और समाज

ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में किसी समय सूरदास ने जन्म ग्रहण किया था और सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक ये जीवित रहे। इनका काल ईसा की सोलहवीं शताब्दी रखा जा सकता है। इतिहास की दृष्टि में यह काल भारतीय संस्कृति के पराजय का काल है। विदेशी शक्तियाँ भारतवर्ष के इस कोने से उस कोने तक अपना आतंक विस्तार कर चुकी थीं। युद्ध विग्रह में, वाणिज्य व्यवसाय में, भीतरी और बाहरी राज्य व्यवस्था में—सर्वत्र विदेशियों और विधर्मियों का हाथ था। इस देश के रहने वालों ने अनिच्छापूर्वक, विवश होकर यह शासन-व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। बीच-बीच में सिर उठाने की कोशिश अगर कहीं हुई भी, तो तत्काल ही दर्प चूर्ण कर दिया गया। सचमुच यह युग इस दृष्टि से देखने से अत्यंत अंधकारमय दिखाई देता है। भारतवर्ष की असफलता की करुण कहानी से इस युग के इतिहास का अध्याय का अध्याय भरा पड़ा है।

परंतु इन सारी विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्मरूप में निस्तेज नहीं हुआ था। "यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवर्ष की साधना नहीं है। एक बार बड़े-बड़े राजा और सम्राट हमारे देश में दिखाई पड़े थे। किंतु इनकी महिमा इन्हीं में स्वतंत्र है। देश के सर्वसाधारण ने उस महिमा की सृष्टि भी नहीं की, वहन या भोग भी नहीं किया। व्यक्ति विशेष की शक्ति में ही उसका उद्भव और विलय हुआ। किंतु भारतवर्ष की एक अपनी साधना है, वह उसके अंतर की चीज। सब प्रकार के राष्ट्रीय विपर्यय के भीतर से उसकी धारा बहती रही है।"[1] सूरदास के युग में यह धारा सूख नहीं गई थी, बल्कि और भी स्पष्ट होकर दिखाई पड़ी थी। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी भारतवर्ष की राजनीतिक हार का युग

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भले ही हो, वर्तमान भारत इन शताब्दियों का ही परिणाम है। इन दो सौ वर्षों को एक बार इतिहास से निकाल दीजिए, फिर देखिए हम कहाँ के रह जाते हैं। वर्तमान भारत जिन महापुरुषों की देन है, वे—रामानंद, वल्लभ, चैतन्य, कबीर, सूरदास, दादू, मीराबाई, तुलसीदास, नरसीमेहता, तुकाराम—सबके सब इन्हीं दो शताब्दियों की उपज हैं। इन दो शताब्दियों को छोड़ दिया जाय तो हिंदी साहित्य में तो कुछ रह ही नहीं जाता। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सच। देखा जाय यह बात कैसे संभव हुई ?

हिंदू धर्म के शास्त्र संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी को शास्त्रों के भाष्य या टीका का युग कह सकते हैं। मुसलमानों के आगमन के पहले भी सैकड़ों जातियाँ इस देश में आकर हिंदू धर्म का कवच पहन चुकी थीं। नयी-नयी जातियों के आने से नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होती गयीं और हिंदू शास्त्रकारों ने नयी-नयी स्मृतियाँ और नए-नए पुराण रचकर इन समस्याओं को हल करने की चेष्टा की थी। उस समय तक हिन्दू-जाति के अंदर एक क्षीण जीवनी-शक्ति वर्तमान थी। इस जीवनी शक्ति के कारण ही वे नयी व्यवस्थाएँ बना सकी थी, परंतु मुसलमानों के आने से वह शक्ति स्तंभित-सी हो गयी। अब तक जो जातियाँ आई थीं उनकी अपनी कोई जबर्दस्त संस्कृति न थी, पर मुसलमानों की संस्कृति केवल सशक्त और संयत ही नहीं थी उसमें भारतीय संस्कृति के विरोधी उपादान भी थे। बड़ी विकट समस्या थी।

हिंदू जाति में—जहाँ तक शास्त्रों का संबंध था—मौलिकता बच नहीं रही थी। पर परंपरा की एकांत-प्रेमी सभ्यता होने के कारण वह शास्त्रों को फेंक भी नहीं सकती थी। इस विकट युग में कुछ शास्त्रकारों ने पुरानी स्मृतियों और पुराने पुराणों के स्तूपीभूत संग्रह से काल-धर्म की उपयोगिनी विधि-व्यवस्थाओं की खोज शुरू की। स्मृतियों पर नयी टीकाएँ लिखी गईं, नए-नए व्यवस्था-शास्त्र रचे गए और नए-नए पुराण ग्रंथ भी बनाए गए। मनु के टीकाकार मेघतिथि और कुल्लूक भट्ट, मिताक्षरा टीका लिखने वाले विज्ञानेश्वर, चतुर्वर्ग चिंतामणिकार हेमाद्रि, बंगाल के रघुनंदन, काशी के कमलाकर आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इस काम में हाथ लगाया।

केवल स्मृति और पुराण ही तक यह बात सीमित नहीं रही। वेदांत, न्याय, व्याकरण, मीमांसा, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी शास्त्रों में मौलिकता का कोई चिह्न नहीं मिलता। केवल टीका ही इस युग का कर्त्तव्य कार्य था। वेदों का सर्वोत्तम भाष्य, जिसे सायणाचार्य ने लिखा, इसी युग की उपज है। सारांश यह कि शास्त्रों की दृष्टि से इस युग को टीका-युग कहा जा सकता है।

रघुनंदन को लीजिए या हेमाद्रि को, निर्णय-सिंधु को देखिए या मिताक्षरा को, सर्वत्र एक विशाल प्रयत्न दृष्टिगोचर होगा। राशि-राशि स्मृतियों और पुराणों के

उद्धरण दे-देकर व्याख्याकारों ने हिन्दू-संस्कृति के वास्तविक रूप को बचा रखने की कोशिश की। इस प्रयत्न को देखकर उस युग की विकट समस्या का अनुमान होता है। सभी विद्वान् मानों हिंदू-शास्त्रों की सारी शक्ति समेटकर विदेशी शक्ति का सामना करने को तत्पर हैं। सवाल यह है कि वह विकट समस्या क्या थी ? और सूरदास के अध्ययन से उस विकट समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है या नहीं ? क्या सूरदास स्वयं एक ऐसी शक्ति थे, जो भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न कर रहे थे ?

इन प्रश्नों का उत्तर जितना ही कठिन है उतना ही सरल भी है। सूरदास शायद ही कहीं ऐसी बात कह गए हों, जो उस युग की तात्कालिक परिस्थिति पर प्रकाश डाले। कारण यह है कि वे किसी युग विशेष के आदमी नहीं थे। परंतु सामाजिक परिस्थिति कुछ इस प्रकार जटिल और विषम हो उठी थी कि कहीं-कहीं सूरदास के पदों में उनकी ओर एक अस्पष्ट इंगित मिलता है। इस बात को समझने के लिए उस युग की साधना का एक संक्षिप्त नापजोख आवश्यक है।

इतिहास का विद्यार्थी, हमारे प्रश्नों के उत्तर में, छूटते ही कह उठेगा कि उस विकट समस्या को तो एक वाक्य में ही बताया जा सकता है। मुसलमान बादशाह मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ते जा रहे थे और हिंदू तीर्थों को बरबाद कर रहे थे, नाना उचित-अनुचित उपायों से भोली-भाली हिंदू जनता को मुसलमान बनाया जा रहा था, आये दिन हिंदू-भले-घरों की बहू-बेटियों का सतीत्व नष्ट किया जा रहा था। इससे बढ़कर और विकट समस्या क्या हो सकती है ? सचमुच इतिहास मुसलमानों की इसी ज्यादती को बताकर चुप हो जाता है। परंतु ये बातें शास्त्रीय रूप नहीं धारण कर सकतीं। इससे बढ़कर उपहासास्पद बात और क्या हो सकती है कि मुसलमान तो गदाके आघात से सोमनाथ की मूर्ति को चूर्ण-विचूर्ण करते रहें और हिंदू इस आक्रमण से रक्षा पाने के लिए 'मिताक्षरा' लिखा करें। नहीं, यह उत्तर हमारे प्रश्न का उचित उत्तर नहीं हुआ। हम यह स्वीकार करते हैं कि मुसलमानों ने कभी-कभी अनुचित शारीरिक बल का प्रदर्शन किया था; पर उसके लिए हिंदुओं ने शारीरिक बल से ही, भले ही वह अल्प या असंयत हो—आतम-रक्षा की चेष्टा की थी। वस्तुतः शास्त्रीय समस्या का कारण कुछ और ही था।

बौद्ध धर्म का इसके बहुत पहले लोप हो चुका था। लोप का यह अर्थ नहीं है कि वह एकदम कहीं उड़कर अन्यत्र चला गया था। असल में वह पुनरुज्जीवित हिंदू धर्म में ही घुलमिल गया था। हिंदू-सभ्यता अब पुरानी वैदिक सभ्यता नहीं रह गयी थी। उसमें नाना भाँति के अवैदिक उपादान आ मिले थे। बौद्धधर्म का दुःखवाद, वैराग्य, मूर्ति-पूजा इत्यादि बातें हिंदू धर्म की अपनी चीज हो गयी थीं। अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने सिद्ध किया है कि बौद्ध धर्म की ये बातें पहले से ही आर्येतर

जातियों में विद्यमान थीं। आर्य-सभ्यता का प्रधान केंद्र था यज्ञभूमि और द्रविड़ सभ्यता का तीर्थ। उत्तरकाल में यज्ञों का स्थान तीर्थों ने ले लिया था। मुसलमानों के आगमन के पहले हिंदू-सभ्यता प्रधानतः तीर्थों, व्रतों, अनुष्ठानों और विविध प्रतीकों की पूजा पर ही केंद्रित थी। धर्म आंतरवस्तु न होकर बाहरी दिखावे का रूप धारण करता जा रहा था। बौद्धों का प्रवर्तित वैराग्य इस युग में अति विकृत रूप में देखा गया। लाख-लाख की संख्या में काज-कर्महीन अलस साधुओं का दल व्यर्थ वैराग्य की आँच से हिंदू-संस्कृति को झुलसा रहा था। प्रतीक-पूजन का सात्त्विक अंश लुप्त होकर विकृत रूप को स्थान दे चुका था।

इस समय पूर्व और उत्तर भारत में सबसे प्रबल संप्रदाय नाथपंथी योगियों का था। जनता का सारा ध्यान इन अशास्त्रीय योगियों की ओर आकृष्ट था। ये लोग महायान बौद्धधर्म के उत्तराधिकारी थे। इन योगियों के परिवर्तित रूप में तथागत के स्थान पर शिव का अधिकार हो गया था सही, पर मूलतः ये बौद्ध थे। गोरखनाथ, मीन नाथ आदि बड़े-बड़े साधकों ने इस साधना को खूब समृद्ध किया। कबीर, नानक, दादू आदि संतों की वाणियों पर इसका यथेष्ट प्रभाव है। इसी तरह धर्म और निरंजनमतवाद की छाप भी परवर्ती साधकों पर है। वे लोग निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे।

इसी समय एक और धारा पश्चिम से आयी। यह शास्त्रीय मुसलमानों बा-शरा की साधनाधारा नहीं थी बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियों की साधना थी। शास्त्रीय मुसलमान हिंदू धर्म के मर्मस्थान पर आघात नहीं कर सकते थे। वे केवल उसके शरीर को नोंच खसोटकर दुःख भर पहुँचा सकते थे। इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया। कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना-पद्धति का अविरोधी था। पर अविरोधी होने से क्या होगा, उसका सामंजस्य आचारप्रधान टीकायुग के धर्म से न हो सका। भारतवर्ष की वह धारा जो आचार-प्रधान वर्णाश्रम धर्म के विद्वानों के नीचे गुप्त रूप से बह रही थी, एकाएक इस सधर्मी को पाकर विशाल वेग से जाग पड़ी। निरंजन, नाथ आदि मार्गों की साधना पहले से ही निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त थी। इन दो धाराओं के संयोग से एक अभिनव साधना ने जन्म लिया। कबीर, दादू आदि इसी मार्ग के यात्री हैं।

यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न यह अभिनव निर्गुण उपासना-पद्धति ही उस विपुल वैराग्य के भार को कम कर सकी जो बौद्ध-संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को इस विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियों, उपजातियों को

सृष्टि होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक तरह पर चलती ही जा रही थी। इसमें अगर कभी विद्रोह हुआ था तो यह वैराग्य-प्रधान साधुपंथों के द्वारा। परंतु अबकी बार समस्या बड़ी टेढ़ी हो चली। सामने ही एक विराट् शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी समाज था। घर में ही वैराग्य-प्रधान साधुओं का भारी विद्रोह था, ये दो बातें ही वर्णाश्रम-व्यवस्था को हिला देने के लिए काफी थीं। परंतु तीसरी शक्ति तो और भी विचित्र और अद्‌भुत थी। निम्न श्रेणी के साधक अपनी महिमा-शालिनि प्रतिभा और साधना के बल पर ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक के गुरु बन रहे थे और सो भी न तो समाज से निकलकर और न वैरान्य की धूनी रमा कर। इस विकट परिस्थिति को सँभालना शास्त्र के लिए असंभव हो उठा था। टीकाकारों ने बहुत प्रयत्न किया, पर व्यर्थ।

इसी समय दक्षिण से एक नयी धारा आई। यह धारा थी भक्ति की, कबीर आदि संतों ने जिस साधना का उपदेश किया था वह भारतवर्ष की अपनी ही चीज थी, सरल और सहज थी, परंतु तात्कालिक जनसमुदाय अपने पुराने संस्कारों के कारण इसे तत्काल ग्रहण नहीं कर सका। कबीरदास ने स्थान-स्थान पर जन-मत को काफी आघात भी पहुँचाया है, जो उस युग की संस्कार-जन्य जड़ता को देखकर उन्हें करना पड़ा था। पर दक्षिण भारत से आई हुई भक्ति-धारा साधारण जनता के लिए बहुत दूर की चीज नहीं जान पड़ी। इस साधना का केंद्र-बिंदु था प्रेम। राम और कृष्ण का आश्रय लेकर इस भक्ति की साधना ने उस युग को एक नया प्रकाश दिया।

विदेशी संस्कृति से आत्म-रक्षा के लिए अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगीं। पहली कबीर आदि की निर्गुण-साधना और दूसरी सूरदास आदि की सगुण-साधना। पहली शक्ति शास्त्रकारों के लिए स्वयं एक समस्या थी। इस धारा ने सूफी संतों के मतवाद को भारतीय रूप में ही प्रकट नहीं किया, उन्हें भारतीय संस्कृति से प्रभावित भी किया। यह हिंदू प्रभावापन्न मुसलमान साधकों का दल अपने समाज के शास्त्रकारों के निकट ठीक उसी प्रकार उपस्थित हुआ जिस प्रकार कबीर आदि के समान साधक हिंदू शास्त्रकारों के निकट हुए थे। किसी-किसी मुसलमान साधक को अपने को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ा था।

भक्त-साधकों की दूसरी धारा शास्त्र और परिस्थिति का सामंजस्य करती हुई आगे बढ़ी। इन्होंने शास्त्र के उन अंशों को, जो भक्ति-सिद्धांत के अविरोधी थे, ज्यों का त्यों मान लिया परंतु अन्य अंशों की उपेक्षा की। हमारा यह अध्ययन केवल सूरदास से संबंध रखता है। अतः हम यहाँ न तो पहली धारा के साधकों की ही चर्चा करेंगे और न दूसरी धारा के अन्य भक्तों की। अपनी बात की जाँच के लिए हम सूरदास और उनके समसामयिक भक्तों के ग्रंथों से ही यथासाध्य उद्धरण देने का प्रयत्न करेंगे।

सूरदास आदि भक्त कवियों में कहीं विरोध की ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बात को अनुचित समझेंगे तो अत्यंत मृदु भाषा में उसकी उपेक्षा पर जोर देंगे। यह उपेक्षा भी वे सीधे नहीं कहेंगे। कहेंगे कवि की भाषा में, लक्षणा और व्यंजना का आवरण डालकर। इनकी तुलना उपनिषद् के ऋषियों से की जा सकती है, जो यज्ञ-याग के विरोधी नहीं, उपेक्षक थे। सूरदास का 'सूरसागर' प्रेम का काव्य है। इस प्रेम की लीला का वर्णन करते-करते प्रसंगवश वे कहीं-कहीं योग, तीर्थ आदि पर कुछ कह गए हैं। उस छोटे से कथन से, उस युग की परिस्थिति पर, कभी-कभी एक हल्का-सा प्रकाश पड़ जाता है।

सूरदास की दृष्टि में उस युग के साधक

सूरदास के युग में सबसे प्रबल मतवाद था नाथपंथी योगियों का। गोपियों के मुख से सूरदास ने इस मत के विषय में बहुत कुछ कहलाया है। 'सूरसागर' पढ़कर इन योगियों के विषय में बहुतसी बातें जानी जा सकती हैं। ये आसन, ध्यान, आराधना आदि के द्वारा साधना करते थे, मुद्रा, भस्म, विषाण, मृगचर्म आदि धारण करते थे।[1] ये आसन बाँधकर, आँख मूँद कर ध्यान किया करते थे[2] और गोरखनाथ का नाम लेकर अलख जगाया करते थे, इनका उपदेश भी सूरसागर में दिया हुआ है। ये कहा करते थे, भगवान् शून्य, सहज में वास करते हैं। इंगला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों में होता हुआ जीवात्मा ब्रह्मसायुज्य को पाता है।[3] ये सर्व जगत् को ब्रह्ममय देखने का उपदेश करते थे। ब्रह्म अलख है, निरंजन है। इनकी साधना में पद्मासन जमा कर, आँख मूँद कर ध्यान देने पर जोर दिया जाता था। ऐसा करने पर इन लोगों के कथनानुसार अंतर्ज्योति का साक्षात्कार होता था। यही अंतर्ज्योति अच्युत, अविगत और अविनाशी है।

महायान बौद्ध-धर्म में धीरे-धीरे सहजयान की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। कहते हैं, यही सहजयान योग से मिल कर नाथपंथ के रूप में आविर्भूत हुआ। इन मतों में, सहज शून्य, निरंजन आदि बातें ज्यों की त्यों रह गईं। परिस्थिति के अनुसार इनके अर्थों में हेर-फेर जरूर होता रहा, पर इनकी धारा नहीं टूटी। सहजयान की साधना प्रणाली, जैसे चित्त स्थिर करना, प्राणायाम, बिंदुधारण प्रभृति बातें ज्यों की त्यों रह गईं। कबीरदास आदि संतों ने इन शब्दों को ग्रहण किया था। सूरदास इन

---

१. आसन, ध्यान, वायु आराधन, अलि मन चित तुम ताए।
अतिहिं विचित्र सुबुद्धि सुलच्छन, गुनी जोग मत गाए।
मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचा-मृग, ब्रज जुवतिनि नहिं भाएँ।। सूरसागर ४१२३

२. आये हैं ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौं लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदे सखि, कैसें कढ़ै वियोग।। सूरसागर ४२०८

३. सूरसागर ४७१२

सारी योग-क्रियाओं और कृच्छ साधनाओं को अनावश्यक समझते हैं। प्रेम के सामने ये कोई चीज नहीं। यद्यपि ये इनको विमार्ग में ले जाने का साधन नहीं समझते, उल्टे इसे बहुत ऊँचा और साधारण जनों के लिए अगम्य समझते हैं[1] परंतु उनका यह मत मानना पड़ता है कि भक्तिरूपी सहज पंथ के रहते यह योग का मार्ग, सब तरह से उच्च होते हुए भी, व्यर्थ का भार है।[2]

इसके बाद निर्गुण उपासना की बातें हैं। निर्गुण-उपासना से सूरदास का मतलब शायद कबीरदास आदि की साधना से है। सूरदास इसको भी सगुण उपासना के सामने फीका समझते हैं। इस निर्गुण-उपासना के साधकों का कहना था कि त्रिगुणात्मक भेष त्याग करके पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करो। भगवान् का न तो नाम है, न रूप। उनका कुल भी नहीं, वर्ण भी नहीं। न कोई पिता-माता है, न कोई स्त्री है। वे त्रिगुणातीत हैं। यह संसार मिथ्या है। ईश्वर को सुख भी नहीं होता और दुःख भी नहीं।[3] आत्मा ही ब्रह्म है, वह घट-घट व्यापक है। भगवान् अविगत हैं, अविनाशी हैं, पूर्ण हैं—इस निर्गुण-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।[4]

इस मत से सगुण-उपासना की सरलता और उसका उत्कर्ष भी सूरसागर में अनेक स्थानों पर कहा गया है।[5] भगवान् के सगुण रूप के होते हुए निर्गुण-उपासना का आश्रय सूरदास को पसंद नहीं।

---

१. मधकर, हम अजान मति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी।
कंचन कौ मृग कौनैं देख्यौ, किन बाँध्यौ गहि डोरी।
कहि धौं मधुप बारि तैं माखन, कौनैं भरी कमोरी।
बिनुहीं भीत चित्र किन कीन्हौ, किन नभ घाल्यौ झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूका, जिन हठि भुसी पछोरी।
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ, हम अबला मति थोरी।
चाहति सूर स्याम मुख चंदहिं, अखियाँ तृषित चकोरी। सूरसागर ४१७१

२. ऊधौ हमहिं न जोग सिखैयै।
जिहिं उपदेस मिलैं हरि हमकौं, सो ब्रत नेम बतैयै। सूरसागर ४३१०

३. गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष।
× × ×
ज्ञान बिनु नर मक्ति नाहिं, यह विषय संसार।
रूप रेख, न नाम जल थल बरन अबरन सार।।
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नहीं जाकैं, भजौ ताकौं जाई।। सूरसागर ४३०३

४. सूरसागर ४७१३

५. (ऊधौ) प्रेम भक्ति रहित निरस जोग कहा गायो।
निरगुन अविनासी मत, कहा आनि भाख्यो।
सूरदास जीवन धन कान्ह, कहाँ राख्यो।। सूरसागर ४२१५

ये दो मतवाद ही उस समय जोरों पर थे। स्वयं सूरदास इनसे प्रभावित हुए थे। योग-मार्ग में कृच्छ साधना पर अधिक जोर दिया जाता था और निर्गुण-मार्ग में ज्ञान पर। और भी कितने ही पंथ उस समय वर्तमान थे। पर उन सभी पंथों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, कृच्छ साधना प्रधान और ज्ञान प्रधान। कृच्छ साधना और ज्ञान-मार्ग की चर्चा करते समय सूरदास उन सभी मतों की आलोचना कर जाते हैं जो उस समय प्रचलित थे। जहाँ-तहाँ अन्य संप्रदायों का नाम भी सूरसागर में मिल जाता है जैसे मुड़िया या मुंडित संयासी।[१] ये भी ज्ञान-प्रधान साधक थे। सूरदास इनकी साधना को भी प्रेम के समकक्ष नहीं रखना चाहते।

जनसाधारण में उस समय व्रत, पूजा, उपवास, तीर्थ आदि की महिमा खूब प्रतिष्ठित थी। सूरदास इन सारी बातों को व्यर्थ समझते थे।[२] इस बात में वे निर्गुण ज्ञान-मार्गियों से प्रभावित हुए जान पड़ते हैं। योग, यज्ञ आदि अनुष्ठान भी उन्हें पसंद नहीं।[३]

पर इस बात का मतलब यह नहीं कि सूरदास स्मार्त पंथ के विरोधी हैं। वे भक्ति को सर्वोपरि समझते हैं। अगर भक्ति है तो तीर्थ-व्रत की जरूरत नहीं, अगर भक्ति नहीं है तो तीर्थ-व्रत से कुछ बड़ी चीज की प्राप्ति नहीं होगी।

भगवान् की दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-शील आदि कोई चीज नहीं है।[४] योगी और अयोगी उनकी दृष्टि में समान हैं। केवल प्रेम चाहिए, प्रेम से ही वे मिलते हैं।[५] इस प्रेम के अभाव में संसार का प्राणी व्यर्थ ही माया के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमा करता है। यही सूरदास का अपना मत है।

---

१. ऊधौ, तुम हौ निकट के बासी।
यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुँटिया बसैं कासी। सूरसागर ४२८६

२. गनिका किये कौन व्रत संजम, सुक-हित नाम पढ़ावै।
मनसा करि सुमिर्‌यौ गज बपुरैं ग्राह प्रथम गति पावै।। सूरसागर १२२

३. काहेको अश्वमेघ जग कीजैं गया-श्राद्ध कासी केदार।
रामकृष्ण अभिधाम न पटतर जो तन गरै हेम हतमार।।
प्राग कल्प माथे करवत दै, चन्दा तरनि ग्रहन लछवार।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, यम कै दूत कौन टारै मार।।

४. राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं, रंक होय कै रानौं। सूरसागर १२

५. प्रेम प्रेम सो होई प्रेम सो पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जिहितैं मिलै गुपाल।

उस युग का समाज और सूरदास की साधना

यह ध्यान देने की बात है कि दक्षिण से जो भक्ति की धारा उत्तर भारत में आई थी, वह सर्वत्र एक ही समान नहीं बनी रही। बंगाल में उसने एक रूप धारण किया, गुजरात में दूसरा और युक्त प्रांत में तीसरा। इसका कारण यह है कि मूल धारा जिस प्रदेश में पहुँची वहाँ की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार विशेष रूप में परिवर्तित हो गई। इस प्रकार सूरदास में वह धारा एक रूप में दृष्ट हुई, तुकाराम में दूसरे में। इसी समय पश्चिम के सूफी-मत की एक साधना पद्धति भी इसी देश में आई थी और वह इस देश के कबीर आदि में एक स्वतंत्र रूप धारण कर गई। कबीर और सूरदास आदि का साधना प्रदेश करीब-करीब एक ही था। इन दोनों संतों ने दो मार्ग लिए परंतु दोनों का ही आधार एक ही प्रकार की सामाजिक परिस्थिति थी। इसलिए इन दोनों संतों में जो बातें एक ही सी हैं उनसे उस युग के समाज का चित्र स्पष्ट हो सकता है।

ऊपर के कथन को समझने में भूल हो सकती है। कहा जा सकता है कि सूरदास या कबीरदास की साधना का विशिष्ट रूप किसी सामाजिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है, वह व्यक्तिगत चीज है और व्यक्ति विशेष की शिक्षा का फल है। समाज से उसका कोई संबंध नहीं। परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग अपने आस-पास की परिस्थिति से प्रभावित हुए थे। सूरदास का भक्ति-सिद्धांत वल्लभाचार्य का उपदेश-संभूत माना जा सकता है पर यह भी क्या सत्य नहीं है कि एक विशेष परिस्थिति ने उन्हें वल्लभाचार्य की ओर प्रवृत किया था? इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि उस युग के भारतीय समाज के सामने कोई बहुत ऊँचा आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, सोते-जागते थे और चार दिन तक हँसकर या रोकर मर जाते थे। जो धार्मिक प्रवृति के थे वे दस-बीस मंदिर बनवा देते थे। यज्ञ-याग करके हजार पाँच सौ ब्राह्मणों और साधुओं को भोजन खिला देते थे। ऊँचे वर्ग के लोग अपनी झूठी शान में मत्त रहते थे। इनका प्रधान कर्त्तव्य था—जो उस युग में धनी आदमी की शोभा समझा जाता था—विलासिता। कवि लोग इस विलासिता की प्रशंसा करते थे, भाट लोग उनका यही यश गाते थे और समाज की निचली श्रेणी के आदमी अपने रक्त तथा माँस को गला कर इनकी विलासिता की आग को सदा प्रज्वलित रखने के लिए ईंधन एकत्र कर देते थे। प्रत्येक गृह कलह का अखाड़ा था। क्योंकि सम्मिलित परिवार प्रथा तब भी चल रही थी। उस समय जो जब तक कमा सकता था, चैन करता था। वृद्ध और शिथिलेंद्रिय होने पर उसी के लड़के-बाले उसका निरादर करने लगते थे।

ऊपर हमने जो बातें कहीं हैं वे अनुमान से ही कही हैं। इस अनुमान के लिए सूरदास और कबीरदास में बहुत काफी मसाला है। हम उनके कथनों को ज्यों का

त्यों नहीं स्वीकार करना चाहते। कारण यह है कि वे समाज की स्थिति स्पष्ट करने के लिए कुछ नहीं कहते। उनके कहने का प्रधान लक्ष्य या तो उसकी अस्थिरता दिखाकर वैराग्य-भावना को उत्तेजित करना है या सुधार की प्रवृति को जगाना। दोनों ही उद्देश्यों को सामने रखकर समाज के केवल असत् अंश पर ही जोर दिया जा सकता है। भक्त और संत कवियों ने वस्तुतः वैसा ही किया है।

सूरदास ने एक पद में तात्कालिक मनुष्य-जीवन का एक पूरा चित्र खींचा है। है तो यह केवल उसकी विलासमय दशा का, परंतु अगर सूरदास की मनोभावना का परिचय रखते हुए इसका उपयोग किया जाय तो उस समाज का कुछ-कुछ अनुमान किया भी जा सकता है। इस पद में माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक का जो वर्णन किया गया है वह जीवन की विफलता की एक मनोरंजक कहानी है। नीचे वह पद दिया गया है :

चौपरि जगत मड़े जुग बीते।
गुन पाँसे, क्रम अंक, चारि गति सारि, न कबहूँ जीते।
चारि पसार दिसानि, मनोरथ घर, फिरि फिरि गिनि आनै।
काम-क्रोध-मद-संग मूढ़ मन, खेलत हार न मानै॥

मातु गर्भ थिति पाइ पिता दस मास उदरसे डारै।
जनम छठी छक और बधाई दुई छक दुई पुनि पारै।
मुंडन करनवेध व्रत-बंध विवाह गवन गृहवासी।
आलिंगन चुंबन परिरंभन नखछत चारु परसपर हासी॥

केतिकी करुना बेलि चमेली सुमन सुगंध सिंचाये।
रचहिं तल्प निशि-भोग चतुर सम बहुत एकादस पाये।
उर-परसत सब अंग विलोकत क्रीड़त सुख सुख जीके।
चोली चीर अलक भूषण फिरि साजत पिय भव नीके॥

नख-सिख साजि सिंगार सकल त्रिय सुंदर वदन निहारत।
विविध विलास सकज कौतुक रस छ दस अंक भरि डारत।
जोबन-मद जन मद मादक मद धन मद विध मद भारी।
काम विवस पर नारि भजत दुइ पंच सरहि फिरि मारी।

पौरि पगारि महल मंदिर रचि राजत रंग अटारी।
भीतर भवन विचित्र बिराजत पंच दुवादस द्वारी।
कृषी वणिज व्यवहार ग्रामपति हय बाँधत दर हाथी।
करि अभिमान हरिसों बेमुख संग नहीं को साथी।
रतन रजत कंचन मुकुता मनि मानिक संचित कसि-कसि।

छह सुनि गुनत छहो रस विलसत कहत अठारह हँसि हँसि ।
परिवा तो पंचमी दसमि कहुँ पोत टका नित कीन्हा ।
पंचा तीनि परं नीकी विधि विप्रनि भोजन दीन्हा ।

स्वजन समधि परिवार दास-दासी जन सब हितकारी ।
दाव घाव गति देखि करत रति पंजा पारत न्यारी ।
संध्या तिमिर इन्दु दुविधा दुई ठोक निगम-पथ चालत ।
स्रवन पुरान सिला तुलसीदल पूजित दुखितहिं पालत ।

पंच वरष दस वरष और जुग छक खेलहु खिलवारी ।
सिसु गइ जीति किसोर काल हति मन काँची करि डारि ।
पुनि पौछक औरौ छक पंजा साजि सारि संख फोर्यो ।
तितने दाउँ बहुरि फिरि खेलौ तरुण विरध जुग जोर्यो ।
आमावस संक्रांति ग्रहन द्विज कर भव मेलत ।
एकादसी द्वादसी संजम कछू देत छक खेलत ।।

मंगल बुध गुरु सुक्र भान ससि सांति करत ग्रह नीके ।
राहु केतु चंद्रमा सुसंयत छतन परत हित जीके ।
सैन उठान अमर्द विना जन उपवासन तन साधे ।
दुई चौदसी जनम निसा सिव पाँच चारि मन बाँधे ।
द्वारावती गोमती पुष्कर तीर्थ प्रयाग अन्हाये ।
गई न मनकी कठिन मलिनता कहा भयो भ्रमि आये ।
बारह वन ब्रज के परिदक्षिण पंच द्वादसे पेलत ।
जप-तप संजम नेम धरम व्रत करि-करि कष्ट सकेलत ।।

सुधि-बुधि सुमति सुरजि गई दसनिधि जूरा जुग विधि बाँधे ।
धरत चरन निरलरत लकुट ले चलन नवल कइ काँपत ।
कास सफक कर तन गिरिधर धुक तदा बिछूरत भाखत ।।
सुत वनिता हित पाँचों नेहू नातो सब ही टूटे ।
दाव कुदाव परे दुइ पंचत जोरा दुइ जुग फूटे ।
बाल, किसोर तरुन जर जुग सो सुपक्क सारि ढिग ढारी ।
सूर एक यौ नाम बिना नर फिरि-फिरि बाजी हारी ।

सूरदास ने मनुष्य की इस विफलता का कारण भजन का अभाव बताया है । अगर भजन हो तो यह सारी विफलता, एक महती सफलता के रूप में परिवर्तित हो जाय । सूरदास ने वस्तुतः अपने काल की सारी विलासिता का सुंदर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस वात को अस्वीकार नहीं करेगा कि सचमुच

उन्होंने भजन के पारस-पत्थर से स्पर्श कराके विलासिता रूप कुधातु को सोना बना दिया है। उस युग के मनुष्य की विफलता की प्रथम सीढ़ी है—"आलिंगन-चुंबन परिरंभन, नख-छत चारु परस्पर हाँसी।" और सूरदास से अधिक किस कवि ने इनका सफल वर्णन किया है ?

अब हम टीका युग की प्रधान समस्या के साथ सूरदास का संबंध समझ सकते हैं। टीका युग के पंडित मनुष्य की दुर्बलता को दबाने के लिए कठोर से कठोर विधि-व्यवस्था का आयोजन कर रहे थे, उन्होंने देखा, वे असफल रहे। टीका-युग के पंडितों में एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे हिंदू-जाति की रक्षा के लिए कोई नया पंथ नहीं चलाना चाहते थे। शास्त्रों की आड़ में वे अपना मत-प्रचार करना नहीं जानते थे। सूरदास ने भी ऐसा नहीं किया। सूरदास चाहते तो आसानी से कोई संप्रदाय खड़ा कर सकते थे। उनसे कहीं कम प्रभावशाली महात्माओं ने अलग-अलग संप्रदाय निकाले। परंतु सूरदास ने ऐसा नहीं किया। महापुरुषों की विशेषता यह है कि वे मनुष्य की दुर्बलताओं को पहचानते हैं और इन्हीं दुर्बलताओं को, उसकी रक्षा के लिए, उपयुक्त प्रहरी बना देते हैं। सूरदास ऐसे ही महापुरुष थे। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए।

ये दुर्बलताएँ हैं क्या चीज ? नरक-भय, अभिशाप, दंड आदि के नाम पर, मानव-जाति के कल्याणकामी शास्त्रकारों ने विधि-निषेध की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। परंतु जिस प्रकार हवा बाँधने से नहीं रुकती उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी बंधन से नहीं बँधती। एक तरफ बाँधने से वह दूसरी ओर निकल पड़ती है—भयानक वेग से। यह दूसरी ओर निकली हुई प्रवृतियाँ मनुष्य की दुर्बलताएँ हैं। जिन दिनों टीका-युग के विद्वान् "तथा हि" और "अपि च" की धुँआधार वर्षा के साथ शास्त्रों का आदेश मानव-समाज पर लाद रहे थे उन्हीं दिनों :

जोबन-मद जन मद मादक मद धन-मद विध-मद भारी।
काम-विवश पर-नारी भजत दुइ पंचसरहिं फिरि मारी ॥

सूरदास आदि संत कवियों ने इसी विरुद्धगामी प्रवृति को भगवान् की ओर फेर देने की चेष्टा की और आश्चर्यजनक सफलता पाई। प्रमाण चाहते हां तो सूरदास यहाँ है, तुलसीदास यहाँ है, रसखानि यहाँ है, घनआनंद यहाँ है, कितना गिनावें !

(सूर साहित्य से साभार)

☐ डा० देवर्षि सनाढ्य
☐ कु० पूर्णिमा सचदेव

सूरदास की रचनाएँ

सवालाख पदों के गायक भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास-रचित ग्रंथों की संख्या काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज, इतिहास-ग्रंथों और पुस्तकालय में सुरक्षित नामावली के अनुसार २५ मानी जाती है :

(१) सूरसारावली, (२) भागवत् भाषा, (३) सूर-रामायण, (४) गोवर्धन-लीला [सरस लीला] (५) भँवरगीत, (६) प्राणप्यारी, (७) सूरसाठी, (८) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद, (९) एकादशी माहात्म्य, (१०) साहित्य-लहरी, (११) दशम स्कंध-भाषा, (१२) मानलीला, (१३) नामलीला, (१४) दृष्टकूट के पद, (१५) सूर पचीसी, (१६) नल-दमयंती, (१७) सूरसागर, (१८) सूरसागर सार, (१९) राधा-रसकेलि-कौतूहल, (२०) दानलीला, (२१) व्याहलो, (२२) सूरशतक, (२३) सेवाफल, (२४) हरिवंश टीका [संस्कृत], (२५) रामजन्म ।

इन ग्रंथों में कुछ का प्रकाशन हो चुका है तथा कुछ अप्रकाशित हैं । ये पचीसों ग्रंथ सूरदास-रचित ही हैं, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है । वस्तुतः अधिकांश ग्रंथ सूरसागर के ही अंश हैं तथा कुछ ग्रंथों को भ्रमवश 'सूर' शब्द के कारण सूरदास-कृत मान लिया गया है ।

डा० मुंशीराम शर्मा सूरदासकृत १५ ग्रंथ मानते हैं :

(१) सारावली, (२) साहित्य लहरी, (३) सूरसागर, (४) गोवर्धन लीला, (५) दशम स्कंध टीका, (६) नागलीला, (७) पदसंग्रह, (८) प्राणप्यारी, (९) व्याहलो, (१०) भागवत, (११) सूरपचीसी, (१२) सूरसागर सार, (१३) एकादशी माहात्म्य, (१४) रामजन्म, (१५) सेवाफल ।

'१० और ११ संख्या वाले ग्रंथों पर कवि का नाम सूरजदास दिया हुआ है। यदि ये सभी ग्रंथ महाकवि सूरदास के लिखे हुए हैं तो सूरलिखित ग्रंथों की संख्या १५ हो जाती है, जो असंभव नहीं है। ···आचार्य वल्लभ से भेंट करने के समय सूरदास ६७ वर्ष के थे। चौरासी वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि वे इसके पूर्व भी पद-रचना किया करते थे। संभव है, सूरसागर लिखने से पहले इन्होंने इन ग्रंथों का निर्माण किया हो। ···सूरजदास भी सूरदास का पहले का नाम है, जैसा कि साहित्य-लहरी के वंश परिचायक पद से सिद्ध होता है।'[1]

डा० दीनदयालु गुप्त सूरदास के तीन ग्रंथ मानते हैं : 'सूरसागर', 'सूर-सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी'। उन्होंने 'प्राण-प्यारी' को सूरदास की संदिग्ध रचना माना है। 'नल-दमयंती', 'हरिवंशटीका', 'रामजन्म', और 'एकादशी-माहात्म्य' ये अप्रामाणिक ग्रंथ हैं तथा शेष रचनाएँ 'सूरसागर' और 'साहित्य-लहरी' के ही अंश हैं।[2]

श्री द्वारिकादास पारीख और श्री प्रभुदयाल मीतल हरिवंशटीका, एकादशी-माहात्म्य, नलदमयंती तथा रामजन्म को अष्टछाप के कवि सूरदास-रचित नहीं मानते तथा भागवत् भाषा, दशम् स्कंध भाषा, सूरसागर-सार, सूर रामायण, मानलीला, राधारसकेलि कौतूहल, गोवर्धन लीला (सरसलीला), दानलीला, भँवरगीत, नागलीला, ब्याहलो, प्राणप्यारी, दृष्टकूट के पद, सूरशतक को स्वतंत्र ग्रंथ न मानकर सूरसागर के ही अंतर्गत मानते हैं। इस प्रकार इनके अनुसार सूरदासकृत प्रामाणिक रचनाएँ सात हैं :

(१) सूरसारावली, (२) साहित्य-लहरी, (३) सूरसागर, (४) सूरसाठी, (५) सूर पचीसी, (६) सेवाफल, (७) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद।[3]

आचार्य रामचंद्र, शुक्ल,[4] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[5] डा० हरवंशलाल शर्मा,[6] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,[7] सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी तीन ग्रंथों को ही सूरदास की प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं।

डा० गोवर्धननाथ शुक्ल का कथन है, 'प्रामाणिकता की कोटि में आने वाले सूर के तीन ही ग्रंथ हैं, जिनमें दो तो उनकी स्वतंत्र रचनाएँ कही जाएँगी और तीसरी

१. सूरसौरभ, पृ० ९९-१००
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० २९८
३. सूर निर्णय, पृ० १०५-१०७
४. हिंदी साहित्य का इतिहास (१६ वाँ संस्करण) पृ० १५६
५. सूर की साहित्य-साधना में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का लेख—सूरदास का समय, पृ० १३-१४।
६. सूर की साहित्य-साधना में सूर के ग्रंथ नामक लेख, पृ० ३७
७. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०१

(साहित्य-लहरी) सागर की ही लहरियाँ सागर से ही उपजीव्य अथवा एक पृथक् संग्रह कही जाएँगी।'[1] इस प्रकार शुक्ल जी साहित्य-लहरी को सूरसागर से संबद्ध मानते हैं।

'व्रजसाहित्य का इतिहास' के लेखक डा० सत्येंद्र तथा 'सूरसाहित्य की भूमिका' के लेखक श्री रामरतन त्रिपाठी और श्री वाचस्पति त्रिपाठी 'सूरसागर' को ही सूरदास की कृति मानते हैं। अन्य रचनाओं के विषय में डा० सत्येंद्र का कहना है— 'सूरदास-रचित निम्न ग्रंथ माने जाते हैं—सूरसागर, सारावली, साहित्य-लहरी, नलदमन। 'नलदमन' तो बहुत बाद के एक सूफी कवि की रचना है, अब इसमें किसी को संदेह नहीं रहा, फिर भी कुछ लोग इसे सूर की कृतियों में सम्मिलित कर लेते हैं। 'साहित्य-लहरी' में सूर की शैली नहीं, इसमें दिए एक पद के मोह में कुछ लोग इसे सूरकृत मानते हैं। 'सारावली' सूरसागर का सार नहीं, एक स्वतंत्र कृति है। यह किसी अन्य सूरदास की है। शतशः तर्कों से अन्य रचनाओं को उनका सिद्ध करने की चेष्टा की जा सकती है, की जाती रही है, पर वह सभी मुझे वाग्वितंडा मात्र लगता है।'[2]

डा० रामकुमार वर्मा ने १६ ग्रंथों का नामोल्लेख किया है, परंतु उनमें सूरसागर को ही पूर्ण प्रामाणिक माना है। उनके अनुसार 'अन्य ग्रंथ सूरसागर के ही अंश हैं, या सूरसागर की कथावस्तु के रूपांतर। कुछ ग्रंथ तो अप्रामाणिक भी होंगे।'[3]

जो भी हो, महाकवि सूर की लोक-विश्रुत रचना 'सूरसागर' ही है, इसी में उनकी संपूर्ण विचार-पद्धति, समग्र भावधारा, विशिष्ट काव्य-कौशल और सरस-भक्ति समाविष्ट है। यदि अन्य रचनाएँ न भी हों तो कवि का अमर यश इसी एक ग्रंथ पर 'जरामरणज भय' से विमुक्त है। फिर भी इस लेख में उनके तीन प्रसिद्ध ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

सूरसागर : सूरसागर सूरदास की एकमात्र ऐसी कृति है जिसे सभी विद्वान् प्रामाणिक मानते हैं। वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ने बाबू राधाकृष्णदास के निदेशन में 'सूरसागर' को प्रकाशित किया। वेंकटेश्वर प्रेस के पश्चात् नवलकिशोर प्रेस से भी सूरसागर प्रकाशित हुआ।

सर्वप्रथम काशीनागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'सूरसागर' का वैज्ञानिक रूप से प्रकाशन हुआ। इसका संपादन स्व० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर कर रहे थे किंतु उनका अचानक निधन हो गया और 'सूरसागर' का कार्य अधूरा रह गया। इस

---

१. सूरदास, सं० डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ७५

२. ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ० १३५

३. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६२०

कार्य को पूर्ण करने का श्रेय मिला आचार्य नंददुलारे वाजपेयी को। सभा ने सूरसागर को दो खंडों में प्रकाशित किया। इस संस्करण में सूरदास के जीवनवृत्त पर कुछ भी नहीं लिखा गया है। इसका संपादन किस आधार पर किया गया है, इसका भी पता नहीं चलता।

इनके अतिरिक्त श्री वियोगीहरि एवं डा० बेनीप्रसाद ने भी सूरसागर का संपादन किया है। इधर काशी से पं० सीताराम चतुर्वेदी भी 'सूर-ग्रंथावली' का प्रकाशन कर रहे हैं। कुछ अन्य नवीन प्रयत्न भी हैं।

सूरदास ने सवालाख पदों की रचना की थी, यह जनश्रुति है परंतु अभी तक ८-१० हजार पद ही उपलब्ध हो पाए हैं। 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि 'इनका बनाया सूरसागर ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके पद ६० हजार तक देखे हैं। समग्र ग्रंथ कहीं नहीं देखा।'

वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से सूरसागर का जो संस्करण प्रकाशित हुआ था उसमें प्रत्येक स्कंध के अंत में पदों की संख्या लिख दी गई थी। उसके अनुसार कुल पदों की संख्या ४०३२ है। काशी शाह की प्रति में ६००० पद बताए गए हैं। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सूरसागर में कुल पदों की संख्या ४९३६ है। इसके अतिरिक्त परिशिष्टों में २७० पद दिए गए हैं, जिनमें कुछ को संदिग्ध माना है तथा कुछ को प्रक्षिप्त।

सूरसागर श्रीमद्भागवत से प्रभावित है, यह तो स्पष्ट ही है, किंतु एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि सूरसागर श्रीमद्भागवत् का अनुवाद है। सूरसागर के दशम स्कंध पूर्वार्ध को देखकर इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि भागवत से सूर ने कथा अवश्य ली, परंतु उसे अपनी कल्पना में ऐसा रँगा है कि वह सबसे पृथक् दिखाई देता है। भ्रमरगीत प्रसंग सूर की अपनी उपज है। भागवत में गोपियाँ इतनी मुखर नहीं हैं, जितनी सूर की। भागवत में जहाँ भक्ति की प्रधानता है, सूर-सागर में राधाकृष्ण लीला की। डा० मुंशीराम शर्मा ने भागवत और सूरसागर की तुलना करते हुए कहा भी है, 'भागवत जहाँ निवृत्तिमूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधा-कृष्णलीला मनुष्यों को प्रवृत्तिमार्ग में लगाने वाली हैं। अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।'[1]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है, 'अनुमान तो यह होता है कि भागवत की कथा को सुनकर कवि ने दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कंधों पर अपने भावों के अनुरूप, कभी प्रबंधात्मक और कभी स्फुट रीति में पद-रचना की। इस

---

१. सूरसौरभ, पृ० १०७,

पद-रचना को स्कंधों के कथाक्रम में संग्रह करके देखने से जहाँ कथासूत्र छूटे पाए गए, वहीं वे पूर्तिमात्र के विचार से वर्णनात्मक शैली में रख दिए गए।'[1]

श्री द्वारिकादास पारीख और प्रभुदयाल मीतल का विचार है, 'उपलब्ध मुद्रित एवं हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह श्रीमद्भागवत का न तो अनुवाद है और न इसमें उनकी प्रथम स्कंध से द्वादश स्कंध की कथाओं का पूर्ण समावेश ही हुआ है। फिर भी हमें इस विषय पर सूर-सागर में सूरदास का निम्नलिखित कथन मिलता है :

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।[2]

इस उल्लेख से जान पड़ता है कि सूरदास ने द्वादश-स्कंध पर्यंत की कथाओं को, जो व्यास जी द्वारा कथित हैं, गाया है।[3]

प्रथम स्कंध में ३४३ पद हैं, जिनमें श्रीमद्भागवत के निर्माण की योजना, शुकदेवजन्म की कथा, व्यास-अवतार, महाभारत की कथा आदि प्रसंगों का वर्णन है। बीच-बीच में भक्ति एवं विनय संबंधी आत्मोद्गार हैं।

द्वितीय स्कंध में ३८ पद हैं जिनमें सृष्टि की उत्पत्ति, भगवान् का विराट् स्वरूप, चौबीस अवतार, ब्रह्मा-उत्पत्ति, चार श्लोक, भक्ति-माहात्म्य, नाम-महिमा, भक्ति-साधना आदि का निरूपण हुआ है।

तृतीय स्कंध में उद्धव-विदुर-संवाद, सृष्टि की कथा, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की कथा और चतुर्विध भक्ति संबंधी १३ पद हैं।

चतुर्थ स्कंध में भी कुल १३ पद हैं, जिनमें यज्ञ-पुरुष अवतार, पार्वती-विवाह, ध्रुव-कथा, पृथु-अवतार, पुरंजन-कथा वर्णित है। श्रीमद्भागवत में यह स्कंध महत्व-पूर्ण है परंतु सूरदास ने इसे संक्षिप्त कर दिया है।

पंचम स्कंध में कुल ४ पद हैं, जिनमें ऋषभदेव और जड़भरत की कथा वर्णनात्मक शैली में है। षष्ठ स्कंध में अजामिल उद्धार, वृहस्पति का इंद्र द्वारा अनादर, वृत्रासुर का वध, इंद्र का सिंहासन-च्युत होकर सिंहासनासीन होना आदि आठ पदों में वर्णित है। सप्तम स्कंध में नृसिंह अवतार, त्रिपुर-वध तथा नारद उत्पत्ति ये तीन कथाएँ आठ पदों में हैं।

अष्टम स्कंध में १७ पद हैं, जिनमें गजेंद्र की मोक्ष-प्राप्ति, मत्स्य-अवतार, समुद्र-मंथन, कूर्मावतार, वामनावतार आदि का वर्णन है। नवम स्कंध में १७४ पद हैं। इसमें पुरुरवा, च्यवन-ऋषि, हलधर-विवाह, अंबरीष तथा सौभरि ऋषि की पाँच

---

१. सूरदास, पृ० ८०   २. सूरसागर, २२५   ३. सूर निर्णय, पृ० १६१

कथाएँ, गंगा-आगमन, परशुराम-अवतार तथा रामावतार वर्णित है। यद्यपि सूर को भगवान् का कृष्ण रूप अधिक प्रिय था किंतु इस स्कंध में राम का चित्रण समस्त दृष्टियों से श्रेष्ठ है।

दशम स्कंध दो भागों में विभाजित है। पूर्वार्द्ध में ४१६० पद हैं। यह सूरदास का कीर्ति-स्तंभ है। इनमें भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर उद्धव के मथुरा लौट कर जाने तक की कथा वर्णित है। उत्तरार्द्ध में १४६ पद हैं। इसमें भृगु परीक्षा तक की कथा है।

एकादश स्कंध में ४ पद हैं। इनमें उद्धव का बदरिकाश्रम जाना, नारायण-अवतार तथा हंसावतार का वर्णन है। द्वादश स्कंध में ५ पद हैं, जिनमें बुद्धावतार, कल्किअवतार तथा राजा परीक्षित की हरि-पद-प्राप्ति तथा जनमेजय के यज्ञ का वर्णन है।

संपूर्ण सूरसागर एक गीतिकाव्य है। इसके पद पूर्ण तन्मयता के साथ गाए जाते हैं। सूरसागर में कई प्रसंगों की पुनरावृत्ति हुई है, इससे प्रतीत होता है कि ये अलग-अलग समय पर गाए या लिखे गए हैं, जिन्हें बाद में सूत्र-बद्ध कर दिया गया है।

सूरसारावली : यह ग्रंथ अभी तक विवादास्पद स्थिति में है। कुछ विद्वानों ने इसे प्रामाणिक माना है, कुछ ने संदिग्ध और कुछ ने अप्रामाणिक।

सूर-सारावली को प्रामाणिक ग्रंथ मानने वाले विद्वान् हैं : बाबू राधाकृष्णदास, लाला भगवानदीन, डा० बेनीप्रसाद, डा० जनार्दन मिश्र, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० दीन दयालु गुप्त, पं० रामचंद्र शुक्ल, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, श्री द्वारिकादास पारीख तथा प्रभुदयाल मीतल, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० सूर्यकांत शास्त्री तथा डा० रामकुमार वर्मा।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इसे अप्रामाणिक माना है। डा० वर्मा ने अपने मत की पुष्टि में २७ तर्क दिए हैं और उन तर्कों के द्वारा सूरसागर और सारावली में अंतर बताया है। इन दोनों ग्रंथों की भिन्नता के कारण ही उन्होंने दोनों के कर्त्ता को एक नहीं माना है। उन्होंने निष्कर्ष देते हुए कहा है—'यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूरसागर-सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती तथाकथित आत्म-कथन और कवि-छापों से भी यही संकेत मिलता है।'[1]

श्री द्वारिकादास पारीख एवं प्रभुदयाल मीतल ने डा० ब्रजेश्वर वर्मा के तर्कों

---

१. सूरदास, पृ० ८३

को दृष्टि में रखते हुए सारावली का विवेचन कर निष्कर्ष निकाला कि सारावली सूरकृत है :

१. कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना की दृष्टि से यह सारावली निःसंदेह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। इसमें प्राप्त आत्म-कथन और कविछापों से भी इसकी पुष्टि होती है।

२. सारावली की रचना वि० सं० १६०२ में हुई है।

३. सारावली का आधार पुरुषोत्तम सहस्र नाम है।

४. सारावली का दृष्टिकोण सैद्धांतिक रहा है।

५. वि० सं० १६०२ पर्यंत सूरदास ने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंध के अतिरिक्त वल्लभसंप्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदों को गाया था, उन्हीं का यह सूचीपत्र अथवा सिद्धांतात्मक सार है। सृष्टि-रचना के लिए उसकी प्रारंभिक विशिष्ट प्रस्तावना और होरी खेल की कल्पना इस सैद्धांतिक दृष्टि की पुष्टि करती है।

६. द्वादश स्कंधात्मक भागवत के सार रूप में इसमें प्रधानतः २४ अवतारों का वर्णन और नित्य एवं उत्सव की सेवाओं के पदों के सार रूप से 'सरस संवत्सर लीला' की भावनाओं का वर्णन है। इस प्रकार सारावली में 'कथावस्तु' को दो भागों में पृथक्-पृथक् बाँटना भी 'ताकौ सार सूरसारावली' वाले कथन की पुष्टि करता है।

इस प्रकार सारावली सूरदास की एक स्वतंत्र सैद्धांतिक रचना है।[1]

बम्बई एवं लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर में ही सारावली भी संकलित है। इस सारावली में ११०७ छंद हैं। कुछ विद्वान् सारावली को सूरसागर का सार अथवा सूचीपत्र मानते हैं, इसका प्रमुख कारण है सारावली का निम्नलिखित छंद :

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताकौ सार सूर सारावलि गावत अति आनंद।[2]

इस छंद का अर्थ यह लगाया गया कि एक लाख पद वाले सूरसागर का सार सारावली है। इसी छंद के आधार पर यह भी माना जाता है कि सूरसागर में एक लाख पद हैं, यद्यपि अद्यापि प्राप्त छंदों की संख्या अधिक से अधिक होगी तो आठ-दस हजार।

श्री द्वारिकादास पारीख एवं श्री प्रभुदयाल मीतल ने उक्त छंद की विवेचना करके सारावली को सूरसागर का सार नहीं माना है—'अब सारावली सूरसागर का

१. सूरनिर्णय, पृ० १४२-१४३   २. सूरसारावली ११०३

सूचीपत्र रूप नहीं है 'तो ताकौ सार सूरसारावली' का अर्थ क्या हो सकता है? सारावली के गंभीर और सांगोपांग अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि यहाँ सार का अभिप्राय 'सैद्धांतिक-तत्त्वरूप' से है, अर्थात सूरदास ने जिन कथात्मक और सेवात्मक हरि-लीलाओं का वर्णन सं० १६०१ तक किया था, उन्हीं के सैद्धांतिक तत्त्व रूप से उन्होंने सारावली की रचना की है। जैसे नंददास जी ने 'रासपंचाध्यायी' के कथात्मक वर्णन के अनंतर उसी के सैद्धांतिक सार रूप में 'सिद्धांत पंचाध्यायी' की रचना की है।'[1]

डा० मुंशीराम शर्मा भी 'सारावली' को होली से संबद्ध बताते हैं—'हमारी समझ में सारावली एक वृहत् होली नाम का गीत है, जिसकी टेक है—'खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित।' इसी एक गीत की ११०७ कड़ियाँ हैं, जो सारावली के छंदों की संख्या के रूप में प्रकट की गई हैं। सारावली में जो 'एक लक्ष्य पदवंद' वाली बात कही गई है इसका भी इस होली वाले गीत से समर्थन हो जाता है।'[2]

डा० हरवंशलाल शर्मा का कथन है—'इसके नाम के कारण ही कुछ आलोचकों की यह भ्रांत धारणा हो गई कि यह सूरसागर की भूमिका अथवा सारांश है···। इसमें न तो कहीं सूरसागर का ही उल्लेख है और न ही किसी ग्रंथ के सारांश होने का संकेत है। यह तो एक स्वतंत्र रचना है और इस प्रकार की रचनाओं की भक्तकवियों में परिपाटी भी रही है।'[3]

सूरसारावली के अंतर्गत निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—भगवान् के मन में सृष्टि-रचना की इच्छा का उत्पन्न होना, जिसके फलस्वरूप सत्व-रज-तम तीन गुण, इन तीन गुणों से पंचमहाभूत, पंचतन्मात्र, चार अंतःकरण और दस प्राण—अट्ठाइस तत्त्वों का उत्पन्न होना तथा आठ लोकपाल, सात लोक, नौ खंड, सात द्वीप, वन, उपवन, नदी, पर्वत आदि का निर्मित होना। कृष्ण के अवतारों और उनकी लीलाओं का वर्णन। बीच में उन्नीस दृष्टकूट पदों की सूची भी दी है। राग-रागिनियों तथा वसंत और होली के उत्सवों के पश्चात् तीन छंदों में कृष्ण-कथा के गायकों, श्रोताओं और वक्ताओं के नाम गिनाए हैं। अंत में कवि का कथन है कि भगवान् की लीला ही शाश्वत है। सारा जगत् उसी भगवान् में समाहित है। यह ज्ञान मुझे वल्लभाचार्य से प्राप्त हुआ है। भगवान् की लीला में ही चित्त लगाने से मोक्ष प्राप्ति संभव है।

साहित्य-लहरी—साहित्य-लहरी सूरदास जी के ११८ दृष्टकूट पदों का संग्रह है। सन् १८९२ ई० में खड्गविलास प्रेस से इसका प्रकाशन हुआ था, जिसका

---

१. सूरनिर्णय, पृ० १११

२. सूरसौरभ, पृ० ११८

३. 'सूर की साहित्य साधना' में 'सूर के ग्रन्थ' नामक लेख, पृ० ४१

आधार भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की प्रति थी। सं० १६६६ वि० में पुस्तक भंडार, लहरिया सराय से पुनः प्रकाशित हुआ। साहित्य-लहरी पर लिखी दो टीकाओं का भी प्रकाशन हो चुका है। एक के टीकाकार सरदार कवि हैं। इस टीका के दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः ११८ तथा ६३ पद हैं। इस टीका का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ। दूसरी टीका भारतेंदु हरिश्चंद्र एवं श्री बाबू रामदीनसिंह के संग्रहों का प्रतिफल है, इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से हुआ।

साहित्य-लहरी के अंत में लिखा हुआ है—'इति श्री पद कूट सूरदास टीका संपूर्णम्।' ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी टीका भी सूरदास ने ही लिखी है। डा० मुंशीराम शर्मा इन शब्दों को इस प्रकार लिखते हैं—'इतिश्री पदकूट सूरदास। टीका संयुक्त संपूर्णम्।' और इस प्रकार वे इसका अर्थ लेते हैं कि दृष्टकूट के पद सूरदास के लिखे हुए हैं, उनकी टीका नहीं। टीका किसी दूसरे विद्वान् की लिखी हुई है।'[१]

साहित्य-लहरी के १०८ एवं १०९ संख्या वाले पद में साहित्य-लहरी का रचना-काल एवं सूरदास का वंश-परिचय दिया गया है, परंतु १०८ सं० वाला पद अब प्रामाणिक नहीं माना जाता। १०९ वीं संख्या वाले पद के आधार पर डा० मुंशीराम शर्मा[२] सं० १६२७, आचार्य रामचंद्र शुक्ल[३] सं० १६०६ डा० ब्रजेश्वर वर्मा[४] सं० १६७७ तथा डा० हरवंशलाल शर्मा[५] सं० १६०७ साहित्य-लहरी का रचनाकाल मानते हैं।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा सूर सारावली की भाँति साहित्य-लहरी को भी प्रामाणिक नहीं मानते हैं, उनका तर्क है कि—'सूरसागर का कोई प्रसंग और कदाचित कोई पद ऐसा नहीं है जिसमें कवि की भक्तिभावना किसी न किसी रूप में प्रकट न हुई हो,·· साहित्य-लहरी का रचनाकाल सं० १६२७ मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि सूरदास ने इसकी रचना की है तो अपनी मृत्यु के कुछ ही पहले उन्होंने अपनी भक्तिभावनापूर्ण मनोवृत्ति में आकस्मिक परिवर्तन कर दिया और मानो वे अपने साधन को साध्य रूप में ग्रहण करके मरते-मरते एक असफल और शिथिल लक्षण-ग्रंथ रचकर अपने भावी साहित्यिक बंधुओं का नेतृत्व करने के लिए तत्पर हो गए।···सूरसागर जैसे वृहत् ग्रंथ में जो कवि अपनी रचना के विषय में मौन रहा

---

१. सूरसौरभ, पृ० १३०
२. सूरसौरभ, पृ० १२३
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५६
४. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरसागर, पृ० १२१
५. 'सूर की साहित्य साधना' में 'सूर के ग्रंथ' नामक लेख, पृ० ४७

हो, वह साहित्य-लहरी जैसे असफल प्रयत्न में नाम और रचनाकाल में इतना मुखर हो जाए, यह भी उस की प्रवृत्ति के प्रतिकूल जान पड़ता है।'[1]

१०८ सं० वाले पद के अप्रामाणिक हो जाने से कवि के परिचय और रचना काल के विषय में प्रश्न ही नहीं उठता।

साहित्य-लहरी में किसी एक विषय की विवेचना नहीं हुई है। मुख्य रूप से नायिकाओं एवं अलंकारों की विवेचना की गई है। बीच-बीच में कहीं-कहीं कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी वर्णन है। एकाध स्थल पर महाभारत की कथा के अंशों की भी झलक है।

---

१. सूरदास, पृ० ८७ से ९३

□ डा० कृष्णाचार्य

उन्नीसवीं शती में प्रकाशित सूरसागर

प्रथम चरण

कृष्णानंद व्यासदेव कृत (=संपादित) **'श्री राग सागरोद्भव रागकल्पद्रुम'** १९०० वि० (२० अप्रैल, १८४३ ई०) में लगभग १७०० पृष्ठों में कलकत्ता से प्रकाशित बृहत्काय ग्रंथ संभवतः पहली रचना है, जिसके ६०० पृष्ठों में संग्रहात्मक (द्वादश स्कंधात्मक नहीं) सूरसागर प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में सात भाग थे तथा इन भागों का विवरण इस प्रकार है :

राग-संग्रह, १६४ पृ०; सूरसागर, ६०० पृ०; हिंदू-मुसलमानों की रचनाएँ, ३४४ पृ०; वसंत और होली, १७६ पृ०; ध्रुवपद और ख्याल, ३६४ पृ०; गजल और रेखते, ७६ पृ०; भरथरी और गोपीचंद के गीत, २८ पृ०।

इस ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि स्व० कृष्णानंद संगीत प्रधान या गेय पदों का संग्रह करना चाहते थे। परिणामतः १८४३ ई० में राग-रागिनी संबंधी यह पहला विशाल ग्रंथ प्रकाशित हुआ। पुनः इस ग्रंथ में अकेले सूरसागर ने ६०० पृष्ठ घेर लिये। इस प्रकाशित पुस्तक में मूल सूरसागर आदि का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात है, या स्पष्ट है कि इस पुस्तक के पद स्कंधात्मक नहीं हैं। पद संग्रह स्थूल रूप से इस प्रकार है : सूरसागर सारावली ४४ पृ०; नित्यकीर्तन १७२ पृ०; बाललीला…बधाई आदि १५९ पृ०; दानलीला-अनुरागलीला १०३ पृ०; मुरलीनाद-मानलीला १०० पृ०; विनयपत्रिका ३२ पृ०; मथुरा पधारे सो लीला ३३ पृ०; मथुरातें…उद्धव को ब्रज में पठाये सो १२५ पृ०।

कृष्णानंद कृत 'राग सागर' टाइपमुद्रित है तथा यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है; कारण, इसके बाद के, बीस वर्ष बाद १८६० ई० से लेकर १८६४

तक सूरसागर लीथो में ही छपे, और टाइप के समानांतर बाद में भी, इनका विवरण इस प्रकार है :

मुंबै उल उलूभ प्रेस, मथुरा से एवं मतबअ इलाही प्रेस, दिल्ली से सूरसागर छपने का विवरण मिलता है। ये दोनों लीथो मुद्रित एवं संग्रहात्मक हैं। स्व० ज० ला० चतुर्वेदी ग्रंथपुरी (१९५६ ई०) के अनुसार यह विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। डा० हरदेव बाहरी द्वारा संपादित सूरसागर (१९७४ ई०) में भी इस सूरसागर का उल्लेख है। किंतु ये संस्करण विशेष महत्त्व के नहीं जान पड़ते। इनके संबंध में विशेष जानकारी भी नहीं है।

श्रीकृष्णानंद जी के अनंतर मुंशी नवल किशोर ने अपने प्रेस से १८६४ ई० में बृहत्काय सूरसागर छपवाया। इस संस्करण का शीर्षक पृष्ठ इस प्रकार है :

सूरसागर
जिसमें
परमभक्त सूरदास जी ने श्रीकृष्णचंद्र महाराज की भक्ति के दृढ़ता के लिये
हरि भक्तों के वास्ते श्रीकृष्ण चरित्र और लीला रूपी अमृत का
समुद्र
नाना छन्द और रागों में बर्णन किया है ।।
सब छोटे बड़े महाशय हरिभक्तों के अवलोकन के वास्ते
अयोध्यापुरी के
महाराज मानसिंह
कायम जंग प्रतापी की
अनुमति से
मुंशी नवलकिशोर ने अपने यन्त्रालय में बहुत स्पष्ट शीसे के अक्षरों में
मुंशी जमुनाप्रसाद को संयुक्त करके
पण्डित कालीचरण से अत्यन्त शुद्ध करवा के छपवाया ।।
स्थान
लखनऊ
सन् १८६४ ईसवी व सम्वत् १९२० विक्रमादित्य

१८४३ ई० में मुद्रित कृष्णानंद का 'रागसागर' और १८६४ ई० में नवलकिशोर प्रेस से मुद्रित यह कालीचरण का 'सूरसागर'—दोनों संस्करण राष्ट्रीय ग्रंथालय, कलकत्ता में हैं। इन दोनों को साथ रखकर देखने से स्पष्ट हो गया कि १८६४ ई० का संस्करण १८४३ के संस्करण के आधार पर प्रकाशित हुआ है। कालीचरण के संस्करण में कृष्णानंद के संस्करण का कोई उल्लेख नहीं है। किंतु कृष्णानंद जी के 'रागसागर'

में पदों का जो क्रम दिखा चुके हैं, वही क्रम कालीचरण संस्करण में है—वही, सूर-सागर, सारावली, नित्य कीर्तन, बाललीला आदि।

यों तो मतबअ ईजाद प्रेस, आगरा से 'सूरसागर' का तीसरा संस्करण १८६७ ई० में और रघुनाथदास द्वारा संपादित सूरसागर रतन बनारस के लाइट प्रेस से १८६४ ई० में छपा था (२७४ पृ०) तथा पुनः यह १८६७ ई० में भी लाइट प्रेस से छपा किंतु इन सब संस्करणों में पं० कालीचरण का संस्करण ही अधिक लोकप्रिय था। नवल-किशोर प्रेस से प्रकाशित तथा पं० रामरत्न वाजपेयी द्वारा संपादित संभवतः इस सूरसागर का आठवाँ संस्करण १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ। ध्यान आकर्षित करने वाला तथ्य केवल इतना ही है कि सूरसागर अब तक संग्रहात्मक रूप में ही छपता रहा और उन्नीसवीं शती के सूरसागरों के संस्करणों के इतिहास में संभवतः यह संस्करण ही सबसे अधिक छपा-बिका।

द्वितीय चरण

तदंतर बाबू राधाकृष्णदास द्वारा संपादित एवं १८९६ ई० में श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई द्वारा प्रकाशित 'श्री सूरसागर' अर्थात् भाषा कविकुल चूड़ामणि श्री सूरदास जी रचित श्रीमद्भागवत बारह स्कंधों का ललित राग-रागिनियों में अनुवाद, ३३ × २५ सेंटीमीटर में तथा बंबइया टाइप में प्रकाशित हुआ। इस सूरसागर की निम्नांकित विशेषताएँ दृष्टव्य हैं :

(१) यह संपादन-प्रयत्नपरक एवं स्कंधात्मक प्रथम मुद्रित संस्करण है।

(२) 'सूरदास जी का जीवन चरित्र' नाम से ४३ पृष्ठों की भूमिका में सूरदास की जीवनी और संपादन में प्रयुक्त प्रतियों का उल्लेख किया गया है। जीवनी में शिवसिंह सरोज, चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता, भा० हरिश्चंद्र की टिप्पणी आदि आधारों का विस्तृत उल्लेख है। इनके अतिरिक्त सूरदास जी के समकालीन कवियों के लिए 'अकबर नामा, आईने अकबरी, तबकाइत अकबरी और तारीख अब्दुल्कादिर बदाऊनी' जैसी मुगलकालीन पुस्तकों की खोज की गई है।

(३) सूरदास जी की जीवनी के अनंतर रामरसिकावली के आधार पर मतिराम से लेकर उदयनाथ त्रिवेदी तक २५ कवियों का वृत्त तथा शि० सिं० सरोज और ओलीराम कवि से लेकर गो० तुलसीदास जी तक ११७ कवियों का वृत्त लेखबद्ध है। निःसंदेह यह विषय प्रस्तुत प्रसंग से परे है।

स्कंधात्मक संस्करण की बात बाबू साहब की कल्पना में कैसे आई ? इस तथ्य का निराकरण इस भूमिका से हो जाता है। बा० रा० कृ० दास ने जीवनी से पूर्व मुद्रित 'निवेदन' (एक पृष्ठ में) बतलाया है :

"एक दिन पूज्यपाद श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के पुस्तकालय में⋯एक

बस्ते में सूरसागर का केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध हाथ आया। उसे देखकर और भी पिपासा बढ़ी। इसी बीच बाँकीपुर जाने का संयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीन सिंह जी के यहाँ सूरसागर का प्रथम से नवम स्कंध तक देखने में आया। मुझे उत्साह हुआ कि, यदि यह अमूल्य ग्रंथ छप जाता तो भाषा रसिकों को बड़ा आनंद आता और भक्तों को तो एक निधि ही हाथ आ जाती।······दशम उत्तरार्द्ध और एकादश द्वादश स्कंध श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय से मँगाया गया।" पुनः खेमराज श्रीकृष्णदास ने लिखा—"इससे पहली आकृति में ग्रंथ का कुछ भाग छप जाने पर पता लगा कि इसकी एक प्राचीन पूरी प्रति जानीमल खानचंद जी की कोठी में है। उक्त कोठी के स्वामी बाबू गिरधरदास जी ने कृपाकर उसे दी और राधाकृष्णदास जी ने छप जाने के उपरांत मिलान करके शुद्धि पत्र तथा पाठांतर की एक सूची पृथक् बना दी। बहुत से पद तथा पदों के भाग छूट गए थे, वे भी पाठांतर के साथ बढ़ा दिए गए थे।"

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि सूरसागर के प्रामाणिक संस्करण निकालने की दिशा में संभवतः यह प्रथम प्रयत्न था। विवरणों से यह भी ज्ञात हो गया कि प्रेस प्रति तैयार करने में संपूर्ण एवं अधूरी प्रतियों का उपयोग किया गया था। इस संस्करण के लिए काम में लाई जाने वाली प्रतियों का अन्य कोई विवरण बाबू साहब ने नहीं दिया। अर्थात्, पोथियों में संवत् आदि के उल्लेख और प्रक्षिप्त अंशों का उल्लेख नहीं है।

एक अत्यंत दिलचस्प बात यह है कि यद्यपि राधाकृष्णदास जी को स्कंधात्मक पोथियाँ ही मिली थीं तथा इसी क्रम से इनका प्रकाशन भी कराया, किंतु अपने से पूर्व संग्रहात्मक एवं प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख 'श्री सूरदास जी का जीवन चरित्र' भाग में नहीं किया है। अनुमान किया जा सकता है कि बाबू रा० कृ० दास ने इन मुद्रित प्रतियों को अवश्य देखा होगा, किंतु इन संस्करणों को महत्त्वपूर्ण नहीं माना। किंतु कौतुहल इस तथ्य को देखकर है कि १८९६ ई० में प्रकाशित इस बंबई संस्करण के संपादक की मान्यता थी कि सूरसागर संग्रहात्मक ही रहा होगा। आप लिखते हैं कि :

"ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत को श्रृंखला पूर्वक एक समय में नहीं बनाई थी क्योंकि वार्त्ता इत्यादि में समय-समय पर जो सब पद 'खंजन नैन रूप रस माते' आदि लिखे हैं प्रायः वे सभी इसमें आ गए हैं, और पूरा भागवत का अनुवाद भी नहीं है। बहुत-सी कथा छोड़ भी दी है और कई एक उपासना के अनुसार बढ़ा भी दी है। कुछ और पुराणों से भी सहायता ली है।" (पृष्ठ ३)

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शती में प्रकाशित सूरसागर के इतिहास की अंतिम कड़ी बाबू राधाकृष्णदास थे तथा इस ग्रंथ के संपादन-प्रकाशन आदि में तकनीकी, वैज्ञानिक या अन्य जो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आए वे इस प्रकार हैं :

(१) सूरसागर की 'संग्रहात्मक' और 'स्कंधात्मक' पोथियों की परंपरा का आभास मिल चुका था। इन दोनों परंपराओं की गंभीर खोज १९७५ ई० तक भी नहीं हुई है। केवल पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने सूर-साहित्य संबंधी अपनी सूची में इन परंपराओं की विस्तृत चर्चा की थी।

(२) तकनीकी ढंग से सूरसागर के संपादन का प्रथम क्षीण आभास राधाकृष्ण-दास ने दिया था। किंतु उस समय उन्हें इतनी प्रतियाँ नहीं मिली थीं कि उनकी परस्पर तुलना करते, प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करते। वर्तनी संबंधी विचार भी उस समय संभव न था।

(३) राधाकृष्णदास की मान्यता थी कि सूरसागर में सवा लाख पद थे।

(४) सूरदास के अलावा एक दूसरे सूरदास मदनमोहन थे। अन्य किसी सूरदास की चर्चा नहीं हुई।

(५) राधाकृष्णदास ने 'सूरदास जी का जीवनचरित्र' के आठ पृष्ठों में (शेष पृष्ठों में अन्य कवियों के विवरण हैं) उनका जन्म स्थान (दिल्ली के पास सीही), जन्म वर्ष (१५४० वि०), मृत्यु वर्ष (१६२० वि०) अपने ढंग से खोजकर निकाले हैं। 'साहित्य लहरी' से प्राप्त १६०७ वि० से ६७ वर्ष घटाकर १५४० वि० जन्म तिथि की स्थापना की गई है।

(६) संपादक ने (रा० कृ० दास) 'सूरदास जी के दृष्टकूट पर टीका' का उल्लेख किया है, तथा इस पुस्तक के ११६ दृष्टकूट के पदों के आधार पर लिखा है कि "मुसलमानों के युद्ध में इनके भाइयों (६ भाई) के मारे जाने के पीछे भी इनके पिता जीते रहे और एक दरिद्रावस्था में पहुँच गए थे और उसी समय सीही गाँव में चले गए हों तो लड़मिल सकती है, जो हो हमारी भाषा कविता के राजाधिराज सूरदास जी एक इतने बड़े वंश के हैं यह जानकर हम लोगों को बड़ा आनंद हुआ। इस विषय में कोई और विद्वान् जो कुछ और विशेष पता लगा सके तो वह भी उसे पत्र द्वारा प्रकाशित करें।।" (पृ० ५) इस विवरण से स्पष्ट है कि संपादक ने जीवनी संबंधी मत को मुक्त ही रखा, स्थिर नहीं किया तथा उस समय के कुछ लेखों या अन्य जानकारी की सूचनाएँ एक जगह अपनी भूमिका में बैठा भर दी हैं।

जहाँ तक 'सूरसागर' को ठीक से प्रकाशित करने की बात थी उसमें संभवतः, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है, राधाकृष्णदास सबसे आगे थे। किंतु यह

संस्करण (१८९६ ई०) बहुत भ्रष्ट निकला। रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित एवं १९१३ ई० में ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित "श्री राधाकृष्णदास का जीवनचरित्र" में 'संपादित ग्रंथ' शीर्षक के अंतर्गत निम्नलिखित पंक्तियाँ चौंकाने वाली हैं :

"पर ग्रंथ को पढ़ने से प्रकट होता है कि बा० राधाकृष्णदास ने इस ग्रंथ का एक प्रूफ भी नहीं देखा है, हस्तलिखित कापी वेंकटेश्वर प्रेस भेज दी है, वहाँ के पंडितों ने जैसा जी में आया है पाठ अंडबंड करके छाप कर इसे किनारे किया है। यह संस्करण दूसरे संस्करणों से भी भ्रष्ट है। मुश्किल से कोई पद ऐसा मिलेगा जिसका पाठ ठीक-ठीक हो और जिसे बिना थोड़ी अपनी बुद्धि खर्च किए कोई पढ़ तक सके। सूरसागर यों ही कठिन ग्रंथ है, इस संस्करण ने उसे और भी लोहे का चना बना दिया है।······बाबू राधाकृष्णदास ने जब यह देखा कि यह संस्करण ऐसा भ्रष्ट छपा है तब उन्होंने बड़े परिश्रम से इसका भारी शुद्धि पत्र क्या शुद्धि पुस्तक बनाकर भेजी पर प्रेस उसे चुपचाप हज़म कर गया। (पृ० १३८-१३९)

स्पष्ट है कि बाबू राधाकृष्णदास को उन्नीसवीं शती के अंत में सूरसागर के अधिक अच्छे संस्करण का श्रेय मिलते-मिलते ही रह गया। पं० रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा की गूंज १९२३ ई० में इसी प्रेस से प्रकाशित (द्वितीय संस्करण) संस्करण में सुनाई पड़ी। खेमराज श्रीकृष्णदास ने अपनी भूमिका में लिखा :

"राधाकृष्णदास जी ने छप जाने के उपरांत मिलान करके शुद्धि पत्र तथा पाठांतर की एक सूची पृथक् बना दी······वह सब अति परिश्रम से अबकी आवृत्ति में यथास्थान सन्निवेशित कर यह उत्तम ग्रंथ मुद्रित किया गया है।"

खेदपूर्ण बीसवीं शती

पाठ संशोधन की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी में १९७५ ई० तक की स्थिति में जैसा परिवर्तन होना अपेक्षित था, वह नहीं हुआ। स्व० जगन्नाथदास रत्नाकर, ब्रजभाषा के अंतिम टकसाली कवि, ने बड़ी धूमधाम से सामग्री एकत्रित की, पाठ-संशोधन के सिद्धांत निश्चित किए। वह स्वयं यह कार्य नहीं कर पाए। बाद में ना० प्र० सभा ने एक समिति बनाई, जिसने लाला भगवादीन, पं० रामचंद्र शुक्ल आदि चार पंडितों के संपादन मंडल में, बड़े आकार में उवलक्राउन आठ पृष्ठ—दूसरा भाग नाम से १९२३ ई० में एक खंड पाठांतर सहित प्रकाशित किया। किंतु पुनः प्रगति नहीं हुई। इतना अवश्य हुआ कि १९४८ में संपूर्ण संशोधित सामग्री छोटे आकार की दो जिल्दों में बिना पाठांतर के छाप दी गई। बस, तब से यही संस्करण 'अभावकशालिचूर्ण' बना हुआ है। मानस पर जितना कार्य हुआ, उसका संभवतः दसवाँ हिस्सा भी सूरसागर पर नहीं हुआ। सात आठ वर्ष पूर्व पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने कलकत्ता से पुनः पाठांतर सहित और अर्थ सहित संस्करण निकालने का उपक्रम किया। यह

संस्करण भी सभा की आकृतिमात्र सिद्ध हुआ, अर्थात् एक खंड ही छप कर रह गया। अर्थ चमत्कार इसका वैशिष्ट्य था। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा से एक संस्करण तैयार किया था। कहते हैं कि वह भी किन्हीं कारणों से अस्ताचलगामी हो गया। पुनः डा० हरदेवबाहरी ने १९७४ में सूरसागर प्रकाशित किया। किंतु यह भी सामान्य संस्करण है, आलोचनात्मक नहीं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने भी विक्रम परिषद् के तत्त्वावधान में दो भाग १९७४-७५ ई० में प्रकाशित किए हैं। संस्करण अर्थ सहित अवश्य है, किंतु संपादक आलोचनात्मक पाठ की समस्या को कोई नया क्षितिज नहीं दे सके। यह भी पाठ्य पुस्तकीय संस्करण है। सूरसागर का दुर्भाग्य मात्र यह नहीं है कि उसका आलोचनात्मक संस्करण क्यों नहीं प्रकाशित हुआ ? १९२३ ई० के बाद से १९७५ तक। दुर्भाग्य यह है कि सूरसागर की मानस से कहीं पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हैं और जिनका पता रत्नाकर जी के समय भी नहीं था।

□ डा० मनमोहन गौतम

सूरसारावली की प्रामाणिकता

सूरसारावली की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों के तीन वर्ग हैं :

१. प्रामाणिक मानने वाले अधिकांश विद्वान् इसी वर्ग में आते हैं। इनमें प्रमुख हैं सूर-साहित्य पर विशेष अध्ययन करने वाले डा० जानार्दन मिश्र, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० दीनदयालु गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्री द्वारिकादास पारीख व श्री प्रभुदयाल मीतल और डा० हरवंशलाल शर्मा।

२. संदिग्ध मानने वाले—मिश्रबंधु और डा० रामरतन भटनागर।

३. अप्रामाणिक मानने वाले—डा० ब्रजेश्वर वर्मा और डा० प्रेमनारायण टंडन।

संदिग्ध मानने वालों के कथन इस प्रकार हैं :

मिश्रबंधु—" 'सूर सारावली' में 'सूरसागर' की सूची-सी है। इसमें ११०७ पद हैं, परंतु मूल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है जितना महाकवि के अन्य ग्रंथों को। अतः यह संदिग्ध दिखता है।"

डा० रामरतन भटनागर—"इसमें 'सूरत्व' का कुछ भी अंश नहीं आ पाया है और इसलिए यह उचित ही होगा कि हम इसे अप्रामाणिक नहीं तो संदिग्ध रचना अवश्य मानें। सूर के काव्य और व्यक्तित्व के आगे यह रचना स्वतः छोटी पड़ जाती है।"

उपर्युक्त दोनों कथनों का आधार यह है कि 'सारावली' में वैसा छंद-वविध्य और काव्य-रस प्राप्त नहीं होता जैसा 'सूरसागर' में। किंतु समस्त 'सूरसागर' में समान रूप से काव्य-सौष्ठव प्राप्त नहीं होता। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध को छोड़कर अन्य स्कंधों में रसात्मक और काव्य-सौंदर्य के दर्शन नहीं होते। आचार्य पं० रामचंद्र

शुक्ल के शब्दों में यह कहना उचित ही है कि 'सागर में सर्वत्र मोती और रत्न नहीं हैं, शंख-घोंघे और सीपियाँ भी हैं।' अत: 'सूरत्व' या 'कम रुचिकर' तर्क के आधार पर ग्रंथ को संदिग्ध नहीं कह सकते। 'सूरसागर' में ऐसे अनेक स्थल हैं जो 'सारावली' से भी अधिक नीरस, अरुचिकर और बोझिल हैं।

अप्रामाणिक मानने वाले प्रथम विद्वान हैं डा० व्रजेश्वर वर्मा। उन्होंने 'सूरसागर' और 'सारावली' का तुलनात्मक अध्ययन किया और दोनों में २८ अंतर प्रस्तुत किए। इन २८ अंतरों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहला 'सूरसागर' और 'सारावली' की विषय-वस्तु संबंधी है। दूसरा दोनों ग्रंथों के दृष्टिकोण संबंधी है और तीसरा है 'सारावली' में आत्मकथन जबकि 'सूरसागर' जैसे महाग्रंथ में कवि अपने संबंध में सर्वथा मौन है। इसके अतिरिक्त डाक्टर वर्मा 'सारावली' की भाषा शैली भी 'सूरसागर' से भिन्न मानते हैं।

डा० वर्मा का मत है कि 'सारावली' में परब्रह्म के सृष्टि-विस्तार से होली और फाग का रूपक प्रस्तुत किया गया है। यह होली की कल्पना विलक्षण और 'सूरसागर' से भिन्न है। फिर इसमें कथावस्तु दो भागों में है। पहले भाग में भागवतीय कथा का सार है। दूसरे में भागवत में न मिलने वाली कृष्णलीला, दानलीला और मानलीला को उपस्थित किया गया है। एक बार कृष्णकथा के कहने के बाद फिर से इन लीलाओं को प्रस्तुत करने का कोई प्रयोजन नहीं था। इस प्रकार 'सूरसागर' का सार कही जाने वाली 'सारावली' 'सूरसागर' पर आधारित भी नहीं है, यह तो एक नयी रचना है।

ग्रंथ में जो विवरण अवतारों की कथा के दिए गए हैं वे भी सूरसागर से भिन्न हैं। 'सूरसागर' में जिन विभु, विश्वक्सेन, शेष और वृहद्भानु का उल्लेख भी नहीं है, वे कथाएँ सारावली में आ गयी हैं। रामावतार और कृष्णावतार के विवरण भी 'सूरसागर' से कहीं-कहीं भिन्न मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'सूरसागर' में तो राम-कथा के भावपूर्ण स्थलों पर ही स्फुट पद-रचना मिलती है किंतु 'सारावली' में कृष्णावतार का समकक्ष रूप रामावतार में भी मिलता है। राम का बाल-वर्णन 'सूरसागर' के कृष्ण-रूप-निरूपण जैसा है। कृष्णावतार की कथा में भी अनेक भिन्नताएँ हैं। 'सूरसागर' के नंद ग्रामीण व्यक्ति की भाँति पुत्र-जन्मोत्सव करते हैं जबकि 'सारावली' में आभिजात्य गौरव देखने को मिलता है। 'सारावली' में ढाढी प्रसंग में उपनंद, धारानंद, ध्रुवनंद आदि का दान करना, नंद का खिलौना लेने के लिए मथुरा जाना, पूतना के काष्ठ-तन का फूँकना, कृष्ण के चंद्रमा के लिए हठ करने पर 'बूढ़े बाबू' (शिव) का आना और लालमणि देकर उन्हें मनाना आदि नए प्रसंग हैं। इसी प्रकार माखनचोरी, कालियदमन, रासलीलागोवर्धन धारण, भ्रमरगीत आदि विस्तृत लीलाओं का अत्यंत संक्षिप्त रूप 'सूरसागर' से भिन्न है। 'सूरसागर' के

दशमस्कंध उत्तरार्ध में कथा अत्यंत गौण रूप में वर्णित है। पर 'सारावली' में वह अधिक सुगठित और क्रम-व्यवस्थित है।

डा० वर्मा की उपरिलिखित शंकाओं के क्रमशः समाधान इस प्रकार हैं :

'सारावली' में होली की कल्पना विलक्षण नहीं है। सूरदास रूपक लिखने में सिद्धहस्त थे। 'सूरसागर' में सुंदर रूपकों की रचना की है। होली से तात्पर्य उन्होंने प्रभु का खेल माना है, जिसमें सृष्टि-रचना और अवतार-लीला दोनों ही आ जाते हैं। प्रथम पंक्ति (टेक) में स्पष्ट कथन है **'खेलत यहि विधि हरि होरी हो-होरी हो वेद विदित यह बाग।'** अनेक बार इस पंक्ति को कवि दुहराता गया है। फिर यह कल्पना न तो नयी है और न विलक्षण क्योंकि 'सूरसागर' के वसंत-लीला-प्रकरण से पूर्व इसी प्रकार कथन प्राप्त हो जाता है :

नित्य धाम बृन्दाबन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रज-बाम।
नित्य रास, जल नित्य विहार। नित्य मान, खंडिताऽभिसार।
ब्रह्म रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येई सार।
नित्य कुंज-सुख नित्य हिँडोर। नित्यहिँ त्रिविधि-समीर झकोर।
सदा बसंत रहत जहँ बास। सदा हर्ष, जहँ नहीं उदास।
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित-चोर।
बिबिध सुमन वन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार।
नवपल्लव वन शोभा एक। बिहरत हरि सँग सखी अनेक॥[1]

'सारावली' में कवि का मन्तव्य हरि-लीला का प्रतिपादन था। 'भागवत' सूर-साहित्य का आधार ग्रंथ है अतः सृष्टि-रचना तथा अवतार-लीलाओं को भागवतानुसार कहने के उपरांत उन्होंने उन लीलाओं को भी ले लिया है, जो सूरदास जी की निजी उद्भावनाएँ थीं; जैसे—दानलीला, मान-लीला और राधा-कृष्ण-विहार। 'सारावली' में कथावस्तु का कोई विभाजन नहीं है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपनी निजी सूझ-बूझ से उसमें एक विभाजन कर दिया है। 'सारावली' के आदि या अंत में इस प्रकार के विभाजन का संकेत भी नहीं है। 'सूरसागर' और 'सारावली' में मुख्य भेद यही है कि 'सागर' में लीलागान है, उसमें प्रभु की लीला का व्याख्यान नहीं है, कहीं-कहीं संकेत मात्र है किंतु 'सारावली' में हरि-लीला के साथ ईश्वरत्व का प्रतिपादन है।

भागवत ही सूरदास जी का मुख्य आधार-ग्रंथ है। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में सूरदास जी ने कतिपय लीलाओं को मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। भागवतीय प्रसंग यहाँ भी उसी प्रकार है। शेष स्कंधों में 'सूरसागर' भागवत के अनुसार ही है।

---

१. सूरसागर, ३४६१

इतना अवश्य है कि उसमें अनेक विवरण छूट गए हैं। 'सारावली' में भी भागवत का अविकल भावानुवाद नहीं है। 'सारावली' में हरि-लीला-क्रम में सृष्टि-रचना और अवतार-लीला को प्रस्तुत किया गया है। कवि कृष्णावतार को प्रमुखता देना चाहता था इसलिए अन्य सभी अवतारों के वर्णन के उपरांत अंत में कृष्णावतार को लिया गया है। इस प्रकार क्रम भागवत से नहीं मिलता। 'सूरसागर' में विवरण पूरे नहीं थे अतः 'सूरसागर' का अनुसरण करने की आवश्यकता कवि को नहीं थी। 'सारावली' में 'विभु, विश्वक्सेन, शेष, वृहद्‌भानु आदि ऐसे अवतार भी हैं, जिनका उल्लेख भागवत में नहीं मिलता, कारण यह है कि सूर-काल तक जिन-जिन अवतारों की चर्चा लोक में थी उन सबका उल्लेख 'सारावली' में हुआ है। सूरदास जी ने 'सारावली' में न तो भागवत का और न 'सूरसागर' का अविकल अनुवाद किया है। नये दृष्टिकोण से नई रचना प्रस्तुत करने के कारण उन्हें वैसा करना आवश्यक भी नहीं था।

'सारावली' की रचना 'सूरसागर' के उपरांत हुई। सूरदास जी ने बाल-कृष्ण का जो विस्तृत वर्णन किया था उसी का प्रभाव 'सारावली' के राम-बाल-वर्णन में मिलता है। भागवत और 'सूरसागर' में रामकथा का ढाँचा मात्र है। 'सारावली' में कवि ने वाल्मीकि का मुख्य आधार लिया था, साथ ही सूर-काल तक राम-कथा का जो विकास हुआ था उसका भी प्रभाव उस पर लक्षित होता है। अतः 'सूरसारावली' की राम-कथा का 'सूरसागर' से अधिक विस्तृत हो जाना स्वाभाविक ही है।

'सूरसागर' के पूर्वार्द्ध में लीला-भाव प्रमुख और ईश्वरत्व का संकेत गौण है। किंतु 'सारावली' तो ईश्वरत्व के प्रतिपादन में मुख्य रूप से लिखी गयी थी। इसमें कृष्ण की उद्धार-लीला और असुर-संहार-लीला को ही प्रकाश में लाया गया है। इसीलिए 'सारावली' में 'सूरसागर' जैसे मार्मिक और रसात्मक प्रसंग नहीं मिलते। उसमें भागवत की भाँति कृष्ण परब्रह्म के अवतारी, असुर-संहारक और भक्त उद्धारक हैं। इसीलिए इसमें वेद, शास्त्र और विप्र आदि के संबंध में बड़ी श्रद्धा प्रस्तुत की गई है। 'सारावली के आरंभ में ही प्रभु के नित्य-विहार और उनकी माधुर्यलीला का सैद्धांतिक संकेत प्रस्तुत किया गया है। आगे चलकर दानलीला, मानलीला तथा रसकेलि में राधावल्लभीय दृष्टिकोण प्रस्तुत है। जिस मधुराभक्ति को महाप्रभु विट्‌ठलनाथ ने पुष्टिमार्ग में प्रतिष्ठा दी उसी का प्रभाव 'सारावली' के उत्तरार्द्ध में मिलता है। अतः 'सूरसागर' से 'सारावली' में कुछ दृष्टिकोण-भेद हो जाना स्वाभाविक ही है।

विवरण संबंधी अंतरों का कारण यह है कि 'सारावली' वैसी काव्यात्मक कृति नहीं है जैसी 'सूरसागर'। इसमें मार्मिक प्रकरणों पर कवि की दृष्टि ही नहीं है। कवि ने तो कथाओं की सूची मात्र देकर अपने ईश्वरत्व-प्रतिपादन को अग्रसर किया

है अतः इस ग्रंथ में मार्मिक-प्रसंगों को खोजना और गौण विवरणों का भेद खोजना अनावश्यक है।

'सूरसागर' के ढाढ़ी प्रसंग में उपनंद, धरानंद, ध्रुवनंद, सुरसुरानंद आदि भागवत के अनुसार हैं। साथ ही पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी-संपादित 'सूरसागर' के एक पद में इन सबका उल्लेख मिलता है।[1]

'सारावली' में नंद को अभूतपूर्व गौरव नहीं प्रदान किया है। 'सूरसागर' में भी नंद का गौरव सांकेतिक रूप में प्रस्तुत है। भागवत में नंद जी मथुरा कर देने जाते हैं और वहाँ पूतना के उत्पात को सुनकर भागे हुए गोकुल लौटते हैं। 'सारावली' में खिलौना खरीदने का उल्लेख हो नया है; जो कथा में रोचकता बढ़ाने वाला और प्रसंगानुकूल है। पूतना के काष्ठ-तन के फूँके जाने का उल्लेख भागवत के अनुसार है। 'सूर-सारावली' में बूढ़े बाबू के रूप में भगवान् शंकर का आना दिखाया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' में 'बूढ़े बाबू' का उल्लेख न पाकर डा० व्रजेश्वर वर्मा को शंका हो गयी थी किंतु पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी संपादित 'सूरसागर' में 'बूढ़े बाबू' वाला पद प्राप्त है।[2]

व्रज की शेष लीलाएँ जैसे माखनचोरी, कालियदमन, रास, गोवर्धन-धारण, कृष्ण का मथुरा-गमन और भ्रमरगीत आदि प्रकरण 'सारावली' में संक्षेप में कहे गए हैं। 'सारावली' में उनके विस्तार की आवश्यकता न थी। कंस-वध का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन, उसके केश पकड़ कर यमुना तक घसीटने आदि के विवरण भागवत के अनुसार कहे गए हैं। बात यह है कि 'सारावली' में असुर-संहार-लीला ही प्रमुख रूप से प्रस्तुत है। 'सूरसागर' की भाँति रसात्मक काव्य का निर्माण 'सारावली' का उद्देश्य नहीं है। इसीलिए गोपियों की वियोग-व्यथा आदि के मार्मिक प्रसंग यहाँ छूट गए है। 'सारावली' के कथा-विवरण भागवत से अधिक मिलते हैं। 'सूरसागर' में कवि ने जहाँ भागवत से हटकर किसी प्रकार का मौलिक परिवर्तन किया है, वहाँ कवि 'सूरसागर' के अनुसार ही 'सारावली' में वर्णन करता है। उदाहरण के लिए कालियदमन प्रसंग में 'सूरसागर' में कंस कालीदह के फूल मँगवाता है और कृष्ण काली के सिर पर पुष्प लादकर भिजवाते हैं। यह कथा-अंश भागवत में नहीं

---

१. ढांढ़ी प्रेम मगन ह्वै नाचै।
महानंद सुरसुरानंद को नंदनंद सुख जीजै।
धरानंद ध्रुवनंद औरु उपनंद महा उपकारी।
अभिनंदन और नंदराइ जू वर ऐसी महतारी।
(सूरसागर (सं० जवाहर लाल चतुर्वेदी), भाग १, पृ० ६८

२. तुम तो जोगी परम मनोहर तुमको वेद बखाने।
'बूढ़ौ बाबू' नाम हमारौ सूर-स्याम मोहिं जाने। वही, पृ० १६०

है। 'सारावली' में 'सूरसागर' की भाँति ही पुष्प काली के सिर पर लाद कर कंस को भेजे जाते हैं। इसी प्रकार उद्धव का स्वरूप भी 'सारावली' में भागवत के अनुसार न होकर 'सूरसागर' के अनुसार है। भागवत में उद्धव जी पहले से ही कृष्ण के भक्त थे। वे गोकुल के व्रजवासियों को समझाने गए थे और वहाँ उन्हें आश्वस्त करके लौटे थे। उनका अपना निजी परिवर्तन नहीं हुआ था। 'सूरसागर' में उद्धव ज्ञानी थे। वे कृष्ण की भाव-विभोरता पर उपहास करते थे। कृष्ण जी ने उन्हें भेजा ही इसलिए था कि वे व्रज-गोपियों से भक्ति-भाव प्राप्त कर आवें। वे व्रज गए और अपने ज्ञान-गौरव को खोकर भक्ति-भाव से गद्‌गद् लौटे। गोपियाँ जैसी थीं वैसी ही रहीं। 'सारावली' में यही बात मिलती है यद्यपि इस प्रकरण के कथात्मक विवरण भागवत की भाँति ही हैं।

दशम स्कंध उत्तरार्द्ध की कथाएँ 'सूरसागर' और 'सारावली' दोनों में एक ही रूप में हैं। विवरण और वर्णन-शैली में बहुत साम्य मिलता है। इसका कारण यह है कि इस भाग में कवि ने भागवत के भावानुवाद रूप में विवरण दोनों ग्रंथों में दिए हैं। 'सारावली' में ईश्वरत्व के प्रतिपादन को महत्त्व दिया गया है अतः जहाँ-जहाँ ऐसे अवसर आए हैं, कवि ने उन पर सूक्ष्म प्रकाश डाला है। 'सूरसागर' में अनेक विवरण और कथाएँ छूट भी गई हैं किंतु 'सारावली' में भागवत का क्रम निरंतर है।

भागवत को सूरदास जी ने अपनी वर्ण्य वस्तु का आधार बनाया था किंतु उन्होंने बहुत से परिवर्तन किए थे। राधा को भागवत में स्थान ही नहीं मिला है। राधाकृष्ण की प्रणयलीला 'सूरसागर' में बहुत विस्तार के साथ गाई गई है। इस लीला के प्रमुख अंश हैं—दान-लीला, मान-लीला और नित्य विहार। इसीलिए भागवत की कथाओं के उपरांत 'सारावली' में इन कथाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जो लीलाएँ गोकुल में रहते हुए 'सूरसागर' में वर्णित हैं वे भागवत में न होने के कारण पहले नहीं कही गई हैं। अतः कथा-शृंखला को जोड़ने के लिए कृष्ण जी बलराम और उद्धव के साथ द्वारका से व्रज लौटते हुए कहे गए हैं। इस उपक्रम से आरंभ होने वाली दान-लीला के विस्तृत वर्णन में 'सूरसागर' की दान-लीला से बड़ा ही साम्य मिलता है, जिसे देखकर दोनों ग्रंथों के एक रचनाकार में कोई संदेह नहीं होता।

दान-लीला के उपरांत राधा-कृष्ण का कुंज-विहार तथा सुरति-वर्णन है। 'सूरसागर' में भी दान-लीला के उपरांत राधा-कृष्ण का कुंज-विहार इसी रूप में बड़े विस्तार के साथ गाया गया है। 'सूरसागर' में राधा-कृष्ण-प्रणय-लीला की अंतिम परिणति सुरति-लीला को मान कर अनेक बार इसका निस्संकोच वर्णन मिलता है। यहाँ तक कि राधा-कृष्ण के प्रथम मिलाप के क्रम में भी सुरति-वर्णन विस्तार से है।

'सारावली' में कवि ने केवल एक पद में आत्मनिवेदन किया है। विद्वान् डा० वर्मा को 'प्रवीन' शब्द के संबंध में भ्रम हो गया है। कवि ने नम्रता प्रदर्शित करते हुए अपनी सरसट वर्ष की प्रवीणावस्था पर संकेत किया है। उनका तात्पर्य था कि सरसठ वर्ष की प्रवीणावस्था (इतनी आयु बीत जाने के बाद) पाने पर वे अपने आराध्य के उज्ज्वल रूप का दर्शन कर सके और वह भी गुरु-प्रसाद के फलस्वरूप। 'प्रवीन' शब्द में किसी प्रकार की दंभोक्ति नहीं है। उल्टे उसमें तो आत्म-उपहास है। कर्मयोग, ज्ञान, उपासना आदि का नाम लेकर कवि ने पुष्टिमार्गीय 'अनुग्रह' की महिमा गाई है। पुष्टिमार्ग के अनुसार प्रभु का अनुग्रह ही सब कुछ है, जप-तप, योग-साधन आदि व्यर्थ हैं। महाप्रभु वल्लभ की शरण आने पर ही सूरदास जी को पुष्टि भक्ति की उपलब्धि हुई थी। उसी का आत्म-निवेदन कवि ने किया है। इसमें आत्म-विज्ञापन बिलकुल नहीं है। 'एक लक्ष' का संख्यावाची अर्थ भी भ्रमात्मक है। कवि ने तो प्रभुलीला-गान के अपने एक लक्ष्य की बात कही है। किंवदंतियों में प्राप्त एक लाख या सवा लाख पदों की रचना का उल्लेख कवि ने यहाँ नहीं किया है। 'श्रीनाथ जी के वरदान' रूप में सारावली का माहात्म्य बताना और उसे भक्ति का सरल उपाय घोषित करना परंपरा-निर्वाह करना है। समस्त धार्मिक ग्रंथों में इस प्रकार का माहात्म्य कहा जाता है। भागवत का आदि प्रकरण ही माहात्म्य-प्रकरण है। 'सारावली' की रचना ही पुष्टिमार्गीय भक्ति में पगे हुए धार्मिक गृहस्थों के लिए है। जो लोग समस्त कृष्ण-कथा का नित्य पाठ करते हैं और उसी के द्वारा सब प्रकार की कामनाओं की पूर्ति में विश्वास करते हैं, उनके लिए ही 'सारावली' की रचना हुई थी। हर श्रद्धालु भक्त 'सारावली' के माहात्म्य-कथन में विश्वास करता हैं और इसीलिए नित्य-पाठ द्वारा अपना जन्म सुधारना चाहता है। ग्रंथ की समाप्ति पर इस प्रकार का कथन ग्रंथ के दृष्टिकोण को समझते हुए सर्वथा संगत है।

निष्कर्ष यह है कि डा० वर्मा ने 'सारावली' और 'सूरसागर' के तुलनात्मक अध्ययन में विषय-वस्तु संबंधी जो अंतर पाए हैं वे या तो दृष्टिकोण संबंधी हैं या विवरण संबंधी। दृष्टिकोण दोनों ग्रंथों में सर्वथा भिन्न नहीं है। 'सूरसागर' में लीला का रसात्मक वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं संकेत रूप से कृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन होता गया है। 'सारावली' में लीला का मार्मिक वर्णन नहीं है, इसमें हरि-लीला का स्पष्टीकरण है और कृष्ण के ईश्वरत्व पर ही बल दिया गया है। ग्रंथ का आरंभ ही नित्य-विहार के विवेचन से होता है। सूरदास जी हरिलीला के अंतर्गत सृष्टि-रचना में और अवतार-लीलाओं को लेते हैं तथा लीला (खेल) को होली के बृहत् रूपक में बाँधते हैं। कथा-सूची में जहाँ असुर-संहार या भक्त-उद्धार के अवसर आते हैं, वहाँ वे प्रभु के ईश्वरत्व का प्रतिपादन करते जाते हैं। 'सूरसागर' में लीला-गान को प्रमुखता दी गई है, ईश्वरत्व-प्रतिपादन यत्र-तत्र सांकेतिक रूप से

है। इस प्रकार मूल रूप से दोनों ग्रंथों का दृष्टिकोण एक ही है। अंतर केवल आकार-प्रकार का है।

विवरण संबंधी अंतरों का कारण यह है कि 'सूरसागर' भी भागवत पर आधारित है। किंतु 'सूरसागर' के लीला-गान में भागवत की अनेक कथाएँ सूक्ष्मतम हो गई है। 'सूरसारावली' में चौबीस अवतारों की कथा कहना और उस पर सैद्धांतिक संकेत देना आवश्यक था इसीलिए उसमें भागवत को मुख्य आधार बनाया गया है। इस कारण विवरण 'सूरसागर' से कुछ भिन्न हो गए हैं। फिर भी देखने की बात यह है कि कुछ विवरण 'सूरसागर' के ऐसे हैं, जो भागवत में नहीं मिलते। जैसे, बाल-वर्णन में कागासुर-वध, राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला, दान-लीला, मान-लीला, निकुंज-लीला, कालीनाग के द्वारा यमुना के पुष्प भेजना, उद्धव को मत परिवर्तन के निमित्त भेजना, ये सारे मौलिक प्रकरण 'सारावली' में मिलते हैं। सारावलीकार यदि कोई अन्य व्यक्ति होता तो इन विवरणों को प्रस्तुत नहीं कर सकता था।

डा० वर्मा का अंतिम आक्षेप भाषा संबंधी है। उनका कथन है कि " 'सारावली' का कवि अपना शास्त्रोक्त ज्ञान और पांडित्य-प्रदर्शित करने के लिए उसी के अनुकूल ब्रजभाषा का ऐसा पंडिताऊ रूप उपस्थित करता है, जिसमें कथावाचकों की ब्रज और खड़ीबोली की तत्सम प्रधान मिश्रितबोली का व्यवहार है।"

'उपर्युक्त उद्धरणों में ध्यान से देखते पर ऐसी अनेक पंक्तियाँ मिलेंगी, जिनमें सुंदर और मधुर शब्द-संचय तो है पर उनके अनुरूप न तो अर्थ-सौंदर्य है और न उच्च कल्पनाओं की सृष्टि।

' 'सारावली' में ऐसे शब्दों की एक लंबी सूची बनाई जा सकती है, जिनका व्यवहार उन्हीं रूपों में, 'सूरसागर' के बृहद आकार में ढूढ़ने से भी मिलना कठिन होता है।'

'सारावली' की तत्सम-प्रधान भाषा का कारण यह है कि इस ग्रंथ में सिद्धांत-निरूपण, सृष्टि-रचना, भागवतीय चौबीस अवतारों की कथा संक्षेप में है। भाषा विषयानुसार होती है। साथ ही जहाँ भागवत में लिखी हुई वृहदाकार कथाओं का संक्षिप्त भावानुवाद है वहाँ तत्सम प्रधान भाषा ही आ सकती है। जहाँ कवि ने सृष्टि के अठ्ठाईस तत्त्वों, लोकों, ग्रहों, पातालों, भूमंडल के नव खंडों, सात द्वीपों और भक्ति के प्रकारों, राग-रागनियों और वाद्य-यंत्रों की नामावली दी है वहाँ वह तत्सम शब्दावली के अतिरिक्त और क्या लिखता ? 'सारावली' में भागवत का भावानुवाद यहाँ तक है कि अनेक स्थलों पर भागवत का मूल देखे बिना भाव स्पष्ट ही नहीं होता। सूरदास जी एक तो अंधे थे, दूसरे अच्छे अनुवादक नहीं थे। उन्होंने

भागवत का भाव लेने के लिए दूसरे का सहारा लिया होगा अतः विवश होकर 'सारावली' में उन्हें तत्सम-शब्दावली का व्यवहार करना पड़ा। पर जहाँ कवि ने स्वतंत्र रचना की है, बिना भागवत का सहारा लिए वर्णन किए हैं, वहाँ तत्सम शब्दावली का बाहुल्य नहीं है।

'सारावली' की शैली में पंडिताऊ कथावाचकीय रंगत भी है। इसका कारण यह है कि यह रचना है ही श्रद्धालु, धार्मिक गृहस्थों के लिए, जो भागवत का पाठ व श्रवण करते हैं।

तात्पर्य यह कि 'सारावली' में कथावाचकों की तत्सम-प्रधान मिश्रित शैली का व्यवहार हुआ है पर ऐसे उदाहरण 'सूरसागर' में भी मिलते हैं अतः दोनों ग्रंथ एक ही कवि की रचना सिद्ध होते हैं। 'सारावली' की शब्दावली में अर्थ-सौंदर्य और कल्पनाओं की वह सृष्टि अवश्य नहीं मिलती जो 'सूरसागर' के रसात्मक पदों में उपलब्ध हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि 'सारावली' की विषयवस्तु काव्यात्मक न होकर धार्मिक और सैद्धांतिक है। 'सारावली' में भाषा का स्वरूप अर्थात् उसके क्रिया-पद, विभक्तियाँ, परसर्ग आदि बोलचाल की ब्रजभाषा के हैं। 'सूरसागर' में प्रायः ऐसा ही रूप मिलता है। इसीलिए विद्वानों ने इस संबंध में इस प्रकार के मत प्रकट किए हैं :

'सूर सारावली' में भाषा का वही ब्रजरूप और लालित्य है, जो 'सूरसागर' में।'

—डा० दीनदयालु गुप्त

'सूर सारावली' रचना-शैली, भाव और विचार-पद्धति तीनों की दृष्टि से ही सूरदास की रचना है।'

—डा० भगीरथ मिश्र

'सूर सारावली' के विषय, वर्णन, शैली और कवि-छापों को देखकर निश्चय हो जाता है कि इसके रचयिता हमारे अष्टछापी कवि सूरदास हैं।'

—डा० हरवंशलाल शर्मा

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने 'सूरदास' नामक शोध-प्रबध में 'सारावली' को अप्रामाणिक कहा था। डा० दीनदयालु गुप्त, डा० मुंशीराम शर्मा, सूर-निर्णयकार श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख एवं श्री प्रभुदयाल मीतल और डा० हरवंशलाल शर्मा ने डा० ब्रजेश्वर वर्मा के मत का खंडन किया और 'सारावली' को अष्टछापी सूरदास जी रचित प्रामाणिक रचना बताया। यद्यपि इन विद्वानों ने डा० ब्रजेश्वर वर्मा के प्रत्येक तर्क का उत्तर नहीं दिया था तथापि एक प्रकार से बात समाप्त हो गई थी; किंतु डा० प्रेमनारायण टंडन ने समस्या को फिर उभारा। उन्होंने 'सूर-सारावली एक अप्रामाणिक रचना' नामक ग्रंथ लिख कर प्रश्न को और ज्वलंत कर दिया। उन्होंने डा० ब्रजेश्वर वर्मा के तर्कों का जोरों से समर्थन करते हुए अपने निजी आक्षेप प्रस्तुत किए। डा० टंडन के आक्षेपों के निम्न वर्ग हैं :

१. 'सारावली' में कवि के आत्मकथन,
२. 'सारावली' और 'सूरसागर' में अंतर,
३. 'सारावली' में 'सूरसागर' की पंक्तियाँ,
४. 'सारावली' की भाषा,
५. 'सारावली' का रचनाकार।

'सारावली' में कवि के आत्मकथन :

(क) जीवन चरित संबंधी आत्मकथन :

१. कुछ संछेप सूर अब बरनत लघु मति दुरबल बाल।
२. महिमा सिंधु कहाँ लगि बरनै 'सूरज' कवि मतिमंद।
३. गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
सिव विघात तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन ॥

(ख) स्वभाव-प्रकाशक आत्मकथन :

करम जोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ॥
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लच्छ पद बंद।
ताको सार सूर सारावली गावत अति आनंद ॥

डा० प्रेमनारायण टंडन के उपरिलिखित 'क' भाग में लघुमति 'दुरबल बाल' और 'कवि मति मंद' जैसे नम्रता-सूचक शब्दों के साथ 'प्रवीन' और 'सरसठ बरस' जैसे विरोधी कथन पर आपत्ति की गई है। पर बात यह है कि कवि ने 'प्रवीन' और 'सरसठ बरस' शब्दों के द्वारा दर्पोक्ति नहीं की। कवि का तात्पर्य यह है कि सरसठ बरस की प्रवीणावस्था प्राप्त करने तक वह अपने आराध्य के दर्शन से वंचित रहा था। गुरु के प्रसाद से वह उस सौभाग्य को पा सका है। इस प्रकार 'प्रवीन' शब्द में नम्रता-विरोधी कथन नहीं है, यह भी नम्रता का सूचक ही है।

'ख' भाग के आत्मकथनों के संबंध में डा० टंडन का मत है कि उक्त चार चरणों में से प्रथम तीन का संबंध अष्टछापी कवि सूरदास से है और चौथी पंक्ति की 'गावत' क्रिया का लुप्त कर्त्ता 'हौं' (या मैं) है।

लुप्त कर्त्ता 'हौं' (या मैं) की सूझ जबरदस्ती है। संदर्भ में इस प्रकार कोई तारतम्य नहीं है। ये पंक्तियाँ ग्रंथ के विषय की समाप्ति पर कही गई हैं, क्योंकि उसके उपरांत श्रीकृष्ण के वरदान के रूप में ग्रंथ का माहात्म्य ही कहा गया है। अतएव उपर्युक्त चार पंक्तियों में आत्म-कथन ही किए हैं। कवि ने बड़ी नम्रता से अपने गुरु वल्लभाचार्य का आभार-प्रदर्शन किया है और कहा है कि गुरु से मिलने से पूर्व कवि भ्रम में था पर उनके लीला-भेद बताने पर भ्रम-निवारण हुआ और लक्ष्य

रख कर हरि-लीला का जो गान किया उसी का सार 'सारावली' में गाया है। अंतिम पंक्ति में 'सूर' शब्द कवि का अपना नाम ही है। 'सारावली' में अनेक बार कवि ने अपना नाम दिया है तब वह ग्रंथ समाप्ति पर अपना नाम क्यों न देगा ? अतः 'गावत' क्रिया के किसी लुप्त कर्त्ता की कल्पना करना समीचीन नहीं है।

सारांश यह है कि 'सारावली' में कोई विशेष आत्मकथन है ही नहीं। कवि ने नम्र भाव से गुरु के प्रति आभार मात्र प्रदर्शित किया है। इसमें किसी और कवि की कल्पना कर लेना केवल खींचतान और पूर्वाग्रह है।

डा० टंडन ने तुलना के क्रम में एक विशेष बात की है। जहाँ 'सारावली' में 'सूरसागर' से कोई भिन्नता मिलती है वे प्रश्न करने लगते हैं कि यह किस सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए है। उन्होंने सारावलीकार को 'लघुमति', 'मतिमंद', 'सरसठ बरस प्रवीन' उद्धरणों से कटुतम प्रहार भी किए हैं। किंतु जहाँ 'सारावली' और 'सूरसागर' में शब्दावली का साम्य मिलता है वहाँ वे उसमें 'अपहरण' या 'चौरकर्म' देखने लगते हैं। यदि अपहरण करने या चुराने की मनोवृत्ति होती तो दृष्टकूट अवश्य चुराए होते, क्योंकि दृष्टकूट-रचना अपने आप में जटिल है। यही कारण है कि सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने इतने दृष्टकूटों की रचना नहीं की।

'सारावली' वास्तव में सूरसागर' पर आधारित नहीं है, 'श्रीमद्भागवत' पर आधारित है। फिर भी दोनों ग्रंथों का विषय एक ही है। अतः साम्य का पाया जाना स्वाभाविक है। दोनों ग्रंथों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। 'सूरसागर' लीला-ग्रंथ है और 'सारावली' में लीलाओं का उल्लेख करके उसमें प्रभु, ईश्वरत्व और उनकी उद्धार-लीला का प्रतिपादन है। यही कारण है कि 'सारावली' में वे मार्मिक और रसात्मक चित्रण नहीं हैं, जो 'सूरसागर' में हैं। जहाँ कवि का उद्देश्य ईश्वरत्व-प्रतिपादन है और जहाँ वह कथा-विस्तार में न जाकर केवल उसके ढाँचे का उल्लेख मात्र करता है, वहाँ उसके सूक्ष्म विवरणों में भिन्नता देखना और कवि को हृदयहीन कहना समीचीन नहीं है।

'सूरसागर' के अनेक पद, पद्यांश, वाक्यांश आदि के 'सारावली' में मिलने के जो दो कारण डा० टंडन ने बताए हैं, बिल्कुल ठीक नहीं हैं। एक कारण उन्होंने दिया है कि 'सारावली'-कार अपनी 'सूची' को अधिक से अधिक प्रामाणिक रूप देना चाहता था। हम कह चुके हैं कि 'सारावली' में सूची-निर्माण है ही नहीं। पुष्पिका के अनधिकृत नामांकन को पकड़ बैठना ठीक नहीं। 'सारावली' सूचीपत्र है ही नहीं।

दूसरा कारण डा० टंडन ने बताया है कि 'सारावली'-कार शब्द-संपत्ति की दृष्टि से बिल्कुल कंगाल था और 'चोरी किए' बिना उसका काम ही नहीं चल सकता था। इस संबंध में यह निवेदन है कि 'सारावली'-कार ने 'सूरसागर' की लीलाओं

के रहस्य का उद्घाटन किया है। 'सारावली' में 'सूरसागर' के विषय से बहुत आगे बढ़ कर मधुरा-भक्ति का विवेचन प्रमुख रूप में प्रस्तुत किया गया है। जब विषय-वस्तु के लिए ही वह 'सूरसागर' का मुखापेक्षी नहीं है तो वह शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों का अपहरण क्यों कर करेगा ? यदि वह अपहरण करने को सोचता तो ऐसे स्थल पर वैसा करता जिसका करना सरल नहीं है। 'सूरसागर' में सौ दृष्टकूट पद हैं। जिस मानलीला प्रसंग में 'सारावली' में दृष्टकूट हैं उसमें 'सूरसागर' में भी हैं किंतु 'सूरसागर' का एक वाक्यांश भी 'सारावली' में नहीं मिलता; फिर भला अपहरण की बात कैसे मान्य है ? 'सारावली' और 'सूरसागर' की शब्दावलियों के साम्य का कारण यह है कि समान विषय पर रचना करने पर एक कवि के द्वारा एक ही शब्दावलियाँ निकल सकती हैं। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली और बरवै-रामायण में कई सौ शब्द, वाक्यांश, वाक्य और उपमाएँ मिलती हैं। डा० दीनदयालु गुप्त, डा० हरवंशलाल शर्मा, श्री प्रभुदयाल मीतल आदि विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि पदावलियों का इस प्रकार मिलना इस बात का ही द्योतक है कि 'सारावली' पुष्टिमार्गी सूरदास की ही रचना है।

डा० टंडन दबी जबान से कहना चाहते थे कि 'सारावली' की रचना केशव किशोर नामक एक अति साधारण कवि ने की, जिसने 'श्री आचार्य जी की वंशावली' की रचना की थी और जो श्री गोकुलनाथ जी का शिष्य था। साथ ही उन्होंने परिशिष्ट में श्री आचार्य जी की वंशावली को छाप भी दिया है। उसको देखने से बात बिल्कुल साफ हो जाती है। कहाँ 'वंशावली' और कहाँ 'सारावली' का पहला छंद ही द्रष्टव्य है :

श्री बल्लभ चरन प्रताप बल, मुग्ध हू कूँ होय ज्ञान।
गूँगे हू गुन गनि कहैं, चरन कमल करि ध्यान।

यह दोहा छंद है। मात्रा और यति-गति का कितना व्यतिक्रम है ? इसकी 'सारावली' के राग काफी, कबीर छंद और होली लोक-धुन में संपृक्त पद-रचना से भला क्या समता ? सारी वंशावली इतनी लचर भाषा में लिखी गई है कि आठ-दस छंदों तक पढ़ते-पढ़ते ही पाठक अपना सारा साहस खो देता है। होली के रूपक में निबद्ध सिद्धांत-गर्भित, लीला-समन्वित ऐसी रचना, जिसमें तत्सम शब्दावली के नग सहज ब्रजभाषा के जाल में पिरोए गए हैं, केशव किशोर जैसा 'वंशावली'-कार कदापि नहीं कर सकता था।

इस प्रकार 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता के संबंध में डा० ब्रजेश्वर वर्मा और डा० प्रेमनारायण टंडन के आरोप सिद्ध नहीं होते। ग्रंथ अष्टछापी सूरदास ही की रचना है।

☐ श्री वेदप्रकाश गर्ग

साहित्य-लहरी और उसकी प्रामाणिकता

ब्रजभाषा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि सूरदास जी की रचना के रूप में 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूर सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' की भी प्रसिद्धि है, किंतु जहाँ सूर की कृति के रूप में सूरसागर की प्रामाणिकता असंदिग्ध है, वहाँ इन दोनों रचनाओं की प्रामाणिकता में कुछ विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इस लेख में 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता पर विचार किया जा रहा है।

'सूरसागर' में भी दृष्टकूट पद मिलते हैं, जिनके पृथक् रूप में कई छोटे-बड़े मूल अथवा सटीक संकलन—'सूर के दृष्टकूट', 'सूरदास के गूढ़ार्थ पद', 'सूरशतक' आदि नामों से हस्त-लिखित अथवा मुद्रित रूप में उपलब्ध होते हैं। 'साहित्य-लहरी' की सरदार कविकृत टीका की पुष्पिका से ऐसा जान पड़ता है कि इसके पद भी 'सूरसागर' से ही संकलित किए गए हैं।[1] इसकी वर्तमान प्रतियों के अंत में 'सूरसागर' के अनेक दृष्टकूट पद संकलित मिलते ही हैं और इन प्रतियों के मुख-पृष्ठ पर 'साहित्य-लहरी' का नाम 'सूरदास के दृष्टकूट' लिखा भी गया है। संभवतः इन्हीं कारणों से विद्वानों में यह मिथ्या धारणा चल पड़ी कि 'साहित्य-लहरी' सूरसागर के ही दृष्टकूट पदों का संग्रह है।[2] यद्यपि बाबू राधाकृष्णदास जी ने 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' के दृष्टकूट पदों का मिलान करके यह निर्णय कर दिया था कि

---

१. मतन मतन तें सूरकवि, साधर कियौ उदार।
बहुत जतन तें मथन करि, रतन लहे सतदार।

२. (अ) श्री व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित सूरसागर के आरंभ में दिया हुआ 'सूरदास जी का जीवन चरित्र', पृ० ३१

(आ) हिन्दी नव रत्न, पृष्ठ १६२ (द्वि० सं०)

साहित्य-लहरी के पद सूरसागर में नहीं मिलते[1], किंतु जान पड़ता है कि विद्वानों का ध्यान उक्त लेख की ओर नहीं गया, नहीं तो उनके बीच प्रवाद नहीं चलना चाहिए था कि 'साहित्य-लहरी' सूरसागर के ही दृष्टकूट पदों का संकलन है। वास्तविकता भी यही है कि 'साहित्य-लहरी' का एक भी पद सूरसागर की वर्तमान प्रतियों में नहीं मिलता। 'सूरसागर' के जो दृष्टकूट पद 'साहित्य-लहरी' की प्रतियों के अंत में दिए गए हैं, वे वहाँ परिशिष्ट रूप में अथवा सूर के सभी दृष्टकूट पदों को एक ही ग्रंथ में संकलित करने के प्रयास रूप में रखे हुए जान पड़ते हैं।

'सूरसागर' के दृष्टकूट पदों की भाँति 'साहित्य-लहरी' के दृष्टकूट पद भी अधिकतर कृष्णलीला से संबंधित हैं, किंतु इन दोनों की रचनाओं में एक बड़ा अंतर है। 'सूरसागर' के दृष्टकूट पद यद्यपि काव्यगुण संपन्न हैं, तथापि उनमें किसी विशिष्ट काव्यांग का विवेचन नहीं है; जबकि 'साहित्य-लहरी' के समस्त पदों में अलंकार, नायिका-भेद, भाव-भेद आदि काव्यांगों का क्रमबद्ध कथन हुआ है। इन पदों की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कथित काव्यांगों का नामोल्लेख भी स्पष्टतया अथवा संकेत या श्लेष से पद के अंत में कर दिया गया है। इस प्रकार यह दृष्टकूट पदों का संकलन मात्र न होकर स्वतंत्र ग्रंथ रूप में प्रस्तुत की गई एक शुद्ध रीति रचना है।

'साहित्य-लहरी' की मूल अथवा सटीक कोई हस्तलिखित पूर्ण प्रति अभी तक प्रकाश में नहीं आई। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों[2] में सूरदास जी के 'दृष्टिकूट सटीक'[3] तथा 'सूर शतक'[4] आदि जिन रचनाओं का उल्लेख है, वे 'साहित्य-लहरी' से भिन्न 'सूरसागर' के दृष्टकूट पदों के संग्रह मात्र हैं। यह अपने

---

१. राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ४७२

२. सूरदास : अध्ययन सामग्री नामक ग्रंथ में सन् १९०९—११ (पृ० ७) की खोज-रिपोर्ट के आधार पर सभा के 'याज्ञिक संग्रह' में साहित्य-लहरी की एक हस्तप्रति होने का उल्लेख किया गया है, किंतु उक्त रिपोर्ट में इस रचना का कोई उल्लेख नहीं दिया हुआ है। अतः अध्ययन सामग्री (पृ० ४५) का उल्लेख अशुद्ध है।

३. सन् १९०० (सं० ६) की खोज-रिपोर्ट में उक्त नाम के एक हस्तलेख का उल्लेख है। सूरसागर के इस पद-संग्रह पर बालकृष्ण दास की टीका है। इसके विषय में डा० दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' में पृ० २९४ पर लिखा है कि वह सूरदास की साहित्य-लहरी से भिन्न नहीं है। यह कथन ठीक नहीं है। डा० वृजेश्वर वर्मा ने भी अपने 'सूरदास' नामक ग्रंथ में यही भूल की है। दे० पृ० १०६

४. सन् १९२३—२५ (सं० ४०२) की खोज रिपोर्ट में उक्त नाम से एक हस्तलेख का विवरण छपा है। सूरसागर के कूट पदों के इस संग्रह के टीकाकार का नाम श्रीधर (स्वामी) दिया गया है, किंतु इसके टीकाकार भी बालकृष्णदास ही हैं। भ्रम से टीकाकार का नाम श्रीधर लिख दिया गया है। बाल कृष्ण दास की टीका से मिलान करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

मूल रूप में भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। इसकी कई मुद्रित प्रतियाँ सरदार कवि कृत टीका और भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत टिप्पणी सहित उपलब्ध होती हैं। इनमें सबसे प्राचीन प्रति, जो अभी तक प्रकाश में आई है, बनारस के लाइट प्रेस द्वारा लीथो में छपी हुई है। इसका प्रथम संस्करण सं० १९२५ वि० (सन् १८६९) में प्रकाशित हुआ था।[1] इसके बाद की प्रति लखनऊ के नवल किशोर प्रेस में छपी हुई है। इसका प्रथम संस्करण सं० १९४७ वि० (सन् १८९०) में प्रकाशित हुआ था। ये दोनों प्रतियाँ सरदार कविकृत टीका सहित हैं। भारतेन्दु जी की टिप्पणी वाली प्रति का प्रथम संस्करण सं० १९४९ वि० (सन् १८९२) में खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। इसकी चौथी प्रति भारतेंदु जी की टिप्पणी वाली प्रति के आधार पर छपी हुई श्री महादेव प्रसाद जी के सरलार्थ वाली प्रति, पुस्तक भंडार लहेरिया सराय से सं० १९९६ (सन् १९३९) में प्रकाशित हुई थी।

'साहित्य-लहरी' की सरदार कवि की टीका काशी नरेश महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह की आज्ञानुसार सं० १९०४ कार्तिक शु० ११ को पूर्ण हुई थी।[2] इसमें पहले ११६ और फिर ८८ पद हैं। सभी पद सटीक हैं। ११६ वें पद पर 'साहित्य-लहरी' के पदों की समाप्ति हुई है। बाद के पद सूरसागर में से संकलित हैं, किंतु इनमें अनेक पद पूर्व मुद्रित 'साहित्य-लहरी' के भी दुबारा छप गए हैं। 'साहित्य-लहरी' के पदों का पाठ और क्रम बनारस के लाइट प्रेस वाली लीथो-प्रति में अन्य प्रतियों की अपेक्षा अच्छा है। नवल किशोर प्रेस वाला संस्करण भी सरदार कवि की टीका वाली प्रति से मुद्रित हुआ है, किंतु इसमें ब्रजभाषा के शब्दों का संस्कृतीकरण कर दिए जाने के कारण इसका पाठ विकृत हो गया है।

भारतेंदु जी की टिप्पणी वाली प्रति सरदार कविकृत टीका वाली प्रति के अतिरिक्त किसी अन्य सटीक प्रति के आधार पर छपी हुई ज्ञात होती है। भारतेंदु जी ने उक्त प्रति को प्राप्त कर और उसके कुछ पदों पर अपनी टिप्पणी लगाकर उसे 'क्षत्रिय पत्रिका' के संपादक और खड्ग विलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह को प्रकाशनार्थ दिया था। भारतेंदु जी की मृत्यु सं० १९४१ में हुई थी, अतः उक्त

---

१. इससे भी पुरानी दो प्रतियों का उल्लेख 'दृष्टकूट पद' (मूल) और 'दृष्टकूट पद' के नाम से प्राप्त होता है, जो क्रमशः सन् १८६२ में हाजी प्रेस आगरा से और सन् १८६४ में बैउल उलूम प्रेस मथुरा से लीथो में छपकर प्रकाशित हुई थीं। (दे० सूरदास : अध्ययन सामग्री, पृ० ७४) किंतु वे प्रतियाँ साहित्य-लहरी की हैं, या सूरदास के दृष्टकूट पदों के अन्य संग्रहों जैसी हैं, ज्ञात नहीं है, क्योंकि ये अब अलभ्य हैं।

२. "अथ सूरदास के दृष्टकूट पर सरदार कवि ने टीका किया श्री मन्महाराजाधिराज काशी नरेश की आज्ञानुसार।"

संवत वेद सु सुन्न ग्रह, औ आतमा विचार।
कातिक सुदि एकादसी, समुझि शुद्धवर बार।

'टिप्पणी' उससे पूर्व सं० १६४० में अथवा उससे कुछ पहले लिखी गई होंगी। इस प्रति का प्रकाशन भारतेंदु जी की मृत्यु के ८ वर्ष पश्चात् हुआ था। इसमें ११८ पद हैं, जिनमें से १०६-वाँ पद रचना-काल का और ११८-वाँ पद वंश-परिचय का है। अंत में दो परिशिष्ट हैं, जिनमें क्रमशः ४६ और ४ कुल ५३ पद और हैं, जो सूरसागर से संकलित हैं। यह प्रति भारतेंदु जी द्वारा संगृहीत बतलाई गई हैं,[१] किंतु इसमें दी हुई सामग्री का संपादन स्वयं बा० रामदीन सिंह द्वारा किया हुआ जान पड़ता है। भारतेंदु जी ने तो इसके कुछ पदों पर टिप्पणी मात्र लिखी थी। उनके असामायिक निधन के कारण टिप्पणी भी समस्त पदों पर नहीं लिखी जा सकी थी। इस प्रति के ३६ वें पद के पश्चात् की टिप्पणी के साथ प्रकाशकीय वक्तव्य के रूप में एक छोटा-सा नोट है।[२] पुस्तक के बीच में इस प्रकार के अप्रासांगिक वक्तव्य से जान पड़ता है कि भारतेंदु जी की टिप्पणी अधिकतर पुस्तक के इसी अंश तक लिखी गई थी। इसके बाद पद सं० ८८ तथा अन्य कतिपय पदों पर भी टिप्पणियाँ मुद्रित हुई हैं, किंतु वे भारतेंदु जी की हैं अथवा बा० रामदीन सिंह जी की, यह निश्यचपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतेंदु जी के पास सरदार कवि की टीका वाली प्रति के अतिरिक्त 'साहित्य-लहरी' की कोई अन्य सटीक प्रति भी अवश्य थी। उसी के आधार पर उन्होंने अपनी टिप्पणी में सरदार कवि की प्रति के पाठांतर और अर्थ-परिवर्तन की सूचना दी है। सरदार कवि और भारतेंदु जी की प्रतियों में 'साहित्य-लहरी' के पद-क्रम में भी अंतर है। अतः इन सब बातों से सिद्ध होता है कि सरदार कवि की प्रति और भारतेंदु जी की प्रति दोनों भिन्न-भिन्न हस्त प्रतियों से मुद्रित हुई हैं।

श्री महादेव प्रसाद की सरलार्थ वाली 'साहित्य-लहरी' की प्रति का मूल पाठ और पद-क्रम भारतेंदु जी की प्रति के अनुसार है। इस टीका में सरदार कवि और भारतेंदु जी दोनों की प्रतियों से सहायता ली गई है।

इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' की उपलब्ध पुरानी प्रतियों का मुद्रण दो प्रकार की सटीक प्रतियों के आधार पर हुआ है। पहली प्रति सरदार कविकृत टीका की है और दूसरी प्रति भारतेंदुकृत टिप्पणी सहित है।

यहाँ यह विचारणीय है कि सरदार कवि तथा भारतेंदु जी को 'साहित्य-लहरी' की टीका तथा टिप्पणी के लिए कितना श्रेय दिया जा सकता है? भारतेंदु जी कृत

---

१. "साहित्य-लहरी सटीक अर्थात् श्री सूरदास कृत साहित्य-लहरी का तिलक भारतेंदु हरिश्चंद्र संगृहीत।"

२. "हरिश्चंद्र जी ने इसको प्रकाश करने के लिए मुझे दिया था और इस पर बहुत कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु अत्यंत शोच की बात है कि उनके समय में प्रकाश न हुई।"

टिप्पणी के विषय में पहले ही विचार किया जा चुका है, जिससे ज्ञात होता है कि टिप्पणीकार के रूप में भारतेंदु जी का कृतित्व अत्यल्प है, जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं । सरदार कविकृत टीका के संबंध में भारतेंदु जी की प्रति के प्रकाशक बा० रामदीन सिंह ने लिखा है :

"चरितावली में सूरदास के जीवन, चरित्र में भारतभूषण भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने इस सूरसागर के टीका को सूरदास का बनाया अनुमान किया है और सरदार कवि ने उसी को कुछ घटा-बढ़ाकर अपने नाम से प्रकाशित किया है, परंतु जो विशेष अनुसंधान से हरिश्चंद जी ने सूरसागर के टीका का संग्रह किया था, उसी से यह पुस्तक प्रकाश की जाती है । अब यह निश्चय करना कठिन है कि यह टीका किसने बनाया है, परंतु यह तो ठीक है कि सरदार कवि ने इस तिलक को नहीं बनाया है । क्योंकि कोई-कोई भजन इस टीके में तीन-तीन बार आ गए हैं और अर्थ एक ही है । कहीं-कहीं कुछ घटाया-बढ़ाया भी है । मेरी राय है कि पुराना टीका और इधर-उधर के स्फुट मिले हुए अर्थ को संग्रह कर और आदि-अंत में कुछ कविता लिख कर सरदार कवि ने सूरसागर को अपने नाम से प्रकाश किया है, क्योंकि हस्तलिखित पुरानी पोथी है ।"[१]

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त उद्धरण में 'सूरसागर' का अभिप्राय 'साहित्य-लहरी' से और 'भजन' का अभिप्राय 'दृष्टकूट पद' से है । इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि 'साहित्य-लहरी' की टीका लिखने में सरदार कवि का कृतित्व नगण्य जैसा है । फिर इस जटिल ग्रंथ की टीका सबसे पहले किसने की थी ? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देने का कोई साधन इस समय उपलब्ध नहीं है ।

अपने पास विद्यमान 'साहित्य-लहरी' की टीका वाली प्रति के एक उल्लेख[२] से भ्रमित होकर भारतेंदु जी का यह अनुमान था कि कदाचित सूरदास ने स्वयं 'साहित्य-लहरी' की टीका की थी । ऐसा उल्लेख उन्होंने सूरदास के जीवन-चरित्र में किया है,[३] किंतु उनका यह अनुमान ठीक नहीं था । इतना अवश्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सरदार कवि से पहले किसी ने 'साहित्य-लहरी' की टीका अवश्य की थी । यद्यपि उसके नाम का उल्लेख उस प्रति में नहीं था, जो भारतेंदु जी के पास थी । वह व्यक्ति निश्चय ही 'भाषाभूषण'-कार जसवंत सिंह का परवर्ती

---

१. साहित्य-लहरी सटीक (प्र० सं०) पृ० ३८ । भूमिका, पृ० ३१ 'साहित्य-लहरी' मीतल जी का संस्करण) पर उल्लिखित ।

२. लोकोक्ति में जुक्ति बनावै ।
सो छेकोक्ति सूर ठहरावै ।।

३. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग ३ के अंतर्गत 'चरितावली' में प्रकाशित ।

होगा, क्योंकि इस प्रति के ३६ वें पद 'हेरत हरष नंद कुमार' की टीका और काव्यांग के साथ 'भाषाभूषण' का नामोल्लेख हुआ है।

ऐसा मालूम होता है, काशिराज ने सरदार कवि से सूर के दृष्टकूट पदों पर एक टीका-ग्रंथ प्रस्तुत करने को कहा होगा। इसके लिए सरदार कवि ने 'साहित्य-लहरी' की किसी प्राचीन टीका में कुछ परिवर्तन कर और सूरसागर के कुछ सटीक दृष्टकूट पदों का संकलन कर तथा कुछ पदों पर नई टीका लिखकर स्वरचित मंगलाचरण एवं पुष्पिका के साथ यह ग्रंथ प्रस्तुत किया था।

सरदार कवि एवं भारतेंदु जी की प्रतियों में दृष्टकूट पदों की स्पष्ट टीका न होकर इसके कुछ संकेत मात्र हैं। यद्यपि महादेव प्रसाद जी की प्रति में शब्दार्थ और सरलार्थ होने से कुछ सुविधा होती है, किंतु फिर भी पदों का भावार्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है।

इन दृष्टकूट पदों की रचना का मुख्य उद्देश्य विभिन्न काव्यांगों का क्रम-बद्ध कथन है, जिसके आधार पर ही उनका शुद्ध भावार्थ भी किया जा सकता है। सरदार कवि और भारतेंदु जी की प्रतियों में काव्यांग संबंधी कुछ संकेत मात्र हैं, किंतु महादेव प्रसाद जी की प्रति में वह भी नहीं है। साथ ही इन सभी प्रतियों में संपादन संबंधी अनेक त्रुटियाँ भी हैं। इनमें कई पदों के पाठ अशुद्ध एवं अपूर्ण हैं। ये मुद्रित प्रतियाँ भी अब सर्वत्र सुलभ नहीं हैं। अतः इस रचना के विषय की जटिलता, शैली की क्लिष्टता तथा प्रतियों की दुर्लभता आदि इन सभी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए ब्रजभाषा-साहित्य के मान्य विद्वान् और सूर-साहित्य के विशेषज्ञ श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'साहित्य-लहरी' का एक बड़ा सुंदर सुसंपादित सटीक संस्करण सन् १९६१ में प्रकाशित कराया था। उक्त संस्करण को श्री मीतल जी ने अत्यधिक परिश्रम और सावधानी से तैयार किया है। उन्होंने प्रत्येक पद के साथ पाठांतर, टिप्पणी, शब्दार्थ, प्रसंग, भावार्थ तथा काव्यांगों को दिया है। आरंभ में ८० पृष्ठों की शोध-पूर्ण भूमिका है और अंत में अनेक उपयोगी परिशिष्ट हैं। श्री मीतल जी ने इस संस्करण को सर्वांगपूर्ण और उपादेय बनाने का यथाशक्ति पूरा प्रयत्न किया है। इसकी सहायता से कूटशैली के इस सबसे अधिक क्लिष्ट ग्रंथ का अध्ययन अब सरल हो गया है। इस महत्परिश्रम के लिए मीतल जी बधाई के पात्र हैं। यह 'साहित्य-लहरी' का सर्वश्रेष्ठ संस्करण है। श्री मीतल जी के इस संस्करण के अतिरिक्त इस ग्रंथ का एक संस्करण और प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण को अपनी संजीवनी व्याख्या के साथ डा० मनमोहन गौतम ने दिल्ली से प्रकाशित कराया था। यह संस्करण भी सन् १९६१ में ही प्रकाशित हुआ है। व्याख्या में पर्याप्त परिश्रम किया गया है, यद्यपि डा० रामधन शर्मा ने सूर के कूट पदों के विशेष संदर्भ में—कूटकाव्य पर अपना थीसिस १९५४ ई० में प्रस्तुत कर 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की थी, किंतु उनकी

अंग्रेजी थीसिस का हिन्दी रूपांतर १९६३ ई० में जाकर प्रकाशित हुआ। उक्त ग्रंथ में कूटकाव्य का सैद्धांतिक और साहित्यिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सूर की समस्त मुख्य कूट रचनाओं के अध्ययन के साथ-साथ सूरसागर के समस्त कूटपदों और साहित्य-लहरी के पदों को प्रकाशित किया गया है। साहित्य-लहरी को अष्टछापी सूर की रचना माना गया है। साहित्य-लहरी के प्रकाशन का आधार भारतेंदु जी की प्रति है। प्रस्तुत अध्ययन अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है। यद्यपि पाठ-आदि में शोध की पर्याप्त गुंजाइश है।

'साहित्य-लहरी' दृष्टकूट पदों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु एक क्रमबद्ध रीति-रचना है। इसके पदों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इनमें कथित काव्यांगों का नामोल्लेख भी कर दिया गया है। इस विशेषता को इस ग्रंथ के स्वरूप-निर्धारण की कसौटी समझा जा सकता है। जिस पद में क्रमानुसार काव्यांग का कथन हो और उसमें कथित काव्यांग का नामोल्लेख भी हो, वही 'साहित्य-लहरी' का प्रामाणिक पद है और जिसमें यह विशेषता नहीं है, उसे इस ग्रंथ का पद नहीं समझना चाहिए।

इस ग्रंथ की पुरानी मुद्रित प्रतियों में प्रायः ११८ पद मिलते हैं, किंतु श्री मीतल जी ने उपर्युक्त कसौटी के आधार पर उनमें से १०८ पदों को प्रामाणिक मान कर 'साहित्य-लहरी' के अंतर्गत स्थान दिया है और शेष पदों को परिशिष्ट में रखा है। इन १०८ पदों में से १०७ पदों में काव्यांगों का क्रमानुसार कथन और उनके नामों का उल्लेख हुआ है। १०८-वाँ पद रचना-काल का सूचक होने से इस ग्रंथ का अंतिम पद है। श्री मीतल जी के मतानुसार 'साहित्य-लहरी' के स्वरूप का यही मूल ढाँचा है, जो उपयुक्त और प्रामाणिक है। इस आधार पर यह कृति निश्चय ही कवि की एक सोद्देश्य स्वतंत्र रीति-रचना सिद्ध होती है।

सूरदास जी के जीवन-वृत्त के अनुसंधान में 'साहित्य-लहरी' के 'रचना-काल और वंश-परिचय वाले दो पदों की अधिकतर चर्चा होती रही है। हिंदी-साहित्य के विद्वानों का इस रचना से जो कुछ परिचय है, वह इन दो पदों तक ही सीमित रहा है। शेष पदों से वे प्रायः अपरिचित ही रहे हैं। वंश-परिचय विषयक पद सरदार कवि और भारतेंदु दोनों की प्रतियों में हैं, यद्यपि उनकी पदसंख्या में समानता नहीं है। सरदार कवि की टीका की बनारस के लाईट प्रेस वाली प्रति में संख्या १०९ पर और नवल किशोर प्रेस लखनऊ की प्रति में संख्या ११० पर यह पद रचना-काल वाले पद के उपरांत मिलता है, जबकि भारतेंदु जी की टिप्पणी वाली प्रति में और उसके आधार पर रचित महादेव प्रसाद की टीका वाली प्रति में यह पद सं० ११८ पर दिया गया है। हिंदी-जगत् में यह पद 'साहित्य-लहरी' के ११८-वें संख्यक पद के रूप में ही प्रसिद्ध है। उक्त पद में कवि ने अपने आपको ब्रह्म राव की कुल-परंपरा

में चंद का वंशज बतलाया है। इस प्रकार वह अपनी जाति ब्रह्म भट्ट होने की घोषणा करता है। इसके साथ ही वह अपने को अष्टछाप का कवि और 'साहित्य-लहरी' का रचयिता भी बतलाता है। पद के इस विवरण के कारण यह पद विद्वानों के मत-वैषम्य का आधार बना है। इस पद को प्रामाणिक मानने वाले केवल डा० मुंशीराम शर्मा हैं।[1] अन्य सभी मान्य विद्वानों ने इसे अप्रामाणिक और प्रक्षिप्त माना है। कारण यह है कि इस पद में प्राप्त विवरण की सत्यता के विरुद्ध पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने विस्तारपूर्वक विचार कर इस पद को अप्रामाणिक सिद्ध करने में ८ प्रमाण प्रस्तुत किये हैं,[2] जो युक्तियुक्त और पुष्ट हैं। श्री मीतल जी का मत है कि "साहित्य-लहरी' की रचना के अनेक वर्षों बाद किसी ब्रह्म भट्ट कवि ने इसकी रचना कर इसे साहित्य-लहरी की किसी प्रति अथवा टीका में सम्मिलित कर दिया होगा।" डा० दीनदयालु गुप्त का भी इस पद के संबंध में ऐसा ही मत है—"ज्ञात होता है कि यह पद सरदार कवि तथा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी से पहले 'साहित्य-लहरी' के किसी टीकाकार अथवा लिपिकार ने मिलाया था।[3] कवि-वंशावली वाले इस पद की अप्रामाणिकता सर्वविदित हो चुकी है। अतः इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करने का अब कोई औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता।

'साहित्य-लहरी' के १०९-वें[4] पद में उसके रचना-काल की ओर संकेत किया गया है।[5] यह पद इसके अन्य पदों की भाँति दृष्टकूट शैली का है अतः प्रामाणिक है और इस रचना का अंतिम पद है। इसके बाद के सभी पद प्रक्षिप्त हैं और उनका समावेश 'साहित्य-लहरी' में बाद को हुआ है।[6] रचना-काल विषयक पद इस प्रकार है :

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नंद को लिखि, सुबल संवत पेख।
नंद-नंदन मास, छै तें हीन त्रितिया, वार—
नंद-नंदन जनम तें है बान सुख आगार।
त्रितिय रिच्छ, सुकर्म जोग, विचारि सूर नवीन।
नंद-नंदन दास हित 'साहित्य-लहरी' कीन।

---

१. सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२
२. दे० साहित्य-लहरी, भूमिका, पृष्ठ ३९-४५ तक (मीतल संस्करण)
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, प्र० भा०, पृ० ९२
४. भारतेंदु जी की टिप्पणी वाली प्रति में।
५. सरदार कवि की बनारस के लाइट प्रेस वाली प्रति में यह पद सं० १०८ पर और नवल किशोर प्रेस लखनऊ वाली प्रति में यह पद १०९ संख्यक है।
६. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, प्र० भा० (प्र० सं०) पृष्ठ २९४

इस रचना-काल वाची पद को लेकर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार इस पद से रचना-काल विषयक १६०७, १६१७, १६२७ और १६७७ चार संवत निकाले हैं। रचना-संवत् के अतिरिक्त इस पद में उल्लिखित तिथि, वार, नक्षत्र और योग के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। उपर्युक्त संवतों में कौन-सा ठीक है, इसका अंतिम निर्णय ठीक-ठीक ज्योतिष-गणित द्वारा ही हो सकता है। इस ज्योतिष-गणना के आधार पर कुछ चेष्टा की भी गई है, किंतु अभी तक कोई अंतिम निर्णय नहीं हो सका। डा० मुंशीराम शर्मा ने इस पद में आए हुए 'सुबल' शब्द पर विशेष बल देते हुए उसे रचना-संवत् के नाम का सूचक स्वीकार किया है। डा० शर्मा ने 'रसन' का अर्थ रसना के द्विविध व्यापारों के आधार पर '२' मान कर रचना-काल सं० १६२७ स्वीकार किया है। इसकी पुष्टि में उनका कथन है कि पद में प्रयुक्त 'सुबल' का पर्यायवाची 'वृषभ सं० १६२७ में ही पड़ा था।[१] इसका खंडन करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त तथा श्री महावीर सिंह गहलौत 'रसन' का अर्थ रसना ही लेकर '१' संख्या निकालते हुए इसका रचना-काल सं० १६१७ मानते हैं। उनके मतानुसार वैसाख की अक्षय तृतीया, रविवार, कृतिका नक्षत्र और सुकर्म योग गणित करने पर सं० १६१७ में ही आता है। डा० गुप्त ने गणितज्ञों से गणना करवा कर तथा इंडियन कलेंडर के आधार पर कहा है कि 'सुबल' संवत् १६१७ के 'प्रभव' संवत् को ही माना जा सकता है।[२] 'रसन' से 'जिसमें रस नहीं' अर्थात् 'शून्य' यह अर्थ भी किया जाता है। इसमें सं० १६०७ निकलता है। 'मुनि पुनि रसन के रस' के स्थान में 'मुनि सुनि रसन के रस' का पाठांतर भी मानकर 'सुनि' का अर्थ 'शून्य (०) और 'रसन के रस' का अर्थ ६ मानकर भी १६०७ ही संवत् स्वीकार किया जाता है। इन दोनों प्रकारों के आधार पर सर्वश्री मिश्रबंधु, पं० रामचंद्र शुक्ल, डा० हरवंशलाल शर्मा आदि विद्वानों ने 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६०७ माना है।[३] यहीं यह तथ्य भी स्पष्ट कर दिया जाए कि सरदार कवि की प्रति में इस पद की टीका नहीं है। उसमें "संवत् सोरह सै सात वैसाख मास अक्षय तृतीया तिथि बुधवार सुकर्म योग" लिखा गया है। भारतेंदु जी की प्रति में इसकी संक्षिप्त टीका है, जिसमें 'रसन' का अर्थ 'एक' करते हुए भी "संवत् सोरह सै सात १६०७" लिखा गया है।[४] यह भूल

---

१. सूर सौरभ, प्र० भा०, पृ० ८, १६१

२. (अ) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, प्र० भा०, पृ० ८६-८७
   (आ) सम्मेलन पत्रिका, पौष २००२ का साहित्य-लहरी का रचना-काल नामक लेख।

३. (अ) हिन्दी नवरत्न, पृ० १६३
   (आ) हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १४८
   (इ) सूर और उनका साहित्य, पृ० ६८

४. साहित्य-लहरी, पृ० २०२ (मीतल सं०)

सरदार कवि की टीका देखने से हुई अथवा किसी अन्य कारण से, यह समझ में नहीं आता।

डा० व्रजेश्वर वर्मा तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त पद से एक और संख्या निकाली है। उनके अनुसार—"मुनि=७, पुनि (पुनः) मुनि=७, (रसन के रस=६, दसन गौरी नन्द को=१" से सं० १६७७ होता है।[1] उनके विचार में यह संख्या स्वाभाविक और अर्थ-सुकरता के अधिक निकट है। किंतु दोनों महानुभावों ने 'साहित्य-लहरी' को अप्रामाणिक मानकर यह संवत्-संख्या निकाली है। यह समय सूरदास जी की मृत्यु के बहुत बाद का ठहरता है। अतः यह ग्राह्य नहीं हो सकता।

'साहित्य-लहरी' के उक्त पद में संवत् के साथ तिथि, वार, नक्षत्रादि का भी उल्लेख किया गया है, अतः गणना में संवत् के साथ उनका भी मेल होना आवश्यक है, तभी गणित से वास्तविक रचना-काल की पुष्टि की जा सकती है।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने डा० माताप्रसाद गुप्त से 'साहित्य-लहरी' के संभावित रचना-संवतों की जाँच वार और नक्षत्र की गणना के आधार पर कराई थी। डा० गुप्त ने १७ वीं शती के प्रत्येक दशक के सातवें संवत् की अक्षय तृतीया के वार और नक्षत्र की गणना करके उसका जो विवरण श्री मीतल जी के पास भेजा था, उसके आधार पर उन्होंने लिखा है[2]—'विवरण से ज्ञात होता है कि सं० १६१७ की अक्षय तृतीया को रविवार तो था, किंतु नक्षत्र कृत्तिका न होकर मृगशिरा था और सं० १६२७ की अक्षय तृतीया को कृत्तिका नक्षत्र तो था, किंतु वार रवि न होकर शनि था। सं० १६०७ और १६७७ की अक्षय तृतीया को न तो रविवार था और न कृत्तिका नक्षत्र ही। इस प्रकार साहित्य-लहरी के रचना-काल की समस्या का संतोषजनक समाधान गणना द्वारा भी नहीं हो पाता है। इससे यही समझा जावेगा कि या तो पद के दृष्टकूट शब्दों में कोई भूल है, अथवा गणना करने में कोई त्रुटि हुई है।' श्री मीतल जी के इस कथन से स्पष्ट है कि वे भी निश्चयपूर्वक किसी एक संवत् को स्वीकार करने में असमर्थ रहे हैं। पहले वे 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६०७ के मानने के पक्ष में रहे हैं।[3]

ज्योतिष-शास्त्र में 'सुबल' नाम का कोई बार्हस्पत्य संवत्सर नहीं है। हाँ, यदि यह भी दृष्टकूटात्मक शब्द हो तो बात दूसरी है। फिर पुराने टीकाकारों ने 'सुबल संवत्' पर कोई बल भी नहीं दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'सुबल' संवत् का नाम न होकर उसका विशेषण मात्र ही है। यह 'विक्रम' का बोधक प्रतीत होता है। मेरे

---

१. (अ) सूरदास, पृ० १२१ (आ) हिंदी साहित्य पृ० १७७
२. साहित्य-लहरी, पृ० १६ (मीतल सं०) भूमिका
३. अष्टछाप-परिचय, पृ० १४६-४७

अपने मतानुसार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल संवत् १६१७ होना चाहिए। मैंने अपने 'साहित्य-लहरी का रचना-काल' शीर्षक लेख में इसी संवत् का प्रतिपादन और समर्थन किया है।[1] वैसे श्री मीतल जी के नये प्रयास के अनुसार इस समस्या पर पुनर्विचार आवश्यक हो गया है। अतः किसी एक संवत् को अंतिम रूप में स्वीकार करने से पूर्व विद्वानों को और भी अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करना उचित होगा।

रचना-काल वाले पद के अंत में 'साहित्य-लहरी' की रचना का उद्देश्य इस इस प्रकार बतलाया गया है :

नंद नंदन दासहित साहित्य-लहरी कीन।

इस पंक्ति में बतलाया गया है कि 'साहित्य-लहरी' की रचना 'नंद नंदनदास' के हेतु की गई है। यहाँ यह विचारणीय है कि 'नंद नंदनदास' से कवि का क्या अभिप्राय है ? जिन 'नंद नंदनदास' के लिए 'साहित्य-लहरी' की रचना की गई थी, उनके विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वल्लभ-संप्रदाय के मर्मज्ञ श्री द्वारकादास पारीख का विचार है कि 'नंद नंदनदास' से अष्टछाप के सुकवि नंददास का अभिप्राय है।[2] श्री प्रभुदयाल जी मीतल, डा० दीनदयालु गुप्त तथा डा० राम रतन भटनागर आदि विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] श्री पारीख के मत का खंडन करते हुए श्री महावीर सिंह गहलौत ने कहा है कि 'नंद नंदनदास' से अभिप्राय अष्टछाप वाले अधिकारी कृष्ण दास से है। उन्हीं को काव्य का ज्ञान कराने के लिए 'साहित्य-लहरी' की रचना की गई थी।[4] शब्दार्थ से निश्चय ही 'नंद नंदनदास' का अर्थ कृष्ण दास ही होता है। किंतु श्री गहलौत के मतानुसार कृष्णदास को 'अधिकारी कृष्णदास' समझना वल्लभ-संप्रदाय के इतिहास और वार्ता-साहित्य के प्रमाण से असंगत है। 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल सं० १६१७ के समय सूरदास की आयु ८२ वर्ष और कृष्णदास अधिकारी की आयु ६४ वर्ष की थी। कृष्णदास इससे अनेक वर्ष पहले ही कीर्त्तनकार और सुकवि के रूप में प्रसिद्ध होकर 'अष्टछाप' में सम्मिलित किए जा चुके थे। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि अष्टछाप में सम्मिलित होने के १५ वर्ष पश्चात् अपने जीवन के उत्तर भाग में कृष्णदास को सूरदास से काव्यांगों की शिक्षा लेने की और सूरदास को उनके लिए 'साहित्य-लहरी'

---

१. ब्रजभारती, भाद्रपद सं० २०१२, पृ० ११-१४

२. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वि० भा०, पृ० १०७

३. (अ) अष्टछाप परिचय, पृ० १४७ (द्वि० सं०)
 (आ) अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, पृ० ८७
 (इ) नंददासः एक अध्ययन, पृ० ५१

४. संमेलन पत्रिका (श्रावण-भाद्र पद सं० २००२) में प्रकाशित लेख साहित्य-लहरी की रचना।

की रचना करने की आवश्यकता होती ? वार्ता-साहित्य में तो अधिकारी कृष्णदास उनकी प्रतिद्वंद्विता में पद-रचना करते हुए दिखलाई देते हैं। ऐसी दशा में अधिकारी कृष्णदास के लिए 'साहित्य-लहरी' की रचना होने की बात उचित नहीं जान पड़ती।

वैसे 'नंद नंदनदास' का सुगम अर्थ 'भगवान श्री कृष्ण के दास' अर्थात् भगवद्भक्त होता है। भक्तकवि सूरदास की रचना भगवद्भक्तों के लिए हो, यह उचित ही है। किंतु 'साहित्य-लहरी' में जिस प्रकार की क्लिष्ट कूट-शैली द्वारा विविध काव्यांगों का कथन हुआ है, उससे यह सर्वसाधारण भगवद्भक्तों की अपेक्षा किन्ही विशिष्ट साहित्य-विज्ञ भगवद्भक्तों के लिए ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। कृष्ण-भक्ति में पगे हुए ऐसे भक्त ही इस ग्रंथ में रस प्राप्त कर सकते हैं। इसमें कृष्ण-भक्ति का सिद्धांत-पक्ष नहीं है। अतः ऐसे भक्त, जिन्हें कृष्ण-भक्ति की मधुर लीलाओं की पूर्ण धारणा पहले से नहीं हुई है, 'साहित्य-लहरी' को शुद्ध श्रृंगार ग्रंथ ही समझेंगे, उसमें उन्हें राधा-कृष्ण की परकीया रति में उद्दाम-वासना और लौकिक रति के ही दर्शन होंगे।

सूरदास जी की 'सारावली' में निकुंज लीला का वर्णन और उसका सिद्धांत-निरूपण है। जिस निकुंज-लीला का संक्षिप्त वर्णन सूर सारावली में तथा सूरसागर के लीला-प्रसंगों में यत्र-तत्र है, उसी का विशद् और व्यापक वर्णन 'साहित्य-लहरी' ग्रंथ में हुआ है। मधुरा भक्ति युक्त राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाओं के प्रति भक्त सूरदास की रुचि और आकर्षण उनकी दृष्टकूट युक्त रचनाओं से प्रकट ही है। इस प्रकार की भावना और भक्ति वाले लगभग १५० दृष्टकूट पद सूरसागर में बाल-वर्णन से लेकर भ्रमरगीत तक के विभिन्न प्रसंगों पर प्राप्त होते हैं। सारावली में भी राधा-कृष्ण की संयोग-लीला के दृष्टकूट पद मिलते हैं।[1] सूरसागर और सारावली में भी रस, नायिका-भेद और अलंकारों का योग मिलता है। प्रतीत होता है कि कृष्ण-भक्तों को निश्चय ही यह दृष्टकूट पद्धति रुचिकर रही होगी। अतः रसिक कृष्ण-भक्तों की तत्कालीन रुचि को देखते हुए केवल कुछ अधिकारी भक्तों के लिए ही सूरदास जी ने 'साहित्य-लहरी' की रचना की होगी। सूरदास जी ने अपने समय में पहले से प्रचलित काव्य-परंपराओं का ही पालन 'साहित्य-लहरी' में किया है और इसीलिए उन्होंने दृष्टकूट शैली को अपनाया, कि केवल पात्र ही उनके गूढ़ भावों को समझ सकें। अतः 'नंद नंदनदास' से 'कृष्ण भक्त' (माधुर्योपासक अधिकारी पात्र) का अभिप्राय लेना ही समुचित है।

'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता भी सूर-साहित्य के विद्वानों का प्रमुख आलोच्य विषय रहा है और डा० ब्रजेश्वर वर्मा एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के

---

१. दे० छंद ६११ से ६६६ तक

अतिरिक्त सभी ने इसे सूरदास जी की प्रामाणिक रचना ठहराया है। अतः इस संबंध में डा० वर्मा तथा आचार्य द्विवेदी के तर्कों पर विचार करना आवश्यक है।

रचना-काल वाले पद की कवि-छाप से ज्ञात होता है कि 'साहित्य-लहरी' का रचयिता कोई 'सूर' कवि है। इस ग्रंथ की रचना जिस 'सूर' कवि ने की थी, उसके नाम की छाप उक्त रचना में सूर, सूरदास, सूरज, और 'सूरश्याम' मिलती है। वल्लभ संप्रदायी वार्ता-साहित्य से ज्ञात होता है कि यही नाम-छाप अष्टछापी सूरदास की भी है। उनकी 'सूरसागर' की पद रचनाओं में यही नाम-छापें मिलती हैं। इसके अतिरिक्त 'साहित्य-लहरी' की रचना जिन दृष्टकूट पदों में हुई है, प्रायः वैसे ही दृष्टकूट पद 'सूरसागर' में भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। इससे यह समझा गया कि 'साहित्य-लहरी' भी सूरसागर के कवि की ही रचना है अर्थात् 'साहित्य-लहरी' का रचयिता 'सूर' कवि, अष्टछापी सूरदास ही है। किंतु डा० वर्मा इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने अपने 'सूरदास' नामक प्रबंध में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'साहित्य-लहरी' अष्टछापी सूरदास की रचना नहीं है। यह ग्रंथ किसी अन्य सूरदास का रचा हुआ जान पड़ता है।[1]

भक्ति-साहित्य में सूरदास तथा सूरज नामक अनेक भक्त कवियों का नामोल्लेख मिलता है। श्री प्रभुदयाल जी मीतल ने प्रसिद्ध अष्टछापी सूरदास के अतिरिक्त ऐसे 'सूर' और 'सूरज' नामधारी ८ भक्त कवियों[2] की सूची प्रस्तुत कर और उनके जीवन-वृत्तांतों का परिचय देकर यह देखना चाहा है कि इनमें से कौन-सा कवि 'साहित्य-लहरी' का रचयिता हो सकता है ? अपने विवेचन के पश्चात् श्री मीतल जी का निष्कर्ष है—"इस प्रकार सूरदास नामक विविध भक्त कवियों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि उनमें से कोई भी साहित्य-लहरी' का रचयिता सिद्ध नहीं होता है।"[3] कारण यह है कि इन सूरदास नामक अन्य कवियों में से किसी की भी कोई दृष्टकूट रचना उपलब्ध नहीं होती है और न ही उनमें से किसी की भी नाम-छाप वे हैं, जो नाम-छाप 'साहित्य-लहरी' के कवि की और अष्टछापी सूरदास की हैं। अतः इन तथ्यों से इसी संभावना की पुष्टि होती है कि 'साहित्य-लहरी' का रचयिता अष्टछापी सूरदास ही है।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा को अपने सूरदास विषयक शोध-प्रबंध में सूरदास की

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी ऐसा ही विचार है। दे० हिन्दी साहित्य में सूरदास का परिचय, पृ० १७६-७७।

२. १. विल्व मंगल सूरदास, २. मदन मोहन सूरदास, ३. गायक सूरदास, ४. रामानंदी सूरज, ५. संकेत निवासी सूरज, ६. बनारत निवासी सूरदास, ७. लखनऊ निवासी सूरदास, ८. संत सूरदास।

३. साहित्य-लहरी, पृष्ठ २८ (मीतल सं०) भूमिका।

रचनाओं के विवेचन के लिए 'साहित्य-लहरी' पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता हुई। उन्होंने उसमें जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह इस ग्रंथ की केवल एक प्रति के आधार पर ही हुआ है। वह खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर की छपी हुई और भारतेंदु जी की टिप्पणी वाली प्रति है। इस प्रति का पाठ अपेक्षाकृत ठीक नहीं है। डा० वर्मा ने अपने विवेचन में 'साहित्य-लहरी' को अष्टछापी सूरदास की रचना मानने में संदेह प्रकट किया है। उन्होंने संपूर्ण 'साहित्य-लहरी' को अप्रामाणिक मानते हुए अपने मत की पुष्टि में निम्नोक्त तर्क उपस्थित किए हैं[1] :

(१) सूरदास के काव्य की वास्तविक प्रेरणा श्री कृष्ण की भक्ति है न कि काव्य-कला और सौंदर्य के प्रति अभिरुचि। किंतु इसके विपरीत साहित्य-लहरी का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत साहित्य-कला का प्रदर्शन है न कि भक्ति।

(२) सूरसागर के कूट पदों में प्रमुख वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण का नखशिख-वर्णन और प्रणय है, पर साहित्य-लहरी में यह बात नहीं है। लहरी के कुछ पदों का तो राधा-कृष्ण से किंचित् भी संबंध नहीं है।

(३) सूरसागर और साहित्य-लहरी के दृष्टकूटों में भाषा-शैली-भेद है। लहरी की भाषा और शैली सूरसागर की भाषा-शैली से इतनी भिन्न है कि लहरी सूरसागर के कवि से भिन्न कवि की ही रचना होनी चाहिए।

(४) सूरसागर जैसे सफल ग्रंथ में तो सूरदास जी अपने संबंध में सर्वथा मौन रहे, पर साहित्य-लहरी जैसे असफल प्रयत्न में नाम, रचनाकाल और वंश-परंपरा आदि देना, यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

(५) गो० हरिराय के द्वारा साहित्य-लहरी का कोई उल्लेख न होना, जबकि इस रचना में कवि ने तिथि, नाम तथा वंशावली का उल्लेख किया है, वास्तव में इस रचना को सूरदास कृत न मानने का एक प्रबल कारण है।

निस्संदेह 'साहित्य-लहरी' की रचना निश्चित क्रम से एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में हुई है और उसका मुख्य उद्देश्य काव्यकला के कतिपत तत्त्वों को प्रस्तुत करना है, किंतु यह कहना कि उसमें भक्ति-भावना है ही नहीं और उसके पदों की भावना सूरसागर के कूटपदों से भिन्न है, सत्य को नकारना होगा। 'साहित्य-लहरी' के प्रणयन में इसके रचयिता की मूल प्रेरणा भक्ति ही है, किंतु उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार साहित्यिक है, जो सूरदास के भक्ति-सिद्धांत और उनकी उपासना-पद्धति के अनुकूल है। यद्यपि साहित्य-लहरी के पदों का ऊपरी ढाँचा रीति प्रधान रचना जैसा है, किंतु उसका प्रमुख विषय मधुराभक्ति का प्रतिपादन ही है। पुष्टिमार्ग में

१. दे० सूरदास, पृ० ८३ से ९६ तक।

कृष्ण को रसस्वरूप और उत्कट प्रेमभाव का पात्र माना गया है। भक्त का ध्येय भगवान् कृष्ण की कृपा का भाजन बनना है और उसकी प्राप्ति तभी संभव है जब भगवान् के प्रति अनंत और अनन्य प्रेम हो। अनन्य प्रेम के आदर्श को प्राप्त करने में गोपियों को सर्वोत्तम पात्र समझा जाता है। भागवत के अनुसार कृष्ण ने काव्यशास्त्रोक्त प्रकारों से अपनी लीलाएँ की हैं। इसीलिए अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-जीवन के विविध पक्षों और लीलाओं का चित्रण करने के लिए नायिकाओं के विविध भेदों का भी वर्णन किया है। सूर ने भी भागवत् में वर्णित श्री कृष्ण के जीवन के इसी पक्ष का चित्रण साहित्य-लहरी में किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर ने अपनी रचनाओं की प्रेरणा श्रीमद्भागवत और श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा रचित उसकी सुबोधिनी टीका से प्राप्त की थी। इसके प्रमाण में भागवतांतर्गत रासपंचाध्यायी के एक श्लोक की टीका का निम्रोक्त उद्धरण दिया जाता है[१] :

"काव्य कथा अपिनीताः। काव्योक्त प्रकारेण गीतगोविन्दोक्त न्यायेनापि रतिं कृतवान्। तत्र हेतुः रसाश्रया इति॥

ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास ने उक्त श्लोक के अंतिम चरण 'सर्वाः शरत्काव्य कथा रसाश्रयाः' के स्पष्टीकरण और विशदीकरण के लिए ही मानो 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी।

सूरदास जी के काल के भक्तों में भागवत का उक्त दृष्टिकोण प्रचलित हो चुका था। भक्ति और शृंगार रसों की अभिन्नता भक्तों में व्यापक हो चुकी थी। परिणाम स्वरूप बहुत-सी रचनाएँ इसी विशिष्ट प्रणाली के आधार पर रची गईं। वल्लभसंप्रदाय के साथ-साथ अन्य वैष्णव संप्रदायों में भी ऐसी ही रचनाएँ हुई हैं। नंददासकृत 'रस मंजरी' आदि रचनाएँ, रूपगोस्वामीकृत 'उज्ज्वल नीलमणि भक्ति रसामृत सिंधु' तथा कविकर्णपूरकृत 'अलंकार कौस्तुभ' आदि ग्रंथ इसी कोटि के हैं। इनमें भक्ति और साहित्य का संदर समन्वय हुआ है। उक्त ग्रंथों में कृष्ण-लीला के गायन के साथ नायिका-भेद, रस और अलंकारों का साहित्य-शास्त्रोक्त विवेचन भी है; किंतु उनकी इस तथाकथित साहित्यिक प्रेरणा के कारण उक्त ग्रंथों की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जाता है।

अतः कवि की मनोवृत्ति में किसी परिवर्तन की शंका करने का कोई कारण नहीं है। 'साहित्य-लहरी' की आत्मा सूरसागर की आत्मा से भिन्न नहीं है। समस्त ग्रंथ में राधा और कृष्ण के ही प्रणय का चित्रण है। वस्तुतः साहित्य-लहरी नाम के दो कारण प्रतीत होते हैं : (१) इसमें केवल लीलाओं अथवा शृंगार ही का वर्णन नहीं है, अन्य रसों का भी समावेश है। (२) अपात्रों के हृदय में कृष्ण के इस

१. दे० साहित्य-लहरी, भूमिका, पृ० ४८ उद्धृत श्लोक एवं उसकी टीका (मीतल सं०)।

लौकिक रूप का विपरीत प्रभाव न हो, अतः नायिका-भेद आदि का वर्णन कूटशैली में किया गया है। विषय की गोपनीयता के लिए इस प्रकार का आवरण आवश्यक भी था।

डा० वर्मा की यह आपत्ति भी उचित नहीं जान पड़ती कि साहित्य-लहरी में सूरसागर के कूट-पदों के समान नखशिख वर्णन नहीं है। इस ग्रंथ के अधिकांश पद श्री कृष्ण एवं राधा-कृष्ण की लालाओं से संबद्ध हैं। इनमें नख-शिख सहित शृंगार रस के विविध अंगोपांगों का कथन हुआ है, जो दांपत्य-रति से भी संबद्ध हैं। केवल थोड़े से पद सामान्य नायक-नायिका विषयक हैं, किंतु परोक्ष रूप में वे भी राधा-कृष्ण-रति से संबद्ध कहे जा सकते हैं।

श्री कृष्ण-लीला से संबंधित पदों में से अनेक पद शृंगार रस के हैं। इनमें संभोग और विप्रलंभ दोनों प्रकार के पद हैं। संभोग शृंगार के अनेक पदों में रहस्यात्मक केलि-क्रीड़ा, उत्तान शृंगारिक चेष्टा और गूढ़ रतिभाव की व्यंजना हुई है। इस प्रकार के पद दृष्टकूट काव्य की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इनमें से लगभग ३० पदों में स्पष्टतया और कहीं-कहीं कूट शब्दों में राधा का नामोल्लेख हुआ है। नायिका-भेद संबंधी पदों में तो विशेषतया राधा का ही वर्णन है।

इस रचना में कुछ पद प्रत्यक्षतः शृंगार के नहीं हैं। इनकी आवश्यकता इस ग्रंथ में विविध रति-भावों और रसों के कथन के लिए हुई जान पड़ती है। फिर ये सभी पद कृष्ण-लीला से संबद्ध भी हैं। अतः इन्हें भी इस ग्रंथ की रचना-शैली और सूरदास की प्रकृति के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है।

डा० वर्मा का यह मत कि सूरसागर के दृष्टकूटों में एक निश्चित उद्देश्य के साथ सूरदास ने राधा के नख-शिख या प्रणय-प्रसंग के स्पष्ट कथन को समीचीन न समझ कर दृष्टकूट की गूढ़ शैली का प्रयोग किया है, किंतु साहित्य-लहरी में ऐसी बात नहीं है, ठीक नहीं है। उन्होंने सूरसागर के कतिपय पदों में उक्त दृष्टिकोण को प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है। किंतु सूरसागर में अनेक ऐसे पद हैं, जिनमें सूरदास ने स्पष्ट कथन को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने सुरति-प्रसंग तक में दृष्टकूट का प्रयोग नहीं किया है :

हरषि पिय प्रेम दिय अंक लीन्हो।
प्रिया बिनु बसन करि, उलटि धरि भुजनि भरि, सुरति रति पूरि अति निबल कीनो ॥[1]

सुख-विलास, जल-क्रीड़ा तथा बृंदावन-विहार के अनेक पद इसी प्रकार के हैं।

'साहित्य-लहरी' के पदों की शैली और भाषा में सूरसागर के पदों से साम्य

१. सूरसागर, २११५

अधिक है और वैषम्य कम। सूर के पदों की प्रथम पंक्ति और अंतिम पंक्ति ही इनकी शैली के दो स्तंभ हैं। प्रथम पंक्ति संपूर्ण पद का शीर्षक होती है और अंतिम पंक्ति में सूरदास की आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार व्यंजित होती है। यह अभिव्यक्ति कभी तो विषय को छोड़ कर वे स्वयं प्रस्तुत होकर करते हैं और कभी वर्ण्य विषय के माध्यम से परोक्ष रीति से अपने भाव व्यक्त करते हैं। दृष्टकूट पदों में भी यही शैली है। प्रथम पंक्ति में पद का शीर्षक और अंतिम पंक्ति में विषय निर्देश है। जिस प्रकार लीला वाले पदों में सूरदास जी लीला विशेष का निर्देश करते हैं, उसी प्रकार साहित्य-लहरी के पदों की अंतिम पंक्ति में वे पद में वर्णित नायिका, अलंकार या रस का संकेत भी कर देते हैं और श्लेष से अपनी भक्ति संबंधी अभिव्यक्ति भी प्रस्तुत कर देते हैं।

'साहित्य-लहरी' में संस्कृत-शब्दावली का बाहुल्य है। जहाँ भाषा परिमार्जित, प्रौढ़ और तत्सम प्रधान है, वहाँ उसमें ब्रजभाषा का सहज मार्दव भी विद्यमान है। सूरसागर से दृष्टकूटों में भी संस्कृत-शब्दावली का ही आधिक्य है। दोनों में समान शब्दों का प्रयोगाधिक्य भी है। सूरदास को जो शब्द अत्यंत प्रिय हैं, उनमें 'हरि' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। यह शब्द सूरसागर के अतिरिक्त सूरसारावली में भी प्रचुरता से प्रयुक्त हुआ है। इन रचनाओं की तरह यह शब्द और इससे बने हुए यौगिक शब्द साहित्य-लहरी में भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'सारंग', 'दधि' और 'भानु' आदि शब्दों तथा उनसे बने हुए यौगिक शब्दों का इन सभी रचनाओं में बहुलता से प्रयोग हुआ है। साथ ही जैसा गेयत्व सूरसागर के पदों में है, वैसी ही गेयता 'साहित्य-लहरी' के पदों में भी है। इसके सभी पद राग-रागनियों में बँधे हुए हैं, चाहे सूरसागर की भाँति इसके पदों के रागों का नामोल्लेख न हुआ हो।

साहित्य-लहरी के दृष्टकूट पदों की भाषा, भाव और पद-रचना में सूरसागर के दृष्टकूट पदों के साथ ही साथ अन्य पदों की भाषा, भाव और पद-रचना में भी बहुत कुछ समानता मिलती है। स्पष्टीकरण के लिए यहाँ दोनों के कतिपय पद उद्धृत किये जाते हैं,[1] जिनसे यह सिद्ध होता है कि दोनों में न केवल विषय अपितु एक-सी शब्दावली और वाक्यावली तक का प्रयोग है :

१. सा० ल०—पिय बिनु बहति बैरिन बाय।
मदन बान कमान ल्यायौ करषि कोप चढ़ाय।

सूरसागर—पिया बिनु नागिनि कारी रात।
कबहुँक जामिनि उबति कन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।

१. अधिक उदाहरणों के लिए दे० साहित्य-लहरी भूमिका, (मीतल संस्करण) पृ० ५०-५२ तक तथा सूर सौरभ में 'ग्रंथों की एकता' शीर्षक।

२. **सा० ल०**—नंद नँदन बिन ब्रज में ऊधौ सब विपरीत भई।
सूरसागर—मदन गोपाल बिना या तन की सबै बात बदली।

३. **सा० ल०**—सखी री ! सुन परदेसी की बात।
अरध बीच दै गए धाम कौ हरि अहार चलिजात।
सूरसागर—कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं हरि अहार चलिजात।

४. **सा० ल०**—ग्रह नछत्र अरु वेद अरध करि को बरजै मुहि खात।
सूरसागर—नखत बेद ग्रह जोरि अरध करि सोइ बने अब खात।

५. **सा० ल०**—जब तें हौं हरि रूप निहारौ।
तबतें कहा कहौं री सजनी लागत जग अँधियारौ।
सूरसागर—जब तें सुंदर बदन निहारौ।
ता दिन तें मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारौ।

इस प्रकार साहित्य-लहरी और सूरसागर के दृष्टकूटों में न तो दृष्टिकोण-भेद है और न ही शैली में किसी प्रकार का ऐसा परिवर्तन है, जिसे देखकर ग्रंथ की प्रामाणिकता में संदेह किया जा सके।

साहित्य-लहरी में कवि आत्म-कथन के लिए आतुर नहीं है। केवल दो पदों में उसने अपने संबंध में कहा है। इनमें से एक पद में ग्रंथ का रचना-काल और प्रयोजन है। ग्रंथ का रचना-काल देना उस काल की मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। गो० तुलसीदास ने भी 'मानस' में रचना काल दिया है। फिर साहित्य-लहरी में रचना-काल और ग्रंथ का नाम देने का मुख्य कारण यह है कि उसकी रचना स्वतंत्र पुस्तक के रूप में और एक विशेष समय पर हुई थी जबकि सूरसागर के पदों की रचना भिन्न-भिन्न समय पर हुई थी और उनका संकलन बहुत बाद में किया गया था। इस प्रकार रचना-काल लिखने में न तो कोई आत्म-प्रशंसा है और न परंपरा का विरोध ही। 'नंद नंदनदास हित' कह कर कृष्ण-भक्तों के लिए ही ग्रंथ का रचा जाना कहना अस्वाभाविक नहीं है।

कवि-वंशावली विषयक पद को डा० मुंशीराम शर्मा को छोड़कर और कोई प्रामाणिक नहीं मानता। यह प्रक्षिप्त पद है। अतः अविचारणीय है।

गो० हरिराय जी द्वारा वार्ता में 'साहित्य-लहरी' का नामोल्लेख न होने के कारण मात्र से ही इस ग्रंथ को सूरदासकृत न माना जाना उचित नहीं है। हरिराय जी कृत वार्ता ही नहीं, वरन् वल्लभ-संप्रदाय का समस्त वार्ता साहित्य प्रासंगिक प्रवचनों के रूप में निर्मित हुआ है। इसे क्रमबद्ध जीवनी अथवा इतिहास के रूप में नहीं लिखा गया है। 'सूरदास की वार्ता' भी प्रासंगिक प्रवचनों का संकलन ही है। अतः इसमें

सूरदास की क्रमबद्ध जीवनी अथवा उनकी समस्त रचनाओं को एक स्थान पर खोजना व्यर्थ होगा। इसमें उन्हीं रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है, जो प्रसंगानुसार कही गई थीं। इसका प्रतिपाद्य रचनाओं का वर्णन करना नहीं है। इसीलिए 'साहित्य-लहरी' की कौन कहे, सूरदास के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'सूरसागर' का उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता। सूरसारावली का भी संकेत नहीं है। ऐसी दशा में 'साहित्य-लहरी' का हरिराय जी द्वारा वार्ता में उल्लेख न होना, इसकी अप्रामाणिकता का कारण नहीं माना जा सकता। अतः यह तथ्य इस ग्रंथ को अप्रामाणिक सिद्ध करने में कोई योग नहीं देता है।

'साहित्य-लहरी' की अप्रामाणिकता के संबंध में श्री प्रभुदयाल जी मीतल ने स्वयं एक नया तथ्य दिया है, जिससे यह रचना अष्टछापी सूरदास के अतिरिक्त किसी अन्य कवि की हो सकती है। संस्कृत के अलंकाराचार्यों के आधार पर ब्रजभाषा हिंदी के कवियों ने अपना अलंकार विषयक कथन किया है। हिंदी साहित्य में अलंकार ग्रंथों की रचना अधिकतर जयदेवकृत 'चंद्रालोक' और अप्पय दीक्षितकृत 'कुवलयानंद' के आधार पर हुई हैं। 'साहित्य-लहरी', जो मुख्य रूप से अलंकार विषयक ग्रंथ है, इनसे प्रभावित है या नहीं, इस संबंध में विस्तारपूर्वक विवेचन के उपरांत श्री मीतल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि 'साहित्य-लहरी' में कथित अलंकारों की संख्या और उसके क्रम पर अप्पय दीक्षितकृत 'कुवलयानंद' का ही प्रभाव है, तब इस ग्रंथ की अप्रामाणिकता के पक्ष में यह सबसे बड़ा तर्क होगा।[१] किंतु स्वयं इस समस्या का समाधान करते हुए श्री मीतल जी ने लिखा है—'ऐसी दशा में 'साहित्य-लहरी' पर 'कुवलयानंद' का जो प्रभाव दिखलाई देता है, वह अप्पय के अतिरिक्त उन पूर्ववर्ती ज्ञात एवं अज्ञात आचार्यों का भी हो सकता है, जिनसे स्वयं अप्पय ने भी प्रेरणा ली थी। सामान्य स्रोतों से दोनों रचनाओं के प्रभावित होने की बात असंभव नहीं कही जा सकती।[२] सूरदास जी तथा अप्पय दीक्षित दोनों के समयों को दृष्टि में रखते हुए सादृश्य सांयोगिक ही प्रतीत होता है। अधिक संभावना इसी बात की है कि 'साहित्य-लहरी' में अलंकार विषयक कथन पर अप्पय के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों का ही प्रभाव है। इस संबंध में श्री मीतल जी का मत युक्ति-संगत है।

तात्पर्य यह है कि मान्य विद्वान् डा० ब्रजेश्वर वर्मा के द्वारा प्रस्तुत तर्क 'साहित्य-लहरी' को अप्रामाणिक सिद्ध करने में पर्याप्त एवं सक्षम नहीं हैं। यदि डा० वर्मा के अनुमानानुसार इस ग्रंथ के रचयिता को 'सूरज चंद ब्रह्मभट्ट' मानते हैं, तब

१. दे० विशेष विवरण के लिए साहित्य-लहरी (मीतल संस्करण), भूमिका पृ० ५३–६० तक।
२. वही, पृ० ५९

वंश-परिचय के पद को भी प्रामाणिक मानना होगा। ऐसी दशा में डा० साहब के लेखानुसार कवि चंदवरदाई और सूरदास से अपने व्यक्तित्व को संबंधित और मिश्रित करने की साहित्यिक प्रवंचना का अपराधी माना जाएगा।[1] किंतु किसी भी समर्थ कवि को अपना अस्तित्व मिटाकर इस प्रकार के अपराध का भागी होने से क्या लाभ हो सकता है? कोई कवि अपनी ऐसी रचना को, जो साधारण कवि की रचना नहीं हो सकती—नाम-साम्य मात्र से कभी दूसरे की बताने का अक्षम्य अपराध क्यों करेगा? जो कवि 'साहित्य-लहरी' जैसे अपूर्व चमत्कारपूर्ण क्लिष्ट कूट-काव्य की रचना कर सकता है, वह अपना नाम गुप्त रखकर अपने पूर्ववर्ती किसी कवि के नाम से रचना करेगा, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। दृष्टकूट काव्य अपनी विचित्र शब्दावली के कारण वैसे ही जटिल होता है, किंतु साहित्य-लहरी की अपनी विशेषताओं ने इसे और भी अधिक जटिल एवं दुर्बोध बना दिया है। इस प्रकार की रचना करना हँसी-खेल नहीं है। अतः कोई साधारण कवि इसे कदापि नहीं कर सकता है। पद-रचना का अभ्यासी कोई प्रतिभाशाली प्रौढ़ कवि ही इसमें सफल हो सकता है। वस्तुतः यह अपने ढंग का हिंदी का एक ही ग्रंथ है और सूरदास जैसे दृष्टकूट-रचना अभ्यासी कवि के अलावा और किसी के द्वारा रचा भी नहीं जा सकता था। अतः 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता के संबंध में किसी भी दृष्टि से विचार करने पर इसके विरुद्ध कोई तर्क तथ्यपूर्ण नहीं ज्ञात होता। यह अष्टछापी सूरदास की ही प्रामाणिक रचना है।

१. सूरदास, पृ० ९६

☐ डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

महाकवि सूरदास का राम-काव्य

सूर का दृष्टिकोण :

महाकवि सूरदास का राम-काव्य उसी प्रकार उपेक्षित रहा है जिस प्रकार तुलसी का कृष्ण-काव्य । तुलसी ने लिखा है :

हरि अनंत, हरि कथा अनंता,
कहहिं, सुनहिं, समुझहिं स्रुति-संता ।[1]

सूर-तुलसी के समान राम-कथा के गायक और पुरस्कर्ता अनेक साहित्यकार रहे हैं :

कल्पभेद हरि चरित सुहाये ।
भाँति अनेक मुनीसन गाये ।[2]

महाकवि सूरदास भी इसी पुनीत तथा समृद्ध परंपरा के कवि थे । उनके राम-काव्य विषयक छंदों को 'रामचरितावली' नाम दिया गया है । सूर इसी परिपाटी का सफल अनुगमन-अनुकरण करते हुए अपना राम-कथा विषयक दृष्टिकोण 'सूर-सारावली' (छंद १५५-१५७) में स्पष्ट करते हैं :

सतकोटी रामायन कीनों तऊ न लीन्हों पार ।
कह्यो वसिष्ठ मुनि रामचंद्र सों रामायन उच्चार ।
कागभुसुंडि गरुन सों भाष्यों रामचरित अवतार ।
सकल वेद अरु सास्त्र कहयो है रामचंद्र जस सार ।
कुछ संछेप सूर अब बर्नत लघुमति दुर्बल बाल ।
यह रसना पावन के कारन मेटन भव-जंजाल ।

---

१. रामचरितमानस   २. रामचरितमानस

ऐसा अनुमान है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के सत्संग में आने के पूर्व सूरदास ने राम के प्रति अपनी दास्य-भक्ति को अभिव्यक्ति दी थी और तदनंतर वे कृष्ण के प्रति सख्य एवं माधुर्य भावों के अभिव्यंजक बन गए।

सूरदास का मौलिक दृष्टिकोण यह है कि वे राम और कृष्ण में कोई अंतर प्रतिपादित नहीं करते। यही स्थिति सीता और राधा की भी है। सूरदास ने एक पद में राम तथा कृष्ण की युगपद स्तुति गायी है। इसकी पुष्टि महाप्रभु वल्लभाचार्य के इस सिद्धांत से की जा सकती है कि ब्रह्म के दो रूप, मर्यादा रूप और रसेश्वर रूप, के प्रतिनिधि के रूप में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और रसेश्वर योगीराज श्रीकृष्ण की एकात्मकता अपना श्रेष्ठ रूप यहाँ पाती है :

जय माधव गोविंद मुकुंद हरि।
कृपासिंधु कल्याण कंस अरि॥
प्रणत पाल केशव कमलापति,
कृष्ण कमल लोचन अनन्य गति॥
श्रीरामचंद्र राजीव नैनवर।
शरण साधु श्रीपति सारगधर॥
खर-दूषन-त्रिशिरा-शिर खंडन।
चरण चिह्न दंडक भुव मंडन॥
रघुपति प्रबल पिनाक विभंजन।
जगहित जनकसुता मनरंजन॥
गोकुलपति गिरिधर-गुन-सागर।
गोपी रमन राम रतिनागर॥
करुणामय कपि कुल हितकारी।
बालि-विरोध-कपट-मृगहारी ॥

सीता में ऐश्वर्य का प्राधान्य है परंतु राधा में प्रेम का प्रामुख्य, परंतु दोनों में मौलिक भेद होते हुए भी सूर सीता और राधा में कोई पार्थक्य नहीं स्वीकार करते :

समुझि री नाहिंन नई सगाई।
सुनि राधिके तोहिं माधो सौं, प्रीति सदा चलि आई।
× × ×
सिंधु मथ्यौ, सागर-बल बाँध्यौ, रिपु रन जीति मिलाई।
अब सो त्रिभुवननाथ नेह-बस, बन बाँसुरी बजाई॥[1]

---

१. सूरसागर ३४३४

सूर कृष्ण को चुनौती देते हैं परंतु राम से उद्धार-कल्याण का अनुनय-विनय करते हैं। इसका मूल कारण यह है कि राम-कथा सिर्फ दास्य-भाव के अंतर्गत ही आ सकती है, सख्य-भाव में नहीं। सूरदास के राम रावण-वध के बाद सीता को देखकर लज्जा के वश हो जाते हैं परंतु सूर के कृष्ण का रूप-सौंदर्य किसी कुल-मर्यादा की लक्ष्मण-रेखा में बँधता नहीं था। ऐसा बताया जाता है कि वल्लभाचार्य से सूरदास की भेंट सं० १५१० में हुई थी। उस समय सूर की आयु लगभग ३२ वर्ष की थी। तब तक वे दास्य तथा राम-कथा के छंद गा चुके होंगे। पुष्टिमार्ग का जलयान तो बाद में गतिशील हुआ।

इन्हीं मूल बिंदुओं को चिंतन में रखकर ही हम सूर के राम-काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकते हैं।

प्रेरणा-स्रोत :

श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही श्रीविष्णु के अवतार थे। सूर ने श्रीराम की गाथा को श्रीमद्भागवत से ग्रहण किया था। सूर के युग में ब्रजक्षेत्र में राम-कथा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार और सम्मान था। अपनी युगीन चेतना से भक्तकवि किस प्रकार अछूता रह सकता था? उन्होंने अपने युग-धर्म से सीधे नाता जोड़ते हुए राम-कथा को गृहीत कर लिया। इसी प्रकार तुलसी ने 'कृष्ण-गीतावली' लिखी थी। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे।

सूरदास (सन् १४७८-१५८०) तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३) से लगभग ४६ वर्ष बड़े थे। सूर के स्वर्गवास के समय तुलसी की आयु लगभग ४८ वर्ष की थी। दोनों के मिलने की संभावना प्रतीत होती है। वेणीमाधवदासकृत 'मूल गोसाईं चरित' में यह प्रसंग है कि संवत् १६१६ में गोकुलनाथ के द्वारा भेजे गए सूरदास तुलसी से मिले थे और उन्हें अपना 'सागर' दिखलाया था। यदि यह घटना सत्य हो तो इससे भी तुलसी द्वारा सूर के राम-काव्य का मार्ग प्रशस्त होता दिखायी पड़ता है।

सूर की अनन्य कृष्णभक्ति के कारण उनका राम-काव्य सर्वथा विस्मृत तथा त्यक्त रहा। श्रीराम सूर के इष्टदेव नहीं बन सके। उनका राम-काव्य भावपक्ष तथा शिल्पपक्ष दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट तथा प्रभावाभिव्यंजक है।

राम-काव्य का स्वरूप :

महाकवि सूरदास ने अपनी निम्नलिखित दो कृतियों में राम-कथा को स्थान दिया है :

(क) सूर-सागर।

(ख) सूर-सारावली।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध के दशम अध्याय में रामावतार से लेकर उनके राजसिंहासनारूढ़ होने तक के आख्यान को कुल पचपन श्लोकों में बाँध दिया गया है। सूर ने प्रायः इसी का ही अनुकरण किया है।

'सूरसागर' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा : संपादक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी) के प्रथम खंड के नवम स्कंध के अंतर्गत पद ४५९ से ६१६ तक राम-कथा मिलती है। इसी के साथ नवम स्कंध की प्रायः परिसमाप्ति भी होती है। महाकवि ने कुल मिलाकर राम-कथा को १५८ पद दिये हैं। 'रामावतार' से कथा का श्रीगणेश इस प्रकार होता है :

हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि-चरनारबिंद उर धरौ।
जय अरु विजय पारषद दोइ। विप्र-सराप असुर भए सोइ।
एक बराह रूप धरि मार्‌यौ। इक नरसिंह-रूप संहार्‌यौ।
रावन-कुंभकरन सोइ भए। राम जनम तिनकैं हित लए।
दसरथ नृपति अजोध्या-राव। ताकैं गृह कियौ आविर्भाव।
नृप सौं ज्यौं सुकदेव सुनायौ। सूरदास त्यौंही कहि गायौ॥[1]

इसकी इतिश्री इस प्रकार होती है :

बिनती किहिं बिधि प्रभुहिं सुनाऊँ ?
महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहूँ पाऊँ।
जाम रहत जामिनि के बीते, तिहिं औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींदमें, कैसे प्रभुहिं जगाऊँ।
दिनकर-किरनि-उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर-मुनि गन की, तिहिं तैं ठौर न पाऊँ।
उठत सभा दिन मधि, सैनापति-भीर देखि, फिरि आऊँ।
न्हात-खात सुख करत साहिबी, कैसे करि अनखाऊँ।
रजनी-सुख आवत गुन-गावत, नारद तुंबुर नाऊँ।
तुमहीं कहौ कृपानिधि रघुपति, किहिं गिनती मैं आऊँ।
एक उपाउ करौ कमलापति, कहौ तो कहि समुझाऊँ।
पतित-उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥[2]

बालकांड में रामावतार, श्रीरामजन्म, शर-क्रीड़ा, विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा, अहल्योद्धार, धनुष-भंग, दशरथ का जनकपुर-आगमन, कंकण-मोचन, धनुष भंग, पाणिग्रहण, दशरथ-विदा, परशुराम-मिलाप और अवधपुरी-प्रवेश के प्रसंग हैं। कुल

१. सूरसागर, ४५९
२. सूरसागर, ६१६

पंद्रह पद हैं। राग-रागिनियों में बिलावल, कान्हरौ, सारंग, आसावरी और नट में पद लिखे गए हैं।

अयोध्याकांड में राम-वन-गमन, कैकेयी-वचन श्रीराम के प्रति, दशरथ-विलाप, श्रीराम-वचन जानकी के प्रति, जानकी-वचन श्रीराम के प्रति, श्रीराम-वचन लक्ष्मण के प्रति, लक्ष्मण का उत्तर, महाराज दशरथ का पश्चाताप, राम-वन-गमन, लक्ष्मण-केवट-संवाद, केवट-विनय, पुरवधू-प्रश्न, दशरथ-तनु-त्याग, कौशल्या-विलाप, भरत आगमन, भरत-वचन माता के प्रति, महाराज दशरथ की अंत्येष्टि, भरत का चित्रकूट-गमन, श्रीराम-भरत-संवाद, रामोपदेश भरत-प्रति और भरत-विदा के प्रसंग हैं। कुल छब्बीस पद हैं। राग-रागिनियों में सारंग, कान्हरौ, गूजरी, केदारौ, नट, मारु, रामकला, रामकली, गौरी, धनाश्री और सौरठ के पद मिलते हैं।

अरण्यकांड में सूर्पणखा-नासिकोच्छेदन, खर-दूषण-वध, सीता-हरण, सीता का अशोक-वन-वास, राम-विलाप, गृह-हरि-पद-प्राप्ति और शबरी-उद्धार के प्रसंग हैं। कुल बारह पद हैं। राग-रागिनियों में मारु, सारंग, केदारौ तथा मारु के पद मिलते हैं।

किष्किंधाकांड में सुग्रीव-मिलन, हनुमत-राम-संवाद, बालि-वध, सुग्रीव को राज्य प्राप्ति, सीता-खोज और संपाती-वानर-संवाद के पद हैं। कुल छः पद हैं। राग-रागिनियों में सारंग तथा मारु के पद मिलते हैं।

सुंदरकांड में निशिचरी-वचन जानकी के प्रति, निशिचरी-रावण-संवाद, रावण-वचन सीता के प्रति, त्रिजटा-सीता-संवाद, त्रिजटा-स्वप्न, हनुमान-सीता-मिलन, हनुमान-कृत सीता-समाधान, सीता-संदेश श्रीराम के प्रति, सीता-परितोष, अशोक-वन-भंग, हनुमान-रावण-संवाद, लंका-दहन, सीता का चुड़ामणि-प्रदान, हनुमान-प्रत्यागमन और हनुमान-राम-संवाद के पद मिलते हैं। कुल बत्तीस पद हैं। राग-रागिनियों में केदारौ, धनाश्री, मारु, कान्हरौ, सारंग, मलार तथा मारु के पद मिलते हैं।

लंकाकांड में सिंधु-तट-वास, हनुमंत-वचन, विभीषण-रावण-संवाद, राम-प्रतिज्ञा, रावण-मंदोदरी-संवाद, राम-सागर-संवाद, सेतु-बंधन, जलनिधि-तरण, मंदोदरी-वचन रावण के प्रति, रावण-वचन मंदोदरी के प्रति, अंगद-दूतत्व, अंगद-कथित-श्रीराम संदेश, लक्ष्मण-वचन, लक्ष्मण-युद्धगमन, मंदोदरी-वचन रावण के प्रति, कुंभकरण-रावण-संवाद, हनुमान-वचन-श्रीराम के प्रति और राम-दर्शन के पद हैं। कुल पद ६७ हैं। राग-रागिनियों में मारु, केदारौ, सारंग, धनाश्री, टोड़ी, सोरठ, बसंत, बिलावल और आसावरी के पद हैं। उत्तरकांड नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' के और ६८ पदों में राम की चर्चा प्रत्यक्ष-परोक्ष में मिल जाती है। कई स्थानों पर सूर ने कृष्ण के स्थान पर राम का ही नाम लिखा है क्योंकि वे दोनों में कोई अंतर नहीं करते परंतु तुलसी ने ऐसा नहीं किया।

इस प्रकार सूरदास ने राम-कथा के पारस्परिक स्वरूप को ग्रहण किया है।

वे तुलसी के समान विस्तार तथा सर्वांगीणता में नहीं गए क्योंकि राम-कथा उनका अभीष्ट नहीं, इसलिए वे सूत्र तथा संकेत में अपना काम चला ले गए हैं।

सूरदास ने मौलिकता और नवीन प्रसंगोद्भावनाओं का भी परिचय नहीं दिया। वे कहीं भी परिवर्तन नहीं करते। वे चरित्रांकन की ओर भी विशेष ध्यान नहीं देते। कथावस्तु में शृंखला तथा क्रमबद्धता के होते हुए भी हम उसे प्रबंधात्मकता के अंतर्गत नहीं रख सकते। सूरदास ने मुक्तकों के माध्यम से राम-कथा को चरितार्थ किया है।

'सूर-सारावली' में राम-कथा छंद १४० से शुरू होती है :

रघुकुल-बंस चतुर चूड़ामनि पुरुषोत्तम अवतार।
दसरथ के गृह जन्म लियो हरि राम-रूप सुकुमार।।

उसकी समाप्ति छंद ३१५-१६ में होती है :

सूर समुद्र की बूंद भई यह कवि बरनन कह करिहै।
कहति चरित रघुनाथ सरस्वति बौरी मति अनुसरि है।।
अपने धाम पठाय दिये तब पुरवासी सब लोग।
जै जै जै श्रीराम कल्पतरु प्रगट अजोध्या भोग।।

इस प्रकार सूरदास ने 'सारावली' में राम-कथा को कुल २७६ छंद दिए हैं। धनुष-भंग-प्रसंग २०६-२८ तक के छंदों में है। बनवास-प्रसंग २४२-४७ तक के छंदों में है। श्रीकृष्णावतार को ५०३ छंद दिए गए हैं।

सूर की राम-कथा का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि राम-कथा संबंधी सूरदास के जितने पद मिलते हैं, उन्हें देखकर स्पष्ट हो जाता है कि राम की कथा पूर्वाधार प्रसंग के साथ कहना उनका अभीष्ट नहीं है और म कथा के जिन स्थलों पर उनकी पद-रचना मिलती है, वे स्थल कथानक की दृष्टि से उसके प्रधान अंग कहे जा सकते हैं। उन्होंने भावों की मार्मिकता की दृष्टि से ही कथानक के स्थलों को चुना और उस चुनाव में अपनी व्यक्तिगत भावानुभूति के ही आधार पर निर्णय किया। इन पदों में ऐसे भी थोड़े-से पद मिलते हैं, जिनमें कथा के इतिवृत्त को मिलाने का प्रयत्न जान पड़ता है क्योंकि उनमें भावोत्कर्ष का अभाव और इतिवृतात्मकता की प्रचुरता है। वस्तुतः इस प्रकार के पद प्रायः मार्मिक अभिव्यंजना वाले पदों के संदर्भों को भरने के लिए लिखे गए जान पड़ते हैं।

भावपूर्ण मार्मिक स्थल और भावुकता :

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार गोस्वामी तुलसीदास ने राम का अयोध्या-त्याग, पथिक रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम तथा भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का करुण विलाप और भरत

की प्रतीक्षा को अत्यंत मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित किया है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास के राम-काव्य में रामजन्म, बाल-केलि, धनुर्भंग, केवट-प्रसंग, पुरबधु-प्रश्न, भरत-भक्ति, सीता-हरण पर राम-विलाप, हनुमान द्वारा सीता की खोज, हनुमान-सीता-संवाद, रावण-मंदोदरी-संवाद, लक्ष्मण-शक्ति पर राम-विलाप, हनुमान का संजीवनी लाना, सीता की अग्नि-परीक्षा और राम का अयोध्या-प्रवेश को भावपूर्ण मार्मिक स्थलों के रूप में स्वीकार किया है।

एक दो प्रसंगों की चर्चा से यह प्रकरण भास्वर हो जाएगा।

केवट-प्रसंग में सूर कहते हैं :

नौका हौं नाहीं लै आऊँ।
प्रगट प्रताप चरन-कौ देखों, ताहि कहाँ पुनि पाऊँ ?
कृपासिंधु पै केवट आयौ, कँपत करत सो बात।
चरन परसि पाषान उड़त है, कत बैरी उड़ि जात ?
जो यह बधू होई काहू की, दाऊ-स्वरूप धरे।
छूटै बेह, जाइ सरिता तजि, पग सौं परस करे।
मेरी सकल जीविका यामैं, रघुपति मुक्त न कीजै।
सूरदास चढ़ौ जभु पाछे, रेनु पखारन दीजै ॥[1]

इसी को तुलसी 'कवितावली' में पूर्ण मार्मिकता तथा सरसता के साथ प्रस्तुत करते हैं :

रावरे दोषु न पायन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाइन तें बन-बाहन् काठ को कोमल है, जलु खाइ रहा है ॥
पावन पाय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥[2]

सूरदास की सीता 'अभिधा' से काम लेती है—

कौन बरन तुम देवर सखिरी, कौन तिहारौ नाथ ?
कटि तट पट पीतांबर काछे, धारे धनु-तूनीर।
गौर बरन मेरे देवर सखि, पिय मम स्याम सरीर ॥[3]

परंतु तुलसी की सीता 'कवितावली' में चतुराई से उत्तर देती हुई 'व्यंजना' का वैभव निखारती है :

पूछति ग्रामवधू सिय सों, 'कहौ साँवरे-से, सखि रावरे को हैं ?'
सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकीं जानी भली।
तिरछे करि नैन, दे सैन, तिहैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली ॥[4]

---

१. सूरसागर, ४८५ २. कवितावली, २/७ ३. सूरसागर, ४८८
४. कवितावली, २/२१-२२

सूरदास की सीता अधिक स्पष्ट और यथार्थवादिनी है। उसमें तुलसी की कुल-मर्यादा का रंग नहीं दिखायी देता। सूरदास ने मार्मिक स्थलों के अंकन में भावोद्रेक तथा सहृदयता से काम लिया है। वियोग-व्यथा को सूर तुलसी से अधिक जानते थे। इसलिए उनकी सीता, मर्यादावादी सीता की लक्ष्मण-रेखा का उल्लघंन करती हुई, गोपिकाओं के विदग्ध हृदय से निस्रत विरह-वह्नि में यहाँ तक कह जाती हैं :

सुनु कपि, वे रघुनाथ नहीं ?
जिन रघुनाथ पिनाक पिता गृह तोरयौ निमिष महीं।
जिन रघुनाथ फेरि भृगुपति-गति डारी काटि तहीं।
जिन रघुनाथ-हाथ खर-दूषन-प्रान हरे सरहीं।
कै रघुनाथ तज्यौ प्रन अपनौ, जोगिनि दसा गहीं ?
कै रघुनाथ दुखित कानन, कै नृप भए रघुकुल हीं।
कै रघुनाथ अतुल बल राच्छस दसकंधर डरहीं।
छाँड़ी नारि बिचारि पवनसुत, लंक बाग बसहीं।
कै हौं कुटिल, कुचील, कुलच्छनि, तजी कंत तबहीं।
सूरदास स्वामी सौं कहियौ अब बिरमाहिं नहीं॥[1]

इस प्रकार की बात तो माइकेल मधुसूदन दत्त की सीता ही कह सकती थीं। सूर के पास वियोगिनी सीता को पहचानने वाला अधिक संवेदनशील तथा स्पंदनशील हृदय था। सूर ने गृहस्थी, दांपत्य-जीवन और मातृ-प्रेम की सुंदर छवियाँ अंकित की हैं।

चरित्र-चित्रण :

सूरदास के पास राम-काव्य के पात्रों के चरित्रांकन का न तो अवकाश ही था, न अभीष्ट और प्रावधान। उन्होंने कतिपय सूक्ष्म तथा महीन रेखाएँ प्रस्तुत की हैं।

सूर ने राम के करुण और कोमल भावों को अधिक उद्घाटित किया है। उनमें मर्यादा-शीलता, सुंदरता, कर्त्तव्यनिष्ठा और परदुःखकातरता है। सूर ने अपनी राष्ट्रीयता को राम के माध्यम से अभिव्यक्त किया है :

हमारी जन्मभूमि यह गाऊँ।
सुनहु सखा सुग्रीव-विभीषन, अवनि अयोध्या नाउँ।
देखत बन-उपवन-सरिता-सर, परम मनोहर ठाउँ।
अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाउँ।
ह्याँ के बासी अवलोकत हौं, आनंद उर न समाउँ।
सूरदास जौ विधि न सँकाचै, तौ बैकुंठ न जाउँ।[2]

१. सूरसागर, ५३५   २. सूरसागर, ६०९

तुलसी की सीता जगतमाता हैं। यह स्थिति सूर की सीता की नहीं है। वह अपने वन-गमन का कारण स्पष्ट बता देती हैं :

सासु की सौति सुहागिन सौ सखि, अतिहीं पिय की प्यारी।
अपने सुत कौं राज दिवायौ, हमकौं देश निकारी।[1]

सूर की सीता और तुलसी की सीता में जमीन-आसमान का अंतर है। वह तुलसी की गरिमा को प्राप्त नहीं कर पायी।

डा० रामनिरंजन पांडेय ने लिखा है कि सूरदास जी के भरत का जीवन और अस्तित्व तुलसी के भरत के समान ही राममय है। गोस्वामी जी को अपने भरत को प्रस्तुत करने के लिए 'मानस' में पर्याप्त स्थान और विस्तार मिला है। गोस्वामी जी के भरत तो विश्व में दुर्लभ हैं। सूर के लक्ष्मण शेष के अवतार हैं। सूरदास ने अपनी भक्ति हनुमान के माध्यम से प्रकट की है। सूरदास की यशोदा और कौशल्या में कोई अंतर नहीं। वे राम की अपेक्षा लक्ष्मण को अधिक चाहती हैं। सूरदास का 'वात्सल्य का कोना-कोना झाँकने वाला' रूप यशोदा में प्रस्फुटित हो पड़ा है :

बैठि जननि करति सगुनौती।
लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती।
इतनी कहत, सुभाग उहाँ तैं, हरी डार उड़ि बैठ्यौ।
अंचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ।
जब लौं हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तब जपिहौं।
दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि मै थपिहौं।
अब कैं जौ परचौ करि पावौं अरु देखौं भरि आँखि।
सूरदास सोने कैं पानी मढ़ौ चोंच अरु पाँखि॥[2]

सूर ने सुमित्रा के चरित्र को महिमा-मंडित किया है। उसमें निर्भीकता तथा सहयोगिता है। रावण राम का हृदय से भक्त है। सूर के चरित्र सामान्य से असामान्य बनते दिखायी देते हैं। वह मुक्ति का अभिलाषी है।

'सूर-सागर' और 'सूर-सारावली' के राम-काव्य की तुलना :

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण और श्रीराम के आख्यान का अनुपात पच्चीस तथा एक है। 'सारावली' में इसकी स्थिति पाँच तथा एक के बराबर दिखाई देती है।

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण का शृंगार-वर्णन विस्तार से मिलता है, वही स्थिति 'सारावली' में श्रीराम की है। कहीं-कहीं 'सारावली' के राम-रूप-सौंदर्य-वर्णन में 'सूरसागर' की राधा का वर्णन सम्मिश्रित हो गया है।

---

१. सूरसागर, ४८८ २. सूरसागर, ६०८

'सूर-सारावली' में धनुष-भंग के अंतर्गत सीता की चिंता के तीन छंद द्रष्टव्य हैं :

सीता कहत सहेलिन सौं पुनि, यही कहत रघुनंद।
तब उन कह्यौ, सकल सुखसागर, सो ये परमानंद।
बारंबार जिय सोच करत है, विधि सौं वचन उचारी।
मन-क्रम-वचन यहै बर दीजो, माँगत गोद पसारी।
एक बार सुरदेवी पूजन, भयौ दरस सखि मोहिं।
ता दिन तैं छिन कल न परत है, सत्य कहत हौं तोहि।[१]

'सूर-सागर' में यह प्रसंग अधिक सटीक, युक्तियुक्त और सरस है :

चितै रघुनाथ-बदन की ओर।
रघुपति सौं अब नेम हमारौ, बिधि सौं करति निहोर।
यह अति दुसह पिनाक पिता-प्रन राघव-बयस किसोर।
इन पै दीरघ धनुष चढ़ै क्यौं, सखि, यह संसय मोर।
सिय-अंदेस जानि सूरज-प्रभु, लियो करज की कोर।
टूटत धनु नृप लुके जहाँ-तहँ, ज्यौं तारागन भोर॥[२]

'सूर-सारावली' में कतिपय प्रसंग छोड़ भी दिए गए हैं, जो कि 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं तथा दशरथ-तन-त्याग, कौशल्या-विलाप, भरत-आगमन, माता के प्रति भरत-वचन, महाराज दशरथ की अंत्येष्टि इत्यादि। ये समस्त मर्मस्पर्शी प्रसंग हैं।

राम-काव्य की दृष्टि से 'सूरसागर' का राम-काव्य 'सूर-सारावली' से अधिक श्रेष्ठ और विशद् है।

प्रदेय एवं समाहार :

नवम स्कंध के अतिरिक्त सूरदास ने अन्यत्र भी भगवान् राम का भक्तिपूर्वक स्मरण किया है। सूर ने उनके आदर्श, भव्य तथा मर्यादामंडित रूप की सदैव रक्षा की है। सूर ने संयोग तथा वियोगपक्ष को कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। उन्होंने वियोग की समस्त संभाव्य अंतर्दशाओं का वर्णन किया है।

सूरदास ने गीतिकाव्य की दृष्टि से रामकाव्य को उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उनकी तुलना तुलसी के 'मानस' से न होकर, 'गीतावली' से की जा सकती है, जो कि राग-रागिनियों पर आधृत है। सूर के समस्त पद गेय तथा शास्त्रीय हैं परंतु लंकाकांड के कतिपय पद अतीव प्रदीर्घ हो गए हैं और वे कहीं-कहीं पुनरावृत्ति-सी करने लगते हैं। सूर ने अलंकारों का सुमधुर और समुचित प्रयोग किया है। उन्होंने परिमार्जित और मधुर ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।

---

१. सूरसारावली, छंद २१९ से २२१ २. सूरसागर, ४६७

कहीं-कहीं सूर का मानवीय, संवेदनशील और संवेदना वाला पक्ष अनायास ही उद्घाटित हो गया है। सीता की अग्नि-परीक्षा के समय हनुमान का अश्रुपात सूरदास की करुणार्द्र स्थिति का सूचक है :

लछिमन, रचौ हुतासन भाई।
यह सुनि हनूमान दुख पायौ, मो पै लख्यौ न जाई।[1]

वियोगिनी सीता और ममतामयी कौशल्या को परखने का जो भावाक्षिप्त हृदय सूरदास के पास था—वह अन्यत्र दुर्लभ है।

गोस्वामी तुलसीदास से मैथिलीशरण गुप्त तक चली आ रही हिंदी की राम-काव्य-परंपरा में सूरदास ने अपने भावात्मक चित्रों के द्वारा अप्रतिम प्रदेय दिया है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी के पूर्व राम-काव्य की सर्जना की। सूर के दृश्यों में माधुर्य और सौंदर्य की संश्लिष्ट योजना मिलती है। सूर हिंदी-राम-काव्य के अविस्मरणीय गायक हैं। सूर का राम-काव्य हमें उत्साह, सद्भाव और सत्कर्म की परम पावनी प्रेरणा प्रदान करता है।

---

१. सूरसागर, ६०६

□ श्री चन्द्रप्रकाश आर्य

सूरदास का दृष्टिकूट-काव्य

सूरदास जी हिन्दी-साहित्य में वात्सल्य एवं श्रृंगार-वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य में भक्ति-भावना भी अत्यंत सुंदर रूप में व्यक्त हुई है। सूर के पद जहाँ अपनी सरल अभिव्यक्ति एवं सरसता से जनसाधारण को मुग्ध करते रहे हैं, वहाँ उन्होंने कुछ ऐसे दृष्टिकूट पदों की भी रचना की है, जिनके अर्थसंधान में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी चकरा जाती है। 'सूरसागर' में ऐसे अनेक पद हैं, जिन्हें 'दृष्टिकूट' कहा जा सकता है। श्री चुन्नीलाल 'शेष' ने इस प्रकार के १०० पदों का संकलन 'सूर के सौ कूट' नामक पुस्तक में किया है। 'सूर के दृष्टिकूट', 'सूरदास के गूढ़ार्थ पद' आदि पुस्तकों में भी इसी प्रकार के पदों का संकलन किया गया है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने स्वसंपादित 'साहित्य-लहरी' के परिशिष्ट ४ में 'सूरसागर के दृष्टिकूट पद' शीर्षक से इस प्रकार के ६२ पदों की सूची अकारादिक्रम से दी है। 'साहित्य-लहरी' की रचना तो दृष्टिकूट पदों में ही हुई है। ये पद कृष्णलीला से संबंधित हैं। प्रस्तुत लेख में सूरदास जी द्वारा रचित दृष्टिकूट पदों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

'दृष्टिकूट' शब्द दो शब्दों के योग से बना है। दृष्टि शब्द का अर्थ है—देखने की शक्ति तथा कूट का अर्थ है—पर्वत, शिखर, छल, मिथ्या, गूढ़भेद आदि। इस प्रकार दृष्टिकूट का अर्थ 'दृष्टि के आगे पहाड़' अथवा 'दृष्टि को छलने वाला' होता है। कुछ विद्वान् दृष्टिकूट के स्थान पर दृष्टकूट शब्द का भी प्रयोग करते हैं। दृष्ट का अर्थ है 'देखा हुआ', अतः दृष्टकूट का अर्थ हुआ 'देखा हुआ पहाड़' अथवा 'देखा हुआ छल'। 'हिंदी शब्द सागर' में 'दृष्टकूट तथा 'दृष्टिकूट' दोनों शब्द दिए गए हैं तथा दृष्टकूट का अर्थ दिया गया है—१. पहेली, २. कोई ऐसी कविता, जिसका अर्थ केवल शब्द के वाचक अर्थ से न समझा जा सके बल्कि प्रसंग या रूढ़ अर्थों से जाना

जाए।[1] प्रस्तुत लेख में दृष्टिकूट शब्द को स्वीकार किया गया है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने दृष्टिकूट की परिभाषा इस प्रकार दी है 'श्लेष, यमकादि अलंकारों तथा अनेकार्थवाची विशिष्ट शब्दों के समावेश से जो काव्यवाचक अर्थ की अपेक्षा रूढ़ अथवा प्रसंग से समझा जावे, उसे दृष्टिकूट काव्य कहते हैं।[2] डा० गोविंदराम शर्मा के अनुसार 'कूट काव्य में अर्थ गूढ़ एवं प्रच्छन्न रहता है। साधारण पाठक के लिए उस अर्थ तक पहुँचना संभव नहीं होता। अर्थ में गूढ़ता एवं अस्पष्टता लाने के लिए कूटकाव्यगत शब्दों के प्रयोग में छल, कौशल अथवा चातुर्य की अपेक्षा रहती है।[3]

दृष्टिकूट की परंपरा अत्यंत प्राचीनकाल से प्राप्त होती है। ऋग्वेद में दृष्टिकूट का आरंभिक रूप दिखाई पड़ता है। निम्नलिखित मंत्र में ऋषि कहते हैं :

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृजय्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति ।।[4]

इसमें प्रथम पंक्ति का अर्थ है 'दस अथक कुमारियों ने त्वष्टा के इस बालक (अग्नि) का भरण-पोषण किया है।' यहाँ दस कुमारियों से तात्पर्य हाथों की दस उँगलियों से है, जिनके द्वारा समिधाओं को रगड़ा जाता है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कूटशैली के दर्शन होते हैं, यथा निम्नलिखित मंत्र में ब्रह्म का वर्णन कूटशैली में किया गया है :

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखएषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते ।।[5]

महाभारत के विषय में प्रसिद्ध है कि जब महर्षि व्यास जी को महाभारत के लेखन के लिए कोई योग्य लिपिक नहीं मिला तो उन्होंने इस कार्य के लिए गणेश जी से प्रार्थना की। गणेश जी ने यह कार्य इस शर्त पर स्वीकार किया कि मैं निरंतर लिखता रहूँगा। यदि आप बीच में रुके तो मेरा हाथ भी रुक जाएगा और मैं लेखन बंद कर दूँगा। व्यास जी ने उनकी शर्त को स्वीकार करते हुए कहा कि जो कुछ भी आप लिखोगे, वह अर्थ समझकर लिखोगे। इस प्रकार महाभारत का लेखन आरंभ हुआ। व्यास जी को जहाँ विचारार्थ रुकने की आवश्यकता होती थी, वहाँ वे कूट श्लोक बोल देते थे, जिसे समझने के लिए गणेश जी को स्वयं रुकना

---

१. हिन्दी शब्द सागर, खंड ५, पृ० २३५०
२. साहित्य-लहरी, भूमिका, पृ० २
३. सूर की काव्य-साधना, पृ० ४२६
४. ऋग्वेद, १/१७५-२
५. वृहदाण्यक उपनिषद्, २/३-१

पड़ता था। श्रीमद्‌भागवत में एक स्थान पर 'वाचः कूटं' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] जो दृष्टिकूट का ही समानार्थक है।

हिंदी में सूर से पूर्व चंद, विद्यापति तथा कबीर के पदों में दृष्टिकूट शैली के दर्शन होते हैं। चंदबरदायी रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

विगसि कमल स्रिग भमर बैंन खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब मोति नष सिष अहि घुट्टिय॥[२]

अर्थात् विकसित कमल, बाण, भ्रमर, वेणु, खंजन तथा मृग को उसने लूट लिया है। नख से शिखा तक उसे हीरा, शुक, बिंबाफल तथा मोती से गढ़ा गया है। तात्पर्य यह है कि पद्‌मावती का मुख कमल, नेत्र बाण, केश भ्रमर, स्वर वेणु-स्वर के समान मधुर और नेत्र खंजन पक्षी से कहीं अधिक सुंदर थे तथा उसके दाँत हीरे के समान, नासिका शुक की चोंच के समान, अधर बिंबाफल के समान तथा हाथ-पैरों के नाखून प्रभायुक्त थे। विद्यापति के एक पद की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

जाहि लागि गेलि ताहि कहाँ लइलि हे
ता पति बैरि पितु कहाँ।
अछलि हे दुख सुख कहह अपन मुख
भूषन गमओलह जहां।
सुंदरि कि कए बुझाबए कंते।
जन्हिका जनम होइत तेहि गेलिहु
अइलि हे तन्हिका अंते॥[३]

नायिका प्रातःकाल ही जल भरने के लिए घड़ा लेकर घर से निकली थी किंतु सायंकाल में विना घड़े तथा जल के खाली हाथ लौटी। तब सखियाँ उससे पूछती हैं—जिसके लिए तू गई थी, वह कहाँ लाई अर्थात् जल नहीं लाई। तथा उसके (जल के) स्वामी (सागर) के शत्रु (अगस्त्य मुनि) का पिता (घड़ा) कहाँ है? तू जहाँ थी तथा जहाँ तूने अपने आभूषणों को गँवाया, वहाँ का सुख-दुख अपने मुख से कह! हे सुंदरी, तू अपने पति को क्या कहकर समझाएगी? जिसका जन्म होते ही तू गई थी, उसका अंत होने पर तू आई है (अर्थात् प्रातःकाल होते ही तू गई थी और सायंकाल में तू लौटकर आई है)।

---

१. श्रीमद्‌भागवत ६/५/१०
२. पृथ्वीराज रासो, पद्‌मावती समय, छन्द सं० ५
३. विद्यापति का अमर काव्य, पद सं० ५१

वास्तव में हिंदी में 'दृष्टिकूट' का पूर्ण विकास सूर में ही हुआ है। श्री चुन्नीलाल 'शेष' ने दृष्टिकूट के तीन भेद बताए हैं :

(१) कथात्मक (२) अलंकारिक (३) ध्वनि-परिवर्तक ।[१]

(१) कथात्मक दृष्टिकूट वे हैं, जिनमें किसी कथा का आश्रय लिया जाता है। यह कथा पौराणिक हो सकती है अथवा लौकिक। सूरदास में दोनों प्रकार के कथात्मक दृष्टिकूट प्राप्त होते हैं। निम्नलिखित पद में दृष्टिकूट के माध्यम से सागर मंथन की पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है :

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियौ।
खगपति-अरि डर असुरनि संका, बासरपति आनंद कियौ ॥
बिदुखि सिंधु सकुचत, सिव सोचत, गरलादिक किम जात पियौ।
अति अनुराग संग कमला-तन, प्रफुलित अँग न समात हियौ ॥
एकनि दुख, एकनि सुख उपजत, ऐसौ कौन बिनोद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहत ही, एक-एक तैं होत बियौ ॥[२]

लोक कथात्मक दृष्टिकूटों में प्रायः कवि-प्रसिद्धियों का आश्रय लिया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में तद्गुण अलंकार के साथ-साथ हंस के मुक्ता चुगने तथा चकोर के अंगार चुगने के प्रयास का उल्लेख हुआ है :

राधे जलसुत कर जु धरे।
अतिहीं अरुन, अधिक छबि उपजत तजत हंस सगरे ॥
चुगन चकोर चले ह्वै सनमुख, झिलके रहे खरे।
तब बिहँसी वृषभानु-नंदनी, दोऊ मिलि झगरे ॥
रबि अरु ससि दोऊ एकै रथ, सनमुख आनि अरे।
सूरदास प्रभु कुंजबिहारी, आनंद उमंगि भरे ॥[3]

(२) अलंकारिक दृष्टिकूटों में कवि अलंकारों के माध्यम से गूढ़भावों को प्रकट करता है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में कुछ ऐसे अलंकार हैं, जिनमें अर्थगोपन की प्रधानता रहती है, यथा—यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, प्रहेलिका तथा रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, युक्ति आदि। सूर के दृष्टिकूटों में इनका सफल चित्रण हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

---

१. सूर के सौ कूट, पृ० १६
२. सूरसागर, सं० ७६१
३. सूरसागर, सं० १८१०

यमक :

सारँग सारँग धरहि मिलावहु ।
सारँग विनय करत सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु ।।
सारँग समै दहति अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु ।
सारँग-गति सारँग-धर जे हैं, सारँग जाइ मनहावहु ।।
सारँग-चरन, सुभग-कर-सारँग, सारँग-नाम बुलावहु ।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु ।।[1]

प्रस्तुत पद में सारँग शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, यथा—सारँग=सखी, सारँगधर=कृष्ण, सारँग=आकाश, अनंत, सारँग=भगवान विष्णु, सारँग=कामदेव, सारँग=रात्रि, सारँग=चंद्रमा, सारँग=सर्प, सारँग=प्रेमपूर्वक, सारँग=कमल, सारँग=भ्रमर, सारँग=कुरंग (बिगड़ी बात) । इनके आधार पर पद का भावार्थ इस प्रकार है—हे सखी ! तू मुझे श्री कृष्ण से मिला दे । मैं तुझसे प्रार्थना करती हूँ कि तू मेरे काम के दुःख को विस्मृत करा दे । रात्रि के समय चंद्रमा अत्यधिक जलाता है । अतः तू मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन करा दे । श्रीकृष्ण सर्प जैसी चाल वाले हैं अर्थात् शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाते हैं । उनके पास जाकर तू उन्हें प्रेमपूर्वक मना ला । उन कृष्ण के चरण तथा हाथ कमल के समान हैं, जो भ्रमर की भाँति (अनेक फूलों अर्थात् नायिकाओं का रस लेने वाले) हैं, उन्हें बुला ला । हे उपकारिणी सखी, तू बिगड़ी को बनाने वाली है, अतः अपनी सखी को, जो मर रही है, जीवनदान दिला दे ।

श्लेष :

दधि-सुत जामैं नंद दुवार ।
निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन, रटत देहु कर बारंबार ।।
दीरध मोल कह्यौ ब्यौपारी, रहे ठगे सब कौतुक द्वार ।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि, देत न मुक्ता परम सुढार ।।[2]

प्रस्तुत पद में साधारण अर्थ तो यही है कि नंद के द्वार पर दधिसुत अर्थात् मुक्ता (मोती) विक्रेता आए हैं और मनमोहन उन्हें देखकर उनके प्रति आकृष्ट होकर उन्हें लेने के लिए बार-बार रट लगाए हुए हैं । इसका गूढ़ार्थ है कि नंद के द्वार पर कुछ ऐसे व्यक्ति आए हुए हैं, जो मुक्ति दिलाने का दावा करते हैं और उसके लिए योगसाधना, तप आदि का बड़ा मूल्य निर्धारित करते हैं किंतु भगवान् कृष्ण अत्यंत साधारण उपायों से उस मुक्ति पर अपना अधिकार प्रकट करते हैं । इस अर्थ की पुष्टि दधिसुत शब्द में श्लेष (मुक्ता तथा मुक्ति) के कारण होती है ।

---

१. सूरसागर, २७१५ २. सूरसागर, ७६१

वक्रोक्ति :

मानिन ! बार बसन उधार।
संभु कोप दुआर आयौ आद कौ तन मार।
नागजा पति पिता पुर कों जाहु कहतन बेग।
गेह द्रग औ रंग झख सुन रीत ताही नेग।
कहहु करहिं सहाइ सुरपति चढ़त ब्रज पै फेर।
सूर उक्ती वक्र कर कर रही नीचै हेर।[1]

श्री कृष्ण मानिनी नायिका के द्वार पर पहुँचते हैं। उनकी ओर से सखी बार बसन (किवाड़) खोलने के लिए निवेदन करती है पर नायिका उनके नामों का विशेष अर्थ लगाकर उन्हें वक्रोक्तिपरक उत्तर देती है। सखी कहती है—तेरे द्वार पर हरि (शंभु=हर, कोप=रिस दोनों के आदि अक्षरों के योग से 'हरि' शब्द बना है) आए हैं। नायिका उत्तर देती है—यदि हरि (वानर) हैं तो लंका (नागजा=नागपुत्री सुलोचना, उसका पति मेघनाद, उसका पिता रावण, उसका पुर=लंका) को जाओ। सखी पुनः कहती है, घनश्याम (गेह=घर, द्रग=नयन, रंग='श्याम' रंग, झख= मछली, इन सबके आदि अक्षरों से बना घनश्याम शब्द) आए हैं। उत्तर में नायिका कहती है यदि घनश्याम (काले मेघ) हैं तो उनसे कहो कि वे ब्रज पर चढ़ाई करने में पुनः इंद्र की सहायता करें। इस प्रकार नायिका वक्र-उक्ति टेढ़े वचन कह कर नीचे की ओर देख रही है। इसमें सूर ने वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है।

प्रहेलिका :

देखो सखि, अकथ रूप अतूथ।
एक अंबुज मध्म देखियत बीस ब्रंधि-सुत-जूथ।
एक सुक तहँ होइ जलचर उभय अर्क अनूप।
पंच बिरचे एक ही ढिग कहौं कौन सरूप।
भई सिसुता माँहि सोभा करौ अर्थ विचारि।
सूर श्री गोपाल की छबि राखिए उर धारि।[2]

एक सखि दूसरी सखि से श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन करती हुई कहती है—हे सखि, एक अकथनीय-अपूर्व रूप देखो। एक कमल के मध्य बीस चंद्रमा (बीस नख) हैं। एक तोते (नासिका) के पास दो मछलियाँ (नेत्र) तथा दो अनुपम सूर्य (कर्ण फूल) हैं। एक ही स्थान पर पाँच कमल (एक मुख-कमल, दो कर कमल तथा दो चरण-कमल) हैं। बताओ वह कौन स्वरूप है? यह कृष्ण की बालछवि है। इसे हृदय में धारण करो।

---

१. साहित्यलहरी, पद ६ (संपादक प्रभुदयाल मीतल)
२. सूरसागर परिशिष्ट; १, पद ६

रूपकातिशयोक्ति :

अद्‌भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त ता पर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर गिर पर फूले पद्म-पराग ।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग ।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृगमद काग ।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग ।
अंग-अंग प्रति और और छबि उपमा ताकौ करत न त्याग ।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस मनौ अधरनि के बड़ भाग ।[1]

सूरदास जी का यह प्रसिद्ध पद है, जिसमें उन्होंने रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से राधा के अद्वितीय सौंदर्य का वर्णन किया है। राधा को एक अनुपम बाटिका के रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें दो कमलों पर एक गजराज क्रीड़ा कर रहा है। चरण कमल हैं तथा चाल हाथी जैसी है। उस पर सिंह (कटि) अनुराग कर रहा है। सिंह पर सरोवर, सरोवर पर पर्वत तथा पर्वत पर परागयुक्त कमल फूले हैं। अर्थात् कटि पर सरोवरवत् नाभि है, नाभि पर उन्नत कुच हैं जो लालिमा युक्त हाथों से ढके हुए हैं। उसके ऊपर सुन्दर कपोत हैं तथा उस पर अमृत फल आम है (ग्रीवा पर चिबुक है)। आम पर पुष्प, पुष्प पर पल्लव, उस पर शुक, पिक तथा उस पर मृगमद काग है (चिबुक पर पुष्पवत् अधर, अधरों पर पल्लववत् ओष्ठ तथा ओष्ठ पर नासिका है, कोकिल के समान मधुर वाणी है तथा मस्तक पर कस्तूरी की बेंदी है)। उस पर खंजन पक्षी हैं, खंजन पर धनुष, धनुष पर चंद्रमा तथा चंद्रमा पर मणिधर नाग बैठा है (खंजन के समान नेत्रों पर धनुषवत् भौंह, भौंह पर मस्तक तथा मस्तक पर शीशफूल सहित वेणी है)।

सूक्ष्म :

स्याम अचानक आय गए री ।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखत ही मेरे नैंन नए री ।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सौं कर परस कियोरी ।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि अंतरजामी जानि लियौ री ।
लै कर कमल अधर परसायौ देखि हरषि पुनि हृदय धर्‌यौ री ।
चरन छुए दोउ नैन लगाए मैं अपनें भुज अंक भर्‌यौ री ।
ठाढ़े रहे द्वार अति हित करि तबहीं तें मन चोरि गयौ री ।
सूरदास कछु दोष न मेरौ उत गुरुजन इत हेत नयौ री ।[2]

---

१. सूरसागर, २७२८ २. सूरसागर, २४६७

इस पद में सूरदास जी ने कृष्ण तथा नायिका की सांकेतिक प्रेमवार्ता का अंकन किया है, जिसे विदग्धजन ही समझ सकते हैं। नायिका कहती है—हे सखी, कृष्ण अचानक आ गए। उस समय मैं गुरुजनों के बीच में बैठी थी। उन्हें देखकर मेरे नैन नीचे हो गए तब मैंने बुद्धि से एक उपाय सोचा तथा बेंदी का स्पर्श किया (प्रणाम का संकेत किया)। अंतर्यामी श्रीकृष्ण ने मेरे भावों को समझ लिया और अपनी पगड़ी को दबाया (मेरा प्रणाम स्वीकार किया) फिर मैंने हाथ से एक कमल लेकर अपने अधरों से स्पर्श किया (अपना प्रेम प्रकट किया)। मुझे देखकर उन्होंने हर्षित होकर हृदय पर रखा (यह प्रकट करने के लिए कि तुम मेरे हृदय में बसती हो) मैंने चरणों से स्पर्श किया (अर्थात् मैं आपके चरणों की दासी हूँ)। उन्होंने दोनों नेत्रों से लगाया (सूचित किया कि तुम मेरे नेत्रों में बसती हो) फिर मैंने कमल को अपने अंक में भर लिया (आलिंगन का भाव प्रकट किया)। वे अति प्रेमपूर्वक मेरे द्वार पर खड़े रहे तभी से मेरा मन चुर गया है। इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है। इधर गुरुजन थे और उधर मेरा नया प्रेम था।

युक्ति :

करि विपरीत भवन में धारा।
बैठी हती अकेली सुंदर लिखत रूप सुत सुत सुत मारा।
दधि सुत अरि भख सुत सुभाब चल तहाँ उताइल आई।
देख ताहि सुर लिख कुबेर कौ बित्त तुरत समुझाई।
करत बिंग ते बिंग दूसरौ जुक्त अलंकृत माँही।
'सूर' देख ग्वालिन की बातें को कत समुझ तहाँ ही।[1]

इसका अर्थ इस प्रकार है—धारा की विपरीत अर्थात् राधा, भवन में अकेली बैठी हुई कामरूप कृष्ण का सुंदर चित्र बना रही थी। तभी वहाँ शीघ्रतापूर्वक एक सखी [दधिसुत = चंद्रमा, उसका अरि = राहु, उसका भख = सूर्य, उसका सुत = कर्ण, उसका स्वभाव = दानी, उसका फारसी पर्याय सखी (अर्थात् सखी)] आ पहुँची। उसे देखकर (राधा ने चित्र के हाथों में) पुष्पों का धनुष (सुर = सुमन → फूल, कुबेर के वित्त = धन → धनु → धनुष चित्रित कर दिया। इस प्रकार अलंकृत युक्ति से एक व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य किया। इसमें अलंकृत जुक्ति 'युक्ति अलंकार' है। इन ग्वालिनों की बातों को देखकर भला कौन क्या समझ सकता है?

'साहित्यलहरी' के सभी पद 'दृष्टिकूट' हैं, जिनमें किसी न किसी अलंकार का निरूपण किया गया है। पद अंत में कवि ने इसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है। विस्तार-भय से यहाँ इनकी चर्चा नहीं की जा रही है। सहृदयजन अपह्नुति,

---

१. साहित्यलहरी, ८७

पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, विशेषोक्ति, परिसंख्या, मुद्रा, मीलित आदि अलंकारों के लिए 'साहित्यलहरी' के क्रमशः पद संख्या ११, २८, २९, ३५, ५२ तथा ७० देख सकते हैं।[1]

ध्वनिपरिवर्तक दृष्टिकूट :

ध्वनिपरिवर्तक दृष्टिकूट वे हैं जिनमें निष्पन्न शब्द की ध्वनि में कुछ परिवर्तन करने से अर्थ निकलता है। उदाहरणार्थ दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि, सोई बनत अब खात।[2]

अर्थात् नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ९ इनका योग ४०, उसका आधा बीस= 'विष' खाती हैं।

इसी प्रकार :

करि विपरीत भवन में धारा।[3]

में 'धारा' शब्द में वर्ण-विपर्यय द्वारा 'राधा' शब्द कवि का अभिप्रेत है।

सूर के दृष्टिकूट पदों का मुख्य विषय अलंकार-निरूपण तथा नायक-नायिका-भेद वर्णन है। विनय एवं बाललीला से संबद्ध तो इस प्रकार के केवल चार-पाँच ही पद प्राप्त होते हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण की केलिक्रीड़ा का वर्णन दृष्टिकूट के माध्यम से किया है। ये वर्णन जानबूझकर कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किए हैं कि जनसाधारण उनके रहस्य को न समझ पाए। इनमें उन्हीं की पैठ संभव है, जो मर्मज्ञ हैं तथा जिन्होंने राधा-कृष्ण में स्वयं को पूर्णतः तन्मय कर लिया है।

दृष्टिकूट पदों में सूरदासजी का बुद्धि-वैभव, चमत्कारप्रियता एवं शब्द-क्रीड़ा देखते ही बनती है। अर्थवैचित्र्य की दृष्टि से उन्होंने इस प्रकार के शब्दों का संयोजन किया है कि उन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। दृष्टिकूट-रचना की दृष्टि से हिंदी का कोई भी कवि उनके समकक्ष नहीं ठहरता।

---

१. साहित्यलहरी, सम्पादक एवं व्याख्याकार, प्रभुदयाल मीतल।
२. सूरसागर, ४५९४।
३. साहित्य लहरी, ८७।

□ डा० श्यामप्रकाश

कृष्ण-काव्य-परंपरा और सूरदास

कृष्ण-काव्य का मूल उत्स, महर्षि द्वैपायन व्यास के द्वारा प्रणीत श्रीमद्भागवत को माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त पुराण को भी एक आधारभूत ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कृत-साहित्य में कृष्ण-चरित संबंधी अत्यंत मनोरम गीतिकाव्य जयदेवकृत 'गीतगोविंद' है। इसके अंतर्गत नानाविध स्थितियों के द्वारा कृष्ण के माधुर्योपासना के स्वरूप का सविलास प्रकटन है। कृष्णकाव्य-सरिता के प्रवहमान रूप को बनाए रखने में, जयदेव की ही परंपरा में आने वाले मैथिलभाषा के कवि विद्यापति का भी अक्षुण्ण योगदान है। विद्यापति ने अपनी 'पदावली' में राधा-कृष्ण की सरस केलि के हृदयहारी वर्णनों द्वारा इस परंपरा को और विकसित किया।

पं० रामचंद्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात विशेष रूप से ब्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है। किंतु सोलहवीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य की रचना हुई थी, यद्यपि वह सब या तो संस्कृत में उपलब्ध होता है अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में। इस प्रकार ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य की परंपरा पर्याप्त प्राचीन है। उसका आरंभ कम से कम बारहवीं शताब्दी तक तो माना ही जा सकता है।

शौरसेनी अपभ्रंश में, जिसे ब्रजभाषा की जननी स्वीकार किया जाता है, कृष्ण-काव्य का निर्माण हुआ। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुष्पदंत कवि का महापुराण है। इस ग्रंथ में कृष्ण-जीवन का विशद् चित्रण किया गया है। इसके अंतर्गत कृष्ण-जीवन से संबंधित कुछ घटनाएँ, जैसे—गोपियों के साथ कृष्ण का विहार, ओखल-बंधन, गोवर्धन-धारण, कालियदमन आदि, भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती

हैं। रास के वर्णन में पुष्पदंत ने गोपियों की उत्सुकता एवं प्रेमविह्वलता का वैसा ही वर्णन किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती सूरदास आदि कवियों में। उदाहरणार्थ :

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा।
कीला रस वसेन गोवालय गोवी हियय हारिणा।
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं।
कावि गोवी गोविंदहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी।
एयहि मोल्ले देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु।
काहिं वि गोविहि पंडरु चेल्लउं, हरि तणु छाइहि जायउं कालउं।[१]

अर्थात् धूलि-धूसर कृष्ण गोपियों को क्रीड़ा-रस से वशीभूत कर लेते हैं। कोई-कोई आधी बिलोई दही को वैसे ही छोड़ कर भागी। किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, उसका दाम चुकाओ एक आलिंगन दे कर। कहीं गोपी की पांडुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो जाती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के रास का महत्त्व दसवीं शताब्दी के एक जैन कवि के सम्मुख भी कम नहीं था।

बारहवीं शताब्दी में हेमचंद्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश के दोहों में दो ऐसे दोहे प्राप्त होते हैं, जिनमें कृष्ण संबंधी चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोहे किसी पूर्ण काव्य-ग्रंथ के अंश हैं।

कृष्ण-काव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में चौदहवीं शताब्दी के आस-पास निर्मित होने लगा था। प्राकृत-पैंगलम् एक संकलन-ग्रंथ है। इस में चौदहवीं शताब्दी तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों से छंदों के उदाहरण छाँटे गए हैं। इसके अंतर्गत कृष्ण-भक्ति संबंधी कई पद्य संगृहीत हैं। एक स्थान पर नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला-डुला कर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों के पीछे छिपे मंतव्य को पहचान कर भय का बहाना बनाती हुई प्रेम विह्वल गोपी कहती है :

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि संतार देइ जो चाहइ सो लेहि।[१]

प्राकृतपैंगलम् में कृष्ण-राधा के प्रेम-संबंधी कई अत्यंत उच्चकोटि की कविताएं संकलित हैं। उदाहरण के लिए :

---

१. उत्तरपुराण, पृ० ६४

२. प्राकृतपैंगलम्, १२/९

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पयासिअ,
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे ।
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय,
कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे ।
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ,
राहा मुख महु पान करे, जिमि भमर वरे ।
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण,
चित्तह चिंतिय दोउ वरा, भयभीअ हरे ।[1]

इस पद में, 'राहा मुख महु पान करे, जिमि भमर वरे' अर्थात् श्री कृष्ण का राधा के मुख-मधु का भ्रमर के समान पान करने का वर्णन, इस बात को प्रकट करता है कि चौदहवीं शताब्दी अर्थात् विद्यापति और चंडीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य प्रचलित रहा होगा ।

इसके बाद ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य का विकास संत कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है । नामदेव ने अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय 'कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी' के द्वारा दिया है । एक स्थान पर नामदेव कहते हैं कि माधव, मुझ से होड़ न लगाओ । यह स्वामी और जन का खेल है :

वदहु किन होड़ माधव मोसिउ ।
ठाकुर ते जन-जन ते ठाकुर खेल परिउ है तोसिउ ।[2]

यद्यपि ये पंक्तियाँ निराकार उपासना से ही संबंध रखती हैं, परंतु भक्त के मन का अपने स्वामी के प्रति अटूट विश्वास एवं अनन्य भक्ति महाकवि सूरदास से किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-काव्य का आविर्भाव सूरदास जी के समय में अचानक नहीं हुआ और न ही सूरदास जी कृष्ण-काव्य-परंपरा के प्रथम कवि हैं ।

कृष्ण-भक्ति-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा में वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रमुख भूमिका रही है । विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की थी, जिसमें कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य हैं एवं गोविंददास, नंददास, चतुर्भुजदास और छीतरस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य हैं । इनके अतिरिक्त कृष्ण-काव्य,-परंपरा में उन्मुक्त प्रेमभाव को प्रकट करने वाले

---

१. प्राकृतपैंगलम्, ३२४/२०७
२. संतकाव्य संग्रह—**परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४६**

भी अनेक उत्कृष्ट कवि हुए हैं। अब्दुल रहीम खानखाना, मीरां, नरोत्तमदास आदि की गणना ऐसे ही कवियों में की जाती है। रीतिकाल में बिहारी, घनानंद, ब्रजवासीदास, नागरीदास आदि कवियों ने कृष्ण-काव्य की श्री-वृद्धि की। आधुनिक काल में, भारतेंदु, हरिऔध, रत्नाकर, गुप्तजी, दिनकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृष्ण-काव्य की एक बहुत ही प्राचीन एवं समृद्ध परंपरा रही है।

मध्यकाल में भक्ति का पुनर्जागरण हुआ था। वह नवीन परिस्थितियों के अनुरूप नवस्फुरण-शक्ति से ओत-प्रोत था। इस मध्यकालीन भक्ति-साधना का विकास क्रमशः हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जन-साधारण में एक साधना विकसित होती जा रही थी। पंद्रहवीं शताब्दी में वह एकाएक फूट उठी। चार सौ वर्षों में पुंजीभूत होकर, पंद्रहवीं में भक्ति की जो वर्षा आरंभ हुई, वह चार सौ वर्ष तक बरसती ही रही, जरा भी नहीं रुकी।

हिंदी का कृष्ण-काव्य विशुद्ध धार्मिक वातावरण में निर्मित हुआ। पुराण-साहित्य में विद्यमान कृष्ण-भक्ति की परंपरा, ज्यों की त्यों हिंदी में गृहीत नहीं हुई। कृष्ण-काव्य के रचयिताओं ने यद्यपि पुराण-ग्रंथों से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की, परंतु उनका प्रमुख प्रेरणा-स्रोत लोक-साहित्य ही था। इसीलिए सूर आदि कवियों ने लोक-साहित्य में प्रचलित पद-शैली को ही अपनी रचनाओं में विकसित किया। इस प्रकार हिंदी का कृष्ण-काव्य, मात्र पुराणों का पिष्टपेषण ही नहीं है, अपितु उसका अपना एक स्वतंत्र साहित्यिक महत्त्व है। कृष्ण-काव्य; युग की परिस्थितियों में पर्याप्त लोकप्रिय हुआ और निराश हिंदू जनता का अनुरंजन करने में समर्थ हो सका।

महाकवि सूरदास पर श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रभाव पड़ा था। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भागवत के मार्मिक अंश सूरदास जी ने सुने थे। परंतु भागवत के प्रभाव को एक नवीन ढंग से 'सूरसागर' में प्रस्तुत किया गया है। भागवत से चीर-हरण, रासलीला तथा भ्रमरगीत की कथाओं को लेकर भी सूर ने उन पर अपनी भावनाओं का पुट चढ़ा कर अत्यंत मौलिक रूप प्रदान किया है। सूरसागर की कुछ लीलाएँ ऐसी भी हैं, जो भागवत में नहीं प्राप्त होतीं। उदाहरणार्थ, राधा-कृष्ण की संयोग-लीलाएँ, पनघट-प्रस्ताव, दीनलीला, खंडिता के पद, मान-लीला, वसंत, हिंडोल और फाग।

श्रीमद्भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन है, किंतु सूर ने श्रीकृष्ण अवतार का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। सूर के श्रीकृष्ण का स्वरूप भी भागवत के कृष्ण से भिन्न है। उद्धव की ब्रज-यात्रा के प्रसंग में सूर ने भागवत का अनुकरण अवश्य किया है, परंतु साथ ही मौलिकता का समावेश भी किया है।

एक ओर जहाँ भागवत में उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य केवल नंद-यशोदा को संदेश देकर सुखी करना और सांत्वना देना मात्र बतलाया गया है, वहाँ दूसरी ओर सूरदास जी ने उद्धव के पांडित्य, और ज्ञान-गर्व को खंडित कर प्रेमाभक्ति में उनको दीक्षित करना ही अपना एक मात्र उद्देश्य बनाया है। सूर का भ्रमरगीत तो मौलिक उद्भावना का जीता-जागता उदाहरण है। यह एक सर्वोत्कृष्ट उपालंभ-काव्य माना जा सकता है। इसके अंतर्गत सगुण की निर्गुण पर, सरसता की शुष्कता पर, भक्ति की ज्ञान पर, राग की वैराग्य पर विजय प्रतिपादित की गई है। वस्तुतः सूर का भ्रमरगीत सगुण-भक्ति का ऐसा पोषक है, जिस में ज्ञान और भक्ति का संतुलन करके भक्ति के माहात्म्य को सर्वोपरि बतलाया गया है तथा योग और कर्म-कांड का व्यंगपूर्ण खंडन प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत में भक्ति की श्रेष्ठता की प्रतिपादन-शैली भिन्न है। उसमें भक्ति को श्रेष्ठ मानने का कारण सुलभता और प्रेयता को बताया गया है। न ही उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनने के अनंतर गोपियों पर कोई विरुद्ध प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। इस प्रकार सूरदासजी ने अपने काव्य-ग्रंथों में भागवत की ही कथा का ज्यों का त्यों वर्णन नहीं किया है, अपितु स्वानुभूतिजन्य अपनी मौलिक उद्भावनाओं का अत्यंत मार्मिक समावेश किया है।

सूर की समग्र कविता के केंद्र हैं—कृष्ण। सूर की कल्पना उच्चकोटि की भाव-सृष्टि करने वाली है। अपनी इस कल्पना-शक्ति के आधार पर वे ऐसे भावचित्र प्रस्तुत कर सके हैं, जो साहित्य-जगत् में सदा अक्षुण्ण बने रहेंगे। सूरदास जी ने कृष्ण के जीवन की केवल दो वृत्तियों को ही अपने काव्य का विषय बनाया। ये वृत्तियाँ हैं—बालवृत्ति एवं यौवनवृत्ति। अन्य शब्दों में, कृष्ण की बाल्यावस्था के वर्णन और उनकी यौवन-सुलभ लीलाओं के चित्रण—इन दो प्रसंगों में सूर की प्रतिभा का पूर्ण विकास हुआ है।

बाल-सुलभ मनोभावनाओं और चेष्टाओं की सहज एवं स्वाभाविक व्यंजना सूर के काव्य में अनेक स्थलों पर हुई है।

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी।[1]

इन पंक्तियों में सूर ने कृष्ण की बाल-सुलभ स्पर्धा एवं लालसा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। इसी प्रकार,

"सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ करि पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पैया।[2]

१. सूरसागर, ७९३
२. सूरसागर, ७३३

द्वारा प्रस्तुत चित्र नितांत नैसर्गिक एवं हृदयग्राही है।

सूरदास ने कृष्ण की कौमार्यावस्था की चपलता, हास-परिहास और गोपियों के साथ छेड़-छाड़ का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। परंतु प्रेम की उत्पत्ति का जो दिव्य और स्पृहणीय रूप सूर ने अंकित किया है, उसमें कृष्ण और गोपियों की रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। 'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे' में इसी का संकेत है। यही बाल-क्रीड़ा आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। संयोगपक्ष के अनंतर वियोग की समस्त अंतर्दशाओं का भी बड़ा मार्मिक चित्रण सूर ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार भाव-पक्ष की दृष्टि से सूर की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उन्होंने जिस विषय को भी ग्रहण किया, उसे पूर्ण मनोवैज्ञानिक, प्रभविष्णु एवं सजीवता-संपन्न बना दिया।

हिंदी-कृष्ण-काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का सुंदर सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। भाव, भाषा, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, मुहावरे, अभिव्यंजना-शैली, संगीतात्मकता आदि सभी दृष्टियों से बहुमुखी श्रीवृद्धि हुई है। सूर में काव्य-सौष्ठव का बहुत ही उच्च रूप प्राप्त होता है। भावों के सरस प्रवाह वाले स्थलों पर सूर की भाषा आडंबर-शून्य है। अलंकार-वक्रता एवं लाक्षणिकता, अभिव्यंजना के सभी तत्त्व उनके काव्य में विद्यमान हैं। सूर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता भावानुकूलता है। रसानुकूल भाषा-प्रयोग में सिद्धहस्त सूर के काव्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ वीर एवं रौद्र रस के प्रसंग में भाषा ओजमयी परुषावृत्ति तथा गौड़ी रीति से युक्त है, तो सरस और मार्मिक प्रसंगों में उनकी शब्दावली अत्यंत ललित एवं मधुरावृत्ति से ओत-प्रोत हो गयी है।

सूर की भाषा अत्यंत प्रवाहमयी है। उन्हें शब्दों के प्रयोग सोचने नहीं पड़ते। वे स्वतः आते हैं और वर्णन में वेग और प्रवाह का संचार कर देते हैं। उनके इस शब्द-प्रयोग का वैशिष्ट्य उनकी व्यापक संग्रह-शक्ति है। परिस्थिति के अनुरूप, जहाँ जिस शब्द को उचित समझा उसका निर्बाध प्रयोग किया। उसके उद्‌गम पर कभी विचार नहीं किया।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ, अर्थ-व्यंजकता के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण साधन हैं। वस्तुतः सूर का भाषा-वैभव और अभिव्यंजना-कौशल इन्हीं में सन्निहित है। इनके प्रयोग से प्रामाणिकता, व्यंजकता और संक्षिप्तता आ जाती है। मुहावरों और लोकोक्तियों में अंतर है। मुहावरे में पूरी बात नहीं कही जा सकती; किंतु लोकोक्ति एक विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। लोकोक्तियों के पीछे कोई अंतर्कथा होती है। इसीलिए इन्हें कहावत भी कहते हैं। प्रयोग की दृष्टि से मुहावरे स्वतः अभिव्यक्ति के रूप में प्रयुक्त होते हैं, किंतु लोकोक्तियाँ उक्ति की पुष्टि में कही जाती हैं। इन दोनों का अंतर निम्नलिखित उदाहरणों में देखा जा सकता है :

तारे गनत गगन के सजनी बीतें चारौ जाम।[1]

यहाँ 'आसमान के तारे गिनना' मुहावरा है, जिस का प्रयोग स्वतः एक उक्ति के रूप में हुआ है। किंतु,

इन कें कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खारे कूप को बारी।[2]

यहाँ दूसरी पंक्ति, प्रथम पंक्ति की पुष्टि में कही गई है। अतः यह लोकोक्ति का उदाहरण है।

सूरदास जी ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा के सामान्य प्रवाह में निष्प्रयोजन नहीं किया है। यह बात इस तथ्य से स्वतः स्पष्ट है कि इनका प्रयोग सूर की भाषा में सर्वत्र समान रूप से नहीं मिलता। इनकी सबसे अधिक संख्या भ्रमरगीत में उद्धव और कुब्जा के प्रति कहे हुए गोपियों के वचनों में मिलती है।

सूरदास जी ने मुहावरों का प्रयोग दो रूपों में किया है—(१) सहजोद्‌गार के रूप में, (२) उक्ति-वैंचित्र्य के प्रसाधन-रूप में। पहले वर्ग के उदाहरण हैं :

(क) काटे ऊपर लौन लगावत **लिखि लिखि पठवत चीठी।**[3]
(ख) **अब वह नवल बधू है बैठी, ब्रज की** कहति कहानी।[4]
(ग) **जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें** एक डार के तोरे।[5]

दूसरे वर्ग में हैं :

(क) **तैसेई सूर सुने जनुनंदन बजी** एक ही तांति।[6]
(ख) **तेरो कहौ** पवन कौ भुस भयौ।[7]

लोकोक्तियों का प्रयोग सूरदास जी ने सर्वत्र कथन की पुष्टि में किया है; जैसे—जहीं ब्याह तहँ गीति[8], काकी भूख गई मन लाड़ू[9], स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहुँ न करी[10], ताको कहा परेखौ कीजै जानै छाँछ न दूधौ[11] इत्यादि।

सूर ने अपने समस्त काव्यों की रचना ब्रजभाषा में की। जनपदीय भाषा का संस्कार करके उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। ब्रजभाषा के भंडार की वृद्धि के लिए न केवल गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, अवधी आदि भाषाओं की शब्दावली को

---

१. सूरसागर, ३९२७
२. सूरसागर, ४५८३
३. सूरसागर, ४२९०
४. सूरसागर, ४२५४
५. सूरसागर, ४२१३
६. सूरसागर' ४३७१
७. सूरसागर, ४१५८
८. सूरसागर, ४४०१
९. सूरसागर, ४४७९
१०. सूरसागर, ४१४४
११. सूरसागर, ४५०८

ही ग्रहण किया, अपितु अरबी और फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी निःसंकोच रूप से आत्मसात किया। सच तो यह है कि उन्होंने व्रजभाषा के जिस आदर्श रूप को प्रस्तुत किया, उसे ही परवर्ती कवियों ने कालांतर में ग्रहण किया।

अंत में, प्रस्तुत विवेचन को समाप्त करने से पूर्व यहाँ सूर तथा अन्य कृष्णोपासक कवियों की कतिपय विशेषताएँ बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में संदर्भित हैं :

१. कर्म की अपेक्षा भक्ति-भावना पर अधिक बल देना और भगवान् के अनुग्रह पर अधिक आश्रय।

२. नियम और मर्यादा की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्ता देना।

३. सखा भाव की भक्ति से कृष्ण-लीला का वर्णन करना। भगवान् कृष्ण के ईश्वरत्व और ब्रह्मत्व का अवश्य ध्यान रखना, किंतु मानव-चरित की स्वाभाविकता में तनिक भी बल नहीं आने देना।

४. भगवद्-भक्ति के आश्रय जीवन के माधुर्यमय कोमल पक्ष को शृंगार और वात्सल्य के रूप में अपनाना।

५. बालचरित का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उस अवस्था की दुर्बलताओं और न्यूनताओं के उद्घाटन में संकोच नहीं किया।

६. प्रबंध-काव्य की अपेक्षा मुक्तक गेय पदों की ओर अधिक प्रवृत्ति।

७. कृष्ण की लीला-भूमि व्रज की भाषा को अपनाना।

□ डा० जगदीशचंद्र शर्मा 'इंदु'

भ्रमरगीत-परंपरा और सूरदास

'भ्रमरगीत' शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से हुई है—'भ्रमर' और 'गीत'। इसका अर्थ है—गीत शैली में लिखित वह काव्य, जो भ्रमर को संबोधित अथवा उससे संबद्ध करके लिखा गया हो। भ्रमर तो यहाँ मात्र प्रतीक है, जो रंग और क्रिया-साम्य के कारण उद्धव और कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः भ्रमर-काव्य ऐसा विशिष्ट काव्य है, जिसमें 'भ्रमर' का माध्यम स्वीकार कर उद्धव एवं कृष्ण के प्रति विरह-विदग्धा गोपियों के प्रेम की महत् अभिव्यक्ति और ज्ञान की नीरसता की प्रस्तुति हुई हो।

श्रीभद्भागवत के दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध) के छियालिसवें और सैंतालिसवें अध्याय में सर्वप्रथम इस काव्य के दर्शन होते हैं। छियालिसवें अध्याय में उद्धव का व्रजागमन तथा नंद एवं यशोदा के साथ उनका वार्तालाप और सैंतालिसवें अध्याय में उद्धव-गोपी-संवाद वर्णित है। श्रीमद्भागवत के इस प्रसंग ने इतना अधिक प्रभावित किया है कि भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक इसकी परंपरा अक्षुण्ण बनी रही है। सूर, नंददास आदि के पश्चात् इसको अपार जनप्रियता प्राप्त हुई और अनेकानेक कवियों ने इस प्रसंग को लेकर माधुर्यपूर्ण काव्य की रचना की।

भक्तिकाल में सूरदास को इस परंपरा का प्रवर्त्तक माना जाता है। श्रीमद्भागवत से प्रेरणा लेकर उन्होंने तीन भ्रमरगीतों की रचना की। प्रथम भ्रमरगीत दोहा और चौपाई छंदों में है। इस पर भागवत का प्रत्यक्ष प्रभाव है। द्वितीय एकपदीय भ्रमरगीत में इस प्रसंग की सपूर्ण कथा को एक स्थल पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। इसको तृतीय भ्रमरगीत की भूमिका कहा जाए तो त्रुटि न होगी। तृतीय भ्रमरगीत आकार-प्रकार, भाव और प्रस्तुति की दृष्टि से अत्यधिक व्यापक है। मुख्य रूप से इसमें विप्रलंभ की योजना है। विरह-दग्ध बालाओं के

विविध भावों की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति के साथ ज्ञान पर प्रेम तथा योग पर भक्ति की विजय दिखाकर इस भ्रमरगीत में भक्तिमार्ग को असीम महत्त्व दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे एक-एक वाक्य में भावों का अथाह सागर भर दिया गया हो :

जोग की गति सुनत मेरैं, अंग आगि बई।
सुलगि तन हम जरति हीं, तुम आनि फूँक दई।
भोग कुबिजा कूबरी कौ, कौन बुद्धि भई।
सिंह भख तजि चरत तिनुका, सुनी बात नई।
ध्यान धरति न टरति मूरत, त्रिविधि ताप तई।
सूर हरि की कृपा जापर, सकल सिद्धि मई।[1]

उक्त पद में गोपियों की योग के प्रति उदासीनता, विरह की विषमता, कुब्जा के प्रति ईर्ष्या, कृष्ण के प्रति प्रेम की अटलता और श्रीकृष्ण-कृपा की महत्ता आदि अनेक भावों की एक साथ अभिव्यक्ति हुई है। विशेष बात यह है कि सभी भाव परस्पर पूरक बनकर संपूर्ण वक्तव्य को अत्यधिक प्रभावशाली बना देते हैं। भ्रमरगीत इसी प्रकार के सरस और भावपूर्ण पदों से परिपूर्ण है, जिसका परवर्ती कवियों पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

इस परंपरा के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि नंददास का 'भँवरगीत' उद्धव-गोपियों के दार्शनिक वाद-विवाद, गोपियों के विरह तथा उससे उत्पन्न कष्ठ, उद्धव के अंतर्द्वंद्व तथा हृदय-परिवर्तन आदि का सशक्त काव्य है। इसके ७५ पदों में संपूर्ण भ्रमरगीत-प्रसंग को सँजोकर नंददास ने अपनी अपूर्व काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। नंददास के उद्धव ब्रज में जाते ही अपना उपदेश तुरंत प्रारंभ कर देते हैं :

ऊधौ को उपदेस, सुनौ ब्रजनागरी।
रूप, सील, लावण्य, सजै गुन-आगरी।

नंददास कृत 'भँवरगीत' में श्रीमद्भागवत के दर्शनपक्ष की प्रबलता के कारण सूर जैसी सरसता और सहृदयता का अभाव है। इनकी गोपियों में तर्क की जितनी अधिक प्रधानता है उतनी हृदय की सहजता, सरलता और भावुकता नहीं है। निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना का खंडन सूर ने भी किया है किंतु नंददास की गोपियाँ इसका खंडन इन शब्दों में करती हैं :

१. सूरसागर ४३२१

जो मुख नाहिन हुतौ, कहो किन माखन खायौ ?
पायन बिन गो-संग, कहो को बन-बन धायौ ?
आँखिन मैं अंजन दियौ, गोबरधन लियौ हाथ।
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के।

कलापक्ष की दृष्टि से 'भँवरगीत' अवश्य अद्वितीय है। भाषा का इतना सुगठित रूप अन्य कवियों में नहीं मिलता। "सूरदास से प्रभाव ग्रहण करके भी नंददास ने इस भाव को अपनी मौलिकता से आच्छादित करके भ्रमरगीत-परंपरा को एक नई दिशा प्रदान की है। इनसे प्रभावित होकर ही अनेक परवर्ती कवियों ने स्वतंत्ररूपों में भ्रमरगीत की रचना की है।"[१]

नंददास के उपरांत तुलसी ने भी 'कृष्णगीतावली' में भ्रमरगीत प्रसंग को उठाया है। मर्यादावादी कवि तुलसी ने इसमें न तो विरह की संपूर्ण दशाओं को चित्रित किया है, न उपालंभ और व्यंग्य सहित दांपत्य की छटा दिखलाई है वरन् उसमें लज्जाशीला गोपियों के चित्र ही अंकित हैं। ये गोपियाँ मूक रहकर अपनी मनोव्यथा कह देती हैं, क्योंकि विरह-व्यथा के वर्णन से पूर्व ही उनका कंठ अवरुद्ध हो जाता है, आँखों से अविरल अश्रुधार प्रवाहित होने लगती है। तुलसी ने लगभग २६ पदों में इस कथा को समाप्त किया है।

भक्तिकालीन अन्य कवियों ने इस प्रसंग का स्पर्श ही किया है। वस्तुतः सूर और नंददास ने भ्रमरगीत को इतना रुचिकर और प्रौढ़ बना दिया था कि पश्चात्-कालीन कृष्णभक्त कवि इस प्रसंग से अपने काव्य को मुक्त न रख सके, चाहे उन्होंने दो चार पदों में ही अपनी अभिव्यक्ति की हो। परमानंददास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, रहीम, रसखान, मलूकदास, हरिराय, मुकुंददास आदि ऐसे कवि हैं, जिन्होंने भ्रमरगीत से संबद्ध थोड़े बहुत पदों की रचना कर उन्हें अपनी रचनाओं में जोड़ दिया।

रीतिकालीन कवियों ने भ्रमरगीत-परंपरा को भक्ति के आवेश के कारण नहीं वरन् काव्य की आवश्यकता मानकर ग्रहण किया। परिणामतः अधिकांश कवियों ने भ्रमरगीत को योजनाबद्ध रूप से नहीं लिखा अपितु यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार इनकी रचना की। भावात्मकता और सरसता के स्थान पर कलात्मकता और चमत्कार की प्रधानता हो गई। कुछ कवियों ने इस विषय पर प्रबंधकाव्य लिखकर अपना महान् योग अवश्य दिया है। रीतिकालीन कवियों में मतिराम, देव, आलम, महाराजनागरीदास, चाचा हितबृंदावनदास, घनानंद, रसरूप, बख्शी हंसराज,

१. सूरदास और उनका साहित्य—डा० देशराजसिंह भाटी, पृ० ३३८

पद्‌माकर, प्रेमदास, ब्रजवासीदास, ब्रजनिधि, रसनायक, रघुनाथदास आदि के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

मतिराम के 'ललितललाम' में कुछ अलंकारों के उदाहरणों के रूप में और 'मतिराम-सतसई' में प्रकीर्ण दोहों के रूप में इस परंपरा को विकास प्राप्त हुआ है।

आलमकृत 'आलम-केलि' में भ्रमरगीत संबंधी ३० कवित्त हैं। रीतिकालीन आलम भाव की दृष्टि से भक्तिकाल के अधिक समीप हैं।

चाचा हितवृंदावनदास नें भ्रमरगीत पर स्वतंत्र रूप से काव्य-रचना की है। इनकी गोपियों में जहाँ एक ओर सूर जैसी भावुकता है, वहाँ दूसरी ओर नंददास जैसी तार्किकता भी है। आपने भी भक्तिमार्ग को ही श्रेष्ठ बताकर निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण की स्थापना की है :

ऊधौ हम उन बिनै करी।
निर्गुन ज्ञान हमैं उपदेसौ पंडित स्याम हरी।
बिन सरधा जो गरे चपेटी, तो कित गर्ज खरी।
हमरे कथा रूप रसलीला, मन में सुमर भरी।
योग जुक्ति जो प्यारी लागत, तो क्यों इतहि धरी।
वृंदावन हित रूप रावरी, चितवनि हिये हरी।

घनानंद ने अपने कितने ही पदों में गपियों की विरह-व्यथा, गोपी-उद्धव-संवाद, योग-संदेश तथा कृष्ण के प्रति उपालंभों का बड़ा ही मनमोहक वर्णन किया है :

किन गुन भयो रे उदासी भँवरा।
पंख तेरौ कारो, मुख तेरौ पीरो, सब फूलन को बासी।
सब कलियन को रस तुम लीनो, सो क्यू जाय निरासी।
आनंदघन प्रभु तू मेरे मिलन क्यूँ जाय करवत लैं कासी।

फुटकर रूप से लिखे गए देव के कुछ कवित्त ऐसे मिलते हैं, जिनमें भ्रमरगीत प्रसंग को उठाया गया है। मिश्रबंधुओं द्वारा संपादित 'देवसुधा' में उद्धव-संवाद के नाम से ६३ कवित्तों का संग्रह मिलता है। देव ने उद्धव के आगमन पर गोपियों की मानसिक स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। उद्धव के ज्ञानोपदेश का निराकरण करती हुई गोपियाँ अपनी प्रेम-निष्ठा का संदेश कृष्ण के पास भिजवाना चाहती हैं :

रावरो रूप रह्यौ भरि नैननि, बैननि के रस सों स्रुति सानौं।
गात में देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारियै बात बखानौं।
ऊधौ ! हहा हरि सों कहियौ, तुम हो न हाँ, यह इहाँ नहिं मानौं।
या तन तैं बिछुरे तौ कहा, मन तैं अनतैं जु बसौ तब जानौं।

ब्रजनिधि ने २६ छंदों में 'प्रेमपचीसी' नामक लघु रचना का सृजन किया है, जिसमें निर्गुण का खंडन और सगुण के मंडन पर वाद-विवाद हुआ है। उनकी गोपियाँ तर्कशीला और वाक्पटु हैं। वे उद्धव को अपने तर्कजाल में डालकर भ्रमित कर देती हैं।

पद्माकर ने भी अत्यंत मार्मिक कवित्तों में भ्रमरगीत-प्रसंग का संक्षेप में वर्णन किया है। इनकी गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश से उत्तेजित हो जाती हैं, भावविह्वल होकर अपनी प्रगाढ़ प्रेमानुभूति व्यक्त करती हैं। प्रकृति के उद्दीपन द्वारा पद्माकर ने गोपियों की विरह-व्यथा और विरह की दशाओं का चित्रण किया है। प्रकृति विरह को तीव्र करती है। संयोगावस्था में जो प्रकृति सुखकर थी, वही अब वियोग में जलाने वाली हो गई है।

बख्शी हंसराज ने दोहा-चौपाई छंद में 'विरहविलास' नाम से प्रबंधकाव्य की रचना की है। १५ अध्यायों में विभक्त इस काव्य की कथा अक्रूर के ब्रज में आगमन से प्रारंभ होती है। तत्पश्चात् उद्धव का योगसंदेश, मथुरागमन और ब्रज की मार्मिक दशा का वर्णन हुआ है। कृष्ण परंपरागत कारण से उद्धव को ब्रज नहीं भेजते। वे स्वयं न जाकर इस कारण उद्धव को भेजते हैं कि गोपियाँ उन्हें मथुरा नहीं आने देंगी और देव-कार्य संपन्न नहीं हो पाएगा। रीतिकालीन काव्यों में प्रथम बार कर्त्तव्यपरायण कृष्ण के चरित्र का उल्लेख बख्शी हंसराज ने किया है।

प्रेमदास के दस अध्यायों में विभक्त 'प्रेमसागर' में उद्धव के ब्रज-आगमन से लेकर कुरुक्षेत्र में कृष्ण-गोपी-मिलन तक का प्रसंग चित्रित है। संपूर्ण कृति में विरह की प्रधानता है। पहली बार राधा अपनी विरह-व्यथा स्वयं कृष्ण से कह सकने का अवसर पा सकी हैं।

ब्रजवासीलाल कृत 'ब्रजविलास' प्रबंधकाव्य के दूसरे भाग में गोपियों की विरह-दशा और उद्धव के मथुरा लौटकर जाने की कथा दोहा-चौपाई छंदों में वर्णित हुई है।

रीतिकालीन प्रबंधकाव्यों की परंपरा में रघुनाथदास रामसनेही का 'विश्राम-सागर' दोहा-चौपाई छंदों में लिखा गया है, जिसके नवम अध्याय में भ्रमरगीत प्रसंग वर्णित है। इस पर श्रीमद्भागवत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

अन्य रीतिकालीन कवियों में नागरीदासकृत 'गोपी प्रेम प्रकाश', रसरूपकृत 'उपालंभ शतक', रसरासिकृत 'रसिक पचीसी', ग्वालकृत 'गोपी पचीसी', हरिदास वेनकृत 'गोपी-स्याम-संदेश', गंगादत्तकृत 'लीलासागर', रत्नसिंह नटनागरकृत 'नटनागर विनोद' मुख्य हैं।

आधुनिककाल में रचित भ्रमरगीतों को स्पष्टतया दो कोटियों में बाँटा जा

सकता है। एक वर्ग में वे भ्रमरगीत हैं, जो परंपरागत हैं और दूसरे वर्ग में उन भ्रमरगीतों को लिया जा सकता है, जो परंपरामुक्त हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र, हरिऔध, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', मैथिलीशरण गुप्त, डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के नाम इस काल के भ्रमरगीत-गायकों अथवा परंपरा-उन्नायकों में विशेष रूप से लिए जा सकते हैं।

भारतेंदु जी ने परंपरागत प्रसंग में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन न करके उसे पूर्व की भाँति स्वीकार किया है। विरह-व्यथा को इसमें भी प्रधानता मिली है। भ्रमर को संबोधित करते हुए एक गोपी कहती है :

भौंरा रे रस के लोभी, तेरो का परमान।
तू रस-मस्त फिरत फूलन पर, करि अपने मुख गान।
इत सौं उत डोलत बौंरानों, किए मधुर मधु पान।
हरिचंद तेरे फंद न भूलूँ, बात परी पहिचान।

भारतेंदु जी ने भ्रमर का उल्लेख प्रतीक रूप में किया है; किंतु उसमें भावातिशयता अवश्य है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने परंपरागत भ्रमरगीत को नितांत मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। "भ्रमरगीत की अल्हड़, हास-परिहास एवं व्यंग्य उपालंभ में चतुर गोपियों के दर्शन प्रियप्रवास में दुर्लभ हैं। हरिऔध की गोपियाँ न तो उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य करती हैं और न उपालंभ देती हैं। उद्धव को चिढ़ाने और उनका उपहास करने की प्रवृत्ति भी गोपियों में नहीं है।...भ्रमर-प्रवेश का उल्लेख प्रियप्रवास में हुआ है किंतु यहाँ वह रसलोलुप कृष्ण का प्रतीक नहीं है वरन् उसे देखकर गोपियों को श्यामली मूर्ति की स्मृति हो आती है।"[१]

हरिऔध की राधा आधुनिक नारी का प्रतीक है। वह लोकसेवा में मग्न दिखाई गई है, पौराणिकता तो उसमें नहीं है। इतना अवश्य है कि परंपरागत निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन इनके भ्रमरगीत में भी मिलता है :

भोली-भाली ब्रज रमनि क्या योग की रीति जानें।
कैसे बूझे अबुझ अबला ज्ञान विज्ञान की बातें।
देते क्यों हो कथन करके बात ऐसी व्यथाएँ।
देखूँ प्यारा बदन जिनसे यत्न ऐसा बता दो।

किंतु उसका अधिकांश अंश युगानुरूप कथा को सँजोए हुए है। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि हरिऔध के इस प्रसंग का आधार राष्ट्रीयता अधिक है, भक्ति कम। इसमें लोकसेवा की भावना को ही प्रमुखता प्राप्त हुई है।

---

१. भ्रमरगीत परंपरा—डा० स्नेहलता श्रीवास्तव

भ्रमरगीत-परंपरा को आधुनिककाल में विकसित, पल्लवित करने और लोकप्रिय बनाने का बहुत बड़ा श्रेय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को है। उनका 'उद्धवशतक' भाव और कला दोनों दृष्टियों से उत्तम है। 'रत्नाकर' जी का कोई-कोई कवित्त अपनी वचन-वक्रता और वाग्वैदग्ध्य में इतना अधिक चुभता हुआ है कि सूर और रत्नाकर में कौन उत्तम है, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। उनकी गोपियाँ तार्किक हैं, उनमें दर्शन और बौद्धिकता की प्रधानता है। निर्गुण का निराकरण और सगुण का प्रतिस्थापन बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है। ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते हुए भी जगत् को स्वप्नवत् असत्य मानना उपहासास्पद है। चेतन जगत् को स्वप्न तथा मिथ्या मानना ही अपनी निद्रावस्था प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है, अतः गोपियाँ सज्ञानी उद्धव को निद्रित तथा विवेकहीन मानती हैं :

जग सपनों-सो सब परत दिखाई तुम्हें,
तातें तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ।
कहै 'रत्नाकर' सुनें को बात सोबत की,
जोई मुँह आबत सो बिबस बयात हौ।
सोबत में जागत लखत अपने कों जिमि,
त्यों ही तुम आप हीं सुग्याँनी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहूँ न जाँने कहा जोई जाकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहुँ बहकि बररात हौ।[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'द्वापर' में भ्रमरगीत-प्रसंग को प्रस्तुत करते हुए उद्धव के प्रति गोपियों की उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। भ्रमरगीत-प्रसंग कुब्जा के आत्मकथन से प्रारंभ हुआ है। परंपरा-परिवर्तन में प्रयत्नशील कवि ने उद्धव को सहृदय, कोमल और संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया है। गोपियों के चरित्र में भी युगानुरूप परिवर्तन हुआ है। उनकी गोपियाँ संयत हैं, उद्धव का अपमान नहीं करतीं, मर्यादापूर्वक शिष्ट व्यवहार करती हैं। उनके उपालंभ में भी एक मर्यादा है :

अभी विलोक एक अलि उड़ता, उसने चौंक कहा था।
सखि ! वह आया इस कलिका में, क्या कुछ शेष रहा था।
पर तत्क्षण ही गरज उठी वह, भौंह चढ़ाकर बाँकी।
सावधान अलि ! हटकर लेना, तुम प्यारी की झाँकी।

सत्यनारायण 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' समाज के गीत का ही प्रतिबिंब है। उसमें दार्शनिक विचारधारा का प्रायः लोप-सा है। स्वदेश-प्रेम का चित्रण भ्रमदूत की विशेषता है। इसमें आद्योपांत वात्सल्य की प्रतिमूर्ति माता यशोदा की पुत्र-वियोग-

---

१. उद्धव शतक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्य आतुरता का वर्णन हुआ है। वह श्री कृष्ण के द्वारिकागमन पर भ्रमर द्वारा अपना संदेश कृष्ण तक पहुँचाना चाहती हैं। भ्रमर को देखकर यशोदा को अपने पुत्र का स्मरण हो आता है। पुत्र-वियोग में विह्वल माता को एक क्षण के लिए भी चैन नहीं मिलता। कृष्ण ने दुःख को कम करने के लिए कोई पत्र भी तो नहीं भेजा इसलिए माता यशोदा कृष्ण-विरह में निरंतर अश्रुपात करती रहती है :

बिलखती सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
स्याम-बिरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई।
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैनन नीर।
बिकल कल ना हिये।

आधुनिकता का इस कृति पर विशेष प्रभाव है। यशोदा भारतमाता, गोकुल का ग्रामीण जीवन प्राचीन सभ्यता, द्वारिका का नागरिक जीवन आधुनिक सभ्यता का प्रतीक है। कवि के अनुसार प्राचीन जीवन में प्राप्त होने वाला सुख और संतोष नागरिक जीवन अथवा आधुनिक सभ्यता में प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु, 'कविरत्न' जी का 'भ्रमरदूत', परंपरामुक्त और आधुनिकता के प्रभाव से युक्त एक ऐसी विशिष्ट काव्यकृति है जो भ्रमरगीत-परंपरा में अद्वितीय है।

श्री रसाल जी की 'रसालमंजरी' भी इस परंपरा की महत्त्वपूर्ण कृति है। 'उद्धवशतक' के समान इसमें भी भाव और कला का अद्भुत समन्वय हुआ है। वैसे अधिकांश प्रसंग परंपरागत हैं। गोपियों की विरह-व्यथा का चित्रण अत्यंत सजीव और हृदयस्पर्शी है :

यह औसर स्याम-कथा कौ मिलौ,
सो गयो रसना की रलारली में।
कहिबै सुनिबै की न रही सो रही,
इन बातन ही की बलाबली में।
मन मीन मलीन मरे से परे,
महि ज्ञान की कोरी दलादली में।
मनभावती हूँ कहि जाते कछू,
अब ऊधव ऐसी चलाचली में।

उपर्युक्त कवित्त में योगमार्ग के प्रति गोपियों की उदासीनता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है। इस प्रकार 'रसालमंजरी' भी 'उद्धवशतक' की भाँति भाव और कला—दोनों दृष्टियों से भ्रमरगीत-परंपरा को पुष्ट कर रही है।

अस्तु, आधुनिक काल के अनेक कवियों ने भ्रमरगीत की परंपरा को समृद्ध किया है। इन कवियों ने एक ओर जहाँ परंपरा को स्वीकारते हुए काव्य-रचना की, वहाँ दूसरी ओर परंपरामुक्त होकर भी नवीन उद्भावनाएँ कीं।

महाकवि सूरदास से प्रारंभ होकर यह परंपरा आधुनिककाल तक विभिन्न परिवर्तनों के साथ निरंतर गतिशील रही है।

डा० स्नेहलता श्रीवास्तव के मतानुसार—"हिमालय से निकलकर सागर-तल तक पहुँचने में भगवती भागीरथी में स्थान-भेद से जिस प्रकार अंतर हो गया है, उसी प्रकार दीर्घकाल से चली आती इस भ्रमरगीत-परंपरा के विषय-विवेचन में भी सूक्ष्म अंतर होता रहा है, जो बीसवीं शताब्दी में आकर स्पष्ट हो गया है। समाज की आवश्यकता और देश की परिस्थिति के अनुरूप ही भ्रमरगीत-काव्य में बौद्धिक भावनाओं का बराबर विकास हो रहा है, जिससे काव्य का मानव-पक्ष अधिक सबल, स्पष्ट और प्रभावशाली हो सके और वर्तमानकाल की जनता उसे बौद्धिक तुला पर तोलकर ग्रहण कर सके।"

□ डा० बैजनाथ सिंहल

भ्रमरगीत का प्रयोजन

जब-जब जीवन (मानव) से कटकर आध्यात्मिकता को विशुद्ध शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ है, तब-तब अकर्मण्यता, वैराग्य, पोंगापंथियों द्वारा धर्म, ईश्वर, नैतिकता इत्यादि को शोषण-यंत्र के रूप में अपनाकर समाज में मिथ्याचारों एवं बाह्याडंबरों को बढ़ावा, निर्गुण-सगुण-विवाद तथा थोथी तार्किकता जैसे भयंकर परिणाम सामने आए हैं। दूसरे शब्दों में इस यथार्थ संसार को मिथ्या और शास्त्रीय अध्यात्म को सत्य और आदर्श सिद्ध किया गया है। इस सारी भ्रांति का कारण संसार और अध्यात्म के बीच कड़ी-रूप मानव-जीवन की उपेक्षा ही है। प्रायः यह भुला दिया जाता रहा है कि सांसारिक यथार्थ और आध्यात्मिक आदर्श, दोनों ही मानव से संबद्ध हैं और इस प्रकार दोनों परस्पर संबंधित भी हैं। ये दोनों एक-दूसरे से नितांत भिन्न और अलग नहीं हैं।

यथार्थ संसार और आदर्श अध्यात्म को पृथक् मान लेने के कारण संसार को पापमय, मायावेष्टित माना गया और अध्यात्म की उपलब्धि को अत्यंत दुष्कर, लोकोत्तर और अतिमानवीय सिद्ध किया गया। यथार्थ का अर्थ लिया गया 'जो जैसा है या हो रहा है' और आदर्श को 'जैसा होना चाहिए अथवा प्राप्य रूप' में अभिव्यंजित किया गया। इस अर्थग्रहण में भी भ्रांति रही है और इसने एक के बाद एक करके अनेक भ्रांतियों को पोषित किया है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यथार्थ और आदर्श—दोनों में गहरा संबंध है। दोनों कहीं भी कटे नहीं हैं। यदि यथार्थ नहीं होगा और उसकी सीमाओं और कमियों से हम अवगत नहीं होंगे तो आदर्श की कल्पना ही नहीं होगी। वास्तव में आदर्श, यथार्थ से ही पैदा होता है। उससे कटकर आदर्श निराधार है, न पहचाना जाने वाला और मूल्यहीन।

यदि गहराई से देखा जाए तो आदर्श भी यथार्थ ही है। जिस यथार्थ से वह पैदा होता है वह अपूर्ण, अभावग्रस्त यथार्थ है और आदर्श उन कमियों के मार्जन के बाद का सही और पूर्ण यथार्थ है। इस प्रकार समकालीन परिप्रेक्ष्य में 'आदर्श' सही यथार्थ का ही पर्याय है। इसे दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति आदर्श रूप में किसी बात की प्राप्ति के लिए कल्पना करता है अथवा प्रयत्नशील होता है तो वह वास्तव में उसे संभव मानकर ही चलता है न कि काल्पनिक अथवा वायव्य। यह संभवता की भावना उसके लिए आदर्श को यथार्थ रूप में ही प्रस्तुत करती है। अस्तु, प्रयत्नशील व्यक्ति का आदर्श, मूलतः उसका यथार्थ ही होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो आदर्श का स्वरूप देशकाल रूप में निरपेक्ष सदा-सर्वदा यथावत् रहना चाहिए, जबकि हम देखते हैं कि बदलते संदर्भों में आदर्श बदल जाता है। उसमें स्वाभाविक युगानुरूप परिवर्तन होता है और नया आदर्श उद्घाटित होता है। इसका कारण कदाचित यही है कि आदर्श कोई लोकोत्तर, अतिमानवीय वस्तु नहीं है, प्रत्युत वह लौकिक और भौतिकतानिष्ठ ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यथार्थ और आदर्श का पारस्परिक संबंध स्पष्ट हो जाता है। अस्तु, लौकिकता और आध्यात्मिकता भी परस्पर संबद्ध हैं, बल्कि अन्योन्याश्रित हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है इनके बीच की कड़ी मानव-जीवन है। मानव, वह मानव है, जो केवल व्यक्ति या आदमी नहीं बल्कि इससे आगे इन्सान है। यदि वह केवल आदमी होता तो निश्चय ही पशु-जगत् में गिना जाने के कारण उसे आध्यात्मिकता की आवश्यकता नहीं होती और इस प्रकार पशु-जगत् से भिन्न उसके कोई भी मूल्य नहीं होते। उसका जीवन चूँकि किन्हीं निश्चित मूल्यों पर टिका है, अतः आध्यात्मिकता या अन्य मूल्य जो आदर्श की श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं; सभी लौकिक और भौतिक हैं। वे भौतिक आवश्यकताएँ हैं। उनके अभाव में मनुष्य का जीवन निराधार, पंगु, मूक एवं संस्कृतिविहीन होगा। और जब वे ही सांसारिक मूल्यांकन में मनुष्य की कसौटी हैं तो वे निश्चय ही लोकोत्तर नहीं हो सकते। अतः यही निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि ईश्वर, धर्म, नैतिकता, मर्यादा, आत्मा इत्यादि अथवा उनसे संबंधित अन्य सभी धारणाएँ मानव-जीवन को गति प्रदान करने वाले दृष्टिकोण हैं, जिनका जीवन से बाहर कोरा शास्त्रीय या वितंडावादी रूप ग्राह्य नहीं हो सकता।

पश्चिम के सभी आधुनिक दर्शनों ने मानव को केंद्र में रखकर अपनी नितांत भौतिक अथवा नितांत अलौकिक दृष्टि का परिष्कार किया है। बर्गसाँ जैसे दार्शनिक ने पदार्थ (Matter) और चेतना (Mind) को सर्वथा पृथक् मानकर चलने वाले सिद्धांतों का खंडन करते हुए जीवन (Life) को बीच में रखकर, दोनों के अंतर्संबंध को पुष्ट ही नहीं किया बल्कि इस रूप में सभी मूल्यों की एक कसौटी प्रदान की है।

ठीक ऐसा ही प्रयास लौकिकता और आध्यात्मिकता के संबंध को लोक-मानस से जोड़कर हमारे यहाँ वैष्णव-भक्तों ने किया था, जिनमें सूर का स्थान शीर्षस्थ है।

वैष्णव संप्रदाय ने भक्ति, ईश्वर, धर्म और लौकिकता की व्याख्या बहुत कुछ दार्शनिक धरातल पर की है, क्योंकि मध्यकाल में प्राय दर्शन और धर्म में एक प्रकार का अभेद रहा है। इससे हटकर सूरदास ने इसी काम को अपने भ्रमरगीत के माध्यम से बहुत दार्शनिकता के चक्कर में न पड़कर सहज-सरल भाव से संपादित कर दिखाया। सूरदास यद्यपि वल्लभाचार्य द्वारा वैष्णव भक्ति में विधिवत दीक्षित कर लिए गये थे तो भी सूर को पूर्णतया वैष्णव दार्शनिक की संज्ञा हम नहीं दे सकते। कारण स्पष्ट है क्योंकि सूर की अपनी सीमाएँ थीं। दार्शनिक दृष्टि से वे बहुपठित व्यक्ति नहीं थे। यदि ऐसा होता तो सूर संभवतः भ्रमरगीत को अपने वर्तमान रूप में लिखना तो दूर इसकी कल्पना भी न कर सकते थे। वे या तो वैष्णव भक्ति का ही मंडन करते या फिर तुलसी की भाँति दार्शनिक धरातल पर प्रबन्ध-रचना करते। सूरदास ने जो कुछ भी कहा है, वह समकालीन परिस्थितियों की नितांत लौकिक उपज है। जो कुछ उन्होंने अनुभव किया, समझा, वही जीवन से बँधकर खरे-खोटे की पहचान करते हुए, कवि-हृदय होने के कारण, एक प्रकार से लोक-गीतों के रूप में बेलाग होकर कह दिया। यहाँ यह अभिप्राय बिलकुल नहीं है कि सूरदास ने वैष्णव सिद्धांतों की उपेक्षा की है। आशय केवल इतना है कि सूर ने दर्शन की बहुत गहराई में शास्त्रीय व्याख्या न करके लौकिक व्याख्या अधिक की है। यही कारण है कि सूर के भ्रमरगीत में आद्यंत अध्यात्म को, जीवन को गति प्रदान करने वाला तत्त्व माना गया है न कि वैराग्य, अकर्मण्यता अथवा दुष्प्राप्य देशकालातीत आदर्श।

सूर के भ्रमरगीत के उक्त प्रयोजन की समुचित समीक्षा के लिए सूरकालीन युग पर विहंगम दृष्टि अपेक्षित है; क्योंकि किसी भी कवि के मूल्यांकन में उसके युग की भूमिका मुख्य हुआ करती है। सूर का युग अनेक विरोधाभासों और विडंबनाओं का युग रहा है। भक्ति के विशुद्ध शास्त्रीय प्रचार होने के कारण उस युग में थोथी बौद्धिकता और खोखले तर्कों का जादू चलता था। सूर-युग की इस स्थिति पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का निष्कर्ष इस प्रकार है—"ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण-पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा, जिस पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनपढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुवृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँह जोरी करने लगे।[१] इस सबका यही कारण था कि विशुद्ध शास्त्रीय

१. भ्रमरगीत सार, सं० रामचंद्र शुक्ल, आमुख पृ० १

धरातल पर भक्ति की चर्चा होने के कारण तर्क को प्रश्रय मिल गया था। तर्क में यह शक्ति होती है कि वह गलत को सही और सही को गलत, यथार्थ को आदर्श और आदर्श को यथार्थ सिद्ध कर दे। इस प्रकार के तर्क-प्रधान युग के तर्कशील व्यक्ति लोक-विमुख ही हो जाया करते हैं, जिससे जन-सामान्य की स्थिति शोचनीय हो जाती है। कदाचित् यह निर्गुण एकेश्वरवाद भी साधारण जन को स्वीकार्य हो जाता, यदि शासकीय करनी और कथनी में बहुत अधिक अंतर लक्षित न होता। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "राम और रहीम को एक बतलाने वाली बानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी रूप लोग नित्य अपनी आँखों से देख रहे थे।"[१] स्थिति का यह कितना बड़ा व्यंग्य है! एकेश्वरवाद का नारा देकर भी मंदिरों को गिराया जा रहा था, कदाचित मुस्लिम एकेश्वर (अल्लाह) को हिंदुओं द्वारा मनवाने के लिए। सूर ने अपने मन की, आत्मा की आँख से उस स्थिति को देखा था।

विशुद्ध बौद्धिकता एवं शास्त्रीयता का दूसरा रूप कर्मकांड में दिखाई पड़ता है। सूर-युग में वह रूप भी अपने चर्मोत्कर्ष पर था। इस दृष्टि से प्रबलतम वितंडावाद नाथ पंथियों के अवशेष रूप में चल रहा था। सूरदास ने भ्रमरगीत में इस वितंडावाद की पोल भी गोपियों के द्वारा खुलवाई है। विकृत नाथपंथी योगी आसन, ध्यान, आराधना के द्वारा साधना किया करते थे तथा मुद्रा, भस्म, विषाण, मृगचर्म इत्यादि धारण करते थे।[२] ये आसन बाँधकर, आँख मूँदकर ध्यान देने पर बल देते थे[३] तथा गोरखनाथ के नाम पर अलख जगाया करते थे।[४] इनके मतानुसार ईश्वर शून्य सहजवासी है तथा जीवात्मा, इंगला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों में होता हुआ ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त करता है।[५] ऐसी स्थिति में उपलब्ध अंतर्ज्योति को वे अविगत, अविनाशी की संज्ञा देते हैं। सूरदास ने भ्रमरगीत में इसका खंडन किया है और भक्ति रूपी सहज मार्ग के सामने इसे व्यर्थ का भार सिद्ध किया है। इसी प्रकार सूर ने निर्गुण के प्रचार और ढकोसले को समझा है।

---

१. भ्रमरगीत सार, सं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १

२. आसन, ध्यान, बायु आराधन, अलि मन चित तुम ताए।
अतिहिं विचित्र सुबुद्धि सुलच्छन गुनि जोग मत गाए।
मुद्रा भस्म बिषान, त्वचा-मृग, ब्रज जुवतिनि नहिं भाए। सूरसागर ४१२३

३. आए हैं ब्रज के हित ऊधौ जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदे सखि, कैसे कढ़ै वियोग। सूरसागर ४२०८

४. गोरख शब्द पुकारत आरत, रस रसना अनुराग। सूरसागर, ४३११

५. इगंला पिंगला सुषमन नारी। सुन्यो सहज में बसत मुरारी।
ब्रह्मभाव करि सब मैं, देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ।
× × ×
हृदै कमल मैं ज्योति प्रकाशी। सो अच्युत अविगत अविनासी। सूरसागर ४६६७

सूरकालीन इस संक्षिप्त वातावरण के दिग्दर्शन का अभिप्राय केवल यही है कि सूर ने यह सब देखकर लौकिक धरातल की विडंबनाओं को समझा था। सूर के मानव और तदनंतर कवि ने जान लिया था कि इस सबका एकमात्र कारण ईश्वर, आध्यात्मिकता अथवा आत्मा और परमात्मा के संबंधों को सर्वथा भिन्न और पृथक् करके देखा जाना है। अस्तु, इसका निदान यही हो सकता था कि लोक-धरातल पर ईश्वर को जन-साधारण के लिए सुलभ और सबकी पहचान में आने योग्य बना दिया जाए, जो लोगों से बात कर सके, उनके जीवन को गति दे तथा जो किसी भी प्रकार भयावह हौव्वा न हो। इसके लिए सूरदास ने भ्रमरगीत की योजना की। भ्रमरगीत में ही यह गुंजायश निकाली कि वह अपना ध्येय पूरा कर सकें। श्रीमद्भागवत् के भ्रमरगीत से अलग यही सूर की विशेषता एवं मौलिकता है। गोपियाँ यहाँ जन-साधारण की प्रतीक हैं, श्री कृष्ण वह ईश्वर है, जिसे तर्कवादियों, नाथपंथियों तथा निर्गुणमार्गियों ने दुर्बोध और अगम्य सिद्ध किया हुआ था और उद्धव तर्कवादियों, नाथपंथियों और निर्गुणमार्गियों के समवेत प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार सूरदास ने इस सारे मायाजाल को उस अपढ़ देहाती की भाँति बिना बहुत प्रयत्न के सुलझा दिया, जो बहुत पढ़े-लिखों की किसी अत्यंत पेचीदा समस्या का सरल और सहज लोक-समाधान प्रस्तुत करता है।

भ्रमरगीत में गोपी-उद्धव-संवाद में गोपियों द्वारा उद्धव के दर्शन, ज्ञान, कर्मकांड के प्रचार की भर्त्सना आद्यंत सूर के इसी प्रयोजन को सिद्ध करती है कि सूर जन-साधारण के लिए सोचते हैं। वे लौकिकता और आध्यात्मिकता के गहन किंतु सर्वत्र मानवोपयोगी रूप पर ही बल देते हैं। सूर की दृष्टि में उद्धव-दर्शन निराधार है, तत्त्वहीन है, जो सुनी-सुनाई बातों पर टिका हुआ है, जिसमें हृदय को संतुष्ट करने की अपील नहीं है। **'यह निर्गुन निरमोल गाठरी, अब किन करत घरी'**[1] में इसी मत को व्यक्त किया गया है। रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में इस पंक्ति में उद्धव-ज्ञान के संबंध में सूर का मत इस प्रकार है, "जिसमें कुछ मूलधन या पास की पूँजी नहीं लगी है अर्थात् वह (ज्ञान-गठरी) केवल किसी के मुँह से सुनकर इकट्ठी कर ली गई है, उसमें हृदय नहीं लगा है।"[2] यह पीछे वर्णित उस थोथे बौद्धिकतावाद की ओर ही संकेत है, जिसके द्वारा साधारणातिसाधारण मनुष्य परम ज्ञानी होने का दंभ भरते थे।

इन बुद्धिवादियों की भाँति ही सूर ने भ्रमरगीत में नाथपंथी, पोंगापंथी, अलखवादी कर्मकांडियों का भी अत्यंत व्यंग्यपूर्ण ढंग से पर्दाफाश किया है। गोपियाँ उद्धव को अपनी ज्ञान-गठरी निकटवर्ती काशी में ले जाने को कहती हैं, जहाँ मुंडिया

१. सूरसागर, ४२८१
२. भ्रमरगीत सार, सं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३६

बसते हैं।[१] ये मुंडिया ज्ञान प्रधान साधक ही हैं, जिनकी साधना, सूर के अनुसार, किसी भी तरह प्रेम के समकक्ष नहीं ठहर सकती, और सूर ने उद्धव को इस मुंडिया संप्रदाय का ही व्यक्ति सिद्ध किया है। इसी के साथ प्रचलित अन्य सामाजिक कुरीतियों में व्रत, पूजा, उपवास, तीर्थ इत्यादि को भी सूर ने व्यर्थ सिद्ध किया और इसके लिए लौकिक उदाहरण देकर जन-साधारण को यही दर्शाया कि वास्तविक प्रेम अथवा भक्ति द्वारा पापी से पापी व्यक्ति के उद्धार की भी संभावना रहती है। इसके पीछे आशय यही है कि हमें सहज भाव से मानवीय गुणों में विश्वास करते हुए अपना विकास करना चाहिए तथा इस प्रकार व्यर्थ के प्रपंचों से बचते हुए ईश्वर को भी कुरूप होने से बचाना चाहिए।

जहाँ तक निर्गुण अथवा तत्संबंधी बहुत से प्रपंचों का संबंध है, सूर ने भ्रमरगीत में प्रायः आधे से अधिक पदों में उसी का खंडन किया है। 'निर्गुण कौन देस को बासी' जैसे पदों में सीधे तथा उद्धव पर किए गए व्यंग्ययुक्त पदों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्गुण को मिथ्याचार का ही जनक सिद्ध किया गया है। अंत में उद्धव को भक्ति के समक्ष घुटने टेकते दिखाकर सूरदास ने यही सिद्ध किया है कि प्रेम को अपना लेने से सब प्रकार की ज्ञान-जन्य भ्रांतियाँ दूर हो सकती हैं।[२]

प्रायः सूर के भ्रमरगीत को सख्यभक्ति का काव्य कहा जाता है। सखा कभी भी एकदम लौकिक और अलौकिक अथवा एक दूसरे को न पहचानने वाले व्यक्ति नहीं हो सकते। कृष्ण सखा हैं अर्थात् प्रभु सखा हैं; यह इस बात को व्यंजित करता है कि ईश्वर अथवा आध्यात्मिकता लौकिक हैं और उनका सद्ग्रहण मानव के लिए कल्याणकारी है। इसी प्रकार 'वैष्णव जन तेने कहिये, जो पीर पराई जाने रे' इत्यादि में भी वैष्णव भक्ति का वही लौकिक आदर्श प्रकट होता है, जो विशुद्ध मानवीय है अर्थात् मानव-जगत् के ही सुख-दुःख से बँधा है। वैष्णव भक्ति का यह आदर्श ही सूर को मान्य रहा है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है। हिंदी साहित्य के लोकगीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप सूरसागर के अंतर्गत विद्यमान है।"[३]

निष्कर्षतः भ्रमरगीत में सूरदास का प्रयोजन अति बौद्धिकता और तज्जनित मानव-विरोधी बुराइयों का खंडन रहा है। सूर संसार को सही दिशा देने के लिए

१. सूरसागर, ४२८७

२. हौं हरि अधर दाउँ दै हार्यौ।
कहौं कहा निरगुन की बातें, उनको प्रेम निन्यारौ। सूरसागर, ४७४७

३. सूरदास, सं० हरवंश लाल शर्मा, पृ० ५६

लौकिकता और आध्यात्मिकता के अंतर्संबंध की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं तथा इन दोनों को पृथक सिद्ध करने वाले दर्शनों और मिथ्याचारों का प्रबल विरोध करते हैं। वे प्रतिपादित करते हैं कि मानवता का रक्षण, वर्धन हृदय ही से संभव है, कोरी और थोथी ज्ञान-वचनावली द्वारा नहीं। ईश्वर नितांत लौकिक है, अध्यात्म लौकिक है, धर्म उसका कर्म रूप है और कर्म का यही रूप मानवीय यथार्थ तथा आदर्श होना चाहिए। अस्तु, सूर द्वारा ज्ञान पर प्रेम अथवा भक्ति की विजय को दिखाना युग के धर्म को ज्ञान से परे रस का विषय सिद्ध करना है। यही भ्रमरगीत का मुख्य प्रयोजन है।

□ डा० निजामउद्दीन

भ्रमरगीत-प्रसंग में सूर की मौलिक उद्‌भावनाएँ

सूर से पूर्व धर्माचार्यों ने सगुण ब्रह्म तथा अवतारवाद का प्रत्याख्यान कर उपवास, मूर्तिपूजा आदि पर सबल प्रहार करना, चिरप्रतिष्ठित आस्था-अनुष्ठा की दीवारों को तोड़ना अपना लक्ष्य बनाया था, परंतु उन्हें इसमें आंशिक सफलता ही मिल सकी; क्योंकि ऐसी चिरप्रतिष्ठित धारणाओं, विश्वासों को समूल उच्छेदित नहीं किया जा सकता, काल-परिस्थिति के परिवेशानुसार यदाकदा परिशोधन-परिवर्धन अवश्य किया जा सकता है। अतः १६वीं शती से पूर्व जो अवतारवाद या सगुण-उपासना की अमराई सूख गई थी उसे सूर प्रभृति कवियों ने आस्थानुष्ठा के जल से अभिनिषेचित कर पुनः हराभरा बनाकर पल्लवित और पुष्पित किया। जीवित, साकार कृष्ण को विस्मृत कर अज्ञात, निराकार का स्मरण करना सूर या गोपियों को कैसे भाता ? 'अविगत गति' को 'मन-वाणी से अगम-अगोचर' समझकर ही सूर ने 'सगुणलीला पद' का गायन किया ताकि मन भ्रमित न हो। कहने का अभिप्राय यह है कि सूर ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सर्वसुलभ माना, जिसका अनुवर्तन न केवल अष्टछाप के कवियों ने किया वरन् रामचरणचंचरीक तुलसीदास जैसे संतशिरोमणि ने भी **'ज्ञान पंथ कृपान की धारा'** कहकर **'रामभक्ति चितामनि सुंदर'** का शंखनाद किया। लेकिन यह ध्यातव्य है कि ज्ञान का पूर्णतः खंडन न कर उसकी दुःसाध्यता को सिद्ध करके भक्ति का सौलभ्य प्रतिपादित एवं प्रदर्शित करना था; निर्गुण-सगुण के तात्कालिक द्वंद्व को समाप्त करके सगुण को जन-सुलभ रूप में प्रतिष्ठित करना था, निवृत्तिमूलक धारणा के स्थान पर प्रवृत्तिमूलक धारणा का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट था। सूर की यही धारणा या मत उनके काव्य में प्रतिबिंबित है और वह भी उनके सूरसागर के भ्रमरगीत-प्रसंग में अधिक स्पष्ट और प्रभविष्णु है।

डा० हरवंशलाल शर्मा ने भ्रमरगीत या उपालंभ काव्य का बीजारोपण कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक में देखा, जहाँ हंसपदिका दुष्यंत को शकुंतला

के प्रेमपाश में परिबद्ध देखकर भ्रमर के माध्यम से अन्योक्ति का सहारा लेकर उपालंभ देती है। किंतु सूर के भ्रमरगीत की गंगोत्री श्रीमद्भागवत् का दशम स्कंध है, जहाँ भ्रमरगीत का प्रसंग ४६वें और ४७वें अध्याय में उल्लिखित है। भागवतकार ने ज्ञान-कर्म-भक्ति का सामंजस्य स्थापित करते हुए निर्गुण या ज्ञानमार्गी भक्ति का ही पक्ष ग्रहण किया है, जबकि सूर ने ज्ञान पर भक्ति की, योग पर प्रेम की, निर्गुण पर सगुण की बिजयपताका फहराई है। यहाँ युग-दर्शन-सापेक्ष चित्रण है। ज्ञानमार्गी संतों, योगमार्गी नाथों और पुष्टिमार्गी भक्तों के स्वरों के साथ ब्रजसंस्कृति की लोकधुनें भी अनुगुंजित हैं।

सूर ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की थी। प्रथम, राग आसावरी में दो ही पदों में वर्णित है, जहाँ कृष्ण के बाह्यसौंदर्य और योगसमाधि का वर्णन है, जिसे गोपियाँ अग्राह्य समझती हैं। उद्धव भी अधिक तर्कवितर्क से काम न लेकर उनके सामने पानी भरते नजर आते हैं। दूसरा भ्रमरगीत रागजैतश्री में है; यहाँ भी उद्धव पर गोपियों की प्रेमोन्मत्तता का नशा अविलंब चढ़ जाता है। लेकिन सूरसागर का भ्रमरगीत ही महत्त्वपूर्ण है। ४०७८वें पद से लेकर ४७१०वें पद तक फैला यह प्रसंग भागवत्-प्रणोदित होकर भी उसका अविकल अनुवाद नहीं है। यों सूर की अग्रांकित पंक्तियों से उस पर भागवत-प्रभाव ध्वनित होता है :

व्यास कहैं सुकदेव सौं, द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे, पद भाषा करि गाइ।
सूर कहौ क्यों कहि सकै, जन्म, कर्म, अवतार।
कहे कछुक गुरु कृपा तै, श्रीभागवतानुसार।

लेकिन यह भागवतानुसार होकर भी तद्रूप नहीं है। सूर ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा एवं मेधाशक्ति की तूलिका से ऐसी नयनाभिराम एवं चित्ताकर्षक पच्चीकारी की है, नानाविध भाव-सुमन-कलिकाएँ बनाई हैं कि उसका रूप ही परिवर्तित हो गया। यत्र-तत्र मौलिक उद्भावनाओं के सरस सरसिज यहाँ विकसित-परिलक्षित होते हैं। भागवत में ब्रह्मनिष्ठ उद्धव कृष्ण की दर्शनोत्कंठिता गोपियों को भी आत्मवत् ब्रह्मनिष्ठ बनाने के लिए अपनी ज्ञानप्रणोदित वाग्विदग्धता से अधिकाधिक लाभ अर्जित करना चाहता है। उस समय अपनी ओर आते एक भ्रमर में एक गोपी को कृष्ण का वर्णसाम्य संलक्षित होता है और तुरंत उसके मुख से ये शब्द फूट पड़ते हैं "तुम हमारी सपत्नियों की कुचमंडलावलंबी माला के कुंकुम में सने हुए हो, इसलिए हमारे चरण-स्पर्श करने योग्य नहीं हो।" सूर के भ्रमरगीत का यही प्रेरणा-स्रोत है।

भागवत में कृष्ण ने उद्धव द्वारा अपना संदेशा भेजा, फलस्वरूप उनकी विरहाग्नि बुझ जाती है, परंतु सूर ने इसे अधिक व्यापक, सरस, मनोवैज्ञानिक, लोकसंस्कृति से संवृक्त बनाया है। सूर उद्धव को ज्ञान-गर्वित तथा कृष्ण को तद्भूत

चिंता से चिंताकुलित दिखाकर उनके ज्ञान-गर्वित-दुर्ग को चकनाचूर कराना चाहते थे। गोपियों ने उद्धव और उनके निर्गुण का जो सावद्य उपहास किया यह उनकी मौलिकता का परिचायक है, भागवत में यह रसात्मक प्रसंग कहाँ? वहाँ जिस नीरस, शुष्क, अरुचिकर संदेश को सुनकर गोपियाँ चुपचाप पचा लेती हैं, सूर ने उसे असंगत एवं अग्राह्य मानकर स्वाभाविक, हृदयगत भावनाओं से निष्पन्न, मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। उद्धव और उनके उपदेश की पगड़ी को गोपियों ने जिस प्रकार सरे बाजार उछाला उसकी मिसाल कहीं नहीं मिलेगी। उद्धव मुश्किल से एक बात ही कह पाते हैं जबकि गोपियाँ उन्हें सौ सुनाकर छोड़ती हैं और भावावेश में भला-बुरा तक कहने से भी नहीं चूकतीं। उपहास और उपालंभ का ऐसा रसात्मक प्रसंग सूर के अतिरिक्त कहाँ मिल सकेगा :

सूर का भ्रमरगीत समसामयिक प्रभाव से पूर्णतः आक्रांत है। उस समय शांकर-सिद्धांतों की प्रबलता थी, लेकिन उतनी ही प्रबलता से बल्लभाचार्य आदि भक्त उनका विरोध कर रहे थे और अपने सिद्धांतों को अधिकाधिक व्यावहारिक तथा जनानुमोदित रूप में ढालने के लिए प्रयत्नशील थे। सूर ने भी शांकर-सिद्धांतों को अवहेलित, तिरस्कृत कर वल्लभाचार्य का पक्षाग्रह लेकर प्रेमाभक्ति का वह दिव्य ताजमहल निर्मित किया, जिसकी आभा शाश्वत् है। उन्होंने ज्ञान-गंगा को छोड़कर प्रेम-यमुना में अवगाहन किया और उद्धव की ज्ञान-गंगा स्वयं ही कगारों को तोड़ती हुई गोपियों की प्रेम-यमुना में आकर मिल गई। भागवत में 'निर्गुण', 'योग', 'ज्ञान' शब्दों का प्रयोग कहाँ? वहाँ उद्धव ने इन शब्दों का प्रयोग न कर कृष्ण की सर्व-भूत व्यापकता का उपदेश दिया है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु में पंचमहाभूत व्याप्त हैं, इसी प्रकार कृष्ण के मन, प्राण आदि की परिव्याप्ति की चर्चा की गई है। लेकिन सूर ने उसे अधिक सामयिक बनाया है। निर्गुण भक्ति, गोरखपंथी योगियों की योगिक जटिल क्रियाएँ, अष्टांग की चर्चा, विचित्र वेश-भूषा सभी का संस्पर्श भ्रमरगीत में है।[1] यह अलग बात है कि गोपियाँ इस 'जोग' के

---

१. (क) ऊधौ करि रही हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी जोग।
सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-बीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहती हरि दरस भिच्छा, देहिं दीनानाथ ।। सूरसागर, ४३१२

(ख) यह संदेश कह्यौ हे माधौ, करि विचार जिय साधन साधौ।
इंगला, पिंगला, सुषमन नारी, सुन्यो सहज मैं बसत मुरारी ।।
ब्रह्म-भाव करि सबमैं देखौ, अलख निरंजन ही कौं लेखो ।।
पदमासन इक चित मन ल्यावौ, नैन मूंद अंतरगति ध्यावौ ।।
सूरसागर, ४६६७

लिए अपने आपको असमर्थ समझती हैं—"**जोग हम पै होय न आवै; धरि न आवै मौन**", या '**ऊधो ! जोग जोग हम नाहीं ।**' यहाँ सूर ने कृष्ण के सान्निध्य एवं सायुज्य में गोपियों को नखसिख परिप्लुत पाया है; यही पुष्टिमार्ग है । यह सायुज्य भक्ति का सायुज्य है, ज्ञान या मुक्ति का सायुज्य नहीं । भ्रमरगीत ज्ञान नहीं, भावना को, भावना के रस को उद्‌गीर्ण करने वाली रचना है । उद्धव की वाणी गोपियों की वाणी होकर प्रेम की दिग्विजय घोषित करती हुई कृष्ण की शरण में पहुँच गई । गोपियाँ कृष्ण की उपेक्षा करते हुए उनके प्रेमरूप को प्रेमरूप में ग्रहण कर तन्मय हो गई हैं । यह भक्ति का सायुज्य गोपियों को उपलब्ध हुआ है ।[1]

ज्ञान, भक्ति और कर्म की समन्वित साधना भ्रमरगीत में प्रतिपादित की गई है, लेकिन अंततोगत्वा इन तीनों का पर्यवसान प्रेम या भक्ति में हो गया है, ये सब भक्ति के ही रूप हैं । वल्लभाचार्य ने भी इन सबको भक्ति का ही रूप माना है । ज्ञानी भक्ति का लक्ष्य सर्वज्ञता प्राप्त करना मानता है । कर्मयोगी आत्मप्रसादन करना चाहता है । ये दोनों ही अवस्थाएँ किसी न किसी रूप में अहंकार को ही पुष्ट करती हैं, पर विशुद्ध भक्त तो भगवान् की प्रसन्नता को ही सब कुछ समझता है । इसमें ज्ञानी या कर्मयोगी को अहंकार का अवलेश भी नहीं रहता, पर वह कभी भी ज्ञान-विमुख या कर्म-विमुख नहीं होता है । ये दोनों भी उसकी भक्ति के सहज अंश बनकर उसी में विलीन हो जाते हैं । उनकी पृथक चेतना और अहंबुद्धि समाप्त हो जाती है । सूर को इन तीनों के समन्वय का साक्षात्कार भी सहज रूप में हुआ है, और इसे भी वे कृष्ण का अनुग्रह मानते हैं ।[2]

सूरदास ने भ्रमरगीत को भावप्रधान काव्य के रूप में चित्रित किया है, लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहाँ तथ्य-कथन नहीं । भले ही यहाँ घटनाओं का घटाक्षेप न हो और सूरदास इतिवृत्तात्मक वर्णनशैली का परित्याग करके शुद्ध रूप से भावजगत् में विहार करने वाले कवि हैं ।[3] लेकिन 'उनके मानस चक्षुओं के संमुख विविध रूप, भाव-लहरियाँ उद्वेलित होती रहती हैं', उन्हें अनेक रूपों में देखकर भी अपनी भावशवलता के गुण में आबद्ध रखते हैं । उनका भाव-क्रम ही उनकी वस्तु योजना है । उनकी भावनाओं में भी एक क्रम है । भागवत में कथांश ही हैं, जबकि सूर ने इन कथांशों को अपनी भावप्रवणता के सूत्र में अनुस्यूत कर एक सुव्यवस्थित रूप में, कथात्मक रूप में संयोजित किया है—(१) अक्रूर का ब्रजागमन, कृष्ण का मथुरागमन, (२) कृष्ण के मथुरा पहुँचने पर प्रमुख घटनाएँ, प्रतिक्रियाएँ, (३) नंद का मथुरा से प्रस्थान, ब्रज पहुँचना, (४) कृष्ण द्वारा उद्धव को संदेश-वाहक बनाकर ब्रज भेजना,

---

१. डा० सत्येंद्र, भ्रमरगीत का एक मर्म, आजकल, अप्रैल १९५५

२. डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र—सूर की दार्शनिकता (निबंध)

३, डॉ० मुंशीराम शर्मा—सूर-संचयन, पृ० १०८

(५) उद्धव का ब्रजागमन, उद्धव-गोपी-संवाद, (६) भ्रमर-प्रवेश, संवाद में उग्रता, (७) पराजित उद्धव का मथुरा-प्रस्थान। भ्रमर के माध्यम से व्यंग्योक्तियों में भी सूर की मौलिकता द्रष्टव्य है।

शिकवा-शिकायत की तरंगों से तरंगायित भ्रमरगीत उपालंभ का मौलिक काव्य है। उपालंभ एक विशेष भावस्थिति है, जहाँ प्रेम, साहचर्य और आत्मीयता प्रच्छन्न होते हैं। यहाँ प्रिय पर दोषारोपण करके भी मिलनोत्कंठा प्रदर्शित की जाती है और प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर उपालंभ में भावाभिव्यक्ति तीव्रतर हो जाती है। यह उपालंभ भ्रमरगीत में दो रूपों में स्पष्ट है—(१) कृष्ण की बाल-लीला में, जहाँ गोपियों के व्यंग्याघातों का केंद्र यशोदा बनती है। (२) शृंगारिक छेड़छाड़। गोपियों की दृष्टि में जो 'प्रेमदूत' बनकर आया वही उद्धव उन्हें 'ब्रह्मदूत' बनकर कच्चे खिलाड़ी की भाँति ज्ञानोपदेश देने की भूल कर बैठता है, जिसकी सजा उसे खूब कसकर मिलती है और लपेट में कृष्ण, कुब्जा तक भी आ जाते हैं। गोपियों का उपालंभ प्रकृति का अवलंबन लेकर और अधिक हृदयावर्जक बन गया है। विरह-विदग्ध गोपियाँ प्रकृति को हर्षोल्लासमय देखकर, मधुवन को पल्लवित, पुष्पित देखकर उसे बुरी तरह कोसती हैं। स्याम-सुंदर के विरह-वियोग में वह खड़ा-खड़ा क्यों नहीं जल गया, उसे तनिक भी लाज नहीं आती? एक प्रकार से प्रकृति ने भ्रमरगीत की मूलचेतना—भक्तिभावना को उभारने में ही सहयोग दिया है—**"भ्रमरगीत जो सुने सुनावै, प्रेमाभक्ति गोपिन की पावै।"** सूर के हृदय की धड़कन में प्रकृति क्या सकल संसार का हृदय धड़कता दृष्टिगत होता है।

'पाती-प्रसंग' भ्रमरगीत में सूर की अभिनव उद्भावना है। कृष्ण ही नंद, यशोदा, गोपियों के लिए संदेशा नहीं भेजते वरन् देवकी, वसुदेव, कुब्जा भी अपना संदेशा भेजते हैं। भ्रमरगीत में इस पत्र-प्रसंग से अधिक प्रभविष्णुता आ गई है। कुब्जा अपने हाथ से लिखकर उद्धव को पत्र देती है और राधा तथा गोपियों की प्रशंसा करने के बाद कहती है, "मुझे तुम अपराधी कहती हो, मेरे ऊपर तो कृष्ण अनायास ही कृपा करते हैं, तुम मुझ पर व्यर्थ ही क्रोध करती हो।[1] मैं तो राजा कंस की दासी थी—मानो कड़वी तुमड़ी घूरे पर पड़ी हो, लेकिन जंत्री के हाथ पड़ने पर उसी से सरस राग निःसृत होता है। मेरी त्रिभंगी कुरूपता को भी कृष्ण ने अपने हाथों से ही ठीक किया है।[2] राधा, मुझ पर क्यों क्रुद्ध होती हो? मैंने कृष्ण की अनुकंपा से काशी प्राप्त करली है। तुम तो कृष्ण की अर्द्धांगिनी हो।[3] तुम राधा को यह पत्र देना। मैं सुनती रहती हूँ कि कृष्ण को कूबड़ी रानी मिल गई। तुम क्यों क्रोध करती हो, कृष्ण को ही क्यों न रोके रखा? उद्धव, तुम गोपियों से कहना कि न कृष्ण तुम्हारे प्रीतम हैं, न यशोदा के पुत्र हैं। तनिक दही, मक्खन खाने पर तुम

१. सूरसागर, ४०६१ २. सूरसागर, ४०६२ ३. सूरसागर, ४०६४

रस्सी लेकर दौड़ती थीं, कोई दया नहीं दिखाती थीं। अब कृष्ण तुम्हारे जाल में फँसने वाले नहीं हैं।[1] पाती-प्रसंग में जहाँ वृषभानुसुता और गोपियाँ कुब्जा का स्मरण कर सिहाती हैं, कुढ़ती हैं वहाँ कुब्जा का सपत्नीत्व स्पष्ट झलकता है। सौतिया ढाह का इससे अच्छा दृष्टांत अन्यत्र नहीं मिलेगा। कृष्ण-पाती को देखकर गोपियों की भावना के आवेश का, योग का संदेशा सुनकर दीर्घ उच्छ्वास और व्याकुलता का और उनकी प्रतिक्रिया का विशद् वर्णन सूर ने किया है। उद्धव जितने अल्पभाषी हैं, गोपियाँ उतनी ही अधिक वाक्शीला हैं। यहाँ भ्रमर की अवतारणा भी सूर की एक सजीव और मनोज्ञ कल्पना है। उद्धव के श्याम वर्ण में उन्हें भ्रमर का वर्ण-साम्य और भ्रमर की रसलोलुप वृत्ति में कृष्ण की रसलोलुप वृत्ति का सादृश्य दिखाई पड़ा। कुब्जा के साथ रँगरलियाँ मनाने वाले, गोपियों को जूठी पत्तल के समान त्यागने वाले स्वार्थलिप्सु कृष्ण के मित्र भी उन्हें वैसे ही दिखलाई दिए। अतः 'मधुप' या 'अलि' का उद्धव के लिए प्रयोग सार्थक है। भागवत में कुब्जा या अलि इस रूप में प्रयुक्त नहीं हुए।

भ्रमरगीत में सूरदास ने व्रज-संस्कृति, लोक-जीवन, राजनीतिक समस्याएँ, नारी-स्वातंत्र्य, निम्न जातियों के प्रति समानता की भावना, लोकसेवा आदि समस्याओं को भी संस्पर्शित किया है। तत्कालीन भारतीय समाज की चेतना—ग्राम्य और नागरिक जीवन यहाँ अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। एक का केंद्र गोपियाँ और व्रज है, दूसरे का कृष्ण और मथुरा। कृष्ण-गमन को वैयक्तिक समस्या के रूप में व्यंजित न कर उसे सूर ने सामाजिक भाव-भूमि प्रदान की है। गोपियों की विरह-वेदना समाज से पराङ्मुख नहीं। भ्रमरगीत का एक व्यापक 'केन्वॅस' पर चित्रांकन करना सूर की मौलिकता है। रासलीला, बाललीला, गैया-चराना, गोदोहन (खड़क में), यमुना के तट और करील की कुंजों में कृष्ण का बाँसुरी-वादन, गोपियों के घर से दही-मक्खन चुराकर खाना, आते-जाते रास्ते में, पनघट पर उनके साथ छेड़छाड़ करना, गोपियों का निःसंकोच पर-पुरुष कृष्ण से मिलना, कृष्ण का गोपियों या कुब्जा आदि से समान व्यवहार करना ये सभी प्रसंग सामाजिक हैं, व्रज-संस्कृति से संबद्ध हैं, नारी-स्वातंत्र्य के द्योतक हैं। जब गोपियाँ यह कहती हैं कि **'वहाँ बने यदुवंश महाकुल हमहिं न लगत बड़े'** यह उनकी समानता का, स्वतंत्र-भावना का परिचायक है। अपने को अहीर और ग्वालिन समझकर भी वे कृष्ण को अपने से बड़ा समझने को तैयार नहीं। कृष्ण का, कुब्जा का पत्र लिखना उनकी नागरिकता का सूचक है। विरह-विदग्धा राधा वियोग की रात्रि बिताने के लिए **'गहे बीनु मकु रैन बिहाई'** वीणा उठाती है, फिर सिंह का चित्र बनाती है; यहाँ ललित कलाओं का परिचय सूर ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार व्रज के लोक-जीवन या लोक-मानस को

१. सूरसागर, ४०६५

उस समय भी ध्यान में रखा है जब उद्धव सकल गोपियों के सामने कृष्ण का संदेश पेश करते हैं लेकिन इससे पूर्व वे नंद और यशोदा के द्वार पर जाकर मानो उनका राजोचित आदर कर नागरिक भाव का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

भ्रमरगीत सूर का काव्य-विलास है, उनका सर्वस्व है। यह एक ऐसा प्रेम-काव्य है, जो न तो 'संदेशरासक' और न ही 'मेघदूत' का अनुगमन करता है। यह ऐसा अभूतपूर्व सौवर्चस प्रेमलीला-काव्य है, जिसमें सूर ने नवीन उद्‌भावनाओं के तोरण-कलश पग-पग पर सजाए हैं। यह उनकी राग-चेतना का ऐसा उदात्त रूप है, जहाँ कल्पना के कलाधर ने अपनी कौमुदी से गुह्य, अदेखे स्थलों को नयनगोचर कराया है। उनकी अद्‌भुत मौलिकता और नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना की प्रशंसा शुक्ल जी को भी करनी पड़ी—सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना। प्रसंगोद्‌भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अंतर्गत कुछ दूर तक चलने वाले न जाने कितने छोटे-छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है।[1]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६६

□ डा० भागीरथ मिश्र

सूर-साहित्य का रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव

'भागवत' का मूलतः आधार ग्रहण करते हुए भी सूर-साहित्य की अपनी मौलिकता है, और उसने न केवल भक्ति-संबंधी, वरन् समवर्ती एवं परवर्ती साहित्य की अन्य धाराओं को भी प्रभावित किया है, यह एक तथ्य है।

सूर-साहित्य का प्रभाव किन-किन रूपों में साहित्य की अन्य धाराओं पर पड़ा है, यह तभी भली-भाँति जाना जा सकता है, जब हम सूर-साहित्य की अपनी विशेषताओं का विश्लेषण करें। सूर-साहित्य की इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूपों में देख सकते है :

(क) गेय मुक्तक, (ख) नखशिख-सौंदर्य-चित्रण, (ग) उन्मुक्त संयोग-शृंगार-वर्णन, (घ) मार्मिक विरह, (ङ) राधाकृष्ण का नायिका-नायकत्व, (च) आलंकारिक शैली।

सूर-साहित्य की इन विशेषताओं का प्रभाव समवर्ती कृष्ण और रामकाव्य पर तो पड़ा ही है, परवर्ती भक्ति और शृंगार-काव्य पर विशेष रूप से पड़ा है। समवर्ती प्रभाव के प्रसंग में यह सर्वविदित तथ्य है कि सूर-साहित्य का प्रभाव किस प्रकार अष्टछाप के तथा वल्लभ-संप्रदाय के अन्य कवियों, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय के कृष्णकाव्य पर पड़ा है। इतना ही नहीं, गोस्वामी तुलसीदास की 'रामगीतावली' और 'कृष्णगीतावली' भी मूलतः सूर-साहित्य से प्रेरित हैं। 'गीतावली' के अनेक पद केवल नाम-भेद से 'सूरसागर' के ही पद हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूरदास के पद-साहित्य का अपने समय में भी एक व्यापक आकर्षण था और उसी प्रकार के पदों की रचना करना कवि के लिए एक गौरव की बात थी। इसके परिणामस्वरूप न केवल भक्तिकाल में, वरन् रीति या शृंगारकाल में भी विशाल पद-साहित्य की रचना हुई। कृष्णभक्ति-साहित्य के विभिन्न

संप्रदायों से संबद्ध अनेक कवि हमें रीतिकाल में मिलते हैं। इतना ही नहीं, आधुनिक काल तक सूर की पद-परंपरा चली आयी है।

हमारे बहुत से साहित्य के इतिहासकार, जो रीतिकालीन-साहित्य को एक रँगे चश्मे से देखते हैं, यह जानकर शायद आश्चर्य करें कि वीर, नीति, ज्ञान-बैराग्य, हास्य-व्यंग आदि से संबंधित जितना प्रचुर काव्य रीतिकाल में रचा गया, उतना पद्यबद्ध रूपमें अभी तक किसी भी काल में नहीं रचा गया। निर्गुण-भक्तिकाव्य का भी विस्तार रीतिकाल में आकर अधिक हुआ है। अस्तु, सूरसागर के पद-साहित्य से प्रभावित होकर कृष्ण एवं रामकाव्य धाराओं में अनेक कवियों द्वारा असंख्य पदों की रचना की गयी। इन कवियों में ध्रुवदास, नागरीदास, चाचा हितवृंदावनदास, गुणमंजरीदास, अलबेलीअलि, ललित किशोरी, रसिकदास आदि प्रमुख हैं। इन कवियों द्वारा लिखित पदसाहित्य में सूरदास के भावों, विचारों और कल्पनाओं का प्रतिबिंब झलकता है।

सूरदास के पदसाहित्य का न केवल कृष्णकाव्य पर ही प्रभाव पड़ा है, वरन् रीतियुगीन रामकाव्य पर भी उसका प्रभाव प्रचुर मात्रा में देखा जाता है। रामभक्ति के रसिक-संप्रदायी कवि १८-वीं और उन्नीसवीं शती में अधिक हुए। रामभक्ति की रसिक-परंपरा पुष्ट और सुदूरवर्ती होते हुए भी इन पर कृष्णकाव्य की मधुर भावना का प्रभाव स्पष्ट है। रामभक्ति की काव्यधारा के प्रसिद्ध कवियों में उल्लेखनीय नाम हैं—रामप्रिया शरण, जानकीरसिक शरण, रसिक अली, प्रेमसखी, प्रेमलता, वनादास आदि। पदसाहित्य की श्रृंगारी लीलाओं का रामकाव्यधारा पर प्रचुर प्रभाव है। इस बात को इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। इस प्रसंग में श्री सीतारामशरण जी 'शुभशीला' का एक पद द्रष्टव्य है :

करत फिरत सैनन से बतियाँ।
सुरति सुहागिन केलि समय की लिखी मदन पतियाँ।
उर उरोज नख रद कपोल की कोर उघर छतियाँ।
मुसकन सकुचन सिय नैनन में नमित पलक करियाँ।
सकुचन भुलकन सिय प्यारी उर 'शुभशीला' बिकियाँ॥

इसी प्रकार के पद हैं जिन पर सूरसाहित्य की कंजलीला का प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है। इस प्रकार रीतिकालीन गेय साहित्य पर अतिशय रूप से सूरसाहित्य का प्रभाव है। सगुण-भक्तिकाव्य की जितनी भी धाराएँ हैं, वे सूर के पद-साहित्य से प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। यह सूरसाहित्य की गेय मुक्तकता है।

इस गेय मुक्तक शैली में जिन बातों ने सबसे अधिक रूप में परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया उनमें से सर्वप्रथम नखशिख-सौंदर्य-चित्रण है। इस चित्रण के अंतर्गत अंग-प्रत्यंग का वर्णन एक साथ भी मिलता है और एक-एक अंग का वर्णन

अलग-अलग भी। सूरदास ने नेत्रों का विशेष रूप से वर्णन किया है। इस नेत्र-वर्णन के अनेक पद हैं। उनके इस वर्णन के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए हम सूरदास का एक पद देते है :

लोचन मेरे भृंग भए री।
लोकलाज बन-घन बेली तजि, आतुर ह्वै जु गए री।
स्याम रूप रस बारिज लोचन, तहाँ जाइ लुबधे री।
लपटे लटकि पराग-बिलोकिन, संपुट-लोम परे री।
हँसनि प्रकास विभास देखिकैं, निकसत पुनि तहँ पैठत।
सूरस्याम अंबुज कर चरननि, जहाँ तहाँ भ्रमि बैठत॥[1]

उपर्युक्त पद में नेत्र भौंरे हैं। इसी प्रकार के अन्य पदों में योद्धा, ठग, चोर, चकोर, काग, लोभी आदि अनेक रूपों में वर्णित किए गए हैं। इसी प्रकार देव के एक छन्द में नेत्र 'वियोगिनी' रूप में निम्नप्रकार से चित्रित हैं :

वरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते वसन भगौहैं वेस रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं दिन जामिन हूँ जागैं, भौंहैं,
घूम सिर छायो, बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुआ फटिकभाल, लाल जेरे सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिनि, ये
जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ।

इसी प्रकार 'अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी' में देव ने आँखों को मधुमक्खी रूप में व्यक्त किया है। इसी प्रकार सूर के 'देखि सखी अधरन की लाली', 'मुखपर चंद जारों वारि', 'देखो भाई सुंदरता कौ सागर' आदि पदों में नखशिख सौंदर्य की जो कल्पना व्यक्त हुई है, वैसी ही छटा, वलभद्र, रसलीन, ग्वाल आदि के नखशिख-वर्णन में देखने को मिलती है। अनेक कल्पनाओं का उन्मेष इन परवर्ती कवियों को सूरसाहित्य से प्राप्त हुआ है।

रीतिकालीन शृंगारी कवि अपने उन्मुक्त संभोग शृंगार-वर्णन के लिए बदनाम हैं। परंतु यदि हम कालिदास, जयदेव आदि संस्कृत के तथा विद्यापति, सूर आदि हिंदी के कवियों की परंपरा देखें, तो मतिराम, देव, बिहारी, पद्माकर आदि के वर्णन कुछ नहीं हैं। रीतिकालीन शृंगारी कवियों को जहाँ संस्कृत के काव्यशास्त्र और कामशास्त्र के ग्रंथों का आधार मिला, वहीं इनके वर्णन को तात्कालिक प्रेरणा

१. सूरसागर, २८६५

विद्यापति और सूर के साहित्य से मिली है, इसमें संदेह नहीं। सूर के संयोग शृंगार के अनेक पद रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक अश्लील हैं—यदि अश्लीलता का प्रश्न काव्य में उठाया जाता है। इस प्रसंग में भी एकाध उदाहरण तुलना के लिए दे देना आवश्यक है।

सूरदास ने यद्यपि संभोग-शृंगार के प्रसंग में प्रमुखतया राधाकृष्ण के संयोग-विलास का वर्णन किया है, फिर भी कृष्ण का ललिता, चंद्रावली, सुषमा आदि सखियों के साथ केलि-विलास का भी वर्णन कर खंडिता नायिकाओं के प्रसंग प्रस्तुत किए हैं। बिहारी, पद्माकर आदि से अधिक पर-नायिका रति-विलास का स्पष्टीकरण सूर ने किया है और अपने वर्णनों में सूर का इस प्रकार का वर्णन पाकर इन परवर्ती कवियों को संकोच-अनुभव का कोई भी अवसर न रहा। सूर का एक पद है :

तहँइ जाहु जहँ रेनि बसे हौ।
काहे कौं दाहन हौ आये, अँग-अँग चिह्न लसे हौ।
अरगज अंग मरगजी माला, बसन सुगंध भरे हौ।
काजर अधर, कपोलनि बंदन लोचन अरुन धरे हौ।
पलकनि पीक, मुकुर लै देखौ, ये कौनेहीं करे हौ।
सूरदार प्रभु पीठि बलय गड़े, नागरि अंग भरे हौ।।[1]

उपर्युक्त पद में खंडिता नायिका की भर्त्सना वर्णित है। बिहारी और देव के इसी भाव के वर्णन करने वाले छंद इससे कहीं अधिक संयत हैं। उदाहरणार्थ बिहारी का दोहा है :

पलन पीक अंजन अधर, दिये महावर भाल।
आजु मिले सौ भली करि, भले बने हौ लाल।

इसमें व्यंग अधिक है, वाच्य कम और इससे भी संयत देव का इसी भाव को प्रकट करने वाला छंद है :

भौरे हौ भूरी भुराई-भरे अरु भाँतिन भाँतिन के मन भाये।
भाग बड़ी वरू मामता को जेहि मामते लै रंग भौन बसाये।
भेष भलौई भली विधि सौं करि भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हौ, भली सिख दीनी, भली भई आज भले बनि आये।

स्पष्ट देखा जा सकता है कि परवर्ती दोनों कवियों पर सूर का प्रभाव है, पर उनमें अधिक संयम एवं व्यंगात्मकता है।

इतना ही नहीं सूरसागर के पदों में संयोग क्रीड़ा का डटकर वर्णन है। यह रतिक्रीड़ा कुंजभवन में एक बार नहीं अनेक बार वर्णित हुई। प्रत्येक मान के बाद

१. सूरसागर, ३१२०

राधा और कृष्ण का रतिउत्सव जैसा सूरसागर में वर्णित है, वैसा किसी भी रीतिकालीन कवि ने वर्णित करने का साहस नहीं किया, परंतु इसमें संदेह नहीं कि नायिका भेंट और संयोग-शृंगार इन कवियों ने विद्यापति और सूर के काव्य से प्रभावित होकर लिखा है। इन उदाहरणों को देने की आवश्यकता नहीं। संयोगक्रीड़ा के बाद राधा-कृष्ण के स्वरूप का वर्णन करने वाला एक पद इस प्रकार है :

अरुझि रहे मुक्त निरुवारिति, सोहत घूँघवारे बार।
रति मानी संग नंद नंदन के, टूटे बंद कंचुकी हार।।
निसि के जागे दोऊ नैना, ढरकि रहे जीवन मदभार।
सूर स्याम यह अति अनुपम सुख देखत रीझे बारंबार।

उपर्युक्त प्रकार के वर्णनों का ही प्रभाव 'मतिराम' तथा अन्य कवियों के वर्णनों पर देखा जाता है। जैसाकि इन पंक्तियों से स्पष्ट है :

केलि कै रति अघाने नहीं, दिनही में लला पुनि घात लगाई।
(मतिराम)

आपुस में रस मैं रहसैं बहतैं, बनि राधिका कुंज बिहारी।
स्याम सराहत स्याम की पागहिं, स्याम सराहत स्यामा की सारी।
एकहि आरसी देखि कहै तिय, नीको लगै पिय प्यो कहै प्यारी।
'देव' सु बालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी।
(देव)

कुंज भवन तजि भवन कौ, चलिए नंद किसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर।। (बिहारी)

कृष्णकाव्य के रचयिता भक्तों की उद्भावना राधा-कृष्ण-लीला संबंधी नई-नई कल्पनाओं के उन्मेष में देखी जाती है। इनके अंतर्गत रूपसौंदर्य भी है और क्रिया-चेष्टा-सौंदर्य भी। राधाकृष्ण-संवाद तथा इनकी पारस्परिक क्रीड़ा के अनेक प्रसंग हैं, जो आगे के कवियों के लिए प्रेरक सिद्ध हुए हैं। सूर का प्रसिद्ध पद है :

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति श्रवननि नंद ढोटा करत फिरत माखन-दधि-चोरी।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिली जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका गोरी।।[१]

१. सूरसागर, १९९१

राधाकृष्ण का संवाद कितना चोखा और सहज है। इस प्रकार के संवादों और प्रसंगों की कल्पना रीतिकाल में भी हुई है। कविश्रेष्ठ कालिदास 'महाकवि' का एक छंद है :

राधिका, माधव एक ही सेज पै धाइ लै सोई सुभाय सलौने।
पारे 'महाकवि' कान्ह को मध्य में राधे कही यह बात न होने।
साँवरे सो मिलि है हौन साँवरी, बावरी बात सिखाई है कौ ने।
सोने को रंग कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने ॥

इस छंद से, राधा के स्वभाव की चटकाई और उन्हें अपने रूप का गर्व शैशवावस्था से ही था, यह बात प्रकट होती है। सोने और कसौटी का उदाहरण बड़ा सटीक है। इसी प्रसंग से 'देव' का एक छंद स्मरण आ रहा है, जिसमें इस उपमा का और भी मार्मिक उपयोग किया गया है। छंद इस प्रकार है :

ओझिल ह्वै आई, झुकि उझकी झरोखा,
रूप-झरसी झलकि गई झलकनि झाँई की।
पैने अनियारे कै सहज कजरारे चख-
चोट-सी चलाई चितवनि चंचलाई की।
कौन जानै को ही उड़ि लागी डीठि मोही उर
रहै अवरोही 'देव' निधि सी निकाई की।
अब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन में,
लागी रहे लीक वाकी सोने-सी गोराई की।

इस प्रकार के अनेक प्रसंगों एवं उदाहरणों की उद्‌भावना की प्रेरणा इन रीति-कालीन कवियों को सूरसाहित्य से प्राप्त हुई है। एक और प्रसंग 'आँख मिचौनी' खेल का है। राधा के नेत्र बड़े-बड़े हैं, अतः वह हाथ से मीचे जाने पर भी खुले रहते हैं। सूर ने इसका वर्णन सीधे-सहज रूप में इस प्रकार किया है :

ठाढ़ी कुँवरि राधिका लोचन मीचत तहँ हरि आये।
अति बिसाल चंचल अनियारे हरि हाथन न समाये ॥

परंतु इससे स्फूर्ति पाकर रीतिकाल के एक कवि ने इस खेल का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया है :

कानन लौं अँखियाँ हैं तिहारी, हथेली हमारी कहाँ लगि फेलि हैं।
मूँदेहुँ पै तुम देखि हौं हीं, यह कौरे तिहारी कहाँ धौं सकेलि हैं।
कान्हा हू को सुभाव यहै उनको हम हाथन ही पर मेलि हैं।
राधे जू मानौ भलौ कै बुरो, अँखमूदिबो संग तिहारे न खेलि हैं।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से हम देखते हैं कि सूरसाहित्य के प्रसंगों का सुंदर विकास रीतियुग में हुआ है और अनेक कवियों ने उससे प्रभाव प्राप्त किया है।

सूरसाहित्य की एक अन्य विशेषता विरह-वर्णन की है । सूर से इतर परंपरा के काव्य में विरह-वर्णन सहज एवं अभिधापरक है । जायसी आदि प्रेमाख्यानकार तथा रासो काव्यों में प्राप्त विरह में ग्राम्य विशेषता के दर्शन अधिक होते हैं, परंतु, सूर का विरह-वर्णन विदग्ध, नागरिक एवं अधिक व्यंजनापूर्ण है । परवर्ती रीतियुग के शृंगारी कवियों ने भी सूर की परिपाटी का विकास किया है ।

संयोग-वर्णन के समान ही, वरन् उससे भी अधिक विस्तृत सूर का वियोग-वर्णन है । सूर के इस वियोग-वर्णन में गोपियाँ कोरी ग्रामवासिनी नहीं, वरन् मार्मिक व्यंग्योक्ति करने वाली हैं । वे कभी चतुर नायिका हैं, तो कभी कुशल दूती, और इस दृष्टि से उनमें विदग्ध नागरिकता के संस्कार हैं । इसका कारण है गोपिकाएं केवल गोकुल या बरसाने की रहने वाली अपढ़ ग्वालिनी नहीं हैं, वरन् वे नित्यरास में सम्मिलित होने वाली भगवान् कृष्ण और उनकी शक्ति राधा की सखियाँ हैं । इसी प्रतीकात्मकता के कारण उनके वाक्यों में अपने विशिष्ट संबंधों के संस्कार विद्यमान हैं । संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में उनके कथन में विदग्ध नागरिकता की विशेषता देखने को मिलती है । वह उन पुरुष-प्रकृति रूपा कृष्णराधा के लीला-विलास का अंग हैं अतः वह उनमें अपेक्षित है । इस प्रकार सूर की मार्मिक उक्तियाँ सकारण हैं ।

सूर के वियोग-वर्णन की इस मार्मिक विशेषता का प्रभाव रीतियुगीन कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है, परंतु उनकी विदग्ध उक्तियों का कारण उपर्युक्त नहीं । यह बात संयोग-शृंगार के वर्णन के संबंध में भी कही जा सकती है । उपर्युक्त प्रतीकात्मकता के होने के कारण सूर का शृंगारवर्णन अश्लीलता के धरातल से ऊपर माना जाता है, और इसी के अभाव में रीतिकालीन शृंगारी कवियों का काव्य अश्लील कहा जाता है । मेरा विचार है कि प्रभावग्रहण के प्रसंग में वह प्रच्छन्न प्रतीकात्मकता समग्र महत्त्व नहीं रखती और कोई भी पूर्वाग्रहरहित व्यक्ति दोनों ही प्रकार के काव्यों में एक ही कोटि का भावनात्मक प्रभाव प्राप्त कर सकता है । अतः सूर के भी रतिविलास-वर्णन उसी प्रकार के हैं या कहे जा सकते जिस प्रकार रीतिकवियों के ।

खैर, यह बात तो प्रासंगिक थी । विरह-वर्णन की मार्मिक व्यंग्योक्तियों का प्रभाव परवर्ती काव्य पर यथेष्ट मात्रा में देखा जाता है । सूरदास के चंद्रोपालंभ, नेत्रोपालंभ, मुरली व्यंग्योक्तियाँ तथा भ्रमर-गीत-प्रसंग उल्लेखनीय है । इनके प्रभाव स्वरूप रीतिकालीन काव्य में अनेक छंद देखे जा सकते हैं । कुछ छंद ये हैं :

साँसन ही सौं समीर गयौ अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
जीव रह्यौ मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिनतैं मुख फेरि हरे हँसि, हेरि हियो जु लियौ हरिजू हरि ।। (देव)

हौं हीं बोरी विरहबस, के बौरौं सब गाँव।
कहा जानिये कहत हैं, ससिंहि सीतकर नाँव ॥
बाल बेलि सूखी सुखद इहिँ रूखी रुख-घाम।
फेरि डहडही कीजियै सरस सींचि, घनश्याम ॥
सोवत सपने स्यामघन हिलमिलि हरत वियोग।
तबही टरि कितहूँ गई नींदहु, नींदन जोग ॥ (बिहारी)

आपुहिं आपु पै रूसि रहै कबहूँ पुनि आपुहिं आप मनावै।
त्यौं 'पद्‌माकर' ताकि तमालनि भेंटिनो को कबहूँ उठि धावै।
जौ हरि रावरो चित्र लखै तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल बाल सु आँखिन सों कह्यौ चाहै कछू तौ कछू कहिआवै। (पद्‌माकर)

ये छंद राधा की विरहदशा के सूर के पदों से काफी साम्य रखते हैं। देखिए सूर के पद :

(क) ऊधौ देखेही ब्रज जात। (४६९२)
(ख) कर कंकन तैं भुँज टाड़ भई। (४६७८)
(ग) कोउ माई लैहै री गोपालहिं। (२२५७)
(घ) सुपने हरि आए हौं किलकी। (३८७९)

न केवल विरह के वरन् संयोग-श्रृंगार के भी अनेक मार्मिक चित्रण कवियों ने किए हैं, जिनपर सूरसाहित्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। ये प्रसंग जीवन को बहुविध रूप प्रस्तुत करते हैं। इनमें से प्रमुख-गोचारण, होली, जलक्रीड़ा के प्रसंग हैं, जो विशेष उल्लेखनीय हैं। गोचारण के प्रसंग भी सूर के सहज स्वाभाविक हैं, जिनमें कृष्ण का माता को उलहना, गाएँ घेरना, छाक खाना, खेलना, चिढ़ाना आदि हैं। रीतिकालीन कवियों ने इस गोचारण के प्रसंग को अधिक नहीं लिया। एकाध छंदों में फिर भी उसके मार्मिक संकेत हैं। इस प्रसंग में मतिराम का एक छंद गोपी-उपालंभ के रूप में बड़ा चटकीला है :

मानहु पायौ है राज कहूँ चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े।
गुंज गरे सिर मोर पखा मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोरयो हरा, करसों पकरे रही चूनरी पोढ़े।
ऐसेहि डोलत छैला भये तुम्हें लाज न आवति कामरि ओढ़े ॥

कमरी ओढ़कर छैलापन के काम करने पर गोपिका का कितना तीखा व्यंग्य है।

जलक्रीड़ा के प्रसंगों में भी यह कहा जा सकता है कि सूर का वर्णन सहज सीधा-सादा है, परंतु रीतिकालीन कवियों का अधिक विशद् है। उन्होंने विद्यापति की सद्यःस्नाता से अधिक प्रभाव ग्रहण किया है, ऐसा जान पड़ता है। स्नान के प्रसंग का सूर का एक पद इस प्रकार है :

राधा जल बिहरति सखियनि सँग।
ग्रीव-प्रजंत नीर मैं ठाढ़ी, छिरकति जल अपनैं अपनैं रँग॥
मुख भरि नीर परसपर डारति, सोभा अतिहिं अनूप बढ़ी तब।
मनहु चंदगन सुधा गँडूषनि, डारति हैं आनंद भरे सब॥
आईं निकसि जानु कटि लौं सब, अँजुरिनि तैं लै लै जल डारति।
मानहु सूर कनक-बल्ली जुरि, अमृतबूँद पवन-मिस झारति॥[1]

सूर के इस सहज वर्णन में कलाकार की पैनी सौंदर्य दृष्टि नहीं है और न इस दृश्य को देखकर उठती भावनाओं का ही रंग चढ़ पाया है, परंतु रीतिकालीन कवियों का वर्णन ऐसा निरीह एवं वासनाशून्य भला कैसे हो सकता है ? अतः वे प्रौढ़ सरसता से युक्त जलक्रीड़ा के प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। इस प्रसंग में बिहारी, देव और पद्माकर के छंद बड़े रोचक हैं, देखिए :

मुहुँ धोवति, एँडी घसति, हसति अनगवति तीर।
धसति न इंदीवरनयनि, कालिंदी कैं नीर॥
विहँसति, सकुचति-सी, दिऐं कुच-आँचर-बिच बाँह।
भीजें पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह॥
नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुँट्यो तकि तीर।
परसि, फुरहरी लै फिरति, बिहँसति, धँसति न नीर॥
मुँह पखारि, मुँड़हरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूँटेनुतैं, नारि सरोवर न्हाइ॥[2]

इन दोहों में स्नान की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है वह काफी स्वाभाविक है। इस प्रसंग में देव का स्नाता का वर्णन बड़ा ही सुंदर है :

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल उरोज आभा आभासे अधिकसी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकनकी,
बिना बेंदी बंदन वदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप पुंज,
गुंजरत मंजुवर बोले बाल पिक सी।
मीबी उकसाय, नेक नैनन हँसाय, हँसि,
ससि मुखी समुचि सरोवर ते निकसी॥ (देव)

इस वर्णन में चेष्टाओं और सौंदर्य का वर्णन अधिक चटकीला है। यह स्वाभाविक क्रियाओं के साथ आंतरिक भाव-विश्लेषण से भी युक्त है। कविवर पद्माकर ने

१. सूरसागर, २३७१ २. बिहारी सतसई, ६६७, ६६३, ६४५, ६६६

केवल नहाती ही नहीं, वरन् तैरती हुई बाला का चित्रण किया है जो अधिक संयत एवं आलंकारिक है :

जाहिरे जागति सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पद्माकर' हीरा के हारनि गंग तरंगनि की छवि देनी।
पाइन के रंग सों रँगि जात सी भाँतिही सरस्वति सेनी।
पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होति त्रिवेनी ॥

क्रिया-कलाप एवं चेष्टागत सौंदर्य का और भी अधिक चोखा रूप होली या फाग-वर्णन के प्रसंग में प्रस्फुटित हुआ है। सूर-साहित्य के होली-फाग-वर्णन का प्रभाव भी आगे के कवियों के षट्ऋतु-वर्णन पर खूब पड़ा है। होली-वर्णन का सूर का एक पद इस प्रकार है :

सौंधे की उठति झकौर, मोहन रंग भरे।
चौवा चंदन अगरु कुंकुमा, सौ हैं माट भरे।
रतन जटित पिचकारी कर गहे, बालक बृंद खरे।
भरि पिचकारीं प्रेम सौं डारी, सो मेरे प्रान हरे।
सब सखियनि मिलि मारग रोक्यौ, जब मोहन पकरे।
अंजन आँजि दियौ अँखियनि मैं, हा हा करि उबरे।
फगुवा बहुत मँगाइ साँवरे, कर जोरे अरज करे।
धनि धनि सूर भाग ताके, प्रभु जाकैं सँग बिहरे ॥[१]

सूरदास के उपर्युक्त होली-क्रीड़ा के पद को पढ़ते ही पद्माकर के सुप्रसिद्ध छंद का अनायास ही स्मरण आ जाता है, जो इस प्रकार है :

फागुन की भीर अमीरन की गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितंबर कंमर ते सुबिदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाई, लला फिर आइयो खेलन होरी।

इस प्रकार जीवन के मार्मिक चित्रणों, विशेष रूप से संयोग और वियोग से संबंधित पक्षों के वर्णन में सूरसाहित्य का बड़ा व्यापक प्रभाव रीतिकालीन काव्य पर पड़ा हुआ देखा जा सकता है।

सूरसाहित्य की एक विशेषता है, जिसका भी प्रचुर प्रभाव परवर्ती काव्य पर पड़ा है, वह है कल्पनाशील अलंकृत वर्णनशैली की विशेषता। सूर अपनी उत्प्रेक्षाओं की कल्पना के लिए प्रख्यात हैं। उसी के प्रभाव को ग्रहण कर अपने रूपवर्णन एवं

---

१. सूरसागर, ३५१५

सौंदर्य-चित्रण में रीतिकालीन कवियों ने भी खूब उत्प्रेक्षाएँ की हैं। शायद सामान्य नायक-नायिका के वर्णनों में कल्पना की उतनी स्फूर्ति न मिलती। परंतु राधा और कृष्ण के अलौकिक रूप-सौंदर्य-चित्रण में अनेक उद्भावनाएँ की हैं, जो कहीं-कहीं अधिक ऊहात्मक और अलंकृत हो गई हैं। फिर भी सूर-साहित्य का प्रभाव ग्रहण करके चरम सौंदर्य की कल्पना का मार्ग इन कवियों के समक्ष प्रशस्त हो गया था। राधा के शुभ्र गोरे वर्ण सौंदर्य तथा उनके कोमल कलेवर के वर्णनों से प्रेरित होकर बिहारी जैसे कवियों ने निम्नलिखित प्रकार के दोहों की रचना की :

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास ॥
मानहुँ बिधि तन-अच्छछबि स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज।
मैं बरजी कै बार तूँ, इत कित लेति करौट।
पँखुरी लगै गुलाब की, परिहैं गात खरौट ॥
लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥[1]

इस प्रकार रूप-सौंदर्य, सुकुमारता एवं कोमलता के चित्रण में इन परवर्ती कवियों को सूरसाहित्य से प्रचुर प्रेरणा मिली जो कि बिहारी, देव, पद्माकर, दास, घनानंद से लेकर हरिश्चंद्र तक के काव्य में प्रतिबिंबित है।

इसी प्रसंग में एक बात और कहकर यह विश्लेषण समाप्त करूँगा। उपर्युक्त अनेक प्रकार के वर्णनों में सूर ने राधा और कृष्ण के दो पक्ष सामने प्रस्तुत किए हैं— एक तो अलौकिक अवतारी पुरुष-प्रकृति का और दूसरा सुंदर नर-नारी का। अपने दूसरे रूप में वे नायक-नायिका के रूप में बड़े चोखे रूप में प्रकट हुए हैं। नर-नारी सुलभ शैशव से लेकर युवावस्था तक की जो सामान्य जीवन की सजीव, मनोहारी लीलाएँ हैं, वे कृष्ण और राधा को अलौकिक व्यक्तित्व की अपेक्षा मनोहारी क्रिया-कलापों में संलग्न स्फूर्तिमय रूप से मंडित शोभा संपन्न नायक-नायिकाओं के रूप में अधिक प्रस्तुत करती हैं।

उपर्युक्त प्रकार के चित्रण से रीतिकाल के कवियों ने मानो अपने लिए एक अबाध मार्ग प्राप्त कर लिया। नायक-नायिकाओं के व्यक्तित्वों से जीवन के समग्र युवासुलभ क्रिया-कलाप, लीला-विलास एवं रूपमाधुर्य की कृष्ण-राधा की विशेषताओं के आरोप के साथ कल्पना खूब हुई और समस्त नायक-नायिकाओं में मानों कृष्ण राधा ही बन गयीं। कृष्ण-राधा के व्यक्तित्व को सामान्य जीवन की कार्य-चर्चा में

१. बिहारी रत्नाकर, ७३, ४१३, २५६, ३४७

उतारने का यह एक स्वाभाविक परिणाम था। यहाँ पर यह विचार करना अभीष्ट नहीं कि इससे क्या हानि-लाभ हुआ। सूर-तुलसी आदि भक्त कवियों ने तो उस अलौकिक परब्रह्म को हमारे जीवन के बीच उतारा था और इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप को एक शुचिता और पवित्रता प्रदान की थी। उस दृष्टिकोण का एक सहज विकास रीतिकालीन काव्य में देखने को मिलता है, जिसमें कृष्णराधा पर आरोपित जीवन की विशेषताओं को लौकिक नायक-नायिकाओं या लौकिक युवा-युवतियों पर आरोपित किया गया है। हम कह सकते हैं कि इन परवर्ती कवियों में युवा-सुलभ दृष्टि से जीवन को सौंदर्य एवं प्रेम की भावना से ओतप्रोत रूप में देखने की विशेषता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। यदि इन कवियों ने अपने साहित्य के वर्णनों से हमें प्रत्येक अवस्था में युवा-भावनाओं से, युवा-दृष्टि से संपन्न करना चाहा, तो इसमें उन्होंने कोई गुनाह नहीं किया। मेरी दृष्टि से जीवन में उसी भावना को उतारने के लिए भक्ति के भीतर उस मधुरभावना को घोला गया था, जिससे निराशा और शुष्कता न आने पाए। इसी दृष्टिकोण का सूरसाहित्य का प्रभाव परवर्ती काव्य पर प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है, जिसका कुछ संकेत इस निबंध में किया गया है।

☐ डा० हरगुलाल

सूर-काव्य में ब्रज-संस्कृति

सूर ने अपने परमाराध्य की अष्टयाम-चर्या और वर्षोत्सव-क्रम में लिखे गए पदों के अंतर्गत समाज के विविध पहलुओं को बड़ी स्पष्टता के साथ उजागर किया है। कृष्ण को काव्य का आलंबन बनाकर कवि ने जिस लोकोन्मुखी काव्य-धारा का निर्माण किया वह चिरकाल तक प्रवाहित होती रहेगी तथा उसे देश और काल की सीमाओं के अंतर्गत बाँधकर रख नहीं सकते। परवर्ती कवियों ने उसे अत्यधिक समृद्धि प्रदान की।[1] केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस धारा की संभावनाएँ अनंत हैं तथा इसका वेग भी अमंद है। नेत्रविहीन सूर, जो जीवनारंभ से लेकर जीवनावसान तक ब्रज में ही रहे और कबीर के समान देश के सभी छोरों तक न पहुँच सके—ब्रज-जीवन के अच्छे पारखी थे। अपने काव्य में उन्होंने ब्रज के सभी संस्कारों, धार्मिक विश्वासों, तात्कालिक सभी प्रथाओं, रहन-सहन, अनेक व्यवसायों, परंपरागत रूढ़ियों, पर्वों और उत्सवों, सम्मोहन, जादू-टोना, ताबीज, भाग्य एवं डिठौना आदि का आकलन जिस पटुता से किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। समग्र जीवन को इस प्रकार किसी अन्य कवि ने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है, यह सूर की अपनी विशेषता है और वही इसके आद्य पुरस्कर्ता हैं।

सूर ने ब्रज-नायक कृष्ण के आलंबनत्व में शैशव और यौवन की अन्यान्य क्रीड़ाओं एवं रँगरेलियों का अभिव्यंजन करने वाले जिस समाज की स्थापना की है, वह आकार में लघु होते हुए भी श्रेष्ठता में महान है। शिशु (बालक कृष्ण) इस समाज की धुरी है। प्रत्येक पात्र किसी न किसी रूप में शिशु के साथ अपना संबंध बनाए हुए है। माँ (मैया), बाप (बाबा), भैया (दाऊ), प्रेयसी, सखाओं, अन्यान्य

१. द्रष्टव्य—सूर साहित्य का रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव, डा० भगीरथ मिश्र

गोप-बधुओं, पड़ौसियों, सेवकों और शत्रुओं से निर्मित इस समाज की प्रमुख विशेषता इसकी वर्ण-व्यवस्था है। इस समाज में वर्ण-व्यवस्था का पालन बड़ी कठोरता से होता था। इस काल में जहाँ एक ओर भक्त लोग जाति, गोत्र अथवा कुल को मान्यता न देकर रामभक्त वत्सल अपना बाना बतला रहे थे, वहाँ दूसरी ओर समाज में ऊँच-नीच के भाव को लेकर कृष्ण-कुब्जा के असमान संबंध पर 'काग हंस की संगति'; 'लहसुन संग कपूर' अथवा शूद्र के साथ ब्राह्मण का भोजन करना जैसे विविध रूपों में विचार किया जा रहा था।[1] समाज में सर्वत्र ब्राह्मणों का सम्मान होता था। कृष्ण के जन्म लेने पर नंद ब्राह्मणों को बुलाकर चंदन का तिलक करते हैं, 'पहिरावनी' पहनाते हैं, पैर पड़ते हैं तथा ताँबे के खुर, चाँदी की पीठ एवं स्वर्ण के सींगों वाली अगणित गायें उन्हें दान में देते हैं।[2] सूर-सारावली में राम-सीता का विवाद वेद-विहित रीति से हुआ है, जिसमें होम-हवन के अतिरिक्त द्विज, गणपति, सूर्य, शुक्र, महेश आदि की उपासना तथा जनक के द्वारा द्विजों को दान देने का उल्लेख मिलता है। हमारे निर्दिष्ट काल में समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि हर छोटे-बड़े कार्य को परिसंपन्न कराने के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित किया जाता था। कृष्ण को गोचारणार्थ जाते देखकर द्विजगण का 'असीस' पढ़ना, 'दूध दुहना' सीखने में विप्रों का मंत्रोच्चारण करना एवं गोवर्धन-पूजा के अवसर पर ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ कराने में हमारे इसी मत की पुष्टि हुई है। भोजन बनाने से पहले 'चौका लीपना', किसी अन्य के प्रवेश से उसका उच्छिष्ट हो जाना, रसोई बनाकर नाना पदार्थों का आराध्य देव को भोग लगाना आदि कार्य ब्राह्मणों के जीवन में बाह्याचरण और कर्मकांडों की प्रधानता व्यक्त करते हैं।[3] भागवत-प्रसंग में युधिष्ठिर द्वारिका से लौटने वाले खिन्न अर्जुन से पूछते हैं कि किसी के ब्राह्मण को धन न देने से अथवा शरणागत की रक्षा न करने से तो कहीं तुम अप्रसन्न नहीं हो,

---

१. (क) राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं, रंक होइ कै रानौं। सूरसागर, ११
(ख) कंस बध्यौ कुबिजा कैं काज।
और नारि हरि कौं न मिली कहुँ, कहाँ गँवाई लाज।
जैसे काग हंस की संगति, लहसुन संग कपूर।
× × ×
भोजन साथ सूद्र बाम्हन के, तैसौ उनकौ साथ! सूरसागर, ३७७०

२. घसि चंदन चारु मँगाइ, विप्रनि तिलक करे।
द्विज-गुरु-जन कौं पहिराइ, सबकैं पाइ परे।
× × ×
खुर ताँबैं, रूपैं पीठि, सोनैं सींग मढ़ीं।
ते दीन्हीं द्विजनि अनेक, हरषि असीस पढ़ी। सूरसागर, ६४२

३. सूरसागर, ८६६, ८६७

और निश्चय ही ये बातें उस काल में क्षात्रधर्म की मूलाधार मानी जाती थीं। सूर ने वाणिज्य और कृषि-कर्म के प्रसंग में वैश्यों का सुविस्तृत उल्लेख किया है।[१] एक अन्य पद में गोपियों ने कृष्ण-कुब्जा के पारस्परिक संबंध की अनुपयुक्तता पर विचार करते हुए तत्कालीन समाज में उच्चवर्ग वालों के बीच में शूद्रों की स्थिति पर विचार किया है।[२]

सूर के समय में आश्रम-व्यवस्था लगभग समाप्त हो चुकी थी। 'सूरसागर' में कुछ प्रसंग गृहस्थाश्रम के मिलते हैं और वह भी इसलिए कि 'अलख' की पुकार लगाने वाले संन्यासियों के निराशामूलक स्वर को रोकने के लिए कुछ भक्तकवियों की तरह सूर ने जीवन की मान्यताओं की पुनर्स्थापना की थी। उद्धव एक पद में गोपियों से श्रीकृष्ण के ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ सभी कुछ होने की बात कहते हैं और गोपियाँ रसिकवृत्तिधारी कृष्ण के साथी को संन्यास से क्या काम कहकर संन्यासाश्रम की ओर संकेत करती हैं।[३]

शिशु कृष्ण और यशोदा के स्नेह की व्यापक परिधि में परिवार के दूसरे सदस्यों को समेटते हुए सूर ने पारिवारिक जीवन के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे अपने आप में बेजोड़ हैं। इस दृष्टि से उनकी रचना कौटुंबिक जीवन का एक सफल उपाख्यान कहला सकती है। यशोदा को पुत्र की प्राप्ति जैसे-तैसे नाना प्रकार के उपक्रमों के बाद हुई है।[४] यशोदा गद्-गद् कंठ से 'देव परसन भए' ऐसा कहकर नंद को पुत्र का मुख दिखलाती हैं।[५] नंद पुत्र का मुख देखने के बाद नांदी तथा पित्रों की पूजा करते हैं, चंदन घिस कर विप्रों को तिलक करते हैं, द्विज एवं गुरुजनों को 'पहिरावनी' कराकर उनके चरण छूते हैं।[६] 'नार'-छेदन हो रहा है और दाई नेग के लिए झगड़ा कर रही है।

सूर ने कृष्ण के जन्मोत्सव का बड़ा लौकिक चित्र उतारा है। ब्रज-बधुएँ सहज शृंगार किए हुए स्वर्ण-निर्मित थालों में दूब, दधि, रोचन रखकर बधावा ले जा रही हैं। हर्ष-विह्वल नर-नारी निसान बजाते, गीत गाते और उछल-कूद करते नंद के घर की ओर बढ़े जा रहे हैं। लोग नंद को ताली दे-देकर नचा रहे हैं। चंदन, चोवा, अबीर और पीली दही इतनी अधिक छिड़की गई है कि फिसलन हो रही है, लोग फिसल रहे हैं और दूसरे लोग उन्हें गोद में भर-भर कर उठा रहे हैं। इस अवसर पर नंद लोगों को दान देना, सेवकों को नेग देना एवं परिचितों को सुंदर-सुंदर वस्तुएँ भेंट करना नहीं भूलते हैं।[७] सोहर के गीतों की मधुर ध्वनि फैल रही

१. सूरसागर, ३१०, ४२८१, ४५०८ २. सूरसागर, ३७७०

३. सूरसागर, ४२११, ४७१२

४. ढोटा एक भयौ कैसहु करि, कौन-कौन करबर विधि मानी। सूरसागर, ६८६

५. आवहु कंत, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाई। सूरसागर, ६३१

६. सूरसागर, ६४२ ७. सूरसागर, ६२२ से ६५६

है। इन्हीं गीतों के स्वरारोहावरोह में काजल और रोली के योग से छठी का चार बनाया जाता है।[१] इस अवसर पर 'चिहुरका' नाम का लोकगीत भी गाया जाता है।[२] शिशु की माता को गालियाँ देना इस गीत का प्रतिपाद्य है।

जातकर्म के बाद कृष्ण का नामकरण होता है। यहसंस् कार पूर्णतः पौरोहित्य संस्कार है। अतः इस संस्कार पर गीतों की ध्वनि के स्थान पर वेदमंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ा करती है। आदि ऋषि लग्न शोधकर, ज्योतिष गिनकर और बहुत-सी बातों का विचार करके नाम सुनाता है। छठे महीने में बालक को अन्नप्राशन कराया जाता है। यह संस्कार तभी कराया जाता है जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य हो जाती है। नंद-यशोदा यह सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं कि कृष्ण अन्न-प्राशन योग्य हो गए हैं। यशोदा 'मणि-कांचन' के थार भराती हैं, नाना प्रकार के व्यंजन तैयार करवाती हैं, ब्रज-बधुओं और युवतियों को आमंत्रित करती हैं, जो मेहरि को गाली गाती हैं और महर को गाली देती हैं। नंद स्वर्णथाल में खीर, घृत और मधु डालकर अपने हाथ से बालक का मुँह जूठा कराते हैं।[३] इनके अतिरिक्त वर्षगाँठ, कर्णछेदन, यज्ञोपवीत और विवाहादि संस्कारों का सूर ने काफी विस्तृत वर्णन किया है। वर्षगाँठ के अवसर पर महराने टोल में मंगलध्वनि हो रही है। नंद प्रसन्नचित्त इधर-उधर घूम रहे हैं तथा फूल-तमोल मँगा रहे हैं। यशोदा कृष्ण का उबटन करके स्नान करा रही हैं।[४] कृष्ण के गले में मणिमाला, अंगों पर आभूषण, सिर पर चौतनी, डिठौना तथा आँखों में काजल लगा हुआ है।[५] इस अवसर पर परंपरानुसार अक्षत और दूर्वादल की गाँठ बाँधने का उल्लेख हुआ है।[६] कर्णवेध के समय यशोदा के हृदय में धुकधुकी होने लगती है। माता इस अवसर पर कृष्ण को कष्ट न हो, इस उद्देश्य से उनका ध्यान दूसरी तरफ आकृष्ट करने के लिए उनके हाथ सुहारी, पूरी और गुड़ पकड़ा देती हैं।[७] कान पर सींक से 'रोचन' का निशान बनाकर कर्णवेध किया जाता है और कानों में स्वर्ण के 'द्वैदुर' पहनाए जाते हैं।[८] कृष्ण का यज्ञोपवीत-संस्कार मथुरा में संपन्न हुआ। यह संस्कार गोकुल में क्यों न हुआ, इस प्रश्न की संभावना पर विचार करते हुए डा० मुंशीराम शर्मा ने दो कारण प्रस्तुत किए हैं—संभवतः आयु में छोटे होने के कारण कृष्ण और बलराम का यज्ञोपवीत संस्कार गोकुल में न हो सका। यह भी संभव है कि आभीर क्षत्रियों का महत्त्व मुगलकाल में क्षीण होने लगा हो और उनके अंतर्गत यज्ञोपवीत-प्रथा का लोप हो गया हो। अतः

---

१. सूरसागर, ६५८
२. सूरसागर, ६४८
३. सूरसागर, ७०४
४. सूरसागर, ७०६
५. सूरसागर, ७१२
६. सूरसागर, ७१३
७. कान्ह कुंवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की। सूरसागर, ७६८
८. सूरसागर, ७६८

जब कृष्ण मथुरा पहुँचे तब इस विस्मृत संस्कार को भी पूरा किया गया है।[१] परमानंद दास ने, अल्पायु के कारण ही कृष्ण का यज्ञोपवीत गोकुल में नहीं हो सका, इस बात की ओर संकेत किया है।[२] इस अवसर पर षड्रस और ज्यौनार होती है। गर्गाचार्य कृष्ण को गायत्री-मंत्र का उपदेश देते हैं।

सूर ने राधा और कृष्ण के गांधर्व विवाह का बड़ा सांगोपांग वर्णन किया है। गोद भरना[३], विवाह-स्थल पर उपस्थित होने के लिए गोपियों को मुरली के स्वर से निमंत्रण देना[४], छप्पन कोटि बरातियों का चलना[५], वधू का गौरी पूजना[६], भाँवरों के लिए मंडप छाना[७] और उसमें कदली-खंभों, विचित्र किसलयदल एवं नाना प्रकार के पुष्पों का होना[८], शुभ मुहूर्त में चौरी का निर्माण होना[९], नाना रूप धारण करके दुलहिन की दूल्हे को देखने की वांछा प्रकट करना[१०], वर को मधुपर्क कराना[११], पाणिग्रहण एवं भाँवर लेना[१२], विवाहोपरांत सोने की कुंडी में पुंगीफल डाल कर वर-वधू का जूआ खेलना[१३], गोप-वधुओं का गाली गाना[१४], दायज अथवा दहेज देना[१५], वधू के वर साथ के लौटने पर भगिनी का आरता करना और माँ का पानी उतार कर पीना[१६], कंकण-मोचन[१७] आदि कुलाचारों, रीतियों और मांगलिक अनुष्ठानों का वर्णन करके सूर ने विवाह को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार के रूप में वर्णित किया है।

सूरसागर के नवम स्कंध में भरत द्वारा राजा दशरथ का अंत्येष्टि संस्कार विधिपूर्वक संपन्न किया जाता है।[१८]

सूर ने गोप, गोप-बंधुओं और सखाओं के मनोविनोदार्थ नाना प्रकार के खेलों और त्यौहारों का वर्णन किया है। बालकों के क्रीड़ा-विनोद में खिलौनों और नाना प्रकार के खेलों; जैसे—दौड़ का खेल[१९], आँख मुदोल का खेल[२०], चौगान का खेल[२१], गेंद-तड़ी का खेल, पीछे से आकर आँख बंद करने का खेल[२२],

---

१. भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ० ३७३
२. परमानंद सागर, ९३
३. सूरसागर, १३२२
४. सूरसागर, १६९०
५. सूरसागर, ४८०४
६. सूरसागर, ४७९९
७. सूरसारावली, ६३९
८. सूरसागर, ४८०३
९. सूरसागर, ४८०४
१०. सूरसागर, ४७९३
११. सूरसागर, ४७८९
१२. सूरसागर, ४७९०
१३. सूरसागर, ४६९
१४. सूरसागर, ६४३, ४८०५, १८३१
१५. सूरसागर, ६२२, ४८०८, ४८१०
१६. सूरसागर, ४८०४
१७. सूरसागर, १६९१
१८. सूरसागर, ५०, ५२
१९. सूरसागर, ८३१
२०. सूरसागर, ८५८
२१. सूरसागर, ८६१, ४७८४
२२. सूरसागर, २८२०

माखन-लीला, गोचारण में अन्यान्य क्रीड़ाओं एवं वंशी-वादन का उल्लेख हुआ है। वन में कृष्ण के सखाओं में से कोई गाता, कोई नृत्य करता, कोई उघरता, कोई करताल बजाता, कोई मुरली बजाता और कोई विषान बजाता।[1] संध्या-समय सखा गायों को घर की ओर फेर देते, वन-प्रांतर में मुरली की मधुर ध्वनि फैल जाती और सभी गोकुल-निवासी हर्षोदधि की उत्ताल तरंगों पर तैरते हुए उल्लसित मन से कृष्ण का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो उठते हैं।[2] उन दिनों वंशी-वादन मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन माना जाता था। नवम स्कंध में बालकों की शर-क्रीड़ा का भी उल्लेख हुआ है।[3] इन सभी खेलों की प्रतिद्वंद्विता और लड़ाई-झगड़ा द्रष्टव्य है :

खेलत श्याम ग्वालिन संग।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रंग।
हाथ तारी देत भाजत सबै करि करि होड़।
× × × ×
मेरी जोरि है श्रीदामा, हाथ मारे जात।
उठे बोलि तबै श्रीदामा जाहु तारि मारि।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा, धर्‌यौ श्याम हँकारि।
जानि कै मैं रह्यो ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहिं।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहि कीन्हौं कोइ।[4]

सूर ने वयस्कों के मनोरंजन की भी विपुल सामग्री प्रस्तुत की है। मल्ल-विद्या[5], मृगया[6], द्यूत-क्रीड़ा[7], चौपड़[8] आदि खेलों में बालकों के खेलों की अपेक्षा बौद्धिक एवं शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन को अधिक अवसर मिला है। वयस्कों के मनोरंजन के अन्यान्य साधनों के अंतर्गत पर्वों और उत्सवों को लिया जा सकता है। समाज को भविष्य के प्रति आशावान् बनाने में पर्वों, उत्सवों और त्यौहारों का योगदान उल्लेखनीय है। सूर ने कुछ त्यौहारों का उल्लेख तो कृष्ण के माध्यम से परंपरा-पूर्ति के लिए किया है, परंतु कुछ त्यौहारों में लोक की प्रसन्नता और उमंग छलक कर बाहर गिर पड़ी है। गनगौर, जन्माष्टमी, अक्षय तृतीया, दशहरा, दीपावली, होली आदि त्यौहारों पर जनमानस हर्ष की रंग-बिरंगी लहरियों से खिलवाड़ करता दृष्टिगोचर होता है। होलिकोत्सव पर पुरुषों की परंपरा में एक-दूसरे को गाली देना, पीछे से आकर आँख बंद करना[9], गोपियों द्वारा कृष्ण को धोखे से घेर कर आँख

१. सूरसागर, १०६६, १०६८
२. सूरसागर, ११२३, ११२४, ११२५
३. सूरसागर, ४६३
४. सूरसागर, ८३१
५. डा० हरगुलाल, मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ० १२७
६. सूरसारावली, १६१, ६६५ तथा सूरसागर १-८७, १०-४२१६
७. सूरसागर, ७१६, ८६४, ६०८
८. सूरसारावली, ६६५
९. सूरसागर, २८२०

चूमना, काजल लगाना, साड़ी पहनाना, माँग पारना, वेणी गूँथना, भाल पर बिंदी लगाकर वधू-वधू कहकर गाना[१], पुरुषों की डंडों से खबर लेना[२] आदि लोकरंजन की प्रकृष्टतम सामग्री है। कवि ने गोवर्धन-पूजा के समय मेले लगने का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है।[३] निश्चय ही उन दिनों लोग मेला आदि में जाकर अपने अवकाश के क्षणों का सदुपयोग करते होंगे। एक अन्य स्थान पर गोपों द्वारा खगों को खिलाए जाने[४] की बात कहकर एवं कृष्ण को गायों के लिए अधिकाधिक चिंताकुल दिखलाकर पशु-पालन को मनोरंजन का एक साधन बतलाया है। लोगों का मनोरंजन करके जीविकोपार्जन करने वाले भाँड़ और नर्तकी का भी उल्लेख हुआ है।

सूर ने तत्कालीन दिनचर्या का बड़ा सुंदर उल्लेख किया है। समग्र नैत्यिक कार्यों का प्रारंभ कृष्ण के जागरण से होता है।[५] तदुपरांत यशोदा केसर का उबटन करके कृष्ण को स्नान कराती हैं[६], और कभी-कभी धूल झाड़कर, तेल-मर्दन कर गर्म जल से स्नान कराती हैं।[७] माता कृष्ण से मुखारी (मुख प्रच्छालन) और दतौनी (दतौन) करने के लिए कहकर नैत्यिक शौचकर्मों की ओर संकेत करती हैं।[८] मुख-धोने के बाद कृष्ण नेत्रों को छींटे मारना और उसे अँगोछना नहीं भूलते।[९] कलेऊ करने के बाद बलराम और कृष्ण गाय चराने को चले जाते हैं।[१०] संध्या समय वन से लौटने पर माँ के स्नेह की व्यापक परिधि में अनेक कार्य सिमिट आते हैं; जैसे—श्रमित पुत्र के पैर पलोटना[११], मधुर-मधुर गाते हुए उसे सुलाने का उपक्रम करना[१२] तथा कभी-कभी उसके कौतूहल के परिशमनार्थ कहानी सुनाना।[१३] सूर ने स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग कार्यों की व्यवस्था की है। प्रातःकाल होते ही स्त्रियों का प्रमुख कार्य दधि-मंथन होता था।[१४] दूध मथने के अनंतर ग्वालिनें लवनी और घृत बेचने मथुरा जातीं[१५], घाट से पानी भरने जातीं और लौटकर रसोई की तैयारी में जुट जाती थीं।[१६] माता यशोदा ने समय-समय पर अपने लाड़ले के लिए दूध के बड़े, पकौड़ी, जलेबी, सकरपारे, सेब, लड्डू, गूझा, मालपुआ, घेबर, खजूरी, पूरी[१७], फेनी, सुहारी,

---

१. सूरसागर, ३४९७
२. सूरसागर, ३५०७
३. सूरसागर, १४९०
४. सूरसागर, ४७६४
५. सूरसागर, १२३७
६. सूरसागर, ८०३
७. धूरि झारि तातो जल ल्याई, तेल परसि अन्हवाइ। सूरसागर, ८४४
८. सूरसागर, १२२७
९. सूरसागर, १०२५, १२२७
१०. सूरसागर, १२३७
११. बदन जंभात, अंब ऐंड़ावत जननि पलोटति पाई। सूरसागर, ८६०
१२. सूरसागर, ८६०
१३. सूरसागर, ८०८
१४. सूरसागर, ६८५
१५. सूरसागर, ९३१
१६. सूरसागर, १५५१, ६११
१७. सूरसागर, ८०१

सीरा[१], खाजा, गोंदपाक, पेठापाक, तिनगरी, गिंदौरी, इलायचीपाक, इमरती, पूआ[२] तथा नाना प्रकार के शाक, अचार आदि तैयार करके ब्रज के परंपरागत भोज्य-पदार्थों का अभिव्यंजन किया है। अवकाश के समय ब्रज-नारियाँ वेशभूषा एवं शृंगार के दूसरे प्रसाधनों के माध्यम से नव-सत शृंगार सजाती थीं।[३] बालकों और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की वेशभूषा अधिक कलापूर्ण होती थी। सूर ने तिपाड़ का लँहगा,[४] पंचरंग साड़ी,[५] कटाव एवं जड़ाऊ अँगिया[६] आदि का उल्लेख करके हमारे मत की संपुष्टि की है। शृंगार-प्रसाधनों के अंतर्गत सूरसागर में उबटन[७], स्नान[८], केश-विन्यास[९], माँग[१०], अंजन[११], महावर[१२], बिंदी एवं तिलक[१३], मुख, चिबुक एवं कपोल पर कृत्रिम तिल[१४], सुगंधित द्रव्य[१५], नाना प्रकार के पुष्पों का प्रयोग[१६], दर्पण-देखना[१७] आदि का उल्लेख हुआ है। सूर ने बालकों एवं स्त्रियों के सिर से पैर तक अनेकानेक आभूषण परिगणित कराएँ हैं।[१८] निश्चय ही सूरसागर में वर्णित स्त्री-पुरुषों की साज-सज्जा जन-मानस की परिष्कृत अभिरुचि की परिचायक है।

कर्मकांडीय जीवन को व्यक्त करते हुए जहाँ कवि ने एक ओर परंपरागत लोकविश्वासों की विवृति की है, वहाँ दूसरी ओर वास्तुकला, चित्रकला और मूर्तिकला का भी अभिव्यंजन किया है। सूरसागर में मथुरा वर्णन के अंतर्गत स्वर्ण कोट, हीरों और रत्न से जड़े कंगूरे, नवधाभक्ति से भरे ऊँचे-ऊँचे मणिमय भवन और महल-महल में 'मणिपास' लगे होना उस युग की वास्तुकला के जीते-जागते उदाहरण है।[१८] द्वारिका-शोभा शीर्षक के अंतर्गत वास्तुकला का पर्याप्त दिग्दर्शन होता है। इस प्रसंग में विद्रुम और स्फटिक की पच्चीकारी कंचन के मणिखचित मंदिर, उनमें नीचे के नर-नारी तथा गगनचारी पक्षियों के उड़ते हुए प्रतिबिंब, जल एवं स्थल पर विविध प्रकार के रंग, वन, उपवन, फल-फूल, सरोवर आदि

१. सूरसागर, ८२९, ८३० २. सूरसागर, १३६६, ८५६
३. नवसत साज सिंगार जुवति सब, दधि मटुकि लिये आवत। सूरसागर, १०-१५००
४. सूरसागर, ३५१६ ५. सूरसागर, १६६१
६. सुभग हमेल कटाव की अँगिया नगनि जटित की चौकी। सूरसागर, १०-१५४०
७. सूरसागर, ८०३ ८. सूरसागर, ८०३
९. सूरसागर, १६६०
१०. माँग पारि बेनी जु सँवारति, गूँथी सुंदर भाँति। सूरसागर, १३२२
११. सूरसागर, १३२२ १२. सूरसागर, १६७२
१३. सूरसागर, २१०५, १२३४ १४. सूरसागर, (सभा) १६७३
१५. सुगन्ध पुढ़े स्रवननि चुवैं, मदमाती हो। सूरसागर, ३४८०
१६. सूरसागर, १६७३ १७. सूरसागर, ३३२४
१८. डा० हरगुलाल, मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति १०६ से ११५ तथा सूरसागर में लोक जीवन, १३७ से १४२ तक।
१९. सूरसागर, ३७१५, ७१४, ३७२७

उस युग की स्थापत्यकला के सुंदरतम निदर्शन हैं।[१] धर्माचरण और कर्मकांड के निमित्त निर्मित स्थापत्यकला में सूर ने वेदिका-निर्माण का उल्लेख किया है।[२] व्रज की चित्रकला भी बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ के चित्रों में रूप-सौंदर्य की अपेक्षा भाव-सौंदर्य का प्रामुख्य होता है। सूरसागर में तत्कालीन चित्रकला की अभिव्यक्ति नाना रूपों में हुई है। पृथ्वी पर विविध प्रकार के रंग, गोपियों का रंग-बिरंगी धारियों वाले वस्त्र धारण करना, वन धातु घिसकर सखाओं का कृष्ण के अंग-प्रत्यंग पर चित्र बनाना, विधि-कुलाल का कच्चे घट के सदृश गोपियों के शरीर का निर्माण करना तथा कृष्ण का उनके अंग-प्रत्यंग पर चित्र बनाना और रंग भरना उस युग की चित्रकला का स्पष्ट उद्घोष करते हैं।[३] सूर लोककवि होने के कारण लोकहृदय की प्रत्येक स्थिति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। तभी तो लोकपर्वों और उत्सवों पर हृदयगत उल्लास को परख कर उन्होंने नवरात्र देवीपूजन के अवसर पर कलापूर्ण वेदी बनाने, दीपावली के अवसर पर चौक-पूरने और अन्नकूट पर ऐपन के थापे बनाने की बात कही है।[४] सूरसागर में वर्णित देवी, शारद, नारद, सनक सनंदन,[५] शालिग्राम[६] आदि देवी-देवताओं की उपासना के प्रसंग तत्कालीन मूर्तिकला विषयक ज्ञान को प्रकट करते हैं।

जनसाधारण में प्रचलित आचार-व्यवहार का किसी समाज की संस्कृति से घनिष्टतम संबंध हुआ करता है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से किसी जाति के संगठन में जितना योग प्रथाओं, मान्यताओं, रूढ़ियों और विश्वासों का हुआ करता है, उतना और किसी का नहीं होता है। सूरसागर में प्रसन्नतादायक अवसरों पर संकट टलने पर पान-फूल बाँटने, दान देने, बधाई कराने, नेग देने एवं कुंकुम, रोली आदि शुभ वस्तुओं से चौक-पूरने की प्रथा का उल्लेख हुआ है।[७] परस्पर में एक दूसरे को आश्वस्त करने के लिए सौगंध खाने का उल्लेख हुआ है।[८]

पौराणिक प्रसंगों के अतिरिक्त पशु, पक्षी, वाहन, वृक्ष आदि से संबंधित अन्यान्य विश्वासों का सूरसागर में ज़ाल-सा फैला हुआ है। सामान्य विश्वासों में बालक को कुदृष्टि लगना, शकुन-अपशकुन एवं स्वप्न के अच्छे-बुरे परिणामों से संबंधित नाना प्रकार के विश्वासों की विवृति सूरसागर में हुई है। यशोदा को कृष्ण के बाहर जाने, खेलने-खाने, आभूषण पहनने एवं सयाने होने में हर समय नजर लगने

१. सूरसागर, ४७८३
२. प्रभुदयाल मीतल, सूरनिर्णय, पृ० २३२
३. सूरसागर, ३४४८, २१९६, १२९०, १०४४, ४३९९
४. सूरसागर, १६९०, सूरनिर्णय, पृ० २४० तथा २३४
५. सूरसागर, ८७८
६. सूरसागर, ८८०
७. सूरसागर, ७१३, १६०३
८. मेरी सौं, उनकी सौं तोकौं, कहा दुराऐं पावैगी। सूरसागर, ३३४४

का डर लगा रहता है।[1] तभी तो वह कृष्ण को आँचल के नीचे ढक कर दूध पिलाती हैं। बड़े होने पर अपने सामने माखन खाने को कहती हैं, भाल पर 'मसि बिंदा' लगा देती हैं और कंठ में कठुला पहना देती हैं।[2] कृष्ण के यमुना में कूदते ही यशोदा और नंद को नाना अपशकुनों का सामना करना होता है।[3] शकुनों में कौवे का बोलकर उड़ जाना, मार्ग में मृगों के दर्शन, सुबह-सुबह किसी अच्छे का मुँह देखना, नायिका की भुजा और नेत्र का फड़कना आदि शुभ माने गए हैं।[4] सूर ने प्रातःकाल में देखे गए स्वप्न को किसी सीमा तक काफी सच्चा और घटित होने वाला माना है।[5] कभी-कभी स्वप्न में भविष्य में घटित होने वाले अनिष्ट की ओर भी संकेत किया है।[6] अन्ध-विश्वासों के अंतर्गत भूत, प्रेत, हाऊ, चुड़ैल, डायन, टोना-टमना, तंत्र-मंत्र आदि का उल्लेख हुआ है। इस रूप में सूर ने जहाँ एक ओर वेशभूषा, खान-पान, आमोद-प्रमोद, जाति-संगठन, वास्तुकला, व्यवसाय आदि के रूप में उदार तथा व्यापक संस्कृति के दर्शन कराए हैं, वहाँ दूसरी ओर जनता से इस प्रकार के परंपरागत विश्वासों का परिपालन कराकर उसकी अशिक्षा और अपरिष्कृत भावनाओं का भी परिचय दिया है।

परमाराध्य के चरणों में लीन रहते हुए भी सूर ने राजा और प्रजा के संबंध पर विचार करते हुए तत्कालीन शासन-प्रणाली का अति सुव्यवस्थित चित्र अंकित किया है। सूरसागर में नृप कंस द्वारा नंद से 'काली दाह' के तीन करोड़ कमल पुष्प मँगाना, अल्प समय में इतने पुष्प जुटाने में असमर्थ नंद का व्याकुल होना,[7] पुष्प पहुँचाने पर राजा का नंद को 'सिरोपान' (सिर से पैर तक सम्मानार्थ पहनाए गए वस्त्र) तथा अन्यान्य गोपों को 'पहिरावनी'[8] कराना, कृष्ण तथा बलराम को देखने की इच्छा प्रकट करना[10], नंद का यह सुकर प्रसन्न होना और यह विचारना कि राजा ने उनकी सेवा मान ली है[11] आदि बातें मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की उस सामंतशाही प्रकृति की अभिद्योतक हैं, जिसमें आश्रितों से बेगार ली जाती थी और समय-समय पर राजकर्मचारियों को आश्रयदाताओं से भेंट-उपहार भी मिलते थे। सूर ने पटवारी लिखहार, मुहासिब (आय-व्यय परीक्षक), अमीन (बाहर का कार्य करने वाला अदालती कर्मचारी), मोहर्रिर (लिखने वाला), मुस्तौफी[12] आदि अनेक

---

१. सूरसागर, ८१८, १६०५, ७३
२. सूरसागर, १६०५, ७१०, ७३४
३. सूरसागर, ११५८, ६५६,
४. सूरसागर, ४०७१, ३५६३, २१००, ४८६४
५. सूरसागर, ७०१
६. सूरसागर, २६५३
७. सूरसागर, ८३८, ७५३, २०२६, २२०२, २२०४
८. सूरसागर, ११४१
९. सूरसागर, ११४६
१०. सूरसागर, १२०४
११. सूरसागर, १२०६
१२. सूरसागर, १८५, ६४, १४२

तत्कालीन कर्मचारियों का उल्लेख किया है। जमीन के रूप में 'पोता' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१] जहतिया, मुजमिल, गुजरान[२], आदि शब्द जो 'कर' के समानार्थी हैं, तत्कालीन प्रचलित करों का अभिज्ञान कराते है। कंस का कृष्ण से यह कहना कि तुम वृंदावन में गोपों के साथ मल्ल-क्रीड़ा करते हो, अब हमारे सामने मल्ल-क्रीड़ा करो और कृष्ण का उसके मल्लों से नाना दाँव-पेचों सहित भिड़ जाना[३], धनुषशाला में कृष्ण का धनुष तोड़ना[४], आदि बातें सामंतशाही वातावरण में राजा की तरह से व्यवहार करने वाले मनसबदारों के मनोरंजन की उत्कृष्ट सामग्री का अभिद्योतन करती हैं। सूर ने राजा-प्रजा के पारस्परिक संबंधों को व्यक्त करने के साथ-साथ युद्ध में प्रयुक्त होने वाले कुछ अपने समय के और कुछ परंपरा से चले आने वाले शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है। इनमें कवच, सनाह, छुरी, नेजा, बरछी, सांग, शक्ति, आगर, गदा, मसूल, नाग फांस, चक्र-सुदर्शन, दीप्ति बाण, अग्नि बाण, गोला-बारूद आदि का नाम उल्लेखनीय है।[५] निष्कर्षतः सूर ने अपने परमाराध्य के सहारे मध्यकालीन भारतीय शासन-प्रणाली की एक सुनिश्चित रूपरेखा प्रस्तुत करके जन-जीवन का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है।

समग्रतः सूर ने जिस समाज की परिकल्पना की है वह अपने आप में पूर्ण और एक सुविधा संपन्न समाज है। यह समाज धर्म-प्रवण होते हुए भी भौतिक सुख-साधनों से घिरा है। इसमें एक साथ ही गंभीरता, कोमलता, आशा-निराशा, अध्यात्म, सौंदर्य आदि का समावेश पाया जाता है। सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ पुरातन परंपराओं का अनुसरण, कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहन मोह तथा सनातन विश्वासों के प्रति आस्थामय दृष्टिकोण इस समाज के इतिहास के आकर्षक पृष्ठ हैं। कृष्ण की शैशवोचित क्रीड़ाओं एवं यौवनावस्था की रंगरेलियों के उतार-चढ़ाव में जिस लोक-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है, वह प्रत्येक दृष्टि से सुंदर, आकर्षक और महान् है। युगानुरूप आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सूर और उनके काव्य का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने जीवन को कितना समझा और क्या दिया है ? इस दृष्टि से सूरसागर सामाजिक जीवन का सफल उपाख्यान है, पारिवारिक जीवन की चटकीली रेखाओं ने इसे सजाया और संवारा है और कवि ने समाज के सभी कोणों का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद वात्सल्य की झिलमिली में जिस ढंग से माँ-बेटे की कहानी को सार्वजनीन बनाया है, वह प्रत्येक दृष्टि से स्तुत्य है !

---

१. सूरसागर, १४२
२. सूरसागर, १४२
३. सूरसारावली, ५१९-५२१
४. सूरसागर, ३६६५
५. सूरसागर, १५८, ३६३१, ३८०३, २७४७, ४८३६, ४८०१, ४७८०, ५४०, ४८०१, ५८५, २७२, ४८७६।

☐ श्रीमती मीना अग्रवाल

सूर-काव्य का संगीत-पक्ष

श्रेष्ठ काव्य में संगीत का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः काव्य स्वतः संगीत है—संगीत आकार प्रधान काव्य और काव्य सार्थक संगीत। इस प्रकार आँखों से उमड़कर चुपचाप वह चलने वाली इस कविता का आह से उद्भूत गान के साथ गीत की वेदी के सम्मुख गठबंधन हो गया है। कविता के शब्द संगीत के नादात्मक सौंदर्य से अपना शृंगार कर झूम उठते हैं।

काव्य का प्रधान तत्त्व संगीत है। संगीत के दर्शन सर्वप्रथम हमें वेदों में होते हैं। तभी तो भगवान् कृष्ण ने अपने लिए कहा—'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' हृदय की कल्पना को संगीत मानो पंख प्रदान करता है। देवी-देवता भी संगीत के प्रेमी थे। 'संगीत-रत्नाकर' में एक स्थान पर कहा है :

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतिपतिः।
गोपी पतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवंशगतः।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगंधर्वदेवदानवमानवाः।[1]

अर्थात् सर्वज्ञ पार्वती-पति और देवता गीत से प्रसन्न होते हैं। अनंत गोपी-पति भी वंशीध्वनि के वश हो गए। अतः एव ब्रह्मा सामगान करते हैं, सरस्वती वीणा में आसक्त हैं, यक्ष, गंधर्व, देव, दानव, मानवादि अन्यों की तो बात ही क्या?

सोलहवीं शताब्दी से लेकर सत्तरहवीं शताब्दी के अंत तक के विभिन्न रचनाकारों में वैसे तो अष्टछाप के आठों कवि उच्चकोटि के भक्त और गायक थे किंतु उनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान सूरदास का ही है। "आचार्यों की छाप लगी हुई आठ

१. श्री शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, पृ० ७

वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन कर उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"[१] नाभादास ने सूरदास के संगीतमय काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।[२]

ऐसा कौन व्यक्ति है जो सूरदास जी के भावपूर्ण कवित्त को सुनकर प्रशंसा में सिर न हिला दे। इससे विदित होता है कि सूर के पद व्यावहारिक संगीतमय होने के कारण श्रोता के हृदय को आनंद-विभोर कर देते हैं। श्री हरिराय जी के वर्णन से इस बात की पुष्टि होती है कि सूरदास जी गंधर्व विद्या में निपुण थे। उनकी स्वरलहरी इतनी मधुर थी कि अपने गान के कारण वह जगत् में विख्यात हो गए थे। उन्हीं के शब्दों में—"सूरदास कौ कंठ बहौत सुंदर हतो। सो गान विद्या में चतुर और सगुन बताइवे में चतुर। सो उहाँ हूँ बहौत लोग सूरदास जी के पास आवते। उहाँहूँ सेवक बहौत भये। सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भये।"[३]

सूरदास जी के पदों का संगीत-विधान बहुत आकर्षक है। उनके बहुसंख्यक पद ऐसे हैं, जहाँ रस और पद-भाव के अनुकूल राग के चयन में संगीत के ज्ञान का स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने अवसरानुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों का चयन किया है। उदाहरण के लिए :

उठे नंदलाल सुनत जननि-मुख-बानी।[४]

यह पद राग ललित में बाँधा गया है। समय की दृष्टि से यह प्रातःकालीन संधिप्रकाश राग है। रवि की किरणों का आगमन हुआ। मुर्गे बोलने लगे, पक्षी चहकने लगे, गाय रंभाने लगीं, कुमुदनी मुरझाने लगी, कमल खिल उठे, भँवरे क्रीड़ा करने लगे, चंद्रमा मलिन होने लगा, नर-नारी मंगलगान करने लगे, माता यशोदा कृष्ण को जगाने लगीं और सूर प्रातःकाल में गाए जाने वाले राग बिलावल में गा उठे :

जागिए, ब्रजराज कुँवर कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृंद सँकुचित भए, भृंगलता भूले।
तमचर खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं, बछरा हित धाई।
विधु मलीन रवि प्रकास गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रातः उठौ, अंबुज-कर-धारी।[५]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृ० १—२
२. भक्तमाल, भक्तिरस वोधिनी, प्रियादास, छप्पय संख्या ७३, पृ० ८३
३. ८४ बैष्णवन की वार्ता, हरिराय, पृ० ६
४. सूरसागर, सं० १०५६ ५. सूरसागर, ८२०

सूरदास जी के कृष्ण जैसे ही जागते हैं प्रातःकालीन राग भैरव और बिलावल के स्वरों में कलेवा तैयार है :

भैरव—उठिये स्याम कलेऊ कीजै।
मनमोहन मुख निरखत जीजै॥[1]

बिलावल—कमल नैन हरि करौ कलेवा।
माखन रोटी, सद्य जम्यौ दधि, भाँति-भाँति के मेवा।[2]

प्रातःकाल दधि बिलाने का कार्य भी प्रातः और दिन के दूसरे प्रहर में गाए जाने वाले रागों, बिलावल और आसावरी, में ही संपन्न हो रहा है :

बिलावल—प्रातः समय दधि मथति जसोदा,
अति सुख कमल नयन गुन गावति।[3]

आसावरी—(एरी) आनंद सौं दधि मथति जसोदा,
घमकि मथनियाँ घूमै।[4]

इतना ही नहीं सूर ने कृष्ण की विभिन्न समय की क्रीड़ाओं को समयानुकूल रागों में ही बाँधा है। प्रातःकालीन क्रीड़ा का वर्णन सूर ने बिलावल में ही किया है :

क्रीड़त प्रात समय दोउ बीर।[5]

दोपहर के समय वन में कृष्ण और गोपसखा वट की छाँह में बैठकर दूध फल, छाक आदि आपस में छीन-छीन कर खा रहे हैं। सूर ने छाक-वर्णन दोपहर को गाए जाने वाले राग सारंग में प्रस्तुत किया है :

ग्वाल मंडली मैं बैठे मोहन वट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि सँग लीने।
एक दूध, फल एक झगरि चबेना लेत, निज-निज कामरी के आसननि कीने।
जेंवतऽरु गावत हैं सारँग की तान कान्ह, सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने।
सूरदास प्रभु कौं निरखि, सुख रीझि-रीझि, सुर सुमननि वरषत रस भीने।[6]

इसी प्रकार शाम को गाएँ चराकर लौटते हुए गो-पद-रज से युक्त आनन वाले कृष्ण की शोभा का वर्णन सूर ने सांध्यकालीन राग गौरी में किया है :

बन तैं आबत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर गोपद-रज लपटाए।[7]

---

१. सूरसागर, ८२९ २. सूरसागर, ८३०
३. सूरसागर, ७६७ ४. सूरसागर, ७६५
५. सूरसागर, ७७९ ६. सूरसागर, १०८५
७. सूरसागर, १०३५

जहाँ एक ओर कवि सूर ने कलेवा-वर्णन भैरव तथा बिलावल में प्रस्तुत किया है, वहाँ दूसरी ओर रात्रि के समय बियारी (भोजन) का वर्णन रात्रिकालीन राग कान्हरा और केदार में किया गया है :

कान्हरा—सूर स्याम कछु करौ बियारी, पुनि राखौं पौढ़ाइ ।[१]

केदार—चलौ लाल कछु करौ बियारी ।
रुचि नाहीं काहू पर मेरी, तू कहि, भोजन करौं कहा री ।[२]

रात्रि ने पदार्पण कर दिया है। चंद्रमा का आलोक सर्वत्र व्याप्त है। बाल-कृष्ण चंद्रमा को खिलौना समझ कर उसे लेने का हठ मैया से कर रहे हैं। उनका हठ देखकर सूर रात्रिकालीन गाए जाने वाले राग केदार में गा उठे :

मैया, मैं तो चंद-खिलौना लैहौं ।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं ।।[३]

इस प्रकार सूर ने सर्वत्र रस, भाव और समय का ध्याय रखकर ही संगीत-रचना की है। उन्होंने राग-रागनियों के रस-भाव के अनुकूल उनकी यथार्थ अनुभूति पाकर ही गीत अथवा पद का चुनाव किया।

सूर के काव्य में संगीत के भेद-प्रभेदों, अंग-उपांगों तथा पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। सूर ने यद्यपि किसी संगीत-ग्रंथ की रचना नहीं की लेकिन उनके उत्कृष्त संगीत-गायक होने के नाते भक्ति के आवेश में गाए पदों में संगीत से संबंधित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। उनके काव्य में नाद, ग्राम, श्रुति, सप्तक, आरोह, कूटतान, मूर्च्छना, सरगम, स्वरों के नाम, तान, राग की जातियाँ, पकड़, राग-रागिनी शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है :

१. **मुरलिया बाजति है बहु वान ।**
तीनि ग्राम, इकईस मूर्छना, कोटि उनंचास तान ।[४]

२. **बंसी री बन कान्ह बजावत ।**
सुरस्त्रुति तान **बँधान अमित अति, सप्त अतीत अनागत-आवत ।**[५]

३. **नंद-नँदन सुघराई, बाँसुरी बजाई ।**
सरगम **सुनीकैं साधि,** सप्त सुरनि **गाई ।**
अतीत अनागत सँगीत, बिच तान **मिलाई ।**
सुरतालऽरु **नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई ।**
सकल कला गुन प्रवीन, नवल बाल भाईं ।
सूरज प्रभु अरस परस रीझि सब रिझाईं ।[६]

---

१. सूरसागर, ८४४ २. सूरसागर, ८५९ ३. सूरसागर, ८११
४. सूरसागर, १९७१ ५. सूरसागर, १२६६ ६. सूरसागर, १७६९

४. **कबहूँ** गान **करत अपनी रुचि, करतल** तार **बजावत।**
कबहुँक नृत्य करत कौतूहल, सप्तक भेद **दिखावत।**[1]

सूर-काव्य में राग-रागिनी शब्दों का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. राग रागिनी **प्रकट दिखायौ, गायौ जो** जिहिं **रूप।**[2]
२. **नाना** राग रागिनी **गावत, धरे अमृत मृदु बैननि मैं।**[3]
३. राग रागिनी **मूरतवंत दूलह दुलहिनि सरस बसंत।**[4]

सूरदास के पदों में राग-रागिनियों की संख्या की ओर भी संकेत मिलता है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है :

छहौं राग छत्तीसौ रागिनि, इक इक नीकैं गावै री।[5]

सूरदास ने अपने एक ही पद में ३६ रागिनियों के नामों को प्रस्तुत किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि सूर को ६ राग और ३० रागिनियों की पद्धति का भी पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने सूरसारावली में श्याम-श्यामा की क्रीड़ा का वर्णन करते हुए लिखा है :

ललिता ललित **बजाय रिझावत मधुर बीन कर** लीने।
जान प्रभात राग पंचम षट मालकोस **रस भीने।**
सुर हिंडोल मेघ मालव **पुनि** सारंग **सुर** नट **जान।**
सुर सावंत भुपाली ईमन **करत** कान्हरौ **गान।**
ऊच अडनि **के सुर सुनियत निपट** नायकी **लीन।**
करत विहार मधुर केदारौ **सकल सुरन सुखदीन।**
सोर गौर मलार **सोहावन** भैरव **ललित बजायौ।**
मधुर विभास **सुनत** बेलावल **संपति अति सुख पायौ।**
देवगिरि देसाक **देव पुनि** गौरी श्री **सुखबास।**
जैतश्री **अरु** पूर्वी तोड़ी आसावरी **सुखरास।**
रामकली गुनकली **केतकी सुर** सुघराई **गाये।**
जैजैवंती **जगतमोहनी सुर सों बीन बजाये।**
सुआ **सरस मिलत प्रीतम सुख** सिंधवार **रस मान्यौ।**
जान प्रभात प्रभाती **गायौ भोर भयौ दोउ जान्यौ।।**[6]

१. वही, १९९४
२. वही, १७६२
३. वही, १९८३
४. वही, १७९८
५. वही, १८५६
६. सूरसारावली, वेंकटेश्वर प्रेस, पद संख्या १०१२ से १०१८ तक।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है—"सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा खजाना है।" सूरदास जी ने एक नवीन राग को भी जन्म दिया, जोकि 'सूरदासी मल्हार' के नाम से प्रसिद्ध है।

संगीत-शास्त्र में गीतों की अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं; जैसे—ख्याल, टप्पा, ठुमरी, ध्रुवपद, धमार, भजन, गजल, गीत आदि। सूर-काव्य में हमें ध्रुवपद और धमार शब्दों का उल्लेख मिलता है :

१. इक गावत है धमारि, इक एकनि देत गारी।[1]

२. दोहा छंद ध्रुपद जस हरि कौ, हरिहीं गाई सुनावति।[2]

३. छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाचति कुँवरि मिले झपताल।[3]

सूरदास ने अपने काव्य में विविध उत्सवों-अवसरों और क्रीड़ा आदि के प्रसंगों में अनेकानेक वाद्य-यंत्रों का उल्लेख किया है, जो उस समय प्रचलित थे। निम्नलिखित उदाहरण में कुछ वाद्य-यंत्रों का नामोल्लेख देखिए :

पंचमि पंच शब्द करि साजे, सजि वादित्र अपार।
खंज मुरज ढफताल बाँसुरी झालर को झंकार।
बाजत बीन रबाब किन्नरी अमृत कुंडली यंत्र।
सुर सुरमंडल जलतरंग मिल करत मोहनि मंत्र।
विविध पखावज आवज संचित बिच बिच मधुर उपंग।
सुर सहनाई सरस सारंगी उपजत तान तरंग।
कंस ताल कटताल बजावत श्रृंग मधुर मुंहचंग।
मधुर खंजरी पटह प्रणव मिल सुख पावत रतभंग।
निपटन केरी श्रवनन धुनि सुनि धीर न रहे ब्रजबाल।
मधुर नाद मुरली को सुनिके भेटे स्याम तमाल।[4]

तालों का उल्लेख भी यत्र-तत्र मिल जाता है। निम्न उदाहरण में झपताल का उल्लेख देखिए :

छंद ध्रुवनि के भेद अपार।
नाचति कुंवरि मिले झपताल।[5]

गायन-वादन के साथ-साथ संगीत की पूर्णता के लिए नृत्य भी आवश्यक है। सूरदास जी ने अनेक स्थानों पर नृत्य का उल्लेख किया है। नृत्य दो प्रकार का कहा

---

१. सूरसागर, ३५०६ २. सूरसागर १६६७ ३. वही, १६६८
४. सूरसारावली, श्री बेंकटेश्वर प्रेस, पद संख्या १००२ से १००६ तक,
५. सूरसागर, १६६८

गया है—तांडव और लास्य। तांडव वीर और रौद्र-रस प्रधान है और लास्य शृंगार-प्रधान। तांडव में भीषणता, भंयकरता, विकरालता, वीरत्व और भव्यता प्रदर्शित करने वाली मुद्राएँ दिखाई जाती हैं, जबकि लास्य में मोहक, मृदु, कोमल, मधुर, मृदुल, प्रेम और शृंगारमय भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। सूरदास जी के काव्य में दोनों ही प्रकार के नृत्यों का उल्लेख मिलता है।

बालक कृष्ण को यद्यपि नृत्य का विधिवत् ज्ञान नहीं है किंतु बालसुलभ जीवन की उमंग स्वतः ही नृत्य कर उठती है और कृष्ण अपने आप गाकर नाच उठते हैं :

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।[1]

तो कभी माता यशोदा ताली बजाबजाकर गाती हैं और कृष्ण को नचाती हैं। कृष्ण भी माँ के साथ ताली बजाकर गाते और नूपुरों की मधुर ध्वनि के साथ नाचने लगते हैं :

आँगन स्याम नचावही, जसुमति नँदरानी।
तारी दै दै गावहीं, मधुरी मृदु बानी।
पाइनिनूपुर बाजई, कटि किंकिनी कूजै।
नान्हीं एड़ियनि अरुनता, फल-बिंब न पूजै।
जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै।
जसुमति सुतहिं नचावई, छबि देखति जिय तैं।
सूरदास प्रभु स्याम कौ, मुख टरत न हिय तैं।[2]

कृष्ण अपने सखाओं के साथ यमुना तट पर क्रीड़ा-मग्न हैं। खेल ही खेल में गेंद यमुना में गिर जाती है और वे कालिय नाग का वध करने के लिए यमुना में कूद पड़ते हैं। गंभीर वातावरण में वाद्य भी गंभीर हो जाते हैं और कृष्ण का यह रूप नृत्य-परिस्थिति के कारण तांडव नृत्य का रूप धारण कर लेता है :

सबै ब्रज है जमुना कैं तीर।
कालिनाग के फन रप निरतत, संकर्षन कौ बीर।
लाग मान थेइ-थेइ करि उघटत, ताल मृदंग गँभीर।
प्रेम-मगन गावत गंध्रब गन ब्योम विमाननि भीर।
उरग-नारि आगैं भइ ठाढ़ी, नैननि ढारतिं नीर।
हमकौं दान देइ, पति छाँड़ेहु, सुंदर स्याम शरीर।
आए निकसि पहिर मनि-भूषन पीत-बसन कटि चीर।
सूर स्याम कौं भुज भरि भेंटत, अंक्रम देत अहीर।[3]

१. सूरसागर, ७६५ २. सूरसागर, ७५२ ३. सूरसागर, ११६३

नृत्य मानो मन की उमंग को अभिव्यक्त करने का सहज माध्यम है। संयोग के क्षणों में नृत्य एक स्वाभाविक और नैसर्गिक प्रवृत्ति बन जाती है। मानव ही नहीं पशु-पक्षी भी संयोग के समय नर्तन कर उठते हैं। कृष्ण और गोपियों का मिलन रास-लीला के रूप में नृत्य में परिणत हो जाता है। रासलीला-नृत्य का वर्णन सूरकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रस्तुत पद सूर के नृत्य-ज्ञान का द्योतक है :

आजु निसि राग रंग हरि कीन्हौ।
ब्रजबनिता-बिच स्याम मंडली, मिलि सबकौं सुख दीन्हौ।
सुर-ललना सुर सहित बिमोहीं, रच्यौ मधुर सुर गान।
नृत्य करत, उघटत नाना-बिधि, सुनि मुनि बिसर्‌यौ ध्यान।
मुरली सुनत भए सब व्याकुल, नभ-धरनी पाताल।
सूर स्याम को को न किये बस, रचि रस-रास रसाल।[1]

सूरदास जी ने कहीं-कहीं नृत्य के बोलों का भी उल्लेख किया है। यथा :

ततना दिक दिकन द्रिम-द्रिम मृदंग—
बाजत थेई ताथेई ता तत्ततादि दुरंग।[2]

इतना ही नहीं सूरदास को नृत्य के समय की पोशाक और साज-सज्जा का भी ज्ञान था। उन्होंने अपने पूर्वकर्मों का दिग्दर्शन करते हुए सांग-रूपक द्वारा नृत्य की साज-सज्जा का वर्णन इस प्रकार किया है :

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ षिषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलल असंगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल।[3]

सूर-काव्य में सर्वत्र गीत की व्यापकता के दर्शन होते हैं। प्रकृति में पशु-पक्षियों में सर्वत्र संगीतमयता व्याप्त है। अनेक स्थानों पर पशु-पक्षियों के माध्यम से रूपक और उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं। कृष्ण के साथ-साथ कोयल, भौंरे, मोर, चकोर, चातक, दादुर सब मस्त हैं। सभी ने मिलकर वातावरण को संगीतमय बना दिया है :

---

१. सूरसागर, १७६०
२. सूरसागर भाग १
३. सूरसागर, १५३

गावत स्याम स्यामा-रंग।
सुघर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय-संग।
तान गावति कोकिला मनु, नाद अलि मिलि देत।
मोर संग चकोर डोलत, आपु अपने हेत।[१]

संगीत की स्वर-लहरी मानव मात्र को ही नहीं बल्कि जड़-चेतन सभी को अपनी ओर खींचती है। उसकी महत्ता असीम है। सूर से उसकी महिमा छिपी कैसे रह सकती थी ? उन्होंने अनेक स्थानों पर संगीत की महत्ता और उसके प्रभाव का वर्णन किया है। यथा :

दूर करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे, नाहिंन होत चंद्र कौ ढरिबौ।[२]

मुरली की मधुर धुन सुनकर सुर, नर, नाग मोहित हो गए। ब्रजबालाएँ दौड़कर जाने लगीं, पशु-पक्षियों ने अपनी सुध-बुध भुला दी। पेड़-पौधे अनुराग-युक्त हो गए। नदी ने बहना बंद कर दिया। अचल चलने लगे, चल थकने लगे। मुनि जन अपना ध्यान खो बैठे, चंद्रमा भी अचल-सा हो गया और वृक्ष फल देने लगे। सब कुछ चित्र लिखित-सा प्रतीत हो रहा है। देखिए :

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-बनिता उठि धाई।
जमुना-नीर-प्रबाह थकित भयौ, पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब, अपनी गति बिसराई।
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम वृंदाबन-बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई।[३]

संगीत की चुंबकीय शक्ति से खिंचकर भक्त का हृदय अपने उपास्य देव की भक्ति में एकतान, एकताल और एकलय हो जाता है। सूर का उद्देश्य केवल पदों की रचना ही नहीं था वरन् उन्होंने तो अपने भगवान् के नाम, गुण, लीला-धाम आदि का आत्मविभोर होकर यशोगान किया है। उनके पदों से पता चलता है कि वे अपने पदों को स्वयं गाया करते थे। उनके काव्य में संगीत संबंधी आत्मविषयात्मक उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है :

१. सब बिधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै।[४]
२. सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।[५]
३. सूर कूर, आँधरौ, मैं द्वार पर्‌यौ गाऊँ ?[६]

---

१. सूरसागर, १७०१ २. सूरसागर, ३६७५
३. सूरसागर, १६०८ ४. सूरसागर, २
५. सूरसागर, २२५ ६. सूरसागर, १६६

४. स्याम बलराम कौं सदा गाऊँ ।[१]

५. सूर प्रभु कौ सुजस गावत नाम-नौका तरन ।[२]

६. सूरदास प्रभु नँद-नंदन गुन गावत निसि-दिन रोवै ।[३]

काव्य के नाद-सौंदर्य के लिए भाषा को मधुर, कोमल और सुकुमार बनाना परम आवश्यक है। कर्कश और कर्णकटु अक्षरों, संयुक्त अक्षरों का यथा-शक्ति बहिष्कार होना चाहिए। सूर की भाषा में कोमल शब्द-विन्यास है और उन्होंने यथाशक्ति कर्णकटु वर्णों का बहिष्कार किया है। वैसे भी ब्रजभाषा का प्रधान गुण माधुर्य है।

भाषा में भावानुकूल सौंदर्य भरने के लिए सूर ने अनेक स्थलों पर री, अरी, एरी, रे, ए आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यथा :

१. देखौ री राधा उत अँटकी ।[४]

२. अरी अरी सुंदरि नारि सुहागिनि लागैं तेरैं पाउँ ।[५]

३. रे मन, समुझि सोच-विचार ।[६]

४. ए अलि कहा जोग मैं नीकौ ।[७]

काव्य में संगीत उत्पन्न करने के लिए सूर ने शब्दों का चयन इस प्रकार किया है कि उनकी पदावली अत्यंत कोमल हो गई है। अनुप्रास के द्वारा कवि ने अभिनव संगीत की छटा दिखा दी है। शब्दों से संगीत जैसे स्वतः ही फूट रहा है :

१. चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिनि, कंकन करतल ताल ।
मनु तिय-तनय समेत, सहज-सुख, मुखरित मधुर मराल ॥[८]

२. चटकीलौ पट लपटानौ कटि पर, बंसीवट जमुना कैं तट राजत नागर नट ।
मुकुट की लटक, मटक भृकुटी की लोल, कुंडल चटक आछी, सुबरन की लुकट ।[९]

३. पंचमि पंच शब्द करि साजे सजि वादित्र अपार ।
खंज मुरज ढफ ताल बांसुरी झालर को झंकार ॥[१०]

कविता और संगीत में ध्वनि और लय का समान महत्त्व है। संगीत के द्वारा भावनाएँ निराकार रूप में प्रकट होती हैं और काव्य उन्हीं भावनाओं को साकार रूप में प्रकट करता है। सूर के पदों में ध्वनि और लय का समन्वय है। यथा :

---

१. सूरसागर, १६७
२. सूरसागर, २०२
३. सूरसागर, २५६
४. सूरसागर, २३८२
५. सूरसागर, ४८८
६. सूरसागर, ३०६
७. सूरसागर, ४३१५
८. सूरसागर, १७५४
९. सूरसागर, २०१९
१०. सूरसारावली, पृ०३७

१. हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की, नैंन नीर भरि आए।[1]

२. बरू ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए।[2]

इस प्रकार सूर ने माधुर्ययुक्त व्रजभाषा के द्वारा अपूर्व संगीत की झंकार पैदा की है। उनका काव्य और संगीत मानव-जीवन के साथ एकाकार हो गया है। कवि ने सर्वत्र रस, भाव और समय का ध्यान रखते हुए संगीत की रचना की है।

अस्तु, सूर के काव्य में संगीत के तीनों अंगों—गायन, वादन और नृत्य का सुंदर समावेश हुआ है। इस बात की पुष्टि में उनका निम्न पद प्रस्तुत किया जा सकता है :

कंठ ताल अरु मंजीर, बंशी, मुरज, बीन, रबाब।
ढप, आनक, महुवर उपंग, झांझ, किंनरी, मुखचंग।
तननादिक, दिमन द्रिम द्रिम मृदंग—
बाजत थेई ताथेई ता तत्ततादि दुरंग।
सुर-गन विमाननि चढ़े ब्रह्मा, रुद्र, नारद, इंद्र पुलकति।
सूर जय जय, जयति जय जय, जय जयति ललित त्रिभंग।

१. सूरसागर, ४०००

२. सूरसागर, ३९२६

☐ डा० राजेंद्रकुमार

सूर का गीतिकाव्य

सूर का काव्य उनकी भक्तिनिष्ठ अनुभूति का ऐसा प्रतिफलन है, जिसमें कलात्मक उपकरणों को उत्कृष्ट रूप में प्रश्रय मिला है। कृष्ण-लीलाओं के गान में सूर की अंतश्चेतना विविध कृष्णलीलाओं के अनुरूप भावों की सृष्टि एवं उनके प्रसार में अद्‌भुत रूप से सफल रही है। पद-शैली में रचित सूर का काव्य वस्तु-तत्त्व के साथ गेयत्व, आत्माभिव्यक्ति, अन्विति, सहज अंतःप्रेरणा एवं कलापूर्ण लोकचेतना से इस स्तर पर संयुक्त है कि उसके माध्यम से गीतिकाव्य में एक नये रूप की सृष्टि हो गयी है। सूरदास के अधिकांश पदों में भावोन्मीलन की जो क्षमता है और सहृदय के अंतःकरण को रसप्लावित कर देने की जो शक्ति है, उसका रहस्य पर्याप्त सीमा तक उनके रूप-विधान में सन्निहित है।

यदि गीतिकाव्य के उपकरणों को दृष्टि में रखकर सूर की पद-रचना का विश्लेषण किया जाय तो उनका कोई पद कदाचित् ही शेष रहे, जिसे गीतिकाव्य की परिधि में रखा जा सके। सूर के पदों में भाव, भाषा एवं कला के साथ संगीत का जो विन्यास मिलता है, उसके आधार पर भी उनके काव्य को गीतिकाव्य की कोटि में रखा जाता है। सूर के सभी पद संगीत के विविध भावों के पोषक रागों से अनुशासित हैं। कला और संगीत के उपकरणों को परिष्कृत रूप में सँजोये होने के कारण ही सूर के गेय पदों को 'कलागीत' कहा गया है, परंतु सूर के गेय पदों का लोकगीतात्मक रचना-विधान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी रचना-प्रक्रिया में ब्रजप्रदेश के रसिया, होली, मल्हार, कजली, प्रभाती आदि लोकगीतों की शैली का भी पर्याप्त योग रहा है। लोकगीतों की सामाजिक चेतना और भावुकता सूर की भक्ति-भावना में एकाकार होकर उनके गीतों को अद्‌भुत प्रभावान्विति देने में सफल रही है। अतः अपने संपूर्ण रूप-विधान में सूर के गीत जहाँ कलात्मकता लिए हुए हैं,

वहीं वे लोकगीतों की विशेषताओं से भी अनुप्राणित हैं। कृष्ण-लीलाओं की सहज लोकरंजक प्रकृति ने सूर के गेय पदों को लोकगीतों की सामूहिक चेतना और इतिवृत्तात्मकता को उभारने में और भी योग दिया है।

इस प्रकार स्थूल रूप से सूरदास की कृतियों 'सूरसागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के पदों की गणना गीतों में की जा सकती है। परंतु सूरदास के सभी पद गेय होते हुए भी आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते और उनमें इतिवृत्तात्मक तत्त्व प्रधान हो गए हैं। ऐसे पदों में सूरदास की नाम-छाप ही आत्माभिव्यक्ति का एक प्रमाण कही जा सकती है। चूँकि सूरदास के आत्मनिवेदन-परक पदों को छोड़कर अधिकांश पदों में कृष्ण-लीला अथवा रामचरित का ही वर्णन हुआ है, अतः इतिवृत्तात्मकता की प्रखरता उनके गीतिकाव्यात्मक रूप-विधान में बाधक रही है। संपूर्ण पद किसी कथासूत्र में आबद्ध होने के कारण आत्माभिव्यक्ति को दबा देता है और अपने में पूर्ण होता हुआ भी वह कथा की शृंखला की एक कड़ी-सा प्रतीत होता है। सूर के कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें संगीत की रागबद्धता तो नाममात्र की ही है और प्रधानता उनके छंदात्मक विधान की हो गयी है। कुछ पद ऐसे हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की माधुर्य-क्रीड़ाओं को प्रतीकात्मक एवं कूटात्मक शब्दावली के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है और वहाँ सूर की आत्माभिव्यक्ति निमित्त मात्र दिखाई पड़ती है। भक्त-सूर राधा-माधव की गोपनीय रस-क्रीड़ाओं का एक दर्शक मात्र प्रतीत होता है और उनकी गहरी रसानुभूति को अपनी सहज शैली में अभिव्यक्ति नहीं दे पाता।

उपर्युक्त भूमिका में सूरदास के पदों को कलागीत, शुद्धगीत, परिष्कृत लोक-गीत, छंदात्मक पद और दृष्टकूट पदों के अंतर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। सूरदास ने कृष्ण-लीलाओं की वस्तु के अनुरूप अपने पदों के स्वरूप को सँवारा है और जहाँ उन्हें अवसर मिला है, उन्होंने आत्मविभोर होकर अद्भुत रस-सृष्टि की है। सूरदास के उल्लिखित वर्ग के गेय पदों में उनकी कला का स्तर भी भिन्न दिखाई पड़ता है, अतः प्रत्येक वर्ग के पदों की प्रकृति और उनके रचना-शिल्प का विश्लेषण उचित होगा।

कलागीत सूरदास की रचनात्मक प्रतिभा और कलाचेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूरदास ने कलागीतों की रचना कृष्ण-लीला के उन प्रसंगों में की है जहाँ उन्हें मौलिकता दिखाने का अवसर मिला है। सूरसागर में जहाँ कवि केवल कृष्ण-लीला का भागवत् के अनुसार वर्णन ही करता है, वहाँ कलागीतों की खोज नहीं की जा सकती। परंतु जहाँ सूरदास कृष्ण-लीला का गान करते हुए पदों को भावानुभूति से अलंकृत करते हैं, वहाँ उनकी कला सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है। ऐसे पद वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-लीलाओं के प्रसंग में रचे गए हैं। इन भावों के पोषक

पदों में कृष्ण-लीला निमित्त मात्र है और सुर की अनुभूति सहज स्तर पर गीति-सृष्टि में सक्रिय हो जाती है। इस प्रक्रिया में वह अपने अनुरूप वर्ण-संचयन करती हुई संगीतमय हो जाती है। कलागीतों में सूर की अनुभूति में जो नैरंतर्य एवं प्रभावान्विति है, वह रस-सृष्टि करने में अद्‌भुत रूप से सफल रही है। कवि कृष्ण-लीला का सूत्र-ग्रहण कर पद की रचना कर डालता है। राग धनाश्री में रचित निम्न उद्‌धृत पद ऐसा ही है :

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौं धौं सुंदर सुखदाई।
तनक-तनक-सी दूध-दँतुलिया, देखौ नैन सफल करौ-आई।
आनँद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई।[1]

सूर के वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-भावों के पोषक कलागीत क्रमशः बालक्रीड़ा, माखनचोरी, नागलीला के स्फुट पद, दावानल-पान-लीला, मुरली-प्रसंग, राधा-कृष्ण-मिलन, सुख-विलास, गोदोहन, गारुड़ीलीला, चीरहरणलीला, गोवर्धन-लीला, रास-लीला, राधा-कृष्ण-विवाह, शरद-लीला, राधा-कृष्ण-विहार, दानलीला, मानलीला बसंत और होली के पदों में मिलते हैं। इन प्रसंगों में सूर ने जिन कलागीतों की रचना की है, वे उनकी रस-चेतना को और भी सजग कर देते हैं। सूर के कलागीतों में कल्पना अनुप्रासिक शब्द-सौंदर्य और नाद-सौंदर्य से समवेत होकर प्रभावशाली बन गई है। इस प्रकार कलागीत सूर की भाव-चेतना को कलात्मक परिष्कार देने में सफल रहे हैं।

सूर के दैन्य-भाव के पोषक गीतों में आत्म-निवेदन की प्रत्यक्षता के कारण जो सहजता मिलती है, उसके आधार पर ऐसे गीतों को शुद्धगीत कहा जा सकता है। इन गीतों में गेयत्व भी सहज रूप में विद्यमान रहा है। इनके अंतर्गत भक्त सूर ने अपने आराध्य की भक्तवत्सलता, दिव्य एवं अलौकिक शक्ति, पतित-पावनता और आत्मग्लानि की निश्छल अभिव्यक्ति की है। इन शुद्धगीतों में कवि कहीं भी कलात्मकता के प्रति सचेष्ट नहीं दिखाई पड़ता तथा इनकी भाषा सीधी-सादी एवं गेयत्व सामान्य स्तर का है। इनमें भक्त सूर अपने आराध्य से दीन स्वर में विविध भंगिमाओं में निवेदन करता है, लोक और पुराण-सम्मत उनके द्वारा किए गए भक्तों के उद्धार के अनेक प्रमाण देता है। इन गीतों में कवि का आत्मबोध भी बड़ा प्रबल है :

---

१. सूरसागर, ७००

भक्ति कब करिहौं, जनम सिरानौ।
बालापन खेलतहीं खोयो, तरुनाई गरबानौ।
बहुत प्रपंच किए माया के, तऊ न अधम अघानौ।
जतन-जतन करि माया जोरी, लै गयौ रंक न रानौ।
सुत-बित-बनिता प्रीति लगाई, झूठे भरम भुलानौ।
लोभ-मोह तें चैत्यो नाहीं, सुपनौं ज्यौं डहकानौ।
बिरध भएँ कफ कंठ बिरोध्यौ, सिर धुनि-धुनि पछितानौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु जम कैं हाथ बिकानौ।[1]

सूर के विनय के अनेक पद स्तोत्र-शैली में रचे गए हैं और उन्हें भी संगीत के रागों का अनुशासन प्राप्त हुआ है। सूर के विनय के शुद्धगीतों की कोटि में आने वाले पद उनकी अनुभूति को लोकानुभूति से जोड़ने में सफल रहे हैं। अतः उनमें कहीं-कहीं लोकगीतों की चेतना भी पल्लवित हुई है। शिल्प की दृष्टि से ये पद साधारण हैं और इनमें भक्तों के उद्धार की लीलाएँ संदर्भित मात्र हुई हैं।

सूरदास के परिष्कृत लोकगीत ब्रजप्रदेश में प्रचलित लोकगीतों के शिल्प पर आधारित हैं। उनमें लोकजीवन और लोकमानस की सहज एवं सरस अभिव्यक्ति हुई है। कीर्तन-शैली में रचे जाने के कारण लोकगीतमूलक पदों में सामूहिक गान तत्त्व पल्लवित हुआ है। कृष्ण की चेष्टाएँ-उनकी वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों को पल्लवित करने वाली लौकिक लीलाओं के चित्रण में सूर की अंतश्चेतना ब्रजलोक जीवन के साथ एकाकार होकर लोकगीतों की रचना में संलग्न हो गई है। अतः परिष्कृत लोकगीतों में सूर की भाषा भी सहज एवं लोकानुभूति समर्थित है। वे इन गीतों में मुहावरों और लोकोक्तियों के माध्यम से कथ्य को नई-नई भंगिमाएँ एवं प्रभावान्विति देने में सफल हुए हैं। परिष्कृत लोकगीत आकार में विस्तृत हैं। इनमें कवि पुनरुक्तियों के द्वारा पदस्थ भाव को उत्तरोत्तर प्रभावी बनाता गया है। सूरदास ने ब्रजलोक-जीवन में प्रचलित जिन गीतों को कलात्मक-संस्कार दिया है, उनमें सोहर, सावन, हिंडोल, फाग, होली, विरहा, जतैली, कजली, रसिया, प्रभाती-हेरी आदि प्रमुख हैं। इन गीतों में लोकधुनों के माध्यम से कृष्णलीलाओं के क्रोड़ से प्रसूत भावसूत्र विकसित होता हुआ पद के कलेवर को विस्तार देता गया है :

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।
अब जिनि मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है।
परब करौ घर आपनैं हरि होरी है।
कुसल छेम निरबाहु, अहो हरि होरी है।[2]

---

१. सूरसागर, ३२९ २. सूरसागर, ३५३२

सूर के परिष्कृत लोकगीतों को कहीं-कहीं पर इतना अधिक कलात्मक संस्कार प्राप्त हुआ है कि उनका रूप ही बदल गया है। भ्रमरगीत में उपालंभमूलक अनेक पदों में सूर की कल्पना-शक्ति और रचनात्मक प्रतिभा लोकगीतों को कलागीत बनाने में सफल हुई है :

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे।
वै जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार।
हरि बिनु फूलझरी-सी लागत, झरि-झरि परत अँगार।
फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री, हरि बिनु कैसे फूल।
सुनि री सखी मोहिं राम दुहाई, लागत फूल त्रिसूल।
जब मैं पनघट जाऊँ सखी री, वा जमुना कैं तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैननि कैं नीर।
इन नैननि के नीर सखी री, सेज भई घरनाउ।
चाहत हौं ताहीं पै चढ़ि कै, हरि जू कैं ढिंग जाऊँ।
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ।
सूरदास प्रभु कुंजबिहारी, मिलत नहीं क्यौं धाइ।[1]

लोक-उपमानों और लोक से युक्त ऐसे पदों में अनुभूति की तीव्रता कला को निखारने में सफल रही है।

सूरदास ने भागवत की कथा को वर्णित करने वाले विस्तृत पदों को चौपाई, रोला, सार, हरिगीतिका चौबोला, दोहा आदि छंदों में रचा है। परंतु इन पदों में दोहा-चौपाई शैली की प्रधानता रही है, जो सर्वत्र संगीत के रागों से अनुशासित है। ऐसे पदों में सूर की अनुभूति तो बिरले रूप में ही झलक पाई है। प्रधानता घटनाओं की ही रही है। छंदात्मक पदों में गीतिकाव्यात्मक शिल्प केवल इतना ही है कि वे गेय हैं। गेयता की रक्षा के लिए ऐसे पद छंदशास्त्रीय दोषों से युक्त हो गए हैं। गेयता होते हुए भी इनमें गीतिकाव्यत्व का अभाव है, साथ ही इन पदों में सूर की रचनात्मक प्रतिभा का दर्शन नहीं होता। यदि छंदात्मक पदों के निर्दिष्ट दोषों को निकाल दिया जाय तो इन्हें शुद्ध इतिवृत्तपरक मात्र कहा जा सकता है।

सूर के दृष्टकूट पदों में गेयता और कलात्मकता का शब्द-क्रीड़ामूलक विन्यास मिलता है। दृष्टकूट पदों में कला का जो रूप है वह विशुद्ध चमत्कारवादी है और उसमें कलागीतों के समान सहजता एवं संवेदनात्मकता नहीं मिलती। चूंकि इन पदों में शब्दक्रीड़ा की प्रवृत्ति प्रधान रही है अतः शब्दों को पदगत लयात्मक एवं अर्थगत औचित्य प्रदान करने के लिए सूर की दृष्टि सर्वत्र सजग रही है। सूर की दृष्टकूट

---

१. सूरसागर, ३८६३

पद-रचना का वैशिष्ट्य इसी में है कि वे अर्थगोपन-प्रक्रिया में ही कला को केंद्रित कर देते हैं। कलात्मक प्रखरता के कारण सूर के दृष्टकूट पदों को विशुद्ध कलागीत कहा जा सकता है। इनमें सूर ने राधा-माधव की काम-क्रीड़ाओं को प्रतीकात्मक शब्दावली में कहा है और वे सर्वत्र अर्थगोपन के प्रति सचेष्ट रहे हैं। पद के अंतिम चरण में अपने नाम की छाप देकर वे राधा-माधव की क्रीड़ा से अपने को संबद्ध कर देते हैं; परंतु इस आत्मसंयोजन में वह सहजता एवं विभोरता नहीं है, जो कला गीतों, शुद्धगीतों और परिष्कृत लोकगीतों में विद्यमान रही है :

राधे जल-सुत कर जु धरे।
अतिहीं अरुन, अधिक छवि उपजत तजत हंस सगरे।
चुगन चकोर चले ह्वै सनमुख, झझके रहे खरे।
तब बिहँसी वृषभानु-नंदिनी, दोऊ मिलि झगरे।
रबि अरु ससि दोऊ एकै रथ सन्मुख आनि अरे।
सूरदास प्रभु कुंजबिहारी, आनँद उमगि भरे।[1]

सूर की पद-शैली के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि स्थूल रूप से उसमें गेयता तो सर्वत्र है, परंतु केवल गेयता के आधार पर उसे गीतिकाव्य की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। 'साहित्यलहरी' और 'सारावली' के पदों में भी उनकी अनुभूति और कला का जो स्तर है, गीतिकाव्य की दृष्टि से वह भी सफल नहीं कहा जाएगा।

'सूरसागर' सूर के कृतित्व का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें सूर की पद-शैली के सभी रूप मिल जाते हैं। विनय के पदों में गीतों का रूप निखरा है। परंतु उनमें सूर की कला का सहज स्तर विकसित नहीं हो सका है। कृष्णलीलापरक पदों में उन्होंने भागवत् की कृष्णलीलाओं का आधार लिया है परंतु भागवत् की वात्सल्य, सख्य और माधुर्यभाव-परक कृष्णलीलाओं के वर्णन में ही उनकी अनुभूति रम सकी है। चौबीस अवतारों के वर्णन में सूर ने भागवत के अनुसार केवल कथा का ही वर्णन किया है। ऐसे वर्णनों में सूर की अनुभूति का कोई भी योग नहीं दिखाई पड़ता। नवम स्कंध में अवश्य रामकथा के गायन में सूर की गीतकाव्यात्मक कला को अभिव्यक्ति मिली है। परिमाणतः सूर के रामकथा विषयक पदों में कहीं-कहीं सरसता झलकती है। कृष्णलीला के चित्रण में कृष्णजन्म के अवसर पर ब्रजलोक-मानस के हर्षोल्लास के चित्रण के साथ सूर की गीति-रचना का स्रोत प्रस्फुटित होता है तथा दशम स्कंध पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध की वात्सल्य, सख्य और माधुर्य लीलाओं की भूमि पर संचरित होता है। जहाँ कवि तन्मय होकर अपने आराध्य की सरस क्रीड़ाओं का चित्रण करने में प्रवृत्त होता है, वहाँ उत्कृष्ट गीतिकाव्य की सृष्टि हुई है, इसीलिए

१. सूरसागर, १८१०

विविध कृष्ण-लीलाओं के चित्रण में वस्तुगत आधार अत्यंत सूक्ष्म रह जाता है और सूर की भाव-चेतना उत्कृष्ट गीतों की रचना में क्रियाशील हो जाती है इसीलिए पूतना, वकासुर, अघासुर और कंस आदि आसुरों के नाश आदि घटनाओं का अंकन करके सूरदास आराध्य की लीला के आनंद की अभिव्यक्ति करते हैं परंतु जब वे कृष्ण की बालछबि, कलेवा, क्रीड़ा, माखनचोरी, गोदोहन, मुरली-प्रसंग, राधा-कृष्ण-मिलन, युगललीला, पनघटलीला, दानलीला, मानलीला, बसंत-फाग-क्रीड़ा, रासलीला और भ्रमरगीत का वर्णन करते हैं तो वे इतने भावविभोर हो जाते हैं कि एक ही लीला का भिन्न-भिन्न रागों में रचित पदों के अंतर्गत बार-बार गान करते हैं। इन लीलाओं के चित्रण में सूर का अंतःकरण रमा है और इसलिए इनमें आत्माभिव्यंजन प्रधान हो गया है, जिसके माध्यम से उत्कृष्ट गीतिकाव्य की सृष्टि हुई है। सूरसागर के दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, एकादश स्कंध और द्वादश स्कंधों में सूर कृष्णलीलाओं का वर्णन भागवत के अनुसार करते हैं। समग्रतः सूर के कृतित्व में गीतिकाव्य की दृष्टि से वे ही अंश सफल बन पड़े हैं, जहाँ उनकी भक्तिनिष्ठ अंतश्चेतना के अनुरूप भाव-प्रकाशन और आत्माभिव्यंना के निमित्त अवकाश रहा है।

सूरसागर की पदावली में वस्तुतत्त्व और भावतत्त्व का अद्‌भुत सामंजस्य मिलता है। उसमें विविध लीलाओं का इतिवृत्त जहाँ परस्पर ग्रथित है, वहीं प्रत्येक लीला की स्थिति भी है। लीला-विशेष के भाव-सूत्र को विकसित करने वाले पद जहाँ उसके सूक्ष्म कथातंतु को विकसित करते हैं वहीं वे सूर में भक्त-व्यक्तित्व को भी उजागर करते हैं। इस प्रकार सूरसागर में कृष्णचरित्र के घटनात्मक विकास के साथ उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति भी मिलती है। कहीं-कहीं तो सूर की लीलानुभूति इतनी सशक्त दिखाई पड़ती है कि एक पद के सीमित विस्तार में ही संपूर्ण लीला का इतिवृत्त सिमट जाता है। माखनचोरी, गोवर्धन-लीला, पनघटलीला, दानलीला, मानलीला, भ्रमरगीत आदि से संबंधित पदों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। भावविभोर होकर सूर जब कृष्णलीला का गान करते हैं तो वे कथासूत्र को विकसित करने की चिंता नहीं करते, प्रत्युत वे लीला और उसमें भाव की आत्माभिव्यंजन से युक्त कलात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रक्रिया में ही सूर के गीतिकाव्य का उत्कृष्ट अंश रचा गया है। सूर रसमय प्रसंग, दृश्य एवं भाव के अंकन में ही पूरी कला उँडेल देते हैं। इसलिए अनेक उत्कृष्ट पदों में आत्माभिव्यंजना के साथ उक्तिवैचित्र्य, भावनिरूपण और शैली का सुंदर विधान मिलता है। वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों से संबंधित सभी कृष्णलीलाओं में सूर की यही रचना-प्रवृत्ति पल्लवित हुई है, जिसमें प्रबंध और गीति के तत्त्वों का सुंदर सामंजस्य हुआ है।

रसावतार कृष्ण की लीला का गान ही सूर का अभिप्रेत रहा है, जिसका स्थूल रूप प्रबंधोचित है पर सूर ने उसमें गीतिकाव्य की भावात्मकता भर दी है और

इस प्रकार प्रबंधात्मक गीतिकाव्य की रचना की है। कृष्णलीला का वर्णन करते हुए भी सूर का दृष्टिकोण आत्मपरक रहा है।

सूर के गेय पदों की वर्णानात्मक प्रकृति के कारण उनके गीतिकाव्य के एक अंश को वर्णनात्मक प्रगीतकाव्य कहा जा सकता है। सूरदास जहाँ भागवत् की लीलाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ पदों में वस्तुतत्त्व प्रधान हो जाता है परंतु संगीतात्मक लय-विधान के कारण गेयता भी विद्यमान रहती है। वे पद भी, जिनमें पूरी लीला की वस्तु समवेत हो गयी है, वर्णनात्मक प्रगीत का एक रूप प्रस्तुत करते हैं। दृष्टकूट पदों तक में यह तत्त्व विद्यमान है।

सूर के गीतिकाव्य में गेयत्व सर्वत्र विद्यमान है। पदों का शब्द-विधान शास्त्रीय राग-रागिनियों में आबद्ध है, इसलिए उसमें स्वर-ताल की सुंदर योजना मिलती है। सूर के पदों का संगीत-विधान सफल है, क्योंकि सूरदास स्वयं कुशल गायक थे और श्रीनाथ जी के मंदिर में मुख्य कीर्तनकार के रूप में नियुक्त थे। सूर की पदावली में शास्त्रीय संगीत ने लीला के भाव को उद्दीप्त करने में अद्भुत सहायता प्रदान की है परंतु यह विचारणीय है कि सूर के पदों में प्राप्त शब्द-संगीत उनके कवित्त के ही आश्रित रहा है। रसानुकूल वर्ण-योजना और संगीतात्मक शब्द-विधान जहाँ नाद-सृष्टि करता चलता है, वहीं वह अर्थ-ध्वनन में भी सहायक रहा है। जहाँ सूर की कला अपने सुंदरतम, रूप में अभिव्यक्त हुई है, वहाँ संगीत-योजना के साथ लक्षणा और व्यंजना का सुंदर व्यापार लक्षित होता है। अलंकारों की अवतारणा के लिए कवि को कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। अस्तु, सूर की पदावली में जहाँ शब्द-विधान, संगीतोचित है, वहीं वह काव्यत्व से भी भरपूर है, उसमें कला का भावाश्रित मनोरम विन्यास दिखाई पड़ता है :

किलकत कान्ह घुटरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति।[1]

इस पद में कृष्ण के रूप-चित्रण में तत्सम शब्दावली के माध्यम से जहां

---

१. सूरसागर ७२८

संगीत का विधान हुआ है, वहीं रूप-चित्रण के निमित्त प्रयुक्त उपमानों और बिंबों की भी सफल योजना हुई है।

पद-रचना में कहीं-कहीं सूरदास की कला इतनी प्रखर हो गयी है कि संगीत-तत्त्व गौण पड़ जाता है। कवि की रचनाशीलता शब्दक्रीड़ा में ही केंद्रित हो जाती है। परिणामतः अर्थगोपन एवं चमत्कार की प्रवृत्ति के कारण सब कुछ गौण पड़ जाता है। दृष्टकूट पदों में पद-प्रवृत्ति सर्वाधिक मात्रा में पल्लवित हुई है। परंतु जहाँ सूरदास एक ही शब्द की पुनरावृत्ति के माध्यम से अर्थगत चमत्कार उत्पन्न करते हैं, वहाँ उसके माध्यम से अद्‌भुत संगीत की भी सृष्टि हुई है :

जनि हठ करहु, सारंग नैनी।
सारँग ससि सारँग पर सारँग ता सारँग पर सारँग-बैनी।
सारँग रसन, दसन पुनि सारँग, सारँग सुत दृग निरखति पैनी।
सारँग कहौ सु क्यौं न विचारौ, सारँग-पति सारँग रचि सैनी।
सारँग सदनहिं ले जु बरुनि गई अजहुँ न मानति गत भई रैनी।
सूरदास प्रभु तुव मग जोवैं, अंधक-रिपु ता रिपु-सुख-दैनी।[१]

यहाँ सारंग शब्द की अर्थ व्याप्ति तो श्लाघ्य है उसकी पुनरावृत्तियों से पूरे पद में एक उत्कृष्ट संगीत की भी व्याप्ति हो गई है। सूर की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार यहाँ टेक ने संगीतात्मकता भर दी है।

सूर के गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजन की प्रखरता रही है। विनय के पदों में आत्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष है। यह कवि के आराध्य के प्रति है और दैन्यमूलक है। विनय के पदों में आत्मग्लानि की जो अभिव्यक्ति हुई है वह सूर के सहज भक्त व्यक्तित्व को साकार कर देती है। यहाँ उसकी अनुभूति किसी भी मानवीय संबंध से अनुशासित नहीं है परंतु महाप्रभु वल्लभाचार्य के संपर्क में आने के पश्चात् उनका आत्मनिवेदन कृष्णलीलाश्रित हो गया। कृष्ण के नाम, रूप, लीला और धाम में सूर की मनोवृत्ति केंद्रीभूत हो गयी। उनकी भक्ति वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-भावों के माध्यम से साकार हुई। सूर ने विभिन्न पात्रों से अपना भावात्मक संबंध जोड़कर आत्मानुभूति का नया संस्कार किया। विविध कृष्णलीलाओं में सूर ने उनके अनुरूप भावों के माध्यम से योग दिया; इसलिए सूर के गीतिकाव्य में उनका आत्माभिव्यंजन कहीं नंद और यशोदा के साथ संयुक्त है, कहीं व्रजवासियों के साथ, कहीं गोप सखाओं के साथ, कहीं गोपियों के साथ, कहीं राधा के साथ और कहीं राधा की सखियों के साथ, पर सर्वत्र सूर ने अपने को कृष्ण के प्रति समर्पित किया है। आत्माभिव्यंजन का यह उदात्त रूप सूर के गीतिकाव्य में सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. सूरसागर, ३४१६

गीतिकाव्य में रागान्विति का महत्त्व सर्वोपरि है, जो सूर के गीतिकाव्य में अत्यंत मिलती है। सूर के गीतों में भाव की सशक्त अन्विति मिलती है। विनय के पदों में आद्यंत दैन्यभाव ही पल्लवित हुआ है, जो आत्मनिवेदन की व्यंजक टेकों के माध्यम से और भी श्लाध्य बन गया है। कृष्णलीलापरक पदों में वस्तुतत्त्व की सूक्ष्मता के कारण भाव के उद्दाम प्रवाह को सूर के गीतिकाव्य की सामान्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लोकगीतात्मक पदों में भावधारा टेकों के माध्यम से और भी उद्दीप्त होकर संचरित होती है। उसमें प्रभावी-अन्विति या विन्यास स्वतः ही हो जाता है। चरण-युग्म समान तुक के कारण संगीत की सृष्टि करते हुए भाव को विकास देते चलते हैं और अंत में पद के पूर्ण होने पर अंतिम चरण में कवि की नाम-छाप साथ के अन्विति को पूर्णता प्राप्त होती है। अनेक पदों में तो भाव की परिणति अंतिम चरण पर ही जाकर उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि में सफल सिद्ध हुई है :

देखियति कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी।
विगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि-दिसि दीन दुखारी।
निसिदिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[१]

सूर के गीतों में काव्योचित भाव-प्रवणता सर्वत्र मिलती है, जो रागात्मक अन्विति से अनुप्राणित रहती है।

सूर का गीतिकाव्य उनकी निश्छल अनुभूतियों का प्रतिफलन है। विनय के पदों में दैन्यभाव का जो प्रकाशन हुआ है वह उनकी सहज अंतःप्रेरणा से प्रसूत है, अतः सूर के आत्मनिवेदन में कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई पड़ती। वे कृष्णलीला के गान में प्रवृत्त होने पर नित्य आत्मनिवेदन की सांप्रदायिक प्रक्रिया से गुजरते थे अतः प्रत्येक कृष्णलीला के चित्रण में विविध पात्रों के माध्यम से उन्होंने आत्मनिवेदन व्यक्त किया है। बाललीला के पदों में वात्सल्यभाव से आत्मनिवेदन करते हैं, सख्य लीलाओं के अंतर्गत वे गोप-सखाओं के माध्यम से अपने आराध्य की सरस क्रीड़ाओं पर रीझते और रिझाते हैं तथा माधुर्य-लीलाओं में गोपी के रूप में सरस लीलाओं में योग देकर पूर्ण समर्पित हो जाते हैं। सभी भावों के पदों में सूर रस-सृष्टि करते हैं। उनकी सहज अंतःप्रेरणा गीतों में अव्याख्येय प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर देती है।

---

१. सूरसागर, ३८०६

सूर के काव्य की शैली गीतिकाव्योचित एवं प्रसादगुण युक्त है। उसमें विचित्र तरलता है। जहाँ सूर की कला अर्थगोपन एवं प्रतीकात्मक शब्दावली के प्रयोग में सजग रही है, केवल वहीं उनकी पदावली में प्रसाद गुण का अभाव मिलता है। सूरदास भावानुरूप वर्णविधान में सफल हैं और इसलिए उनके गेय पदों में संगीत भी सफल बन पड़ा है। सूर की भाषा में संगीत की सृष्टि के माध्यम अनुप्रास और तुक के तत्त्व रहे हैं और सूर ने इनका निर्वाह भी सर्वत्र किया है। शब्दों की वर्णशैली और पुनरावृत्ति की प्रवृतियाँ संगीत की सृष्टि करने में और भी सक्षम रही हैं। लोकगीतात्मक पदों में तो यह प्रवृत्ति और भी प्रखर रही है :

आजु तौ बधाई बाजै, मँदिर महर के।
फूले फिरैं गोपी-ग्वाल ठहर-ठहर के।
फूली फिरैं धेनु-धाम फूली गोपी अँग-अँग,
फूले फले तरवर आनँद लहर के।
फूले वंदीजन द्वारे, फूले फूले बंद बारे,
फूले जहाँ जोइ सोइ गोकुल सहर के।
फूलैं फिरैं जादौकुल आनँद-समूल मूल,
अँकुरित पुन्य फूले पाछिले पहर के।[1]

रूप चित्रण के पदों में सादृश्य मूलक अलंकारों के प्रयोग में सूर की कला जहाँ सौंदर्य की सृष्टि करती है, वहीं उसने सुंदर संगीत की भी सृष्टि की है।

लाल हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि-मन बिहँसनि, भृकुटी बिकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध-दँतुलियाँ विहँसत, मनु सीपज घर कियौ बारिज पर।
लघु-लघु लट सिर घूँघरवारी, लटकन लटकि रह्यौ माथै पर।
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचति हौं जिय पर।
नव-तन-चंद्र-रेख-मधि राजत, सुरगुरु-सुक्र-उदोत परसपर।
लोचन लोल कपोल ललित अति, नासा कौ मुकता रदछद पर।
सूर कहा न्यौछावर करियै, अपने लाल ललित लरखर पर।[2]

सूर के काव्य में कृष्णलीलाओं के वर्णन के कारण वस्तुतत्त्व का प्राचुर्य दिखाई पड़ता है परंतु जहाँ सूरदास कृष्णलीलाओं को अनुभूत्यात्मक स्पर्श प्रदान करते हैं, वहाँ वस्तुतत्त्व निमित्त मात्र रह गया है। अनुभूति के लावण्य में कृष्ण-लीलाओं के वस्तुगत उपकरण घुलमिल गए हैं और पदस्थ भाव ही प्रधान रहा है। कृष्णलीला का गान करके सूर ने जैसे आत्मप्रक्षालन किया हो और लीला के

१. सूरसागर, ६५२ २, सूरसागर, ७११

समानांतर उनकी भाव-चेतना प्रबुद्ध होकर गीतिकाव्य के रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसलिए सूरदास कृष्ण की बाललीलाओं को जिस तन्मयता के साथ वर्णित करते हैं, उसी तन्मयता से वे सख्य-लीलाओं में योग देते हैं। राधा-माधव की माधुर्य-केलि के चित्रण में तो जैसे उनकी तन्मयता अपनी पूर्णता को पहुँच गयी हो। परंतु सूर की गीति-रचनाएँ केवल आत्म-प्रलाप नहीं हैं। कीर्तन के रूप में रचे जाने के कारण उनमें लोककंठ को भी प्रश्रय मिला है और इसलिए उनमें लोकगीतों की सामूहिक गान की चेतना भी विद्यमान है। सूर के गीतों में आत्मानुभूति के साथ लोकानुभूति एकरूप हो गई है।

सूर के गीतिकाव्य में अनुभूति और तदनुरूप शिल्प का सुंदर सामंजस्य मिलता है। संगीतज्ञ होने के कारण सूर के स्वर-साधन ने पदों के लय-विधान में अपूर्व सहयोग दिया है। उनकी प्रखर कवि-प्रतिभा ने तो कला के सभी उपकरणों को समन्वित कर उन्हें रसभूमि पर अद्‌भुत प्रभावोत्पादकता प्रदान की है। सूर ने अपनी अनुभूति के समक्ष सब कुछ न्यौछावर कर दिया है, इसलिए उनका काव्य सच्चे अर्थों में रसकाव्य है और इसलिए वह उत्कृष्ट गीतिकाव्य भी बन सका है।

□ डा० रंजन

सूर का शृंगार-पक्ष

'शृंग्' और 'आर' इन दो शब्दों के मेल से शृंगार शब्द की रचना होती है। यहाँ शृंग् का अर्थ कामोद्रेक है तथा आर के संयोग से शृ धातु का व्यवस्थित होकर गत्यर्थ हो जाता है, अर्थात् कामोद्रेक की गति अथवा उसकी प्राप्ति को शृंगार का वर्ण्य विषय माना जाता है। शृंगार का स्थायीभाव रति है। यही रतिभाव नायक या नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक-दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर शृंगाररस कहलाता है। आचार्य विश्वनाथ ने कामदेव के अंकुरित होने को शृंगार की संज्ञा से अभिहित किया है। बुद्धि से भी परे काम-भावना है, जो सृष्टि का मूल तत्त्व है; जिसका सिद्धांत 'एको अहम् बहुस्याम्' है; जिसके परिणामस्वरूप पुरुष और प्रकृति में अन्योन्याश्रित संबंध है। डा० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में प्रकृति भी पुरुष से भिन्न नहीं—प्रत्युत उसी की शक्ति है। अतः प्रजननशक्ति का कार्य-व्यापार अनवरत, अबाध गति से चलता जा रहा है। काम सबका जनक, सर्जक और नियामक है। वह सर्वव्यापी है। उसकी सर्वव्यापकता की अनिर्वचनीयता और अलौकिकता का आभास चर्म-चक्षुओं से हो नहीं पाता वरन् अनुभूति के अचल तल में उसने जड़-चेतन सबको बाँध रखा है।

छायावादी काव्य के मंच से प्रसाद जी ने स्वीकार किया है—**'काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम।'** और प्रकृति ! पुरुष से उसका शाश्वत संबंध है। एक की पूर्णता दूसरे के अभाव में संभव नहीं। सृजन के मूल में पुरुष और प्रकृति इन्हीं दोनों तत्त्वों का शारीरिक और मानसिक आकर्षण काम मंगल की इच्छा से मंडित हो कल्याण का नवनिकेतन निर्माण कर रहा है। यह नूतन लीला-व्यापार आध्यात्मिक जगत् में मोक्ष-प्रदायिनी शक्ति से विभूषित किया जाता है। यह फिर लौकिक जगत् में वासनात्मक होकर दुःख का कारण बनता है। लगता है इसी चक्रवर्तित्व के कारण शृंगार को रस-सम्राट् या रसराज माना जाता है।

श्रृंगार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। डा० गणपतिचंद्र गुप्त ने प्रेम की प्रकृति और उसके स्वरूप-भेद की दृष्टि से आपत्ति उठाई है। अतः उन्होंने इसे भेद न कहकर दो अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किया है। आगे हम सूर-साहित्य का अध्ययन इन्हीं दो के आधार पर करेंगे।

साँवलिया बिहारीलाल के अनन्य उपासक भक्त श्री सूरदास श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के अमर गायक हैं। रूप के मोह की आँधी में आबद्ध आराध्य की अनुग्रह-प्राप्ति के लिए सूर अपनी बंद आँखों से ब्रज का कोना-कोना छान गए। इनके सामने एक ही लक्ष्य था—प्रेम-तत्त्व की पुष्टि। लोकपक्ष की ओर इनका ध्यान नहीं था। फलस्वरूप वे भगवान् में पूर्णासक्ति दांपत्य-रति के माध्यम से प्राप्त करते हैं।

श्रीकृष्ण श्रृंगार-सम्राट् हैं। वे केवल १२ वर्ष तक ब्रज में रहे। इस अल्प अवधि में वे अपनी बाल-सुलभ चपलता, बाल-सौंदर्य तथा मधुर वाणी से सारे ब्रज को मोहित कर लेते हैं। बालछवि-व्याख्याता महाकवि सूर की काव्य-प्रतिभा ब्रजराज के सौंदर्य-अंकन में तुलसी की काव्य-प्रतिभा से आगे है। सूर का हृदय श्रीकृष्ण के अनुपम सौंदर्य से इतना प्रभावित था कि कहीं-कहीं मर्यादा का बाँध भी टूट गया है। उनके कृष्ण अपने उत्पातों के कारण गोपियों का प्रेम-नैकट्य प्राप्त करते हैं। आलोचक प्रवर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा-सखी यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने ठीक ही कहा है—"लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै" और वह जीवनपर्यंत नहीं छूटता, बल्कि जुड़ता ही जाता है। प्रेम का जादू सूर के कृष्ण अपनी बाल्यावस्था से ही गोपियों पर डालने लगे थे। उनकी वाचालता इस जादू को और पुष्ट करती थी। प्रेम का उदय चुपके-चुपके सब कुछ छलने लगता है। गोपियाँ अपने घर की चाहर दीवारी के भीतर ही इस माधुरी के वशीभूत हो जाती हैं। कृष्ण के अपार सौंदर्य को देखकर-सुनकर आत्मविभोर हो जाती हैं। कृष्ण भी भला कब मानने वाले थे! छेड़ने से बाज नहीं आते। इस प्रकार हास-परिहास शुरू हो जाता है। कृष्ण और गोपियों का मधुर संभाषण बहुत ही मनमोहक वातावरण उपस्थित कर देता है। श्रीकृष्ण एक दिन घर से खेलने जाते हैं। चित्त चुरा लेने की कला के वे आचार्य हैं। राधिका सामने खड़ी मिलती हैं। प्रेम के नव-अंकुर उग आते हैं। लगता है मनसिज भविष्य के निर्माण का अखाड़ा तैयार करने को उपस्थित हैं :

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।
× × ×
गये स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।

सूर स्याम देखत हीं रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ।[१]

'चंदन की खोरी' और 'नैन विशाल भाल दिये रोरी' तक तो बात ठीक थी किंतु ज्यौं ही नैन से नैन मिले राधिका के हृदय में धड़कन शुरू हो गई। कृष्ण इतने से ही मानने वाले नहीं थे। उनकी ये आदत पुरानी थी। आखिर उन्होंने राधिका को छेड़ ही दिया :

बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ।[२]

भोली-भाली राधिका हिम्मत बाँधकर ज्यों ही कुछ कहने की स्थिति में आती हैं, उनके मुँह से केवल यही शब्द निकलते हैं 'सुनत रहत श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी'। कृष्ण तपाक से अपनी सफाई देते हैं :

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी ।[३]

भोली राधिका कृष्ण की बातों में आ जाती हैं। कृष्ण के वाक्‌चातुर्य के सामने राधिका का झुक जाना भी स्वाभाविक था। खेल-खेल में ही इतनी बड़ी बात हो जाती है। बस दोनों मिलनातुर हो जाते हैं। अहर्निश दोनों इसी उधेड़बुन में रहते हैं कि कब कहाँ मुलाकात हो? वन में नाना प्रकार के रंग-रहस्यों के बीच हृदय-प्रेरित हावों की छटा का प्रदर्शन करने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। कैशौर्य और बाल्यकाल का यह संधिकाल था। इस संधि के विस्तृत मैदान में दोनों ऐश्वर्य का कुंकुम बिखेरते, गायों को चराते और अपनी विनोद-वृत्ति का खुला प्रदर्शन कर फूले नहीं समाते :

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।
मोहन-कर तें धार चलति, परि मोहनि-मुख अति ही छबि गाढ़ी ।।[४]

अब आप ही सोचिए, ऐसे छोकरे से गाय कौन दुहावेगा? राधिका खीझ जाती हैं। वह जो उत्तर देती हैं, उसकी तुलना नहीं :

---

१. सूरसागर, १२९०
२. सूरसागर, १२९१
३. सूरसागर, १२९१
४. सूरसागर, १३५४

तुम पै कौन दुहावै गैया ।
× × ×
इत चितवत, उत धार चलावत, यहै सिखायौ मैया ?[१]

ये दोनों, प्रेम की युगल मूर्ति, चाहते तो वन की बात वन में ही छोड़ देते । पर ऐसा हुआ नहीं क्योंकि अहं की अभिव्यक्ति अपनी पूर्णता पर ही निखार पाती है । मनोविश्लेषणवादी फ्रायड ने कहा है—"सभी मानवीय प्रवृत्तियों के मूल में व्यक्ति का अहं कार्य करता है और विभिन्न भावनाएँ अहं-मिश्रित काम के ही परिवर्तित रूप हैं ।" फलस्वरूप दोनों मर्यादा की दीवार पार कर एक-दूसरे के घर आने-जाने लगे । यशोदा इन घटनाओं का लेखा-जोखा रखती हैं । कहीं उनका साँवला किशोर राधा के रूप-लावण्य का लट्टू बन उसके चक्कर न काटने लगे । अतः वे सर्वप्रथम राधा को ही मना करती हैं । राधा ने बड़ी ढिठाई से उत्तर दिया । उसे देखकर तो ऐसा ही लगता है कि भक्तिकालीन जगत् में राधा जैसी प्रगल्भ नायिका को सूर ने पहले ही सृजित कर दिया था । बिहारी और पद्माकर 'राधा और कृष्ण सुमिरन को बहानो है' के लिये तो व्यर्थ ही बदनाम हो रहे हैं । राधा देखते ही देखते कितनी चतुर और सयानी हो गयी हैं । उनके शब्दों से उदात्त प्रेम की स्पष्ट अभिव्यंजना हो रही है :

बार बार तू जनि ह्याँ आवै ।
मैं कह करौं, सुतहिं नहिं बरजति, घर तें मोहिं बुलावै ।
मोसौं कहत तोहिं बिनु देखें, रहन न मेरौ प्रान ।
छोह लगति मोकौं सुनि बानी, महरि तुम्हारी आन ।[२]

यशोदा ने केवल इतना ही कहा था "बार बार तू यहाँ मत आ" । सीधी-सी बात थी; जिसका सीधा-सा उत्तर होता 'अच्छा मैं नही आऊँगी' । पर यहाँ तो नहले पर दहले का खुला प्रयोग था । बीच-बचाव में राधिका ने जो 'छोह' शब्द का प्रयोग किया है, उससे सहृदय पाठक का हृदय तत्क्षण रस से आप्लावित हो जाता है ।

कृष्ण का अंतः और बाह्य गंगा-यमुना प्रवाह-सा परिलक्षित होता है । उनकी बाह्य सौंदर्य-सरिता में सारा ब्रज डूबता-उतराता दृष्टिगत होता है । गोपियाँ उनके अंग-अंग की रस-माधुरी को देखकर मंत्रमुग्ध हैं। उनकी आँखें चौंधियाँ जाती हैं । इधर सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी राधा है । इस सारे सौंदर्य को देखकर किसी को ईर्ष्या हो सकती है । पर राधा कृष्ण की हैं और कृष्ण राधा के । यह आत्मा और परमात्मा का अनुपम योग है ।

सूर में अद्भुत रूपसृष्टि-विधायिनी प्रतिभा है । उनकी गोपिकाएँ अंत में हार जाती हैं । रूप का जादू उन्हें सुध-बुध खो देने को बाध्य कर देता है । कमाल है,

१. सूरसागर, १३५२ २. सूरसागर, १३४१

कृष्ण के लावण्य को ! जो देखता है वह भी सिर धुनता है और जो नहीं देखता, वह तो पश्चाताप करता ही है।[१] तरुणियाँ इस निश्चल सौंदर्य और प्रेम-साधना को निरख कर छक-छक जाती हैं। उन्हें श्याम-सुंदर के सौंदर्य-सुधा-पान करने के अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं। न घर की चिंता और न बाट की। यौवनोन्मत्त गोपियों पर रस की मादकता चढ़ चुकी है, जो उतरती नहीं। गोपिकाएँ अब उस रूप के इंद्रजाल से विवश एवं बिहाल हो चुकी हैं :

तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोबन-रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नहिं, माखन नहीं, रीतौ माट।
महा रस अँग अंग पूरन, कहाँ घर, कहँ बाट।
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति, को नारि।
सूर प्रभु कें प्रेम-पूरन छकि रहीं ब्रजनारि।[२]

शैशवावस्था के बाद ज्यों ही कृष्ण किशोरावस्था की देहली पर अपना पैर रखते हैं, एकदम स्वतंत्र हो जाते हैं। गोपिकाएँ छेड़-छाड़ और साँवलिया श्रीकृष्ण के सौंदर्य-सुधा-संस्पर्श से काम-जनित वासना का शिकार हो जाती हैं। अतः उनका क्षण-क्षण परिवर्तित अभिनवरूप राधा के हृदय को टीसने लगता है। गोपियाँ यह दशा देखकर बेहाल हैं, क्योंकि दोनों समवयस्क हैं। कोई घट-बढ़ कर नहीं है। दोनों शोभा-सिंधु हैं। सूर की राधा किसी भी प्रकार कम नहीं। कवि इनकी निःसर्ग सौंदर्य-सुधा को 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' कहकर संतोष की साँस लेता है। पर दूसरे ही क्षण जब उसे यह कल्पना अधूरी जान पड़ती है तो 'एक प्राण तन दो' कहकर पाठक को आत्म-विह्वल कर देता है। डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है, कृष्ण और राधा का सौंदर्य-संयोग मणिकांचन का योग था।[३] तभी तो दोनों ब्रजभूमि को अपनी रूप-माधुरी से आलोकित किए हुए हैं। सूर की निष्पक्ष सौंदर्य विधायिनी प्रतिभा ने राधा की मोहिनी छवि का अंकन कृष्ण के समानांतर ही किया है। यही कारण है कि राधा के मोह-पाश में कृष्ण आबद्ध हुए। ऐसी स्थिति में सूर का 'एक प्राण तन दो' कहना स्वाभाविक है। सूर ने कहा है :

सुनहु सखी राधा सरि को है।
जो हरि है रतिपति-मनमोहन, याकौ मुख सो जोहै।
जैसौ स्याम नारि यह तैसी, सुंदर जोरी सोहै।
यह द्वादस वहऊ दस द्वै कौ, ब्रज-जुवतिनि मन मोहै।

---

१. सूरसागर, १२५२ २. सूरसागर, २२४२
३. सूरसौरभ, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० २५१

मैं इनकौं घटि बढ़ि नहिं जानति, भेद करै सो को है।
सूर स्याम नागर, यह नागरि, एक प्रान तन दो हैं।[1]

अतः प्रेमाकर्षण का होना स्वाभाविक है। यदि कृष्ण को राधा प्यारी है, तो राधा को कृष्ण। प्रेम में दोनों पागल हैं।

कवि ने संयोग-शृंगार के जिन कपाटों को खोला है, उससे कृष्ण-काव्य-कलेवर में चार चाँद लग जाते हैं। कृष्ण और राधा का संयोग-सुखद जीवन संगीतमय हो जाता है। कृष्ण का कौमार्य और राधा का सौकुमार्य ब्रज की बीथियों में ब्रज-वनिताओं के मुख की मधुमय गुंजार बन जाता है। सारा ब्रजमंडल राधा-कृष्णमय हो जाता है।

'सर्वेषामेव प्रतिकूल वेदनीय दुखं' के आधार पर सबकी प्रतिकूल बातों को दुःख से अभिहित किया जाता है। कहते हैं, प्रेम विरह की अग्नि में तपकर कुंदन हो जाता है। वास्तव में प्रेम की पूर्णता या परिपक्वता वियोग में ही होती है। संयोग से ऊबना स्वाभाविक है। पर वियोग की महत्ता सदैव विद्यमान रहती है, जिसके सुखद वातावरण से प्रेम-सुधा की सुरभि महकती रहती है। अतः प्रेम के निखार के लिए विरह आवश्यक है।

महाकवि सूरदास हृदय-पारखी कवि थे। उनका संयोग-वर्णन जितना विस्तृत एवं व्यापक है, उससे कहीं अधिक विस्तार विप्रलंभ का है। विपुल अंतःदशाओं और भावभूमियों का सृजन उनकी प्रतिभा की अपनी सूझ-बूझ है। यों तो सारा ब्रज-मंडल इस विरहाग्नि में धू-धू कर जल रहा है किंतु नंद, यशोदा, गोपिकाएँ और श्रीकृष्ण की आह्लादकारिणी शक्ति स्वयं राधा विरहानल में भस्मसात दृष्टिगत होती है। सूर का वियोग, वियोग है, ऊहा नहीं। एक साधारण मानसस्थल पर महाकवि सूर ने नंद, यशोदा, ब्रज-वनिताओं और गौरांगी राधा के विरहोद्गार को सहजरूप में पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है। संयोग का समाजीकरण तभी संभव है जब वह वियोग की वनस्थली में बहुचर्चित बन जाए। आचार्य बाजपेयी ने लिखा है कि ब्रज में रहते कृष्ण का जो प्रेम गोपियों में इधर-उधर बिखरा था, अब उनके मथुरा जाने पर वह छनकर एकत्रित हो रहा है।[2]

प्रसंग है मथुरा-गमन का—कृष्ण और बलराम दोनों भाइयों को कंस का बुलावा है। अक्रूर पधारे हैं। उनका रथ ग्वाल-बालों से घिर जाता है। दोनों भाइयों को वे रथ पर बैठा लेते हैं और चलने को प्रस्तुत हो जाते हैं। माँ यशोदा इस दृश्य को देखने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाती हैं। माँ सचमुच माँ है, वह घबड़ा जाती है। तभी उसका करुणा-विगलित स्वर सुनाई पड़ता है। पर कृष्ण तो बालक हैं,

१. सूरसागर, २५२१ २. सूरसागर, नंददुलारे बाजपेयी, पृ० १५६

उन्हें क्या पता ? न बोलते हैं और न चीखते हैं। तभी यशोदा का हृदय हाहाकार कर उठता है :

मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बारंबार निरखि सुख मानति, तजति नहीं पल आधौ।[१]

और जब वे अक्रूर से प्रार्थना करती है, मातृ-हृदय उबल पड़ता है। वे विलाप करने लगती हैं। कवि की लेखनी आँसुओं से भीग जाती है।[२]

विधि का विधान बड़ा विचित्र होता है, उसके सामने किसी का वश नहीं चलता। श्रीकृष्ण यशोदा को रोते-बिलखते छोड़कर मथुरा को चले जाते हैं। फिर तो सारा ब्रजमंडल वीरान हो जाता है। पलक मारते ही सारा उल्लास और आह्लादपूर्ण वातावरण विषादमय हो जाता है। प्रकृति अनमनी हो जाती है, मानो समस्त ब्रज की कलिकाओं पर तुषारापात हो जाता है[३], यशोदा संदेश पर संदेश भेजती हैं[४], पथिकों से कुशल-क्षेम पूछती हैं।[५] नंदबावा से झगड़ जाती हैं। यहाँ सूरदास ने वियोग-संतप्त माँ यशोदा की भाव-लहरियों और वियोग-वात्सल्य की मार्मिक-अवस्थाओं-अभिलाषा, गुणकथन, चित्र, स्मरण, व्याधि, जड़ता, उद्वेग, मूर्छा, प्रलाप[६] आदि-का कुशल चित्रण किया है।

अब देखिए, ग्वाल सखाओं और गोप-बालाओं की दशा। सूर का अंतःकरण फूट पड़ता है। उनके ग्वाल-बाल अपने सखा श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करने लगते हैं। विरह-व्याकुल और अधीर हो अपने सखा श्रीकृष्ण को निष्ठुरतापूर्वक उलाहने देते हैं। ग्वालबालों की आत्मीयता में मौलिकता का पुट बहुत ही कारुणिक है :

भये हरि मधुपुरि राजा बड़े बंश कहाय।
सूत मागध बदत बिरुदाहे बरनि बसियो तात।
राजभूषन अंग भाजत अहिर कहत लजात।

स्वाभाविक है कि सरस सिंधु में ग्वाल सखाओं द्वारा कही हुई यह उक्तियाँ सूर के काव्य-कौशल की कमनीयता को द्विगुणित कर देती हैं।

गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन से पर्याप्त व्याकुल हैं। वे उन्हें घेर लेती हैं, क्योंकि उनका साहचर्य संबंध शाश्वत है। आज 'लरिकाई को प्रेम' अचानक ही टूट रहा था। भला उसे भुलाना संभव था ? अतः वे अक्रूर के सजे रथ को घेर कर मूक, चित्रवत् खड़ी हो जाती हैं। वदन सूखे हैं, नैन गीले हैं, आँसुओं का प्रवाह

१. सूरसागर, ३५८९
२. सूरसागर, ३६०८
३. सूरसागर, ३७९३
४. सूरसागर, ३७९१
५. सूरसागर, ३७८२
६. सूरसागर, ३८८१, ४८५३, ३८५६, ३८३८, ४०८६, ३८५९

उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। बड़ी ही असामंजस्यपूर्ण स्थिति है। बेचारी गोपिकाएँ तो बोल भी नहीं पातीं। ज्यों कि त्यों खड़ी रह जाती हैं :

रहीं जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ीं।
हरि के चलत देखियत ऐसी, मनहु चित्र लिखि काढ़ी।
सूखे वदन, स्रवति नैननि तैं जल-धारा उर बाढ़ी।
कंधनि बाँह धरे चितवतिं मनु, द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी।[1]

कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। गोपियाँ जड़वत् हो जाती हैं। उनके पाँव अब आगे नहीं बढ़ते। चाहिए तो यह था कि रथ के साथ-साथ वे आगे बढ़तीं या रथ को रोकतीं पर उनके नयन तो पीछे हो लिए हैं। लगता है मन के मिल जाने से नयन की चंचलता और पावों की गति भी उनके साथ हो ली है। बात सही है, नेत्र और प्राण का अब यहाँ रहना संभव नहीं :

पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय।
पवन न भईं पताका अंबर, भईं न रथ के अंग।
धूरि न भईं चरन लपटातीं, जातीं उहँ लौं संग।[2]

हृदय अनुभूति का केंद्र है। गोपिकाएँ अब अपने हृदय को कोसती हैं। कारण यह है कि हृदय के कारण ही आज नयनों की प्रतीति जा रही है। कृष्ण के बिना सूना घर काटने को दौड़ता है।[3] और तो और रसवती श्यामल रजनी में नींद नहीं आती है[4] और रजनी भी क्या कमाल की है ? जब श्याम थे, यह रात अपने रस-स्निग्ध वातावरण से मोहिनी ला देती थी। अब तो वह साँपिन-सी बन गयी है। कहते हैं, नागिन काटकर जब उलट जाती है तो आदमी का बचना मुश्किल हो जाता है। भादों की अंधेरी रात में जब कभी बादल अंबर से हट जाते हैं, चाँदनी छा जाती है तो लगता है, किसी विरहिनी को डस कर साँपिन उलट गयी है। सूर की यह सूझ गजब की है :

पिया बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरें खात।[5]

गोपियाँ मथुरा-प्रवास के समय जड़वत् थीं। लेकिन यह जड़ता क्षणभर के लिए थी। तत्क्षण उनका प्रेमाकुल एवं विरहाकुल जीवन जाग उठता है और वे

---

१. सूरसागर, ३६१२ २. सूरसागर, ३६१७ ३. सूरसागर, ३६२७
४. सूरसागर, ३६२२ ५. सूरसागर, ३८९०

पश्चाताप तथा ग्लानि से भर जाती हैं। व्रज के उपवन, लता-पता सभी उनके लिए दाहक हो जाते हैं। दारुण व्यथा से पूरित उनका हृदय जब कुंजों की तरफ देखता है तो एक निराशा-सी छा जाती है :

बिनु गुपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजैं।[१]

जब अपना प्रियतम नहीं होता तो सारा संसार वृथा है। विरहातुर गोपियाँ अपने नीरस जीवन की समता न पाकर सब कहीं विषमता को देखकर पागल हो जाती हैं। वैषम्य में, सहजसाहचर्य की अनुभूति अपने तीव्रतर वेग से उत्पन्न हो जाती है, जिसे सहन करना प्रियपात्र के लिए कठिन हो जाता है। यही कारण है कि सूर की गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा के मिस, व्यंजना के माध्यम से, मधुवन को धिक्कारती हैं :

मधुबन तुम क्यौं रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यौं न जरे।[२]

सूरदास यहाँ व्रजवनिताओं से तादात्म्य स्थापित कर मधुवन को उनसे उलाहने दिलवाते हैं। यही वियोग की वह स्थिति है, जहाँ से भ्रमरगीत की धारा प्रवाहित हो सूर के पाठकों को रस से आप्लावित करती है। संयोगकालीन सुखद स्थितियों की स्मृति वियोगकालीन धरती पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं, क्योंकि संयोग-सुख की घड़ियों में जिन वस्तुओं से उल्लासप्रद वातावरण का निर्माण होता है, उन्हीं से वियोग-व्यथित हृदय में दुख की सहज अनुभूति हो जाती है।

गोपियों की वाणी में कितनी कसक है और है कितनी वेदना-भरी निरीहता। उनके लिए प्रकृति केवल विरोधी ही नहीं बल्कि सहायिका भी है क्योंकि वर्षाऋतु के घोर घमंड घन में साँवलिया का श्यामल रूप भी तो दीखता है :

आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनइ साँवरे सजनी, देखि रूप की आरि।[३]

और वह पपीहा जिसकी वेदना भरी पीउ-पीउ की ध्वनि से एक टीस उठा करती थी, आज जीवन-लता को जीवनदान देता प्रतीत होता है :

सखी री चातक मोहिं जियावत।
जैसें हि रैनि रटति हौं पिय-पिय, तैसेंहि वह पुनि गावत।[४]

और जब कभी आवाज कर्ण-कटु लगती है तो उसकी आवाज को सुनकर पिय की सुधि का स्मरण हो आता है। वह फटकारने से भी बाज नहीं आती, पर दुखी दोनों हैं। समदुखी होने के कारण गोपी को चातक बहुत ही सहृदय जान पड़ता है। इसलिए

---

१. सूरसागर, ४६८६ २. सूरसागर, ३८२८
३. सूरसागर, ३९३३ ४. सूरसागर, ३९५२

वे फटकारती भी हैं और साथ-साथ जीने के लिए आशीर्वाद भी देती हैं। सूर की प्रतिभा का यह दूसरा आयाम अपनी अलौकिकता के उच्चशिखर पर काफी चित्ताकर्षक हो गया है। गोपियाँ कहती हैं :

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ बिरह जुर कारौ।
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ।
देख्यौ सकल बिचारि सखी जिय, बिछुरन कौ दुख न्यारौ।
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारौ।
सूरदास-प्रभु स्वाति बूँद लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ।[1]

गोपियों में राधा उनकी छाया हैं। वे आह्लादकारिणी शक्ति हैं तथा कृष्ण उनके हाथ बिक गए हैं। उनका प्रिय उनके सामने मथुरा प्रवास को जाता है। वे तो सदा मौन रहने वाली थीं। उन्हें तरुणाई की मधुर बेला में कभी वाचाल होते नहीं देखा गया। कुल-ललना की मर्यादा से वे सूरसाहित्य के पाठकों के आकर्षण का केंद्र बनी हैं। चरित्र की चारुता, व्यक्तित्व की विशालता और कौमार्य की कामुकता को छिपाये वे सब कुछ देखती हैं। एक मौन साधक की भाँति गंभीर परंतु दांपत्य के मधुमय जीवन में आकर अक्रूर आँधी-सी मचा देते हैं। राधा के धैर्य का बाँध टूट जाता है। कृष्ण राधा से कहते हैं कि कंस ने मुझे मथुरा बुलाया है, मैं मथुरा जा रहा हूँ। राधा को अपने कानों पर विश्वास नहीं होता, गला भर आता है और वह कुछ उत्तर नहीं दे पाती :

हरि मोसौं गौन की कथा कही।
हरि गद्गर मोहि उतर न आवौ, हौं सुनि सोचि रही।[2]

सारा दृश्य एक क्षण में ही बदल जाता है। यह अंतिम मिलन-वेला थी। वह कुछ कह भी नहीं पायी। रथ आँखों से ओझल होने को प्रस्तुत। भीड़ में घिरी राधिका, अब रोने के सिवा क्या था ? पर पता नहीं क्यों वह एक क्षण में ही वाचाल हो जाती है। मर्यादा का भय अब उन्हें सताता नहीं। उनका प्रणयोन्माद उफन पड़ता है और एकाएक सारी परिस्थितियों को अपने वश में कर लेने का असफल प्रयास करती है—**हौं साँवरे के संग जैहों।**[3]

मथुरा जाकर राधा के कृष्ण बदल जाते हैं। प्रतीक्षा की घड़ी बड़ी बेसब्री से कटती है। लोग कहते हैं कि वे अब राजा हो गए। वे अब मुरली और गौ की बातें सुनकर लजा जाते हैं। परदेशी की प्रीति का अब कोई भरोसा नहीं—**कह परदेसी कौ पतयारौ, पीछे ही पछिताई, मिलौवों में प्रीति बढ़ाई सिधारौ।**

---

१. सूरसागर, ३६५५ २. सूरसागर, ३५८३ ३. सूरसागर, १६६८

राधिका बेचारी परेशान है। कोई धूर्त्त कहता है, कोई स्वार्थी । पर कोई युक्ति नहीं बताता । हैरान होकर वे अपने प्रेम को ही दोषी ठहराती हैं, क्योंकि सही अर्थों में प्रेममग्नहृदय की यही पहचान है। प्रेमी को प्रेमपात्र के दोषों का ज्ञान नहीं होता । वह तो स्वयं के मथ्थे सारा दोष मढ़ देता है । राधिका के मुख से सुनिए :

सखि री हर्राहं दोष जनि देहु ।
तातैं मन इतनौ दुःख पावत, मेरोई कपट सनेहु ।[1]

सूर विरहगीत लिखते-लिखते पागल हो जाते हैं । उन्होंने राधा और कृष्ण की मधुमय झाँकी प्रस्तुत करने में कोई कसर उठा नहीं रखी है, अपितु राधा के माध्यम से उन्होंने प्रेम का परिमार्जित और परिष्कृत रूप हिंदी-जनमानस के सामने प्रस्तुत किया है ।

विरहातुर श्याम अपना संदेश उद्धव के द्वारा भेजते हैं । विवशता में वे कुछ कह नहीं पाते हैं और उद्धव ज्ञान की गठरी लेकर गोपियों के समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं । प्राथमिक सत्कार के बाद ही एक विवाद छिड़ जाता है ।

उद्धव के आने से ब्रज में एक नए अध्याय का सूत्रपात होता है । आशा और निराशा के भँवर में पड़ी गोपियों की जीवन-तरी प्रेमसागर में विहार कर रही थी । इतने में उद्धव का प्रवेश तूफान सरीखे होता है । सारा ब्रजमंडल इस आँधी के आतंक से घबरा जाता है । एक राधा ही थीं, जिन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता । उनके हृदय में जो कसक है, उसे स्पष्ट करना सर्वथा असंभव है । गोपिकाएँ अपने ज्ञान का परिचय देती हैं, पर राधा को तो केवल एक साध है :

बारक जाइयौ मिलि माधौ ।
को जानै कब छूटि जाइगौ, सूल रहें जिय साधौ ।
पहुनैंहु नंद बबा के आवहु, देखि लैहुँ पल आधौ ।[2]

राधा बहुत चाहकर भी कुछ कह न सकीं, उन्होंने सोचा अवश्य था कि कुछ कहें, जिससे दिल हलका हो सके पर नेत्र और गला साथ दें तब तो । नेत्र भर आए । गला रुँध गया । अंत में सूर ने ही साथ दिया तो कहीं बात साफ हो सकी :

प्रीति करि निरमोही हरि सौं, काहि नहिं दुख होइ ।
कपट की करि प्रीति कपटी, ले गयौ मन गोइ ।[3]

आगे भी राधा की तरफ से सूरदास ने वकालत की । लगता है इस वियोग-विवाद में गोपियों की तरफ से स्वयं गोपियाँ अधिवक्ता थीं, पर आदर्श भारतीय कुल-ललना होने के कारण राधा ने अपनी ओर से सूर को नियुक्त कर लिया था । सूर

१. सूरसागर, ३८१४ २. सूरसागर, ३८५० ३. सूरसागर, ४४१८

अपनी ओर से जो सफाई देते हैं उसकी कोई समता नहीं। उन्होंने कहा "दुनिया में ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो बाहर से तो ठीक दीखते हैं पर भीतर उनके मन में कपट रहता है। वे प्रत्यक्षतः हँसते हैं, बोलते हैं और खेलते हैं। ऐसी स्थिति में मन उनका हो जाता है और वे ऐसे निकलते हैं कि 'मन की व्यथा मन ही राखौ गोय'। सारे सपनों पर तुषारापात हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह एक तरफा प्रेम था। फलस्वरूप इसका अंत इस प्रकार हुआ।"

गोपियों ने उद्धव का प्राथमिक सत्कार खूब डटकर किया। उद्धव आए थे ज्ञान की गठरी लेकर लेकिन अनन्य प्रेम की उपासिका गोपियों के सामने उनकी एक भी न चली। गोपियों के वाक्चातुर्य के सामने उनका ज्ञान-गौरव भस्मसात् हो गया। वे एक मात्र 'सस्ता माल बेचने वाले' व्यापारी रह गए। गोपियों के मुँह से सुनिए :

आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की ब्रज मैं आनि उतारी।
फाटक दैके हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी।[1]

उद्धव का बुद्धिव्यायाम यद्यपि काफी चातुर्यपूर्ण था पर वहाँ राग की जगह विराग, संयोग की जगह वियोग और माधुर्यस्नात मधुरवाणी की जगह कोरा ब्रह्मज्ञान गोपियों के लिए जले पर नमक छिड़कने जैसा था। अतः उद्धव को न मानते देख गोपियों ने अपने वाक्जाल का तमाचा उनके ज्ञान योग पर दिया :

उद्धव जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कहा जाने कैसा ध्यान धराहीं।[2]

अतः उन्होंने विवशता प्रकट की और उनसे चुप रहने की प्रार्थना करने लगीं :

अखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहति रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।[3]

उद्धव चुप हो गए। पश्चाताप करने लगे। बेचारे की इस दयनीय दशा का वर्णन सूर ने निम्न ढंग से किया है :

उद्धव मौन साधि रहै।
जोग कहि पछितात मन-मन, बहुरि कछु न कहै।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के इस वियोगप्रवाह में नंद, यशोदा, गोपी,

१. सूरसागर ४५८३ २. सूरसागर, ४५४२
३. सूरसागर, ४१७५ ४. सूरसागर, ४५०१

ग्वाल और राधा सभी बह गए। हाँ, धाराओं में किसी का किसी से साथ न रहा, सब बहते रहे। कोई किसी को पकड़ भी न सका और सभी एक साथ डूब गए।

अस्तु, सूर के शृंगार-संवलित हृदय में संयोग की स्थिति बहुत ही मनोहारिणी एवं चित्ताकर्षक थी। सूर ने अपनी कल्पना से संयोगकालीन स्थिति को या उसके आलंबन और उद्दीपन को इस ढंग से सँवारा है कि वह हिंदीसाहित्य की अनमोल धरोहर है। क्रमिक विकास की दृष्टि से तो कवि ने वियोगवर्णन को जिस प्रकार का मोड़ दिया है, वह अद्भुत है। यदि वियोग में अतिशयता न होती तो शायद हमें भ्रमरगीत जैसे उपालंभ-काव्य का मिलना मुश्किल होता। आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है कि ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य दूसरा नहीं। बात सही है भक्तप्रवर सूरदासजी के इस सगुण दीप के सामने सारे दीपक, चाहे वे किसी भी वाद के हों, टिमटिमाते नजर आते हैं।

☐ आचार्य बैजनाथ राय

सूर का बालवर्णन

मानव-जीवन का प्रत्येक अंग अपने वैशिष्ट्य के कारण साहित्य का विषय है। साहित्य में जीवन का यथार्थ विशेष रूप से अभिव्यक्त होकर अध्ययन की सामग्री उपस्थित करता है। वास्तव में वही साहित्य शाश्वत् होता है, जिसमें जीवन के प्रत्येक अंग की सुंदर झाँकी उपस्थित की जाती है। उसमें भी बाल्यावस्था सर्वोपरि होती है। कारण यह है कि तरुणाई से आगे जीवन में कृत्रिमता का प्रवेश होता जाता है। बाल्यावस्था तो दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना-सदृश और प्रकृति-प्रदत्त मानव की ऐसी स्वाभाविक अवस्था है, जिसकी समता हमारे जीवन का कोई भी अंग नहीं कर सकता। जीवन का यही अमूल्य अंश सूर-साहित्य की महत् उपलब्धि है।

वास्तव में सूरदास बाल-मनोविज्ञान के इतने बड़े पारखी थे कि उनके बाल-वर्णन में बाल-स्वभाव की एक भी बात छूटने नहीं पाई है। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं की जैसी मनोहर झाँकी प्रस्तुत की है, वैसी झाँकी विश्व-साहित्य की किसी भी भाषा में मिलनी संभव नहीं है। इसीलिए बाल-वर्णन के लिए विश्व में वे अद्वितीय कवि सिद्ध हुए हैं। चक्षुविहीन सूर ने बालक कृष्ण की जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवृत्तियों के दर्शन किए हैं तथा हूबहू उनके चित्र अपने पदों में अंकित किए हैं वह एक कुशल चित्रकार के द्वारा भी संभव नहीं हैं। सूर को माता की सहज स्निग्ध ममता, पिता का संतुलित स्नेहपूर्ण हृदय तथा सखा, भ्राता, गुरु, प्रेयसी एवं शत्रु के हृदय में प्रवेश करने की पैनी दृष्टि प्राप्त थी, तभी तो वात्सल्य के क्षेत्र में सूर कोना-कोना झाँक आए हैं। सूर का सहज एवं स्वाभाविक वर्णन ही इसका प्रमाण है। बालक कृष्ण की लीलाओं का उन्होंने ऐसा कलापूर्ण चित्रण किया है कि उसे पढ़कर सहृदय पाठक झूम उठता है। 'सूरसागर' में लगभग सात सौ पद इसी संदर्भ में रचे गए हैं। बालक के मन की कोई भी ऐसी मूक अंतर्दशा एवं तोतली भावना नहीं जो सूर के पदों में अधूरी रह गई हो।

इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की उक्ति सर्वथा सटीक बैठती है, "जितने विस्तृत और विशद् रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार्य अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अंतःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक वात्सल्य-भावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है।"[१] अतः डा० हरगुलाल की इस मान्यता से पूर्णतया सहमति व्यक्त करनी होगी कि "निश्चय ही इस दृष्टि से सूर एक महान् कवि हैं। सब कवि उनसे पीछे हैं और वे सबसे आगे हैं तथा उनका 'सूरसागर' यशोदा के वात्सल्यपरक हृदय की अप्रतिम झाँकी प्रस्तुत करने के कारण काल के पट पर एक अमिट चिह्न बन गया है।"[२]

रस को यदि भाव-बोध की दृष्टि से देखा जाए तो सूर का बालवर्णन अत्यंत प्राचीन होते हुए भी नए आयामों और नए परिदृश्य से बहुत ऊपर उठा हुआ है। मानवीय वृत्तियों के सामयिक उद्‌गार ही तो भाव-बोध के परिचायक हैं। तो फिर मानव के आरंभिक जीवन का वर्णन, जो धुली हुई चाँदनी के समान स्वच्छ अकृत्रिम और निष्कलंक है, भाव-बोध की दृष्टि से सर्वोत्तम क्यों न हो? अतः सूर का वात्सल्य-वर्णन भाव-बोध की दृष्टि से भी साहित्य में अपना प्रथम स्थान रखता है। शृंगार के समान ही वात्सल्यरस के दो भेद किए जा सकते हैं—(१) संयोग वात्सल्य तथा (२) वियोग वात्सल्य। सूर ने इन दोनों पक्षों को अपने काव्य में रस की उत्कृष्ट कोटि में उजागर किया है।

वात्सल्य की उद्‌भूति कृष्ण-जन्म के बाद ही होती है। सूर ने नंद और यशोदा के हर्षोल्लास का आकलन उपस्थित करते हुए कृष्ण के जन्मोत्सव का जो स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है, वह अत्यंत सुंदर, मार्मिक एवं सर्वथा लौकिक है। हिंदू समाज में परंपरागत यह विश्वास प्रचलित है कि देवों-पितरों को अर्घ और पिंडदान करने के लिये एक पुत्र का होना आवश्यक है, क्योंकि पुत्रियाँ इस कार्य के लिए अनधिकारिणी मानी गई हैं। इसीलिए पुत्र-प्राप्ति को पूर्व जन्म के पुण्य व तप का फल, संयम और तीर्थव्रत की अर्जित संपत्ति तथा देवताओं के हर्षोल्लास का कारण माना गया है ! इसीलिये माता यशोदा कहती हैं :

ढोटा एक भयौ कैसेहु करि, कौन कौन करबर विधि भानी।
क्रम-क्रम करि अबलौं उबर्‌यौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी।[३]

शिशु कृष्ण पालने में सो रहे हैं। माता यशोदा उन्हें पालने में झुला-झुलाकर सुलाते हुए अतुलित मातृ-स्नेह व्यक्त कर रही हैं :

---

१. सूरदास, पृ० १०७
२. सूरकाव्य : नया परिदृश्य, पृ० ४६
३. सूरसागर, ६८६

जसोदा हरि पालनैं झुलावै ।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गाव ।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै ।
तू काहे न बेगिहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै ।[1]

श्री कृष्ण अपने पैर के अँगूठे को मुख में डालकर चूस रहे हैं। ऐसा तो प्रायः शिशु करते ही हैं परंतु सूर ने इस दृश्य को कितनी कोमल अभिव्यक्ति दी है :

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनैं रँग खेलत ।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ्यौ सागर-जल झेलत ।
बडिरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंतीनि सकेलत ।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत ।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत ।[2]

इस रहस्य को केवल सूर ही जानते थे, दूसरा कौन जाने ? यह सत्य है कि पुत्र अपनी माता के हृदय में नाना प्रकार की अभिलाषाओं का केंद्र होता है। माता यशोदा के हृदय के भावों को सूर ने जिस प्रकार अभिव्यक्ति दी है, उससे मातृ-स्नेह का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है :

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे, कब धरनि पग द्वैक धरै ।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन झरै ।
कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोंहि ररै ।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ मोसौं झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सों मुखहिं भरै ।
कब हँसि बात कहैगौ मोसौं, जा छबि तैं दुख दूरि हरै ।[3]

माता-पिता के लिए कृष्ण ऐसे मनोरंजक एवं सुखद खिलौने हैं कि दोनों का हृदय उस खिलौने से खेलने के लिए मचल-मचल उठता है। कभी-कभी दोनों में होड़-सी लग जाती है :

इततैं नंद बुलाइ लेत हैं उततैं जननि बुलावे री ।
दंपति होड़ करत आपस मैं, स्याम खिलौना कीन्हौ री ।[4]

सूरदास जी ऐसे शास्त्रीय पंडित हैं कि लोक और शास्त्र का एक संस्कार भी उनके चित्रण में छूटने नहीं पाया है। जन्म-संस्कार के बाद नामकरण, निष्क्रमण,

१. सूरसागर, ६६१ २. सूरसागर, ६८१
३. सूरसागर, ६६४ ४. सूरसागर, ७१६

अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्णवेध, उपनयन, वेदारंभ, विवाह आदि संस्कारों का उन्होंने विशद् वर्णन किया है। माता यशोदा की स्नेह-सरिता के उद्दाम प्रवाह में प्रत्येक संस्कार धुलकर निखर उठा है। माता-पिता को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि कृष्ण के अन्नप्राशन का समय हो गया है। माता यशोदा का स्नेह-नद उमड़ पड़ता है। वे मणिकांचन का थाल सजाती हैं। नाना प्रकार के व्यंजन तैयार कराती हैं। व्रज के गोप-गोपियों एवं बंधु-बांधवों को आमंत्रित कर अन्नप्राशन-उत्सव बड़े उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया जाता है। नंद जी कंचन-थाल में खीर, घृत और मधु रखकर बालक कृष्ण का मुँह झूठा कराते हैं। सूर के शब्दों में स्त्रियों का गान कृष्ण का मनोहारी चित्र उपस्थित करता है :

ललन हौं या छवि ऊपर बारी।
बाल गोपाल लगौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी।
लट लटकनि, मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।[1]

इसी प्रकार वर्षगाँठ मनायी जाती है। कृष्ण के कर्णवेध का अवसर उपस्थित होता है। यह जानते हुए भी कि कर्णवेध के समय बालक को कष्ट होगा और वह रो उठेगा; कृष्ण को रोते देखकर माता यशोदा की आँखों में आँसू छलक पड़ते हैं, वे नाई को डाँटती हैं कि कृष्ण को क्यों रुलाता है ? पत्नी की ऐसी अकुलाहट देखकर नंद मुस्कराने लगते हैं तथा व्रजबालिकाएँ हँसकर बधाई के गीत गाने लगती हैं :

रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी।
हँसत नंद, गोपी सब बिहँसीं, झमकि चलीं सब भीतर ढुरकी।
सूरदास नंद करत बधाई, अति आनंद बाल ब्रज-पुर की।[2]

कृष्ण कुछ बड़े हुए, घुटने के बल चलने लगे, साधारण बालकों के समान उनका धूलि-धूसरित होना कितना मनमोहक है :

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।[3]

सूर के इस स्वाभाविक चित्रण का समानांतर पद किसी अन्य भाषा के साहित्य में मिलना संभव नहीं है। 'माणि-जटित कनकप्रांगण में कृष्ण अपने प्रतिबिंब को पकड़ने की चेष्टा करते हुए सबका मन मोह लेते है :

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत।[4]

१. सूरसागर, ७०६ २. सूरसागर, ७६८
३. सूरसागर, ७१७ ४. सूरसागर, ७२८

कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।[1]

माता यशोदा कृष्ण के कुछ और बड़े होने पर हाथ पकड़ कर उन्हें चलना सिखाती हैं और पाँव लड़खड़ाने से कृष्ण गिर-गिर पड़ते हैं :

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।[2]

माता यशोदा कभी-कभी ताली बजाकर आँगन में कृष्ण को नचाती हैं तो कभी दूध पिलाकर कहानी सुनाते हुए सुलाती हैं। कितना स्वाभाविक चित्र है :

आँगन स्याम नचावहीं, जसुमति नंदरानी।
तारी दै-दै-गावहीं, मधुर मृद बानी।[3]

कुछ और बड़े होने पर बालक कृष्ण की चंचलता बढ़ती जाती है। वे अपने प्रतिबिंब को हिलते-डुलते देखकर नाचने लगते हैं। सूर के इस वर्णन में सहज स्वाभाविकता तो है ही उनकी अद्‌भुत कुशलता तो माता यशोदा का चित्र उपस्थित करने में है, जो छिपकर लाड़ले पुत्र की बाल-क्रीड़ा का नैसर्गिक आनंद उठा रही हैं। माता यशोदा सामने इसलिए नहीं आतीं कि बालक कृष्ण लजाकर अपनी चंचलता छोड़ देगा और उसकी बालक्रीड़ा में व्याघात उपस्थित होगा :

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक बदन मैं नावत।
कबहुँ चिते प्रतिबिंब खंभ मैं, लौनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित नितही देखत भावत।[4]

बालक कृष्ण के इस स्वाभाविक मधुर चित्र के लिए सूर ने अपने अंतर्चक्षु को कितनी दूर तक दौड़ाया है। यह केवल सहृदय पाठक समझ सकते हैं। वास्तव में कृष्ण की लोकातीत बाल-शोभा का वर्णन करते-करते सूर की कल्पना कभी-कभी शब्दों के सामान्य अर्थ छोड़ने के लिए उन्हें विवश कर देती है और वे ऐसी शैली का प्रयोग करने लगते हैं, जिसका अर्थ समझना साधारणतया अत्यंत कठिन होता है।[5]

---

१. सूरसागर, ७२८ २. सूरसागर, ७३३ ३. सूरसागर, ७५२
४. सूरसागर, ७६५ ५. सूरसागर, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५८

दूसरे बालकों को खेलते-कूदते देखकर बालक कृष्ण के मन में स्पर्धा की भावना जागती है। वे किसी बालक से कम नहीं रहना चाहते अतः वे माता यशोदा के पास जाकर उनके गले लिपट कर अत्यंत भोले स्वर में कहते हैं :

मैया मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा, जो माँगौ सो दै री।[१]

एक बार रात्रि में माता यशोदा कृष्ण का मन बहलाने के लिए चंद्रमा को दिखा देती हैं। बस बालक कृष्ण खेलने और खाने के लिए चंदा को लेने का हठ कर बैठते हैं। वे माता को धमकी भी देते हैं कि यदि चंदा लाकर नहीं दोगी तो मैं धरती पर लोटकर शरीर और वस्त्र गंदे कर लूँगा, तेरी गोद में नहीं आऊँगा, दूध नहीं पीऊँगा, चोटी नहीं कराऊँगा और तुम्हारा पुत्र न होकर मैं बाबा नंद का पुत्र हो जाऊँगा। बालस्वभाव का कितना मार्मिक एवं आकर्षक यह चित्र है :

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वै हौं पूत नंद बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं।[२]

किसी भी प्रकार जब कृष्ण नहीं मानते तो यशोदा धीरे से उनके कान में कहती हैं :

आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, करति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।[३]

यह प्रस्ताव कृष्ण तुरंत स्वीकार कर लेते हैं और :

तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।[४]

अब एक नई समस्या उत्पन्न हुई। कपड़े की गुड़िया तो तुरंत मिल नहीं सकती थी और अब 'दुलहिन' लाना आवश्यक हो गया। यदि 'दुलहिया' नहीं मिलती तो फिर वही 'चंद खिलौना लैहौं'। यशोदा जी ने इस समस्या का समाधान एक पात्र में पानी भर कर उसी में चंद्रमा का प्रतिबिंब दिखाकर किया तो सही, परंतु बात बनी नहीं।[५]

इसी प्रकार केसर की उबटन करके कृष्ण को स्नान कराना, चुटिया सुलझाकर उनमें फूल लगाना एतदर्थ माता यशोदा का नाना युक्तियों से काम लेने का मनमोहक वर्णन मातृप्रेम की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है :

---

१. सूरसागर, ७९४ २, ३, ४. सूरसागर, ८११
५. सूरसागर, ८१२

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन, रोइ गए हरि लोटत री।
तेल उबटनौ लै आगैं धरि, लालहिं चोटत-पोटत री।
मैं बलि जाउँ न्हाउ जनि मोहन कत रोवत बिनु काजैं री।
पाछैं धरि राख्यौ छपाई कै उबटन-तेल समाजैं री।
महरि बहुत बिनती करि राखति, मानत नहीं कन्हैया री।
सूर स्याम अति हीं बिरुझाने, सुर-मुनि अंत न पैया री।[1]

प्रायः देखा जाता है कि बच्चे अज्ञानवश जो भी वस्तु सामने पाते हैं, अपने मुँह में डाल लेते हैं। मिट्टी तो प्रायः सभी खाते हैं और माताएँ छिः-छिः करके उनके मुख से मिट्टी निकालती हैं। बालक कृष्ण भी इससे नहीं बचे। यह सूर की पैनी दृष्टि है, जिसने उन्हें 'माटी' खाते हुए भी देखा और माता यशोदा को छड़ी लिए वहाँ पहुँचा दिया :

मोहन काहैं न उगिलौ माटी।
बार-बार अनरुचि उपजावति, महरि हाथ लिए साँटी।[2]

बालक कृष्ण दो-तीन वर्ष के होकर भी अभी माँ का ही दूध पीते हैं। अतः उनकी आदत छुड़ाने के लिए यशोदा कहती हैं, "अब तू बड़ा हो गया है, तुझे मेरा दूध नहीं पीना चाहिए, मेरा दूध पीते देखकर ब्रज के लड़के हँसी उड़ाते हैं।" यह सुनकर कृष्ण अपना मुँह माँ के आँचल में छिपाकर मुस्कराने लगते हैं। कितना मर्म-स्पर्शी एवं स्वाभाविक चित्रण है :

सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति।
ब्रज-लरिका-तोहिं पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
अजहूँ छाड़ि, कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूर स्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहिं लुकावत।[3]

माता यशोदा कृष्ण के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए उनसे कजरी गाय का दूध पीने के लिए कहती हैं :

कजरी कौ पय पियहु लाल।
जासौं तेरी बेनीं बढ़ै।[4]

माता की बात का स्मरण करते हुए एक दिन कृष्ण माँ से पूछ बैठते हैं कि मुझे तो दूध पीते कितने दिन बीत गए परंतु अभी भी मेरी चोटी नहीं बढ़ी, ऐसा क्यों? कृष्ण का यह भोलापन मातृ-हृदय में अपार आनंद का संचार करता है और सूर की इस सूक्ष्म दृष्टि पर जगत् के सारे चित्रकार-न्यौछावर हो जाते हैं :

---

१. सूरसागर, ८०४ २. सूरसागर, ८७२
३. सूरसागर, ८४० ४. सूरसागर, ७९२

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै, नागिनि-सी भुइँ लोटी।
काँचौ दूध पियावत पचि पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी।[1]

ग्वालों द्वारा दूध दुहते समय दूध की धार का शब्द सुनकर कृष्ण को बड़ा आनंद आता है। अतः वे दूध-दुहना सीखकर धार बजाने के लिए उत्सुक हैं :

मैं दुहिहौं मोहिं दुहन सिखावहु।
कैसें गहत दोहिनी घुटुवनि, कैसें बछरा थन लै लावहु।
कैसें लै नोई पग बाँधत, कैसें लै गैया अटकावहु।[2]

कृष्ण की बात सुनकर नंदजी हँस पड़े। वे बच्चे का दिल नहीं तोड़ना चाहते। अतः उन्होंने कहा कि कल सुबह तुम्हें दूध दुहना सिखाऊँगा। दूसरे दिन सवेरा होते ही कृष्ण आनंदोल्लास में उछलते-कूदते माता के पास जाकर कहते हैं :

तनक कनक की दोहिनी, दै-दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यौ मोहिं धौरी गैया।[3]

कृष्ण छः वर्ष के हो गए। वे ग्वाल-बालों के साथ खेलने-कूदने लगे। एक दिन उन्होंने ऐसी युक्ति निकाली, जिससे सबका मनोरंजन भी हो और खाने को दही-माखन भी मिले। सभी लड़कों ने इसे पसंद किया और माखन-चोरी का धंधा आरंभ हो गया। परंतु इस कार्य ने आगे चलकर उपद्रव का रूप धारण कर लिया :

हरि सब भाजन फोरि पराने।
हाँक देत पैठे दै पेला नैंकु न मनहिं डराने।
सींके छोरि, मारि लरिकनि कौं माखन-दधि सब खाइ।
भवन मच्यौ दधि काँदौ, लरिकनि रोवत पाए जाइ।[4]

कृष्ण का उपद्रव दिन-दिन बढ़ता गया। किसी गोपी के घर चुपके से सखाओं समेत घुसकर मक्खन खाना, दधि-पात्र फोड़ना, बच्चों को परेशान करना, गाय के बछड़ों को खोलकर जंगल में भगा देना, गोपियों के पकड़ने पर उनकी चोली फाड़ देना तथा हार तोड़ देना इत्यादि। जब गोपियाँ उलाहना देने आती हैं, तो कितनी चालाकी से एवं तर्कसंगत उत्तर द्वारा वे अपने को निर्दोष सिद्ध करते हैं :

---

१. सूरसागर, ७९३
२. सूरसागर, १०१९
३. सूरसागर, १०२७
४. सूरसागर, ९४६

मैया मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परैं ये सखा सबैं मिलि, मेरे मुख लपटायौ ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं मैं कैसैं धरि पायौ ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि, मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ।[1]

थोड़ा और बड़े होने पर कृष्ण ग्वालों के साथ गायों को चराने के लिए जाने का आग्रह करते हैं, तो माता यशोदा स्वीकार कर लेती हैं और ग्वाल-बालों को कृष्ण को सावधानी से ले जाने के लिए कह देती हैं। परंतु जब यह सुनती हैं कि सभी ग्वाले पेड़ के नीचे बैठकर कृष्ण से गाय हँकवाते हैं तो उन्हें बहुत क्रोध आता है :

मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहिं रिंगाइ ।[2]

यशोदा के मन में ममता का अगाध-सागर हिलोरें मार रहा है। वात्सल्य-विशाल नद के उदात्त प्रवाह में कृष्ण के किए सारे दोष धुल जाते हैं तथा ग्वालों का अन्याय असह्य हो जाता है।

कृष्ण इसी प्रकार माता की ममतामयी-गोद में विवर्धित हुए तथा वात्सल्य के सुखद पालने में झूलते हुए बड़े होते गए। कंस द्वारा भेजे गए तृणावर्त, बकासुर, आघासुर, शकटासुर, केशी, प्रलंब, पूतना आदि जितने भी राक्षस कृष्ण को मारने के लिए आते हैं उनका हनन, कालियनाग को नाथना तथा नाना प्रकार के अन्य कौतुक कृष्ण को असाधारण बालक सिद्ध करने में पूर्ण सक्षम थे। फिर भी माता यशोदा का स्नेह पूर्ववत् बना रहा और कृष्ण अभी भी यशोदा के लिए कोमल, सुकुमार, अबोध बालक ही बने रहे। इन सारे राक्षसी-उपद्रवों से रक्षा पाने पर माता यशोदा ने मंगलगीत गवाकर, दान-दक्षिणा देकर, पान-फूल वितरित कर कृष्ण को चंदन, गोमूत्र, अरगजा आदि से स्नान कराकर, आरती उतारकर तथा ब्रजवनिताओं को साड़ी पहनाकर अपने वात्सल्य की पराकाष्ठा व्यक्त की। माता सदा अपने बेटे का कल्याण चाहती है। बेटा बड़ा होकर भी माँ के लिए बच्चा ही रहता है। जब वे बलदेव की शिकायत करते हैं :

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ ?[3]

तब माता यशोदा सौगंध खाकर विश्वास दिलाती हैं कि मैं ही तुम्हारी माता हूँ—**सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ।**[4]

---

१. सूरसागर, ९५२ २. सूरसागर, ११२८
३. सूरसागर, ८३३ ४. सूरसागर, ८३३

जिस प्रकार सूर ने वात्सल्य के संयोग-वियोग-पक्ष का हृदयस्पर्शी-वर्णन किया है, उसी प्रकार वियोग-पक्ष का भी उन्होंने बड़ा सजीव-वर्णन किया है। माता यशोदा को यह स्वीकार्य नहीं कि वे कृष्ण के बिना ब्रज में रहें। इसलिए वे अपने मनोभावों को नंद से व्यक्त करती हैं :

नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ।[1]

कृष्ण के वियोग को माता यशोदा सहन नहीं कर पाती। वे नित्य कृष्ण के मथुरा से लौटने की प्रतीक्षा करती हैं। मक्खन को देखकर उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। उनके हृदय में हूक उठती है। उन्होंने मधुवन को अनेक संदेश भिजवाए। एक संदेश में उनके हृदय की मर्मान्तिक पीड़ा मुखर हो उठती है :

सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।[2]

तथा वे उपालंभ के स्वर में कहती हैं :

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।[3]

ऐसा कहकर यशोदा ने देवकी के पास दूत के माध्यम से अपना संदेश भिजवाया है। उस संदेश में मातृ-हृदय का स्नेहानद-बाँध टूट पड़ा है। वे देवकी से यह कहलवाती हैं कि कृष्ण को गर्म-रोटी तथा गर्म-पानी देखकर माँगने की आदत है तथा स्नान के लिए बार-बार मनवाने की आदत पड़ गयी है। मुझे दिन-रात इसी की चिंता लगी हुई है कि मेरा लाड़ला संकोचवश वहाँ अपनी इच्छाओं को पूरी कर पाता होगा अथवा नहीं :

जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि कै न्हाते।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत संकोच।[4]

माता यशोदा के इस संदेश ने वात्सल्य-रस का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। ममता और मातृत्व इस वियोग में वात्सल्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। यशोदा की इस विरहजनित व्याकुलता में पुत्र-स्नेह की कोमल-परिधि में आने वाली संपूर्ण कोमल भावनाएँ समाहित हैं। इसी प्रकार प्रवासगत कृष्ण का कुरुक्षेत्र

१. सूरसागर, ३७८६
२. सूरसागर, ३७८४
३. सूरसागर, ३७९३
४. सूरसागर, ३७९३

आगमन माता यशोदा के प्रति आकर्षण का अनुपम उदाहरण है। कृष्ण के द्वारा भेजा गया दूत, माता यशोदा के उत्तप्त हृदय को कृष्ण के संदेश से शांत करना चाहता है तथा कहता है कि द्वारिका में रास-भवन में रहते हुए भी जब कृष्ण को गोकुल के सुख-साधनों का स्मरण हो आता है, तब वे विक्षिप्त हो जाते हैं और तुम्हारे स्नेह की स्मृति में वे वियुक्त बछड़े की भाँति दौड़ते हुए कुरुक्षेत्र तक आ पहुँचते हैं। यह सुनकर माता यशोदा का हृदय शांत हुआ और अपने मातृ-स्नेह के आकर्षण पर पूर्ण विश्वास हुआ। वियोग-वात्सल्य के अनेक अप्रतिम-चित्र सूर ने उपस्थित किए हैं, जिन्हें पढ़कर माता का हृदय द्रवीभूत हो उठता है और सामान्य पाठक करुणार्द्र हो उठता है।

इस प्रकार 'सूरसागर' का बाल-वर्णन अपने पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ बाल-मनोविज्ञान और माता के सहज हृदय के अतुलनीय स्नेह को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है। इसमें देखी, सुनी, परखी भावनाओं को ही कौशल के साथ अभिव्यक्त किया गया है। हाँ, सूर की कला-चातुरी ने अवश्य उसे युग-युग के लिए नवीन व भव्य बना दिया है। 'सांप्रदायिक-सिद्धांत की बात कुछ भी हो, जहाँ तक सूरदास की बात है, उनके काव्य में हम जहाँ यह देखते हैं कि उन्होंने वात्सल्य और सख्य-भावों को कृष्ण-लीला के वर्णन में ऐसा चित्रित किया जैसा कभी कोई और कवि नहीं कर सका, वहाँ माधुर्य या कांता-भाव की लीलाओं का अपेक्षाकृत और भी अधिक विस्तार और गहराई के साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म-चित्रण करने में काव्य-कुशलता की चरम-सीमा प्रस्तुत कर दी है।'[1]

सूरदास ने अपने बाल-वर्णन में बालकों की सहज प्रवृत्ति और माता के स्वाभाविक स्नेह का दिग्दर्शन कराया है। आदि कवि वाल्मीकि के पश्चात् संस्कृत के कवियों ने तो इस पर कलम ही नहीं उठाई। कालिदास ने अवश्य उसके सहज भाव को अपने काव्य में दर्शाया है। हिंदी में भी, केवल दो-चार कवियों ने ही बालकों की स्वाभाविक सरलता, सुकुमारता और निष्कपटता का वर्णन किया है। हाँ, विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने बंगला में उन भावों को अवश्य व्यक्त किया है। परंतु सूर की सहजता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता को स्पर्श करने में वे भी असमर्थ थे। वात्सल्य के क्षेत्र में यदि सूर के सामने खड़े होने वाले कवि हैं तो केवल गोस्वामी तुलसीदास हैं परंतु स्वाभाविकता, सरसता एवं सर्वांगीणता की दृष्टि से तुलसी भी पिछड़ जाते हैं। अतः वात्सल्य के क्षेत्र में सूर का कोई सानी नहीं है। विश्व के किसी भी भाषा के साहित्य में सूर के बालवर्णन-सा चित्रण पाना असंभव है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सूरदास वात्सल्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

---

१. सूरदास, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५८

□ डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

सूरसाहित्य में हास्य-व्यंग्य

हिंदी में हास्य की कमी को लेकर समय-समय पर अनेक चर्चाएँ हुई हैं और भारतीय साहित्यकारों को आदर्शवादिता में लिप्त अद्वैतवादीय होने के कारण हास्य-प्रियता के न्यूनभाव से संवलित प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि उनकी जीवन-पद्धति ने उनको अपने सहज-मार्ग पर ही चलने को प्रेरित किया। अभेदवृत्ति ने किसी दूसरे की हँसी उड़ाने की भावना से रहित किया और फिर आदर्श ने तो पूर्ण बंधन ही लगा दिया।

परंतु यह भी सत्य है कि हँसना मानव की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कितने भी बंधन उस पर लगें परंतु उसको कोई भी विसंगति दिखाई देगी तो वह हँसेगा ही। यही कारण है कि आदर्श के बंधन में बँधे साहित्यकारों ने अपनी सहज विनोदवृत्ति को स्थान-स्थान पर प्रकट होने का अवसर प्रदान किया है। वास्तव में सूर ने तो अपने काव्य में हास्य-व्यंग्य का बेजोड़ प्रयोग किया है और 'भ्रमरगीत' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

यद्यपि सूर-काल की सामान्य परिस्थितियाँ निराशा और पीड़ा से परिपूर्ण थीं, सामान्य जन-जीवन में किसी प्रकार की आशा न रह गई थी और राम-रहीम को एक बताने वाली वाणी मुरझाए मनों को हरा करने में सक्षम न थी क्योंकि उसके भीतर कट्टर एकेश्वरवाद का स्वर मिला हुआ था, परंतु सूर ने वल्लभाचार्य के प्रभाव से परम भाव की आनंद-विधायिनी-कला का दर्शन कराया और सखा-भाव की भक्ति के माध्यम से भगवान् कृष्ण को मित्र के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। मित्र अपने साथी को उलाहने भी दे सकता है, उससे हँसी भी कर सकता है और अवसर आने पर वहाँ परिहास को भी स्थान है। इसीलिए सूर के काव्य में हास्य का सुंदर प्रस्फुटन अनेक स्थानों पर हुआ है।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'रिमझिम' नाटक की भूमिका में पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध हास्य के पाँच रूप मानते हुए उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है—१. सैटायर (विकृति)—आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तुस्थिति को विकृतकर हास्य उत्पन्न करना। २. केरीकेचर (विरूप या अतिरंजना)—किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थिति को अनुपातरहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना। ३. पैरॉडी (परिहास)—उदात्त मनोभावों को अनुदात्त संदर्भ से जोड़कर हास्य उत्पन्न करना। ४. आइरनी (व्यंग्य)—किसी वाक्य को कहकर दूसरा ही अर्थ निकालना। ५. विट (वचन वैदग्ध्य)—शब्दों तथा विचारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायड ने वचन वैदग्ध्य को दो प्रकार का माना है—सहज चमत्कार (Harmless wit) जिसमें विनोदमात्र रहता है और प्रवृत्ति-चमत्कार (Tendency wit) जिसमें ऐंद्रिय प्रतीकारात्मक भावना रहती है।

हास्य के ये समस्त रूप सूर-काव्य में उपलब्ध हैं। 'भ्रमरगीत' में 'गोपी-उद्धव-संवाद' के अंतर्गत जिस सहज हास्य और व्यंग्य के दर्शन होते हैं, वह अद्वितीय है। "वास्तव में देखा जाय तो विशुद्ध हास्य एवं वक्रोक्ति का जितना सफल प्रयोग भावाधिपति सूर ने किया, वह बेजोड़ है।"[1]

विट (वचन वैदग्ध्य)—सूर की वाग्विदग्धता के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं, एक संवाद में सहज कथन के रूप में या किसी विषम परिस्थिति से बात बनाकर बच निकलने में अर्थात् वचनरचना की विदग्धता और दूसरी अलंकार-प्रयोग में।

कितनी भी चुभती बात क्यों न की जाए किंतु सूर के कृष्ण बिना स्वयं संकुचित हुए दूसरों को निरुत्तर करना भली-भाँति जानते थे। संकटापन्न स्थिति भी कृष्ण को न तो हतप्रभ कर सकती थी और न भयभीत ही। एक बार कृष्ण चोरी करते हुए रँगे हाथों पकड़े गए। 'दधि भाजन' में हाथ था। मालकिन आ गई। हाथ पकड़कर बोली—**"अब तुम काको नाऊँ लेहुगे नाहिन कौऊ संग।"** ऐसे अवसर पर सिद्धहस्त चोर भी कुछ क्षण को सकपका जाएगा परंतु कृष्ण तो जैसे पहले से ही तैयार थे। उनका विदग्धतापूर्ण उत्तर :

मैं जान्यौ यह मेरो घर है, ता धोखें में आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी, काढ़न कौं कर नायौ।[2]

कृष्ण को पकड़ने वाली यह ग्वालिन कुछ भली थी, जो मान गई। किंतु एक दूसरी ग्वालिन अधिक क्रुद्ध हुई और कृष्ण को ले ही गई माता यशोदा के पास। हालत वही पुरानी, हाथों में दही लगा हुआ। यहाँ स्थिति विषम थी। सुरक्षा के

---

१. हिन्दी में हास्य रस—डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ ७१
२. सूरसागर, ८९७

लिए केवल अपनी सफाई ही पर्याप्त न थी, शिकायत करने वाले की बुराई दिखाना भी आवश्यक था। सूर के कृष्ण ने कितनी विदग्धता के साथ अपनी सफाई देते हुए कहा :

सुन मैया, याके गुन मौसौं, इन मोहिं लयों बुलाई।
दधि मैं पड़ी सेंत की मोपैं चींटी सबै कढ़ाई।
टहल करत मैं याके घर की, यह पति संग मिलि सोई।
सूर बचन सुनि हँसी जसोदा, ग्वालि रही मुख गोई।[1]

सूर की वचनरचना की विदग्धता का चरमोत्कर्ष हमें भ्रमरगीत प्रसंग में प्राप्त है। उद्धव जब पूर्ण तार्किकता के साथ अपने ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं तो गोपियाँ उनके भक्ति-विरोधी ज्ञान को स्वीकार नहीं करतीं। वे उपेक्षा और उपहास के माध्यम से उद्धव और उनके ज्ञान का मजाक उड़ाती हैं। इस अवसर पर गोपियों की वाग्विदग्धता चरम स्थिति पर पहुँच जाती है।

उद्धव के निर्गुण-निराकार ब्रह्म की खिल्ली गोपियों द्वारा खूब डटकर उड़ाई गई है। गोपियों का वाग्वैदग्ध्य उद्धव के निराकार शब्द पर उनकी विलक्षण उक्तियों में दिखाई पड़ता है। जब उद्धव संदेश लेकर आए और निराकार का बखान किया तो गोपियों ने राधा से कहा कि कृष्ण ने अपना रूप माँगा है, जिससे उनकी निराकारता मिट जाए; उसके बिना वे वहाँ पर निरूप हो गए हैं।[2]

सैटायर (विकृति)—सूर-काव्य में विकृति के माध्यम से भी श्रेष्ठ हास्य प्रस्तुत किया गया है। गोपियों ने काले रंग वालों को स्वभाव से ही विश्वासघाती घोषित करते हुए उनपर स्वाभाविक रूप से व्यंग्य किया है। वे कहती हैं कि काले रंग वालों की यह कार्य-पद्धति होती है कि वे पहले तो किसी को अपना मन देकर उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और फिर उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं :

मधुकर ! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायौ सर्बस करै कपट की प्रीति।
ज्यौं षट्पद अंबुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठै फिर न करत पहिचानि।
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यौं जननी जनि तात।
कुल-करतूत जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात।
कोकिल काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु का मुख देख्यौ निसदिन ही मोहिं भावत।[3]

---

१. सूरसागर, ६४०   २. सूरसागर, ४३८८   ३. भ्रमरगीत, २६६

वे कृष्ण, जिन्होंने इतनी गोपियों का मन चुराया, एक साधारण कुबड़ी दासी के प्रेम-जाल में फँस गए, इस पर गोपियों द्वारा कितनी मीठी चुटकी ली गई है और कैसा कौतूहलपूर्ण कृत्रिम संतोष प्रकाशित किया गया है :

बरु उन कुबिजा भलौ कियौ।
सुनि-सुनि समाचार ये मधुकर, अधिक जुड़ात हियौ।
जिनके तन मन प्रान रूप गुन, हर्‌यौ, सु फिरि न दियौ।
तिन अपनौ मन हरत न जान्यौ, हँसि हँसि लोग जियौ।
सूर तनक चंदन चढ़ाइ उर, श्रीपति बस जु कियौ।
और सकल नागरि नारिनि कौं, दास दाउँ लियौ।[१]

केरीकेचर (विरूप)—जहाँ सूर ने केरीकेचर के माध्यम से हास्य की सृष्टि की है, वहाँ पर उनका व्यंग्य बहुत अधिक मुखर हो उठा है। गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश पर व्यंग्य करती हुई जब आपस में चर्चा करती हैं तो उद्धव को एक ओर बड़ा व्यापारी कहकर उनके द्वारा बेची जाने वाली निकृष्ट ज्ञानयोग की वस्तु की चर्चा करती हैं तो दूसरी ओर ब्रजवासियों के 'सयानेपन' को भी प्रदर्शित करती हैं कि वे कैसे स्वर्ण के बदले फटकन स्वीकार कर लें! यहाँ ब्रज में कौन ऐसा अज्ञानी है, जो उनकी बातों में आकर धोखा खा जाए। देखिए उद्धव की स्थिति का हास्यपूर्ण चित्रण :

आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।
खेप लादि गुरु-ज्ञान-जोग की, ब्रज में आनि उतारी।
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी।
धुरंही तें खोटौ खायौ है, लिये फिरत सिर भारी।
इनकैं कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप कौ वारी।
ऊधौ जाहु सबारैं ह्याँ त, बेगि गहरु जनि लावहु।
मुख मागौ पैहौ सूरज-प्रभु, साहुहिं आनि दिखावहु।[२]

गोपियाँ कहती हैं कि दोष तुम्हारा नहीं है, जहाँ से तुम आ रहे हो, वह स्थान ही ऐसा है। अकेले कृष्ण से वहाँ ऐसी कृष्णता छा रही है कि तुम काले हो, अक्रूर आए थे, वे भी काले थे और यह घूमता हुआ भौंरा भी ऐसा ही काला है। यद्यपि यह अधिक दिन वहाँ नहीं रहा होगा तो भी इस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ गया :

---

२. सूरसागर, ४२५६ २. सूरसागर, ४५८३

बिलग जनि मानहु, ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवैं ते कारे।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे कुटिल सँवारे।
कमलनैन की कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे।[1]

"बेवकूफी पर हँसने का रिवाज बहुत पुराना है। लोग बना-बनाया बेवकूफ पाकर हँसते भी हैं और हँसने के लिए बेवकूफ भी बनाते हैं"[2] और बनाने में कभी-कभी पूरी कल्पना भी खर्च करते हैं। गोपियाँ कितने अंदाज से उद्धव की हँसी उड़ाती हैं :

ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधौ गाँठि छूटि परिहै कहुँ, फिरि पाछैं पछिताहु।
ऐसी बहुत अनूपम मधुकर! मरम न जानै और।
ब्रज बनितनि के नहीं काम की, है तुम्हरेई ठौर।[3]

"देखना अपना योग कहीं भूल न जाना। गाँठ में बाँधकर रखो, कहीं छूट न जाय, जिससे पछताना पड़े। ऐसी वस्तु जिसका मर्म सिवा तुम्हारे या तुम्हारे ऐसे दो चार फालतू दिमाग वालों के और कोई जान ही नहीं सकता, ब्रजवासियों के किसी काम की नहीं।"[4]

उपहास—सूर की गोपियाँ परिहास करने लगती हैं तो वे न तो कृष्ण को छोड़ती हैं और न उद्धव को। वे कहती हैं कि तुम्हारे ज्ञान का रहस्य हमारी समझ में आ गया है। कृष्ण तो बेचारा अहीर ठहरा, वह तुम्हारी राजनीतिक कुशलता को भला क्या जाने ? यह सारा काम तुम्हारा है। और भी, कितना बढ़िया काम किया है कृष्ण ने कुब्जा से प्रेम करके ! ठीक ही है। हम तो सभी मूर्खा हैं, केवल चतुर वही मिली है, जिससे वे चतुराई सीख रहे हैं :

ऊधौ ! जान्यौ ज्ञान तिहारौ।
जानै कहा राज-गति लीला, अंत अहीर बिचारौ।
भली भई हम सबै अयानी, स्यानी सौं मन मान्यौ।
लाज लए प्रभु आवत नाहीं, ह्वै जु रहे खिसियानौ।[5]

गोपियों के हृदय में यह बात नहीं बैठती कि कृष्ण ऐसा भी संदेशा भेज सकते हैं। तभी तो वे कहती हैं कि उद्धव हम तुम्हें पहचान गए हैं। तुम तो रास्ता भटककर इधर आ गए हो। तुम तो निरे अनाड़ी और मूर्ख हो, तुम से तो बात कहना भी नहीं आता। गोपियों ने उद्धव का कितना अधिक उपहास उड़ाया है :

---

१. सूरसागर, ४३८०
२. भ्रमरगीतसार, भूमिका, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३६
३. सूरसागर, ४४२७
४. भ्रमरगीत, भूमिका, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३६
५. सूरसागर, ४५८५

ऊधौ ! जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्याँ कौं नहिं पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने ।
ब्रजवासिनि सौं जोग कहत हौ, बात कहत न लजाने ।
बड़ लागे न विवेक तुम्हारे, ऐसे भए अयाने ।[1]

इतने पर भी जब उद्धव अपनी ज्ञान-चर्चा से बाज नहीं आते और उनकी बकबक चलती रहती है तो गोपियाँ उनका इस सीमा तक उपहास करती हैं :

ऊधो ! तुम अपनौ जतन करौ ।
हित की कहत कुहित की लागति, कत बेकाज ररौ ।
जाइ करौ उपचार आपनौ, हम जु कहति हैं जी की ।
कछुवै कहत कछुक कहि आवत, धुनि दिखियत नहिं नीकी ।
साधु होइ तिहिं उत्तर दीजै, तुमसौं मानी हारि ।
यह जिय जानि नंद-नंदन तुम इहाँ पठाए टारि ।
मथुरा गहौ बेगि इन पाइनि, उपज्यौ है तन रोग ।
सूर सु बैद बेगि टोहौ किन, भए मरन के जोग ।[2]

व्यंग्य—सूरकाव्य में व्यंग्य अधिक मुखर है। कई स्थानों पर तो उसने उद्धव को तिलमिलाकर रख दिया है। गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि तुम पंडा के समान परमार्थ की शिक्षा देने वाले पुराणों के बोझ को उसी प्रकार अपने सिर पर लादे फिर रहे हो, जैसे बंजारा अपना माल लादकर बेचने के लिए द्वार-द्वार फिरता है :

आए जोग सिखावन पाँड़े ।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँडे ।
× × ×
काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चार तुम डाँड़ै ।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत, धनिया, धान, कुम्हाँड़े ।[3]

आगे गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुमने यह मुक्ति का सौदा यहाँ मंदे बाजार में लाकर उतारा है। इसका कोई ग्राहक यहाँ नहीं है। इसे तो तुम विष की बेल कुब्जा के पास ले जाओ। वही तुम्हारी मुक्ति का महत्त्व समझती है। यहाँ उद्धव के योग-संदेश और उससे प्राप्त मुक्ति पर कितना करारा व्यंग्य छोड़ा गया है :

मुक्ति आनि मंदे मैं मेली ।
समुझि सगुन लै चले न ऊधौ ! यह तुम पै सब पुंजी अकेली ।

---

१. सूरसागर, ४१३६ २. सूरसागर, ४२२६ ३. सूरसागर, ४२२२

कै लै जाहु अनत ही बेंचौ, कै लै राँखु जहाँ विष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारैं, बृंदावन चरननि सौं ठेली।
धरे सीस घर घर कत डोलत हौ, एकै मति सब भईं सहेली।
सूरदास गिरिधरन छबीलौ, जिनकी भुजा कंठ धरि खेली।[१]

यहाँ पर कुब्जा और कृष्ण पर गोपियों द्वारा कितना गहरा कटाक्ष किया गया है और इस सबके माध्यम से बेचारे उद्धव की कसकर दुर्गति की गई है।

सूर ने वक्र उक्तियों द्वारा भी हास्य प्रस्तुत किया है। ऊधौ से यह कहना कि उद्धव जी, आपके दर्शन से तो वास्तव में हमको सुख प्राप्त हुआ है; आपने आकर ब्रज के लोगों को प्रसन्न कर दिया; कितना बड़ा व्यंग्य है :

मधुकर ! भली करी तुम आए।
वै बातैं कहि कहि या दुख मैं, ब्रज के लोग हँसाए।
मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवहु सौंज हमारी।
आपुन जटाजूट, मुद्रा धरि, लीजै भस्म अधारी।
कौन काज बृंदावन कौ सुख, दही भात की छाक।
अब वै कान्ह कूबरी दोऊ बने एक ही ताक।
वे प्रभु बड़े, सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीति।
या जमुना जल कौ सुभाव यह, सूर बिरह की प्रीति।[२]

एक बहुत बड़ा व्यंग्य और भी है इस पद में कि बड़े आदमी छोटों पर सभी प्रकार के अन्याय कर सकते हैं, तभी तो कृष्ण और उद्धव ब्रजवासियों पर अत्याचार कर रहे हैं।

सूर ने राधा के प्रेमोदयकाल की विनोद-वृत्तियों और हृदयप्रेरित भावों की छटा का भी सुंदर चित्रण किया है। राधा-कृष्ण की नित्य की तकरार और झगड़ों में जिस शुद्ध हास्य के दर्शन होते हैं, वह अद्वितीय है। एक-बार दोनों में थोड़ा-सा झगड़ा हुआ और फिर :

करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ।
नाहिं न बसति लाल कछु तुम्हरैं, तुमसे सबै ग्वाल इक ठैयाँ।[३]

गाय दुहते हुए दोनों में प्रेम बढ़ता जाता है और फिर दोनों की छेड़-छाड़ का विनोद :

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन-कर तैं धार चलति, परि मोहनि-मुख अतिहीं छबि गाढ़ी।[४]

---

१. सूरसागर, ४३४२
२. सूरसागर, ४५०४
३. सूरसागर, १३५३
४. सूरसागर, १३५४

और फिर झगड़ा। कहीं देखते हो, कहीं धार छोड़ते हो। क्या माता ने यही सिखाया है ? राधा कितने प्यार से विनोद करती है :

तुम पै कौन दुहावै गैया।

× ×

इत चितवत, उत धार चलावत, यहै सिखायौ मैया ?[१]

भ्रमरगीत प्रसंग में तो गोपियों की विनोदवृत्ति, चपलता और भोलापन चरमसीमा पर है। गोपियाँ उद्धव से आग्रहपूर्वक कहती हैं कि जिसमें तुम मन लगाने को कहती हो उसकी कोई ऐसी विशिष्ट बात तो बताओ, जिससे उसमें हम अपना मन लगा सकें। अच्छा ऐसा करो कि उसका निवास-स्थान ही बता दो, आखिर वह रहता किस देश में है :

निरगुन कौन देश कौ बासी।
मधुकर ! कहि समुझाइ, सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी।"[२]

कितने विनोद भरे हैं ये वचन ! कितनी चपलता है इनमें ! कितना व्यंग्य और विनोद है इन पंक्तियों में !

हास्य के इन सभी प्रकारों में सूर का कमाल दिखाने का तात्पर्य यह नहीं है कि सूर ने अपने काव्य में, विशेषकर भ्रमरगीत प्रसंग में, हास्य की अवतारणा करने का प्रयास किया है। यद्यपि सूर-काव्य में आधुनिककाल में प्रचलित हास्य के सभी भेद प्राप्त हैं परंतु यह शुद्ध हास्य नहीं है। इनमें प्रयुक्त वचन-वैदग्ध्य के विभिन्न रूपों का प्रयोग विप्रलंभ शृंगार के अंकन के लिए ही किया गया है। इसीलिए ये हास्य-व्यंग्यपूर्ण उक्तियाँ हमें उन्मुक्तभाव से हँसाती नहीं। गोपियों ने भी जब ये उक्तियाँ कही होंगी तो फीकी-सी व्यथित हँसी ही उनके चेहरे पर आई होगी। यहाँ हास्य का प्रयोग विप्रलंभ शृंगार के संचारी के रूप में किया गया है। पाठक इस स्थिति से पूर्ण तादात्म्य करता है और खिल-खिलाकर हंसने के स्थान पर वह गोपियों के दुःख की पूर्ण अनुभूति करता हुआ उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो जाता है।

---

१. सूरसागर, १३५२   २. सूरसागर, ४२४६

☐ डॉ० रामशंकर द्विवेदी

सूर की अनुभाव-योजना

सारा संसार चेतना के स्पंदनों से निर्मित है। इन स्पंदनों ने ही भिन्न-भिन्न पदार्थों का रूप धारण कर लिया है। ये जड़ हैं, इनमें चेतना की गति उतनी नहीं है, जितनी प्राणियों में। इनमें भी मनुष्य अधिक चेतना-संपन्न है। बल्कि मनुष्य में तो सर्प-कुंडलवत् सृष्टि की अशेष-शक्ति आसन मारे बैठीहै—निस्पंद, निष्क्रिय शिव की तरह तटस्थ, आत्मलीन। इसकी प्रतीति कभी-कभी होती है, जब मनुष्य परम सौंदर्य के सामने पड़ जाता है या उसी में अभिनव सौंदर्य का विस्फोट होने लगता है। रूप से आँखें चार होते ही 'स्मित बन जाती तरल हँसी आँखों में भरकर बाँकपना', सौंदर्य की लहरी मनुष्य के हृदय की कलियों को खोल देती है। फिर शव भी शिव बन जाता है। शक्ति-युक्त, चेतन, स्पंदनशील भावलहरियों से वलयित। काव्य में अनुभावों की योजना इसी चेतना के स्पंदनों की परिचायक है। अनुभाव जीवन की सहजता, सरसता और जीवंतता के परिचायक हैं। ये सौंदर्य और प्रेम के प्रति प्राणी के 'रेस्पोन्स' (Response) के द्योतक हैं। कृष्ण-काव्य सौंदर्य की उपासना है। उसमें भी सूरसागर तो मानो रस का सागर है और सूर ने अपने काव्य में इनकी बड़ी सफल और मौलिक योजना की है।

हिन्दी रीति-ग्रंथों और भारतीय काव्यशास्त्र में अनुभावों का सविस्तार विवेचन उपलब्ध होता है। वामन शिवराम आप्टे ने मुद्राओं, चेष्टाओं द्वारा भावों को व्यंजित करने को अनुभाव कहा है (भावं मनोगतं साक्षात् स्वगतं व्यंजयन्ति ये तेऽनुभावाः इति ख्याताः—आप्टे का संस्कृत हिंदी कोश)। अर्थात् दृष्टि, संकेत आदि उपयुक्त लक्षणों द्वारा भावनाओं को प्रकट करना अनुभाव कहलाता है। अनुभाव असल में आश्रय के हृदय की भावनाओं के द्योतक होते हैं, जिनकी अभिव्यंजना भिन्न-भिन्न चेष्टाओं द्वारा होती है। इनकी संख्या अनिश्चित होती है, फिर भी इनके पाँच भेद किए गए हैं—

कायिक, वाचिक, मानसिक, आहार्य एवं सात्त्विक। कायिक तथा मानसिक अनुभावों के तीन भेद किए गए हैं—अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज।

सत्त्व से उत्पन्न विशेष धर्म (Characteristics) अंगविकार सात्त्विक अनुभाव कहलाते हैं। इनके आठ भेद हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु अथवा कंप, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। सात्त्विक अलंकारों को तीन भागों में बाँट उसके भेदोपभेदों का चित्रण किया गया है। हिंदी साहित्य कोश[1] भाग–१ की टिप्पणी में उनके चार भेद किए गए हैं—(१) शारीर अलंकार—जो रूपात्मक सौंदर्य का संकेत देते हैं—शोभा, कांति, दीप्ति तथा माधुर्य, (२) मानस अलंकार—जिनसे चरित्र-सौंदर्य की व्यंजना होती है—प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य; (३) स्वभावज हाव के अंतर्गत नायिका की स्वाभाविक चेष्टाएँ आती हैं—लीला विच्छित्ति, कुट्टमित, विब्वोक, ललित, मौग्ध्य, विक्षेप और ब्याज प्रदर्शन; (४) अयत्नजनायिका की सहज चेष्टाओं को कह सकते हैं। हेला, विलास, विभ्रम, किलकिंचित, विहृत, हसित और चकित।[2]

मेरी दृष्टि में अनुभावों और भावों की योजना से सौंदर्य में तिशीलता और गंभीरता आ जाती है। रूप के दर्शन और प्रेम की अनुभूति के द्रष्टा की चिति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी अभिव्यक्ति जिन चेष्टाओं द्वारा होती है, उन्हीं का शास्त्रीय विवेचन अनुभाव है। रूप-सौंदर्य और प्रेम के चित्रण में ही अनुभावों की योजना अधिक हुई है इसीलिए मध्यकालीन काव्य ही इसका प्रधान उत्स ठहरता है। अन्य कवियों ने तो अनुभावों की योजना रीति के पालन के लिए की है किंतु सूर के संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता। सूर की अनुभाव-योजना जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। इसीलिए अन्य कवियों की तुलना में इनके अनुभाव अधिक सहज, सरस और सुंदर बन पड़े हैं। इनकी योजना से उनकी रस-प्रतीति और प्रगाढ़ हो उठी है। सूरसागर के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर ने आश्रय की ऐसी-ऐसी मुद्राओं, चेष्टाओं का अंकन किया है, जिनके लिए नामकरण अलग से करना पड़ेगा। राग-रागिनियों की तरह उनकी अनुभाव-योजना भी विविध किंवा अपार है।

कृष्ण प्रकट हुए। सौंदर्य देखकर देवकी चकित हो गयी—देवकी मन-मन चकित भई। देखहु आइ पुत्र-मुखकाहेन, ऐसी कहुँ देखी न दई। चारों ओर आनंद ही आनंद बढ़ने लगा। देवता दुंदुभी बजाने लगे, विद्याधर किन्नर गाने लगे और गंधर्व—गावत गुन गंदर्भ पुलकि तन। यहाँ वाद्य, नृत्य, पुलकन के द्वारा देवताओं की प्रफुल्लता की ओर संकेत किया गया है। वसुदेव कृष्ण को ब्रज में पहुँचा आते हैं। ब्रज का आनंद विविध अनुभावों द्वारा व्यक्त होता है :

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ० १०७

२. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक, डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

जागी महरि, पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर मैं न समाइ।
गदगद कंठ, बोलि नहिं आवै, हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ।[1]

यहाँ यशोदा का आंतरिक आनंद पुलकन और गद्गद् कंठ के द्वारा व्यक्त हो रहा है। नंद दौड़कर आते हैं, सुत-मुख देखते हैं। उनके सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता। सखियों पर कैसा प्रभाव पड़ा—उठीं सखी सब मंगल गाइ।[2] ब्रजवासी कितनी मुद्राओं, चेष्टाओं द्वारा अपने हर्ष को व्यक्त करते हैं। आज कोई वन में न जाना। गाय बछड़ों को रंगकर नंद-द्वार ले चलें। परिणाम क्या हुआ गाँव भर में कोलाहल मच गया। कोई दधि-दूध लिए घूम रहा है, कोई पैर पकड़ कर बैठा रह गया है। (स्तंभ); कोई एक-दूसरे को बधाई देता है, कोई हँसकर गा उठता है। बालक, वृद्ध, युवा सबका चौगुना चाव बढ़ गया है। 'आनंद उर अंचल न सम्हारति', 'सीस सुमन बरषावति', 'आजु तौ बधाई बाजै मंदिर महरि के' में तो सब फूले फिर रहे हैं, यहाँ तक कि—उमँगे जमुन-जल, प्रफुलित कुंज-पुंज, फूली है जसोदा रानी, सुत जायौ सारंग पानी, भूपति उदार फूले भाग फरे घर के।[3]

सूरसागर मुक्तक काव्य है किंतु सूर ने एक-एक प्रसंग पर क्रम बाँधकर पदों की रचना की है। इसलिए उसका निष्पन्न प्रभाव गाढ़ता की ओर ले जाने वाला होता है। सूरसागर में कवि प्रसंग तो गिने-चुने लेता है किंतु उनके चित्रण में विविधता होने से रमणीयता संक्रांत होती रहती है और एकरसता नहीं आने पाती। कृष्ण के जन्म से जो आनंद हुआ उसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न अनुभावों द्वारा की गई किंतु उन चेष्टाओं की कोई सीमा नहीं है। अनुभूति एक है किंतु उसके प्रसार की प्रणालियाँ भिन्न हैं। इसी में कवि-कौशल का स्वारस्य है :

आजु भोर तमचुर के रोल।
गोकुल मैं आनंद होत है, मंगल-धुनि महराने टोल।
फूले फिरत नंद अति सुख भयौ, हरषि मँगावत फूल-तमोल।
फूली फिरति जसोदा तन-मन उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल।[4]

यहीं पर नंद चंदन से आँगन लिपवाते हैं, मोतियों से चौक भरवाते हैं, तुरही आदि वाद्य बजवाकर अपना आनंदभाव प्रकट करते हैं।

अनुभाव-योजना में आने वाले गुण शोभा, कांति, विच्छिति आदि भी बाल-रूपवर्णन में मिलते हैं। अगर श्रृंगारी परंपरा में निरूपित इन अनुभावों की मूल प्रेरकभावना को छोड़ दिया जाय और आलंबन के सहज सौंदर्य को लिया जाय, उस सौंदर्य को आश्रय पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में निरूपित किया जाय तो कांति, शोभा के अंतर्गत इसका वर्णन किया जा सकता है :

---

१. सूरसागर, ६३१
२. सूरसागर, ६३२
३. सूरसागर, ६५२
४. सूरसागर, ७१२

रुनुक झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन-हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरतहीं, सो छबि जाइ न बरनी।
ब्रज-जुवती सब देखि थकित भइँ, सुंदरता की सरनी।[1]

सूरसागर में जितना नाटकीय तत्त्व है, वह वार्त्तालाप से अधिक मुद्राओं और अनुभावों पर निर्भर है। इसीलिए सूर कहीं स्थिर-सौंदर्य का चित्रण नहीं करते, उसमें सदा गतिशीलता भरते रहते हैं। रूप का चित्र है तो दूसरी ओर उसके प्रभाव की गतिशीलता है। देखिए :

फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
पूछतिं सखी परस्पर बातैं, पायौ पर्‌यौ कछू कहूँ तैं री।
पुलकित रोम-रोम, गद-गद, मुख बानी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हमकौं क्यौं न सुनावै।
तनन्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप।[2]

उसका शरीर पुलकित, मुख गद्‌गद् और अवरुद्ध कंठ क्यों न हो! उसने जो परम रूप को देख लिया है।

एक दिन कृष्ण ने ग्वाल-बालों के साथ मंत्रणा की। सारे ब्रज में माखन चुरा कर खायेंगे। इसका ग्वाल-बालों पर क्या प्रभाव पड़ा—यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ। हँसि परस्पर देत तारी सौंह करि नँदराइ।[3] ब्रज के घर-घर में यह बात फैल गयी। गोपियाँ अभिलाषा करने लगीं :

माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुवावें।[4]

गोपियाँ अपने घरों में कृष्ण को माखन खाते देखती हैं। अनुपम सौंदर्य को देख थकित हो जाती हैं :

उठि, अवलोकि ओट ठाढ़े ह्वै, जिहिं विधि हैं लखि लेत।
चक्रित नैन चहूँ दिसि चितवत, और सखनि कौं देत।[5]

इन मुद्राओं का गोपियों पर क्या प्रभाव पड़ता है :

बाल-बिनोद बिलोक सूर प्रभु सिथिल भईं ब्रजनारि।
फुरे न बचन बरजिबैं कारन, रहीं बिचारि-बिचारि।[6]

अब दूसरा चित्र देखिए। गोपियाँ उलाहने लेकर आती हैं। कृष्ण माखन चुराते हैं, माठ फोड़ डालते हैं; आदि-आदि। कृष्ण सफाई देते हैं :

---

१. सूरसागर, ७४१ २. सूरसागर, ८८४ ३. सूरसागर, ८८७
४. सूरसागर, ८९० ५. सूरसागर, ९०१ ६. सूरसागर, ९०१

मोहिं कहतिं जुवती सब चोर।
खेलत कहूँ रहौं मैं बाहिर, चितै रहति सब मेरी ओर।
बोलि लेतिं भीतर घर अपनैं, मुख चूमतिं, भरि लेति अँकोर।[1]

कृष्ण बड़े हो गए। बाबा से कहते हैं, मुझे गाय दुहना सिखाओ। बाबा कहते हैं, तू अभी छोटा है, फिर अँगुरियों से दुहने का भाव बताते हैं। मुद्रा देखिए :

बाबा मोकौं दुहन सिखायौ।
तेरैं मन परतीति न आवै, दुहत अँगुरियनि भाव बतायौ।
अँगुरी-भाव देखि जननी तब हँसिकै स्यामहिं कंठ लगायौ।[2]

कृष्ण के सौंदर्य-चित्रण का ऊपर जो संकेत किया है, इसमें कांति, दीप्ति, विच्छित्ति का खूब चित्रण है :

सोभा कहत कही नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्ति कौं पावै।[3]

प्रति अंग में अनंग कोटि छवि है। दृष्टि जहाँ जाती है, वहीं थम जाती है। ऐसा लगता है—मनु मरजाद उलंघि अधिक बल उमँग चली अति सुंदरताई। ऐसा हो क्यों न—उनका रूप तो सुंदरता का सागर है। यही नहीं उसकी कांति, दीप्ति सदा नवीन होती रहती है :

सखि री सुंदरता कौ रंग।
छिन-छिन माँहि परति छबि औरै, कमल-नैन कै अंग।
परिमिति करि राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलति संग।[4]

गोपियों पर क्या प्रभाव पड़ता है :

गोपी तजि लाज, संग स्याम-रंग भूली।
पूरन मुख-चंद देखि, नैन कोइ फूलीं।[5]

इसीलिए 'स्याम-अंग जुवती निरखि भुलानी', युवतियाँ तन्मय हो जाती हैं। कैसी समस्त चेतना पर छा जाने वाली (over powered) रूप-माधुरी है। गोपियों में यहीं से अभिलाष प्रकट होने लगता है। यही हाव, भाव, हेला से होता हुआ उज्ज्वल भाव प्रणय, स्नेह, प्रीति में पर्यवसित हो जाता है। ये अनुभाव तो गोपियों के अनुराग-सागर में उठी लहरें हैं :

कृष्ण के नेत्र भी कम नहीं हैं और गोपियाँ उनके एक-एक पलक-पात से व्यंजित भावों को पकड़ लेती हैं :

---

१. सूरसागर, १०१६ २. सूरसागर, १२८५ ३. सूरसागर, १०६६
४. सूरसागर, १२५८ ५. सूरसागर, १२६०

बनै विसाल कमल दल नैन ।
ताहू मैं अतिचारु विलोकनि, गूढ़ भाव सूचति सखि सैन ।[1]

वे तुरंत द्रवित हो जाती हैं। नेत्रों से पानी बह चलता है। वे विधाता पर कोप करती हैं कि जिसने उन्हें दो ही नेत्र दिए। अगर कहीं रोम-रोम में नेत्र होते, तभी उस सौंदर्य का कुछ आनंद लिया जा सकता था। ऐसा लगता है, यहाँ गोपियों की समस्त इंद्रियाँ एक ही इंद्रिय-नेत्र में समाहित हो जाना चाहती हैं। ऐसा अन्य कवियों ने भी किया है। असल में मूल रूप में मनुष्य का चेतना-संस्थान एक है। उसका एक मूल है, इसलिए उसकी अभिव्यंजना भी विविध माध्यमों से होकर भी मूल में एक ही है। इंद्रियों का यह विपर्यय बिंब-विपर्यय में देखा जा सकता है :

बिधना चूक परी मैं जानी ।
दृष्टि न दई रोम-रोमनि प्रति, इतनिहिं कला नसानी ।
कहा करौं, अति सुख, द्वै नैना उमँगि चलत पलपानो ।[2]

रूप का चित्रण अत्यंत गतिशील है। इसमें एक ओर विभाव का गतियुक्त चित्र रहता है तथा दूसरी ओर उसकी मुद्राओं का पड़ने वाला प्रभाव आश्रय की अनेक चेष्टाओं द्वारा व्यंजित होता है। इसी से गोपियाँ विथकित हो जाती हैं, तन्मय होकर सुधि विसार देती हैं, उनके अंग आनंद से फूल उठते हैं। इन स्थलों पर कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति द्रष्टव्य है। वह सौंदर्य का चित्रण नहीं करता, पीता है। इस पान में उपासे नेत्र जहाँ जाते हैं, उसके कैमरे का फोकस वहीं-वहीं घूम जाता है। तूलिका उन्हीं की छबि उरेह देती है :

कहीं-कहीं कृष्ण के मन की भी अभिलाषा व्यक्त होती है :

आजु सखि देखे स्याम नए (री) ।
निकसे आनि **अचानक अबहीं, इत** फिरि फिरि चितए **(री) ।**
थके चरन **सुनि सूरि मनौ गुन मदन-बान विधए (री) ।**[3]

कृष्ण का रूप देख गोपियाँ कैसी मुग्ध होती हैं :

तन-मन नारि डारति वारि ।
स्याम-सोभा सिंधु जान्यौ, अंग-अंग निहारि ।
निरखि छबि थकि तीर बैठी, **कहूँ वार न पार ।**
चलत अंग त्रिभंग **करिकै,** भौंह भाव **चलाइ ।**
चकित भई **तिय निरखि** सोभा, देह-गति **बिसराइ ।**[4]

---

१. सूरसागर, २३९४
२. सूरसागर, २४०२
३. सूरसागर, २४३०
४. सूरसागर, २४३८

एक दिन अचानक राधा-कृष्ण एक-दूसरे के सामने पड़ जाते हैं। पलभर की देखा-देखी दृढ़ अनुराग में परिणत होकर उस भाव-सागर की ओर गतिमान होती है, जो इस सागर का मूल है, जिसमें इसका स्वास्थ्य, शोभा और तत्त्व समाया हुआ है। अनुभावों का नायक-नायिका के स्तर पर यहीं से चित्रण मिलता है। 'खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी'—यही घटना अक्षय हो सूरसागर के समस्त परिसर में व्याप्त हो जाती है। अल्पवयस राधा को देखा, यहीं राधा के सौंदर्य का संकेत है—अति छबि तन गोरी। यहीं दोनों के नेत्र मिलते ही ठग जाते हैं। कृष्ण का अभिलाष व्यक्त होता है—बूझत स्याम कौन तुम गोरी? कितना मनोवैज्ञानिक प्रश्न है? समस्त प्रेम के मूल में यही व्याप्त है। यहाँ पंत की पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं—वारि पीकर पूछता है घर सदा। राधा कहती है, "सुनती हूँ तुम तो चोरी करते फिरते हो", "लेकिन तुम्हारा क्या चुरा लूंगा? चलो खेलने चलें।" इसी व्यापार में दोनों ने प्रेम का अनुभव किया :

प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ।
नैन नैन कीन्हीं सब बातें, गुप्त प्रीति प्रगटान्यौ।[1]

दोनों बहाने से मिलने लगे। सैनों से नागरी को समझाया कि खरिक में गाय दुहने के बहाने आओ। चंपकवर्णी सुंदरी संकोच के कारण अपना मुख छिपा रही है। कृष्ण पर राधा का मन रीझ गया। राधा की चेष्टाएँ देखिये :

नागरि मन गई अरुझाइ।
अति बिरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाइ।
कबहुँ बिहँसति, कबहुँ बिलपति, सकुचि रहति लजाइ।[2]

अब दोहनी माँगकर खरिक में जाना चाहती है। वहाँ कृष्ण को न पा देखिए राधा की छटपटाहट—कबहूँ इत कबहूँ उत डोलति, लागी प्रीति खभारी।

इस प्रेमावेग का परिणाम क्या हुआ! वह इतनी तन्मय रहने लगी कि अकसर विस्मृति में पड़ जाती—कुछ का कुछ करने लगती—'रीतो माठ बिलोवई' और चित्त कहाँ है! जहाँ कृष्ण हैं। और कृष्ण की क्या दशा है—गाय के स्थान पर बैल को दुहने बैठ जाते हैं। इस पर ग्वाल-बाल तारी देकर हँसते हैं—**आज कहाँ तुम रहे भुलाई।** अनुराग (कामवेग) बढ़ने से और ही शोभा हो जाती है। नारी-मनोविज्ञान का यह तथ्य है—'स्मित बन जाती तरल हँसी या नत मस्तक गर्व वहन करते' इसी की ओर संकेत करते हैं। यहाँ—**तेरो मुख देखत ससि लाजै नैना तेरे जलज-जीत हैं, खंजन ते अति नाचैं।** कृष्ण कहते हैं—राधा तू देखना छोड़ दे :

---

१. सूरसागर, १२६२   २. सूरसागर, १२६६

चितैबो छाँड़ि दै री राधा।

× × ×

कबहुँक कर तें गिरत दोहिनी, कबहुँक बिसरति नोई।[1]

उधर यशोदा कहती हैं, मेरे स्याम को गाय दुहने दे। यहाँ एक तो आया न कर और आया कर तो सहज रूप में आया कर—बन-ठनकर नहीं। यहाँ बन-ठन कर आने में वेश आहार्य अनुभाव व्यक्त होता है—अभिलाष तो उसके मूल में है ही।

दोहनलीला के समय की चेष्टाएँ भी अत्यंत मनोहर और आकर्षक हैं :

कृष्ण दुह रहे हैं। उस समय उनकी चेष्टाएँ और राधा की मुद्राएँ-परस्पर देखकर बढ़ते अनुराग की छलकन कितनी सहृदय-हृदय-रमणीय है। सूर की अनुभाव-चित्रण कला देखिये :

हाथ-**धेनु-थन**, बदन **तिया-तन** छीर छींटि **छल छोरे।**

× × ×

दै घूँघट-**पट** ओट नील, हँसि, कुँवरि मुदित मुख **मोरे।**[2]

कैसा चित्र है ! जैसे सूर नाटक लिख रहे हों। कैसा गठा हुआ शब्द-विधान और Stage direction है। फिर, सौंदर्य की भी व्यंजना देखिए :

मनहुँ सरद-ससि कौं मिलि दामिनि, घेरि लियौ घन घोरे।

इहिं बिधि रहसत-बिलसत दंपति, हेत हियें नहिं थोरे। (**अभिलाष, प्रेम**)

सूर उमँगि आनंद सुधा-निधि, मनु बेला वल फोरे।[3]

एक और सुंदर चित्र है। इसमें चेष्टाओं का, उन चेष्टाओं से झाँकते अनुराग का, चित्र द्रष्टव्य है :

दुहि दीन्ही राधा की गाइ।

दोहिनि नहीं देत कर तैं हरि, हा हा करि परै पाइ।

ज्यौं-ज्यौं प्यारी हा हा **बोलति, त्यौं त्यौं** हँसत **कन्हाइ।**[4]

कृष्ण ने कहा—'एक बार फिर हा-हा खाओ।' इस तरह—**सूर स्याम रस हाव-भाव करि, दीन्ही कुँवरि पठाइ।**[5]

सूर ने जीवन का चित्रण किया है। इसलिए अनुभावों के चित्रण में वे शास्त्र का अनुगमन न कर जीवन के परिवेश में आने वाली चेष्टाओं को ही द्योतित करते चलते हैं। इससे हमारे सामने जीवन का सहज चित्र आता-जाता है। हमें ऐसा नहीं लगता कि हम शास्त्र का अवलोकन कर रहे हैं। लगता है कि जीवन का एक चित्र ही अपनी सहजगति में हमारे सामने अभिनीत हो उठा है।

---

१. सूरसागर, १३३९ २. सूरसागर, १३५० ३. सूरसागर, १३५०
४. सूरसागर, १३५५ ५. सूरसागर, १३५५

राधा-कृष्ण का प्रेम अब प्रकट हो गया है। राधा इधर-उधर आते-जाते सोचती रहती हैं कि कृष्ण कहीं दीख जाएँ :

मुरि-मुरि चितवत नंद गली।
डग न परत ब्रजनाथ-साथ बिनु-बिरहु बिथा मैं जाति जली।
बार-बार मोहन-मुख, कारन, आवति फिरि-फिरि संग अली।[1]

इसमें अभिलाष, शैथिल्य, विह्वलता द्रष्टव्य है। कृष्ण-दर्शन से उसकी कैसा दशा हो गई है—चली पीठि दै दृष्टि फिरावति, अंग-अंग आनंद रली।

इस अनुराग के कारण उसकी छवि बदल गई है—उसकी शोभा कांति, माधुर्य, दीप्ति से होती हुई विच्छित्ति का स्पर्श करने लगती है—'कीर-कपोत-मीन-पिक-सारंग-केहरि-कदली छवि बदली।' यह स्नेह बढ़ते-बढ़ते उसे अत्यंत विह्वल कर देता है। जड़ता, स्तम्भ, स्वेद के साथ-साथ उसे 'मुरछा' भी आने लगी है—उसे स्याम-भुजंग ने डस लिया है। इसलिए घर से तो 'नीकी' गई थी उधर से—'सीतल अंग स्वेद सौं बूड़ी', 'गिरी धरनि मुरछि तबहीं', 'आई विह्वल भई', और कृष्ण जब आ गए, उन्होंने स्पर्श किया, तो 'तन पुलकित रोमांच प्रकट भए, आनँद-अश्रु बहाइ'।

अब ब्रज में राधा-कृष्ण को लेकर 'चरचा' चलने लगी है। उसे छिपाने की, सखियों को उत्तर देने की, उसे कई युक्तियाँ आती हैं—उसमें प्रागल्भ्य का विकास हो गया है :

तुम गही बाहँ सुभाइ आपनैं हौं चितई हँसि-नैंकु बदन-तन।
× × ×
ता दिन तैं घर-मारग जित-तित करत चबाव सकल गोपीजन।[2]

इसलिए—'ब्रज वसि का के बोल सहौं'। इन गलियों में मत आया करो और आया करो तो बाँसुरी मत बजाया करो। कृष्ण राधा को समझाते हैं। प्रकृति-पुरुष का तत्त्व बताते हैं। उसे गले लगाते हैं। अब राधा की मुद्राएँ उसकी छबि, अंग-अंग से छलकता अनुराग देखने योग्य है :

घरहिं जाति मन हरष बढ़ायौ।
दुख डार्यौ, सुख अंग भार भरि, चली लूट सौ पायौ।
भौंह सकोरति चलति-मंद गति, नैंकु बदन मुसुकायौ।
तहँ इक सखी मिली राधा कौं, कहति भयौ मन भायौ।
कुंज-भवन हरि-संग बिलसि रस, मन कौ सुफल करायौ।
सूर सुगंध चुरावनहारौ, कैसैं दुरत दुरायौ।[3]

---

१. सूरसागर, १३५७ २. सूरसागर, २२६६ ३. सूरसागर, २३१३

उपर्युक्त पद में अनेक अनुभावों का संकर है। कुंज भवन में विलास करने के कारण उसकी और ही छवि हो गयी है—पुलकित रोम-रोम गदगद अब. अँग-अँग रूप अगाधा' अथवा :

राधे, तेरौ बदन बिराजत नीकौ।
जब तू इत-उत बंक बिलोकति, होत निसा-पति फीकौ।[1]

इस अनुराग के कारण राधा की मुद्राएँ, रूप, छवि शृंगार सब बदल गया है। उसमें विच्छित्ति के साथ-साथ कुट्टमित, बिब्बोक आदि अनुभावों का समावेश हो गया है। गोपियाँ कहती हैं—कालि्ह कछु और, प्रातहिं कछु और ही, अबहीं कछु और ह्वै गई प्यारी—इसे सुनकर सखियाँ दौड़कर आईं। ऊपर राधा की चतुरता का संकेत किया जा चुका है। इस नैपुण्य ने राधा के अनुराग को और प्रगाढ़ कर दिया है। वह साफ नकार जाती है—मैंने तो श्याम को देखा ही नहीं। हे सखि! वे कैसे हैं—गोरे या कारे। एक सखि कहती है—मैं तुम्हें श्याम दिखाऊँगी। उनके मन में भी तुझे देखने की अभिलाषा है—उनहूँ कै लालसा बहुत यह, तोहि देखि सुख पैहैं :

तुमकौं देखि स्याम सुंदर घन, मुरली मधुर बजैहैं।
तनु त्रिभंग करि अंग-अंग सौं, नाना भाव जनैहैं।[2]

यहाँ अनुराग-जनित कृष्ण की चेष्टाओं का संकेत है। रासलीला के पहले सूर ने 'जलक्रीड़ा' के समय के अनुभावों का चित्रण किया है। राधा सखियों के साथ जल-विहार कर रही है :

ग्रीव प्रजंत नीर मैं ठाढ़ी, छिरकति जल अपनैं अपनैं रंग।
मुख भरि नीर परसपर डारति सोभा अतिहिं अनूप बढ़ी तब।[3]

जल-क्रीड़ा के समय एक दिन कृष्ण आ जाते हैं—तब ठाढ़े देखत 'नँद-नंदन' यहाँ कवि कृष्ण की शोभा का चित्र खींचता है—सुंदर-सुभग स्यामतन नव-घन बिच बगपाँति विराजति'। कृष्ण के ऐसे सौंदर्य को देख राधा विस्मृत हो गयी :

राधा निरखि भूली अंग।
नंदनंदन रूप पर गति-मति भई तनु पंग।[4]

ऐसा नहीं है, कृष्ण भी उधर से देख रहे हैं—उतहिं स्याम इकटक प्यारी छबि, अंग-अंग अवलोकत। इस तरह दोनों का प्रेम सखियों के सामने प्रकट हो जाता है। कृष्ण राधा पर रीझ गए हैं—इससे राधा गर्व से भर गई है। उसमें बिब्बोक भाव का आविर्भाव होता है—यद्यपि यहाँ प्रिय का अनादर नहीं; किंतु सखियों के प्रति

१. सूरसागर, २३२०
२. सूरसागर, २३५६
३. सूरसागर, २३७१
४. सूरसागर, २३७७

व्यवहार में एक प्रकार का औद्धत्यभाव आ जाता है—सूर स्याम कैं गर्व राधिका, सूधैं काहूँ तन न निहारति।

इस अनुराग, गर्व, औद्धत्य ने मिलकर उसमें किन अनुभावों की सृष्टि कर दी है। विलास है, हाव है, भाव है, कटाक्ष है :

राधा हरि कैं गर्ब गहीली।
मंद-मंद गति **मत मतंग ज्यौं,** अंग-अंग **सुख-पुंज-भरीली।**
पग द्वै चलति ठठकि **रहै** ठाढी, मौन धरै **हरि कैं रस गीली।**
धरनी नख चरननि कुरवारति, **सौतिनि भाग-सुहाग-डहीली।**
सूर सखी बूझैं यह कैहौं, **आजु भई यह** भेंट पहीली।[1]

राधा में कितना चातुर्य आ गया है, अनुराग छिपाने का। लेकिन कहीं प्रीति और सुगंध की चोरी छिप सकती है? सखी ने कहा—हे राधा तू ही धन्य है, जो कृष्ण को अपने वश में कर लिया है। इस पर राधा अभिभूत हो गयी—**सुनत बानी सखी मुख की जिय भयौ अनुराग। प्रेम गदगद, रोम पुलकित, समुझि अपनों भाग। प्रीति परगट कियौ चाहै, बचन बोलि न जाइ। नंदनंदन काम-नायक रहे नैननि छाइ।**[2] इस तरह राधिका कृष्ण-रस में मग्न है। सोच नहीं पाती कृष्ण से कब प्रेम हो गया। कितना मनोवैज्ञानिक चित्र है। भला प्रीति का कारण-परंपरा कौन खोजे! यह तो फूल की तरह एकाएक खिल उठता है—कहाँ से, कौन जाने। फूल में सुवास की तरह हमारी चेतना में ही छिपा रहता है—चंपई कली-सा—**कब री मिले स्याम, नहिं जानौं। खरिक मिले की गोरस बेचत, की अबहीं की कालि।**[3] लेकिन इतनी बात सत्य है कि नेत्रों से टलते नहीं। अब नेत्र के दुःख-सुख सब बिसर गए। नींद आती नहीं—**इन नैननि, नैकहुँ नींद न लीन्हीं।** और जैसे अचेत बालक अपने तन की देदना चुपचाप सहता रहता है, मन की दशा वही हो गयी है। राधा और कृष्ण के मिलने के, लीला के, मिलने के लिए किए गए संकेतों के सूर ने विविध चित्र खींचे हैं। अनुभावों की गिनती कितनी हो गई। वे तो सीमित हैं किंतु उनको उरेहने वाली तूलिका ने उन्हें इतने विविध संदर्भों में चित्रित किया है कि वे अपना स्वारस्य नहीं खो पाते। सूर की कल्पना-शक्ति देख आश्चर्य होता है। एक दिन कृष्ण अचानक राधा की दृष्टि में पड़ गए। वह अपने आँगन में खड़ी थी। बुला सकते नहीं। संकेतों की परंपरा देखिए और उनके मूल में स्थित अनुराग—नैन सैन दै दै हरि-मो तन, कछु इक भाव बतायौरी।[4] स्याम अचानक आइ गये री[5], पद में भी दोनों की अनेक चेष्टाओं का संगुंफन है।

---

१. सूरसागर, २३६० २. सूरसागर, २४६३ ३. सूरसागर, २४७६
४. सूरसागर, २४६३ ५. सूरसागर, २४६७

राधा का अनुराग तो बढ़ा ही, गोपियों की भी दशा विचित्र हो गयी है :

माई कृष्ण नाम जब तैं स्रवन सुन्यौ है री, तब तैं भूली री मौन बावरी सी भई री।
भरि भरि आवैं नैन, चित न रहत चैन, बैंन नाहिं, सूधौ दसा औरहिं ह्वै गई री।[1]

इसमें विह्वलता, अश्रु, तन्मयता, मोहायित आदि अनुभावों की योजना है। इसका सौंदर्य मात्र इन मुद्राओं के चित्रण में नहीं, इनसे नित्य वर्धमान अनुराग की व्यंजना में है। आगे चलकर 'प्रीतिरीति' में राधा अत्यंत प्रौढ़ हो जाती है। उसकी विदग्धता और प्रागल्भ्य अनुराग छिपाने और मिलने की अनेक युक्तियों को सुझा देते हैं। यहाँ चित्रण बड़ा सरस, कुतूहलवर्धक और विभोर कर देने वाला हो जाता है। हार खो गया, राधा इस बहाने वन में चली :

सैन दै **नागरी गई बनकौं।**
तबहीं कर-कौर दियौ डारि, नहिंरहि **सके ग्वाल जेंवत तजे, मोह्यौ उनकौं।**
प्रिया निरखति पंथ, **मिलें कब हरि कंत,** गए इहि **अंत हँसि अंक लीन्हौ।**
अतिहिं सुख पाइ, अतुराइ मिले धाइ दोउ, **मनौ अति रंक नव निधिहिं पाई।**[2]

उधर कृष्ण :

कबहूँ स्याम जमुना तट जात।
कबहूँ कदम चढ़त मग देखत, **राधा बिनु** अतिहीं अकुलात।
कबहूँ जात वन कुंज-धाम कौं, देखि रहत नहिं कछु **सुहात।**[3]

अकुलाहट भरी प्रतीक्षा को किन चेष्टाओं द्वारा व्यक्त किया है! कदंब पर चढ़कर देखना कहीं राधा मग में न आती हो। वहाँ न पाकर कुंज में देखना—शायद प्रतीक्षा कर रही हो! वहाँ भी न पाकर 'वृषभान पुरा' जाना। एक के बाद एक में व्याकुलता बढ़ती जाती है। संयोग में भी प्रवास के रूप में वियोग चलता रहता है। यह वियोग प्रेम को और परिपक्व करने आता है। राधा कहती है, गर्व के कारण मैंने कृष्ण को खो दिया। सखियाँ कहती हैं—मान कर मान, कृष्ण तो दौड़े चले आयँगे। राधा कहती है—नहीं, मैं तो इस तरह उनका मन खींचती हूँ। इसमें धैर्य, औदार्य अनुभाव व्यंजित हैं :

हा हा करि दसननि तृन धरि धरि, लोचन नीर बहाऊँ री।
चरन-कमल गाढ़ै गहि कर सौं, पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ री।
मुख चितवौं, फिरि धरनि निहारौं ऐसैं रुचि उपजाऊँ री।
मिलौं धाइ, अकुलाइ, भुजनि भरि, उर की तपन जनाऊँ री।[4]

---

१. सूरसागर, २५१४ २. सूरसागर, २६०२
३. सूरसागर, २६३९ ४. सूरसागर, २७२१

राधा-कृष्ण दोनों परस्पर इतने रले-मिले हैं कि विभ्रम, विव्वोक के कारण एक-दूसरे के वस्त्र बदल लेते हैं—प्रिया भूषन स्याम पहिरत, स्याम-भूषन नारि। सूर प्रभु करि मान बैठे, तिय करति मनुहारि। गोपियाँ राधा से पूछती हैं, यह दूसरी सखी कौन है ? उनकी चेष्टाएँ देखिए—कबहुँक करि परसति, कपोल छुइ चुटकि लेत ह्याँ हमहि निहारो।[1]

राधा सिंगार (कुट्टमित) कर रही है और रंध्रों से श्याम देख रहे हैं। यहाँ दीप्ति, कांति, विच्छित्ति का चित्रण देखिए :

करति सिंगार वृषभानु बारी।
रहे इकटक जाल-रंध्र मग हेरि कै, स्याम मन भावती परम प्यारी।
कबहुँ बेनी रचति फूल सौं मिलै कच, कबहुँ रचि माँग मोतिनि सँवारी।
कबहुँ केसरि आड़ रचति दर्पन हेरि, कबहुँ भ्रुव निरखि रिसकरि सकोरै।[2]

राधा दर्पण में अपना ही सौंदर्य देख अभिभूत हो जाती है। सूर ने अभिसार के समय की भी चेष्टाओं का चित्रण किया है :

आलिंगन दै अधर दसनि खंडि, कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सौं नासा लै जोरत, नैन नैन पर सावत।

एक पद में कुट्टमित की अभिव्यक्ति :

मूँदि रहे पिय प्यारी लोचन।
अतिहित बेनी उर परसाए वेष्टित भुजा अमोचन।
मन हरषत, मुख खिझति, सखिनि कहि चतुर चतुरई भाव।
सूर स्याम मन कामनि के फल, लूटत हैं इहि दाव।[3]

कवि कृष्ण की चेष्टाएँ भी व्यक्त करता है, इसे हम ऊपर यत्र-तत्र देख आए हैं। लेकिन शीतल ज्वाला केवल नारी के हृदय में जलती हो ऐसा नहीं, वह तो पुरुषों के हृदय को भी डेरा बनाती है। कृष्ण भी राधा के वियोग में विह्वल हैं। राधा ने मान जो किया है ! कबहुँक बैठत कुंज द्रुमनि तर, कबहुँक रहत खरे। कबहुँक तनु की सुरति बिसारत, कबहुँक तनु-सुधि आवत। दूती ने इस दशा का बखान राधा से किया—'गद्‌गद स्वर, संभ्रम अति आतुर, स्रवत सुलोचन नीर' इसलिए 'चलौ किन मानिनि कुंज कुटीर'। अब राधा कृष्ण के साथ कुसुमनि सेज्या पर विराज रही हैं—आलस भरे मगन रस दोऊ, अंग अंग प्रति जोहत। इसके बाद भी राधा का मान और कृष्ण की विरह-व्यथा चलती रहती है :

---

१. सूरसागर, २७८४ २. सूरसागर, २८०८ ३. सूरसागर, २८२१

स्याम तिया सम्मुख नहिं जोवत ।
कबहुँ नैन की कोर निहारत, कबहुँ बदन पुनि गोवत ।
मन-मन हँसत भसत तनु परगट, सुनत भावती बात ।
खंडित वचन सुनत प्यारी के, पुलक होत सब गात ।
श्री राधा रिस करति, निरखि मुख, तिहिं छबि पर ललचात ।[1]

सखी समझा रही है—हे राधा, कृष्ण जब जब तेरी याद करते हैं तब-तब डबडबाई दोउ लोचन, उमंगि भरते । 'राधा ने मान छोड़ दिया । अब कृष्ण उसे अपने हाथ से सजा रहे हैं और राधा—सकुचति नारि बदन मुसुकानी, उतकौं चितै रही ।

सूर ने राधा-कृष्णलीला को न जाने कितने परिवेशों में बुना है । कभी पावस, कभी शरद्, कभी हेमंत और कभी वसंत। होली आ गयी, सब ग्वाल-बाल फाग खेलने की तैयारी करने लगे । फाग खेलना तो मानो प्रकृतिपट पर हृदय के अनुराग को छिड़कना है । मानव-मन कैसा स्थूल रूप ले लेता है रंग-गुलाल का :

हरि संग खेलति हैं सब फाग ।
इहिं मिस करति प्रगट गोपी, उर अंतर कौ अनुराग ।
सारी पहिरि सुरंग, कसि कंचुक, काजर दै दै नैन ।
बनि-बनि निकसि निकसि भईं ठाढ़ी, सुनि माधौ के बैन ।[2]

इस प्रसंग में सूर ने हर्ष, उल्लास, प्रणय, खीज, अनुराग आदि भावों को व्यक्त करने के लिए इतने अनुभावों को गूँथा है कि उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा पर—उस प्रज्ञा पर, जो एक ही प्रसंग को उरेहने के लिए भिन्न-भिन्न परिसरों, परिवेशों और फलकों की रचना कर लेती है—आश्चर्य होता है । नवो नवो भवति जायमान—इस सूक्ति के अनुसार महाकवि की कल्पना कभी चुकती नहीं । उसके पास सौंदर्य का, शिल्प का अपरिमित भंडार रहता है ।

मुरली-माधुरी तो जैसे अंतर की सुकुमार भावनाओं को बहिर्भूत करने के लिए ही विधाता ने रची है । मुरली तो प्रतीक हो उठी है सृष्टि के कण-कण से उठते छंद की, सुषमा की । इस दिव्य लय में जिसका मन रमता था, वह धन्य है, नहीं तो जीवन भर भटकना पड़ता है उसकी खोज में । मुरली की धुन सुन 'जो जैसी थीं वैसी ही रह गयीं—लिखी चित्र-सी सूर सुह्वै रहि इकटक पल बिसराइ—जड़ता-स्तंभ-तन्मयता विस्मरण—एक साथ ।

इस दिव्य नाद से जब गोपियों की समस्त चेतना एक ही बिंदु पर नृत्य करने लगी तब हुआ महारास का समायोजन । उसके लिए कैसा चित्र-पट और चित्त-पट

१. सूरसागर, ३१६०   २. सूरसागर, ३४७८

चुना गया है—भगवान पिता रात्रीः शरदोत्फुल्ल मल्लिका।' फिर—'परस्पर मिलि हँसत, रहसत, हरषि करत विलास उमँगि आनंद-सिंधु उछल्यौ, स्याम कैं अभिलाष। मिलत इक-इक भुजनि भरि-भरि, रास-रुचि जिय-आनि।

महारास से प्रेम और गाढ़ा होकर गोपियों के अंग-अंग में समा जाता है। इसके बाद भाग्यचक्र घूमता है। कृष्ण को मथुरा जाना पड़ता है। उनका कार्य-क्षेत्र बदल जाता है और ब्रज में शोक का वातावरण छा जाता है। उस समय गोपियों की, यशोदा की क्या दशा हुई इसका सूर ने विभिन्न अनुभावों के द्वारा चित्रण किया है :

चलत जानि चितवति ब्रज-जुवती, मानहुँ लिखी चितेरैं।
जहाँ सु तहाँ एकटक रहि गईं फिरत न लोचन फेरैं।

और यशोदा की दशा का क्या कहना—'जसुमति अति ही भई बिहाल'। पृथ्वी पर गिर पड़ती है, अत्यंत व्याकुल होकर कहती हैं कृष्ण को कोई रख ले। कृष्ण को विदाकर लौट रहे हैं—'पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।' यशोदा का वदन सूख गया है, नेत्रों से अश्रु बहते रहते हैं। नींद नहीं आती है, तारे गिनते रात बीत जाती है। उसे याद जाता है—वह चितवनि, वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही—चितवति रही ठगी-सी ठाढ़ी।

'देखियत कालिंदी अति कारी'[1] पद में तो अनेक अनुभावों का संगुंफन है—तड़पन, कंपन, प्रस्वेद, भ्रम आदि। एक गोपी कहती है—अँखियाँ करति हैं अति आरि। बाँह थकी बायसहिं उड़ावत कब देखौं उनहारि।

कृष्ण ने उद्धव को भेजा। गोपियों को योग का संदेश देने और उद्धव का ज्ञानमद दूर करने के लिए। ब्रजवासियों ने दूर से रथ देखा। उन्हें लगा कृष्ण आ रहे हैं। क्या आनंद हुआ। किस तरह सब आतुर हो मिलने चले। देखते ही बनता है :

घर-घर इहै शब्द पर्‌यौ।
सुनत जसुमति धाइ निकसी, हरष हियौ भर्‌यौ।
नंद हरषित चले आगैं सखा हरषित अंग।
झुंड-झुंडनि नारि हरषित, चलीं उदधि तरंग।
गार हरषित ते स्रवतिं थन, चौकरत गौ-बाल।[2]

वदन गद्‌गद् प्रेम व्याकुल ब्रजवासी अब धीर नहीं रख पा रहे हैं। मिले बिना एक-एक पल युग-समान बीत रहा है। और जब पता चला, यह कृष्ण नहीं हैं तो ब्रजबालाएँ मूर्छित होकर गिर पड़ीं :

परीं व्याकुल जहाँ जसुमति, गईं तहँ सब धाइ।
नीर नैंननि बहति धारा, लईं पोंछि उठाइ।[3]

---

१. सूरसागर, ३८०६ २. सूरसागर, ४०८० ३. सूरसागर, ४०८७

उद्धव आ गए हैं। उनका किस विधि से स्वागत किया जाता है :

कंचन कलस **दूध दधि रोचन लै वृन्दावन** आई।
पूछत कुसल नारि नर हरषत, आए सब ब्रजबास।
सक सकात तन धकधकात उर, अकबकात **सब ठाढ़े।**
सूर उपँग-सुत बोलत नाहीं, अति हिरदै ह्वै गाढ़े।[1]

उद्धव ने पाती दी। गोपियों की क्या दशा हो गयी—कोउ पढ़ति, कोउ धरति धरनि पर, काहूँ हृदै लगाई, कोउ पूछत फिरि फिरि ऊधौ कौं आपुन लिखी कन्हाई।[2]

इसके पश्चात् उद्धव की ज्ञान कहानी-चलती है। गोपिकाएँ भिन्न-भिन्न ढंग से उसे काट देती हैं। यह प्रसंग भ्रमरगीत में आता है। इसमें अश्रु, स्तंभ, स्वेद, वैवर्ण्य, रोमांच, स्वरभंग आदि अनुभावों का चित्रण किया गया है। उद्धव पर भी गोपिकाओं की दशा का प्रभाव पड़ता है। प्रसंग बहुत लंबा और सरस है।

कृष्ण के वियोग में गोपियों की अँखियाँ सदा झरती रहती हैं—'ये झरना-सी झरति सदा हैं, सोभा सकल बही'। ये तो अब किसी तरह नहीं मानतीं :

ऊधौ, अँखियाँ अति अनुरागी।
इक टक मग जोवतिं अरु रोवतिं, भूलेहुँ पलक न लागी।[3]

इस प्रसंग में उद्धव-गोपी का वार्तालाप होने से कथोपकथन या वर्णन अधिक है। दूसरे यहाँ पर गोपियों की समस्त चेष्टाएँ बहिर्मुखी न होकर अंतर्मुखी हो गयी हैं। हाँ, स्मरण रूप में, कृष्ण की चेष्टाओं का वह भी उद्दीपन रूप में, अधिक चित्रण है। फिर भी कहीं-कहीं वियोग-व्यथा की व्यंजना के लिए चेष्टाओं का संकेत है—तृन न चरत गो, पियत न सुत पय, ढूंढत बन-बन डोलैं'। इसलिए उद्धव हमें क्या समझाते हो, इनकी दशा देखो।

यह दशा देख और प्रेम की दीक्षा ले उद्धव मथुरा पहुँचते हैं। कृष्ण ब्रज के हाल-चाल पूछते हैं। उद्धव ब्रज की दशा उरेहने के लिए जिन अनुभावों को चुनते हैं, वे भाव-व्यंजना में अनुपम हैं—बिनु गोपाल ठगे से ठाटे, अति दुर्बल तन कारे। नंद-जसोदा मारग जोवत, चहुँ दिसि कान्ह-कान्ह कहि टेरति, अँसुवन बहत पनारे' और उधर राधा के नेत्रों से भी नीर की नदी बह रही है। ब्रजवासी—उनकी दशा तो विचित्र है—जो कोउ आवत देखि दूर तैं, उठि पूछत कुसलात। चलन न देत, प्रेम आतुर उर, कर-चरननि लपटात। समूचा वातावरण कैसा है—'क्रीडत नाहिं कपोत, कुलाहल करत नहीं उठि प्रात। गो-मृग निकसि नवाइ नैन-मुख, अति दुख तृन नहिं खात।' यह सब सुनकर कृष्ण समाधान करते हैं कि हे उद्धव! इसी कारण हम ब्रज को भूल नहीं पाते—ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।

१· सूरसागर, ४०९७ २. सूरसागर, ४१०६ ३. सूरसागर, ४१९५

□ डा० कुंदनलाल जैन

सूरदास का कलापक्ष

महाकवि सूरदास का काव्य-जगत् अनुपम है। एकांत साधक होते हुए भी सूर जहाँ विश्वनायक श्रीकृष्ण के प्रिय सखा थे, वहाँ उनके शिशु, किशोर और यौवन-चपल रूप के उपासक भी थे। कृष्णचरित को लेकर यों तो पाँच सहस्र वर्षों से काव्यसृजन होता रहा है, पर वह प्रायः पिष्टपेषण-सा है। सूर ने उसमें अपने भाव, रस और काव्यसौंदर्य का ऐसा अद्‌भुत समन्वय किया है कि वह विश्व-वाङ्मय की अद्वितीय धरोहर बन गया है। उन्होंने अपने आराध्य को क्रीड़ा करते, मचलते, विहँसते, सरस लीलाएँ करते और प्रेम की सँकरी गलियों में सहज संतरण करते देखा है, तथा अनुभूत आनंद को अभूतपूर्व काव्य-परिधान प्रदान किया है। वैसे तो, उन्होंने प्रायः समस्त मनोभावों को न्यूनाधिक अभिव्यक्ति दी है, पर जीवन के प्रमुख मनोभावों—वात्सल्य और श्रृंगार के चित्रण में इनकी कल्पना ने जो उत्तुंग उड़ाने भरी हैं, उससे इन भावों का कोई भी पक्ष अदेखा-अनछुवा नहीं रह गया है। सूर के श्रृंगार और वात्सल्य के सरस बहुआयामीय व मनोवैज्ञानिक चित्रण को लक्षित कर ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"वात्सल्य और श्रृंगार रसों का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। वे उसका कोना-कोना झाँक आए हैं।"[1] पर, सत्य तो यह है कि उन्होंने अपने भावपक्ष को जिस प्रकार कल्पना के मृदुल पंखों का दुलार दिया है, उसी प्रकार कलापक्ष को भी विविध वर्णीय रूप-सौंदर्य प्रदान किया है। उनकी कविताकामिनी में भावपक्ष रूपी आत्मा और कलापक्ष रूपी शरीर का जैसा मणिकांचन संयोग हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "सूर का काव्य उत्तम कविता के गुणों से विभूषित, साहित्य-कला का परिष्कार और पुरस्कार करने

१, भ्रमरगीत सार, (भूमिका), आचार्य रामचंद्र शुक्ल

वाला भी है। सूर की अनन्य तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभति है। उनकी मधुर-भाव की उपासना उनके काव्य को यूँ ही कुसुमकोमल बना देती है। परंतु सूर की पवित्र भावना से काव्यकला जिस रूप में उज्ज्वल हो उठी है, वह भी हमारी आँखों के सामने है।"

भाषा-सौष्ठव :

प्रज्ञाचक्षु सूरदास जी का जीवन-क्षेत्र व्रज प्रदेश तक ही सीमित रहा है, अतः स्वाभाविक ही सूरसाहित्य की भाषा 'व्रज' है। स्वयं सूर ने लिखा है :

श्रीमुख चारि स्लोक दए, ब्रह्मा कौं समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहै, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहें सुकदेव सौं, द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ।[1]

यहाँ 'भाषा' से आशय 'जनभाषा' से है, जिसका आशय अवधप्रदेश के लिए अवधी और व्रजप्रदेश के लिए 'व्रजभाषा' से है। सूर के अनेक पूर्ववर्ती व परवर्ती कवियों ने व्रजभाषा का प्रयोग किया है, पर उसे 'साहित्य की भाषा' का स्वरूप प्रदान करने का श्रेय महाकवि सूरदास को ही है।

शब्दावली :

सूर का शब्द-भंडार अपरिमित है। उन्होंने तत्सम, तद्भव व देशज शब्दों के साथ आंचलिक व विदेशी शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है, तथा उन्हें लयात्मकता व अंत्यानुप्रास के लोभ में स्वेच्छानुसार तोड़ा-मरोड़ा भी है। कर्णकटु तत्सम शब्दों कों व्रजभाषा का श्रुति-मधुर कोमल कलेवर प्रदान करने का सूर-प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

वस्तुतः कविमानस की सांस्कृतिक चेतना तत्सम शब्दावली में ही प्रकट हुई है। भक्ति, विनय व धर्मदर्शन संबंधी पूतोदात्त भावों की अभिव्यक्ति तत्सम शब्दावली में ही की गई है। प्रसंगों की दृष्टि से रूपचित्रण, मुरलीवादन, ऋतु-समय-वर्णन, वस्त्राभूषण-विवरण आदि में तत्सम शब्दों का ही बाहुल्य है। कहीं-कहीं तो संपूर्ण शब्दावली ही तत्सम शब्दों से सुशोभित है। यथा :

पिउ पद-कोमल को मकरंद।
मलिन-मति मन-मधुप, परिहरि, विषय नीरस मंद।
अमृत हूँ तें अमल अतिगुन, स्रवन बिधि आनंद।[2]

---

१. सूरसागर, २२५ २. सूरसागर, ४५४

अर्ध-तत्सम शब्दों का प्रयोग सामान्यतः उच्चारण-सारल्य की दृष्टि से किया गया है। इससे मूल शब्दों की कर्कशता और कठोरता काव्य-भाषा के अनुरूप श्रुति-मधुरता में बदल गई है, लेकिन, शब्द-रूप-परिवर्तन में ब्रजभाषा की प्रकृति और उसके व्याकरण को ध्यान में रखा गया है। उदाहरणार्थ :

आदि, सनातन, हरि-अविनासी, सदा निरंतर घट-घट बासी।
पूरन ब्रह्म, पुरान बखानैं, चतुरानन, सिव अंत न जानैं।[1]

सूरकाव्य का अधिकांश सौंदर्य तद्भव शब्दों के प्रयोग में प्राप्त होता है। तद्भव शब्दावली में रचित कविता अधिक सरस, मार्मिक और संप्रेषणीय बन गयी है। इसी में ब्रजभाषा का स्वाभाविक सौंदर्य और माधुर्य निहित है। वास्तव में, तद्भव शब्दावली में व्यक्त कटूक्तियों के कारण ही 'भ्रमरगीत' इतना प्रभविष्णु बन सका है।

सूरदास जी ने आंचलिक तथा भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं तथा गुजराती, पंजाबी, कन्नौजी, बुंदेलखंडी आदि के शब्दों का प्रयोग भी किया है। उनके समय तक भारत में मुगलों का आधिपत्य हो जाने के कारण जनसामान्य में अरबी-फारसी के अनेक शब्दों का प्रचलन हो चुका था। सूर ने तत्कालीन समाज में प्रचलित देशी-विदेशी शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया है, पर उसे ब्रजभाषा की ध्वनि के अनुरूप बनाकर। जैसे :

जनम साहिबी करत गयौ।
काया-नगर बड़ी गुंजाइस नाहिंन कछु बढ्यौ।
हरि कौ नाम, दाम खोटे लौं, झकि-झकि डारि दयौ।
विषय-गाँव अमल कौ टोटौ, हँसि-हँसि कै उमयौ।
नैन-अमीन अधर्मिनि कैं बस, जँह कौ तहाँ छयौ।
दगाबाज कुतबाल कामरिपु, सरबस लूटि लयौ।[2]

स्पष्टतः सूर-शब्दावली अत्यंत व्यापक है, जिसके संग्रहण-सर्जन में कवि ने पर्याप्त उदारता प्रदर्शित की है। डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में—"केवल किसी एक ही प्रकार के शब्दों के प्रयोग का आग्रह न कर, सचमुच सूर ने अपनी भाषा को एक-देशीय अथवा पंगु होने से बचा लिया है। हमारे भाव-सम्राट् कवि ने मनोदशा-विशेष के चित्रण में भाषा को भाव के समानांतर लाने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है।"[3]

---

१. सूरसागर, ६२१ २. सूरसागर, ६४
३, सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ३१२-३१३

लोकोक्तियाँ और मुहावरे :

भाषा को समृद्ध और भावों को संप्रेषणीय बनाने में लोकोक्तियों और मुहावरों का विशेष योगदान रहता है। सूरदास लोकोक्तियों के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। काकी भूख गई मन लाड़ू (४४७६), जो बुनियै, सोई पुनि लुनियै (२४०३), जो छोटी तेई हैं खोटी (२६६६), जोबन रूप दिवस दस ही कौ (३२१०), स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी (४१४४), प्रेमकथा सोई पै जानै जा पे बीती होई (४१६०), सूर सूकत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखी (४१७५), एक आँधरौ, हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊँ (४७४४), ताकौ कहा परेखौ कीजै, जानै छाँछ न दूधौ (४५०८), तुमसौं प्रेमकथा कौ कहिबौ मनौ काटिबौ घास (४५७७), सूर परेखौ काकौ कीजै बाप कियौ जिन दूजौ (४२६८) आदि शतशः लोकोक्तियाँ उनके काव्य में समुपलब्ध हैं। भ्रमरगीत का समस्त सौंदर्य लोकोक्तियों के सुष्ठु प्रयोग में ही निहित है। यथा :

अपने स्वारथ के सब कोऊ।
चुप करि रहौ मधुप रस लंपट, तुम देखे अरु ओऊ।[1]

यहाँ 'अपने स्वारथ के सब कोऊ' लोकोक्ति के माध्यम से उद्धव और माधव दोनों को ही परम स्वार्थी बतला दिया है। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है :

हम तो निपट अहीर बाबरी, जोग दीजिए जानन।
कहा कहत मासी के आगे, जानत नानी नानन।[2]

इन पंक्तियों में गोपियों ने जहाँ उद्धव जी के योगोपदेश एवं निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी अक्षमता किंवा अरुचि प्रदर्शित की है, वहीं 'कहा कहत मासी के आगे, जानत नानी नानन' लोकोक्ति के माध्यम से उनके सदुपदेश के प्रयास की हास्यास्पद तथा स्वयं उनकी अभिज्ञता को क्षुद्र ठहरा दिया है। डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में, "इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव-समाज का चिरकाल का अनुभव संचित है। इनका आधार मनोवैज्ञानिक है; अतएव देश और काल की सीमा से परे हैं और मानवमात्र के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आश्चर्य होता है उस अंधे कवि की सूक्ष्मदर्शिता और विस्तृत निरीक्षण पर, जिसने अपनी शब्दावली में अनेक सूक्ति-रत्नों को गूँथकर वाणी का अपूर्व श्रृंगार किया है।"[3]

लोकोक्तियों की भाँति ही अपनी सी भी करना (२६६८), आँखि बरति है मेरी (४१३६), एक बात की बीस बनाई (३२५०), गाढ़े दिन के मीत (३१), जरे पर जारत (४५२१), कहा ठगी-सी ठाढ़ी (३०३३), तारे गिनना (३६२७), द्वै कौड़ो के (३८७२), देत जरे पर लौन (४१४०), फूटि गईं तब चार्यों (१०१), मिलीं दूध

१. सूरसागर, ४५६३ २. सूरसागर
३. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० : ३१३

ज्यों पानी (२५१६), लेन न देन (२६६८) आदि सहस्रों मुहावरों के प्रयोग से अपनी भाषा को जीवंत बना दिया है। उपमाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से समृद्ध अधोलिखित उदाहरण में देखिए कि किस प्रकार विरहिणी ब्रजांगनाओं ने अपनी कटूक्तियों से उद्धव को भाव-विमूढ़ बना दिया :

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े।
कहु षट्पद कैसे खैयतु है, हाथिनि कैं सँग गाँड़े।
काफी भूख गई बयारि भषि, छिना दूध घृत माँड़े।
काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चार तुम डाँड़े।
सूरदास तीनौं नहिं उपजत, धनियाँ, धान, कुम्हाँड़े।[1]

स्पष्ट है कि सूर ने यहाँ लोकोक्तियों, मुहावरों और अलंकृत शब्दावली के माध्यम से जो प्रभाव उत्पन्न किया है, वह कई-कई पदों से भी संभव न था।

शब्द-शक्तियाँ :

शब्द में निहित अर्थ-वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य के आधार पर शब्द-शक्ति के क्रमशः तीन भेद हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा नाम्नी शब्द-शक्ति का प्रयोग सूर ने प्रमुखतः विवरणात्मक पदों में किया है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का सौंदर्य अभिधात्मक अभिव्यंजना ने ही बढ़ाया है। यथा :

मैया, मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपनें, मैं कैसें करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसकाइ जसौदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।[2]

यहाँ अभिधा-शक्ति के कारण बालमनोवृत्ति और वाक्-चातुरी अत्यंत स्वाभाविक, सरस, हृदयस्पर्शी और जीवंत बन गई है। 'भ्रमरगीत' में भी अभिधा-शक्ति का चमत्कार यत्रतत्र देखा जा सकता है। यथा, अधोलिखित पंक्तियों में :

जा दिन तैं गोपाल चले।
ता दिन तैं ऊधौ या ब्रज के, सब स्वभाव बदले।[3]

---

१. सूरसागर, ४२२२ २. सूरसागर, ६५२ ३. सूरसागर, ४२६२

लक्षणा संज्ञक शब्दशक्ति के दो प्रमुख भेद हैं—रूढ़िलक्षणा और प्रयोजनवर्ती लक्षणा। सूर-साहित्य में लक्षण के दोनों ही रूप बहुलता से प्राप्त होते हैं; जैसे :

(क) ब्रजनारी मानौं अनाथ कियौ।
सुनि री सखी जसोदा-नंदन, सुख संदेह दियौ।[1]

(ख) पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।[2]

प्रथम उदाहरण में 'ब्रज अनाथ होना' वाक्यांश मुख्यार्थ के बाधित होने पर ही सार्थक हो पाता है। अनुभूति-चेतना प्राणी का गुण है, अतः 'ब्रज' का अर्थ ब्रजवासी लिया जाएगा। यह अर्थरूढ़ हो गया है, अतः रूढ़िलक्षणा हुई। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'काली रात' को 'नागिन' कहना मुख्यार्थ के बाधित होने पर ही सार्थक होता है और लक्ष्यार्थ निकलता है कि जिस प्रकार नागिन भयकारक और कष्टदायक होती है, उसी प्रकार वियोगावस्था में अँधेरी-रात भी भय का हेतु और कष्ट का कारण बन जाती है। यहाँ विरहावस्था को साकार करने का प्रयोजन होने से प्रयोजनवती लक्षणा है।

कविता का यथार्थ सौंदर्य व्यंजना-शब्दशक्ति में निहित रहता है। सूरदास जी ने भ्रमरगीत, वेणुवादन, राधाकृष्ण-प्रेमनिरूपण तथा लीला-प्रसंगों में 'व्यंजना' का चमत्कारिक प्रयोग किया है :

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि।
किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े धरनि न बूँद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं बन बधिकनि बधे बिसेषनि।
किधौं उहिं देस बाल नहिं झूलतिं गावतिं सखि न सुदेसनि।
सूरदास-प्रभु पथिक न चलहीं कासौं कहौं सँदेसनि।[3]

यहाँ विरहिणी नायिका का दूती सखी से कहना कि क्या कृष्ण के देश में मेघ नहीं गरजते? क्या इंद्र को उन्होंने हठपूर्वक रोक लिया है? क्या मेंढकों को सर्प खा गए हैं? क्या बकों ने मार्ग छोड़ दिया है? क्या धरती बरसती बूँदों से भीग नहीं गई है? क्या वहाँ के वनों में कूकने वाले चातकों, मयूरों, कोयलों आदि को बधिकों ने मार डाला है? क्या बालाएं झूले नहीं झूलतीं और गीत नहीं गातीं?—अभीष्ट अर्थ नहीं देता। व्यंग्यार्थ है कि यहाँ गरजते मेघों, पानी की रिमझिम, पक्षियों की कूजन आदि ने हमारी विरह-व्यथा को उद्दीप्त कर दिया है। हमारी दयनीय दशा का अनुमान श्रीकृष्ण क्यों नहीं करते? और करते हैं तो क्यों नहीं

---

१. सूरसागर, ३७७७ २. सूरसागर, ३८९० ३. सूरसागर, ३९२८

त्वरित आ जाते ? स्पष्टतः व्यंजना-शक्ति के प्रयोग से गोपी की विरहव्यथा और मिलनातुरता को अत्यंत और प्रधविष्णु रूप प्राप्त हो गया है।

काव्यगुण :

आचार्यों ने काव्यगुणों के तीन भेद किए हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। सूरदास जी ने उत्साह, उमंग, भय, आतंक आदि की अभिव्यंजना के हेतु टवर्ग व द्वित्त्व वर्णों की तथा सामासिक-शब्दावली की संयोजना से अवसरानुकूल वातावरण की सृष्टि की है, जैसाकि अधोलिखित उदाहरण में द्रष्टव्य है :

झपटि, झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि।
फटत लटलटकि, द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि।
उचटि अँगार झंझार छायौ।[1]

वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की सर्जना में ओजगुण की विशिष्ट सर्जना हुई है। वात्सल्य, शृंगार और शांत रसों की योजना में माधुर्य-गुण का ही प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ है, जैसे :

जेंवत स्याम नंद की कनिया।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत छबि निरखति नँद-रनियाँ।
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, ब्यंजन बिबिध, अगनियाँ।
डारत, खात, लेत अपनैं कर, रुचि मानत दधि दोनियाँ।
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छबि धनियाँ।
आपुन खात, नंद-मुख नावत, सो छबि कहत न बनियाँ।
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अचमन लीन्हौ माँगत सूर जुठनियाँ।[2]

वात्सल्यरस के इस सरस पद में कोमल-वर्ण-मैत्री, अंत्यानुप्रास के रूप में अनुस्वारित लयात्मकता और चित्रात्मक सौंदर्य ने माधुर्यगुण को और भी आभामंडित कर दिया है।

प्रसादगुण का सौंदर्य आराध्य कृष्ण के रूपगुण-वर्णन, लीला-प्रसंगों, प्रेम-प्रसंगों तथा दार्शनिक प्रपत्तियों के सरलीकृत रूप में विशिष्ट रूप से दर्शनीय है, यथा :

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगें मीठे फल कौ रस, अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही सु-निरंतर, अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।

---

१. सूरसागर, १२१४ २. सूरसागर ८५६

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु, निरालंब कित धावै।
सब-बिधि-अगम विचारहिं तातैं, सूर सगुन-पद गावै।[१]

शब्द-शक्तियों के अनुपम प्रयोग, काव्यगुणों से अभिसर्जना, लोकोक्तियों, मुहावरों के जीवंत संप्रयोग आदि के साथ ही सूर की भाषा में अर्थ गंभीरता, सुकुमारिता, शाब्दिक-चामत्कारिकता, चित्रमयता, प्रवाहमयता आदि अन्य विशेषताएँ भी दर्शनीय हैं।

अर्थ-गंभीरता :

सूर ने शब्द-संयोजन अत्यंत सावधानी से किया है। उनकी लेखनी से निःसृत सीधे-साधे, ग्राम्य व बोलचाल के शब्द भी विशिष्ट अर्थ-गांभीर्य और लाक्षणिक-सौंदर्य से समृद्ध हो जाते हैं। जैसे :

फिरि ब्रज आइयै गोपाल।[२]

इस वाक्यांश में 'फिरि' और 'गोपाल' दोनों ही शब्द विशिष्ट अर्थ गरिमा को लिए हुए हैं। 'गोपाल' कहते हैं गौ पालक को। चूँकि कृष्ण के चले जाने पर गौएँ तड़प रही हैं, अतः उनसे आने का निवेदन किया है कि वे आकर अपने गोपाल नाम को सार्थक करें। 'गो' इंद्रियों को भी कहते हैं। गोपियों की समस्त ज्ञानेंद्रियाँ कृष्ण में लगी हैं। कृष्ण के चले जाने पर वे इंद्रियाँ निष्क्रिय किंवा निरर्थक हो गयी हैं। चूँकि बचपन से ही कृष्ण ने इन इंद्रियों को आनंद प्रदान किया है, अतः वे उस विशिष्ट आनंदोपभोग की आदी बन गयी हैं। अब इन्हें अन्यत्र आनंद नहीं मिल सकता, अतः निवेदन किया गया है कि हे 'गोपाल' तुम 'फिरि' (पुनः) आओ, और इंद्रियों को वही आनंद प्रदान कर अपना नाम सार्थक करो।

इसी प्रकार कृष्ण को जब भी गोपियाँ गिरिवरधारी, गोपीनाथ, कुंजबिहारी आदि कहती हैं, तब उनका विशिष्ट अभिप्राय होता है, जो शब्दों में निहित अर्थ-गांभीर्य का स्पष्ट द्योतन करता है।

सुकुमारता :

सूर ने ब्रजभाषा को अद्‌भुत सुकुमारता प्रदान की है। उन्होंने तत्सम, तद्‌भव, देशी-विदेशी आदि अनेक प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, और उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप गीतिकाव्य की सुकुमारता से समृद्ध किया है। अधोलिखित उदाहरण में भावानुरूप शब्दचयन और भाषागत सुकुमारता सहज ही परिलक्षित की जा सकती है :

---

१. सूरसागर, २ २. सूरसागर, ३८४५

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत, रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल-लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुपगन, मादक मधुहिं पिए।
कठुला कंठ, बज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख का सत कल्प जिए।[1]

शाब्दिक चमत्कार :

महाकवि सूर ने शाब्दिक चमत्कार भी यथेष्ट किया है। वे कहीं-कहीं तो शब्दों के साथ मात्र क्रीड़ा करते प्रतीत होते हैं। कुछ पदों में यमक अलंकार पर आधारित शब्दवृत्तियों से भी शब्द-चमत्कार का प्रदर्शन किया है। यथा :

सारँग, सारँग धरहिं मिलावहु।
सारँग बिनय करति, सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु।
सारँग-समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु।
सारँग गति सारँग धर जे हैं, सारँग जाइ मनावहु।
सारँग-चरन, सुभग-कर-सारँग सारँग-नाम बुलावहु।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु।[2]

यहाँ 'सारंग' शब्द का अनेकार्थी (सोलह बार) प्रयोग हुआ है। पद का आशय है—हे सखी, तू मुझे कृष्ण से मिला दे। राधा सखी से अनुनय करती है, तू काम-ज्वर शमित करा दे। रात्रि के समय चंद्रमा दाहक हो उठा है, अतः कृष्ण के दर्शन दिला। कृष्ण सर्प-गति के समान कुटिल हैं, अतः उन्हें प्रेमपूर्वक जाकर मनाओ। उनके हाथ-पैर कमल के समान सुंदर हैं, उनका भ्रमर नाम भी सार्थक है (क्योंकि वे अनेक रमणियों से रमण करते हैं)। तुम तो दुखियों का उपकार करने वाली हो, क्यों नहीं मुझ मृतप्राय को जीवनदान करातीं।

सूरदासजी ने शब्दों के विलोम प्रयोग, पर्यायवाची शब्दों से अर्थबोध, संख्या-सूचक शब्दों से इष्टार्थ-बोध, प्रहेलिका रूप में शब्द-प्रयोग आदि के रूप में भी शब्दों का चमत्कार-प्रदर्शन किया है, यथा :

(क) शब्द का विलोम प्रयोग :

'करि विपरीत भवन तें धारा'

वस्तुतः 'धारा' का प्रयोग विलोम रूप में है, इष्ट शब्द है—'राधा'

(ख) पर्यायवाची शब्दों से इष्टार्थ बोध :

'दधिसुत-सुत-पतिनी न निकासत'

---

१. सूरसागर, ७१७ २. सूरसागर, २७१५

इस वाक्यांश में दधि (उदधि) का पुत्र कमल, उसका पुत्र ब्रह्मा, उनकी पत्नी सरस्वती अर्थात् वाणी अर्थात्—'बात', आशय है कि मुख से बात नहीं निकल रही है।

(ग) संख्या सूचक शब्दों से इष्टार्थ-बोध :

'नखत बेद ग्रह जोरि अर्धकरि, सोइ बनत अब खात'

यहाँ नखत (नक्षत्र) २७, वेद ४, ग्रह ९ के योग का आधा हुआ बीस अर्थात् विष। नायिका सखी से कहती है कि इस प्रकार विरह में मर-मर कर जीने से तो अच्छा है कि विष खा लिया जाए।

(घ) प्रहेलिका रूप में शब्द-चमत्कार :

कारन अंत अंत में घटकर, आदि घटत पै जोई।
मद्ध घटे पर नास कियो है, नीतन में मन भोई।

प्रहेलिका का आशय है कि नायिका ने ऐसी मनभावन वस्तु का प्रयोग किया है, जिसका अंतिम वर्ण हटाने से 'काज', आदि वर्ण हटाने से 'जल' और मध्य वर्ण हटाने से 'काल' बनता है। स्पष्ट है कि नायिका ने 'काजल' लगाया है।

प्रकट है कि सूर की भाषा साहित्यिक-ब्रजभाषा ही नहीं तत्कालीन ब्रजमंडल की प्रतिनिधि भाषा है। उसमें भावानुरूप शब्द-चयन, सार्थक शब्द-संयोजन, भावाभि-व्यंजन, चित्रोपम-वर्ण-सौंदर्य, सजीवता, प्रवाहमयता आदि अनेक विशेषताएँ समुपलब्ध हैं।

शैली सौंदर्य :

सूर-साहित्य प्रबंधकाव्य नहीं है। उन्होंने 'स्वामिन सुखाय' नहीं 'स्वांतःसुखाय' काव्य-सृजन किया है। उनकी प्रवृति घटना-वर्णन में नहीं आत्माभिव्यंजन में रही है, और आत्माभिव्यंजन गेय पदों में ही श्रेष्ठ-रूप में हो सकता है। सूरदासजी ने अपने भाव-सुमन-सौरभ के सहज-संचरण, पवित्र-प्रेम-प्रवाह के प्रसारण, शृंगार मंजरी के मधुमय पल्लवन और आराध्य नटवर-नागर के प्रति सर्वस्व समर्पण के हेतु गेय पदों को ही माध्यम बनाया है। इनकी पद-रचना के संदर्भ में डा० ब्रजेश्वर मदान ने लिखा है—"इनकी शैली प्रौढ़, रुचिर, ललित-प्रवाह युक्त और अनुरंजित है।···इन पदों की भाषा-शैली में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिभा, सजगता, सुरुचि और भरपूर यौवन-सुलभ-सौंदर्यप्रियता का दर्शन होता है।···प्रत्येक पद एक दूसरे से संवद्ध होते हुए भी सर्वथा स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण है, और गीतिकाव्य के संक्षेप में प्रबंधकाव्य की व्यापकता की व्यंजना करता है।" संक्षेप में, सूर-शैली के अधोलिखित रूप उपलब्ध होते हैं :

गेयपद शैली :

सूर के पद गेयपद शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें सूर की भाव-जगत् की विविधता और विचित्रता अनुपम संगीत-सौंदर्य से अनुरंजित होकर व्यक्त हुई है। विनय, वात्सल्य, और श्रृंगार की जैसी त्रिवेणी सूर-साहित्य में प्रवाहित हुई है, वैसी अन्यत्र अलभ्य है। उनके अधिकांश पद गीति-शैली में ही सृजित हुए हैं। राक्षसों का वध, वत्सहरण आदि अलौकिक कृत्यों, चीरहरण-लीला, दानलीला, मानलीला आदि से संबद्ध प्रेमलीलाओं और नाना लीलाओं से संबंधित पदों की रचना नीतिशैली में हुई है। कृष्ण-गोपियों के रूप-सौंदर्य-अंकन, भक्ति-भावना के उद्‌भावन और वात्सल्यभाव के चित्रण में गीति-शैली का सौंदर्य विशिष्ट रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे स्थलों पर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन और अनेकानेक संचारियों का प्रस्फुटन नूतन-सौंदर्य के साथ अभिव्यक्त होता है; जैसे :

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगिहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कैं रहि करि-करि सैन बतावैं।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुर्लभ, सो नँद-भामिनि पावै।[1]

यहाँ झूला झुलाने, लोरी गाने, निंदिया रानी को बुलाने, और कान्ह को सुलाने का आग्रह, कृष्ण का गीत सुनते-सुनते पलकें मूँद लेना, कच्ची नींद में (स्वप्न देखने, मक्खी बैठ जाने आदि से) अधरों का फड़काना, किसी सखि के पूछने पर संकेत में बोलना, धीरे-से बोलने पर भी कृष्ण का अकुला उठना, और यशोदा का पुनः सस्वर लोरी गाने लग जाना आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति इस एक पद में ही हो गयी है। विप्रलंभ और वात्सल्यरस के ऐसे पदों में आनंदवर्द्धनाचार्य का अभिव्यंजनाकौशल, कुंतक का वक्रोक्ति-विधान और पंडितराज जगन्नाथ का हृदय-संवेद्य-रसानुरंजन साकार रूप ग्रहण कर लेता है। गेय-पद-शैली में विरचित पदों की सहजता, संगीतात्मकता और मनोवैज्ञानिकता को लक्षित कर ही डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"एक लक्षावधि पदों का निर्माण हिंदी तो क्या विश्व की किसी भी भाषा का कवि आजतक नहीं कर सका है : सूर के इस संगीत ने ब्रजभूमि को वंदनीय और ब्रजभाषा को वरेण्य बना दिया है।"

---

१. सूरसागर, ६६१

दृष्टकूट-पद-शैली :

सूरदासजी ने चमत्कारिता और रहस्यात्मकता की अन्विति के हेतु दृष्टकूट-पद-शैली का आश्रय लिया है। 'सूरसारावली' में ३० पद कूटशैली में हैं, और 'साहित्यलहरी' तो जैसे कूट-पदों का ही संग्रह है। सूर ने रचनाकाल इत्यादि का निदश, प्रायः बाल-लीलाओं का अंकन, काव्यशास्त्रीय विवेचन आदि के संदर्भ में भी दृष्टकूट-पद-शैली को ही अपनाया है। इस शैली में लिखित पदों में यमक, श्लेष, सूक्ष्म, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग के साथ ही रूढ़ शब्दों का व्यवहार भी अद्भुत रूप में हुआ है। सूर के कूट-पदों में अधोलिखित पद अत्यंत प्रसिद्ध है, जिसमें बाल-कृष्ण के दधि खाते अनुपम सौंदर्य का ललितांकन किया गया है :

देखो माई दधि सुत मैं दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात।
दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यह शोभा देखत पसुपालक, फूले अँग न समात।
बारंबार विलोकि सोचि चित, नंद महर मुसक्यात।
यहै ध्यान मनि अनि स्याम कौ सूरदास बलिजात।[1]

वर्णनात्मक शैली :

पौराणिक-प्रसंगों एवं आख्यानों को अभिव्यक्ति देते समय कवि ने वर्णनात्मक-शैली का आश्रय लिया है। इस शैली के पदों में संगीतात्मकता, भावैक्य, तारतम्यता, संक्षिप्तता और काव्य-सौष्ठव का प्रायः अभाव-सा है। कविवृत्ति इन प्रसंगों में रमी नहीं है, प्रत्युत अध्यात्मभावना के वशीभूत हो वह श्रीमद्भागवत के इन प्रसंगों को अभिव्यक्ति देता चला गया है। श्रीकृष्ण के अन्नप्राशनादि संस्कार, भोजन के नित्य-कर्मों से संबंधित वर्णन, होली, हिंडोला आदि पदों से संबंधित प्रसंग आदि ऐसे ही स्थल हैं, जहाँ कवि में तल्लीनता और गंभीरता का अभाव है, और कवि समस्त वर्णन जैसे कर्त्तव्यपरायण-सा होकर करता चला गया है। यथा :

भक्ति पंथ कौं जो अनुसरैं। सौ अष्टांग जोग कौं करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार-धारना-ध्यान। करै जु छाँड़ि वासना आन।
क्रम क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।[2]

डा० हरवंशलाल शर्मा ने इस शैली के संबंध में लिखा है कि—"इन प्रसंगों में कवि ने इत्तिवृत्तात्मकता का ही आश्रय लिया है। इनकी घटनाओं के क्रम में ही

---

१. सूरसागर, ७६०   २. सूरसागर, ३६४

संक्षिप्तता नहीं, शैली की भी शिथिलता है।······संग्रहात्मक प्रतियों को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् तो इन पदों को प्रक्षिप्त ही मानते हैं।······कवित्व की दृष्टि से इस शैली का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि न तो इसमें रूपकल्पना का योग है, और न रागात्मक तत्त्व का समावेश।"[1]

अलंकार-विधान :

सूर की कविता जहाँ भावों का उमड़ता सागर है, वहाँ काव्यालंकरणमंडित कलात्मक रचना भी। उनका काव्यालंकरण सौंदर्यबोध और कलात्मक अभिरुचि का द्योतक है। कविहृदय वस्तु-विशेष को देखकर स्वतः भावोन्मेष से उद्दीप्त हो उठता है, उस समय कवि-कल्पना भी उन्मेषित हो अप्रस्तुत योजना से संबंध स्थापित कर लेती है, जिससे उनकी कविता सहज ही अलंकारों से आभामंडित हो जाती है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार वर्णसौंदर्य को बढ़ाते हैं। इनका प्रयोग 'साहित्य-लहरी' में विशेष रूप से हुआ है। श्लेष, यमक, वीप्सा, वक्रोक्ति और अनुप्रास प्रमुख शब्दालंकार हैं। दृष्टकूट पदों में श्लेष और यमक का प्राचुर्य है। अनुप्रास का प्रयोग वातावरण की संसृष्टि और ध्वन्यात्मक सौंदर्य की अभिवृद्धि हेतु हुआ है। राधा-कृष्ण के रूप-सौंदर्य-वर्णन में वीप्सालंकार का प्रयोग हुआ है। वक्रोक्ति सूरकाव्य का प्रमुख अलंकार है और वात्सल्य-भावों के चित्रण में विशेष रूप से देखा जा सकता है। यथा :

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम बचन नंद नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी।[2]

जैसा 'हारिल' पक्षी को अपनी लकड़ी से प्रेम होता है, वैसा ही गोपियों को कृष्ण से है। यहाँ 'हारिल की लकड़ी' से आशय अटूट प्रेम से है। रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रोक्ति के द्वारा यहाँ अर्थ को रमणीयता और गंभीरता प्रदान की गई है। सूरदास के प्रसादगुण-समृद्ध यमक अलंकार का प्रयोग भी दर्शनीय है :

लोचन-जल-कागद-मसि मिलि के, ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।

× × ×

कहिए कहा यहौ नहिं जानत, काहि जोग है जोग।

लेकिन सूर-काव्य का वास्तविक सौंदर्य अर्थालंकारों के प्रयोग में ही देखा जा सकता है। उन्होंने अपने भावों को काव्यात्मक सौंदर्य और इंद्रधनुषी उत्कर्ष प्रदान करने के लिए प्रायः समस्त अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। सूरसागर में सर्वाधिक प्रयोग सांगरूपक का हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

---

१. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा,
२. सूरसागर, ४६०६

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारे प्रान ?
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूट्यो संधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान।[1]

यहाँ पक्षी के सांगरूपक द्वारा सांसारिक जीव की मनोदशा का अंकन किया गया है, जो अपने बचने के समस्त उपाय करके थक जाता है, तथा भगवान् का आश्रय लेने पर सहज ही निष्कृति पा लेता है।

रूप-सौंदर्य के अंकन में उपमा और दृष्टांत का प्रयोग प्रमुख रूप से किया गया है। मनमोहन कृष्ण के रूप-सौंदर्य के गोपियों पर पड़े प्रभाव का अंकन करने के लिए प्रायः उल्लेख अलंकार का प्रयोग हुआ है। प्रतीप, संदेह, विभावना, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि अलंकारों का उपयोग भी प्रायः इसी संदर्भ में हुआ है। अधोलिखित उदाहरण में बाग, कमल, गजवर, सिंह, सरोवर, कंज, कपोत आदि उपमानों के कथन के द्वारा राधा के सौंदर्य का अनुपम अंकन रूपकातिशयोक्ति अलंकार से ही संभव हुआ है, यथा :

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सरपर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत-फललाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, सुक, पिक, मृग-मद काग।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।[2]

दैहिक सौंदर्य के अंकन में कवि ने अनेकानेक उपमानों का संग्रहण किया है और जब उन्हें भी असमर्थ पाया है, तो प्रस्तुत वस्तु के समानधर्म वाली कल्पना कर मोहक उत्प्रेक्षाएँ की हैं। यथा :

सखी, इन नैननि तैं घन हारे।
बिन हीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग, दुख पावस के मारे।
ढुरि-ढुरि बूँद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरति धरि न्यारे।

---

१. सूरसागर, ६७ २. सूरसागर, २७२८

घुमरि-घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिबरधर प्यारे।[1]

इस पद में पाँचवीं-छठी पंक्ति में एक अनुपम उत्प्रेक्षा की गई है—सतत् अश्रुपात से नायिका की चोली भीग गई है। चोली के अंदर उरोज हैं। कवि कल्पना करता है कि चोली जैसी पर्णकुटी है, जिसमें शंकर (स्तन) ने आवास बना लिया है। वैशिष्ट्य इस बात में है कि स्तन दो हैं अतः मानो शंकर जी ने पृथक्-पृथक् दो कुटियों में अपने को स्थापित किया है। उत्प्रेक्षा अलंकार के अभिनव सौंदर्य के अतिरिक्त, इस एक ही पद में सांगरूपक, प्रतीप, विभावना, रूपक, द्रष्टांत, अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश और परिकरांकुर अलंकार का प्रयोग भी अपने पूर्ण सौंदर्य के साथ हुआ है।

छंद-विधान :

काव्य में लयात्मकता तथा नाद-सौंदर्य की अभिवृद्धि हेतु छंद-विधान को आवश्यक माना गया है। छंद के दो रूप प्रमुख हैं—मात्रिक और वर्णिक। सूर ने यद्यपि दोनों ही प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है, पर प्रमुखता मात्रिक छंदों की ही है। उन्होंने छंदों का उपयोग प्रसंग के अनुरूप किया है और प्रसंगानुसार प्रयुक्त छंद-विधान की समीक्षा अधोलिखित रूप में की जा सकती है :

वर्णनात्मक प्रसंगों के छंद :

सूर ने वर्णनात्मक प्रसंगों को चौपाई, दोहा, रोला आदि छंदों तथा उनसे निर्मित नवीन छंदों की परिखा में रखा है। भागवत कथा का प्रारंभ चौबोला से हुआ है, पर आगे चलकर चौपाई, चौबोला और चौपाई का क्रम-रहित मिश्रित रूप मिलता है। १६ मात्राओं वाले 'पादाकुलक' छंद का प्रयोग कवि ने हर्ष-सूचक वर्णनों के प्रसंग में किया है, यथा—राम का अयोध्या प्रवेश, वसंत-वर्णन, जलक्रीड़ा आदि में। दोहा और रोला नामक छंदों का प्रयोग भी कवि ने पर्याप्त किया है।

'रोला' और दोहा छंदों का संयुक्त रूप भी कवि ने प्रयुक्त किया है। अघासुर वध, कालिय-दमन, भ्रमरगीत, दानलीला, मानलीला आदि में छंदगत नवीन प्रयोग बहुतायत से देखे जा सकते हैं।

भावात्मक प्रसंगों के छंद :

सूरदास जी ने अनेकानेक प्रचलित व मौलिक छंदों का प्रयोग किया है। बहु प्रयुक्त छंदों में भानु, कुंडल, सुखदा, राधिका, उपमान, विष्णुपद, गीतिका, रूपमाला, लावनी, सरसी, हरिपद, हरिप्रिया, सवैया आदि प्रमुख हैं। ये छंद प्रायः भावानुसार प्रसंगों के अनुरूप चयन किए गए हैं। यथा :

---

१. सूरसागर, ३८५२

घर-घर बजै निसान, सुनगर सुहावन रे।
अमर नगर उत्साह, अप्सरा गावन रे।

यहाँ 'सुखदा' छंद (२२ मात्राएँ) में हर्षोल्लास को अभिव्यक्ति दी गई है। जिस प्रकार भावोद्रेक में भावनाएँ विस्तारमयी नहीं रह जातीं, वरन् लघु बनकर रह-रह कर हृदय को गुदगुदाती हैं, उसी प्रकार यहाँ छंद की लय भी हर्षोद्रेक से उछलती-सी प्रतीत होती है। अब देखिए, गंभीर भाव के अनुरूप १६-१० मात्राओं के विराम से २६ मात्राओं वाले 'विष्णु पद' छंद का प्रयोग :

अति कहना रघुनाथ गुँसाई, जुग ज्यों जाति धरी।
सूरदास प्रभु प्रिया प्रेम बस, निज महिमा बिसरी।

'कुंडल' छंद का प्रयोग कोमल भावों के अनुरूप पड़ता है, यही स्थिति 'हरिप्रिया' छंद के संदर्भ में है, पर कवि की मौलिक सूझ और शिल्प-कौशल ने इनका प्रयोग ओजस्वी भावों की अभिव्यक्ति-हेतु किया है :

द्वारे पैठत गायंद मारे, धरनि डार्‌यो।
मुष्टिक चाणूर मल्ल, मूसल संहार्‌यो।
जिहिं जैसो जिय बिचारि, तैसो रूप धार्‌यो।
देवकी वसुदेव को संताप निवार्‌यो।

स्पष्ट है कि सूरदास जी ने मात्रिक छंदों का प्रयोग अधिक किया है। राग-रागिनियों में बद्ध पदों में कवि ने छंदों के परंपरित रूपों के प्रयोग के साथ ही मौलिकता का समावेश किया है, जिससे रोचकता, संप्रेषणीयता और नाद-सौंदर्य में अभिवृद्धि हुई है। छंदों में कहीं-कहीं यति-भंग दोष भी है, पर कवि ने संगीत-तत्त्व को ध्यान में रखकर इस तथ्य की जानबूझ कर उपेक्षा की है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सूर का भावपक्ष जितना सबल है, कलापक्ष भी उतना ही पुष्ट है। भाषा, शैली, अलंकार, छंद आदि के संदर्भ में महाकवि का दृष्टिकोण मौलिक, उदार और संग्रहात्मक वृत्ति का द्योतक है। सूर के पद उनकी अप्रतिम प्रतिभा, वाग्वैदग्य, संगीतातमकता और स्वयं कवि के सहृदय व्यक्तित्व के जीवंत प्रमाण हैं। वस्तुतः वे सूर ही हैं, जिनकी कोमलकांत पदावली, सार्थक शब्द-संयोजना, भावानुकूल अलंकार-प्रयोग और भाषागत-सजीवता, सुकुमारता, चित्रोपमता, प्रवाहमयता आदि तत्त्वों ने ब्रजभाषा को साहित्य का गौरव प्रदान किया और निर्गुण, निराकार, अज्ञेय ब्रह्म को कृष्ण के रूप में जन-जन के समीप ला खड़ा किया।

□ डा० रामस्वरूप आर्य

सूर-साहित्य में अलंकार-योजना

मानव एक सौंदर्यप्रिय प्राणी है। वह अपने प्रत्येक कार्य को अलंकृत रूप में देखना चाहता है। इसी सहजवृत्ति के आधार पर सृष्टि का भावुक प्राणी कवि अपने काव्य में जहाँ एक ओर सुंदर भावों का संयोजन करता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें सौंदर्य-वृद्धि के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। काव्य में इनमें से प्रथम को भावपक्ष तथा दूसरे को कलापक्ष कहते हैं। एक श्रेष्ठ काव्य में दोनों का ही सम्यक् निर्वाह वांछनीय है। भावपक्ष के अंतर्गत रस, भाव और संचारीभाव इत्यादि आते हैं तथा कलापक्ष के अंतर्गत अलंकार, भाषा तथा छंद आदि पर विचार किया जाता है।

काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहे जाते हैं, 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'[1] काव्य मूलत: शब्द और अर्थमय है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[2] अत: काव्य में शोभा का विधान भी शब्द और अर्थ के द्वारा ही होता है। इसी आधार पर अलंकार दो प्रकार के माने गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। जहाँ शब्दगत सौंदर्य की प्रधानता होती है, वहाँ शब्दालंकार तथा जहाँ अर्थगत सौंदर्य की प्रधानता होती है, वहाँ अर्थालंकार माने जाते हैं। जहाँ सौंदर्य शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हो, वहाँ उभयालंकर माने जाते हैं।

अलंकारों का काव्य में क्या स्थान होना चाहिए, इस विषय में प्राचीन काल से ही आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्यों ने अलंकारों को काव्य में गौण स्थान दिया है, तो अन्य उन्हें काव्य के लिए नितांत आवश्यक मानते हैं। यहाँ तक कि अर्थालंकारों से रहित सरस्वती को विधवा कहा गया है। 'अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती'। आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है 'तददोषौ

१. काव्यादर्श २/१ २. काव्यालंकार १/१६

शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'।[1] अर्थात् वे काव्य के लिए अलंकारों को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके 'अनलंकृति' प्रयोग पर व्यंग करते हुए चंद्रालोककार का कथन है, जो व्यक्ति काव्य को अलंकार रहित मानता है, वह अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता :

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।[2]

हिंदी के आचार्य केशवदास का भी यही मत है कि अलंकारों के बिना कविता सुशोभित नहीं होती। उनकी मान्यता है :

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।[3]

जहाँ आचार्यों ने अलंकारों के महत्त्व पर इतना जोर दिया है, वहाँ हमें यह भी जानना चाहिए कि काव्य की आत्मा रस है। अलंकार रसोद्रेक में सहायक होकर ही आने चाहिए। रस-विहीन कविता अलंकारों के बोझ से दबकर निर्जीव हो जाती है।

सूरदास एक रससिद्ध कवि थे। उनकी भावधारा उनकी अलंकृत शैली के संपर्क-लाभ से जगमगा उठी है। उनकी रचना में जैसी भावप्रवणता है, वैसी अलंकृत सज्जा भी। उनकी अलंकार-योजना में न तो केशव के समान पांडित्य-प्रदर्शन का आग्रह है और न तुलसी के समान साज-सज्जा का। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भावों की सौंदर्य-वृद्धि के लिए भी किया है। व्यर्थ के शब्दाडंबर को उन्होंने महत्त्व नहीं दिया। उनके काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। 'साहित्यलहरी' में सूर की अलंकारप्रियता चरमसीमा पर पहुँच गई है। इसके सभी पद दृष्टिकूट हैं, जिनमें अलंकारों की योजना की गई है। इसे हम सूर की मूल प्रवृत्ति नहीं मान सकते क्योंकि 'सूरसागर' में इस प्रकार के पद इने-गिने ही हैं।

सूर की व्यंग्यमयी वक्रोक्तियाँ अत्यधिक चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावशालिनी हैं। शब्दालंकारों में उन्होंने अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोति तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक आदि को विशेष रूप से अपनाया है। कुछ पदों में अन्योक्ति का भी सुंदर निर्वाह हुआ है।

सूरदास जी की रुचि शब्दालंकारों में विशेष नहीं रमी है तथापि कुछ स्थलों पर इनका सुंदर प्रयोग मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में अनुप्रास का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है :

---

१. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास २. चन्द्रालोक १/८ ३. कविप्रिया, ५/१

(क) कामी, कृपन, कुचील, कुदरसन, को न कृपा करि तार्‌यौ ।
तातैं कहत दयाल देवमनि, काहैं सूर बिसार्‌यौ ।[1]

(ख) जग जानत जदुनाथ, जिते जन निज-भुज-स्रम सुख पायौ ।
ऐसौ को जु न सरन गहे तैं कहत सूर उतरायौ ।[2]

कुछ पदों में यमक अलंकार का आग्रह दिखाई पड़ता है । निम्नलिखित पद में 'सारंग' शब्द की अनेक बार आवृत्ति हुई है । यहाँ कवि का अर्थ चातुर्य-देखने योग्य है :

सारँग सारँग धरहि मिलावहु ।
सारँग बिनय करति, सारँग सौं सारँग दुख बिसरावहु ।
सारँग समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु ।
सारँग गति सारँगधर जे हैं, सारँग जाइ मनावहु ।
सारँग-चरन सुभग-कर-सारँग, सारँग नाम बुलावहु ।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु ।[3]

उक्त पद में सारंग शब्द के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) अलि=सखी, (२) सारंगधर =कृष्ण, (३) सारंग=आकाश, अनंत, अत्यंत, (४) विष्णु भगवान, (५) कामदेव, (६) रात्रि, (७) चंद्रमा, (८) प्रेमपूर्वक, (९) कमल, (१०) भ्रमर, (११) कुरंग=बिगड़ी हुई । नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सखी ! तू मुझे श्री कृष्ण से मिला दे । मैं तुझसे अत्यंत विनय करती हूँ । तुझे भगवान् विष्णु की सौगंध है, तू मेरे काम के दुख को विस्मृत करादे । रात्रि के समय चंद्रमा मुझे जलाता है अतः तू मुझे कृष्ण के दर्शन करादे । कृष्ण सर्प की चाल वाले हैं अर्थात् शीघ्र ही ऋुद्ध हो जाते हैं । तू उन्हें प्रेमपूर्वक मना ला । जिनके चरण तथा हाथ कमल के समान हैं तथा जो भ्रमर के रूप में (रसलोभी, अनेक नायिकाओं के प्रति अनुरक्त) प्रसिद्ध हैं, उन्हें बुला ला । तू बिगड़ी को बनानेवाली तथा परोपकारिणी है अतः सखी को मरने से बचा ले ।

सूर-साहित्य में श्लेष का प्रयोग अत्यल्प है । इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है :

ऊधौ तुम अति चतुर सुजान ।
जे पहिलैं मन रँगे स्याम रँग, अब न चढ़ै रँग आन ।[4]

सूरदास वक्रोक्ति के तो सम्राट् ही हैं । उनकी वक्रोक्तियाँ हृदय पर सीधा प्रभाव डालती हैं । गोपियाँ उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनते-सुनते तंग आ गई हैं । वे उनसे कहती हैं—तुम्हें जो कहना है, कह डालो । आखिर हम तो सब कुछ सुनने और सहने के लिए ही बनी हैं । प्रस्तुत पंक्तियों में गोपियों की खीझ कितने सुंदर रूप में व्यक्त हुई है :

---

१. सूरसागर, १०१
२. सूरसागर, १५
३. सूरसागर, २७१५
४. सूरसागर, ४६०२

ऊधौ और कछू कहिबै कौं ?
मन मानै सोऊ कहि डारौ, हम सब सुनि सहिबै कौं ।[1]

निम्नलिखित पद में गोपियों की उक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं । इसमें गोपियों ने उद्धव पर अच्छा व्यंग्य किया है । उनकी वचन-वक्रता द्रष्टव्य है :

ऊधौ हम हैं हरि की दासी ।
काहे कौं कटु वचन कहत हौं, करत आपनी हाँसी ।
हमरे गुनहिं गाँठि किन बाँधौ, हम कह कियौ बिगार ।
जैसी तुम कीन्ही सो सबहीं, जानत है संसार ।
जो कुछ भली-बुरी तुम कहि हौ, सो सब हम सहि लैहैं ।
आपन कियौ आप ही भुगतहिं, दोष न काहू दै हैं ।
तुम तौ बड़े-बड़े कुल जनमे, अरु सबके सरदार ।
यह दुख भयौ सूर के प्रभु सौं, कहत लगावन छार ।[2]

सूर-काव्य में अर्थालंकारों का प्रयोग भावों की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक हुआ है । सूरदास ने विशेष रूप से सादृश्यमूलक अलंकारों को अपनाया है । रूपक उनका प्रिय अलंकार है । उनके सांगरूपक अधिक प्रसिद्ध हैं । संसार रूपी नाट्यशाला में विभिन्न प्रकार के नाच नाचते हुए सूरदास थक गए हैं । वे अपने आराध्य देव भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ ! अब तो आप मेरी अविद्या को हर ही लीजिए :

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम, क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।
× × × ×
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नँदलाल ।[3]

एक अन्य सांगरूपक देखिए :

चितवन रोकैं हूँ न रही ।
स्यामसुंदर-सिंधु-सनमुख, सरित उमँगि बही ।
प्रेम-सलिल प्रवाह भँवरनि मिलि न कबहुँ लही ।
लोभ-लहर-कटाच्छ, घूँघट-पट-करार ढही ।
थके पल-पथ, नाव-धीरज, परति नहिंन गही ।
मिली सूर सुभाव स्यामहिं, फेरिहू न चही ।[4]

---

१. सूरसागर, ४१३६ २. सूरसागर, ४१६१
३. सूरसागर, १५३ ४. सूरसागर, २३८१

रूपकातिशयोक्ति में भी सूरदास की रुचि विशेष रमी है। रूप-चित्रण तथा वियोग-वर्णन में इस अलंकार का आश्रय लिया गया है। निम्नलिखित पद में रूपकातिशयोक्ति द्वारा नायिका के अद्भुत सौंदर्य का अंकन किया गया है :

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग-मद काग।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस मानौ अधरनि के बड़ भाग।[१]

सूर के पदों में उत्प्रेक्षा अलंकार का भी सुंदर निर्वाह हुआ है। कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। गोपियों के विरह-वर्णन में भी इनसे विशेष सहायता ली गई है। विरहिणी गोपियों को प्रकृति के विभिन्न पदार्थ भाँति-भाँति से दुख देते हुए प्रतीत होते हैं। कृष्ण के सौंदर्य पर कवि की अनूठी उत्प्रेक्षाएँ देखिए :

मोहन बदन बिलोकत अँखियनि उपजत है अनुराग।
तरनि ताप तलफत चकोर गति पिबत पियूष पराग।
लोचन नलिन नए राजत रति पूरन मधुकर भाग।
मानहु अति आनंद मिले मकरंद पिवत रितु फाग।
× × × ×
कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग।
मानहु मदन धनुष सर लीन्हे बरषत है बन बाग।
अधर बिंब तैं अरुन मनोहर मोहन मुरली-राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरषन लाग।
कुंडल मकर कपोलनि झलकत स्त्रम सीकर के दाग।
मानहुँ मीन मकर मिलि क्रीड़त सोभित सरद-तड़ाग।[२]

विरह से व्याकुल गोपियों को उमड़ते-घुमड़ते बादल कामदेव के मदमादे हाथियों के समान प्रतीत होते हैं :

देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि, बलि करि बंधन तोरे।

---

१. सूरसागर, २७२८ २. सूरसागर, २३६५

स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावतहू पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मनौ निकसि बग-पंक्ति दंत, उर अवधि-सरोवर फोरे।
बिनु बेला जल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बँद बोरे।[1]

सूरदास जी की उपमाएँ भी अनूठी हैं। इनमें सादृश्य एवं साधर्म्य का समुचित निर्वाह हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण में गोपियों की दर्शन-साध की तुलना आक की रूई तथा धान के अंकुर से की गई है :

हरि-दरसन की साध मुई।
उड़िये उड़ी फिरति नैंननि सँग, फर फूटैं ज्यौं आक-रुई।
× × × ×
सूखति सूर धान अंकुर-सी, बिनु वर्षा ज्यौं मूल तुई।[2]

यहाँ 'हरि दर्शन की साध' उपमेय, 'आक रूई' उपमान, 'उड़ी फिरति' धर्म तथा 'ज्यौं' वाचक शब्द है। अगली पंक्ति में 'साध' की तुलना धान के अंकुर से की गई है। जिस प्रकार वर्षा के अभाव में धान का अंकुर सूखता चला जाता है, उसी प्रकार प्रिय-दर्शन के अभाव में गोपियों की दर्शन की लालसा शनैः शनैः विलीन होती जा रही है।

निम्नलिखित पद में मालोपमा के माध्यम से राधा के प्रति कृष्ण के अतिशय आकर्षण की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है :

स्याम भए राधा बस ऐसैं।
चातक स्वाति, चकोर चंद्र ज्यौं, चक्रवाक रबि जैसैं।
नाद कुरंग मीन जल की गति, ज्यों तुनु कैं बस छाया।
इकटक नैन अंग छवि मोहे, थकित भए पहि-जाया।
उठैं उठत बैठैं बैठत हैं, चलैं चलत सूधि नाहीं।
सूरदास बड़भागिनि राधा समुझि मनहिं मुसुकाहीं।[3]

उपमा के क्षेत्र में सूरदास जी ने कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं, जिनके लिए नवीन नामकरण की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में हम न्यायोपमा अलंकार मान सकते हैं :

उधो अब हम समुझ भई।
नंदनँदन के अंग-अंग-प्रति, उपमा न्याय दई।
कुंतल कुटिल भँवर भमिनि वर, मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियौ तिन कपटी जानै निरस भई।

---

१. सूरसागर, ३९२१ २. सूरसागर, २४७३ ३. सूरसागर, २७५६

आनन इंदु बिमुख संपुट तजि कुरषें तें न नई।
निर्मोही नव नेह कुमुदिनी अंतहु हेम हई।
तन घन सजल सेइ निसि-वासर रटि रसना छिजई।
सूर बिवेक-हीन चातक मुख, बूँदौ तौ न गई।[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित पद हीनोपमा अलंकार का उदाहरण माना जा सकता है :

उपमा नैन न एक रही।
कविजन कहत कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही।
कहे चकोर बिध-मुख बिनु जीवत, भँवर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख कमल कोष बिछुरें तें, ठाले कत ठहरात।
ऊधौ बधिक ब्याज ह्वै आए, मृग सम क्यौं न पलात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात।
खंजन मन-रंजन न होहिं ये कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात।
प्रेम न होहि कौन बिधि कहिये, झूठे हीं तनु आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त।[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में क्रमालंकार की योजना देखते ही बनती है। बालकृष्ण की छवि का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

भुज भुजंग, सरोज नैननि, बदन बिधु जित लरनि।
रहे बिबरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि।[3]

इसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण के विरह से पीड़ित होकर कहती हैं :

जैसें मीन कमल चातक कौ, ऐसें दिन गए बीति।
तरफत जरत, पुकारत निसि-दिन नाहिंन ह्याँ कछु नीति।[4]

निम्नलिखित पंक्तियों में संदेह की छटा दर्शनीय है :

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली।
× × × ×
किधौं बज्रकन लाल नगनि खँचि, तापर बिद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बंधूक-कुसुम-तर झलकत जलकन-काँति।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी, सुंदरताई आइ।
'सूर' अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ।[5]

---

१. सूरसागर, ४५३६ २. सूरसागर, ४१९० ३. सूरसागर, ७२७
४. सूरसागर, ४४५६ ५. सूरसागर, २४५०

निम्नलिखित उद्धरण में 'गिरिवरधर' शब्द के साभिप्राय प्रयोग के कारण परिकरांकुर अलंकार है :

घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, उर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे।[1]

सूरदास जी ने अपह्नुति अलंकार का भी सुंदर प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद प्रस्तुत है :

सिव न, अबध सुंदरी, बधौ जिन।
मुक्ता माँग अनंग, गंग नहिं, नवसत साजे अथँ स्याम घन।
भाल तिलक उडुपति न होइ यह, कबरि ग्रथित अहिपति न सहस्र फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न कंठ जड़, यह मृगमद चंदन चर्चित तन।
नहिं गज-चर्म सु असित कंचुकी, देखि विचारि कहा नन्दी गन।
सूर सु हरि अब मिलहु कृपा करि, बरबस समर करत हठ हम सन।[2]

निम्नलिखित पद में सूक्ष्म अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है :

स्याम अचानक आइ गए री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत हीं मेरे नैन नए री।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बेंदी सौं कर परस कियौ री।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि, अंतरजामी जानि लियौ री।
लै कर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि उनि हृदय धर्‌यौ री।
ठाढ़े रहे द्वार अति हित करि तबही तें मन चोरि गयौ री।
चरन छुए दोउ नैन लगाए, मैं अपनें भुज अंक भर्‌यौ री।
सूरदास कछु दोष न मेरौ, उत गुरुजन इत हेत नयौ री।

सूर-साहित्य में प्रयुक्त कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण भी देखिए :

प्रतीप :

तेरौ बदन देखि उडुपति जु दुर्‌यौ।
दामिनि दुरी देखि दसननि छबि, ताटंकनि रबि चित जु हर्‌यो।
दरपन मलिन कपोलनि सोभा, कीर नास भय बन पकर्‌यौ।
अहि बेनी मोह्यौ, कुच कलसनि, घट मोह्यौ अमृत जु भर्‌यौ।
ऐरावत थकि रह्यौ निरखि गति, कटि के भय मृगराज डर्‌यौ।
सूरदास-प्रभु नारि नागरी मनमोहन निज बस जु कर्‌यौ।[4]

---

१. सूरसागर, ३८५२
२. सूरसागर, २७३५
३. सूरसागर, २४९७
४. सूरसागर, ३३९५

व्यतिरेक :

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिं पटतर इक सैन।
राजिव-दल, इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये बिकसित दिनराति।[1]

उल्लेख :

हरि-प्रति-अंग नागरि निरखि।
दृष्टि रोमावली पर रही, बनत नाहीं परखि।
कोउ कहति यह काम-संगति, कोउ कहत नहिं जोग।
कोउ कहति अलि-बाल पंगति, जुरी एक सँजोग।
कोउ कहति अहि काम पठयौ, डसै जिनि यह काहु।
स्याम रोमावली की छबि, सूर नाहिं निबाहु।[2]

अतिशयोक्ति :

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।
दृग खंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे।[3]

विभावना :

चरन-कमल बंदौं हरि-राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाई।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाई।[4]

अर्थांतरन्यास :

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपन प्रान दह्यौ।
अलिसुत प्रीति करी जल-सुत सौं संपुट माँझ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ।[5]

कहीं-कहीं तो सूरदास जी ने एक ही पद में अनेक अलंकारों की योजना एक साथ ही की है; यथा निम्नलिखित पद में अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, प्रतीप तथा यथासंख्य अलंकार सभी का प्रयोग हमारा ध्यान आकृष्ट करता है :

---

१. सूरसागर, २४३१ २. सूरसागर, १२५४ ३. सूरसागर, ३८५४
४. सूरसागर, १ ५. सूरसागर, ३९०६

हरि जू की बाल छबि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा-हरनि ।
भुज भुजंग सरोज नैननि बदन बिधु जित लरनि ।
रहे बिबरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ।
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि ।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु तरु, फर्‌यौ अद्‌भुत फरनि ।
चलत-पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवन करनि ।
जलज-संपुट-सुभग-छबि भर लेति उर जनु धरनि ।[1]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर-साहित्य में अलंकारों का प्रयोग सहज स्वाभाविक रूप में हुआ है। उनके रूपक, रूपकातिशयोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ अद्वितीय हैं। अलंकारों के प्रयोग से उनके काव्य में शोभा की वृद्धि हुई है। डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में, "उनके (सूरदास के) काव्य में अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते ओर वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीख पड़ते हैं। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग विशेषकर सौंदर्य-बोध के लिए ही किया है।"[2]

१. सूरसागर, ७२७

२. सूर और उनका साहित्य, पृ० २९७

☐ डा० विद्याधर त्रिपाठी

सूर का सौंदर्य-चित्रण

'सौंदर्य' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों में 'सूनरी', 'सूनरि' 'सुनरो'[1] इत्यादि रूपों में में हुआ है। 'अलंकारशास्त्र' एवं 'संस्कृत-काव्यग्रंथों' में भी 'सौंदर्य' शब्द के लिए 'चारुत्वम्', 'रमणीय', 'सौंदर्य' और 'लावण्य'[2] का उल्लेख किया गया है। रीतिकालीन कवि बिहारी ने क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले सौंदर्य की कल्पना की है।[3] भक्तिकालीन हिंदी-साहित्य में काव्य-सौंदर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास हैं। इनकी कविता का प्रथम गुण माधुर्य और राग है। काव्याभिव्यक्ति में जिस ब्रजभाषा को उन्होंने अपनाया है, उसमें रस की धारा और माधुर्य का संगम है। सौंदर्य को परखने की अद्भुत शक्ति कवि के रोम रोम में बसी है। 'सौंदर्य' शब्द के लिए स्वयं सूर ने सूरसागर के विभिन्न पदों में 'सुंदर' 'रूपं' 'छवि' 'सोभा' 'सुंदरताई' 'चारु' 'छबीली' 'छबीलौ' 'सोभारासि' 'रूप सरोवर' 'सुंदरता की रास' 'सुंदरता कौ सागर' 'सलोने' 'मनोहर' 'छवि गुनरूप निधान' 'ललित' आदि का उल्लेख किया है। 'सूरसागर' में ऐसे अनेक चित्र देखे

---

१. (क) 'विश्वमस्या नानामचक्षसेजगज्योतिष्कृणोति सूनरी।' ऋग्वेद १/४८/८
(ख) 'विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।' वही १/४८/१०
(ग) 'वभुरेको विष्णुः सुनरो यवा ज्यङ् के हिरण्यम्।' वही ८/२६/१

२. (क) 'रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया य करोति चारुत्वम्।' रुद्रट, काव्यालंकार २/६
(ख) 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर १/१
(ग) 'सौंदर्यमलंकारः।' वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति।' १/१/२
(घ) 'यद्यत्साधु न चित्रे स्मात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्य रेखया किंचिदन्वितम्।' कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल ६/१४

३. लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर। बिहारी रत्नाकर, दोहा ४४७

जा सकते हैं, जिन्हें देखकर कवि की सौंदर्य-पारखी-दृष्टि का लोहा मानना पड़ता है। राधा-कृष्ण के रूप-चित्रण एवं प्रकृति-वर्णन में वस्तुतः सूर ने 'सागर' में सागर की गहराई भर दी है।

श्री कृष्ण सुख के धाम तथा पूर्णकाम हैं। वे सुख, रस, रूप, गुण, यौवन, शक्ति, यश, आनंद, दया, विद्या, बल, चतुरता, छल और कला की राशि हैं।[1] गोकुल, ब्रज और मथुरा में विहार करने वाले कृष्ण का सौंदर्य-चित्रण शिशु, बाल, किशोर, युवा आदि अनेक रूपों में बड़ी कुशलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक रूप में किया गया है। इस सौंदर्य-चित्रण में कवि ने मानवीय, प्राकृतिक, पशु-पक्षी-जगत् से उपमान चुने हैं। सौंदर्य-वर्णन में कहीं-कहीं पर पौराणिक, शास्त्रीय अप्रस्तुत भी प्रयुक्त हुए हैं। उत्प्रेक्षालंकार सौंदर्य-चित्रण में अन्य अलंकारों की तुलना में अधिक सहायक हुआ है।

सूर बालरूप का रूपांकन करते समय बालक बनकर ही वर्णन करते हैं और उसका अपार सौंदर्य पाठकों के सामने बिखेर देते हैं। किशोर और युवारूपवर्णन में वे सौंदर्य की धारा को रसमय करते हुए सागर की उत्ताल तरंगों की भाँति उछालते हैं, जिससे सौंदर्य छलकता हुआ दृष्टिगत होता है। कृष्ण के बाल और किशोर रूप-चित्रण में एक विशेष अंतर हमें देखने को मिलता है। ब्रज-नारियाँ कृष्ण के बाल-रूप की लीला-छवि को देखकर यशोदा के भाग्य की प्रशंसा करती हैं और स्वयं भाव-विभोर हो जाती हैं। वे कृष्ण के रूप पर अपने आपको न्यौछावर कर देती हैं और जब चेतना में आती हैं, तो उस अद्वितीय आत्मिक अनुभूति को भाँति-भाँति के अप्रस्तुतों द्वारा रूपायित करती हैं। बालरूप[2] में कृष्ण की समस्त छवि का अंकन है। इसके विपरीत किशोर कृष्ण की रूप-सुषमा ब्रज-बालाओं को एकाएक आत्म-विस्मृत नहीं करती, अपितु उसकी दृष्टि कृष्ण की रूप-माधुरी में उलझ जाती है, धीरे-धीरे उनके नेत्र और मन उनके वश में नहीं रह जाते हैं। कृष्ण के रूप को देखकर एक गोपी की नेत्र दृष्टि जल के बहाव की भाँति उन्हीं की ओर ढुलक जाती है और त्रिवेणी होकर कृष्ण के रूप-सागर[3] में मिल जाती है।

सूर के कल्पना-व्यापार के सम्मुख कृष्ण का रूप और उनका वेश सर्वदा नवीन छटा से युक्त रहता है। उनकी सौंदर्यानुभूति समुद्र की भाँति अगाध है। श्री कृष्ण की शोभा का कोई पार नहीं है, वह सिंधु के समान अनंत है। कृष्ण का

---

१. स्याम सुख-रासि, रस-रासि भारी।
रूप की रासि, गुन-रासि, जीवन-रासि, थकित भईं निरखि नव तरुन नारी।
सील की रासि, जस-रासि, आनँद-रासि, नील नव-जलद-छबि बरन-कारी। २४२१

२. सूरसागर, ७२७ ३. सूरसागर, २८४८

सौंदर्य नंद के घर में नहीं समा पा रहा है, इसलिए वह ब्रज की गलियों में बह रहा है।[1] सौंदर्य के उपर्युक्त चित्रण में कथन-भंगिमा है जो अत्यंत सूक्ष्मता के साथ रूपक के माध्यम से व्यंजित हुई है 'बहना' तरल पदार्थ (जल, दूध, तेल आदि) का धर्म है, सौंदर्य का नहीं, फिर भी कवि ने इसे बहने के रूप में चित्रित किया है। यशोदा की दृष्टि में सुंदरता श्याम पर ही शोभित होती है। ब्रह्मा ने अनेक चंद्रों को निचोड़ कर मोहन के मुख की रचना की है।[2] कृष्ण यशोदा की गोद में किलकारी ले रहे हैं। किलकारी लेते समय उनके दाँत इस प्रकार दीख पड़ते हैं, मानो कमल-पुष्प पर बिजली जड़ी[3] हो। सूर कृष्ण की बालछवि पर अत्यधिक मुग्ध हैं। कृष्ण मक्खन और रोटी खा रहे हैं। मक्खन और रोटी उनके हाथ में इस प्रकार शोभा दे रही है, मानो कमल ने चंद्रमा से अपनी शत्रुता मन में सोचकर अमृत-पात्र के साथ अमृत ले रखा है।[4] इस बालरूप-चित्रण में कवि ने दिव्य एवं अलौकिक उपमानों को प्रस्तुत किया है और उस रूप-सुषमा का अंकन तीन रूपों (आनंद रूप, भक्तवत्सल रूप, दैन्य भाव बालरूप) में किया है।

संयोग वात्सल्य-वर्णन में कृष्ण की तुतली बोली, घुटनों के बल चलना, धीरे-धीरे खड़ा होना और फिर गिर पड़ना, माँ का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ना, नंद को बाबा कहना, शरीर पर धूल लपेटना, मुख पर दही का लेप करना, सोते समय आँखें बंद कर लेना, पालने में झूलना, हँसना-किलकना, नाचना, मक्खन के लिए झगड़ना, चंद्रमा के लिए हठ करना, बालवृंद के साथ खेलना, वन से वापस आना, खेलते-खेलते रूठ जाना आदि ऐसे अनेक चित्र हैं, जो पूरी तन्मयता के साथ चित्रित हुए हैं। बाल-रूप के इन चित्रों के वर्णन में सूर की सौंदर्य-दृष्टि ही प्रमुख रही है। श्याम के छोटे-छोटे चरण हैं, उनमें नन्हीं-नन्हीं छबीली अंगुलियाँ हैं, जिनकी नख की कांति ऐसी जान पड़ती है, मानो कमल-दल पर मोती सुशोभित हों। बाल कृष्ण जब मनोहर आँगन में खेलते समय ठुमुक-ठुमुक कर चलते हैं, तो पैरों से पैंजनियों का सुमधुर रुनझुन-रुनझुन शब्द होता है। श्यामवर्ण-शरीर पर अति झीनी पीतवर्ण की झगुलिया ऐसी शोभित है, मानो किसी छोटे बादल ने बाल-विद्युत ओढ़ रखी हो। कृष्ण जब किलकारी मार कर हँसते हैं, तो उनके आगे के दो दाँत अत्यंत सुशोभित[5] होते हैं।

मणिमय आँगन में किलकारी मार कर घुटनों के बल चलने वाले कृष्ण अपने ही प्रतिबिंब को पकड़ना चाहते हैं।[6] इस बालसुलभ चपलता का बिंब-विधान अत्यंत सजीव रूप में चित्रित हुआ है। बालवर्णन के प्रसंग में बाल-मनोविज्ञान

---

१. सूरसागर, ६४७
२. सूरसागर, ७७६
३. सूरसागर, ७००
४. सूरसागर, ७८२
५. सूरसागर, ७६९
६. सूरसागर, ७२८

का सुंदर चित्र उस समय अंकित हुआ है, जब कृष्ण चलना सीखते हुए गिरने लगते हैं। यशोदा तत्काल ही उन्हें सहारा देने के लिए आ जाती हैं। यशोदा को देखते ही कृष्ण गिरने लगते हैं, उनके दोनों हाथ नीचे झुक जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चंद्रमा के उदय होने की सूचना पाकर कमल-नाल झुकना चाहती हो।[१] मक्खन खाने की मुद्रा का निरूपण भी सूर ने अत्यंत सुंदरता और सजीवता के साथ किया है। कृष्ण छिपे-छिपे मक्खन खा रहे हैं। मक्खन खाते समय किस प्रकार वे उठते हैं, आड़ में खड़े होकर इधर-उधर ताक लेते हैं, चकित नेत्रों से चारों ओर देखते हैं, मक्खन के बिंदु बार-बार मुख से वक्षस्थल पर गिर पड़ते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, मानो चंद्रमा अपने प्रियजन (श्री कृष्ण के वक्षस्थल में स्थित अपनी बहन लक्ष्मी) का आगमन समझकर सुहावनी अमृत की बूंदों की वर्षा कर रहा है।[२]

नख-शिख प्रणाली के अंतर्गत सूर ने कृष्ण के मनमोहक अंगों को ही अपने वर्णन का विषय बनाया है। विद्यापति के समान वे अंग-प्रत्यंग का वर्णन नहीं करते। कृष्ण के अंग-प्रत्यंग की शोभा प्रतिक्षण बदलती रहती है। उनकी सुंदरता का वर्णन गोपियाँ नहीं कर पा रही हैं। उनकी वाणी की गति पंगु हो जाती है।[३] कृष्ण के प्रायः सभी अंगों के सौंदर्य का चित्रण एक ही पद में हमें देखने को मिलता है। सौंदर्य-चित्रण में यद्यपि कवि ने बार-बार 'सुंदर' शब्द की पुनरुक्ति की है, किंतु अंगों का सौंदर्य-वर्णन जिस रूप में हुआ है, वह रूप सौंदर्य-वर्णन को बोझिल नहीं बनाता है, अपितु कृष्ण के अंगों की रूप-सुषमा में निखार ला देता है।[४] कृष्ण का मुख खिले हुए कमल के समान सुंदर है, ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूर्य के उदय होने से कमल ने खिलकर सूर्य-चंद्र दोनों की ज्योति छिपा ली हो। बिंबाफल के समान अधरों के ऊपर नासिका ऐसी है, मानो तोते ने बिंबाफल को चखने के लिए चोंच चला दी हो। हँसते समय कृष्ण का मुख खिल उठता है, जिससे दाँत इस प्रकार चमकते हैं, मानो बिजली की ज्योति बार-बार छिपकर फिर दिखलाई दे जाती हो।[५] रूप-सुषमा से प्रत्येक अंग की छवि उलझाने वाली है। अलकों की शोभा का गान भौरों के समूह करते हैं। खंजन, मछलियाँ तथा हिरनों के बच्चे नेत्रों की समता नहीं कर पा रहे हैं। मुख की मुस्कान की शोभा को देखकर कमल बार-बार संकुचित हो दिन-प्रति-दिन खिलकर शोभा की समता न कर सकने के कारण असमर्थ हो जाता है और अपने जीवन को खो देता है।[६] नेत्र और मुख-छवि यहाँ पर व्यतिरेक अलंकार के द्वारा व्यंजित हुई है।

कृष्ण के हृदय पर पड़ी हुई मोतियों की माला ऐसी प्रतीत होती है, मानो

---

१. सूरसागर, ७३२
२. सूरसागर, ६०१
३. सूरसागर, १२५८
४. सूरसागर, २४४३
५. सूरसागर, १२५७
६. सूरसागर, १२८३

नवीन बादलों पर बगुलों की पंक्ति हो। पीले, हरे, श्वेत, लाल पुष्पों की वनमाला विशाल वक्षस्थल पर ऐसी शोभित होती है, मानो आकाश मंडल में इंद्रधनुष प्रगट हुआ हो। हृदय पर पड़ी हुई माला के इस चित्रण में अप्रस्तुत रूप में क्रमशः 'बलाक-पाँति', 'नवघन' और नभमंडल में उदित होने वाले इंद्रधनुष को लाया गया है। उत्प्रेक्षा के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत में वर्णसाम्य की अभिव्यंजना बहुत ही सूक्ष्म रूप में हुई है।[1] कृष्ण के सुंदर ललाट पर गोरोचन के तिलक से सटकर ही कज्जल की बिंदी लगी थी। वह ऐसी लगती थी, मानो रुचिपूर्वक (कमल का) मकरंद पीकर भौंरे का बच्चा सोया हो, अभी जगा न हो।[2] अलकें कृष्ण के ललाट पर लटक रही हैं। मन को मोहित करने वाला काजल का बिंदु है। भाल पर अत्यंत सुख देने वाला तिलक लगा है, ऐसा प्रतीत होता है, मानो एक भौंरे का बच्चा कमल दल को देख रहा है, दूसरा उड़ रहा है।[3] भाल पर लगे तिलक एवं ललाट पर लटकने वाली लटों की यह सौंदर्य-व्यंजना लौकिक अप्रस्तुतों के द्वारा कराई गई है। पौराणिक और शास्त्रीय अप्रस्तुतों की तुलना में लौकिक अप्रस्तुत अधिक भावग्राही व्यंजना कराते हैं। सौंदर्य की इस व्यंजना में रूपसादृश्य के साथ क्रियासादृश्य भी है।

कृष्ण की भुजाओं के वर्णन में भी सौंदर्यपरक उपमान की कल्पना कवि ने की है। भुजाओं पर चंदन का लेप लगा हुआ है, जिससे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई हैं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो नीचा मुख करके झूलते हुए दो महासर्प आकाश से उतर रहे हों।[4] रोमावली के सौंदर्य-चित्रण में नीले मेघ पर धुएँ की पतली शेष बची हुई धारा[5] (रेखा), एक ही वेश में सजी भौंरों की श्रेणी[6], कामदेव का चलने का मार्ग, 'अलि बाल पंगति जुरी एक सँजोग' (भौंरों के बच्चों की पंक्ति का एक में सटकर एकत्रित हो जाना) कामदेव द्वारा भेजा गया सर्प[7] आदि उपमानों की कल्पना में सजीवता, मनोहरता और सुंदरता है। रोमावली का वर्णन करते-करते कवि इतना अधिक भावविभोर हो जाता है कि वह उसे 'यमुना' की उपमा से अभिव्यंजित करता है। अपने इस वर्णन में वह रूपक और उत्प्रेक्षा के सहारे कृष्ण के अन्य अंगों का भी वर्णन कर देता है। अनुपम रोमावली यमुना के समान विराजमान है। यमुना की यह जल-धारा वक्षस्थल रूपी कलिंद पर्वत से गिर कर उदर रूपी पृथ्वी पर प्रवाहित हो नीचे नाभि रूपी अथाह कुंड में गिरने के लिए चली जा रही है। दोनों भुजदंड इसके किनारे हैं, हृदय मनोहर घाट है, वनमाला किनारे के वृक्ष और मोतियों की माला, मानो दो भागों में बँटी रस से फूली फेनों की लहर (श्रेणी) है।[8] रोमावली के इस वर्णन में 'यमुना' उपमान अपने पूरे परिवेश के

---

१. सूरसागर, २४२५
२. सूरसागर, ७५५
३. सूरसागर, ७०६
४. सूरसागर, १२५६
५. सूरसागर, १२५३
६. सूरसागर, १२५२
७. सूरसागर, १२५४
८. सूरसागर, २८४८

साथ बिंबित हुआ है। किशोर रूप-सुषमा के पीछे एक किशोरी अत्यंत ही बेचैन है। वह श्याम के दर्शन की लालसा में मरी जा रही है। आक का फल फट जाने पर जैसे रुई उड़ती है, वैसे ही वह नेत्रों के साथ उड़ती हुई फिर रही है।

सूर ने सौंदर्य-चित्रण में जितना अधिक वर्णन नेत्रों का किया है, उतना किसी अन्य इंद्रिय का नहीं। इसका प्रमुख कारण यही है कि रूप का पान करने वाले नेत्र हैं। कृष्ण के रूप को देखकर एक गोपी के नेत्र उसके वश में नहीं रहते। वे श्याम, सुंदर का दर्शन करते ही जल के बहाव की भाँति उन्हीं की ओर ढुलक जाते हैं और त्रिवेणी होकर कृष्ण के रूप-सागर में मिल जाते हैं।[1]

वेश-भूषा और आभूषणों से सुसज्जित कृष्ण के सौंदर्यावलोकन में भी कवि की दृष्टि पीछे नहीं रही। सिर पर मोरमुकुट, गले में मोतियों की माला, हृदय पर कौस्तुभमणि और मुक्ताहार, कानों में मणिजटित लोल कुंडल, चंदन-चर्चित भुजाओं में केयूर, कटिप्रदेश में पीतपट और कनक-मेखला, पैरों में नूपुर आदि से सुशोभित श्रीकृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में परंपरागत प्रकृति, मानव और पशु-पक्षी जगत् से ही अप्रस्तुतों का चयन हुआ है। श्रीकृष्ण के श्याम शरीर पर कनकवर्णी पीला दुपट्टा ऐसा सुशोभित होता है, मानो रात-दिन एक साथ आगे-पीछे आ रहे हों।[2] इसी प्रकार मुक्ताहार से युक्त उन्नत विशाल हृदय ऐसा प्रतीत होता है, मानो नील-गिरि से दो धाराओं में गंगा नीचे आ रही हों।[3] रत्नजटित कुंडलों से सुशोभित कृष्ण के लोल कपोल कवि को अपनी ओर विशेष आर्कषित करते हैं। इनके सौंदर्यांकन में भाव-विभोर होकर सूर ने यमुना के जल में पड़ते हुए सूर्य के प्रतिबिंब[4], अमृत के सरोवर में क्रीड़ा करते हुए मकर एवं डहडह डोलते हुए चंद्रमा[5] तथा सरोवर में कल्लोल करती हुई मछलियों की कल्पना की है।[6]

कृष्ण का नटवर वेश भी सूर के लिए आकर्षण की स्थली है। नटवर वेशभूषा में वे मोर-मुकुट और मकराकार कुंडल धारण किए हुए हैं। इस छवि को देखकर स्वयं उपमा ही उस रूप के पीछे दौड़ रही है।[7] कृष्ण की कुछ अन्य मुद्राएँ भी पाठक के लिए आकर्षण का कारण हैं। तिरछी चितवन, छबीली चाल[8], मुरली बजाते समय एक पैर के बल खड़ा होना, कमर का टेढ़ी हो जाना, गर्दन का झुकना, भ्रकुटियों की कुटिलता, नाक के ऊपरी नोक पर क्रोध का इकट्ठा हो जाना और नाक का लाल होना[9] आदि वर्णनों में सौंदर्य और रस एकाकार होकर बहे हैं। मुरली तो कृष्ण की चिरसंगिनी है। गोपियाँ उससे ईर्ष्या करती हैं और कृष्ण उससे अगाध प्रेम करते हैं। कृष्ण के हाथों में वंशी अत्यधिक सुशोभित होती है, ओठों का स्पर्श

---

१. सूरसागर, २४२८ २. सूरसागर, १८२२ ३. सूरसागर, १८२२
४. सूरसागर, १८२२ ५. सूरसागर, १२४५ ६. सूरसागर, १९९०
७. सूरसागर, १९८६ ८, सूरसागर, २४८९ ९. सूरसागर, १२७३

करके मधुर-मधुर ध्वनि से बजती है, अमृत रस की वर्षा करती है। वंशी-वादन करते समय कृष्ण का मुकुट झुक जाता है, भौंहें बड़े ही छविपूर्ण ढंग से मटकती हैं, संकेत करते हुए नेत्र अत्यंत सुशोभित होते हैं और गर्दन झुकाए वंशी-वादन में एकाग्र होकर कृष्ण के खड़े होने की मुद्रा करोड़ों कामदेवों की शोभा को लजाती है।[१] सूरसागर में वस्तुतः सूर ने कृष्ण के रूप-सागर को भरा है। कृष्ण की रूप-सुषमा की सर्वातिशायिनी विशेषता यह है कि उस लावण्यनिधि, गुणों की निधि तथा शोभा की निधि को देखकर ही सारा गोकुल गाँव जी रहा है। अंग-प्रत्यंग का अपार माधुर्य स्थान-स्थान पर सरस रुचि उत्पन्न कर रहा है और सूर मदनमोहन की छटा एवं सौंदर्य-चित्रण के लिए कहीं भी उपमान नहीं खोज पाते हैं।[२]

सूरसागर में कृष्ण, राधा और गोपियों का चित्रण अंग और अंगी रूप में हुआ है। राधा के सौंदर्य का वर्णन सूर ने कृष्ण के समान ही किया है। चूँकि राधा और कृष्ण वर्णन के केंद्र में रहे हैं, इसलिए गोपियों के सौंदर्य-वर्णन में कवि का आकर्षण कम रहा है। राधा को कवि ने रूप की निधान और सुंदरता की पुंज कहा है।[३] उसके अंगों के सौंदर्य के आगे चौदहों लोक नीरस लगते हैं, वह रस की राशि है।[४] राधा रुचिर रूप वाली है, उसके अंग-अंग में माधुर्य है, बिना आभूषणों के भी वह गोरी ब्रजबाला आकर्षक लगती है।[५] ब्रह्मा ने रूप के समुद्र को मथकर उसके रूप का निर्माण एवं अंग-प्रत्यंग की रचना की है, वह मोहन को अत्यधिक प्यारी है, वस्तुतः मोहिनी राधा की छवि कवि को रूप-मुग्ध कर सकी है। जहाँ-जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वह उलझती ही जाती है, वह पूरी तरह से सौंदर्य को अपने में भर नहीं पाती है।[६] अल्प वयस् राधा गौरवर्ण की है, उसके नेत्र विशाल हैं, वह माथे पर रोली की बिंदी, शरीर पर नीला वस्त्र और पीठ पर वेणी को धारण किए हुए है। ऐसी सुंदरी राधा को देखकर कृष्ण के नेत्र उसके सौंदर्य में और राधा के नेत्र कृष्ण के सौंदर्य में उलझ जाते हैं।[७] राधा के गौरवर्ण शरीर पर नीला वस्त्र विशेष सुंदर और आकर्षक लगता है। नीला वस्त्र पहने हुए राधा का शरीर ऐसी कांति बिखेरता है, जैसे बादलों के बीच में बिजली चमकती हो।[८]

कृष्ण की भाँति नखशिख-परंपरा में सूर ने राधा के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य का अंकन किया है। उसके विशाल नेत्र हैं, नथ से युक्त नाक है, रक्तिम अधर हैं, जिनके सामने खंजन पक्षी, तोता, बिंबाफल लजा जाते हैं। उरोजों की छवि को देखकर सुमेरू पर्वत लज्जित होता है और श्रीफल संकोचवश जंगल में छिप जाता है।[९] पदों की नख-ज्योति को बार-बार देखकर कमला (लक्ष्मी) झुक जाती

---

१. सूरसागर, १२६३ २. सूरसागर, १२८१ ३. सूरसागर, ३०६४
४. सूरसागर, ३०६६ ५. सूरसागर, १८१९ ६. सूरसागर, १८१५
७. सूरसागर, १२६० ८. सूरसागर, १६७३ ९. सूरसागर, ३०६४

है।[1] उन्नत, सघन और पीन पयोधरों के मध्य रोमावली ऐसी सुशोभित होती है, मानो चक्रवाक ने अपनी चंचुपुटी में सैवल (शैवाल) की मंजरी खोंस ली हो।[2] सूर आभूषणों से सुसज्जित राधा के सौंदर्य का वर्णन करने में असमर्थ हैं, क्योंकि राधा सहज रूप की राशि है और उसके अंगों में भूषण अधिक सुशोभित होते हैं।[3] राधा के लिए आभूषण, बिहारी की नायिका के समान, न तो 'दर्पण के मोरचे' हैं[4] और न ही 'पायंदाज'। रति-क्रीड़ा के समय राधा की जिस छवि का अंकन किया गया है, उसमें भी राधा अत्यधिक आनंदित और शोभायुक्त दिखाई देती है। रति-क्रीड़ा में राधा के अधर, कपोल एवं कुचों पर दिखाई देने वाले दंतक्षतों एवं नखरेखा का चित्रण कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से बहुत ही तन्मयता के साथ किया है। राधा के अधरों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो पका हुआ बिंबाफल तोते द्वारा खंडित हो गया है, और अधर-सुधा में लाल मधु आ गया हो। रुचिर कपोलों पर प्रिय द्वारा अंकित दंत, क्षत ऐसे शोभा दे रहे हैं, मानो पीक रूपी पत्ते को स्वेद जल में सींचकर कपोल रूपी आलबाल में रति-बेल को उगाया गया हो। कंचुकी के बंधन टूट जाने से उन्नत कुचों पर प्रिय के द्वारा की जाने वाली नख-रेख ऐसी प्रतीत होती है, मानो सिंदूर से भरे स्वर्ण-घड़ों, में दरार पड़ गई हो।[5]

कवि को इस बात में अधिक आनंद और सुख मिलता है कि राधा और कृष्ण एक साथ मिलकर नाचें, एक-दूसरे की रूप-सुषमा का पान करें और एक दूसरे की छवि पर रीझें। राधा-माधव के परस्पर नृत्य की झाँकी का चित्रण करने में सूर की कल्पनाएँ नये-नये रूपों की सर्जना में थकती नहीं हैं। राधा माधव के साथ नृत्य करते समय जब तिरप (नृत्य में एक प्रकार का ताल) लेती है और आभूषण अंगों पर झमकते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बिजली चमकी हो। कामदेव इस छवि को देखकर विवश हो जाता है। सूर इस सौंदर्य-अंकन के लिए सटीक उपमान खोज नहीं पाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, मानो सुंदरता की बाढ़ आगई हो और उसमें से रस का समुद्र उछल गया हो।[6] राधा के सौंदर्य की अभिव्यंजना एवं रस की पूर्ण अभिव्यक्ति विरह से पीड़ित उसकी क्षीणता और मलिनता में भी हुई है। कृष्ण के बिना राधा के शरीर की दशा बिलकुल विपरीत हो गई है। राधा के मुख की चंद्रमा के समान उज्ज्वल कांति अब क्षीण हो गई है और मात्र चंद्रमा के कलंक की कालिमा शेष रह गई है। अलकें, जो भुवंगम के समान थीं, अब वट वृक्ष की लटें हो गई हैं, जो नेत्र शरद्कालीन कमल के समान उज्ज्वल, कोमल और सौंदर्यशाली थे,

---

१. सूरसागर, ३०६६ २. सूरसागर, ३०६५ ३. सूरसागर, ३०६३

४. पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत। बिहारी-रत्नाकर, ३३५

५. सूरसागर, ३२८२ ६. सूरसागर, १६७८

उन नेत्रों से मानो सौंदर्य निचोड़ लिया गया है। विरह-ताप के कारण उसके शरीर की स्वर्ण के समान कांति नष्ट हो गई है। राधा की जो पीठ पहले केले के पत्ते के समान चिकनी और चौड़ी थी, अब वह विरह-ताप के कारण ऐसी प्रतीत होती है, मानो केले के पत्ते को उल्टा करके रख दिया गया हो।[१]

उपर्युक्त सौंदर्य-चित्रों के चित्रविधान के साथ ही साथ स्वप्न-दशा के बोधक भावों की व्यंजना भी सूरसागर में हुई है। स्वप्नावस्था में एक गोपी (राधा) अपनी सखी से कह रही है कि मैं स्वप्न में कृष्ण से मिली। उन्होंने विशाल भुजाओं से वेष्टित कर मेरा इस प्रकार से आलिंगन किया, मानो चंदन के वृक्ष में साँप लिपट गया हो।[२] प्रस्तुत आलिंगन-वर्णन में कवि का कल्पना-व्यापार अत्यंत भावव्यंजक है। चंदन की सुगंधि के प्रति सर्प का विशेष आकर्षण होता है, इसीलिए चंदन के वृक्ष में सर्प लिपटे रहते हैं और वे शीतलता का अनुभव करते हैं। विरहाधिक्य के कारण राधा भी अतिशय ताप की अनुभूति करती है। श्री कृष्ण की भुजाओं (साँप) में राधा (मलय-द्रुम) आलिंगनबद्ध होने से सुख, शांति और शीतलता का अनुभव करती है। प्रेम-क्रीड़ा, रासलीला, पनघटलीला, विरहप्रसंग आदि में जिन गोपियों का उल्लेख सूर ने किया है, उनमें से कुछ प्रकृति-भेद के आधार पर अल्पवयस्का हैं, कुछ चंचल स्वभाव की हैं, कुछ प्रकृति से गंभीर हैं, कुछ वयोवृद्धा हैं और कुछ वियोग-खिन्ना हैं। कृष्ण के वियोग में एक गोपी के नेत्रों से अश्रुवर्षा होती रहती है। उसके अश्रुपूर्ण नेत्रों से बादल भी हार मान चुके हैं। बादल जल के कोष हैं। वे एक ही ऋतु (वर्षा) में बरसते हैं, किंतु गोपी के नेत्र हर क्षण बरसते रहते हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक के सहारे अश्रुपूर्ण नेत्रों एवं वक्षस्थलों का यह चित्रण अधिक हृदयस्पर्शी और भावग्राही बन गया है।[३]

प्रकृति-वर्णन में भी सूर ने अपनी सौंदर्य-पारखी दृष्टि का परिचय दिया है। सूरसागर में प्रकृति-चित्रण साधन रूप में ही हुआ है, साध्य रूप में नहीं। वह राधा-कृष्ण की प्रेमलीला में सहायिका के रूप में उपस्थित हुई है। ब्रजप्रदेश के संपूर्ण प्राकृतिक वातावरण ने कवि को केवल अप्रस्तुतों के लिए ही सामग्री नहीं दी है, अपितु काव्याभिव्यक्ति में प्रस्तुत रूप में भी सहायक हुआ है। आकाश में काली घटाओं के मध्य में इंद्रधनुष की छवि और बिजली के कौंधने को देखकर सूर इतना अधिक भाव विह्वल हो जाते हैं कि वे मानवीय अप्रस्तुत (चंचल नारी)[४] की उत्प्रेक्षा कर बैठते हैं। राधा-कृष्ण की लीलाओं और गोपियों की वियोगभावना के साथ-साथ प्रकृति के अनेक संश्लिष्ट चित्र अपने कोमल और कठोर रूप में चित्रित हुए हैं। संयोगावस्था में जहाँ प्रकृति राधा-कृष्ण के आनंद और उल्लास[५] में वृद्धि करती

---

१. सूरसागर, ४०२२ २. सूरसागर, ३८७९

३. सूरसागर, ३८५३, ३८५४ ४. सूरसागर, १८०६ ५. सूरसागर, १७६८

है, वहीं वियोगावस्था में वह अपने प्रकृत और मानव रूप में अधिक मुखरित हुई है। कृष्ण, वियोग में प्रकृति भी गोपियों की भाँति क्षीण, हीन, व्याकुल, विषादमय और मुरझाई हुई है। वियोग के कारण गोपियों की तरह यमुना भी काली हो गई है,[1] इसका व्यंग्यपूर्ण परिचय एक गोपी, पथिक (उद्धव) से करा रही है। इस वर्णन में प्रकृति मानवीरूप में चित्रित हुई है। इसी प्रकार कुंज दुश्मन हो गई हैं, लताएँ विषम ज्वाल की पुंज बन गई हैं। हवा, जल, कपूर और संजीवन बूटी तथा चंद्रमा की किरणें सूर्य की किरणों के समान दग्ध कर रही हैं।[2]

रूप-सादृश्य के रूप में भी प्रकृति की सुंदरता का अंकन हुआ है। विरह-व्यथित गोपियों को वर्षा-ऋतु के उमड़ते हुए बादलों में कृष्ण का रूप-सादृश्य दिखाई देता है। काले-काले बादल कृष्ण के समान हैं। बादलों के मध्य में उदित हुआ इंद्र-धनुष कृष्ण के नवीन, सुंदर वस्त्र की छवि दे रहा है, चमकती हुई बिजली कृष्ण की सुंदर और उज्ज्वल दंत-पंक्तियाँ हैं, बादलों के मध्य उड़ती हुई सफेद बगुलों की पंक्ति कृष्ण की ग्रीवा में पड़ी हुई मोतियों की माला है।[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूर ने मानवीय एवं प्राकृतिक पदार्थों के नाना रूपों, रंगों, मुद्राओं आदि को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और परखा है। उनकी सौंदर्य-चित्रण की रुचि हिंदी के मध्यकालीन साहित्य में अत्यंत परिष्कृत एवं सुसंस्कृत है। भावव्यंजना के सहारे प्रसंगानुकूल भाव-व्यंजक और रमणीय प्रस्तुत-अप्रस्तुत के प्रयोग-द्वारा कविता-वनिता के रूप को सँवार कर वे उसे अनुपम सौंदर्य प्रदान करने में दक्ष हैं।

---

१. सूरसागर, ३८०९ २. सूरसागर, ४६८६ ३. सूरसागर, ३९३३

☐ डा० राममूर्ति त्रिपाठी

सूर का वाग्वैदग्ध्य और वक्रता-विधान

काव्य का केंद्रीय तत्त्व सौंदर्य या चारुता है, क्योंकि सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति में आकर्षण होता है। इसका सम्यक् ग्रहण सहृदय द्वारा ही संभव है। सहृदय वह है, जिसमें सहृदयता हो और अभिनवगुप्त के शब्दों में सहृदयता 'शुक्र क्षोभात्मा' है। शुक्र क्षोभ की स्थिति में सौंदर्य का ग्रहण होता है—असुंदर में से भी सौंदर्य झाँकने लगता है—उस सौंदर्य दर्शन से शुक्रक्षोभ होता है। शुक्रक्षोभ की दशा कामोद्रेक की दशा है। निष्कर्ष यह है कि कामोद्रेक से सौंदर्य-ग्रहण और गृहीत सौंदर्य से कामोद्रेक और दोनों का पर्यवसान–आनंद। इस प्रकार काम-सौंदर्य-आनंद तीनों ही एक दूसरे से संबद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अदिव्य, पार्थिव, मर्त्य या भेद की भूमिका पर इनकी प्रतीति पृथक्-पृथक् हो जाती है—पर दिव्य, अपार्थिव, अमर्त्य तथा अभेद की भूमिका पर ये तीनों एक हो जाते हैं। अभेदराज्य में जो काम है, वही सुंदर है और वही आनंद भी। परात्पर श्री कृष्णतत्व जहाँ एक ओर 'साक्षात्मन्मथमन्मथः' कहे जाते हैं, वहीं चिरसुंदर, अधरित कोटिकदर्यलावण्य भी और सच्चिदानंद तो हैं ही। लगता है कि वही एक भेदराज्य में त्रिधाविभक्त हो जाता है—उसी आनंद-सागर की बूंदें छिटक-छिटक कर प्रतीत होने लगती हैं—पर कहीं स्वभाव-समुद्र की छींटें शांत होने वाली हैं? यही कारण है कि उक्त तीनों काम सौंदर्य-आनंद का इतना अविच्छेद संबंध है और इसीलिए तीनों एक-दूसरे से मिलने को इतने बेचैन रहते हैं।

श्रीकृष्ण 'साक्षात्मन्मथमन्मथः', 'चिरसुंदर' तथा 'चिदानंदमय' हैं। सूर के आराध्य ये ही श्रीकृष्ण हैं। पार्थिव या सगुण भूमिका पर सौंदर्य की अभिव्यक्ति 'रूप' के माध्यम से होती है और 'रूप' का संबंध 'वय' विशेष से है। यद्यपि पुष्टि-मार्गियों की दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्ध धर्माश्रय हैं, तथापि सहजतः आरंभिक

वय से रूप का और रूप से सौंदर्य का विशेष संबंध है। इसीलिए महाभारत के परवर्ती वय वाले कृष्ण नहीं, भागवत के पूर्ववर्ती वय वाले कृष्ण और उसमें भी गोकुल और वृंदावन वाले कृष्ण अरुण-वयस्क तथा सुषमागार हैं। इसीलिए सूरसागर का एक रूप स्कंधात्मक भी है, जिसका संबंध महाभारत से नहीं, भागवत से भी जोड़ा जाता है। यही भागवत प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम परात्पर परब्रह्म-विषयिणी साधनानुभूत अनुभूति और चारूता ही सूर की वाङ्मयी अभिव्यक्ति का मूल है। यही अनुभूति सर्जनात्मक बन गई है और उसी का मूर्त रूप उनका 'सागर' है। उसे रूपसागर; रससागर भी कहा जा सकता है। उनकी सारी कला इसी अनुभूति की सुगंध है, इसी अनुभूतिबीज का प्रस्फुटन है।

भक्त कवि सूरदास की रूपविषयका रागात्मिक वृत्ति उत्तरोत्तर परिष्कृत होती हुई महाभावस्वरूपाह्लादिनी वृत्ति की पार्यंतिक भूमिका में आरूढ़ हो जाती है और तब स्वयं प्रकाश चिदानंदमय श्रीकृष्ण का आस्वाद भरपूर कर पाती है। कारण, यह महाभावस्वरूपाह्लादिनी स्वरूपशक्ति है—स्वरूपशक्ति से ही 'स्वरूप' का आस्वाद लिया जा सकता है। यही आस्वाद माधुर्य है। माधुर्य का यही परिणत साक्षात्कार है। हो सकता है कि इस चरमभूति के साक्षात्कार के लिए उन्हें शांत-दास्य-सख्य-वात्सल्य की भूमियाँ पार करनी पड़ी हों, जिनकी झंकृतियाँ कान लगाने पर 'सागर' से सुनाई पड़ती हैं। इसीलिए विवेचकों में इनकी अनुभूति को लेकर पर्याप्त विवाद है। यहाँ मैं विस्तार में न जाकर संक्षेप में इतना ही कहना चाहता हूँ कि असंकोचमूलक सख्यभाव से आप्लावित सूर महाभावस्वरूपाह्लादिनी वृत्ति के द्वारा अपने आराध्य से तन्मय हो जाते हैं और उस समाधिगम्य अनुभूति की यथासंभव वाक्साध्य अभिव्यंजना व्युत्थानकाल में आरंभ कर देते हैं।

इसी अनुभूति या चारुता को बाँधने में अशंकात्मक राग-लय से लेकर शब्द और अर्थ तक सभी अपनी-अपनी समस्त क्षमताओं के साथ प्रतिस्पर्द्धीरूप से प्रयुक्त हुए हैं। सूर अपनी समस्त प्रतिभा के साथ जहाँ लीन होकर अभिव्यक्ति करते हैं, वह क्षेत्र रति या रागात्मिका अनुभूति का ही है। रति देवादिविषयिणी विनयात्मक भक्ति भी है, पर उस मनोदशा में रंजक रूप आलंबन नहीं है, भगवान् का रक्षक रूप आलंबन होता है। रंजक रूप जिस मनोदशा को उद्रिक्त करता है, वह है, वात्सल्य तथा माधुर्य। सूर की प्रतिभा, उनकी वागंगिमा अथवा वक्रतागर्भ वैदग्ध्य इन्हीं स्थलों से संबद्ध हैं। उनकी कवि-प्रतिभा आपादमस्तक यदि कहीं लीन हुई है—तो यहीं।

प्रसंगात वैदग्ध्य और वक्रता को भी परिभाषित करना होगा। साहित्यमर्मियों ने व्यंजना की स्थापना करते हुए ग्राहक या पाठक के दो भेद किए हैं—बोद्धा और विदग्ध। बोद्धा वह है, जिसकी समझ 'वाच्य' तक ही जाती है और विदग्ध वह सहृदय है, जो

सर्जक के चेतन-अचेतन मानस स्तर से निःसृत अपार व्यंजनात्मक झंकृतियों को पकड़ लेने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से ग्राहक की भाँति सर्जक भी बिंबप्रतिबिंब-भावापन्न होने से विदग्ध कहा जायगा। तभी तो ग्राहक और सर्जक में संवाद हो सकेगा—'तन्मयीभवन' की स्थिति आ सकेगी। विदग्ध सहृदय सर्जक की पहचान यह है कि उसके द्वारा प्रयुक्त 'शब्दार्थ' यत्नतः प्रत्यभिक्षेय हों अर्थात् सृष्टा द्वारा प्रयुक्त शब्द के 'सटीक' 'रसमय' 'चारुताप्रकाशक' 'अभीष्ट व्यंजक तथा 'अनुरणनात्मक' होने में है। शब्द की ये सारी विशेषताएँ व्यंगार्थ या शब्द की व्यंजनाशक्ति पर निर्भर हैं। विवेच्य का दूसरा पक्ष है—वक्रता। वक्रता या बाँकपन एक ही वस्तु है। कुंतक ने कविपक्ष से इसकी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है। कवि की अनुभूति प्रेरित काव्यव्यापृति ही बाँकपन है—वक्रता है—'वक्रत्वंकविव्यापारः'। सर्जक की सृष्टि मूल में ही वक्रभावापन्न है। जिस अनुभूति प्रेरित प्रातिभस्फुरण का मूर्त रूप काव्य है—वह स्फुरण ही वक्र है—व्यावहारिक, शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक अभिव्यक्ति से विलक्षण है। इसीलिए कुंतक ने कहा–'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकिणी विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः।' व्यवहार या शास्त्र की प्रसिद्ध अभिव्यक्ति पद्धति से भिन्न अभिधान हो वक्रोक्ति है। उसकी भिन्नता प्रातिभ होने में, चारुता प्रकाशक होने में और ताजी होने में है। यह बाँकपन अशब्दात्मक रागतत्व से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबंध तक व्याप्त है। अतः सूर का वाग्वैदग्ध्य या वक्रताविधान विश्लेषित करने में सर्वप्रथम अशब्दात्मक राग, लय या सांगीतिक पक्ष लेता हूँ। कुंतक ने पता नहीं, क्यों अपनी वक्रता को वर्ण से अर्थ तक ही प्रस्तुत किया—जबकि अशब्दात्मक नादसौंदर्य या लयात्मकता से भी प्रतिपाद्य का भी संप्रेषण होता है। यह ठीक है कि वह संगीत और छंदशास्त्र का विवेच्य है—पर उपयोगी तो काव्य का भी है। होने को तो काव्येतर अभिव्यक्ति भी छंदोबद्ध होती है—लयात्मकता सारी सृष्टि में व्याप्त है—पर काव्यात्मक अभिव्यक्ति में वह 'सुंदर सत्य' या 'अनुभूति' की अभिव्यंजना का अंग होता है। काव्योपयोगी शब्द को यदि व्यक्त तथा अव्यक्त दो तरह का माना जाय और माना गया है—तो नाद भी अव्यक्त शब्द ही है।

अव्यक्त शब्द नाद है और नाद का ही आरोहावरोह गान है–संगीत है। काव्य को यदि कला माना जाय, तो वह स्वयं तो कला है ही, ललितकला के अन्य भेदों–विशेषकर चित्र तथा संगीत की विशेषताओं को भी आत्मसात् करता है। एक ओर वह मूर्त विधान के लिए चित्रकला की सहायता लेता है और दूसरी ओर नाद-सौष्ठव के लिए संगीत का। छांदसतत्व का भी गान के अंतर्गत विचार आता है। लय स्वर की द्रुत, मध्यम और विलंबित गति का ही नाम है और छंद लय के आधार पर टिका हुआ नादविधान है—विशेष ढाँचा है।

जहाँ तक कृष्णभक्तिकाव्य का संबंध है—नाद शब्दब्रह्म है और कृष्ण परब्रह्म। शास्त्रीय मत है :

'शब्दब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'

शब्दब्रह्म में निष्णात साधक ही परब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है। हो न हो, इसीलिए कृष्णभक्तों के माध्यम से संगीत मध्यकाल में भी चरम ऊँचाई को छूता रहा है। सूरकाव्य द्वारा व्यक्त आनंदतत्त्व कृष्णरूप ही है, अतः उस तक पहुँचने के लिए नादतत्त्व का माध्यम सहज और स्वाभाविक है। नंददास ने स्पष्ट कहा है :

राग के मग ह्वै प्रिय पै जाय,
कोऊ जानै यह बैठी गाय।

राग साधना के माध्यम से गोपी परमप्रेमास्पद कृष्णतत्त्व तक पहुँच जाती है और लोग समझते हैं कि यह गाना गा रही है—बैठी-बैठी। इन लोगों की रचनाएँ कीर्तन के संदर्भ में कही गई हैं। अतः गेय तो हैं ही, इसीलिए ये लोग पद-पद्धति पर अपनी रचनाएँ करते थे। यह अवश्य है कि विशुद्ध गायकों और साहित्यिक गायकों के 'पद' में अंतर है। सूर के 'पद' के संबंध में शोधियों की धारणा है कि उनका प्रत्येक पद किसी न किसी छांदस ढाँचे के अंतर्गत है। राग-रागिनियों में बँधे हुए ये पद स्वरों के माध्यम से भावों को व्यक्त कर विशेष वातावरण की सृष्टि करते हैं और रस-व्यंजना में, सौंदर्य के प्रकाश में विशेष योग देते हैं। राग का अर्थ भी तो भाव ही है। विशेष स्वर और उनकी विशेष गति भावविशेष की व्यंजना करती है। सूरदास में भावानुकूल लय का प्रयोग है। लय स्वर की गति का नामांतर है और यह त्रिविध है—द्रुत, विलंबित तथा मध्य। ओजस्वी रसों में द्रुत, मधुर रसों में विलंबित लय का प्रयोग होता है। सूरदास के वात्सल्य तथा शृंगार के पद अधिकतर मध्यलय में नियोजित स्वरलिपि में निखरते हैं। जैसे :

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।[1]

यहाँ मध्यलय की योजना में शब्दों की अधिक खींचतान भी नहीं है। इसी प्रकार होली के सामूहिक उल्लास की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक सहायक लयगत द्रुतता ही है। विलंबित लय का प्रयोग वेदनासिक्त भावस्थलों के उपयुक्त पड़ता है। सूर के विप्रलंभ संबंधी पद अधिकतर मध्यलय के होते हैं, पर जहाँ आशा और प्रेम, जन्य उल्लास की अपेक्षा विषाद प्रधान है, वहाँ कविता की गति मंथर है। जैसे :

ऊधो जबहिं जाब गोकुलमनि आगे पइयाँ लागन कहियौ।

सूरदास उपयुक्त वातावरण या प्रभाव की सृष्टि के लिए रागों की प्रकृति के अनुकूल भावों अथवा भावों की प्रकृति के अनुकूल रागों की रचना करते थे। जहाँ तक छंदोबद्धता का संबंध है, सूर ने पहले तो भावानुकूल छंदो में अभिव्यक्ति की है

---

१. सूरसागर, ७१७

और फिर उसे तदनुकूल भावपोषक रागों में गाने का निर्देश दिया है । निष्कर्ष यह है कि अशब्दात्मक नाद और लय के स्तर पर सूर ने काव्य-छंद तथा संगीत की नितांत एकरस तथा समंजस व्याख्या की है ।

अशब्दात्मक राग रूप उपकरण द्वारा प्रतिपाद्य के प्रकाशन विमर्श के अनंतर शब्दात्मक उपकरण की लघुतम कल्पित इकाई 'वर्ण' आती है । अतः इस दृष्टि से वक्रता-विधान का विश्लेषण संप्रति प्रतिपाद्य है । यह भी कवि के वैदग्ध्य या उसके प्रातिभ सामर्थ्य पर निर्भर है कि वर्णविन्यास में निहित समग्र संभावनाओं को वह भाव, रस या अनुभूति के प्रभावी प्रकाशन में कितना निचोड़ पाता है । यह भी ध्यान देने की बात है कि कुंतक ने 'वर्ण' को 'व्यंजन' परक ही माना है । स्वर की संभावनाओं का रसाभिव्यक्ति में कैसा उपयोग है—इसका विचार सांगीतिक तथा छांदस् पक्ष के संदर्भ में हो चुका है । इस प्रकार वर्णवक्रता को व्यंजनवक्रता या व्यंजनचारुता भी कहा जा सकता है । व्यंजनवर्ण में जहाँ एक ओर भाव-प्रकाशन की क्षमता है, वहीं दूसरी ओर वर्ण्य वस्तु को चित्रित करने की भी क्षमता निहित रहती है :

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत ।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ।[1]

यहाँ एक ओर नृत्य की मुद्राओं, चित्र, घुँघरू की छम-छम तथा वाद्ययंत्र की झनकारें आनुप्रासिक वर्णयोजना द्वारा सुस्पष्ट व्यंजित हैं वहीं दूसरी ओर माधुर्यगुण के उद्रेक द्वारा संभोग शृंगार की उत्कृष्टव्यंजना भी वृत्यनुप्रास द्वारा होती हैं ।

वर्णवक्रता के बाद पदवक्रता का स्थान है । इस पदवक्रता के दो रूप हैं—पदपूर्वार्धवक्रता तथा पदपरार्धवक्रता । पहले के अंतर्गत पद की मूल नाम-धातु जैसी प्रकृति की काव्योचित चारुता विवेचित होती है और दूसरी के अंतर्गत प्रत्यय की । इस वक्रताविधान में जिस सहृदयता-प्रेरित विदग्धता, विचित्रता या वक्रता का समुन्मेष होता है उसकी कोई इयत्ता नहीं है । इस विधान में शब्द की लक्षणा और व्यंजना जैसी क्षमताओं का विवेचन समाविष्ट है । सौंदर्य अभिधा में नहीं होता, सो नहीं, यह सब कवि की क्षमता पर निर्भर है । बल्कि सूर आनुपातिक रूप में तो अभिधा का ही सहारा अधिक लेते हैं । लीलावर्णन और सारावली में यही है :

भहरात झहरात दवानल आयौ ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि, फटत लट-लटकि द्रुम दुम नवायौ ।[2]

यहाँ अभिधा के ही बल पर पूरा चित्र उभारा गया है । रूप-सौंदर्य के तमाम उदाहरण अभिधा के हैं । पर लक्षणा और व्यंजना पर पदवक्रता विधानों की भी छटा दर्शनीय है । पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता, उपचारवक्रता, संवृतिवक्रता,

---

१. सूरसागर, १७६६ २. सूरसागर, १४१४

लिंगवैचित्र्यवक्रता आदि के रूप में इनकी वाग्धारा मोड़ लेती चलती है। पयार्यवाची शब्द अपनी अभिधेयार्थकता में अभिन्न होते हुए भी अतिरिक्त अर्थ-झंकृतियों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न पड़ जाते हैं। सूर की प्रतिभा इन झंकृतियों का साक्षात्कार करने में समर्थ थी, यही कारण है कि अपने आराध्य के विभिन्न पर्यायवाचियों में से प्रासंगिक महत्ता किस पर्याय की है—यह समझकर प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए कृष्ण के पर्यायवाची शब्द हैं—कृष्ण, कान्ह, हरि, गोपाल, माधव, मोहन आदि, पर प्रसंग विशेष में पर्याय विशेष का ही प्रयोग है। कारण, वही उसकी काव्योचित चारुता है। वात्सल्य के प्रसंग में जब वे और शब्दों के पर्यायों को छोड़कर 'कान्ह' का ही प्रयोग करते हैं, तब उसमें से शैशव, सौकुमार्य, लाड़लेपन तथा सहजता की अर्थझंकृतियाँ सुनाई पड़ने लगती हैं और प्रसंग में चारुता उभर आती है :

कान्ह लै जसुमति कोरा तैं रुचिकर कंठ लगाए।

जहाँ शृंगारोचित प्रसंग है, वहाँ 'कान्ह' के बदले 'नवल किशोर', 'रतिनागर' और 'रसिक सिरोमनि' जैसे पर्याय मिलेंगे :

नवलकसोर किसोरी दोऊ आवत हैं रति रंग अनुरागे।

संज्ञा शब्दों के अनंतर विशेषण और सर्वनाम शब्द भी आते हैं। विशेषणों में विशेषणवक्रता, सर्वनाम में संवृतिवक्रता तथा क्रियापदों में उपचारवक्रता देखने को मिलती है। उपचारवक्रता सादृश्यमूलक भेदप्रतीति के स्थगन में लक्षित होती है। यह क्रिया में भी हो सकती है—अन्यत्र भी। विशेषण नाम की विशेषता तो उभारते ही हैं, क्रिया की विशेषता भी उभारते हैं, अतः विशेषण के उभयविध प्रयोगों में वक्रता उभरती है। सूर ने भावावेश में ऐसे विशेषण भी प्रयुक्त किए हैं। चित्र में मर्मी चित्रकार के द्वारा कहाँ और किस तरह की बिंदु रेखा डाल देने से अभीप्सित प्रभाव उभारा जाता है ठीक उसी प्रकार काव्य में भी विशेष से अभीष्ट प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः विशेषण के प्रयोग से कवि का कवित्व पहचाना जाता है। जैसे, **'अँखियाँ हरिदरसन की प्यासी'**, **'हरिदरसन की भूखी'**, **'निसदिन रहत उदासी'** आदि। इन प्रयोगों में विशेषणों का प्रयोग विधेय रूप में किया गया है। भूखे और प्यासे तथा उदासे चेतन की सारी छाया आँखों में उभर आती है और ये छायाएँ हृदय की वृत्तियों को उद्रिक्त करती हैं और इस तरह सारे अभीष्ट प्रभाव उभार दिए जाते हैं। विशेषणों के इन्हीं काव्योचित प्रयोगों को विशेषण-विपर्यय कहा जाता है। विशेषणवक्रता और 'परिकर' का काम तो एक ही है, पर पहला विदग्ध प्रयोग है और दूसरा चामत्कारिक। संवृतिवक्रता में सर्वनामों की काव्यचरुता दृष्टव्य होती है। अभिव्यक्ति के और ढंग जब असमर्थ हो जाते हैं तब सर्वनाम बड़ी सहायता करते हैं—जैसे, वे आँखें आज भी याद आ रहीं हैं। सूर ने भी कहा है :

यह मुरली सखि ऐसी है ।[१]

पदपूर्वार्धवक्रता की भाँति पदपरार्धवक्रता भी सूर की भावुकता उपस्थापित करती है । लिंगवैचित्र्यवक्रता तथा कालवैचित्र्य वक्रता आदि का इसमें समावेश है :

तृन की आग बरत ही बुझि गई हँम हँस कहत गोपाल ।

जब वर्ण्यगत पौरुष व्यक्त करना था, तब सूरदास ने दावानल शब्द का प्रयोग किया था, पर जब उसी आग की निरीहता और दुर्बलता व्यक्त करनी हुई तब स्त्रीलिंग में 'आगि' शब्द का प्रयोग किया गया ।

वक्रताओं के इन कतिपय प्रयोगों के माध्यम से तो शब्दशक्तियों—लक्षणा और व्यंजना—का सौंदर्य निरूपित किया ही गया । स्वतंत्र रूप से भ्रमरगीत तथा अन्य प्रसंगों में भी व्यंजना के वैदग्ध्य-व्यंजक प्रयोग मिलेंगे । वहाँ भावप्रेरित उक्तियों में वस्तु, अलंकार तथा भावव्यंजना के शतशः सहस्रशः प्रयोग भरे पड़े हैं ।

शब्द की शक्ति शब्द-प्रयोक्ता ही पहचान पाता है और पहचान कर प्रयोग करता है । विदग्धकवि में जहाँ एक ओर यह प्रत्यभिज्ञानशक्ति विदग्ध प्रयोगों द्वारा काव्यचारुता उत्पन्न करती है वहीं दूसरी ओर उसकी कल्पनाशक्ति भी प्रयोगों के माध्यम से रमणीयता की पंखुड़ियाँ अनावृत करती हैं । जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञान शक्ति अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना के माध्यम से अनेकधा कविगत वैदग्ध्य का प्रयोगगत वक्रता के माध्यम से स्वानुभूत सौंदर्य का प्रकाशन करती है उसी प्रकार कवि की कल्पनाशक्ति हार्दिक सौंदर्य तथा बौद्धिक चमत्कार की व्यंजना भी विभिन्न रूपों में करती है ।

कुंतक ने कहा है कि जब यही कल्पना वाक्यवक्रता के माध्यम से साकार होती है तब अर्थालंकारों की सृष्टि होती है । इस वाक्यवक्रता को वे वाच्यवक्रता या वस्तुवक्रता भी कहते हैं । उन्होंने बताया कि काव्योचित वस्तु का सौंदर्य कभी सहज होता है और कभी आहार्य । आहार्य शोभा मात्र अलंकार योजना से होती है इसे अभिव्यंजना का कौशल कहा जा सकता है । कवि-कल्पना कभी तो वस्तु स्वभाव में निहित सौंदर्य को उभार कर ऊपर ला देती है और कभी-कभी आलंकारिक उपादानों से आरोपित कर देती है । वर्ण्य या तो **भाव** हो सकता है या वस्तु और व्यक्ति का **स्वभाव** । स्वभाव यदि सहज सुंदर है तो कल्पना केवल उसे उभार भर देती है और यदि वैसा नहीं है तो कल्पना आनीत आलंकारिक उपकरणों से उसे सजा दिया जाता है । बहरहाल, वर्ण्य से अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने की दिशा में कल्पना यही सब करती है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से कल्पना सामर्थ्य का पर्याय ही है । कुल मिलाकर यह कवि की समर्शता या सामर्थ्य शक्ति ही है, जो काव्य सृष्टि खड़ी करती है । अतः जहाँ तक वाक्यवक्रता के अंतर्गत सहज वस्तुवक्रता का संबंध है—उसके

---

१. सूरसागर, १८७७

उदाहरणों से वात्सल्य तथा दांपत्य के अगणित उदाहरण भरे पड़े हैं। मैं यहाँ केवल आहार्य वस्तुवक्रता के संबंध में कुछ बातें करना चाहता हूँ। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है। सूर की अलंकार-योजना सौंदर्याधान में अधिकांश साधक है, बाधक कम ही स्थानों पर है। कूट पदों में अलंकारों का सायास प्रयोग है।

सूर का विषय ही ऐसा है कि उन्हें सादृश्यमूलक अलंकार अधिक अनुकूल पड़े हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में भी उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का विधान सर्वाधिक है। इन सभी स्थानों की अप्रस्तुत योजना सादृश्य पर तो आधृत है ही, कहीं-कहीं विरोध पर भी समाधृत है। यह अलंकरण सामग्री सीमित है, अतः आवृत्त भी। इनके प्रयोग में वैविध्य अवश्य है—यत्र-तत्र अप्रस्तुतों की अंतरात्मा में ही परिवर्तन कर दिया गया है। सूर की अभिव्यक्तियों में सांगरूपक का प्रयोग खूब मिलता है और ये प्रयोग विनय, रूपवर्णन, नखशिख, दानलीला और भ्रमरगीत में प्रचुर रूप से उपलब्ध हैं। विनय के प्रसंग के रूपक परंपरागत हैं पर रूपवर्णन के रूपकों में कल्पना की छवि मुखर है। सुंदरतासागर, शोभासिंधु तथा कामतड़ाग एक ही सांगरूपक के भिन्न-भिन्न रूप हैं। संयोग श्रृंगार में रतिरन रूपक और वियोग श्रृंगार में विरहवन रूपक भी उल्लेख्य है। मानिनी राधा का मानसर रूपक भी इसी धारा की एक तरंग है। सादृश्यमूलक अलंकारों में सर्वाधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का है। रूपक में तुलसी, स्वरूपोत्प्रेक्षा में सूर तथा हेतूत्प्रेक्षा में जायसी उल्लेख्य हैं। इनकी उत्प्रेक्षाएँ स्वतंत्र तो हैं ही, उपमा, प्रतीप, व्यतिरेक तथा रूपक के अंग रूप में भी प्रयुक्त हैं। इनकी कल्पनाशक्ति का चमत्कार इन उत्प्रेक्षाओं में है। इन प्रयोगों में जहाँ परंपरा से मुक्ति है वहाँ नवीनता स्पष्ट है। एक उदाहरण लें :

जा चरनारबिंद के रस कौ सुर मुनि करत विवाद।
सौ रस है मोहूँ को दुरलभ, ताते लेत सवाद।

यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है और यह कल्पना नई है। शिशुकृष्ण अपना ही चरण क्यों चूस रहे हैं—इसका कारण निर्देश उत्तम है।

सूर की कल्पना का जटिलतम और सायास रूप उनके दृष्टिकूटों में मिलता है। इसी दृष्टिकूट शैली में उन्होंने नायिका भेद, अलंकार तथा रस तक के विषय समाविष्ट किए हैं। यहाँ कल्पना का साधारण नहीं, असाधारण रूप है। वैचित्र्य प्रदर्शन ही यहाँ लक्ष्य है। शब्दार्थ का इंद्रजाल देखना हो तो दृष्टिकूट देखें।

वाक्यवक्रता के अनंतर प्रकरणवक्रता आती है। प्रकरणों की ही जहाँ परंपरा से हटकर अन्यथा अथवा सर्वथा नवीन उद्भावना हो, वहाँ प्रकरणवक्रता होती

है। वैसे प्रकरणवक्रता प्रबंधवक्रता का अंग है, पर सूर का 'सागर' प्रबंध रूप में संकल्पित नहीं है, यत्र-तत्र कृशधारा के प्रवाहवश कहीं-कहीं उसका आभास हो जाय, यह बात दूसरी है। तथापि भ्रमरगीत और बाललीला के प्रसंगों में इसका पूरा प्रकरण ही उद्‌भावित है, अत: वहाँ प्रकरणवक्रता की बात कही जा सकती है। प्रबन्ध वक्रता संभव ही नहीं है।

इस प्रकार यद्यपि मैंने इस पूरे निबन्ध में कुंतक की वक्रता विधाओं को आधार बनाया है और उसी दृष्टि का कलाविवेचन में संचार किया है तथापि यह ध्यान रखने की बात है कि सूर की वक्रोक्ति-योजना कुंतक के ढाँचे पर नहीं, अपने ढाँचे पर है। कुंतक निरूपित वक्रताओं में से वर्णवक्रता, वाक्यवक्रता तथा प्रकरण वक्रता तो ज्यों की त्यों ढूँढ़ी जा सकती है, पर पदवक्रता की विद्याओं का उसी 'स्पिरिट' में प्रयोग कम है। कारण, ये प्रयोग लक्षणा और व्यंजना पर समाधृत हैं—जबकि सूर का अधिकांश काव्य-सौंदर्य अभिधामुखी है। कारण, वे सहज और सरल हृदय के कवि हैं। भावावेश में तो वाणी स्वयं 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकिणी' हो जाती है, अतः अभिधा भी व्यावहारिक स्तर की अभिधा से कुछ और अर्थात् 'वक्र' ही मानी जा सकती है। पर ये सब बातें वहाँ के लिए हैं जहाँ उनकी प्रतिभा अपने आराध्य में तल्लीन हुई है—जहाँ चालू विवरणात्मक कथा है, या दार्शनिक निरूपण है अथवा सांप्रदायिक विवरण है—वहाँ नहीं। निष्कर्ष यह कि प्रतिभा को लीन करने वाली आराध्य की स्थिति जहाँ है वहाँ वाणी की वक्रता की स्थापना यदि कुंतक सम्मत अर्थ में भी की जाय तो कोई विशेष क्षति नहीं है।

☐ डा० परेश

लालित्यशास्त्र की दृष्टि में सूर-वर्णित प्रेम

डा० नगेंद्र ने अपने एक पुराने निबंध 'साहित्य की प्रेरणा' में यह विचार प्रकट किया है कि काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है…हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें काम-वृत्तियों का प्राधान्य है, ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।[१]

हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिस रागतत्त्व को डा० नगेंद्र ने सौंदर्य-चेतना का योजक तत्त्व बताया है[२], वह काम और प्रेम आदि बहु प्रचलित शब्दों की तुलना में अधिक गंभीर और व्यापक अर्थों का द्योतक है। काम या सेक्स को ही सर्व-क्रियाकलापों का आधार मान लेने से राधा-माधव के जो मिलन आध्यात्मिक रंग लिए हुए है, वे अश्लील साहित्य में परिगणित किए जाएँगे, इस प्रसंग में द्विवेदी जी का यह कथन विचारणीय है कि किसी विशिष्ट कृति को उसके कृतिकार की आस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में ही रखकर परखना चाहिए। यही बात टी० एस० इलियट ने अपनी एक वार्ता में स्टीफेन स्पेंडर से १९२७ में कही थी।[३]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुष्टि काव्य की प्रतिनिधि रचना 'सूरसागर' में वर्णित प्रेम के दो नाभिकेंद्र माने हैं—राधा और यशोदा। प्रेम के सिद्धांतों को समझने की बजाय इन दोनों के प्रेम को समझ लेना ही प्रेम के सिद्धांतों के अनुशीलन के बराबर होगा।[४]

राधिका के चरित्र को उन्होंने एक अन्य स्थान पर प्रेम का अथ और इति

१. विचार और अनुभूति : डा० नगेंद्र, पृ० १०
२. 'रससिद्धांत' : डा० नगेंद्र, पृ० ३
३. एनकाउण्टर : रिमेम्बरिंग टी० एस० इलियट : स्टीफेन स्पेंडर : एप्रिल १९६५
४. सूरसाहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२४

माना है।[१] समस्या यह है कि राधिका ने ही नहीं—समस्त व्रज ने व्रजराज से प्रेम किया था, अतः हम किसके प्रेम को प्रतिनिधि मान कर उसकी व्याख्या करें ? क्या गोपियों का प्रेम राधा से कम था ? या यशोदा से कम नंद कृष्ण को प्यार करते थे ? क्या बलराम ही उस प्रेम के हकदार थे और छोटे-छोटे बालगोपाल कृष्ण से जो प्रेम करते थे—वह संसार के किसी भी प्रेम की तुलना में कम था ?

जो जहाँ था वहाँ वह प्रेम का आदर्श है। यशोदा का वात्सल्य, राधा का दांपत्य और गोपालों का सख्य—यह तीनों ही कोटि का प्रेम सूरसागर में अपने-अपने स्थान पर सर्वश्रेष्ठ निष्पत्ति में उतरा है।

फिर कहाँ से इस प्रेम के सागर की लहरों को परखा जाय ? काव्यशास्त्र शृंगार-रस के दो भाग करता है—संयोग और विप्रलंभ। शृंगार प्रेम का एक अंश हो सकता है, उस समस्त राग को नहीं बता सकता, जो दो हृदयों में परस्पर होता है। फिर भी शृंगार की तरह ही प्रेम की भी ये दो अवस्थाएँ हो सकती हैं—संयोग और वियोग। कहते हैं, वियोग में प्रेम और गहरा एवं उदात्त होकर प्रकट होता है। यही कारण है कि 'उत्तररामचरित' का प्रभाव 'गीतगोविंद' के प्रभाव से अधिक गहरा होकर स्पर्श करता है। सुखांत नाटकों की अपेक्षा त्रासदियाँ मन के पर्दे पर अधिक दिनों तक खिंची रहती हैं। साधारण रूप में संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार को साहित्यिकों ने अधिक उच्च स्थान दिया है, क्योंकि जहाँ संयोग में प्रिय सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्त्विक वृत्तियों को तिरोहित किए रखता है, वहाँ वियोग उन्हें उद्बुद्ध करके भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है। उनके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार में उसे अपना प्रिय व्यक्ति ही दिखाई पड़ता है। इसी कारण सहृदय कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक पसंद किया है।[२] इस संबंध में द्विवेदी जी का कथन भी द्रष्टव्य है। 'विरह में सौभाग्य पनपता है, रूप निखरता है, मन निर्मल होता है, बुद्धि एकता का संधान पाती है।'[३]

राधा, यशोदा और ब्रजवासियों का विरह मूलतः सूरदास का ही तो विरह है। ये तो सब चरित्र सृष्टियाँ हैं। उनकी विरह-वेदना को वहन करने वाला तो कलाकार ही है। इसी वेदना ने विरह के रंग को इतना गहरा किया है। सूरदास के सभी व्याख्याताओं ने एक स्वर से 'भ्रमरगीत' को प्रेम का आगार कहा है। कृष्ण के आने के समाचार से जो प्रतिक्रिया व्रज में होती है—हमारी दृष्टि से वह प्रेम के समस्त प्रकारों को उद्भिन्न करती है।

१. सूरसाहित्य, पृ० १२१
२. सूर और उनका साहित्य : भूमिका : डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ११
३. कालिदास की लालित्य-योजना : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे सुधी और स्पष्टवादी समीक्षक भी 'भ्रमरगीत' की लालित्यचेतना के सम्मुख नम्र हो गए। राधाकृष्ण के प्रेम के संयोगपक्ष के छिछलेपन को उनका संस्कारी मन सहन नहीं कर सका था। किंतु 'भ्रमरगीत' की विरह-चेतना ने उन्हें प्रभावित किया था। उनके हिंदी साहित्य के इतिहास में उनके ये दोनों प्रकार के विचार उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं, 'राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो धारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियाँ आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परंपरागत हैं, उनमें नूतन उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है। 'भ्रमरगीत' के अंतर्गत अलबत्ता सूर ने अभ्यंतर पक्ष का भी विस्तृत उद्घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।[1]

भक्ति का शुद्ध रूप वियोगावस्था में ही निखरता है। इस विरह की पराकोटि इस भाव में देखी जा सकती है कि राधा प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करती हुई कृष्ण रूप हो गई हैं और स्वयं को कृष्ण समझकर 'राधा-राधा' रटने लगी हैं और जब होश में आती हैं तो कृष्ण-कृष्ण रटने लगती हैं। सूर ने एक अद्भुत प्रेम का उदाहरण काव्य के इतिहास में प्रस्तुत किया है। राधा दोनों अवस्थाओं में विरह का ताप सहती हैं। उनकी दशा लकड़ी के भीतर के कीड़े की सी है, जिसके दोनों छोरों पर आग लगी हुई है।[2]

राधाकृष्ण के ये विरह भरे चित्र सूरदास की एकांत भक्ति-साधना के परिणाम हैं। पुष्टिसंप्रदाय में भक्त भी इसी विरह-वेदना में जलता रहता है। स्वाभाविक है कि जिस व्यक्ति ने संपूर्ण जीवन एक आराध्य के मिलने की बेचैनी में बिताया है, वही ऐसे चरित्रों की सृष्टि कर सकता था।

कृष्ण के तीन रूपों की चर्चा शुक्ल जी ने की है और कहा है कि शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को रखा है, जो प्रेम को आकर्षित करता है।[3]

इस एक वाक्य में सूरसागर को लालित्यशास्त्र के निकष पर उतारने का संकेत छिपा है। कृष्ण के लोकपालक और लोकानुरंजक रूप भी हैं किंतु सूरदास को केवल माधुर्य-भाव से अपने भगवान् की आराधना करनी थी, अतः उन्होंने स्वयं

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १६७
२. सूरसागर, पृ० ५६४ (वेंकटेश्वर प्रेस)
३. सूरदास : आचार्य शुक्ल, पृ० १७४

को आराध्य के सौंदर्य तक ही सीमित रखा है, यह सौंदर्य ही 'प्रेम' का 'आकर्षण तत्त्व' है।

इस संबंध में एक और स्पष्ट वक्तव्य उनके इतिहास में इस प्रकार आया है कि 'कृष्णभक्ति-परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को लेकर ही प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं है। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं, वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है ···ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें नहीं था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवाह वे नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत प्रेम की 'पुष्टि' के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषयवासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया।[१]

सूरदास मूलतः भक्त थे और भक्ति का मूलाधार है प्रेम। प्रेमोदय श्रद्धा, साधुसंग, भजन-क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव के क्रम से होता है और पश्चात् भक्त के स्वभाव के अनुसार शांति, प्रीति, प्रेम, अनुकंपा या मधुरा रति उत्पन्न होती है—ऐसा 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के लेखक ने माना है।[२]

प्रेम स्वयं में एक आकर्षक तत्त्व है। इसका अधिष्ठान है यौवन और रूप अर्थात् संयोग शृंगार इसका एक पक्ष है और वियोग दूसरा। शृंगार के अंतर्गत भक्त की समस्त चेष्टाएँ नहीं आ सकतीं, जबकि आवश्यक रूप मे हमें यह स्मरण रखना पड़ता है कि घोर से घोर शृंगार-चित्रण के पीछे एक अनासक्त भक्त बैठा हुआ है। वह केवल राधामाधव की प्रीति के गुण गा रहा है—स्वयं विरह-कातर भक्त है। यही कारण है कि 'भ्रमरगीत' संपूर्ण सूरसागर में एक ऐसा जलखंड है, जहाँ प्रेम की गहराई और ज्यादा है। विरह में जलते हुए ब्रजवासियों को कृष्ण के आने का समाचार मिलता है और पूरे ब्रज में अपने-अपने प्रेम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। स्वयं कृष्ण के अंतर में भी ब्रजवासियों के लिए उतना ही प्रेम था। उद्धव को भेजते समय ये क्रमशः प्रेम के अधिकारी व्यक्तियों के नाम अपने प्रणाम कहते हैं :

पहिलैं प्रणाम नँदराइ सौं।
ता पाछैं मेरौ पालागन, कहियौ जसुमति माइ सौं।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० १५६

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ६६

३. सूरसागर, ४०६७

पद में औचित्य का ध्यान रखते हुए कवि ने सबका स्मरण कराया है। हम यहाँ प्रगाढ़ प्रेम के भीतर भी **औचित्य का सौंदर्य** पाते हैं। पद में **रागजन्य सौंदर्य** तो है परंतु 'पहिलैं प्रणाम नँदराइ सौं' पढ़ते ही औचित्य का तत्त्व प्रभावित करता है। फिर यशोदा को प्रणाम कहा गया है। एक बार बरसाने भी हो आना और वहाँ पर सबकी सुधि लेना—इसमें राधा की ओर कितना प्रच्छन्न और कितना प्रगाढ़ राग-संकेत है। पश्चात् श्रीदामादि समस्त ग्वालजनों को स्मरण किया गया है। व्यवहार की सौजन्यता इतनी है कि भगवान् सबके नाम सिर झुकाकर प्रणाम कह रहे हैं।

इससे पूर्व भगवान् उद्धव को ब्रज के नाम एक पत्र लिखकर देते हैं[१] और पत्र के साथ उद्धव को मौखिक संदेश भी देते हैं कि यशुमति मैया से कहना—हम तुमको रातदिन भूल नहीं पाते हैं। हम देवकी और वसुदेव के पुत्र नहीं, तुम्हारे ही हैं। लोग चाहे कुछ भी कहें—हम तो बलराम और कन्हाई ही कहलाएँगे और जल्दी ही यहाँ का काम निपटा कर तुमसे आकर मिलेंगे[२] और कहना कि यहाँ पर बहुत सुख है फिर भी रहा नहीं जाता—जब तक ब्रजवासियों से मिलना नहीं होगा तब तक हृदय ठंडा नहीं होगा—नंद बाबा से कहना, मेरी छोटी धूमरी गाय दुःखी न होने पाए।[३]

जसुमति मैया से कहना वे अच्छी तरह से रहें—हम दोनों भैया चार-पाँच दिन में ही आने वाले हैं। कहना, हमारे खिलौने और बाँसुरी सँभाल कर रखें—कहीं राधिका आकर चुराकर न ले जाए। जिस दिन से बिछुड़ना हुआ है कोई भी हमें यहाँ कन्हैया नहीं कहता है, न ही सुबह उठाकर कोई कलेऊ देता है, न शाम को गैया चूँघने को मिलती है। नंदबाबा से कहना कि वे बड़े निठुर निकले, हमें मधुपुरी (मथुरा) पहुँचा कर फिर कभी मुड़कर भी बुलाने नहीं आए।[४]

उद्धव को गोकुल जाते सुनकर देवकी और वसुदेव ने भी पत्र लिखे और बारंबार कृतज्ञता प्रकट की कि आप लोगों ने हमारे पुत्र की पालना की :

> **बाल-सुख सब तुमहिं लूट्यौ, मोहिं मिले कुमार।**
> **सूर यह उपकार तुम तैं, कहत बारंबार।**[५]

कुब्जा ने भी पाती लिखी और उद्धव को मौखिक संदेश भी कहा कि तुम जाकर उनको समझाना कि अपने माँ-बाप के प्रेम के कारण माधव मधुपुरी आए हैं। वे राधिका के प्रियतम कैसे हुए और यशुमति के पुत्र तो वे हैं भी नहीं। अपने हृदय में झाँककर देखो कि तुम लोगों ने उन्हें कैसा दुःख दिया है। ये तो बालक थे और

---

१. सूरसागर, ४०५४ २. सूरसागर, ४०५५ ३. सूरसागर, ४०५६
४. सूरसागर, ४०५७ ५. सूरसागर, ४०६०

तुम सब मत्त ग्वालिनें भेंट-भेंट कर उनसे सुख लूटती रहीं। ज़रा से दही के कारण यशोदा डाँटती रहती थी। तुम सबने मिलकर इनको रस्सी से बँधवाया था और जो कुछ वृषभान की सुता ने किया है वह क्या किसी से छिपा है—अब अगर ब्रजमोहन वह सब जंजाल छोड़कर मधुपुरी आ गए हैं तो इसमें दुःख करने की कौन सी बात है :

सूरदास-प्रभु सुनि-सुनि बातैं, रहे भूमि सिर नाए।
इत कुबिजा उत प्रेम गोपकिनि, कहत न कछु बनि आए।[१]

अद्भुत है कवि द्वारा व्यंग्य का आश्रय लेकर समस्त प्रेम-व्यापार को उजागर करने का प्रयत्न। अभिधा में अर्थ देखा जाय तो एकदम उल्टा निकलता है। लेकिन है वस्तुतः प्रेममय, और भगवान् सारे वार्तालाप के मध्य सिर नवाए चुपचाप खड़े हैं—कार्यव्यापार की इतनी स्वाभाविकता शायद ही किसी दूसरे कवि में मिले। यहाँ इस कवि के लालित्य-बोध का रहस्य अतिशयोक्ति नहीं, विवशता की यथार्थ अभिधा है, जो शब्द, स्थान, स्थितियाँ और शताब्दियाँ बदलकर मरलो पांटी और सार्त्र के अस्तित्ववादी सौंदर्यबोध (existentialist aesthetics) को जन्म देती है।

इस चेतना के संबंध में अस्तित्ववादी लालित्य पंडित यूजीन एफ० केलिन ने यह घोषित किया है कि एस्थेटिक्स स्वयं में एक स्वतंत्र व्यवस्था है, जो प्राकृतिक और कलात्मक सौंदर्य की मानवीय अनुभूतियों को समझने का एक विधान विकसित करती है।[२]

हमारी धारणा यह है कि जिसे हम 'एस्थेटिक सेंस' कहते हैं, वह कभी भी शास्त्रीय नियमों के अभ्यास से नहीं बनता। एब्सर्ड थिएटर के प्रसिद्ध नाटककार 'यूजीन आयोनेस्को' की स्थापना को इस संदर्भ में हमने सर्वांशतः स्वीकार किया है कि 'प्रत्येक कलाकृति में स्वयं के रचनागत प्रतिमान होते हैं, इन्हीं प्रतिमानों के कारण वह स्थापित समीक्षा-प्रतिमानों से भिन्न निकषों को जन्म देती है।[३] सौंदर्यानुभूति नित नवीन है और प्रत्येक कलाकृति अपने आस्वादन के लिए स्वयं के आंतरिक प्रतिमान प्रस्तुत करती है।

काव्य-कृतियों का समस्त सौंदर्य मापने में काव्यशास्त्र के निकष पर्याप्त नहीं पड़ते, यही वह बिंदु है, जहाँ से लालित्य-शास्त्र (Aesthetics) स्वयं को काव्य-शास्त्र से स्वतंत्र कर लेता है। 'माडर्न कान्सेप्ट आव एस्थेटिक्स' में एडवर्ड बुलो[४] ने और

---

१. सूरसागर, ४०६५
२. An Existentialist Aesthetics : Eugene F. Kaelni, p. 11
३. Writers and Their Problems : Ionesko : Encounter, April,' 65
४. दे० Aesthetics : Edward Bullough

'एस्थेटिक स्टडीज़' में कैथरीन गिल्बर्ट[१] ने इसी तथ्य की स्थापना की थी। 'फीलिंग एण्ड फार्म' की प्रख्यात सौंदर्यविज्ञ श्रीमती सूजन के० लैंगर[२] एवं नवीनतम लालित्य विदुषी 'सूजन सोन्टैग[३] ने भी इन्हीं मतों के समानांतर लालित्य संबंधी अपनी धारणाओं का प्रकाशन किया है।

टी० एस० इलियट के सम्मुख भी एक बार यह प्रश्न रखा गया था कि 'पीढ़ी-दर-पीढ़ी' बदलते हुए सौंदर्य-बोध से अप्रभावित रहकर किस प्रकार एक कला-कृति सुंदर बनी रह सकती है? वह कौनसी चेतना है, जिसके आधार पर हमेशा के लिए 'हैमलेट' और 'एक्रोपोलिस' की सुंदरता स्थिर रह सकेगी?[४]

जिज्ञासा के लिए यही प्रश्न इन पंक्तियों के लेखक ने इस देश के लालित्य-मनीषी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके सम्मुख उसी संध्याकाल रखा और आश्चर्य-जनक रूप से उनका उत्तर वही था, जो १९२७ में इलियट ने स्टीफेन स्पेंडर को लंदन के उस काफे में दिया था कि किसी भी कृति को हमें उसके कृतिकार की आस्थाओं के संदर्भ में देखना होगा—अपनी नहीं, और तभी हम उसके केंद्रीय लालित्य तक पहुँच सकेंगे।

सूर-वर्णित प्रेम को समझने के लिए हमें यही दृष्टि अपनानी होगी। कृष्ण और राधा क्यों सुंदर हैं, इसके लिए वस्त्राभरण और अंगों की गठन भर देखना पर्याप्त नहीं है—इन दोनों के संबंध को वैष्णव कवियों ने कितना डूबकर अपना बनाया है और अभिलाष भाव की कितनी गहन रचना की है—इस प्रश्न के संधान में ही प्रेम का मूल उत्स छिपा है।

सूरसागर का अध्ययन अब तक साधारणतः दो प्रकार से हुआ है—(१) भक्ति-साहित्य की शब्दावली में उसका विश्लेषण और शुद्धाद्वैत-दर्शन की दृष्टि से उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन।

(२) अलंकारशास्त्रीय शब्दावली द्वारा उसमें अभिव्यक्त भावों, रसों और अलंकारों का विवेचन। कुछ ऐसे प्रयत्न भी हुए हैं, जो इस साहित्य में प्रतिफलित सामाजिक या पारिवारिक या सांस्कृतिक अवस्थाओं के आकलन से संबद्ध हैं; या भाषा, बिंबविधान या उपमान आदि की चर्चा करते हैं। लालित्यशास्त्र की दृष्टि से इस काव्य को देखने का काम न के बराबर हुआ है।

---

१. दे० Aesthetic Studies : Katherine Gilbert
२. दे० Feeling and Form : Susan K. Langer
३. दे० Against Interpretation : Susan Sontag
४. Remembring T. S. Eliot : Stephen Spender : Encounter : September, 64.

कलाकृति को जब लालित्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझना होता है तो धार्मिक, सामाजिक, नैतिक या राजनीतिक दृष्टिकोण फिर इस संदर्भ में हेय पड़ जाते हैं। ये दृष्टिकोण कभी भी बदल सकते हैं। एज़रा पाउण्ड और ह्यूम के प्रभाव में आकर इलियट ने कहा था कि कलाकृति इन दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति नहीं है, वह स्वयं में एक दृष्टि है।[१]

विल्वर एस० स्काट की यह मान्यता है कि 'इसमें प्रश्न करने की कोई गुंजाइश नहीं कि मूल्यांकन का सर्वाधिक प्रभावी दृष्टिकोण आज फोर्मेलिस्टिक या एस्थेटिक है।'[२] इसमें कृति का नहीं, उसके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। द्विवेदी जी ने कहा है कि 'वास्तविक सौंदर्य अभिलाष भाव में है।'[३] इसी अभिलाष, अनुराग, राग या प्रेम का प्रकर्ष हमें 'भ्रमरगीत' में देखने को मिलता है। उद्धव के रथ को दूर से देखकर गोपियाँ समझती हैं कि स्वयं श्याम ही आगए हैं :

है कोउ वैसी ही अनुहारि।
मधुबन तन तैं आवत सखि री, देखौ नैन निहारि।[४]

वैसा ही मुकुट है, मनोहर कुंडल हैं और पीतांबर है--व्रज की ओर हाथ करके वैसे ही सारथी से कोई बात कह रहे हैं। हरि और हमारे बीच कितना अंतर आ गया है—मानो चार युग बीत गए हैं। सूरदास कहते हैं कि रथ को आता देखकर गोपियाँ विना पानी की मछली की तरह अकुलाने लगीं।[५]

सब से पहले यह संदेश राधा को दिया गया और पश्चात् तो घर-घर में यह शब्द गूँज गया कि श्याम आ गए हैं। यशोदा दोड़ कर घर से निकली। नंद हरषते हुए आगे-आगे चले—पीछे हुलसते हुए ग्वाल। समुद्र की तरंग की तरह नर-नारियों के झुंड श्याम से भेंटने को चले। अपने स्थान पर बँधी हुई गाएँ और बछड़े भी उमगने लगे। वृद्ध, तरुण और बाल सभी प्रसन्नता के ज्वार में उमगते हुए चले। कोई कहता है, रथ पर बलराम नहीं हैं, श्याम अकेले ही हैं। कोई कहता है, दोनों हैं और इस प्रकार की अनेक अटकलें लगाई जा रही हैं।[६]

कवि बार-बार भगवान् के श्रीसौंदर्य का वर्णन करने के पश्चात् कहता है कि किसी बिरले को ही इनका दर्शन उपलब्ध होता है और जो कोई कानों से भी सुनता है, वह भी धन्य है।

---

१. Five Approaches to Literary Criticism : Wilber S. Scott : p. 179
२. Ibid : p. : 179 : Wilber S. Scott
३. कालिदास की लालित्य-योजना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११३
४. सूरसागर, ४०७७   ५. सूरसागर, ४०७७   ६. सूरसागर, ४०८०

इसमें लालित्यशास्त्रीय तथ्य यह है कि रूपश्री का ऐसा संप्रेषणीय कौशल कवि ने किया है कि तत्काल उस शोभासमुद्र का बिंब पंचेन्द्रियों के माध्यम से सीधा प्राण-चैतन्य को जाकर छूता है। यह केवल भक्ति-गाथा ही नहीं, यह अलौकिकता इस लोक में रहने वाले कवि की अपनी अर्जित कविता की अलौकिकता है।

ज्यों-ज्यों रथ निकट आ रहा है—हलधर को न देखकर सभी सोचते हैं कि होते तो दोनों भाई साथ ही होते ? कितना स्वाभाविक और क्रमिक वर्णन है। इतने ही में उद्धव जी आ गए और :

..........................रहीं ठगी सब बाम।
सूरदास प्रभु ह्याँ तक आवै, बँधे कुबिजा रस-दाम।[1]

जब पता लगा कि ये श्याम नहीं हैं तो व्रज की बालाएँ मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ीं और जो जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़ी रह गई :

बार-बार रथ ओर निहारहिं, स्याम बिना अकुलाहीं।
कहा आइ करिहैं ब्रज मोहन, मिली कूबरी नारी।[2]

फिर सब नारियाँ वहाँ गई जहाँ यसुमति मूर्छित होकर गिर पड़ी थीं, उन्हें उठा कर उनके अश्रुजल को पोंछा गया, फिर स्थिति बदली कि ये श्याम के सखा हैं और उनका संदेश लेकर आए हैं।[3] फिर तो उद्धव भी उनको सुंदर, सुवंश और सुलज दीखने लगे। सब ने फिर उद्धव का रथ घेर लिया। नंद उन्हें अपने घर ले गए, आदर सहित। कहा कि हम तो अहीर हैं, हम कहाँ उनकी सेवा कर पाए ? कैसा अद्भुत दैन्य है। सूरदास में प्रारंभ में जो दीनता थी—वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व—उसका कैसा भव्य और उदात्त स्वरूप इन प्रेम के स्वरूपों में आया है। कितना उज्ज्वल और सही ढंग से तराश कर कवि की उस दैन्यप्रतिमा ने इन प्रसंगों को रसमय कर दिया है।

उद्धव ने संदेश दिया तो यशोदा पूछने लगी कि सच-सच बताना, श्याम दधि-माखन कहाँ खाते हैं, कौन से सखाओं को साथ लेते हैं, किसकी गैया चराते हैं, सच बताओ कौन-सी गोपी के घर माखन चुराने जाते हैं :

इतौ बूझत माइ जसुमति, परी मुरछित गात।
सूरदास किसोर मिलवहू, मेटि हिय की तात।[4]

पश्चात् व्रज की गोपियों ने आकर संदेश पूछा तो उद्धव जी जिस ज्ञान को देने आए थे, तुरंत उसकी चर्चा छेड़ बैठे :

---

१. सूरसागर, ४०८४
२. सूरसागर, ४०८६
३. सूरसागर, ४०८७-८८
४. सूरसागर, ४०९३

कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि बिषय बिकारि।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप-कुमारि।[1]

पाती की प्रसन्नता में अभी गोपियों का ध्यान उद्धव के उपदेश की ओर नहीं गया है—अभी तो वे बार-ब्रार उसे छातियों से छुवा रही हैं :

निरखति अंक स्याम सुंदर के, बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम जू की पाती।[2]

संदेश तो दूर—आँसुओं से पाती को ही गीला कर दिया है। कैसा कुशल सकेत है कवि का कि हृदय के प्रेम को क्या अक्षर बताएँगे—उसकी परिभाषा तो हृदय ही पहचानता है। लालित्य-रस को पंचेंद्रिय में से कोई नहीं केवल चैतन्य आत्मा ही पहचानती है। पूरे ब्रज में इस पाती को पढ़ने वाला कोई नहीं :

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसैं जरै, बिलोकैं भींजै, दुहूँ भाँति दुख छाती।[3]

आँखों में नीर भरा हुआ है, कागज अत्यंत कोमल है और अंगुलियाँ गर्म। पाती को छुआ जाय तो जल जाती है, देखा जाय तो भीग जाती है, दोनों तरह से दुःख। इस पत्र को कौन पढ़े ! हमारा सारा सुख तो श्याम ले गए और थाती रूप में रख गए हैं दुःख। ब्रज में कोई भी उस पत्र को नहीं पढ़ पाता। श्याम के द्वारा लिखी हुई उस पाती को कोई भी पढ़कर सुना नहीं पाता है :

जो निरखत सो लेत स्वास भरि, लोचन नीर बहावै।
ना जानौं का है इहि महियाँ, ले उर सौं लपटावै।
गूँगे को गुर कियौ सबनि मिलि, अबलनि कौं जु भुलावै।
सूरदास गोकुल के बासी, बिरही क्यौं सचु पावै।[4]

सच है विरही को सुख कहाँ है। यदि यह सुख है तो भी 'गूँगे के गुड़' की तरह इसका स्वाद है। यदि यह दुःख है तो भी किस भाषा में बोलकर इसे बताया जाए ? यह प्रेम का व्यापार है।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस सागर में निमज्जित होने के बाद कहा कि एकमात्र 'भ्रमरगीत' के आधार पर भी सूरदास की समस्त काव्यविशेषताएँ प्रमाणित की जा सकतीं हैं।[5] यह प्रतिपत्ति हमें यह कहने का साहस देती है कि 'भ्रमरगीत' पूरे पुष्टिकाव्य की केंद्रीय रचना है, जो समस्त वैष्णवधर्मी लालित्य को एक गवाक्ष प्रदान करती है। वर्मा जी ने कहा है कि 'भ्रमरगीत' मधुर प्रेम का अथाह समुद्र है, जिसमें

१. सूरसागर, ४१०३
२. सूरसागर, ४१०५
३. सूरसागर, ४१०८
४. सूरसागर, ४१०९
५. सूरदास, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ३३१

लघु लहरें, उत्ताल तरंगें, झंझावात के आलोड़ित विप्लव, धैर्य तोड़ने वाले ज्वार और विह्वल करने वाली बड़वाग्नि है ·····गोपियों के गंभीर प्रेम का परिचय प्राप्त करके उद्धव अपना ज्ञान भूल जाते हैं और निर्गुण का उपदेश छोड़ सगुण के चेरे बन जाते हैं। मथुरा आकर वे स्वयं कृष्ण के सम्मुख व्रज के प्रेम का मर्मस्पर्शी वर्णन करते हैं।[१]

यह रसशास्त्र का भी सत्य है और व्यावहारिक जीवन का भी कि संयोग-श्रृंगार में काम या सेक्स की प्रधानता है क्योंकि वह संयोग दो आत्माओं से अधिक दो शरीरों का है। अतः मनोविज्ञान के यथार्थवादी प्रश्नों के सम्मुख कोई भी आध्यात्मिक व्याख्या साहसपूर्वक नहीं दी जा सकती। लेकिन विरह में जो तड़पन होती है, वह उदात्त कोटि की होती है और विरहावस्था का प्रेम ही वास्तविक प्रेम होता है। सेठ गोविंददास से हुई एक प्रश्नोत्तरी को यहाँ इस कथन की 'पुष्टि' के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।[२]

प्रश्न : जब कामशक्ति से व्यक्ति ऊपर उठता है तब काम की शक्ति किस रूप में परिणत होती है?

उत्तर : प्रेम में प्रेम देता है, काम माँगता है। जिसे पूर्ण प्रेम उपलब्ध हो जाता है वही प्रभु को अनुभव करता है। क्राइस्ट का वचन है कि प्रेम ही प्रभु है।

यह वार्तालाप प्रेमव्यापार में काम की स्थिति को स्पष्ट करता है। विशेष द्रष्टव्य यह है कि राधाकृष्ण का प्रेम कामजनित लौकिक प्रेम नहीं है। इस संबंध में जीव गोस्वामी का कथन यह है कि गोपिकाओं की कृष्ण-विषया रति कृष्ण के प्रीत्यर्थ थी—भौतिक जगत् का काम आत्मप्रीत्यर्थ होता है।[३]

इस बिंदु पर आकर हम यह कहने की स्थिति में हैं कि कम-से-कम सूर-वर्णित प्रेम की पृष्ठभूमि में काम-भावना का प्राधान्य नहीं है और जिस 'रागतत्त्व' को डा० नगेंद्र सौंदर्यचेतना का योजक तत्त्व बताते हैं—महाकवि का 'प्रेम' उससे भी गंभीर और भिन्न अर्थों का द्योतक है। यहीं आकर आचार्य द्विवेदी, इलियट, यूजीन आयोनेस्को, एफ० केलिन, श्रीमती सूजन के० लेंगर, सार्त्र, मिस सोन्टैंग तथा विल्वर एस० स्काट और एडवर्ड बुलो प्रभृति लालित्यशास्त्र के मनीषियों की धारणाएँ हमारे विवेच्य विषय को एक दूसरे कोण से देखने की दृष्टि को सार्थक और संगत सिद्ध कर पाई हैं।

---

१. सूरदास, डा० व्रजेश्वर वर्मा, पृ० ३३०
२. माध्यम, मार्च १९६६, पृ० ५१
३. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना : डा० बच्चनसिंह, पृ० ४३

□ डा० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

सूरसागर में गत्यात्मकता

प्रत्येक काव्य में एक गति होती है। उसके छंदों में एक लय सर्वत्र विद्यमान रहती है परंतु तीव्रगति का परिचय जिस प्रकार सूरसागर में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सूरसागर की चित्रोपमता केवल चौखटे में जड़ी मूक तस्वीरों जैसी नहीं है वह तो जीवन की गतिमयता की सुंदर चित्रमालिका ही बन कर अभिव्यक्त हुई हैं। कहीं-कहीं यह गतिमयता अत्यंत द्रुतलय से अभिव्यक्त होती प्रतीत होती है। सूरसागर के कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि कथा के माध्यम से गत्यात्मकता के चित्र किस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं।

श्रीकृष्ण के जन्म के समय शोभा के सागर का वर्णन करते समय सूर ने उसे व्रज की वीथियों में बहाया है। आनंदित जन-समूह का इससे अधिक सुंदर गतिशील चित्र प्रस्तुत नहीं किया जा सकता :

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।[1]

यशोदा माता बालक कृष्ण को पालने में झुला रही हैं। पालने को धीरे-धीरे हिलाकर लोरी गाती जा रही हैं। कृष्ण कभी पलक मूँद लेते हैं, कभी अधर फड़काने लगते हैं। माता समझती है, मेरा बेटा सो गया परंतु कृष्ण तो सोये ही नहीं थे, वे पुनः चंचल हो उठते हैं। चंचल बालक का यह पल-पल बदलता चित्र गत्यात्मकता का ही तो उदाहरण है :

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।।

---

१. सूरसागर, ६४७

मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै ।
कबहुँ पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै ।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै ।[1]

पालना झूलने के एक अन्य दृश्य में बालक कृष्ण पालने में पड़े हुए माता की गोद में आने के लिए अपनी दोनों नन्हीं भुजाएँ पसार देते हैं। यशोदा झट उन्हें अपनी गोद में ले लेती है। कृष्ण अंगों को फड़का कर किंचित मुस्करा देते हैं :

उमँगि-उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी ।[2]
अँग फरकाइ अलप मुसुकाने । या छबि की उपमा को जाने ।[3]

सकट श्रीकृष्ण के पालने के निकट पहुँचा। पालने में पड़े-पड़े वे अपने पैर का अंगूठा पकड़कर चूस रहे थे। सकट पहुँचते ही नन्हें पैर की लात खाकर भहरा कर गिर पड़ता है। क्षण भर में ही क्या से क्या हो गया :

आपु गयौ तहाँ जहँ प्रभु परे पालनैं, कर गहे चरन अँगुठा चचौरैं ।
किलकि किलकत हँसत, बाल-सोभा लसत, जानि यह कपट, रिपु आयौ भोरैं ।
नैंकु फटक्यौ लात, सबद भयौ आघात गिर्यौ भहरात सकटा सँहार्यौ ।[4]

किलकारी मारते हुए बालक कृष्ण घुटनों के बल चले आ रहे हैं। नंद बाबा के महल में स्वर्ण खचित आँगन में पड़ने वाले प्रतिबिंब को पकड़ने दौड़ रहे हैं। किलकारी मारने में दूध के दो दाँत दिखाई पड़ जाते हैं। बार-बार हँसने के सुख में वे स्वयं ही डूब जाते हैं :

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत ।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाहँ कौं, कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहिं अवगाहत ।
× × × ×
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ।[5]

माता यशोदा बार-बार नंद बाबा को बुलाकर कृष्ण की बालकेलि का दर्शन कराती है तथा अंचल से ढक कर उनको दूध पिलाती है।

माता अपने नन्हें पुत्र को चलना सिखा रही है। अटपटी चाल, पाँव संभल नहीं पाते। गिरने लगते हैं तो माँ उन्हें हाथ पकड़ कर सँभाल लेती है :

---

१. सूरसागर, ६६१ २. सूरसागर, ६६२ ३. सूरसागर, ६६४
४. सूरसागर, ६८० ५. सूरसागर, ७२८

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।[1]

'अरबराइ' तथा 'डगमगाइ' शब्द चित्र की गतिशीलता में सहायक हुए हैं। इस 'अरबराइ' शब्द ने एक अन्य दृश्य में भी गति भरने की पूरी चेष्टा की है। अब की बार पिता नंद बालक कृष्ण को चलना सिखा रहे हैं। इस पद में नंद बाबा का पुत्र की अँगुली पकड़ कर चलना सिखाना, गिर पड़ने पर सँभाल कर उठाना, कभी दो कदम हाथ छोड़ कर चलने देना, कभी धरती पर बैठकर कृष्ण का मन ही मन कुछ गाने लगना तथा अचानक बाहर से घर की ओर को घुटनों के बल चलकर लौट जाना गत्यात्मक है :

गहे अँगुरिया ललन की, नँद चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत।
× × ×
कबहुँ कान्ह-कर छाँड़ि नँद, पग द्वैक रिंगावत।
कबहुँ धरनि पर बैठि कै, मन मैं कछु गावत।
कबहुँ उलटि चलें धाम कौं, घुटुरुनि करि धावत।[2]

माता यशोदा तथा माता रोहिणी दोनों मिलकर अँगुली पकड़ कर अपने पुत्र को पाँव-पाँव चलना सिखा रही हैं। इधर से उधर तथा उधर से इधर आने-जाने में नन्हें पैरों की पैंजनी रुनझुन बज रही है। 'झुनक स्याम की पैंजनियाँ' पद से जैसे पैंजनियों के नूपुर सचमुच ही बज उठे हों। इसी प्रकार एक पद में कृष्ण के नाचने से नूपुर और करधनी दोनों ही सूर के शब्दों में कूजने लगते हैं।

यशोदा दही बिलो रही है। दही की हाँडी में मथानी गोलगोल घूम रही है। बालक कृष्ण मथानी को घूमते देखकर स्वयं भी घूमघूम कर नृत्य करने लगे। पद में बालक-मन के भावों को चित्रित किया गया है। सूर ने मथनियों के घूमने की गति का भी अनुमान करा दिया है :

आनंद सौं दधि मथति जसोदा, घमकि मथनियाँ घूमै।
निरतत लाल ललित मोहन, पग परत अटपटे भू मैं।[3]

प्रातःकाल माता स्वर्ण-कटोरे में दही और घी से बनी मिठाई कृष्ण और बलराम दोनों भाइयों को देती है। दोनों भाइयों में खाने की वस्तुओं पर बालसुलभ झगड़ा हो जाता है। दोनों एक-दूसरे की चुटिया पकड़ लेते हैं। सवेरे-सवेरे का अचानक ऐसा झगड़ा गत्यात्मकता का ही उदाहरण है :

---

१. सूरसागर, ७३३ २. सूरसागर, ७४० ३. सूरसागर, ७६५

खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोउ भाई ।
अरस परस चुटिया गहैं, बरजति है माई ।[1]

सूर ने एक पद में बालक श्रीकृष्ण को माता के द्वारा श्रीराम की कथा सुनवाई है। माता सुनाती है—"एक राजा दशरथ के पुत्र श्रीराम थे। राम की पत्नी सीता थीं। पिता के कहने से श्रीराम राजधानी छोड़कर पंचवटी के वन में चले गये। वहाँ एक अभिमानी राक्षस ने सीता का हरण कर लिया।" सीता के हरण की कहानी सुनते ही कृष्ण उठकर कहने लगते हैं :

लछिमन, धनुष देहु, कहि उठे हरि, जसुमति सूर डरानी ।[2]

इसकी गति में एक प्रकार की नाटकीयता है अतः गत्यात्मकता भी कम नहीं।

श्रीकृष्ण प्रिय सखाओं के साथ गेंद खेल रहे हैं। अपने सखा श्रीदामा की ओर उन्होंने इतनी जोर से गेंद फेंकी कि श्रीदामा के मुड़कर अंग बचाने से गेंद सीधे कालीदह में जा गिरी। गेंद की गति का ऐसा स्वाभाविक चित्रण सूर ही कर सकते थे :

स्याम सखा कौं गेंद चलाई ।
श्रीदामा मुरि अंग बचायौ, गेंद परी कालीदह जाई ।[3]

कालियनाग के प्रत्येक फन पर कृष्ण नाच रहे हैं 'फन-फन-प्रति निरतत नँद-नंदन।' गति का विलक्षण उदाहरण है। नाग के फन पर नृत्य करने का तात्पर्य वस्तुतः कलाबाजी ही है। बताशे पर नृत्य, थाली पर नृत्य, तलवार पर नृत्य कुछ सरल हो सकते हैं परंतु सर्प के उठे हुए फनों पर इस कौशल से नृत्य करना विलक्षण है। गति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कालियनाग की पत्नी कृष्ण को भयभीत करने की चेष्टा करती है। इस पर श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं, वह दर्शनीय है :

झिरकि कै नारि, दै गारि गिरधारि तब,
पूँछ पर लात दै अहि जगायौ ।
उठ्यौ अकुलाइ, डरपाइ खग-राइ कौं,
देखि बालक गरब अति बढ़ायौ ।
पूँछ लीन्ही झटकि, धरनि सौं गहि पटकि
फुंकर्‌यो लटकि करि क्रोध फूले ।
पूँछ राखी चाँपि रिसनि काली काँपि,
देखि सब साँपि-अवसान भूले ।

१. सूरसागर, ७८० २. सूरसागर, ८१७ ३. सूरसागर, ११५३

करत फन-घात, बिष जात उतरात अति,
नीर जरि जात, नहिं गात परसैं ।[१]

माता ने श्रीकृष्ण को ऊखल से बाँध दिया। इस पर दुःख और अपमान से रो-रोकर उनकी बुरी दशा हो गई। वे धूल भरे आँगन में लोट-लोट कर बिलखते रहे। अपने मुख को छिपाकर कुछ समय सिसकियाँ लेकर रोते रहे। एक क्षण मौन रहे तो चपल दृगों में भरे हुए कुछ आँसू ढुलक पड़े। माता पुनः लकुट न मार दे इस भय से उन्होंने माता को देखकर पीतपट अपने शरीर से लपेट लिया :

देखि री देखि हरि बिलखात।
अजिर लोटत राखि जसुमति, धूरि-धूसर गात।
मूंदि मुख छिन सुसुकि रोवत, छिनक मौन रहात।
चपल दृग, पल भरे अँसुवा, कछुक ढरि-ढरि जात।
लकुट कैं डर ताकि तोंहि तब पीत पट लपटात।[२]

सूर ने इस दृश्य को चलचित्र की तरह दिखा दिया है।

इंद्र ने कोप किया। मेघों की सेना सज कर आ गई। ये जलद कैसे थे तथा किस प्रकार उमड़-घुमड़ कर ब्रज के ऊपर आक्रमण करने आ रहे थे, इसका गत्यात्मक वर्णन सूर ने इस प्रकार किया है :

बल बर्त्त, वारि बर्त्त, पौन बर्त, वज्र, अग्नि बर्त्तक, जलद संग ल्याए।
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए।[३]

इसी प्रकार एक दूसरे पद में भी गत्यात्मकता का ऐसा ही वर्णन है :

घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थरररात, ब्रज लोग डरपे।
तड़ित-आघात तररात, उतपात सुनि, नर-नारि सकुचि तन प्रान अरपे।[४]

दावानल-पान के दृश्य में गतिमयता अपने चरम रूप को प्राप्त कर चुकी है। भीषण दावानल जैसे विराट् दृश्य को सूर ने थोड़े से शब्दों में बाँध लिया है। विराट् प्रकृति को अपने गीतों की सीमा में बाँध लेने का ऐसा अद्भुत प्रयास काव्य-शिल्पी सूर ही कर सकते थे :

दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी है इहिं काल।
पटकत बाँस, काँस, कुस चटकत, लटकत ताल-तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत झर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि बाढ़ी धर-अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
हरिन, बराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।[५]

---

१. सूरसागर, ११७० २. सूरसागर, ९७८ ३. सूरसागर, १४७१
४. सूरसागर, १४७३ ५. सूरसागर, १२३३

दसों दिशाओं से दुसह दावाग्नि उत्पन्न हो गई है। बाँस फटने लगे हैं, कुश और काँस चटकने लगे हैं, तमाल लौर ताड़ के वृक्ष जलने से लटक गये हैं, अंगारे उचटते हैं। भीषण लपट सबको अपनी झपट में ले रही है। ब्रज की धरती से लेकर आकाश तक भीषण धुँआ छा गया है। बीच-बीच में ज्वाला चमक-चमक जाती है। हिरन, शूकर, मोर, चातक, कोयल, पशु-पक्षी सभी जले जा रहे हैं। यह देखकर श्रीकृष्ण ने ग्वाल-बालों को अभय कर दिया और ज्वाला का पान कर लिया :

जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नँदलाल।
सूर अगिनि सब बदन समानी, अभय किए ब्रजबाल।[1]

तनिक-सी देर में अग्नि की ज्वाला कृष्ण के नन्हें-से मुख में समा गई। महाकवि सूर का काव्य-शिल्प अनूठा है। उन्होंने अपने शब्दों में गति को साकार कर दिया है। ये रिदमिक चित्र पाठक के हृदय को अपने साथ खींच ले जाते हैं। शरद्पूर्णिमा को महारास का आयोजन है। कृष्ण अनेक रूप धर कर रासलीला कर रहे हैं। जितनी गोपी उतने ही कृष्ण हैं, सब मंडलाकार घूम रहे हैं। घूमते हुए रासमंडल का चित्र इसी रिदमिक टैकनीक से खींचा गया है। चलचित्र में भी किसी न किसी प्रकार के शिल्प-चातुर्य से ही यह गत्यात्मकता प्रदर्शित की जा सकती है, जिसे सूर ने शब्द-तूलिका से ही साकार कर दिया है। रासमंडल की द्रुत गति के कारण कृष्ण और गोपी कहाँ हैं, कौन से कृष्ण हैं और कौन से गोपी! हाँ, श्यामल और गौरवर्ण के कारण मंडल में घूमते हुए ये दो वर्ण ही दृष्टिगोचर होते हैं—एक गोपी, एक कृष्ण। यही अनवरत क्रम चलता रहता है। कृष्ण को बादल और गोपी को बिजली कहकर महाकवि सूर ने ऐसा चित्र खींचा है कि द्रुतगति का ज्ञान सब को करा दिया। कृष्ण और गोपी, गोपी और कृष्ण ऐसे मिलजुल गए हैं कि बादल में बिजली है अथवा बिजली में बादल है, इसका पता नहीं चलता :

मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि, दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रजभामिनी।[2]

श्रीकृष्ण के नृत्य की गति का भी वर्णन सूर ने किया है :

मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि धरे, नटवर अंग।
चलत गति कटि कुनित किंकिनि, घूँघरू झनकार।[3]

नृत्य की गति को न जाने कितने गत्यात्मक शब्दों में बाँधा है महाकवि सूर ने। शास्त्रीय नृत्य को गति और ध्वनि में अभिव्यक्त कर दिया है।

---

१. सूरसागर, १२३३ २. सूरसागर, १६६६ ३. सूरसागर, १६७४

□ डा० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र'

सूरसाहित्य में छंदोयोजना

सूरदास के नाम पर पाए जाने वाले अनेक ग्रंथों में सूरसारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर को ही विद्वानों ने अष्टछापी सूरदास की प्रामाणिक रचना माना है। इन तीनों ग्रंथों में प्रयुक्त छंदों के विवेचन का प्रयास करना ही इस निबंध का प्रतिपाद्य है।

सूरसारावली में आद्योपांत सार और सरसी की अर्द्धालियों का प्रयोग हुआ है। तीन अर्द्धालियाँ विष्णुपद की भी हैं।[1] सार और सरसी के प्रयोग का कोई क्रम नहीं है। अनियमित रूप से दोनों की पंक्तियों का प्रयोग कवि करता चला गया है। साहित्यलहरी और सूरसागर की रचना पद-शैली में हुई है। किंतु, जहाँ साहित्यलहरी के पदों के ऊपर किसी राग का निर्देशन नहीं है, वहाँ सूरसागर के प्रायः समस्त पद किसी-न-किसी राग में गेय बतलाए गए हैं।

स्वरूप की दृष्टि से पद को हम बहुत दूर तक अनुच्छेद (Stanza) कह सकते हैं। संस्कृत अथवा हिंदी काव्यों में साधारणतः चार चरणों (पंक्तियों) का एक अनुच्छेद, पद-बंध या पद्य माना गया है। अंग्रेजी साहित्य में यह अनुच्छेद चार से अधिक—पाँच, छः, सात, आठ या नव पंक्तियों का भी होता है। इस प्रकार अँग्रेजी भाषा का कवि जब किसी अनुच्छेद (Stanza) का निर्माण पंक्तियों की मनमानी संख्या तथा तुक के निर्दिष्ट क्रमायोजन द्वारा करता है, तो फिर उसी बंधन को मानकर सारे अनुच्छेदों की रचना उसे करनी पड़ती है। पद के साथ ऐसा कुछ बंधन नहीं है। पद अपने आप में स्वतंत्र होता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मुक्तक काव्य के अंतर्गत है। अतः इसी परस्पर संबंध-निरपेक्षता के कारण अँग्रेजी साहित्य के अनुच्छेद के समान

---

१. सूरसारावली, २४१,२४२,६५८

इसमें पंक्तियों की संख्या का कोई बंधन नहीं है। सूरसागर में सबसे छोटा पद चार पंक्तियों का है और सबसे बड़ा तो कई पृष्ठों तक चला गया है।

साधारणत: पद के प्रारंभ में एक छोटी पंक्ति होती है, जिसे छंदक या टेक कहते हैं। गाने के समय इसकी बार-बार आवृत्ति होती है, इसीलिए ऐसी पंक्ति को स्थायी या ध्रुव भी कहते हैं। इस छंदक या टेक के अतिरिक्त छंद की दृष्टि से पद्य और पद में कोई अंतर नहीं है। सूरसागर और साहित्यलहरी में तो अनेक पद ऐसे हैं, जिनमें छंदक की योजना नहीं हुई है।[1] पद की दूसरी विशेषता उसकी गेयात्मकता है। सभी पद गेय होते हैं, जो किसी राग-विशेष में गाए जाते हैं। पद की इसी गेयात्मकता के कारण पदों की परीक्षा छंदोदृष्टि से नहीं हुई। पदों की रचना गाने के लिए हुई है। अत: पद संगीत की संपत्ति है, उसका छंद:शास्त्र से कोई संबंध नहीं है, ऐसा विचार विद्वानों के हृदय में घर कर गया था। इसी के फलस्वरूप पद-साहित्य छांदसीय दृष्टि से उपेक्षित रहा। पर हरिदास, सूरदास, मनमोहन आदि गायकों के पदों को छोड़कर समस्त पद-साहित्य की रचना किसी-न-किसी छंद में हुई है। अवश्य इन पद-रचयिताओं ने कहीं-कहीं किसी पद की रचना में अपने को एक ही छंद तक सीमित नहीं रक्खा है। आवश्यकतानुसार उन्होंने दो-तीन छंदों के मिश्रण से भी पद की रचना की है। सूरदास के समस्त पद नाना प्रकार के छंदों में निबद्ध हैं। उनके संपूर्ण साहित्य में मुझे एक पद भी ऐसा नहीं मिला, जिसमें कोई-न-कोई छंद प्रयुक्त नहीं हुआ हो।

आचार्यों ने छंदों के दो भेद (वैदिक छंद को छोड़कर) किए हैं—(१) वर्णवृत्त और (२) मात्रावृत्त। आधुनिक छंद:शास्त्रियों[2] ने छंद:प्रकारों में एक तालवृत्त को स्वीकार किया है। किंतु, यह तालच्छंद वस्तुत: कोई नूतन छंद:प्रकार नहीं है। यह मात्रिक छंद का ही तालात्मक रूप है।[3] जिन मात्रिक छंदों में संगीत की ताल के नियम का पूर्णतया पालन हुआ है, वे ही तालच्छंद कह दिए गए हैं। जिन मात्रिक छंदों की मात्रा-व्यवस्था संगीत की ताल के अनुरूप नहीं है, जिनकी पंक्तियाँ ताल-विधान को दृष्टि में रख कर निर्मित नहीं हुई हैं, ताल देने में जिनकी पंक्तियाँ टूट जाती हैं,

---

१. सूरसागर, ६२२, ६२५, ६४२, ६५५, ७५३ आदि।
साहित्यलहरी, ७, १०, १६, ४० आदि।

२. The Historical Development of Mediaval Hindi Prosody : Maheshwari Singh 'Mahesh'
मात्रिक छंदों का विकास, शिवनंदन प्रसाद
प्राकृत पैंगल, भोलाशंकर व्यास

३. विशेष विवेचन के लिए देखिए लेखक का शोधप्रबंध 'सूरसाहित्य का छंद:शास्त्रीय अध्ययन।'

वे इन आचार्यों के द्वारा मात्रिक छंद कहे गए हैं। ऐसे छंद वस्तुतः मात्रिक छंद के अतालात्मक रूप को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक केवल चार प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। वे निम्नलिखित हैं :

(१) अक्षर वृत्त·········वैदिक साहित्य में प्रयुक्त
(२) वर्ण वृत्त } ·········संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन एवं
(३) मात्रा वृत्त } अर्वाचीन हिंदी साहित्य में प्रयुक्त
(४) मुक्त वृत्त············आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रयुक्त

सूर-साहित्य का संबंध दूसरे और तीसरे छंदःप्रकारों से है। संस्कृत-साहित्य में जिन वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है, उनमें अनुष्टुप के अतिरिक्त सभी लघु-गुरु के विशिष्ट क्रम पर चलते हैं। अतः ये सभी छंद गणात्मक कहे जाते हैं। हिंदी-साहित्य में गणात्मक वर्णवृत्तों के अतिरिक्त कुछ ऐसे वर्णवृत्तों का प्रयोग होता है, जिनमें लघु-गुरु के क्रम का कोई बंधन नहीं है। वर्णों की निर्दिष्ट संख्या के आधार पर ही उनका निर्माण होता है। ऐसे वर्णवृत्त वर्णिक मुक्तक दंडक कहे गए हैं। मनहरण घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी ऐसे ही छंद हैं। इन्हें सामान्यतया कवित्त कहते हैं। सूर-साहित्य में किसी गणात्मक वर्णवृत्त का प्रयोग नहीं हुआ है। वर्णवृत्त के रूप में सूरदास ने वर्णिक मुक्तक दंडक का प्रयोग किया है। संपूर्ण सूर-साहित्य में केवल ७३ पदों की रचना वर्णवृत्त में हुई है। शेष सारे पद मात्रिक छंदों में ही निबद्ध हैं। मात्रिक छंदों को छंदःशास्त्रियों ने तीन भागों में विभाजित किया है—(क) सममात्रिक, (ख) अर्द्ध सममात्रिक और (ग) विषममात्रिक। जिसके चारों चरणों में समान मात्राएँ हों, वह सममात्रिक कहा जाता है। ३२ मात्राओं तक के छंद साधारण और उससे अधिक मात्रा वाले दंडक कहे जाते हैं; जैसे—चौपाई, रोला, सार, समान-सवैया आदि साधारण सममात्रिक और झूलना, हंसाल, विजया आदि सममात्रिक दंडक हैं। जिसके पहले और तीसरे चरणों में तथा दूसरे और चौथे चरणों में मात्राओं की समानता हो, उसे अर्द्धसम कहते हैं; जैसे—दोहा, सोरठा आदि। जिस छंद के चरणों में मात्रागत समानता नहीं हो, उसे विषममात्रिक छंद कहते हैं। हिंदी के आचार्यों ने कुंडलिया (दोहा+रोला) और छप्पय (रोला+उल्लाला) को विषम मात्रिक छंद कहा है। किंतु, पादगत मात्राओं की समानता के कारण ये विषम छंद नहीं कहे जा सकते। इन्हें मिश्र छंद कहना अधिक युक्तिसंगत है।

सूर-साहित्य में सम, अर्द्धसम और मिश्र तीनों प्रकार के मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। अनेक पदों में तो आद्योपांत सम अथवा अर्द्धसम छंदों का प्रयोग हुआ है। किंतु, ऐसे भी अनेक पद हैं, जिनकी रचना दो-तीन-चार छंदों के चरणों के योग से हुई है। अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसे पदों को मिश्र-छंद-निबद्ध मान लेना उचित है। एक पद में एकाधिक छंदों के मिश्रण का आधार लय की समानता है। विष्णुपद,

सरसी, सार, समानसवैया आदि छंद समान लयाधार पर चलते हैं, इसलिए इन सब के चरणों का मिश्रण आसानी से हो जाता है। किंतु, इस मिश्रण के पीछे कवि-प्रयत्न-शैथिल्य और रचना-गत सौविध्य को देखना ही समीचीन नहीं है। ऐसा मिश्रण बहुत-कुछ भावानुकूलता के लिए भी हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद लिया जा सकता है :

पहिलैं प्रनाम नँदराइ सौं।
ता पाछैं मेरौ पालागन, कहियौ जसुमति माइ सौं।
बार एक तुम बरसाने लौं, जाइ सबै सुधि लीजौ।
कहि वृषभानु महर सौं मेरौ, समाचार सब दीजौ।
श्रीदामाऽदि सकल ग्वालनि कौं मेरौ कोतौ भेंट्यौ।
सुख संदेश सुनाइ सबनि कौं, दिन-दिन कौ दुख मेट्यौ।
मित्र एक मन बसत हमारैं, ताहि मिलैं सुख पाइहौ।
करि-करि समाधान नीकी बिधि, मोकौं माथौ नाइहौ।
डरपहु जनि तुम सघन कुंज मैं, हैं तहँ के तरु भारी।
बृंदावन मति रहति निरंतर कबहुँ न होति निनारी।
ऊधौ सौं समुझाइ प्रगट करि, अपने मन की बीती।
सूरदास स्वामी सौं छल सौं, कही सकल ब्रज-प्रीती।[1]

इसका छंदक उज्ज्वला मात्रिक का चरण है। उसके बाद एक चरण मरहठा-माधवी का है, जिसकी तुक छंदक के साथ मिली है। फिर सार के चार चरणों के बाद दो चरण मरहठामाधवी के हैं। अंत में सार के चार चरण हैं। सार और मरहठामाधवी एक ही परिवार के छंद हैं। उससे इसमें एक मात्रा अधिक है। अतः दोनों छंदों का मेल सहज संभव है। भाव की दृष्टि से इन दोनों का मिश्रण अत्यंत औचित्यपूर्ण है। छंदक और मरहठामाधवी के चरणों में यों तो सामाजिक शिष्टाचार के निर्वाह की बात कही गई है, पर इन दो पंक्तियों में कृष्ण के ब्रज नहीं जा पाने की सारी विवशता 'राइ सौं' 'माइ सौं' तुक के सहारे जैसे हाहाकार कर उठी है। उनके हृदय की पीड़ा जिस प्रकार 'राइ सौं' 'माइ सौं' से अभिव्यक्त हो पाती है, उस प्रकार 'रा सौं' 'मा सौं' (यदि चरण सार के होते) से नहीं हो पाती। अपनी विवश पीड़ा को अभिव्यक्त कर कृष्ण उद्धव से ब्रज में जाकर सबसे मिलने और सुख-संदेश देने को कहते हैं। यह वर्णनात्मक प्रसंग द्विगुर्वन्त पाद वाले सार के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसी प्रसंग के बीच कृष्ण को राधा की याद आ जाती है और उनका मन मसोस कर रह जाता है। मन की इस गूढ़ व्यथा की अभिव्यक्ति सार-द्वारा संभव नहीं जान कवि ने मरहठामाधवी के रूप में उस व्यथा को वाणी प्रदान की। फिर अपनी विवशता पर

---

१. सूरसागर, ४०६७

अधिकार प्राप्त कर सार छंद में उद्धव से सघन कुंज में भयभीत नहीं होने को कहा तथा वृंदावन से अपनी आत्मीयता प्रकट की। इस प्रकार भावानुकूल छंदों का प्रयोग कर कवि ने अपनी भावुकता तो दिखलाई ही, यह भी सिद्ध कर दिया कि वह केवल राग-रागिनियों में गाने योग्य पदों का ही रचयिता नहीं है, वह एक कुशल छंदःप्रयोक्ता भी है। एक ही पद में सार और सरसी के प्रयोग द्वारा सूरदास ने भावों में जो मोड़ ला दिया है, वह निम्नांकित पंक्तियों द्वारा कुछ दूर तक हृदयंगम किया जा सकता है :

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे।
बाहँ मरोरि जाहुगे कैसें, मैं तुम नीकैं चीन्हे।
माखन-चोरी करत रहे तुम, अब भए मन के चोर।
सुनत रही मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियौ मन मोर।[1]

इसी भावानुकूलता और वर्णनगत विशिष्टता के लिए सूरदास ने दो विषम लयात्मक छंदों का भी मिश्रण किया है। चौपाई समप्रवाही छंद है और हरिगीतिका सप्तक के आधार पर चलने वाली। अतः दोनों में लय-मैत्री नहीं है। किंतु सूरदास ने चौपाई के अंतिम चरण के भाव को हरिगीतिका के प्रारंभ में दुहरा कर इन दोनों विषम लयात्मक छंदों को अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल पर ऐसा गूँथ दिया है कि जैसे दोनों एक हो गए हैं। यथा :

मिलि मन दै सुख आसन बैसे। चितवनि वारि किये सब तैसे।
ता परि पानि-ग्रहन बिधि कीन्ही। तब मंडप भ्रमि भाँवरि दीन्ही।
तब देत भाँवरि कुंज मंडप, प्रीति ग्रंथि हियैं परी।
अति रुचिर परस पवित्र राका, निकट वृंदा सुभ घरी।
गाए जु गीत पुनीत बहुबिध, बेद-रुचि-सुंदर-ध्वनी।
श्री नंद-सुत वृषभानु-तनया रास मैं जोरी बनी।[2]

सूरदास ने छंदों के प्रयोग में भावों का बराबर ध्यान रक्खा है। इसीलिए भावानुकूल वर्ण-संघटन द्वारा एक छंद को एक ही पद में दो प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करने वाला बना दिया है; यथा :

अब कैं राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी है इहिं काल।
पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत फर, झपटत लपट कराल।
धूमि धूँधि बाढ़ी धर अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
हरिन, बराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।

---

१. सूरसागर, २५५०   २. सूरसागर, १६६०

जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नँदलाल।
सूर अगिनि सब बदन समानी, अभए किए ब्रजबाल।[1]

'द' की आवृत्ति-रूप से वृत्यनुप्रास अग्नि की दुःसहता को प्रकट करता है। बाँस-काँस, ताल-तमाल, धूमि-धूँधि का छेकानुप्रास तथा 'ट' का आधिक्य पाठकों के हृदय में भयानक रस की अनुभूति उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यहाँ गौड़ी रीति का अवलंबन ले सरसी छंद भयानक वातावरण उपस्थित करने में समर्थ हो जाता है। उसका बाह्य रूप उसके (वातावरण के) अनुरूप घोर-कठोर हो उठता है। नीचे की दो पंक्तियों में जब कवि भयोत्पादक वायुमंडल को छोड़कर कृष्ण के महिमामय ऐश्वर्य (देवविषयक रति) को व्यक्त करने लगता है, तो उसकी भाषा माधुर्य-व्यंजक वर्णों वाली वैदर्भी रीति का अवलंबन ले लेती है और छंद वह घोर-कठोर रूप छोड़ कर कोमल और ललित बन जाता है।

सूर-साहित्य में प्रयुक्त छन्दःप्रकार को देख लेने के बाद अब यह जान लेना आवश्यक है कि सूर ने अपने साहित्य की सृष्टि किन-किन छंदों के द्वारा की है। सूरदास ने अपने साहित्य में जिन छंदों का प्रयोग किया है, मात्रा-संख्या-क्रम से वे निम्नलिखित है :

(क) सममात्रिक साधारण :
शशिवदना, महानुभाव, लीला, तोमर, सखी, कज्जल, चौपई, चौबोला, चौपाई पद्धर, चंद्र, उपवदनक, माली, रतिवल्लभ, योग-कल्प, कुंडली, प्रणय, रास, कुंडल, उपमित, उल्लास, सुखदा, उपमान, अवतार, रजनी, हीर, रोला, रूपमाला, सारस, मुक्तामणि, मधुरजनि, विष्णुपद, गीता, गीतिका, सरसी, हरिगीतिका, सार, माधवमालती, मरहठामाधवी, ताटंक, उत्कंठा वीरछंद, समानसवैया और जल-तरंग=४४

(ख) सममात्रिक दंडक :
वदनसवैया, विश्वभरण, लीलापति, अरुणजयी, प्रतिपाल, करखा, हंसाल, झूलना (द्वितीय), प्रभाती, मानवती, मदनशय्या, विजया, प्रफुल्लित, मदनहर, शुभग, काममोहिता, विनय, अर्मषिता, प्रबोधन, नटनागर, हरिप्रिया, हरिप्रीता और हरिवल्लभा=२३

(ग) अर्द्ध सममात्रिक :
दोहा, दोहकीय, सोरठा=३

(घ) मिश्र—छप्पय=१

(ङ) वर्णिक मुक्तक :
मिताक्षरी=१

---

१. सूरसागर, १२३३

(च) वर्णिक मुक्तक दण्डक :
नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी, मनहरण घनाक्षरी, रूपघनाक्षरी और जलहरण = ६

उपर्युक्त छंदों का प्रयोग सम्पद के रूप में हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन छंदों का प्रयोग छंदक-रूप में हुआ है, वे निम्नलिखित हैं :

अखंड, अहीर, शिखंडी, नित उल्लाला, पदपादांकुर, शशिप्रभा, उर्वशी, प्रदोष, हाकलि, सुलक्षण, विजात, मनमोहन, मनोरम, गोपी, उज्ज्वला मात्रिक, पदपादाकुलक, शृंगार, रूपोज्ज्वला, राम, विजयकरी, विलक्षण, चंद्रा, तमाल, शक्ति, अनुनय शास्त्र, हंसगति, अरुण, प्लवंगम-चांद्रायण, सिंधु, नाग और चुलियाला = ३३

इन छंदों में अधिकांश के लक्षण-उदाहरण तो हिंदी छंदःशास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। किंतु, ऐसे भी अनेक छंद हैं, जो सूरदास के नूतन प्रयोग हैं, और जिनका उल्लेख किसी प्राचीन या नवीन छंदःशास्त्रों में नहीं हुआ है। नवीन छंदों के निर्माण में छंदःशास्त्रों का हाथ तो है ही, कवि भी इसमें निरंतर योग देते रहे। छन्दःशास्त्री जहाँ प्रस्तार-विधि से नूतन छंदों को गढ़ता है, वहाँ कवि प्रचलित छंदों में कतिपय मात्राओं अथवा वर्णों को घटा-बढ़ा कर किसी नूतन छंद का निर्माण कर लेता है। वैदिक युग से लेकर आधुनिककाल तक नूतन छंदो का निर्माण इसी प्रकार होता रहा। प्रचलित छंदों में कुछ परिवर्तन कर नई गूँज और नई लय देकर नूतन छंद बनाने की दो प्रणालियाँ हैं :

(क) प्रचलित छंद में वर्णगत या मात्रागत परिवर्तन द्वारा नूतन छंद का निर्माण करना।

(ख) दो प्रचलित छंदों के एक-एक चरण के मिश्रण को एक इकाई मानकर नूतन छंद बना लेना अथवा एक ही छंद के डेढ़ चरण को एक चरण मान लेना आदि।

सूरदास ने नूतन छंदोनिर्माण में इन दोनों प्रणालियों को अपनाया है। नीचे उन नूतन छंदों का उल्लेख किया जाता है, जिनका प्रयोग सूरसाहित्य में हुआ है :

(क) प्रथम प्रणाली के आधार पर निर्मित छंद :
योग-कल्प, कुंडली, प्रणय, उपमित, मधुरजनी, माधवमालती-प्रतिपाल, प्रभाती, मानवती, विनय, नटनागर, हरिप्रीता, हरिवल्लभा, दोहकीय, मिताक्षरी, नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी (सम्पद-रूप में प्रयुक्त) शिखंडी, उर्वशी, प्रदोष, रूपोज्ज्वला, राम, विजयकरी, विलक्षण और चंद्रा (छंदक-रूप में प्रयुक्त)

(ख) द्वितीय प्रणाली के आधार पर निर्मित छंद :
उत्कंठा, लीलापति, अरुणजयी, मदनशय्या, काममोहिता, अमर्षिता और प्रबोधन।

इस प्रणाली पर कई छंदकों का भी निर्माण हुआ है।

(ग) इन दो प्रणालियों के अतिरिक्त नूतन छंदोनिर्माण की एक तीसरी प्रणाली भी मानी जा सकती है। इसमें किसी प्रचलित छंद का अवलंबन नहीं लिया जाता। यदि अवलंबन लिया भी जाता है, तो किंचिन्मात्र। ऐसे नूतन लय वाले छंद का निर्माण कवि अपनी सांगीतिक प्रतिभा के बल पर करता है। सूरदास ने ऐसे तीन छंदों का आविष्कार किया है। वे हैं : **जलतरंग, विश्वभरण और प्रफुल्लित।**

इन उपर्युक्त छंदों में प्रणय, माधवमालती, दोहकीय, उर्वशी, प्रदोष, राम (भानु का 'राम' छंद भिन्न लय वाला है) और उत्कंठा का नामकरण डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने आधुनिक काल में प्राप्त ऐसे प्रयोगों को देख कर किया है।[१] मिताक्षरी नाम अवध उपाध्याय का दिया हुआ है।[२] विनय संभवतः तुलसी की विनयपत्रिका में प्राप्त ऐसे प्रयोग को देखकर परमानंद शास्त्री या रघुनंदन शास्त्री द्वारा दिया गया है।[३] शेष नवीन छंदों का नामकरण मुझे करना पड़ा है।

उपर्युक्त नवीन छंदों का आविष्कार तो सूरदास ने किया ही है।[४] इनके अतिरिक्त सूरसागर में कई छंद मिलते हैं, जिनका उल्लेख तो प्राचीन आचार्यों ने किया है, पर जिनका काव्यगत प्रयोग हिंदी-साहित्य में सूरदास के पूर्व नहीं मिलता। वे छंद निम्नलिखित हैं :

शशिवदना, रतिवल्लभ, माली, अवतार, सारस, गीता,[५] विजया, शुभाग, हरिप्रिया, कवित्त (मनहरण, रूपघनाक्षरी और जलहरण)

इनमें शशिवदना का स्वयंभू ने, रतिवल्लभ का हेमचंद्र ने तथा माली का भिखारीदास ने उल्लेख किया है। शेष सभी छंद भानु आदि कई छंदःशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित हैं।

---

१. देखिए:—'आधुनिक हिंदी काव्य में छंदयोजना' में तत्तत् छन्द
२. नवीन पिंगल, पृ० ८०
३. पिंगलपीयूष, पृ० १९५, और हिंदी छंदप्रकाश, पृ० ८०
४. उपमित की दो पंक्तियाँ और दोहकीय की छिटपुट पंक्तियाँ कबीर के काव्य में अवश्य मिलती हैं। किन्तु, वे पंक्तियाँ कवि-प्रयत्न-शैथिल्य के परिणाम हैं। सूरदास ने इन दोनों छंदों में अनेक पदों की रचना की और उन्हें छंद के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया।
५. विद्यापति के केवल एक पद (३७) में गीता की दो पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई है

कतिपय छंद ऐसे हैं, जिनका काव्यगत प्रयोग सूरदास से प्राचीन है। इनमें कुछ का नामकरण तो प्राचीन और आधुनिक आचार्यों ने किया है और कुछ उस गौरव से वंचित रह गए हैं। वे छंद निम्नलिखित हैं :

अखंद, महानुभाव, उपवदनक, उल्लास, रजनी और वदनसवैया।

इनमें महानुभाव और उपवदनक तो स्वयंभू-द्वारा उल्लिखित हुए हैं। अखंड और रजनी नाम डा० शुक्ल ने दिए हैं। उल्लास और वदनसवैया नाम मुझे देने पड़े हैं।

निबंध के विस्तार-भय के कारण शास्त्रोल्लिखित प्रचलित छंदों को छोड़कर आगे की पंक्तियों में कतिपय नूतन छंदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

शशिवदना—शशिवदना छंद के प्रत्येक चरण में १० मात्राएँ होती हैं। संपूर्ण सूर-साहित्य में अन्य छंदों के साथ इसका एक ही पद्य प्राप्त होता है :

जल थल पवन थक्यौ। खग मृग तरु बिथक्यौ।
देखत मदन जक्यौ। चरननि सरन तक्यौ।[1]

महानुभाव—महानुभाव के प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती हैं : इस छंद का उल्लेख स्वयंभू ने किया है व सूरसागर में लीला और चौपाई के बीच इसके कुछ चरणों का प्रयोग हुआ है :

हरषि परस्पर गावैं, मीठे बोल सुनावैं।
मुदित मनोहर भावैं, लालन लाड़ लड़ावैं।[2]

उपवदनक—उपवदनक छंद के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ होती हैं। इसका उल्लेख स्वयंभू और हेमचंद्र ने किया है। सूरसागर के चार पदों में अन्य छंदों के साथ इसका मिश्रित प्रयोग पाया जाता है :

धन्य कृष्न अवतार ब्रह्म लियौ।
रेख न रूप प्रगट दरसन दियौ।
जल थल मैं कोउ और नहीं बियौ।
दुष्टनि वधि संतनि कौं सुख दियौ।[2]

माली—माली छंद के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं। पद पादाकुलक या चौपाई के अंत में दो मात्राएँ रख देने से यह छंद बन जाता है। सूरसागर में पाँच पद्य माली छंद में निबद्ध हैं।

---

१. सूरसागर, १८०० २. सूरसागर, ३५३५

हरि तब हँसि बोले धनि ब्रजनारी।
मैं तुम बहुत कसी दृढ़ ब्रतधारी।
सुख बहुत कही अंतर तुमहीं रहीं।
जब जहँ देह धरौं तहँ तुम सँगहीं।[१]

रतिवल्लभ—रतिवल्लभ के प्रत्येक चरण में १९ मात्राएँ होती हैं। इस छंद का उल्लेख हेमचंद्र ने किया है।[२] सूरसागर में रतिवल्लभ का प्रयोग एक पद में हुआ है।[३]

योग-कल्प—योगकल्प के प्रत्येक चरण में १०-१० पर यति देकर २० मात्राएँ होती हैं। योग से मिलती-जुलती लय के कारण मैंने इसका नाम योग-कल्प रक्खा है। सूरसागर के एक पद की रचना इस छंद में हुई है।[४]

कुंडली—कुंडली छंद में ११-१० पर यति देकर २१ मात्राएँ होती हैं। वस्तुत: कुंडल छंद के प्रथम खंड में एक मात्रा कम कर देने से यह छंद बन जाता है। इसीलिए इस छंद का नाम मैंने कुंडली रक्खा है। सूरसागर में कुंडली का प्रयोग एक पद में हुआ है।[५]

प्रणय—प्रणय छन्द में १२-९ पर यति देकर २१ मात्राएँ होती हैं। अंत में ऽ।, ।ऽ और ।।। सभी रह सकते हैं। सूरसागर में ११ पदों में प्रणय का स्वतंत्र रूप में प्रयोग हुआ है। यथा :

मुरली अति गर्व काहु, बदति नाहिं आजु।
हरि कैं मुख-कमल-देस, पायौ सुख-राजु।[६]

उपमित—उपमित छंद के प्रत्येक चरण में १३-९ पर यति देकर २२ मात्राएँ होती हैं। सूरसागर में उपमित का प्रयोग ९ पदों में हुआ है। यथा :

गोकुल कौ कुल-देवता, श्री गिरिधर गोपाल।
कमल-नयन धन साँवरो, वपु-बाहु-विशाल।
हलधर ठाढ़े कहत हैं, हरि के ये ख्याल।
करता हरता आपुहीं, आपहिं प्रतिपाल।[७]

उल्लास—उल्लास छंद के प्रत्येक चरण में ११-११ पर यति देकर २२ मात्राएँ होती हैं। सूरसागर में इसका प्रयोग तीन स्थलों में हुआ है।[८]

---

१. सूरसागर, १८००
२. छन्दोऽनुशासन ४/४७
३. सूरसागर, २५९२
४. सूरसागर, ३९३५
५. सूरसागर, १२४७
६. सूरसागर, १२७१
७. सूरसागर, १४४१
८. सूरसागर, ६४६, ११०५, ३४२८

रजनी—रजनी छंद के प्रत्येक चरण में १४-६ पर यति देकर २३ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार रूपमाला के अंतिम लघु को निकालकर इसका आविष्कार कर लिया गया है। सूरसागर के ११ पदों में रजनी का प्रयोग हुआ है :

रही इकटक साँस बिनु, तनु बिरह-बिबस भई।
बार बारहिं सखि बुलावति, कहा भई दई।
नारी नौमी दसा पहुँची, ह्वै अचेत गई।
स्याम ब्याकुल धरनि मुरझे, तिया रोष-हई।[1]

मधुरजनी—मधुरजनी छंद के प्रत्येक चरण में १६-६ पर यति देकर २५ मात्राएँ होती हैं। रजनी के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छंद बन जाता है। सूरसागर में रजनी के छः चरणों के साथ मधुरजनी के निम्नांकित पाँच चरण उपलब्ध होते हैं :

सत जज्ञ नाहिंन नाम सम, परतीति करि करि करि।
हरि नाम हरिनाकुस बिसार्‌यौ, उठ्यौ बरि-बरि-बरि।
प्रहलाद-हित जिहिं असुर मार्‌यौ, ताहि डरि डरि डरि।
गज गीध गनिका ब्याध के अघ गए गरि गरि गरि।
रस चरण-अम्बुज बुद्धि-भाजन लेंहि, भरि भरि भरि।[2]

माधवमालती—माधवमालती के प्रत्येक चरण में १४-१४ पर यति देकर २८ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार गीतिका के अंत में दो मात्राएँ रख देने से माधव-मालती छंद बन जाता है। सूरसागर में १२ चरण वाला केवल एक पद इस छंद में निबद्ध है।[3]

उत्कंठा—उत्कंठा छंद के प्रत्येक चरण में १६-१४ पर यति देकर ३० मात्राएँ होती हैं। वस्तुतः इसका निर्माण चौपाई और कज्जल छंदों के चरणों के योग से हुआ है। ताटंक के लगात्मक (।S) अंत वाले चरण को गलात्मक (S।) कर देने से भी उत्कंठा का निर्माण हो जाता है। सूरसागर के ३ पदों में[4] उत्कंठा का प्रयोग हुआ है।

जलतरंग—जलतरंग छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ हैं। प्रति पद में चार स्थानों पर यति दी गई है। पहले चरण में ६-७-७-६ पर, दूसरे में ७-७-११-७ पर, तीसरे में ७-६-६-७ पर और चौथे में ८-८-६-७ पर यति है।

संपूर्ण सूर-साहित्य में इस प्रकार का यही एक छंद है, जिसकी रचना सूरदास ने उमंग में आकर किसी प्रचलित छंद का आधार ग्रहण किए बिना ही कर

१. सूरसागर, ३३७५
२. सूरसागर, ३०६
३. सूरसागर, ४७६८
४. सूरसागर, ३१४२, ३६४४ परिशिष्ट १३२

डाली है। इस छंद का प्रत्येक पादखंड कानों में उसी प्रकार आकर टकराता है, जिस प्रकार तरंगें निकटवर्त्ती कूल से। इस पद में राधा-कृष्ण की अभिन्नता का निरूपण जल-तरंग की उपमा द्वारा किया गया है। अतः इसका नाम जल-तरंग रखा गया है :

आँखिन मैं बसै | जिय मैं बसै | हिय मैं बसत | निसिदिवस प्यारौ।
तन मैं बसै | मन मैं बसै | रसना हू मैं बसै | नंदवारौ।
सुधि मैं बसै | बुधिहू मैं बसै | अंग-अंग बसै | मुकुटवारौ।
सूर बन बसै | घरहु मैं बसै | सँग ज्यौं तरंग | जल न न्यारौ।[1]

वदनसवैया—वदनसवैया के छंद के प्रत्येक चरण में १६-१७ पर यति देकर ३३ मात्राएँ होती हैं :

बड़े-बड़े बार जु एँड़िनि परसत, स्यामा अपौं अंचल मैं लिएँ।
बेनी गूथत फूल सुगंध भरे, डोलत हरि बोलत न सकुच हिएँ।
कुसुभी सारी अलक झलक मनौ, अहि-कुल बंदन सौं पूजा किएँ।
सूरदास-प्रभु नैन प्रान सुख, चितए मिलि प्रिया कनखियनि दिएँ।[2]

विश्वभरण—विश्वभरण छंद के प्रत्येक चरण में १८-१५ पर यति देकर ३३ मात्राएँ होती हैं। यह षष्टक के आधार पर चलने वाला छंद है। अतः षष्ठक की पाँच आवृत्तियों और त्रिकल (।।।) के योग से इसका निर्माण हो जाता है। सूरसागर में चार चरणों का एक ही पद इस छंद में निबद्ध है :

तरु तमाल | तरे त्रिभंगी | कान्ह कूँवर | ठाढ़े हैं।
साँवरे सु | बरन।
मोर मुकुट | पीतांबर | बनमाला | राजत उर।
ब्रज जन मन | हरन।[3]

लीलापति—लीलापति के प्रत्येक चरण में १२-१२-१० पर यति देकर ३४ मात्राएँ होती हैं। षष्ठकाधारित लीला के दो और शशिवदना के एक चरण के योग से लीलापति का निर्माण हुआ है। सूरसागर में दो पद[4] इस छंद में लिखे गए हैं।

अरुणजयी—अरुणजयी के प्रत्येक चरण में २०-१५ पर यति देकर ३५ मात्राएँ होती हैं। इसका पंचदशमात्रिक खंड तो स्पष्टतया चौपाई का चरण है, किंतु विंशन्मात्रिक खंड कई लयाधारों पर चलते हैं। कुछ तो अरुण छंद की लय पर चलते हैं, कुछ का निर्माण चौपाई के आदि में चार मात्राओं के योग से हुआ है और

१. सूरसागर, २५३७
२. सूरसागर, ३२३५
३. सूरसागर, १२४२
४. सूरसागर, ७१४, १०७१

दो खंड मनहरणघनाक्षरी के पूर्वांश (१६ अक्षर) जैसे प्रतीत होते हैं। अतः इसके लक्षण में यही कहा जा सकता है कि विंशन्मात्रिक किसी छंद के आगे चौपाई का चरण रख देने से अरुणजयी छंद का निर्माण हो जाता है। इस छंद में लिखित १६ चरणों का (छंदक-सहित) एक ही पद सूरसागर में उपलब्ध है।[१] इस छंद के अधिकतर चरण अरुण और चौपाई (जिसका अन्य नाम जयकरी भी है) के चरणों के योग से बने हैं, इसीलिए इसे मैंने अरुणजयी की संज्ञा प्रदान की है।

प्रतिपाल—प्रतिपाल छंद के प्रत्येक चरण में १०-१०-१६ पर यति देकर ३६ मात्राएँ होती हैं और पदांत में ऽ। रहता है। सूरसागर में इस छंद का चार चरण वाला एक ही पद है। पद में प्रयुक्त 'प्रतिपाल' शब्द को लेकर मैंने इसका नामकरण किया है :

मया करिए कृपाल, प्रतिपाल संसार उदधि जंजाल तैं पौं पार।
काहू के ब्रह्मा, काहू के महेस, प्रभु मेरे तो तुमही आधार।[२]

मदनशय्या—मदनशय्या के प्रत्येक चरण में १६-१६-७ पर यति देकर ३९ मात्राएँ होती हैं। यह छंद समप्रवाही है और समानसवैया एवं सुगति (अन्य नाम शुभगति) के एक-एक चरण के योग से निर्मित हुआ है। सूरसागर में केवल एक पद इस छंद में निबद्ध है। इस पद के केंद्र में रतिशय्या है, उसी का पोषण अन्य प्राकृतिक उपादानों से किया गया है। अतः इस छंद का नाम मदनशय्या सर्वथा उपयुक्त है :

अलिगन पिक मंगल धुनि गावत, मन भावत,
सुनि, देखत दंपति अति बिवस मन।
सूरदास प्यारी प्रभु राजत सँग साजत सुनि,
लखि सखि वारति रतिपति सयन।[३]

मिताक्षरी—मिताक्षरी छंद के प्रत्येक चरण में १५ अक्षर होते हैं। ८ अक्षर पर यति और अंत में गुरु होता है। इस प्रकार यह मनहरणघनाक्षरी का उत्तरांश है। मिताक्षरी नाम अवध उपाध्याय का दिया हुआ है।[४] डा० शुक्ल ने इसे मैथिली नाम दिया है :[५]

नंद कैं नँदन आली, मोहिं कीन्हीं बावरी।
कहा करौं, चित्त क्यौ हूँ, रहत न ठाँव री।
बिहरत हरि जहाँ, तहाँ तुहूँ आव री।
निसिहूँ बासर आली, मोकौं यहै चाव री।[६]

---

१. सूरसागर, ४४८५
२. सूरसागर, ८७०
३. सूरसागर, २७९०
४. नवीन पिंगल, पृ० ८०
५. आ० हिं० काव्य में छन्दयोजना, पृ० १६५
६. सूरसागर, ३५०५

सूरघनाक्षरी—सूरघनाक्षरी के प्रत्येक चरण में सामान्यत: ८-८-८-६ अक्षर पर यति देकर ३० अक्षर होते हैं। अंत में लघु गुरु कुछ भी रह सकता है। मनहरण के अंतिम गुरु वर्ण को हटा देने से यह छंद बन जाता है। सूरसागर के २६ पदों की रचना इस छंद में हुई है। सूरदास ने इस छंद में अनेक पदों की रचना की है, जिनकी संख्या मनहरणघनाक्षरी की संख्या के बराबर है। अत: उनके ही नाम पर इस छंद का नाम सूरघनाक्षरी रक्खा गया है :

ऐसी निरमोही माई महरि जसोदा भई,
बाँध्यौ है गोपाल लाल बाँहनि पसारी।
कुलिस हुँ तैं कठिन छतिया चितै री तेरी,
अजहुँ द्रवति जो न देखति दुखारि।[1]

अखंड—समछंद अखंड के प्रत्येक चरण में समात्मक आठ मात्राएँ होती हैं। यह सारसरसी आदि छंदों के प्रथमांश का अर्द्धभाग है। सूरसाहित्य में इसका प्रयोग छंदक में हुआ है :

नव नागरि हो। (सकल) गुन-आगरि हो।[2]

शिखंडी—समछंद शिखंडी के प्रत्येक चरण में ११ मात्राएँ होती हैं। शृंगार छंद की अंतिम पाँच मात्राओं को हटा देने पर इसका निर्माण हो जाता है। वर्णवृत्त रूप में इसका निर्माण यगण और मगण से होता है, जो हेमचंद्र का शिखण्डिनी छंद है।[3] शिखण्डिनी के लयाधार पर चलने वाले इस मात्रिक छंद का नाम मैंने शिखंडी रक्खा है। सूरसागर में इसका प्रयोग छंदक में हुआ है :

कन्हैया हेरी दै।[4]
चितै, चलि, ठिठुकि रहत।[5]

उर्वशी—इस सम छंद का उल्लेख डा० शुक्ल ने किया है।[6] उनके अनुसार सुलक्षण (ऽऽऽ। की दो अवृत्तियाँ) की अंतिम लघु मात्रा को न्यून कर देने पर यह छंद बन जाता है। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं। सूरसागर में इसका प्रयोग छंदक में हुआ है :

मुरली अधर बिम्ब रमी।[7]
लोचन लालची भारी।[8]

---

१. सूरसागर, ९८०
२. सूरसागर, ३२३१
३. छन्दोऽनुशासन २/५१
४. सूरसागर, १०६९
५. सूरसागर, ३२०३
६. आ० हिं० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५१
७. सूरसागर, १८४६
८. सूरसागर, २९९२

प्रदोष—प्रदोष छंद के प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं। चौपाई की प्रारंभिक तीन मात्राओं को हटाकर इसका आविष्कार कर लिया गया है। इस छंद का उल्लेख डा० शुक्ल ने किया है और पंचक और दो चौकलों के योग से इसका निर्माण बतलाया है।[१] सूरसागर के परिशिष्ट के एक पद में इसके कुछ चरण प्रयुक्त हुए हैं :

सुघर घर बजत बधाई।[२]

एक त्रयोदशमात्रापादी छंदक का निर्माण शशिवदना के आदि में ।ऽ के योग से हुआ है, जैसे :

तुम्हारी भावती कह्यौ।[३]

रूपोज्ज्वला—रूपोज्ज्वला के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ होती हैं। इसका निर्माण उज्ज्वला मात्रिक (१५ मा०) के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से हो जाता है। अतः इसका नाम मैंने रूपोज्ज्वला रक्खा है। सूरसाहित्य में इसका प्रयोग छंदक में हुआ है :

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।[४]
नैंकु निकुंज कृपा करि आइयै।[५]

राम—राम छंद के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ होती हैं। चौपाई के आदि में एक मात्रा के योग से यह छंद बन जाता है। सूरदास ने निम्नांकित छंदकों में इस छंद का प्रयोग किया है :

सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै।[६]

विजयकरी—विजयकरी छंद के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं। जयकरी (चौपाई) के आदि में एक त्रिकल रख देने से इसका निर्माण हो जाता है। इसीलिए इसे विजयकरी की संज्ञा प्रदान की गई है। सूरसाहित्य में इसका प्रयोग छंदक में हुआ है :

रसिक राधे बोली नन्दकुमार।[७]

विलक्षण—विलक्षण छंद के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं। सुलक्षण छंद के आदि में एक चौकल रखने से इसका निर्माण होता है। सूरसाहित्य में इस छंद का प्रयोग छंदक में हुआ है। एक छंदक में राधा के रूप की विलक्षणता वर्णित है। अतः यह छंद विलक्षण कहा गया है :

राधे तेरे रूप की अधिकाइ।[८]

---

१. आ० हिं० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५१
२. सूरसागर, (परि०) १२६
३. सूरसागर, ४७२३
४. सूरसागर, ७२३
५. सूरसागर, ३१८८
६. सूरसागर, ३४०
७. सूरसागर, ३३८१
८. सूरसागर, ३३६४

सूरसागर में सुलक्षण के अन्त में ।ऽ भी पाया जाता है।

चंद्रा—चंद्रा छंद के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं। पंचकाधारित चंद्र छंद के अंतिम गुरु को लघु: कर दो मात्राएँ जोड़ देने से यह बन जाता है। इसी-लिए इसका नाम चंद्रा रक्खा गया है :

आज दीपति दिव्य दीप मालिका ।[1]
काहे को दुरावति नैन नागरी ।[2]

यहाँ रेखांकित 'हे' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है।

छंदकों में प्रयुक्त इन छंदों के अतिरिक्त सूरदास ने कुछ ऐसे छंदकों का भी प्रयोग किया है, जिनका निर्माण दो छंदों के चरणों को एक इकाई मानकर किया गया है है। यथा :

(क) कुबरी कौ न्याउ री, जासौं गोविंद बोलैं ।[3]

इस छंदक का निर्माण प्रात छंद (११ मात्राएँ) तथा महानुभाव के चरणों के योग से हुआ है।

(ख) लाल की रूप-माधुरी, निरखि नैकु सखी री ।[4]

इसका निर्माण प्रदोष और भव छंद के चरणों को एक इकाई मानकर हुआ है।

(ग) अब हरि हमकौं माई री मिलत नाहिंन नैकु ।[5]

इसका निर्माण हाकलि और पंचकाधारित ज्योति छंद के चरणों के योग से हुआ है।

(घ) कुंज सुहावनौ भवन, बनि-ठनि बैठे राधा-रवन ।[6]

इसका प्रथम खंड लीला का चरण है और द्वितीय खंड चौबोले का

(ङ) मोहन गए, आज तुम जाहु दाँव हम लेहिंगी हो ।[7]

इस छंदक का निर्माण चौपाई के आगे १२ मात्राएँ (२ पंचक + ऽ) रखकर किया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इन नूतन छंदों के अतिरिक्त सूर-साहित्य में कुछ ऐसे छंद भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन तथा नवीन छंदःशास्त्रियों ने किया है। परंतु उनका काव्यगत प्रयोग सूरदास से पूर्व नहीं मिलता। वे छंद हैं— अवतार, सारस, विजया, हरिप्रिया तथा कवित्त (मनहरण, रूपघनाक्षरी) इन छंदों

---

१. सूरसागर, १४२७ २. सूरसागर, ३२८० ३. सूरसागर, ४२६३
४. सूरसागर, २००२ ५. सूरसागर, (परि) १४६ ६. सूरसागर, २७६०
७. सूरसागर, ३४६५

का भी आविष्कार सूरदास ने ही किया हो, तो आश्चर्य नहीं। सूरदास के पूर्व गोरखनाथ, विद्यापति तथा कबीर के काव्यों में भी कुछ नूतन छंद प्राप्त होते हैं। गोरखनाथ में समानसवैया, विद्यापति में नाग, विजात, उल्लास, रजनी, गीता तथा कबीर में मत्तसवैया और वदनसवैया का प्रयोग सबसे पहली बार हुआ है। विद्यापति-कबीर-द्वारा जाने-अनजाने जो छंद उद्भावित हुए, सूरदास ने अधिकांश को (नाग, विजात और मत्तसवैये के अतिरिक्त) छंद के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठत कर दिया और उन्होंने जिन छंदों का निर्माण किया, उनमें अनेक उनके समसामयिक और परवर्त्ती कवियों के द्वारा निरंतर प्रयुक्त होते रहे। सूर द्वारा आविष्कृत विनय का कृष्णदास ने, सूरघनाक्षरी और नागर का नंददास ने, हरिवल्लभा और नटनागर का छीतस्वामी ने, हरिप्रीता का चतुर्भुजदास ने, सूरघनाक्षरी और विजया का हितहरिवंश ने तथा हरिप्रीता, मानवती एवं विजया का गदाधर भट्ट ने प्रयोग किया है। तुलसीदास ने सूरदास के विनय, विजया, प्रणय, मिताक्षरी, उत्कंठा, उपमित, सूरघनाक्षरी, मानवती, हरिप्रिया, नागर, गोरस आदि छंदों को तो अपनाया ही, उनके चौपाई-हरिगीतिका के मिश्रण से बने प्रागाथिक छंद के आधार पर चौपाई-हरिगीतिका तथा योग-कल्प-हरिगीतिका जैसे प्रागाथिक छंदों का भी प्रयोग किया।[1] विजया, सूरघनाक्षरी, विनय, नागर, नटनागर आदि को भारतेंदु ने भी अपने काव्यों में स्थान दिया।

इस प्रकार छंदों के प्रयोक्ता और नूतन छंदों के विधाता के रूप में सूरदास अग्रगण्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्होंने जितने छंदों का प्रयोग किया और जितने नवीन छंदों की उद्भावना की उतना कोई दूसरा पद-रचयिता नहीं कर सका।

---

१. देखिए—विनयपत्रिका, पद १३६

□ डा० कैलाशचंद्र भाटिया

सूर की भाषा

महाकवि सूर का विपुल साहित्य जिस भाषा में प्राप्त है, वह ब्रजभाषा है। सूर की जन्मभूमि 'साही' सूर का साधना-केंद्र 'गौवाट' (रुनकता-आगरा) तथा उपासना क्षेत्र 'परासौली' (गोवर्द्धन-मथुरा) तीनों ही ब्रजभाषा-क्षेत्र में स्थित हैं। कबीर और तुलसी से सूर की स्थिति भिन्न है। कबीर घुमक्कड़ थे, पूरब के बासी थे पर उनकी भाषा तत्कालीन लोकभाषा थी और तुलसी का जन्मस्थान आज तक विवादास्पद है, साथ ही उन्होंने ब्रज तथा अवधी दोनों ही भाषाओं का प्रयोग किया, पर सूर न तो कबीर की भाँति घुमक्कड़ थे और न उन्होंने तुलसी के समान दो भाषाओं का प्रयोग किया, इस दृष्टि से वे एक भाषा-निष्ठ थे। जिस भाषा को उन्होंने अपने काव्य का माध्यम बनाया, वह उस क्षेत्र की जनभाषा थी, जिसको सूर ने 'भाषा' नाम से अभिहित किया है :

श्रीमुख चारि स्लोक दए, ब्रह्मा कौं समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद ब्यास सुनाइ।
ब्यास कहे सुकदेब सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद 'भाषा' करि गाइ।[1]

इस लोकभाषा को ही सूर ने सरस, सरल, सानुप्रास, संगीतमय, सुमधुर एवं इतना संपन्न बना दिया कि सूर के सौरभ के साथ सूर की भाषा का सौष्ठव भी सर्वत्र फैला। यह सच है कि प्रारंभ में सूर की प्रौढ़ भाषा को देखकर यह सोचा गया कि 'साहित्य के उत्तम वाहन के रूप में ब्रजभाषा सूरदास से बहुत पहले चल निकली होगी।' जिसके फलस्वरूप 'सूरपूर्व'[2] ब्रजभाषा के स्वरूप की खोजबीन की गई।

---

१. सूरसागर, २२५

२. सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य—डा० शिवप्रसाद सिंह

पर साथ ही यह भी निर्विवाद है कि सूर ने ब्रजभाषा को जो अक्षय-निधि प्रदान की, उससे भाषा को जो अद्भुत शक्ति और ध्वननशीलता प्राप्त हुई, वह अद्वितीय है।

तत्कालीन ब्रजभाषा का कोई व्यवस्थित या वैज्ञानिक व्याकरण उपलब्ध नहीं होता, केवल मिर्जाखाँ का एक व्याकरण है, वह भी सर्वसुलभ नहीं। सूर की भाषा के आधार पर ब्रज की ध्वनि-प्रक्रिया तथा व्याकरण प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास डा० प्रेमनारायण टंडन का है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सूर-साहित्य में प्रयुक्त शब्दों की अनुक्रमणिका तैयार की गई है, जिसके आधार पर सूर की भाषा का रूपात्मक अध्ययन तथा आवृत्तिपरक अध्ययन भी सरलता से किया जा सकता है।

बोलचाल की भाषा को भावानुकूल साहित्यिक रूप देने के कारण सूर की शब्दावली में तत्कालीन लोक में प्रचलित मुहावरे तथा लोकोक्तियों में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट शब्द लिए गए, साथ ही उसमें विदेशी शब्दावली भी गृहीत हुई, जिससे भाषा का सजीव तथा प्रौढ़ रूप खड़ा हुआ है। अब नवीनतम अनुसंधान के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि सूर को अनायास ही ऐसे सुयोग प्राप्त हुए, जिससे भाषा का परिष्कार हो गया और उसको साहित्यिक रूप देने का श्रेय उन को प्राप्त हो गया।

सूर द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा की ध्वनियों में सामान्यत: ब्रजभाषा के सभी स्वरों के साथ 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप भी मिलते हैं। 'ऋ' का प्रयोग उच्चारण के अनुसार ही 'रि' के रूप में ही है :

तब तो बेद रिचा बौरानी अब ब्रज-बास दुलारी।

कहीं-कहीं अवश्य ही लिपि में 'तृनावर्त' 'वृषभासुर' आदि रूप अपवाद स्वरूप मिलते हैं, जिनको लिपिकारों की कृपा का ही फल कहा जा सकता है।

सभी स्वर निरनुनासिक तथा सानुनासिक मिलते हैं :

अ	—	अँ	—	नँद
आ	—	आँ	—	आँखि
इ	—	इँ	—	नाहिँ
ई	—	ईँ	—	मईँ
उ	—	उँ	—	कुँवर
ऊ	—	ऊँ	—	सुनाऊँ
ए	—	एँ	—	सेँदुर

ऐ	—	एँ	—	नैँकु
ओ	—	ओँ	—	मोकोँ
औ	—	औँ	—	क्यौँ

नोट—ओँ तथा औँ दोनों का उच्चारण औँ ही होता है :

अनुनासिकता नासिक्य ध्वनि के स्थान पर भी मिलती है और पड़ौसी नासिक्य ध्वनियों के प्रभाव के कारण भी :

सन्देश	—	सँदेश
नन्द	—	नँद

नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से :

नाम — नाँम

कहीं-कहीं अकारण रूप में भी अनुनासिकता प्राप्त होती है :

अक्षि — आँखि

वस्तुतः देखा जाए तो ब्रजभाषा की अतिशय कोमलता तथा संगीतात्मकता का कारण ही अनुनासिकता का प्राचुर्य है।

टिप्पणी १–'ऐ' और 'औ' दोनों स्वरों के क्रमशः संध्यक्षर स्वर के रूप भी प्रयोग में आते हैं, 'अइ' और 'अउ'।

२–'इ̥' और 'उ̥' के फुसफुसाहट वाले रूप भी मिलते हैं :

स्वरानुक्रमों के भी पर्याप्त उदाहरण सूर-साहित्य में मिलते हैं, जिनको हम चार्ट रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	एँ	ऐ	ओ	औ
अ	+	+	गइ	नई	जउ	तऊ	दए	गएँ	भऐ		
आ	+	+	पाइ	दुहाई	चबाउ	बटाऊ	अघाए				
इ	जिअनि	पतिआरो					लिए	किएँ	मरिऐ		
ई											
उ	चुअत	भुआल	दुइगानों	मुई			मुए			+	
ऊ	+	+									
ए	+	+	देइ	खेई	देउ	कलेऊ	सेए				
एँ							सेँए				
ऐ							जैए		सकुंचैए		
ओ	+	+	कोइला	कोई	दोउ	कोऊ	+			+	
ओँ			सोँइ		कोँउ		सोँए				
औ		नौआ		सिरनौई							

टिप्पणी—१. स्वरानुक्रमों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।
२. दो स्वरों के साथ-साथ तीन स्वरों के अनुक्रम भी मिलते हैं।
३. (+) चिह्नित रूपों में 'य' अथवा 'व' श्रुति का आगमन हो जाता है।

व्यंजन—सामान्यत: व्रज के सभी व्यंजन सूर की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। बहुधा 'य' के स्थान पर 'ज', 'व' के स्थान पर 'ब' तथा 'श' के स्थान पर 'स' हो जाता है, जो व्रज भाषा की प्रमुख विशेषता है।

'य' के स्थान पर 'ज' :

चढ़ै जदुनंदन **बनक बनाइ कै।**
सज बरात चले जादव **पाइ कै।**

'व' के स्थान पर 'ब' :

ब्रिपनि **गौ दीन्ही बहुत जुगुति करि।**

'श' के स्थान पर 'स' :

ससि सोडष **कला** सोभतन **धरि।**

'ड़' के स्थान पर 'र' :

जगरत, झगरन आदि

'ल' और 'र' का विपर्यय :

यह तो व्रजभाषा की एक विशेषता है। व्रज में और साथ में ही सूर में इस प्रवृत्ति के उदाहरण भरे पड़े हैं। जैसे—धूल-धूर।

शब्दावली—शब्दावली में संस्कृत के सरल तत्सम रूप ही सुरक्षित हैं, अन्यथा तद्भव रूप ही प्राय: दृष्टिगत होते हैं। तत्सम शब्दावली का प्रयोग 'सिद्धांत निरूपण' या 'अप्रस्तुत योजना' में ही हुआ है। शेष पदों में तद्भव और लोक शब्दावली का ही बाहुल्य है :

मधुकर पीत बदन किहिं हेत।
जनियत है मुख पांडु रोग भयौ, जुवतिनि कौं दुख देत।
रस-मय तन मन स्यांम राम कौं, जो उचरैं संकेत।
कमलनयन के बचन सुधा-सम करन घूंट भरिलेत।
कुत्सित कटु बायक सायक से, को बोलत रस-खेत।
इनहिं चातुरी लोग बापुरे, कहत धरम की सेत।
माथे परौ जोग पथ ताकैं, वक्ता छपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महिमा जिऐं निकेत।

मनसा बाचा और कर्मना, स्याम सुंदर सौं हेत।
सूरदास मन की सब जानत, हमरे मनहिं जितेत।[१]

इस पद की शब्दावली का यदि विश्लेषण किया जाय तो बत्तीस प्रतिशत तत्सम शब्दावली है और शेष शब्दावली में कटाच्छ, मोच्छ, बाचा आदि बिगड़े हुए रूप हैं। 'मनसा बाचा कर्मना' जैसे व्याकरणिक रूप भी कहीं-कहीं सुरक्षित हैं। शेष शब्दों में व्रज की प्रवृत्ति के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। अर्द्ध-तत्सम शब्द भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, जिनके ध्वनि-गुच्छ स्वारागम से तोड़ दिए जाते हैं :

र्ण—कर्ण—करन	'र' और 'ण' के मध्य
र्म—धर्म—धरम	'र' और 'म' के मध्य

सामान्य ध्वनि परिवर्तन के साथ :

क्ष—च्छ। कटाक्ष—कटाच्छ। मोक्ष—मोच्छ।

परंपरागत तद्भव रूप ही प्रयुक्त किए गए हैं :

'मस्तक' के स्थान पर 'माथा' तो प्राकृत में 'मत्था' पहले ही हो चुका था। सूर ने आँगन, अँचयो, अँचभो, अनियारे, अमराई, औसर, कान्ह, दही, लवन, बिसारि, सुरति, सौंह, हियरौ, अंजोरि, महतारी, मीत, सकुचात, सकोरत, मसान आदि सहस्रों शब्दों का प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त लोक में प्रचलित ग्रामीण शब्दावली का भी सूर ने यत्र-तत्र प्रयोग किया है और वह स्वाभाविक भी था क्योंकि सूर ने कृष्ण द्वारा गैया चराने का ग्रामीण बालकों के साथ खेलों आदि में जो वर्णन किया है उसमें उन शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था। ये शब्द सैकड़ों की संख्या में हैं, औचट, औघट, घींच, चुटिया, बगदाइ, टकटोरत, धुकधुकी, झाम, खुटिला, अहीठ, गोसों, छाक, झगा, झारी आदि।

विदेशी शब्दावली—अरबी-फारसी के शब्द पर्याप्त संख्या में हैं, पर सूर के काव्य में वे ऐसे घुल-मिल गए हैं कि आसानी से उनका पहचानना कठिन है। भाषा में आगत शब्दावली अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और अपने विदेशीपन को हटाकर ही अपना स्थायित्व बना लेती है। मुसलमानी शासन के कारण लोक में ये शब्द बहुप्रचलित थे अतएव सूर की भाषा में इनका प्रयोग होना स्वाभाविक है; जैसे—अबीर, अमीर, खसम, जबाब, मुसाहिब, अकल, कुलफ, कागद, खबर, खरच, खबास, गुलाम, जमानत, जहाज, तलफ, दगा, संदूक, महल, फौज, जहाँ, जौहर, बक्सीस, खराद, रेशम, गुमान, दरबार, दलाली, दस्तक, सरदार, दीवान, मेहमान आदि लगभग १५० शब्द हैं।

---

१. सूरसागर, ४५८७

दृष्टिकूट पदों तक में आपने इन शब्दों का चमत्कारिक प्रयोग किया है[1] :

कुंती-सुत-स्वभाव—कर्ण का स्वभाव-दानी-सखी (अरबी शब्द)-सहेली

शब्दों की तोड़-मरोड़—सामान्यतः सूर ने शब्दों को प्रचलित रूप में ही प्रयुक्त किया है फिर भी तुक मिलाने के लिए कहीं-कहीं शब्दों को तोड़-मरोड़ दिया गया है; जैसे—किलकी, तिलकी, हिलकी, मिलकी, पिलकी, सिलकी आदि ।

ध्वन्यात्मक शब्दावली—अरबराइ, कलमलात, किलकिलात, किलकना, किलकार, खरभर, खलबली, गहगहात, घहरानि, चटचटात, चुपकार, जगमग, झकझक, थरथर, फटकन, धकधक, झुनझुन, झरझर, झनकार, झपतार, झमकत, झमकनि, झरन, झलक, झल्लरि, झुन झुनक, झुनका, झूम, झूमक आदि सहस्रों शब्द लिए जा सकते हैं ।

एक ही शब्द के अनेक व्युत्पन्न रूप भी मिलते हैं :

झकझोर—झकझोर (९७६), झकूझरि (४४६१), झकझोरा (२१५२), झकझोरत (८१२), झकझोरति (७०६), झकझोरि (१२०७), झकझोरी (१७२५), झकझोरे (३५१९), झकझौरै (३९१६), झकझोर्या (२०७९), झकोर (३५१५)

झलक—झलक, झलकत, झलकति, झलकाइ, झलकावै, झलमलत, झलमलात, झल्लाति आदि ।

दावानल का वर्णन देखिए—एक-एक वर्ण, उसकी योजना एवं तुक, दावानल के स्वरूप, गति एवं उसकी व्यापार-क्रिया को चित्रवत् प्रस्तुत करती है :

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ ।
× × ×
झपति झपटति लपट, फूल-फल चट-चटकि, फटत, लटलटकि द्रुम द्रुमनवायौ ।
अति अगिन-झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ ।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ।[2]

(ख) **पटकत बाँस, काँस कुस, चटकत, लटकत ताल तमाल ।**
उघटत अति अंगार, फुटत फर झपटत लपट कराल ।

गोवर्धन लीला में :

धहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए ।[3]
शब्दों की ध्वनि से भाव मूर्तिमान हो जाते हैं :

---

१. साहित्यलहरी. पद, ४ २. सूरसागर, १२१४ २. सूरसागर, १४७१

लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।

उलझन — बिन्दी

मनौ कमल दल साधक पेखत उड़त मधुप छवि भारी।

वर्ण-व्यंजना—लटकत मुकुट मटक मोहनि की, चटकत चपल, मन्द मुस्कान।

(क)—मुकुट लटकनि भृकुटि धरे नटवर अंग।

(ख)—मेघ घहरात थहरात गाता।

चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात, राखि लै क्यौं न ब्रज नन्द-दाता।[1]

वर्ण-योजना में ही मेघों का चित्र सामने आ जाता है। 'ठुमुकि-ठुमुकि डौलै' में बच्चे के चलने का भाव, 'झुनुकि-झुनुकि बाजै पैंजनी मृदुमुखर' में पैंजनी की झनकार, 'किलकि-किलकि हँसै' में हँसने की मुद्रा साक्षात सामने आ जाती है। जब कंकन की ध्वनि की बात कवि के मस्तिष्क में आती है तो वर्ण संयोजन देखिए :

रुनक झुनक कर कंकन बाजै बाँय डुलावत ढीली।

दृष्टकूट शब्दावली :

कवि की शब्द-क्रीड़ा का चरम रूप दृष्टकूट पदों में मिलता है। शब्द-क्रीड़ा संस्कृत के कवियों का रुचिकर विषय था। साधारणतः सूर ने अपने सहस्रों पदों में सरल शैली को ही स्थान दिया है, जिससे वह क्लिष्टत्त्व दोष से बचे रहे हैं, पर जहाँ शब्द-क्रीड़ा की ओर आप झुके वहाँ आपने खुलकर उसका प्रयोग किया है। इस शैली में लिखे गए आपके तीन शतक पद मिलते हैं, जिनको 'दृष्टकूट-पद' की संज्ञा दी गई है। इन पदों में सूर की तत्सम-प्रियता विशेष दृष्टिगत होती है। विद्यापति के दृष्टकूट साधनात्मक रहस्यवाद के प्रतिनिधि कवि गोरखनाथ के प्रतीक तथा संत कवियों की संकेतात्मक उल्ट बंसियों का पूरा-पूरा प्रभाव सूर पर है।

विष के लिए तद्भव 'बीस' :

नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।[2]

महीना के लिए 'मास' :

मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने 'मास' का उच्चारण 'मांस' भी सुना होगा।

दृष्टकूट में जटिलता एवं दुर्बोधता आना स्वाभाविक ही है फिर भी 'साहित्य-लहरी' के पद 'सूरसागर' के दृष्टकूट-पदों से अधिक क्लिष्ट हैं। कभी-कभी एक-एक सार्थक 'शब्द' के लिए पदों की डेढ़-डेढ़ पंक्ति तक के अर्थ के साथ दंड-बैठक करनी पड़ती है :

---

१. सूरसागर, १४८८ २. सूरसागर, ४५९४ ३. सूरसागर, ४५९४

कारन अंत अंत तें घटकर आदि घटत पै जोई मद्ध घटे पर नास ।

कारन अंत	अंत तें घटकर	आदि घटत पै	जोई मद्ध घटे पर नास ।
काज	**काज**	**पय (जल)**	**काल**

चंद्रमा के लिए :

बात आदि	और जान अंत	मिलि	रिपु	पति	पतनी	तासु पितु	दलपति
पवन	**यान-रथ**	**पथ-रिपु**	**पथरिपु**	**यमुनापति श्रीकृष्ण**	**जाम्बवती**	**ऋक्ष-नक्षत्र**	**चंद्रमा**

दृष्टकूट-पदों में कूट शब्दों के निर्माण के लिए डा० टंडन ने सात प्रणालियों पर विचार किया है—१. पर्यायवाची, २. प्रहेलिका, ३. पुनरावृत्ति, ३. गणित, ५. क्रम, ६. विपर्यय ७. सम्मिलित । जबकि श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रंथ 'साहित्यलहरी की भूमिका' में इस प्रकार वर्ग-उपवर्ग में इसको विभाजित किया है :

१. उक्ति वैचित्र्य बोधक :

१. अर्थवक्रता, २. यमक, २. पुनरावृत्ति, ४. पर्याय, ५. ध्वनि-परिवर्तन ६. प्रहेलिका ।

२. क्रमागत :

१. आदिक्रम, २. मध्यक्रम, ३. अन्तक्रम, ४. योगायोगक्रम, ५. विलोम-क्रम ।

३. गणना सूचक :

१. ज्योतिष संबंधी, २. अंक विषयक ।

६. कथात्मक

५, मिश्रित

पुनरावृत्ति की प्रणाली कितनी मजेदार है :

तीन बि बि	—	६ बि—छबि
तीन ल ल	—	६ ल—छल
डेढ़ ल ल	—	३ ल—तिल
तीन पी पी	—	६ पी—छपी—गोपी
तीन की की	—	६ की—छकी

दृष्टकूट पदों में सूर को 'सारंग' सबसे अधिक प्रिय है और समास में 'दधिसुत; जैसे :

दधिसुत	—	चंद्रमा
दधिसुत-ग्रह	—	अधर
दधिसुत-बेद	—	जीव
दधिसुतसुत	—	ब्रह्मा
दधिसुतसुत-वाहन	—	हंस
दधिसुत-सुत-सुत के-हितकारी	—	आग

किसी भी भाषा की श्रेष्ठता का मापदंड केवल यह होता है कि उस भाषा में हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को व्यक्त कर सकें। 'सूर और सूर की ब्रजभाषा' में से किसको हम समर्थ कहें यह तो निर्णायक रूप से नहीं कहा जा सकता। सूर समर्थ थे कि उन्होंने ब्रजभाषा को वह अभिव्यंजना शक्ति प्रदान की अथवा ब्रजभाषा ही इतनी सशक्त थी कि सूर को विशेष श्रम न करना पड़ा। आज 'राजभाषा' के रूप में मान्य होने पर 'हिंदी' पर सबसे अधिक दोषारोपण यही है कि वह 'दरिद्र' है और विशेष रूप से अंग्रेजी के समक्ष। इस संबंध में मैं पाठकों के समक्ष कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहा हूँ। उदाहरणार्थ, 'देखना' क्रिया के लिए अंग्रेजी में मिलते-जुलते ये शब्द है :

See, behold, look, perceive, observe, watch, take notice.

जबकि सूर ने देखिए कितने शब्दों का प्रयोग किया है :

पेखि, विलोकि, निरखि, पलकभुलाने, चितव रहति चितवति, दृष्टि रही, देख्यो, नैंन भुलाने, झाँकुति, दर्शन झखति आदि लगभग २० शब्द।

अगर अंग्रेजी में इनसे सैकड़ों मुहावरे बनते हैं तो केवल सूर ने ही 'नैन-व्यापार' पर लगभग २००-२५० पदों की रचना की है, जिनमें एक-एक नया मुहावरा भी प्रयुक्त हुआ है। तो २५० मुहावरे-मात्र हो गए। हम अपने ही भंडार से अवगत नहीं हैं। आज आवश्यकता है कि हम अपने साहित्य और लोक में बिखरे भाषा संबंधी इस खजाने को पहचानें।

रूपात्मक अध्ययन :

ब्रजभाषा के रूपों को स्थिरता प्रदान करने में सूर का प्रमुख स्थान है। देखा जाय तो अंधत्व के कारण पदों के जो भी रूप आज मिलते हैं उनमें पर्याप्त पाठ-भेद है। इधर जवाहरलाल चतुर्वेदी, माताप्रसाद गुप्त तथा हरदेव बाहरी-राजेन्द्र कुमार द्वारा संपादित सूरसागर के संस्करणों में पाठ-भेदों के आधार पर निश्चित पाठ देने की चेष्टा की गई है। समस्त पाठांतरों के साथ सूरसागर के पदों का संपादित रूप निरंतर 'भारतीय साहित्य' के वर्ष १९७० ई० के अंकों से दिया जा रहा है।

संज्ञा प्रातिपादिक—ब्रजभाषा की संज्ञाएँ स्वरांत अधिक हैं। उकारांत तथा औकारांत की प्रधानता है। उकारांत बहुला प्रवृत्ति अपभ्रंश की देन है जबकि औकारांत आज तक विद्यमान है। अकरांत की प्रवृत्ति कम है।

	मूलरूप में	तुक के कारण
आकारांत	बछरा, आसा, चबैना, छौना	नैना, चरना
इकारांत	अगिनि, ससि, सौति	उपाइ, पहचानि
ईकारांत	बाँसुरी, सजनी, करनी, घरनी	उपाई, मूरी
उकारांत	बेनु, तनु, जायसु, मनु, रसु[1]	गेहु
ऊकारांत	गऊ, दाऊ, बटाऊ	हितू
एकारांत	पँडे, चितेरे	—
ऐकारांत	समैं, बिनैं, हिरदैं	—
ओकारांत	माधौ, ऊधौ, अंदेसौ, बुढ़ापौ	—
औकारांत		

उकारांत की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अव्यय रूपों को उकारांत रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसे बिनु, नैकु आदि।

अविगत गति कछु कहत न आवै।
× ×
रूपरेख गुन जाति जुगति बिनु.........।

बहुवचन बनाने के लिए प्रायः 'नि' विभक्ति प्रत्यय जोड़ा गया है, जैसे नैननि, विभाजनि, सुरनि, कपोलनि, कमलनि।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विभक्ति प्रत्यय भी हैं :

—एँ ऐं	बातैं, सेजैं
—न	ग्वालन, बालकन
—ए	तारे, नाते (केवल आकारांत में)
—याँ	अलियाँ, अँखियाँ, गैयाँ
—ं	चिरियाँ, तरुनीं

---

१. सूर के एक प्रसिद्ध पद की पंक्ति इस प्रकार है :
ज्यौं गूँगै मीठे फल को रसु अंतरगत ही भावै।
अगर इस, शब्द के समस्त पाठ भेदों को लिया जाय तो 'रस' तथा 'रसु' दोनों रूप ही मिलते हैं। यही बात अन्य उकारांत शब्दों पर भी दिखाई देती है।
क—रस को फल
ख—रस को फूल
ग—फल को रसु

प्रमुख प्रत्यय :

भाववाचक हेतु :

—ता	ममता, मित्रता, सैसवता, पूर्नता
—त्व	प्रभुत्व
—पन पनौ	बालपन, लौहपनौ
—आई	कुसलाई, सुघराई, निठुराई, उतराई
—ई	सुंदरई, चतुरई
—आत	कुसलात
—औरी	ठगौरी
—आइत	टकुराइत
—ई	माधुरी
—आउ आऊ	दुराउ
—नि नी	करनी, बिछुरनि
—आर	जगार

स्त्रीलिंग हेतु :

—इनि इनी	भुजंगिनि, सनेहिनी, सेवकिनी, लरिकिनि
—आ	प्रिया, नवला
—ई इ	तरुनि, सहचरी, किसोरी, घेरी
—आनि आनी	इंद्रानी
—नि नी	घरनि, अहिनी

कारकीय परसर्ग :

कर्ता	नें, नैं, ने
कर्म	कुँ कुँ, को कौ, कों कौं सों सौं, ते तैं, सेंती
संप्रदान	कुँ कूँ, को कौ, कों कौं
अपादान	सों सौं, ते तें तैं
संबंध	कि की, को कौ कों, के कें कैं
अधिकरण	पँ, मँझार, महियाँ, महँ, माँझ, माहि माहीं, मे मैं

सर्वनाम

पुरुषवाचक

उत्तम पुरुष

	एक वचन	बहुवचन
मूलरूप	मैं[1], हौं[2], हम[3]	हम[3]
विकृतरूप	मो[4] मौं	हम
संबंध	मम, मेरे, मेरौ, मो, मेर	हमार, हमरे, हमरी, हमारौ, हमारे,
	मोहिं	हमारी

मध्यम पुरुष

मूलरूप	तू[5], तूं[6], तें तैं[7], तुम[8]	तुम
विकृतरूप	तो[9]	तुम
संबंध	तव, तेरी, तुव, तैं, तेरे तेरौ, तोर, तुमरे, तुमरौ,	तुम्हारे, तुम्हारौ, तुम्हार, तुम्हारी, तुम्हारौ, तिहारी, तिहारे, तिहारौ

अन्यपुरुष

दूरवर्ती

मूलरूप	वह[10], सो[11] सु[12], वे[13],	वे वे[14],ते, से
विकृत	वा,[15]ता, उन, वाहि, तानि	उन[16], उनि, विन, तिन
संबंध	ताकी, वाकी, वाके ताकौ, वाकौ, ताकि, तासु	उनकी, उनके, तिनके, उनकौ,

निकटवर्ती

मूल	यह[17]	ये[18], ए[19]
विकृत	या[20], याहि	इन[21], इन्हें
संबंध	की, के, कौ, केरी युक्त रूप	

---

१. सूरसागर, १२८२ २. वही, ३७९ ३. वही, ४४१७
४. वही, ४४३५ ५. वही, ३३७४ ६. वही, ५९
७. वही, ३०५१ ८. वही, २१७ ९. वही, २६८४
१०. वही, २६२३ ११. वही, ६१७ १२. वही, ७०
१३. वही, ३७७२ १४. वही, ११२४ १५. वही, २७९
१६. वही, ४१५ १७. वही, २९२२ १८. वही, २६६५
१९. वही, परि० ४१ २०. वही, १८७३ २१. वही, ४१५

संबंध वाचक :

	एकवचन	बहुवचन
मूल	जो	जे
विकृत	जा	जिन
अन्य	जाहि, जिह, जासु, जिहिं	जिन्हें, जिन्हैं

प्रश्नवाचक :

मूल	कौन, को
विकृत	का, कौन
अन्य	काहि, कहा, काहे

अनिश्चयवाचक :

मूल	एक, और, कोई, कोऊ, सब (सव) न
विकृत	काहू

अचेतन :	कछु, कछुक
निजवाचक :	आप, अपन
नित्य संबंधी :	सो
आदरवाचक :	आप

विशेषण

अकारांत	—	कुचैल, समरथ, अकथ आदि
औकारांत	—	मारौ, खारौ, सीरौ

धातु से बने विशेषण :

+क	चाहक, वाहक
+नि	मोहनि
+नी	हरनी
+वारे	रखवारे

क्रियार्थक संज्ञा से :

+हार हारू मेटनहार, बिलोबनहारु

सूरदास सौंदर्य के चितेरे हैं अतएव उनके द्वारा प्रयुक्त विशेषणों का व्यापक शैलीगत अध्ययन अपेक्षित है।

क्रियापद

ब्रजभाषा की क्रियाओं की रूपरचना में काल रचना तथा कृदंती रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। आज्ञार्थ में मूल धातुओं–उ (सुनाउ), –इ (सुनि), –यौ (जाइयौ),–हु (जाहु),–ओ जीवो) आदि का प्रयोग किया गया है।

वर्तमान निश्चयार्थ :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	—ओं (कहों)	—एँ (राखें)
	—ऊँ (ध्याऊँ)	
मध्यम	—अहि (मानहि)	—ति (देति)
अन्यपुरुष	—ऐ (सुनावै)	—एं (उचारें)

भविष्य निश्चयार्थ :

उत्तम पुरुष	—औंगो (लहौंगो)/—ओंगी
	—ऐहौं (लैहौं) /—य

कृदंतीय रूप :

वर्तमानकालिक	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
	—अत (आत/जात)	—त (जात)
	—तु (रहियतु)	—(संवारति)

भूतकालिक :

—औ (पायौ)	—ई (चली)
	—न्ही (कीन्ही)
	—नी (लजानी)

पूर्वकालिक :

—इ (देखि)
— ऐ (लै दै)

क्रियार्थक संज्ञा :

—न (मारन), नौ (लछनी), बौ (धरिबौ)

अव्यय :

क्रिया विशेषण :

अनत, अन्यत्त, आगें, इहाँ, उहाँ, ऊपर, कहँ, कहाँ, कहूँ, जहँ, जहाँ, दिग तरैं, तहँ, तहाँ, तहीं, तीर, निकट, नियरैं, नीचैं, नेरे, नेरैं, पाछैं, बिच, भीतर, मधि, ह्याँ, हवाँ आदि ।

निषेधवाचक—जनि, न, नहिं, नहीं, ना, नाहि दाहिन, नाहिनै, नाहीं, मति ।

संबंधवाचक तथा समुच्चय बोधक :

ढिग, नाईं, तन, समेत आदि ।

विभाजक—अथवा, कि, किधौं, की, कै, कैधौं, भावै ।

विरोध सूचक—नतरु, नातरु, पै ।

संकेत सूचक :

जद्यपि — तऊ तौ, जौ — तऊ — तौ
जद्यपि — पै जौ — पै,

स्वरूप वाचक :

जो, मनहूँ, मनु, मनौ, मानहुँ, मानौ ।

विस्मयादि बोधक :

धिक, त्राहि-त्राहि, जय,-जय, साधु—साधु ।

भाव सम्राट सूर ने मनोदशा-विशेष के चित्रण में भाषा को भाव के समांतर लाने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है । भाषा को प्रवाह और प्रभाव प्रदान करने वाली मिली-जुली शब्दावली उसी प्रयास का एक अंग और सूर की उस समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रतीक है, यह कथन सत्य है । सूर के विप्रलंभ श्रृंगार में गोपियों का करुण क्रंदन गूँजता है ग्रामीण युवतियों की सीधी-सादी भाषा में भी गंभीर चोट, भीतरी मार है, जिसमें अनायास ही व्रज में चलते हुए मुहावरों कविताओं का प्रयोग हुआ है, जिसमें गोपियों का भग्न-हृदय ही प्रतिबिंबित होता है । निराशा, प्रलाप, वेदना, उन्माद आदि की स्थितियों का भाषा में उतार पाना बहुत कठिन है, सूर इस क्षेत्र में भी सफल हुए हैं । कहीं-कहीं इस क्षेत्र में भाषा का अटपटा हो जाना स्वाभाविक ही है :

ऊधौ अब कुछ कहत न आवै ।
सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चाम के दाम **चलावै ।**[1]

इसमें 'चाम के दाम चलावै' का प्रयोग कितना सम्यक् और साथ ही चुभता हुआ है ।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग :

लोकोक्तियों और मुहावरों के सैकड़ों प्रयोग भरे हुए हैं । कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :

आकाश बाँधना :

तुम बाँधति आकास बात झूठी को सहै ।

दो कोड़ी का :

द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ लागत है बहु मोल ।

इस प्रकार हियरौ सुलगावत, सहद लाइ के चाटौ, धूप के हाथी, गुर चींटी ज्यों पाटी, हंस काग को संग, गुडी डोर ज्यों तोरी, दई प्रेम की फाँसी, मूँड़ चढ़ाई,

१. सूरसागर, ४२५७

हाथ बिकानी, बोहित के काग, भोंहें तानत, लोचन भये पराये, पवन को भुस भयो, गनन मृप खानि, गूँगै गुर की दशा आदि उदाहरण लिए जा सकते हैं :

आँख से ही प्रारंभ होने वाले अनेक उदाहरण हैं, मुहावरे हैं :

आँख उधारी, आँख गड़ि लागत, आवत न आँखि तर, आँखि दिखावत, आँख में धूर डालना, आँखि लगी, आँखि भरि देखों, आँखि नहिं मारत ।

कुछ लोकोक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं :

लै आऐ हौ नफा जानि कै, सबै वस्तु अकरी ।[1]
कहौ कौन पै कढ़त कनूका जिन अठि भुसी पछौरी ।
सूर सु बहुत कहे न रहे रस गूलर को फल फोरे ।
मूर सूर अक्रूर लै गये ब्याज निबेरत ऊधौ ।

सबसे अधिक प्रयोग 'भ्रमरगीत' के प्रसंग में हुआ है ।

भावानुकूल भाषा—स्थान-स्थान पर भावानुसार भाषा का रूप भी बदल गया है :

वीर—आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ ।[2]

क्रोध—क्रोध करि सुता सौं कहति माता ।
तोहिं बरजति मरी, अचगरी सिर परी, गर्ब गंजन नाम है विधाता ।[3]

व्यंग्य—ऊधौ, जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्याँ कौं नहिं पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने ।[4]

सूक्तियाँ—सूर के काव्य में सूक्तियाँ भी भरी पड़ी हैं, जैसे :

सिंहन को छौना भलो कहा बड़ो गजराज ।

लक्षणा और व्यंजना की दृष्टि से सूर की भाषा का पृथक् से अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है, उदाहरणार्थ एक पद उद्धृत है :

उधौ जान्यौ ज्ञान तिहारौ ।
जानै कहा राज-गति लीला, अंत अहीर बिचारौ ।[5]

कहीं-कहीं तो सूर अपनी उक्ति के समर्थन में समानांतर उक्तियों की झड़ी लगा देते हैं :

---

१. सूरसागर, ४२८१ २. सूरसागर, २७० ३. सूरसागर, २५८६
४. सूरसागर, ४१३६ ५. सूरसागर, ४५८५

मधुकर तुम हौ स्याम सखाई ।
पा लागौं यह दोष बकसियौ, सनमुख करति ढिठाई ।
कौनैं रंक संपदा बिलसी, सोवत सपनैं पाई ।
किहिं सोने की उड़त चिरैया, डोरा बाँधि उड़ाई ।[1]

सूर के काव्य में वाग्वैदग्ध्य के भी उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें शब्दों के चमत्कार से वक्रोक्ति की तो झलक आती है, साथ ही कथन में नवीनता और भावों में अतिशयता आती है। कुछ उदाहरण देखिए :

ह्वैं गई स्याम, स्याम की पाती ।

पद-वक्रता— गोकुल सबै गोपाल उपासी ।

विशेषण-वक्रता—मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियौ तनक चितवन मैं, चपल नयन की कोर ।[2]

'भ्रमरगीत' में तो सूर की भाषा का साहित्यिक सौंदर्य इतने निखार पर है, शब्द-योजना इतनी आदर्श है और दृष्टांतों तथा उपमाओं का चुनाव इतना सार्थक एवं उपयुक्त है कि भाषा की दृष्टि से कवि अपनी सानी नहीं रखता।

प्रतीकात्मक प्रयोग :

प्रायः सूर वैदिक शब्दावली को लेकर उसका पारलौकिक अर्थ में प्रयोग करते थे। अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ इन प्रतीकों का ठीक से प्रयोग न समझ पाने के कारण समाज में इन पदों के लौकिक अर्थ को लेकर हँसी भी उड़ाई जाती रही है।

मन की चंचलता का प्रतीक 'गौ' मानकर भगवान् कृष्ण को अर्पण करने वाला सूर का मार्मिक चित्र द्रष्टव्य है :

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ ।
अब आज तैं आप आगैं दई, लै आइयै चराइ ।[3]

परब्रह्म ही कृष्ण हैं, ब्रह्म की शक्ति या प्रकृति राधा तथा जीवात्माएँ गोपियाँ, योग माया मुरली है, जो मनुष्य को ब्रह्म की ओर उन्मुख करती है। परमात्मा में जीवात्मा का आनंदमयलय हो जाना ही 'रास' है। मधुकर (भ्रमर) के प्रतीक के रूप में ही कृष्ण को उलाहना दिया गया है और इसी प्रतीक के माध्यम से उद्धव की आड़े हाथों खूब खबर ली गई है। समस्त भ्रमरगीत के पद इसी भाव को लेकर भरे हुए हैं, जो पृथक् अध्ययन का विषय है।

---

१. सूरसागर, ४५८६ २. सूरसागर, ४३५२ ३. सूरसागर, ५१

□ डा० श्यामसुंदर बादल

सूरदास की सूक्तियाँ

'विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्' अर्थात् विष से भी अमृत और बच्चे से भी सूक्ति ग्रहण कर लेनी चाहिए। सूक्तियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—लघु सूक्ति और पूर्ण सूक्ति। हिंदी के मुहाविरे और कहावतें लघु सूक्तियाँ हैं एवं पूर्ण वाक्यों या पद्यों के रूप में कहे गए वचन पूर्ण सूक्तियाँ हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'सूक्ति सुधाकर' में देव-वंदना-विषयक, नीति-विषयक एवं शिक्षाप्रद उन श्लोकों को भी ग्रहण किया गया है, जो श्रवण-सुखद, सुंदर शब्द-विन्यास और प्रसाद-माधुर्यादि गुणों से पूर्ण हैं। ये सूक्तियाँ भी काव्य के सौंदर्य-संबर्द्धन में अलंकारों की भाँति सहायक सिद्ध होती हैं एवं कभी-कभी तो ये अलंकारों के रूप में ही सामने आती हैं।

यहाँ सूर की कुछ सूक्तियों की स्वतंत्र रूप से एवं कुछ की विनय की सप्त-भूमिकाओं एवं प्रेमाभक्ति की एकादश आसक्तियों के परिप्रेक्ष्य में झाँकी दिखाने का प्रयास किया जा रहा है। सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से या लौकिक दृष्टि से लिखे गए कुछ पदों पर विचार कर लेना उचित होगा। कुछ पदों का प्रारंभ तो सूक्ति से ही होता है। संस्कृत की एक सूक्ति है—'विधिरहो बलवानिति मे मतिः, अर्थात् दैव-गति बड़ी बलवान् होती है। दूसरी सूक्ति है—'लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः' अर्थात् जो विधाता ने भाग्य में लिख दिया है, उसे कौन मिटा सकता है। महात्मा सूरदास जी ने भी कहा है :

भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह राहु, कहाँ वै रवि ससि, आनि सँजोग परै।
मुनि बसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी, रचि-रचि लगन धरै।
तात-मरन, सिय-हरन, राम बन-बपु धरि बिपति भरै।[१]

---

१. सूरसागर, २६४

एक ग्रामीण उक्ति है—'दोइ दीन सौं गए पाँडे, हलुआ मिले न माँडे'। सूरदास ने निम्नलिखित पद में इसका प्रयोग कितनी सरसता से किया है :

द्वै मैं एकौ तौं न भई।
ना हरि भज्यौ न गृह सुख पायौं बृथा बिहाय गई।[1]

इसी पद की अंतिम पंक्तियों में 'अब पछिताए क्या होत, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत' की सुंदर छटा देखी जा सकती है :

होत कहा अब के पछिताए, बहुत बेर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकलमई।[2]

सूर की आर्त्त-भक्त द्रौपदी की पुकार में भी उपर्युक्त सूक्ति का सरस प्रयोग दर्शनीय है :

राखौ पति गिरिवर गिरि-धारी।
× × ×
सूरदास अवसर के चूकें, फिरि पछितैहौ देखि उघारी।[3]

सूर ने तुलसी की भाँति विनय के बहुत से पद लिखे हैं। ऐसे पद भी सूक्तिपूर्ण हैं। वैष्णव-दर्शन में विनय की सात भूमिकाएँ मानी गई हैं। ये निम्न हैं—१. दीनता, २. मानमर्यादा, ३. भयदर्शन, ४. भर्त्सना, ५. आश्वासन, ६. मनोराज, ७. विचारण। दीनता नाम्नी प्रथम भूमिका में वे कहते हैं :

बिनती करत मरत हौं लाज।
नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।
और पतित आवत न आँखि-तर देखत अपनौ साज।
तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज।
पाछैं भयौ न आगैं ह्वै है, सब पतितनि सिरताज।
नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज।
अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब बृथा अकाज।
साँचैं विरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज।[4]

इस पद में 'लाज मरना', 'आँख के नीचे आना', 'बाज आना', 'पीठ देना' आदि कई सुंदर सूक्तियाँ देखने को मिलती हैं। मान-मर्यादा की दूसरी भूमिका में सूर का निम्न पद विचारणीय है :

---

१. सूरसागर, २६६ २. सूरसागर, २६६
३. सूरसागर, २४८ ४. सूरसागर, ९६

अब धौं कहौ, कौन दर जाऊँ।
तुम जगपाल, चतुर चिंतामनि, दीनबंधु सुनि नाऊँ।
माया-कपट-जुवा, कौरव-सुत, लोभ, मोह, मद, भारी।
परबस परी सुनौ करुनामय, मम मति-तिय अब हारी।
क्रोध-दुसासन गहे लाज-पट, सर्व अंध-गति मेरी।
सुर, नर, मुनि कोउ निकट न आवत, सूर समुझि हरि-चेरी।[1]

यहाँ 'किसकी शरण में जाऊँ' के अर्थ में 'कौन दर जाऊँ' एक प्रसिद्ध मुहावरा है। 'परवश पड़ना', 'हारना', 'किसी का समीप न आना' आदि मुहावरों के प्रयोग ने भावाभिव्यक्ति को बड़ी शक्ति प्रदान की है। इसी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में निम्न पद भी पढ़िए :

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसैं उड़ि जहाज को पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौं ध्यावै।
परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।[2]

इस पद में प्रायः सभी पंक्तियाँ सूक्तिपूर्ण हैं। 'जहाज का पंछी बनना', 'प्यासे का कुआँ खोदना', 'मधुकर का करील फल खाना', 'कामधेनु को छोड़कर बकरी दुहाना' सूक्तियों की कितनी सुंदर श्रृंखला उपस्थित की गई है। भय-दर्शन नाम्नी तीसरी भूमिका में सूर कहते हैं :

भक्ति बिनु बैल बिरानें ह्वैहौ।
पाउँ चारि, सिर सृंग, गुंग-सुख, तब कैसैं गुन गैहौ।
चारि पहर दिन चरत फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ।
टूटे कंधऽरु फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ।
लादत, जोतत, लकुटि काजि है, तब कहँ मूँड़ दुरैहौ।
सीत, घाम, घन, बिपति बहुत बिधि, भार तरैं मरि जैहौ।
हरि संतन कौ कह्यौ न मानत, कियौ आपुनौ पैहौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैहौ।[3]

इस पद में 'बिराने बैल होना', 'पेट न अघाना', 'लकड़ी बजना', 'पीटे जाना', फूटी नाकौं भुस खाना', 'भार के नीचे मरना', 'अपने किए का फल पाना', 'व्यर्थ जनम

१. सूरसागर, १६५ २. सूरसागर, १६८ ३. सूरसागर, ३३१

गवाँना' आदि लोकप्रिय सूक्तियों के प्रयोग दर्शनीय हैं। ऐसा ही निम्नलिखित पद है, जो भर्त्सना नाम्नी चतुर्थ भूमिका में आता है :

भजन बिनु कूकर-सूकर जैसौ।
जैसें घर बिलाव के मूसा, रहत बिषय-बस बैसौ।
बग-बगुली अरु गीध-गीधिनी, आइ जनम लियौ तैसौ।
उनहूँ कैं गृह, सुत, दारा हैं, उन्हैं, भेद कहु कैसौ।
जीव मारि कै उदर भरत हैं, तिनकौ लेखौ ऐसौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, मनौ ऊँट-वृष-भैंसौ।[1]

यह पद संस्कृत की निम्न सूक्ति का स्मारक है :

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः।

अर्थात् भोजन, सोना, भय होना एवं मैथुनादि व्यवहार तो मनुष्य और पशुओं में समान हैं। मनुष्य में धर्म ही विशेष गुण है, यदि वह नहीं तो मनुष्य पशु ही है। यहाँ मैथुन शब्द ने ग्राम्यत्व दोष और अश्लीलता ला दी है पर इसी भाव के सूर के उपर्युक्त पद में यह दोष नहीं है, वह सरस और प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त इस पद में 'बिलाव के घर मूषक रहना', 'पशु-पक्षी जैसा जीवन लेना' एवं 'ऊँट-बैल के समान भार ढोते रहना' सूक्तियों के प्रयोगों ने उसे और सरस एवं आकर्षक बना दिया है। सूर की निम्न पंक्तियाँ इसी भूमिका में विचारणीय हैं :

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करिए, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहै।[2]

यहाँ 'पंछी का उड़ जाना', 'देह का गर्व न करना' एवं 'देह को काक-गीध का खाना' आदि कितनी लोकप्रिय सूक्तियाँ सहज ही आगई हैं। 'आश्वासन' नाम की पाँचवीं भूमिका में कवि की निम्न पंक्तियाँ पठनीय हैं :

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
दीन-दयाल प्रेम-परिपूरन, सब-घट-अंतरजामी।
करत बिबस्त्र द्रुपद-तनया कौं, सरन शब्द कहि आयौ।
पूजि अनंत कोटि बसननि हरि, अरि कौ गर्ब गँवायौ।[3]

यहाँ द्रौपदी का 'सरन शब्द कह आन' एवं प्रभु का 'अरि कौ गर्व नसाना'

---

१. सूरसागर, ३५७ २. सूरसागर, ८६ ३. सूरसागर, १६०

सुंदर सूक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। विनय की छठवीं 'मनोराज्य' नाम की भूमिका में सूर का निम्न पद पढ़ा जा सकता है :

ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसा-नाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त निरंतर अनुरत, रसना चरित-रसाल।
लोचन सजल, प्रेम-पुलकित-तन, गर अंचल, कर माल।
ईहिं बिधि लखत, झुकाइ रहै जम, अपनैं हीं भय भाल।
'सूर' सुजस-रागी न डरत मन, सुनि जातना कराल।[1]

इस पद में 'सूर' की यह कामना कि 'जमराज अपने ही भय से सिर झुका कर रह जाए' अनूठी एवं सूक्ति-पूर्ण है। सातवीं 'विचारण' भूमिका है, इसके लिए निम्न पद पठनीय है, जिसमें 'सूर' अपने मन को ही संबोधित करते हुए कहते हैं :

रे मन मूरख जनम गँवायौ।
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ, स्याम-सरन नहिं आयौ।
यह संसार सुवा-सेंमर ज्यौं, सुन्दर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ रुई गई उड़ि, हाथ कछु नहिं आयौ।
कहा होत अब के पछिताऐं, पहिलैं पाप कमायौ।
कहत 'सूर' भगवंत भजन बिनु, सिर धुनि-धुनि पछितायौ।[2]

इस पद में 'जनम गवाँना', 'रूप पर लुभाना', 'हाथ कुछ न आना' एवं 'सिर धुनि-धुनि पछिताना' आदि लोकप्रिय सूक्तियाँ अपनी भाव-व्यंजना-शक्ति के साथ आ गई हैं। इसी भूमिका में निम्न पद भी प्रस्तुत किया जा सकता है :

रे मन, जग पर जानि ठगायौ।
धन-मद, कुल-मद, तरुनी कैं मद, भव-मद हरि बिसरायौ।
कलि-मल-हरन, कालिमा टारन, रसना स्याम न गायौ।
रसमय जानि सुआ सेंमर कौं चौंच घालि पछितायौ।
कर्म धर्म लीला-जस, हरि-गुन, ईहिं रस छाँव न आयौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, कहुँ कैसैं सुख पायौ।[3]

यहाँ भी 'सैंमर के फल में चौंच मार कर तोते का पछिताना' एवं 'इहि रस छाँव न आना' सुंदर सूक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं। माया-जाल में पड़ा रहना व्यर्थ है, अंत में पछताना पड़ता है—इस भाव को पहिली सूक्ति व्यक्त करती है एवं भगवान् के भजन से दूर रहने के भाव को दूसरी।

---

१. सूरसागर, १८९ २. सूरसागर, ३३५ ३. सूरसागर, ५८

भक्तियोग के साधक सूरदास जी प्रकृत कवि थे। उन्हें रचना करते समय रस, अलंकार या सूक्तियों को खोजना नहीं पड़ता था, सभी काव्य-गुण उनके पदों में अपने आप आ विराजते थे। 'सूर' की सूक्ति के संबंध में श्री व्रजनंदन जी गुप्त 'व्रजेश' का निम्न सवैया यहाँ स्मरणीय है :

लाख करोरनि के मन की गुड़ी-गाँसन कौं सुरझा गए सूर हैं।
बूँद जहाँ न परी रस की, तहँ प्रेम-कलिन्दी बहा गए सूर हैं।
जो न उड़ै कबहूँ सो 'ब्रजेश' कथा कौ कपूर गहा गए सूर हैं।
सूझि परयौ न पुराननि जो-सोई सूकती सौं ही सुझा गए सूर हैं।

सूर का 'सूरसागर' सूक्ति-रत्नाकर ही है। एक लेख में उनके द्वारा व्यवहृत सूक्तियों का परिचय देना संभव नहीं है। दिग्दर्शनार्थ ही यहाँ कुछ सूक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। सभी मुमुक्ष एवं भक्तजनों के लिए ये सद्गुरु का कार्य देती हैं।

☐ डा० श्रीमती स्नेहलता प्रकाश

सूरदास की शब्द-संपदा

साहित्य-शस्त्रियों ने साहित्य में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष की प्रधानता को स्वीकार किया है, क्योंकि जो भावुक, कल्पनाशील एवं संवेदनशील है, वही सच्चे अर्थों में साहित्य-सृष्टा है। उसमें भावों के अनुरूप शब्दचयन की योग्यता स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाती है। यह बात सूरसाहित्य पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। यद्यपि सूरदास जी जन्मांध थे, फिर भी उनका शब्द-भंडार पूर्ण सक्षम था तथा सफल शब्द-योजना के परिणामस्वरूप भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सरसता एवं प्रांजलता के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत निबंध में सूर की शब्द-संपदा का विश्लेषण संक्षेप में दो दृष्टियों से प्रस्तुत किया जाएगा :

१. शाब्दी संरचना अर्थात् भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण।

२. शब्दी अभिव्यंजना अर्थात सांस्कृतिक विश्लेषण।

शाब्दी संरचना :

शब्दों के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण से हमारा अभिप्राय यह है कि सूर के साहित्य में मिलने वाली शब्दावली किन-किन स्रोतों से गृहीत है, अर्थात् कवि ने किन-किन भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली शब्दावली को सुविधानुसार निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित किया गया है :

(क) संस्कृत के तत्सम शब्द।

(ख) पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द।

(ग) हिन्दी की बोलियों, यथा—अबधी, कन्नौजी, बुंदेलखंडी के शब्द।

(घ) अन्य भारतीय भाषाओं; यथा—पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी के शब्द।

(ङ) विदेशी भाषाओं, यथा—अरबी, फारसी के शब्द।

(च) देशज ध्वन्यात्मक शब्द।

(क) **संस्कृत के तत्सम शब्द**—सूर का जन्म-स्थान एवं साधना-क्षेत्र ब्रज प्रदेश होने के कारण उनकी भाषा ब्रजभाषा है, परंतु भावों के अनुकूल भाषा को सुगम बनाने के लिए तत्कालीन सभी बोलियों एवं उपभाषाओं के शब्दों का प्रयोग सूरसाहित्य में हुआ है। भारत की सभी भाषाओं का मूलस्रोत संस्कृत होने के कारण सभी बोलियों में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का भंडार बहुलता से प्राप्य है। सूरदास जी ने तो अपनी रचनाओं में संस्कृत के लगभग अस्सी प्रतिशत शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द यहाँ दिए जा रहे हैं :

(क) **आमिष-रुधिर-अस्थि अँग** जौं लौं, तोलौं **कोमल** चाम।[१]

(ख) **काम-क्रोध-मद-लोभ** अगिनि तें कहूँ न जरत बुझायौ।[२]

(ग) **विषयी** भजे विरक्त न सेए मन धन-धाम धरैं।
ज्यौं माखी, **मृग-मद-मंडित-तन** परिहरि, पूय परैं।[३]

साहित्य में कुछ ऐसे भी संस्कृत तत्सम शब्द प्राप्त हैं, मानो वे ब्रजभाषा के ही हों। पर उनका विश्लेषण करने पर विदित होता है कि वे ब्रजभाषा के न होकर शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं; जैसे—अज्ञान, अवस्था, अविद्या, आजीविका, उत्साह, उद्धार, उद्यम, उद्यान, उपचार, उल्लास, कल्पना, किंजल्क[४] आदि।

सूरदास जी ने जहाँ कहीं दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया है या शास्त्रीय-तथ्य-निरूपण किया है, वहाँ पर उन्होंने परंपरा से प्राप्त भागवत एवं अन्य पुराणों के पारिभाषिक संस्कृत तत्सम शब्दों को भी अपनाया है :

(क) आतम **ब्रह्म** लखावत डोलत, **घट-घट** व्यापक जोड़।[५]

(ख) कैसें सूर **अगोचर** लहियै, **निगम** न पावत चीनौ।[६]

सूरदास जी ने श्रीकृष्ण को ही परम ब्रह्म माना है, पर उनके लिए कुछ अन्य तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है—**अखिल अधिकारी** (२१२), **अखिल लोक के नायक** (१७७), **अजित** (१८१), **कृपानिधान** (१०६), **परमानंद** (१६३), **मुकुंद** (२४८), **श्रीनाथ** (२४८) आदि।

ब्रह्म के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान, माया, भक्ति आदि पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है—उपाधि, पिंगला, प्रत्याहार, मिथ्यावाद, विज्ञान, व्यष्टि, समष्टि, समाधि आदि।[७]

---

१. सूरसागर, ७६
२. सूरसागर, १५४
३. सूरसागर, १६८
४. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० ६३
५. सूरसागर, ४१६०
६. सूरसागर, ४१८१
७. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० ६४

(ख) **पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द**—सूरदास जी की शब्दावली में यत्र-तत्र, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्द भी प्राप्त होते हैं; **जैसे**—असवार= अश्वार या अश्वपाल :

करि अंतरधान हरि मोहनी-रूप कौं गरूड़ **असवार** ह्वै तहाँ आए।[1] उज्जल=उज्जवल—हंस **उज्जल** पंख निर्मल, अंग-मलि-मलि न्हाहिं।[2]

केहरि=केसरी—कठुला कंठ वज्र **केहरि** नख राजत रुचिर हिए।[3]

(ग) **हिन्दी बोलियों के शब्द :**

(१) **अवधी**—अस—तौ को **अस** दाता जु अपुन करि, कर कुठाँव पकरैगौ।[4]

कनियाँ—ता पाछै तू **कनियाँ** लै री।[5]

बियारी—कमल-नैन हरि करौ **बियारी**।[6]

(२) **कन्नौजी और बुंदेलखंडी के शब्द**—इन बोलियों के शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिए भूतकालिक क्रियारूप 'हुतो' तथा उसके विकृत रूप उपलब्ध होते हैं :

अरजुन के हरि **हुते** सारथी।[7]
तहाँ **हुतो** इक सुक कौ अंग।[8]

(घ) **अन्य भारतीय भाषाओं के शब्द**—सूरसाहित्य में पंजाबी, राजस्थानी एवं गुजराती शब्दों के प्रयोग बहुत ही कम मिलते हैं। जैसे—लोग कुटुँब जग के जे कहियत **पेला** सबहिं निदरिहौं।[9] जौ जग और **बियौ** कोउ पाऊँ।[10]

'पेला' और 'बियौ' गुजराती के शब्द हैं।

इतनिक दूर जाहु चलि कासी, जहाँ बिकति है **प्यारी**।[11] 'प्यारी' शब्द पंजावी का है।

(ङ) **विदेशी भाषाओं के शब्द :**

(१) **अरबी :**

अमीन—नैन **अमीन** अर्धमिनि कै बस जहाँ को तहाँ छयौ।[12]

---

१. सूरसागर, ४३५
२. सूरसागर, ३३८
३. सूरसागर, ७१७
४. सूरसागर, ७५
५. सूरसागर, ६७३
६. सूरसागर, ८४५
७. सूरसागर, २६४
८. सूरसागर, २२६
९. सूरसागर, २५६१
१०. सूरसागर, २०१
११. सूरदास की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० १२१
१२. सूरसागर, ६४

अमल—विषया गाँव **अमल** कौ टोटौ हँसि-हँसि कै उमयो ।[१]
असल—निहचै एक **असल** पै राखै टरै न कबहूँ टारैं ।[२]
कसब—आन देव की भक्ति-भाइ करि कोटिक **कसब** करैंगो ।[३]
जवाब—सूर आपु गुजरान मुसाहिब, लै **जवाब** पहुँचावै ।[४]
मौज—मनसानाथ मनोरथ-पूरन, सुख-निधान जाकी **मौज** घनी ।[५]

(२) फारसी :

अवारजा—करि **अवारजा** प्रेम प्रीति कौ असल तहाँ खतियावै ।[६]
कमान—कुबुधि **कमान** चढ़ाइ कोप करि बुधि तरकस रितयौ ।[७]
गुमान—भरी **गुमान** बिलोवति ठाढ़ी, अपने रंग रँगीली :[८]
दर—जीवत जाँचत कन-कन निर्धन **दर-दर** रटत बिहाल ।[९]
दामनग़ीर—इन पापिन तैं क्यौं उबरौगे **दामनग़ीर** ।[१०]

(च) देशज और ध्वन्यात्मक शब्द :

(१) **देशज**—सूरसाहित्य में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, जिनकी व्युत्पत्ति संदेहास्पद है । वास्तव में उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये शब्द संस्कृत भाषा अथवा बोली के हैं या विदेशी भाषाओं के । इनकी रूप-रचना कुछ इस प्रकार से मिली-जुली होती है कि इनको किसी भाषा विशेष के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता । ऐसे शब्दों को भाषाविद् देशज की संज्ञा से अभिहित करते हैं :

करवर—**करवर** बड़ी टरी मेरे की, घर-घर आनँद करत बधाई ।[११]
खुटिला—नक बेसर **खुटिला** तरिवन को गरह मेल कुच जग उवंग ।[१२]
धैया—दुहि ल्याऊँ मैं तुरत ही तू करि दै री धैया ।[१३]
झंगुलि—प्रफुलित ह्वै कै आनि, दीनी है जसोदा रानि
        झीनीयै झगुलि तामैं कंचन-तगा ।[१४]
ढाढ़, ढाढ़िनि—**ढाढ़िनि** मेरी नाचै-गावै, हौं हूँ **ढाढ़** बजाऊँ ।[१५]

---

१. सूरसागर, ६४
२. सूरसागर, १४२
३. सूरसागर, ७५
४. सूरसागर, १४२
५. सूरसागर, ३९
६. सूरसागर, १४२
७. सूरसागर, ६४
८. सूरसागर, ९१७
९. सूरसागर, १५९
१०. सूरसागर, ३३४
११. सूरसागर, ६६९
१२. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० १३३
१३. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० १३३
१४. सूरसागर, ६५७
१५. सूरसागर, ६५५

ढाढ़ी—हौं तौ तेरे घर कौ **ढाढ़ी**, सूरदास मोहिं नाऊँ।[1]

(२) **ध्वन्यात्मक शब्द**—भाषा के अंतर्गत कुछ शब्दों की संरचना कुछ विशेष प्रकार की ध्वनियों के अनुकरण पर भी की गई है। ऐसे शब्दों को भाषा-वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक शब्द कहते हैं: जैसे—चिड़ियों की ध्वनि के आधार पर ही 'चहचहाना' या 'चिंचियाना' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। इस प्रकार के शब्द प्रायः सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। सूरसाहित्य में भी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग मिलता है:

अरबराना—**अरबराइ** कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैंया।[2]
काँ-काँ—जैसें काग काग के मूएँ, **काँ काँ** करि उड़ि जाहीं।[3]
किलकना—निरखि जननी-बदन **किलकत** त्रिदस-पति दै तारि।[4]
कीक, कीकैं—भरि गंडूक, छिरक दै नैननि, गिरिधर भाजि चले दै **कीकै**।[5]
घहरात, गररात, दररात, हररात, तरात, झहरात, माथ नाए।[6]

शाब्दी अभिव्यंजना :

शाब्दी अभिव्यंजना अर्थात् शब्दों का सांस्कृतिक दृष्टि से विश्लेषण करने के पूर्व संस्कृति शब्द को बहुत थोड़े में समझ लेना अधिक समीचीन होगा। संस्कृति मानव-समूह के उन उदात्त गुणों का संकेत करती है, जो मानव-जाति में सर्वत्र पाए जाते हैं। परंतु अपनी-अपनी विशिष्टताओं के कारण उस समूह को सबसे पृथक् करते हैं। संस्कृति का क्षेत्र वास्तव में बहुत विस्तृत है; क्योंकि एक ओर उसकी सीमाएँ धर्म को स्पर्श करती हैं और दूसरी ओर समाज को अपने अंतस् में अवगुंठित किए हुए साहित्य पर प्रभाव डालती है क्योंकि समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध है। संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति के अंतर्गत वेष-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, विश्वास एवं परंपराएँ, धार्मिक कृत्य एवं राजनीतिक गतिविधियों का समावेश होता है। उनमें कुछ अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं; जिनके कारण वे अपने को अन्य संस्कृतियों से पृथक् उद्घोषित करती हैं।

भाषा और संस्कृति का आपस में घनिष्ठ संबंध होता है, क्योंकि दोनों की उद्भावना समाज में होती है। जो शब्द समाज में प्रचलित होते हैं, उन्हीं शब्दों से साहित्यिक भाषा की संरचना होती है। इसलिए प्रत्येक साहित्यकार के साहित्य में सांस्कृतिक शब्दों का समावेश न्यूनाधिक मात्रा में अनिवार्य-सा लगता है। सूरसाहित्य में सांस्कृतिक शब्दावली का बाहुल्य है।

---

१. सूरसागर, ६५३
२. सूरसागर, ७३३
३. सूरसागर, ३१६
४. सूरसागर, ६८६
५. सूरसागर, ९०५
६. सूरसागर, १४७१

प्रस्तुत वर्ग के अंतर्गत आने वाली शब्दावली को सुविधा के लिए निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) सामाजिक शब्दावली :

(१) पारिवारिक संबोधन के शब्द—घरनी (५१७), पत्नी (५६८), वनिता (५०), भामिनी (५६३), अली (६४२), सखी (४८८), सजनी (४८८), सहेलरी (६५८), सहेली (५३८), पिय (४८८), गुरुभगिनी, महतारी (६२९), माई (५२५), मात (८३७), माता (४९३), मातु (५३८), मैया (७१९), जमाता (४७१), डिंभ (७३५), ढोटा (६५०), पुत्र (५९५), पूत (६५०), बालक (४९०), लरिका (८३८), सुत (५०), दास (८३६), भृत्य (८२३), दासी (५३२), देवर (४८८), ठाकुर (५९८), नाथ (५९५), स्वामी (१४८), पाहुनी (८००), पिता (५३८), पितु (२७५), बंधु (३३६), भाई (५०३), भ्रात (४९६), बधू (५२५), भगिनी (६१७), संतान (५०), समधी (१५१), सहोदर (३३६), सास (८९४), सासु (७५३), सौति (४९३), स्वामिनि (५९६)।

(२) जाति-वाचक शब्द :

कनधार (५३३), धीवर (४८६), कापालिक (४५५), कहार, गढ़ैया (६५९), जगा (६५७), जमन (४५५), जरैया (६५९), जैनी (४५५), जोगिन (५३५), जोगी (५३५), ढाढ़िनि-ढाढ़ी (६५३), दाई, दानव (६१८), केवट (४८४) पसुपति (६१३), बढ़ई (६५९), बारिनि (६३७), भाट (६४६), मागध (६४६), मालिनी (६५०), सुनार (६५९), सूत (६४६)।

(३) जीवन-चर्चा संबंधी शब्द :

(अ) खान-पान—सूरसाहित्य में चार बार भोजन करने का वर्णन मिलता है—कलेऊ, दोपहर का भोजन, छाक और सायंकाल का भोजन, जिसे बियारी भी कहते हैं। इनमें प्रयोग किए जाने वाले भोज्य-पदार्थ निम्नलिखित हैं—लवनी, दधि, माखन, मिसिरी, खोवा मय मधुर मिठाई (गुझिया) दूध अधावट (गाढ़ा दूध), साढी (मलाई), प्यौसर, दूधबरा, दहिरौरी, पक्कौरी (पकौड़ी), जलेबी, खुरमा, सक्करपारे सेव, लाडू, मोती लाडू (मोतीचूर के लड्डू), खिर (खीर), गूझा, गाल मसूरी, हेसमि, बावर, मालपुआ, अंदरसे घेवर, खजूरी, पूरी।[1]

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य फल-मसालों आदि के भी नाम मिलते हैं; जैसे—सोंठ, मिर्च, लौंग, तेल, घृत, कपूर, मधु[2] खारिख, दाख, खोपरा, खीरा, केरा, आम, ऊख-रस, श्रीफल, चिरौंजी, चिउरा, खुबानी, सुहारी, खोवा[3], रोटी, किसमिस, गरी, बदाम, छुहारे, पिस्ता, तरबूजा।[4]

---

१. सूरसागर, ८०१
२. सूरसागर, ८०१
३. सूरसागर, ८२६
४. सूरसागर, ८३०

(आ) **वस्त्र-आभूषण**—सूरसाहित्य में बच्चों, स्त्रियों तथा पुरुषों की पोशाकों का वर्णन सूरदास जी ने संक्षेप में ही किया है। झगा या झँगुली (६५७), पिछौरी (४६४), बगा (६५७), आदि का उल्लेख बच्चों के वस्त्र के लिए मिलता है। स्त्रियों के लिए अँगिया (१६७१), कंचुकी (३४४४), अँतरौटा (४४), चूनरी (४४), लंहगा (१६६१), दच्छिन चीर (३५१६), पँचरँगसारी (१६६१), पुरुषों के लिए कमरी या कामरी (३३२), पीताम्बर (३४४०), उपरना (३४४४), पनही (४६३) या पाँवरि (४६७), पगिया, मुकुट (३४४४) आदि वस्तुओं का उल्लेख मिलता है।

विविध आभूषणों का उल्लेख भी सूरसाहित्य में मिलता है; जैसे—अँगूठी (५३०), मुदरी (५२७), मुद्रा (५३२), किंकिनी (७६६), तरौन (६४२), पैजनी (७६६), कठुला (७६६), बघनखा (७६६) आदि।

(इ) **सामान्य व्यवहार की वस्तुएँ**—ऐपन (६५८), किंवारा (५२०), पलंग (२३६), पालनौ (६१६), पाँवड़े (६१३), थार (६३५), माट (६४२), कंचन (६२२), कनक (६३०), रोरी (६५८),

(ख) **धार्मिक शब्दावली :**

(१) **धार्मिक विश्वास**—सूरदास जी भारतीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति से अनभिज्ञ नहीं थे। इसीलिए उन्होंने यत्र-तत्र धार्मिक विश्वासों से संबंधित शब्दावली का प्रयोग अपने साहित्य में किया है, जैसे :

जाकी कृपा पुत्र भए मेरौं कुसल रहौ बलराम कन्हाई।[1]
सत संजम तीरथ-व्रत कीन्हैं, तब यह सम्पति पाई।[2]
घृत मिष्ठान्न खीर मिश्रित करि परसि कृष्न हित ध्यान लगायौ।[3]

(३) **पौराणिक विश्वास**—सूरदास जी ने पौराणिक विश्वास के अनुसार श्रीकृष्ण को परमब्रह्म माना है और अपने साहित्य में पौराणिक नामों से ही यत्र-तत्र संबोधित किया है—अविगत (२), अबिनासी (२६६), कलानिधान (७), जगतगुरु (३), जगतपिता (३), जगदीस (३), जगन्नाथ (२८०), दीनदयाल (२१), दीनानाथ (२२), पुरुषोत्तम (२६६), सकल गुनसागर (२२१), सुखसागर (२२), आदि।

(२) **सामान्य विश्वास**—सामान्य विश्वास के अंतर्गत सूरदास जी ने शकुन-अपशकुन-स्वप्न आदि का उल्लेख किया है :

इतनो कहत नैन उर फरकै सगुन जनायौ अंग।[4]
रोवैं बृषभ, तुरग अरु नाग। स्याम द्यौस, निसि बोलैं काग।

---

१. सूरसागर, १४२६ २. सूरसागर, ६३४
३. सूरसागर, ८६६ ४. सूरसागर, ५२७

कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ । भयौ सोच नृप-चित यह जोइ ।[१]
घर घर हाथ दिवावति डोलत बाँधति गरै बँधनियाँ ।[२]
जाकौ नाँव सवित पुनि जाकी ताकौ देत मंत्र पढ़ि पानी ।[३]
कबहुँ अंग भूषन बनावति राइ लोन उतरि ।[४]

(३) **पूजा**—तत्कालीन समाज में इंद्र, गोवर्धन, शिव, पार्वती, सूर्य, शालिग्राम की पूजा अधिकतर प्रचलित थी, जिसका वर्णन सूरसाहित्य में भी मिलता है :

जा सुख कौं सिव गौरि मनाई तिय व्रत नेम अनेक करी ।[५]
दई असीस तरनि सम्मुख ह्वै चिरजीवौ दौउ भ्राता ।[६]
घंट बजाइ देव अन्हवायौ दल चंदन लै भेंटत ।
पट अंतर दै भोग लगायौ आरति करी बनाइ ।[७]

(४) **स्नान**—**गंग प्रवाह मांहि जो न्हाइ सो पवित्र ह्वै हरि पुर जाइ ।[८]**

(५) **दान**—**सूरदास सब मिलत परस्पर दानदेत नहि नंद अघाई ।[९]**

(६) **तीर्थयात्रा**—केदारनाथ, गया, नीमसार, बनारस, वारानसी, बेनी, ब्रज ।

(ग) **राजनीतिक शब्दावली**—भुवाल, भुवाला, भूप, राई, राना, रानौ, दूत, छुरीदार, द्वारपाल, नकीब, परजा, प्रजा, पायक, प्रतिहार, बानैत, रखवारे, सूत ।

छत्र, धुजा, पताक, सिंहासन, जहाज, नाव, नौका, रथ, खड्ग, आगर, चाप, धनु, धनुष, पिनाक, कुंत, चक्र, तूनीर, बान, सर, सायक, ब्रह्म फाँस, ब्रह्मबान, मुगदर, सिरस्त्राण ।

उजीर, कटक, दल, फौज ।

(घ) **अन्य शब्दावली**—जुहारा, जुहारी, दंडवत, पालागन, प्रनाम, असीस, हाथतारी, आँखि मुँदाई, चोर, ताल मृदंग ।

पनव निसान मुरज सहनाई ।
ढफ झाँझ भेरि पटह ।

सूरसाहित्य की शाब्दी संरचना एवं शाब्दी अभिव्यंजना का संक्षेप में विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास जी की शब्द-संपदा अपने में अद्वितीय है ।

---

१. सूरसागर, २८६
२. सूरसागर, ७०१
३. सूरसागर, ८७६
४. सूरसागर, ७३६
५. सूरसागर, ६६८
६. सूरसागर, ५३१
७. सूरसागर, ८७६
८. सूरसागर, ४५३
९. सूरसागर, ६३७

☐ डा० हर्षनंदिनी भाटिया

सूरसाहित्य में शृंगार-प्रसाधन

शृंगार-प्रसाधनों में सोलह शृंगार की परंपरा सूरदास से कई शताब्दियाँ पूर्व से चली आ रही थी। 'सूरसागर' में सोलह शृंगार को 'नवसत' तथा 'षटदस' दोनों प्रकार से कहा गया है :

नवसत : नव-सत साजि सिंगार **जुवति सब, दधि-मटुकी लिए आवत।**[1]

षटदस : षटदस-सहित सिंगार **करति हैं, अँग-अँग निरखि सँवारति।**[2]

सोलह शृंगार की परंपरा में प्राप्त लगभग सभी 'शृंगार' सूरसाहित्य में मिलते हैं, जिनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :

उबटन और स्नान : इन सभी शृंगारों का पर्याप्त विवरण सूरसागर में मिलता है। 'उबटन और तेल' लगाने का विवरण उस स्थल पर मिलता है, जब सखियाँ अपनी सुध-बुध बिसार, सब कुछ भूलकर और सर्वस्व त्यागकर कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि सुनकर चल देती हैं : **तेल उबटनौ त्याग्यौ दूरि। भागनि पाई जीवन-मूरि।**[3]

वैसे कृष्ण के स्नान के संदर्भ में भी 'तेल-उबटन' का उल्लेख है, जिसको देखते ही कृष्ण रोने लगते हैं। कृष्ण के सौंदर्य के संदर्भ में ही केसर के उबटन और तेल के उबटन का विवरण मिलता है। जलक्रीड़ा के प्रसंग में ऐसा उल्लेख मिलता है कि चंदन तथा कुंकुम के उबटन इतने अधिक छूटते थे कि कीच हो जाती थी : **चंदन अंग-कुंकुम छूटत, जल मिलि तट भई कीच।**[4] इससे सिद्ध होता है कि सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग भी विशेष रूप से किया जाता था। अनेक पदों में पानी से भीगे

---

१. सूरसागर, २११८
२. सूरसागर, २११५
३. सूरसागर, १७६९
४. सूरसागर, १७८१

पट, लट और अंगराग के बह जाने का सुंदर वर्णन है : **मलयज-पंकजकुंकुमा मिलिकै, जल-जमुना इक रंग ।**[१]

केश प्रसाधन तथा माँग में सिंदूर : स्नान के बाद लंबे, काले, घने बालों को सजाने का विवरण मिलता है। काले-काले केशों का चित्रमय वर्णन अनेक पदों में है। रूपशोभा की वृद्धि के लिए केश सहायक सिद्ध होते हैं। राधा के केश एड़ी को छू रहे हैं :

बड़े-बड़े बार जु एँड़िनि परसत, स्यामा अपनैं अंचल मैं लिएँ।
बेनी गूथन फूल सुगंध भरे, डोलत हरि बोलत न सकुच हिएँ।[२]

पुष्पों से गूँथे हुए केश मृदु तथा चिकने हैं : **अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गूंथे सुमन रसालहिं ।**[३] बिखरी अलकों तथा सुथरे बालों के वर्णन के बाद वेणी गूँथने का चित्रण है। माँग को दो भागों में विभाजित कर माँग निकालने का वर्णन भी मिलता है। **रची माँग सम-भाग राग-निधि, काय-धाम सरनी ।**[४] केशों को चमकाने के लिए तेल लगाने का वर्णन मिलता है। सूरदास ने गोपियों के बालों में कनक कटोरा भर तेल-फुलेल डालने की बात कही है।

सूरसागर में 'धम्मिल', माँग में सिंदूर भरने तथा माँग में मुक्तावली भरने का उल्लेख भी मिलता है।

वस्त्र-धारण : सूर ने जिन वस्त्रों का विशेष उल्लेख किया है, उनमें लहँगा, सारी, फरिया, चूनरी, ओढ़नी तथा चोली हैं। लहँगा ब्रजक्षेत्र का विशिष्ट वस्त्र रहा है। सबसे पहले कुषाणकालीन मूर्तियों में ग्वालिनें तथा इन्हीं श्रेणियों की स्त्रियाँ इस वस्त्र को पहने मिलती हैं। सूरसागर में तीन पाट वाले लहँगे को 'तिपाई' कहा गया है : **दच्छिन चीर तिपाइ कौ लहँगा ।**[५] लहँगा में नेफा, घेर, गोट और लामन—चार भाग होते हैं। लाल रंग के लहँगों का विशेष प्रचलन था। ब्रज का प्रधान वस्त्र लहँगा होते हुए भी साड़ी-सारी का प्रचलन निरंतर चलता रहा है। सूरदास ने कई प्रकार की साड़ियों का उल्लेख किया है; जैसे—पचरंग सारी, कुसुंभी सारी, झूमक सारी, ढ़िगनि की सारी आदि। सूरदास ने 'फरिया' को ही कहीं छोटा लहँगा और कहीं साड़ी चीर कह कर उसे छोटे रूप में वर्णित किया है। 'चुनरी' का व्यापक प्रयोग मिलता है, चुनरी लाल, नीले, पीले हरे अनेक गहरे चटकीले रंगों में मिलती है। नीला रंग व्यापक रूप से प्रसिद्ध है। उपर्युक्त सभी वस्त्रों का एक साथ उल्लेख भी मिलता है : **नीलांबर, पाटंबर, सारी, सेत पीत चुनरी, अरुनाए ।**[६]

---

१. सूरसागर, १७८०
२. सूरसागर, ३२३५
३. सूरसागर, १६७३
४. सूरसागर, २८०२
५. सूरसागर, ३५१९
६. सूरसागर, १४०२

ओढ़नी का पीत रंग विशेष प्रिय था। यही उपरना वस्त्र था, जिसको गोपियों से छीनकर कृष्ण ने डालों में लटकाया था। सर्वाधिक विवरण कंचुकी का मिलता है। कंचुकी के लिए अँगिया, आँगी, चोली आदि अन्य शब्द भी व्यवहृत होते थे। सूरदास ने अँगिया में अनेक प्रकार की अँगियों का वर्णन किया है, जैसे कटाव की अँगिया, नगों से जड़ी अंगिया।

माथे पर बिंदी लगाना : नारियाँ सेंदुर, बंदन (रोरी) चंदन, मृगमद आदि की बिंदियाँ और केसर आदि का तिलक या टीका लगाती हैं। बिंदी (बेंदी) चाँदी और सोने की भी बनती थी, जिससे गोरे भाल की शोभा बढ़ जाती है : **गोरे ललाट सोहै सेंदूर के बिंदी।** इसके साथ ही बंदन (रोली) के टीके का प्रयोग (१६७१), सिंदूर की बिंदी के साथ तिलक (२११६), केवल तिलक (३४५६), जड़ाऊ बिंदी (३२४६), सिंदूर की बिंदी (३२२६), मृगमद का तिलक (१६७३), माथे की टिकुली के रूप में श्री-सिरी का प्रयोग मिलता है। बिंदी के चारों ओर चुन्नी चिपकाने का भी संकेत मिलता है। कुंकुम का आड़ या तिलक भी लगाया जाता था।

आँखों में अंजन लगांना : सूरसागर में कज्जल और अंजन दोनों शब्दों के प्रयोग मिलते हैं : **आजु अंजन दियौ राधिका नैन कौं।**[१] आँखों में 'काजल–काजर' का प्रयोग किया जाता था : **दरपन लै कजराहिं सँवारत।**[२]

अधर राग-तांबूल-सेवन : सूरदास ने तांबूल-सेवन का उल्लेख अनेक पदों में किया है। तांबूल का नागवल्ली नाम भी प्रसिद्ध था। 'साहित्यलहरी' में इसके लिए नागवल्ली के पर्याय-रूप में सर्पबेलि, करि की शोभा, सेसलता के पत्र आदि का भी प्रयोग हुआ है।

सूरसागर में तांबूल का कई स्थलों पर प्रयोग मिलता है, जिससे इसके प्रचुर प्रचलन का भान होता है। तमोर, तमोल दोनों रूप मिलते हैं : **सुंदर सुघर कपोल हो, रहे तमोर भरि पूर।**[३] 'तांबूल' को जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह बीरी (बीड़ा) कहा जाता है। तांबूल की पीक से कपोल लाल रहते थे। जब कपोलों तक लालिमा थी तो अधरों की लालिमा उसमें ही व्यंजित है : **पीक कपोलनि लाल।**[४]

ठोड़ी पर तिल बनाना : सूरदास ने श्रृंगार के अन्य प्रसाधनों में ठोड़ी पर तिल बनाने की ओर भी संकेत किया है। यह काले रंग से बनाया जाता था : **कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंदु।**[५] मुख के गौरवर्ण पर काले तिल से रंग-विरोध होने के कारण सौंदर्य की वृद्धि होती है।

---

१. सूरसागर, ३०६८ २. सूरसागर, २८०७ ३. सूरसागर, ३२३१
४. सूरसागर, १६६१ ५. सूरसागर, ३२५३

अंगराग : सुगंधित द्रव्यों के लेपन की विधि का पर्याप्त उल्लेख सूरदास ने किया है। श्रृंगार संबंधी अनेक पदों में चोवा, चंदन, अरगजा, केसर-कपूर, मृगमद और अगरु आदि पदार्थों का उल्लेख भी मिलता है :

चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेऊँ।
गंधिनि ह्वै जाऊँ निरखि, नैननि सुख देऊँ।[१]

चंदन के साथ अगरु और कुंकुम को मिलाया जाता था। अरगजा और मरगजी सुगंध से सुवासित साड़ी पहनी जाती थी। जल-विहार में शरीर पर लगे चंदन, केसर, कमल-पराग, कुंकुम आदि के घुलने से जल रंग-बिरंगा हो जाता था। अनेक पदों में कुंकुम, अँगसिंगार, अँगरज का उल्लेख मिलता है।

महावर लगाना : सूरदास ने महावर लगाने के अनेक चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किए हैं। सूरसाहित्य में महावर के लिए दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं :

जावक :

नखनि रंग जावक की सोभा, देखत पिय-मन भावत।[२]

महावर :

नाइनि बोलहु नव रंगी (हो), ल्याउ महावर वेग।[३]

महावर विशेष रूप से नखों का प्रसाधन था। महावर का रंग विशेष चटकीला होने के कारण श्रीकृष्ण की पाग रँगने का भी काम कर देता था। ब्रज-वनिताओं में यह प्रसाधन बड़ा प्रिय रहा है : **चरन महावर नूपुर मनिमय, बाजत भाँति भली।**[४]

आभूषण धारण करना : 'सूरसागर' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें तत्कालीन प्रचलित आभूषणों के विवरण मिलते हैं। सिर के आभूषणों में 'शीशफूल' का उल्लेख तो प्रायः मिलता है : **बेनी गूँथि, माँग मोतिनि की, सीसफूल धारति।**[५] शीशफूल के अर्थ में ही कमलों का छत्र धारण करने का उलेल्ख 'साहित्यलहरी' में मिलता है : **देव के कौ छत्र छावत सकल सोभा रूप।**[६] कानों के आभूषणों में से 'साहित्यलहरी' में तो केवल कर्णफूल का ही उल्लेख मिलता है जबकि सूरसागर में खुटिला, तरिवन, तरकी, बीरा, कुंडल, कर्णफूल तथा अवतंस का विशेष विवरण मिलता है। नाक के आभूषणों में नथ, नथमुक्ता, नकबेसरि, नासामुक्ता, बेसरि मुक्ता उल्लेखनीय हैं। कंठ के आभूषणों में 'हार' का विशेष स्थान है। हृदय पर हार सुशोभित रहते हैं। सुगंधित पुष्पों की माला भी पहनी जाती थी। मोतियों की माला को विशेष महत्त्व प्राप्त था। एक साथ कई आभूषण भी पहने जाते थे :

---

१. सूरसागर, १६६३
२. सूरसागर, १६७२
३. सूरसागर, ६५८
४. सूरसागर, ३२३७
५, सूरसागर, २११६
६. सा० लहरी पद ३२

हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिन हार।
कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंदु।[1]

मोतियों के अतिरिक्त अन्य रत्नों तथा मणियों को भी हार में पिरोया जाता था। 'साहित्यलहरी' में मोतियों की माला के अतिरिक्त नौलखाहार (कंठलच्छ) का भी उल्लेख मिलता है। मुस्लिम प्रभाव से गुलुबंद, हमेल तथा चौकी का प्रचलन भी मिलता है। हाथों के आभूषणों में काँच की रंग-बिरंगी तथा हाथी दाँत की चूड़ियों का चित्रमय वर्णन मिलता है। चार-चार चूड़ियाँ बंद के साथ भी पहनी जाती हैं। वलय, टाड, बहुंटा तथा बाजूबंद के प्रयोग का वर्णन किया गया है। सूरसाहित्य में **'कंकन'** का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। कंकन के साथ 'कंकना' तथा 'कंगन' के प्रयोग भी मिलते हैं।

कटि के आभूषणों में सूरदास ने 'मेखला' का प्रयोग तो प्रायः कृष्ण के संदर्भ में किया है वैसे किंकिणी (२०८३ तथा ३४६०) का प्रयोग भी मिलता है। पैर के आभूषणों में नूपुर को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। यह मनिमय भी होते थे और सोने तथा रत्नों से जटित भी। इनको पहनने से ध्वनि होती रहती है : **चरन रुनित नूपुर रन-तूरा, सुनत स्रवन काँपहिंगे थर-थर।**[2] विवाहित स्त्रियाँ पैर की उँगलियों में बिछुए पहनती थीं। इसके साथ ही 'जेहरि' का विवरण भी मिलता है : **पग जेहरि बिछियनि की झमकनि, चलत परसपर बाजति।**[3]

इस प्रकार सूरसाहित्य में पर्याप्त शृंगार-प्रसाधनों का उल्लेख मिलता है। सूर द्वारा उल्लिखित आभूषण तथा वस्त्र आज भी ब्रज-संस्कृति के अभिन्न अंग बने हुए हैं।

---

१. सूरसागर, १६६१
२. सूरसागर, ३०७३
३. सूरसागर, २७७४

□ डा० बी० लक्षमय्या शेट्टी

सूरसागर में प्रतीक

"अपने समान गुणों या विशेषताओं अथवा मानसिक संबंध के कारण, जिस वस्तु को देखते या सुनते ही कोई अन्य लक्षित-वस्तु तत्काल ही बरबस स्मरण हो आती हो, उसे प्रतीक कहा जाता है।"[1]

फ्रायड प्रतीक को 'रूढ़' मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीकों का स्थिर और सार्वभौम अर्थ होता है; किंतु युंग इसके विपरीत प्रतीक को गत्यात्मक मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीक का अर्थ प्रसंग के अनुसार दो या अधिक हो सकता है। अत: प्रतीक का अर्थ सापेक्षिक रूप से प्रसंग, संदर्भ, वैयक्तिक साहचर्य एवं अन्य प्राप्य विवरणों के आधार पर ही निश्चित करना चाहिए।[2] सरोना लांगर तथा वैटहेड भी युंग के इस विचार से सहमत हैं। आगे 'सूरसागर' के प्रतीकों का विवेचन भी युंग के इसी दृष्टिकोण के अनुसार किया गया है।

सूरसागर के प्रतीक : सूरसागर के प्रतीकों को छ: वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अवतार-प्रतीक, (२) लीला-प्रतीक, (३) लीला-परिकर-प्रतीक, (४) सांस्कृतिक प्रतीक, (५) दार्शनिक प्रतीक और (६) काव्य-प्रतीक।

(१) अवतार-प्रतीक : सूरसागर में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि चौबीस अवतार-प्रतीक मिलते हैं :

मच्छ, कमच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि।
× × ×
कपिल, मनू, हयग्रीव पुनि, कीन्हौ ध्रुव अवतार।[3]

---

१. हिंदू संस्कार, डा० राजबली पांडेय, पृ० २३६
२. प्रतीकवाद, डा० पद्मा अग्रवाल, पृ० १५
३. सूरसागर, ३७९

रामकृष्णानंद के अनुसार, "दुनियाँ की बुराइयों को दूर करने के लिए जब भगवान् मांस-युक्त-रूप में आता है तब हम उसे अवतार कहते हैं।"[1] अर्थात् अवतार भगवान् (ब्रह्म) का आविर्भूत रूप है, जो इंद्रिय-ग्राह्य है। अतएव सगुण-साकार अवतार (दृश्य ब्रह्म) इंद्रिय-ग्राह्य रूप में ब्रह्म का प्रतीकात्मक रूप है।

अवतार-प्रतीकों की कुछ सामान्य विशेषताएँ ये हैं :

(१) अधिकांश अवतार-प्रतीक केवल मानसिक या कलात्मक प्रतीक न होकर मनोजैविक प्रतीक हैं। अवतार के रूप में ब्रह्म को साधारण-प्राणियों की भाँति प्रजनन संबंधी क्रियाओं से गुजरना पड़ता है, जैसे—परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि।

(२) अवतार-प्रतीक युग-विशेष की आवश्यकताओं, विवशताओं, रुदन-क्रंदन तथा हर्षोल्लास के द्योतक हैं। यथा—मत्स्य जगत् के विस्तार का; कूर्म जगत् की रक्षा का; वराह पशुओं के पारस्परिक संघर्ष का और नृसिंह पशु-मानव शक्ति का प्रतीक है।

(३) पौराणिक अपने देश, जाति या संस्कृति की रक्षा के लिए जिस अदृश्य शक्ति की कल्पना करते हैं और जो कभी वास्तविक रूप में व्यक्त नहीं हो पाती है, वही विस्थापित होकर अवतार-प्रतीकों में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार अवतार-प्रतीक पौराणिकों की रक्षात्मक कल्पनाओं के प्रतीक हैं।

(४) अवतार प्रतीक प्रातिभ-ज्ञान की अपेक्षा विश्वास की देन हैं। ऋषभदेव-जैसे धर्म-प्रवर्त्तकों, पृथु जैसे युगप्रवर्त्तकों आदि को विष्णु के अवतारों में जो स्थान मिला है, उसके मूल में लोगों का विश्वास ही काम कर रहा है।

(५) प्रत्येक अवतार की पृष्ठभूमि में जनसमुदाय की वर्गीय, जातीय, आध्यात्मिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में जाग्रत एवं प्रबुद्ध-चेतना का योग रहा है। इसी कारण प्रत्येक अवतार का अनेक दृष्टियों से प्रतीक-विवेचन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कूर्मावतार को ले सकते हैं। इस अवतार की व्याख्या तीन दृष्टियों से की जा सकती है—(१) सृष्टि-विकास की दृष्टि से, (२) आध्यात्मिक दृष्टि से और (६) सांस्कृतिक दृष्टि से।

सृष्टि-विकास की दृष्टि से कूर्म जगत् की रक्षा का प्रतीक है, क्योंकि समुद्र-मंथन के समय मंदराचल समुद्र में डूबने लगा तो देवताओं की प्रार्थना पर हरि ने कूर्म रूप धारण कर उसे अपनी पीठ पर उठाया था :

---

१. God and Divine Incarnations, Swami Rama Krishnananda, p. 70

मंदराचल समुद्र माहिँ बूड़न लग्यौ, तब सबनि बहुरि अस्तुति सुनाई।
कुर्म कौ रूप धरि, धस्यौ गिरि पीठि पर, सुर-असुर सबनि कैं मन बधाइ।[१]

आध्यात्मिक दृष्टि से कूर्मावतार का समुद्र-मंथन एक प्रतीकात्मक-सांग रूपक है, क्योंकि इस घटना से स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म ज्ञान (मंदराचल) तथा मानस (समुद्र) के सत्संग में आने पर अहं (वासुकी) वासनाओं (विष) के सांगत्य को छोड़ बैठता है। तब अहं और सूक्ष्म-ज्ञान मिलकर व्यक्ति की असद्प्रवृत्तियों (राक्षसों) का नाश करते हैं और सद्प्रवृत्तियों (देवताओं) को प्रोत्साहन देते हैं। मानस इसके लिए आवश्यक सहायता प्रदान करता है। फलतः, अंत में असद्प्रवृत्तियों को मृत्यु (सुरा) और सद्प्रवृत्तियों को मुक्ति (अमृत) मिलती है।

२. लीला-प्रतीक : लीला-प्रतीकों में कृष्ण की लीलाएँ आती हैं, जो दो प्रकार की हैं—(क) शिवत्वपरक लीलाएँ और (ख) माधुर्य लीलाएँ।

(क) शिवत्वपरक लीलाएँ : इनमें कृष्ण कंस के अनुचर और सहयोगी राक्षसों के संहार या दुष्टों के गर्व-भंजन के द्वारा ब्रजनिवासियों का दुःख और संताप तथा भूमि का भार कम करके अपने शिवत्व-रूप को प्रकट करते हैं। कागासुर-वध, शकटासुर-वध, वृषभासुर-वध, तृणावर्त-वध, दावानल-पान की लीलाएँ लौकिक आधार पर कृषि तथा गोपालक संस्कृति के रक्षक कृष्ण द्वारा कृषि तथा गोपालन के विरोधी काग, शकट, बक, वृषभ (जो अपनी भयंकरता के कारण लोक में असुरों के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं), तृणावर्त और दावानल के संहार की प्रतीक हैं। काग, शकट का अत्यंत वेग और नियंत्रणहीन-वृषभ फसल को नष्ट करते हैं। तृणावर्त अनाज उड़ा ले जाता है। दावानल जंगलों को जलाकर गोपालन को कठिन कर देता है। अतः कृषि तथा गोपालक संस्कृति के रक्षक कृष्ण द्वारा इनका अंत किया जाना स्वाभाविक ही है।

पूतना-वध, बकासुर-वध तथा अघासुर-वध की लीलाएँ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा कृष्ण द्वारा जीव की मोह, छल, पाप (जो पूतना, बकासुर, अघासुर के प्रतीकेय हैं) जैसी तामसिक प्रवृत्तियों का नाश करके उनका उद्धार करने की प्रतीक हैं। सूर ने पूतना को मोह के रूप में वर्णित किया है :

(अ) अंग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, नैननि माँह समाऊँ।[२]
(आ) रूप मोहिनी धरि ब्रज आई।[३]

---

१. सूरसागर, ४३५
२. सूरसागर, ६६७
३. वही, ६६८

उन्होंने बकासुर के छल को भी स्पष्ट किया है :

बकासुर रचि रूप माया, रह्यौ छल करि आइ।
चोंच इक पुहुमी लगाई, इक अकास समाइ।[1]

अघासुर का नाम ही स्पष्ट करता है कि वह पाप का मूर्तिमान प्रतीक है।[2]

गोवर्धन-धारण, लीला-प्रतीक को यों समझ सकते हैं—परंपरा से (योग, कर्म और ज्ञान मार्ग में) प्रचलित इंद्रिय-दमन रूपी इंद्र-पूजा के स्थान पर कृष्ण इंद्रियों के संवर्धन करने वाले गोवर्धन (गो=इंद्रिय, वर्धन=संवर्धन करने वाला) की पूजा का विधान करते हैं। माधुर्य-भाव के अंतर्गत कामनाओं का संवर्धन ही ग्राह्य है, दमन नहीं। अतः दमन के प्रतीक इंद्र का क्रोधित होना स्वाभाविक ही है और उससे रक्षा भी गोवर्धन-रूपी गोधन-संवर्धन से ही संभव है। इंद्र की पराजय माधुर्य-भाव-साधना पद्धति के समक्ष ध्यान, योग आदि में प्रचलित इंद्रिय-दमन की प्रवृत्ति की पराजय की प्रतीक है। पौराणिक दृष्टिकोण के अनुसार यह लीला हिंसाकारी प्रवृत्तियों के प्रतीक वृत्र-रूपी इंद्र के पराभव और शिवत्वभावना के प्रतीक गोवर्धनधारी कृष्ण की विजय की प्रतीक है।

(ख) माधुर्य लीलाएँ :

(i) माखन-चोरी-लीला : पुष्टिमार्ग के अनुसार गोपी रूपी जीवों की माखन रूपी संपूर्ण कामनाएँ कृष्ण-रूपी-परमात्मा की ओर ही उन्मुख होनी चाहिए, परंतु इस रहस्य को गोपियाँ समझ न सकीं। इसलिए कृष्ण को चोरी का ढंग अपनाना पड़ा। यही माखन-चोरी-लीला का रहस्य है। इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए सूर ने लिखा है :

मन मैं यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ।[3]

(ii) गोचारण लीला : वृहदारण्यकोपनिषद्[4] के अनुसार वाक्, प्राण और मन का समावेश धेनु में होता है। अतः धेनुओं को चराने वाले कृष्ण परब्रह्म हैं, क्योंकि वाक्, प्राण और मन का उपासक या रक्षक ब्रह्म-भाव को ही प्राप्त करता है। अतः गोचारण-लीला स्पष्ट करती है कि वाक्, प्राण और मन को जीतकर ही कोई आत्म-ज्ञान की ओर उन्मुख हो सकता है। गोचारण-लीला के समय कृष्ण ने जिन राक्षसों (बकासुर, अघासुर आदि) का हनन किया था, वे तामसी वृत्तियों के प्रतीक हैं। अतः गोचारण की संपूर्ण लीला सात्त्विक तत्त्वों के पोषण और तामसिक वृत्तियों के निराकरण का प्रतीकात्मक अर्थ ही देती है।

---

१. सूरसागर, १०४५ २. अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातक। श्रीमद्भागवत १०-२२-३८
३. सूरसागर, ८८६ ४. बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ५, ब्राह्मण ८, पृ० १२०५

(iii) **चीर-हरण-लीला :** इस लीला में कृष्ण परमात्मा के, गोपियाँ मर्यादा जीव की, यमुना संसार की, चीर संकोच तथा लोक-लज्जा का और कदंब ज्ञान का प्रतीक है। संकोच तथा लोक-लज्जा रूपी चीर के कारण संसार रूपी यमुना में निमज्जित मर्यादाजीव रूपी गोपियाँ परमात्मा रूपी कृष्ण के सामने पहले अपने निज-रूप में प्रकट नहीं हो पातीं। परंतु ज्ञान रूपी कदंब के स्वर्णिम आलोक में उनका संकोच तथा लोक-लज्जा धीरे-धीरे हटने लगती है और वे परमात्मा कृष्ण के सामने अपने निज रूप में प्रकट होती हैं। यह लीला पुष्टिमार्ग के इस सिद्धांत को स्पष्ट करती है कि मर्यादाजीव को परमात्मा से किसी बात का दुराव रखना नहीं चाहिए और यदि वह किसी कारण किसी बात को छिपाता है तो परमात्मा उसे प्रकट करता है।

(iv) **रासलीला :** कृष्ण की लीलाओं में रासलीला अत्यंत प्रमुख है। आध्यात्मिक-दृष्टि से यह लीला जीव के अहं के छूटने पर उनसे परमात्मा के मिलने की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करती है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने इसका योगपरक-प्रतीकार्थ प्रस्तुत किया है—"अनहद नाद ही भगवान् की वंशी ध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं, कुल-कुंडलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्त्रदल-कमल ही वह सुरम्य वृंदावन है, जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है, तथा जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की संपूर्ण शक्तियाँ सुरस्र-रास रचाती हुई नृत्य करती हैं।"[1] परंतु डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने योगक्रिया और रासलीला के कुछ उपकरणों का अंतर बताकर रासलीला को भिन्न प्रकार की योगक्रिया बताया है,[2] जिसे डा० वीरेंद्र सिंह ने प्रेमयोग की संज्ञा दी है।[3] वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रासलीला को सूर्यमंडल की गतिविधि का प्रतीक अथवा परमाणु की अनंतता का प्रतीक भी मानते हैं।

(v) **पनघट-लीला :** संसार (पनघट) के प्रति उन्मुख जीवों (गोपियों) को परमात्मा (कृष्ण) के द्वारा विभिन्न ढंगों से अपनी ओर आकृष्ट करना ही पनघट-लीला की प्रतीकात्मकता है।

(vi) **दधि-दान-लीला :** यह लीला परमात्मा (कृष्ण) के प्रति आत्मा (गोपियों) के संपूर्ण भाव से समर्पण की प्रतीक है।

(३) **लीला-परिकर प्रतीक :** लीला-परिकर प्रतीकों में कृष्ण-लीला से संबंधित पात्र-प्रतीक, स्थान-प्रतीक, नदी-प्रतीक, पशु-प्रतीक और वस्तु-प्रतीक आते हैं।

---

१. कल्याण, रासलीला में आध्यात्मिक तत्त्व, वर्ष ७, अगस्त, १९३१, पृ० १९४
२. सूरदास, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २०९-२१०
३. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, डा० वीरेंद्र सिंह, पृ० ३७८

पात्र-प्रतीकों में कृष्ण मुख्य हैं। सूरसागर में वर्णित कृष्ण के प्रतीकार्थ को समझने के लिए वैदिककाल से लेकर विभिन्न संप्रदायों तक आते-आते कृष्ण के स्वरूप में हुए विकास को जानना आवश्यक है।

महाभारत के कृष्ण के ज्ञानी, धर्मोपदेष्टा, योद्धा और परमात्मा के रूपों में आभीरों के वालकृष्ण-रूप, गोपाल-रूप तथा लीला-रूप के मेल से कृष्ण के उस स्वरूप का विकास हुआ, जो उनका अवतारी और पौराणिक रूप है। पुष्टिमार्ग के कवियों ने सांप्रदायिक भावना के अंतर्गत कृष्ण के उसी विकसित-स्वरूप को ग्रहण किया। सूर ने भी सूरसागर में कृष्ण को ब्रह्म तथा लीला दोनों रूपों का ही प्रतीक माना है। उन्होंने उन्हें निर्गुण बताते हुए भी उनके सगुण रूप में अवतार लेने की बात कही है—**सूरदास-प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नंद-धामहिं।**[1] उन्होंने उनके लीला-रूप का प्रमुख उद्देश्य अधर्म का नाश और भक्तों का उद्धार बताया है—**सूरदास-प्रभु ताप निवारन, हरन संत दुख पीर के।**[2]

राधा पुराण-तत्त्व के अनुसार ब्रह्म की शक्ति, सांप्रदायिक धारणा के अनुसार लीला का कारण तथा लीला का अंग और लौकिक आख्यानों के आधार पर कृष्ण की प्रेयसी है, जिसमें स्वकीया का आरोप किया गया है। गोपियाँ आत्मा की वृत्तियों, जीव अथवा उपशक्तियों की प्रतीक हैं। गोप इंद्रियों की पतन से रक्षा करने वाले हैं। बलराम एक ओर तामसी-प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, तो दूसरी ओर कृषि-संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक। नंद आनंद के प्रतीक हैं। यशोदा मुक्ति की प्रतीक है। देवकी कृष्ण के अवतार का माध्यम है।

स्थान-प्रतीकों में गोकुल आनंद-निलय का, लीलाधाम वृंदावन सात्त्विक हृदय और राधा की निकुंज-भूमि का प्रतीक है। नदी-प्रतीक-यमुना आत्मा की प्रतीक है, क्योंकि यमुना और कृष्ण का प्रेम आत्मा और परमात्मा के प्रेम जैसा है। श्री अरविंद ने पशु-प्रतीक गाय के ये प्रतीकेय बताए हैं[3]—सूरज की किरण, ज्ञान तथा चेतना, प्रकाश, पोषक या उन्नायक। गाय (गो) का कोशार्थ 'इंद्रिय' भी है।

वस्तु-प्रतीकों में मुरली योग-माया[4] अथवा मानव-शरीर[5] की प्रतीक है। लकुटी इंद्रिय-रूपी-गायों को सन्मार्ग पर ले जाने वाली है—**कबहुँ लकुट तैं जानु फेरि लै, अपने सहज चलावत।**[6] कमली माया की प्रतीक है, जो कृष्ण रूपी ब्रह्म को

---

१. सूरसागर, ११३३

२. वही, ३६८१

३. Sri Aurovindo's Vedic Glossary, compiled by A. B. Purani p. 20, 37, 52

४. नंददास ग्रंथावली, छंद ४६

५. The Tapovan Prasad, vol. V. No. 8, p. 29

६. सूरसागर, १२५०

आच्छादित किए रहती है और गोपी रूपी जीवों को उनके सही रूप से विमुख करती है।[1]

(४) **सांस्कृतिक प्रतीक :** सांस्कृतिक-प्रतीक लोक-विश्वास, संस्कार आदि रूपों में मिलते हैं। 'निछावर करना' एक लोक-विश्वास है, जो बुरी-शक्तियों के प्रभाव के नाश का प्रतीक है। कृष्ण के तृणावर्त के आघात से बच जाने पर गोपियाँ उनके ऊपर से आभूषण निछावर कर देती हैं[2] ताकि तृणावर्त के आघात का बुरा प्रभाव दूर हो जाए।

'सूरसागर' में संस्कार-प्रतीक राम तथा कृष्ण के संस्कारों के रूप में मिलते हैं। संस्कारों के विधि-विधान प्रायः प्रतीकात्मक होते हैं। उदाहरण के लिए 'सप्तपदी' या भाँवरी[3] को ले सकते हैं। यह उस क्रिया की प्रतीक है, जिसमें वर-वधू अग्नि की सात परिक्रमाएँ लगाते हुए अग्नि से सुखी पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक सात तत्त्वों (ऐश्वर्य, ऊर्ज, भूति, सुख, पशु, ऋतु, सख्य) की प्रार्थना करते हैं।[4]

(५) **दार्शनिक प्रतीक :** दार्शनिक प्रतीकों के अंतर्गत द्योतक प्रतीक, युग्म-प्रतीक तथा तांत्रिक प्रतीक आते हैं। सूर ने इन द्योतक प्रतीकों का प्रयोग किया है :

(i) जीव के द्योतक-प्रतीक—मृग (२२१), बैल (३३१), चकई (३३७), भृंगी (३३९), भ्रमरी (३३९), सुवा (३४०) आदि।

(ii) संसार के द्योतक प्रतीक—स्वप्न का माधुर्य, बादल, धूम (३१९), सेमर (३१३) आदि।

(iii) माया के द्योतक प्रतीक—नारी (४४), नटी (४८), मोहिनी (६२१), कामिनी (४३), गाय (५१), साँपिनी (३७५) आदि।

सूर ने भ्रमर और कमल के युग्म प्रतीक के द्वारा जीव और परमात्मा के और गोपियों तथा कृष्ण के अनन्य प्रेम की ओर संकेत किया है :

भौंरा भोगी बन भ्रमै, (रे) मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप।[5]

सूर ने निरंजन, सुरति आदि तांत्रिक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। संतों की निरंजन की धारणा में अनिश्चयात्मक और निश्चयात्मक तत्त्वों का सुंदर समन्वय

---

१. सूरसागर, २१३४
२. देति अभूषन वारि-वारि सब। सूरसागर, ६९६
३. फिरत भाँवरि करत भूषन, अग्नि मनो उजास। सूरसागर, १६८९
४. हिंदू संस्कार, डा० राजबली पांडेय
५. सूरसागर, ३२५

है। परंतु सूर की दृष्टि में निरंजन-आराध्य के परमपद का शब्द है या 'परमादि तत्त्व का वाचक शब्द है :

आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई, इच्छा एक औसर।[1]

सिद्धों ने 'सुरति' का प्रयोग प्रेम तथा रति के अर्थों में किया है तो नाथों ने शब्दोन्मुख चित्त के रूप में। परंतु सूर ने इसे स्मृति[2] तथा रति[3] प्रतीक के रूप में अपनाया है।

(६) **काव्य-प्रतीक**—काव्य-प्रतीकों का संबंध कवि समय, कवि प्रौढ़ोक्तियाँ, दृष्टिकूट आदि से है। 'चकोर का चंद्रिका पान' एक कवि समय है। चंद्रमा के प्रति प्रेम स्वभाव के कारण चकोर 'सूरसागर' में अनन्य प्रेमी का प्रतीक है :

सूर प्रभु की निरखि सोभा रहे पुर अवलोकि।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि।[4]

चातक का स्वाति-नक्षत्र-जल पीना एक कवि प्रौढ़ोक्ति है। अविचल टेक, बादलों से अनन्य प्रेम, प्रेम में स्वाभिमान और प्रियतम की उदासीनता पर निराश और पीड़ित न होने की प्रवृत्ति आदि के कारण सूर ने गोपियों के प्रेम के आदर्श की व्यंजना चातक के व्रत द्वारा की है :

सुनि परिमिति प्रिय प्रेम की, (रे) चातक चितवन पारि।
घन-आसा सब दुख सहै, (पै) अनत न जाँचै बारि।[5]

सूरकाव्य का चरम कलात्मक विकास दृष्टिकूटों में मिलता है। उन्होंने 'सारंग' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग कर पौराणिक प्रसंग को अत्यधिक सुंदर रूप दिया है।[6] सूर ने अन्यत्र रूपकातिशयोक्ति अलंकार की सहायता से राधा के अंगों का सुंदर वर्णन किया है।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरसागर में विभिन्न प्रकार के प्रतीक और एक-एक प्रकार के अंतर्गत अनेक प्रतीकाश्रय और एक-एक आश्रय के अनेकानेक प्रतीक हैं। सूरसागर के परंपरागत प्रतीकों में भी परंपरा के अतिरिक्त नवीन अर्थों का समावेश भी हुआ है। सूरदास के कृष्ण जहाँ एक ओर वैदिककालीन इंद्र और सूर्य के तत्त्वों को ग्रहण कर विष्णु से एकाकार होते हुए दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर

---

१. सूरसागर, ३७९ २. वही, ४३३५ ३. वही, ३९५२
४. वही, ८३६ ५. वही, ३२५ ६. वही, ३३
७. वही, २७२८

वे कुछ लौकिक तत्त्वों एवं संप्रदाय के सिद्धांतों से संयुक्त भी हैं। इस प्रकार सूर के कृष्ण में जहाँ परंपरागत कृष्ण का स्वरूप है, वहीं उनमें माधुर्य-भावना का आरोप भी, अतः कृष्ण के प्रतीक में एक ओर अलौकिकता से संक्रमण लौकिकता के रूप में है तो दूसरी ओर लौकिकता से संक्रमण अलौकिकता में भी है। संक्षेप में, सूरसागर में प्रयुक्त प्रतीक सूर के भक्तिपरक जीवन-दर्शन के लिए माध्यम हैं और उन्हीं के द्वारा धर्म और पुराण के एक स्वस्थ दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या हुई है। काव्य के क्षेत्र में सूर के दृष्टिकूट प्रतीक-कला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और इस क्षेत्र में अन्य कोई कवि उनकी ऊँचाई का स्पर्श नहीं कर सका।

□ श्रीमती सविता किशोर

सूरसागर में बिंब-योजना

अनुभूति की गहन अंतःसलिला की अजस्रधारा में अवगाहन कराने हेतु कवि अपने स्पष्ट कथ्य से भिन्न अपनी अभिव्यक्ति को सुचारु रूप देने के लिए कुछ साधनों का प्रयोग करता है—या यों कहा जाए कि वह काव्य के मनोमुग्धकारी सरस, रमणीय भाव का प्रदर्शन वर्ण्य के संपार्श्व बहुत कुछ अवर्ण्य या अप्रस्तुत विषयों, बातों एवं पदार्थों का भी वर्णन करता है। इन्हीं अप्रस्तुत माध्यमों एवं कल्पनाओं को, जिन के द्वारा कवि-विशेष का कथ्य सहृदय में पूर्ण रूप, गुण तथा आकार-प्रकार के साथ सौंदर्यमय रसोद्रेक कर दे, मानस में भावों के अनुरूप एक प्रतिमा उपस्थित कर दे, बिंब-योजना की प्रक्रिया कहा जाता है। इस संघर्षपूर्ण जीवन की तड़पन और चटकन की यथार्थता—अतियथार्थता की अभिव्यक्ति सीधे ढंग से कर पाना असंभव है और फिर हर घाव तथा दर्द की अभिव्यक्ति और उसका चित्र बड़ा विचित्र और भिन्न होता है। कोई जरूरी नहीं कि हर दर्द कहने से अपना समूचा रूप प्रकट करदे, हर छटा किसी वर्णन से अपनी अनोखी अदा दिखा दे। पर, काव्य में बिंब-योजना एक ऐसी ही रचना-प्रक्रिया है, जो काव्य के अस्पष्ट, अभेद्य तथा अवर्ण्यभाव की भी एक सजीव, आकर्षक प्रतिमा मानस-चक्षु के समक्ष प्रकट कर काव्य-सौंदर्य की वृद्धि करती है। वास्तव में काव्य का कार्य भी यही है कि मनः चक्षुओं के समक्ष स्पष्ट, भरे-पूरे हृदयग्राही सतरंगी बिंब प्रस्तुत करे।

बिंब-योजना से सतरंगी भाव-भंगिमा के साथ काव्य में लालित्य-गुण बढ़ जाता है और इसी लालित्य-गुण को डा० परेश लालित्यचेतना के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि लालित्य उद्भावन की प्रक्रिया एक प्रकार की रमणीय बिंबोद्-भावन की प्रक्रिया है।[१] वास्तव में काव्य में बिंबों के सुनियोजन से ही उसका

१. डा० परेश, सूर की लालित्य चेतना, पृ० १२४

लालित्य उभरता है। रचनाकार का कर्म विशेष रूप से काव्य-कर्म के साथ अधिक गूढ़ और अभेद्य हो जाता है, इसी अभेद्य को भेद्य और गूढ़ को सरस बनाने के लिए कवि बिंब ग्रहण करता है—कुछ शाश्वत और कुछ निजी उत्पाद्य।

हिंदी साहित्य कोश में बिंब-योजना के विषय में लिखा है कि प्रस्तुत परिवेश के संवेदनों और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उसके मानस में अतीत की तथा कभी अस्तित्व न रखने, न घटने वाली वस्तुओं और घटनाओं की असंख्य प्रतिमाएँ भी रहती हैं। बिंब शब्द इसी मानस-प्रतिमा का पर्याप्य है। इन बिंबों या प्रतिमाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। उद्भावन के आधार पर प्रतिमाएँ दो प्रकार की मानी जाती हैं—स्मृतिजन्य और स्वरचित और ज्ञानेद्रियों के आधार पर दृष्टि, शब्द, गंध, रस, स्पर्श प्रतिमाएँ आदि अनेक प्रकार की होती हैं।[१] इन बिंबों के माध्यम से कवि जीवन और जगत् के स्थूल-सूक्ष्म, भौतिक-आध्यात्मिक, मूर्त-अमूर्त, परोक्ष-अपरोक्ष और कल्पना-सृष्टि के वैशिष्ट्य को उजागर करता है।

काव्य का मूल स्वर बिंबों के माध्यम से ही स्पष्ट होता है। ये बिंब अपने शरीर और आत्मा (शब्द, रस, रूप, गंध तथा स्पर्श आदि) से काव्य के सर्वस्व बन जाते हैं। डा० श्याम किशोर शर्मा के अनुसार बिंबों का कार्य विषय वस्तु को स्पष्ट करना तथा उसे मानस-चक्षु के समक्ष उपस्थित करना है। बिंब-प्रयोग से काव्य-कृति में कविता की लय, प्रभाव की तीक्ष्णता एवं अनुभूति की गहराई आ जाती है। बिंब काव्यात्मक चित्रों को व्यक्त करने का सबसे अच्छा माध्यम है।[२] प्रो० रामदहिन मिश्र का बिंब-योजना के विषय में कथन उचित ही है कि यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवियों की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद् बनाती है और रमणीयता को वर्द्धित करती है।[३] इस प्रकार बिंब को काव्य का प्रभावोत्पादक अपरिहार्य तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। लेविस तो प्रत्येक कविता में बिंब मानते हुए काव्य में बिंब की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[४] बिंब पूर्वानुभूति के आधार पर ही अधिक फबता है। लेविस का स्पष्ट कथन है कि बिंब को वस्तु-चित्रण से नहीं अपितु पूर्वानुभूति के विशिष्ट संदर्भ के आकलन से जोड़ना चाहिए।[५]

---

१. हिंदी साहित्य कोश, भाग १

२. डा० श्याम किशोर शर्मा, हिंदी गीति नाट्य : स्वरूप और विकास, टंकित प्रति पृ० ८७

३. प्रो० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ७३

४. Yet the image is the constant in all poetry and every poem is itself a image. —C. Day Luwis : The Poetic Image, p. 17

५. Every image recreates not merely an object, but an object in the context of an experience, and thus an object as part of relationship being in the very nature of metaphors. Ibid, p. 29

काव्य-रचना में बिंब-योजना की प्रक्रिया बहुत कुछ रचनाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। बिंबों (काव्य-चित्रों), रूपकों और प्रतीकों की सहायता के बिना कोई भी रचनाकार अपने युग के सत्य और सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। जिस रचनाकार में सूक्ष्म भावों, मनःस्थितियों और अनुभूति की तीक्ष्ण गहराई की पकड़ जितनी पैनी होगी, बिंबों का स्वरूप और उनकी रमणीयता उतनी ही प्रखर और हृदयग्राही होगी। सूर की बिंब-योजना उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के साथ विशिष्ट और उत्कृष्ट कोटि की है। डा० परेश का कथन है कि मध्यकालीन भक्तों में अवतारों की भाव-प्रतिभा के द्वारा उन्हें कलात्मक बिंब रूप में प्रस्तुत करने की विशेष प्रवृत्ति रही है। भक्त कवियों ने इन अवतारों की लीलाओं को अपना उपजीव्य बनाकर नव्य बिंबों से भर दिया। सूर का तो काम ही नित्यप्रति भगवान् का श्रृंगार गान करना था।[१]

सूर कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति सखा भावना पर आश्रित होने के कारण सुमधुर, कोमल, रमणीय तथा प्रेम के अपरिमित रंग-बिरंगे मोहक, आकर्षक विभिन्न रंगों में गुँथे हृदय के सूक्ष्म, मनोमुग्धकारी, विशेष रूप से बाल्यकाल और किशोरावस्था के, भावों से गुंफित हैं, जिसे सूर ने अपनी अद्वितीय बिंब-योजना से ऐसा संजोया-सँवारा है, जो भक्त एवं सहृदय के जीवन को रसविभोर करती हुई काव्यानंद की चरमोपलब्धि प्राप्त कराने में सफल हुई है। कृष्ण के बाल-वर्णन में तो सूर की बिंब-योजना अनूठी बन गई है, जिसकी रेखाएँ कहीं सूक्ष्म-तरल, कहीं तीखी-दृढ़ तथा अंतर्भेदी हैं, तो कहीं विराट् और सघन हैं—इनके विचित्र चित्रों के रंग की चमक-दमक सजीली और भास्वर है।

सूर की बिंब-योजना की व्यापक पृष्ठभूमि से सूरसागर का रंग-रूप तथा उसका सार्वभौमिक भाव-गांभीर्य एवं सौंदर्य और भी निखरा है। सूरसागर का व्यापक मनोरम भाव सूर के अनूठे बिंब (शब्द ध्वनि, रूप, स्पर्श और गंध आदि) पाकर साहित्य-पटल पर हीरे-मोती-सा चमक उठा। भावों की दृष्टि से सूर और उनका सूरसागर अद्वितीय है, इसमें कोई संदेह नहीं। भाव और उनके अनुकूल शब्दों से उभरे वस्तु-बिंब का रूप द्रष्टव्य है :

बारक जाइयौ मिलि माधौ।
को जानै तन छूटि जाइगौ, सूल रहै जिय साधौ।
पहुनैंहु नंद बबा के आबहु, देखि लेउँ पल आधौ।
मिलैंही मैं बिपरीत करि बिधि, होत दरस कौ बाधौ।
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिनि लाधौ।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ।[२]

१. डा० परेश, सूर की लालित्य चेतना, पृ० १२४ २. सूरसागर, ३८५०

सूरसागर में सूर ने ध्वनि-बिंब की सुनियोजना में अपनी अद्भुत पहुँच का परिचय दिया है। शब्दों का भाव एवं वातावरण के अनुकूल होना कवि-प्रतिभा का परिचायक ही नहीं अपितु बिंब-नियोजन की गहरी पैठ का द्योतक है। प्रचंड दावानल में ध्वनि-बिंब-योजना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।[१] यही नहीं इस प्रचंड दावानल की शांति के लिए घनघोर वर्षा के लिए निमित्त बादलों का दृश्य ध्वनि-बिंब में किस प्रकार फबता है, द्रष्टव्य है :

ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भए नंद, सब महर चकित भए, चकित नर-नारि हरि करत ख्याला।
घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थरथरात ब्रज-लोग डरपे।
तड़ित-आघात तररात, उतपात, सुनि नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपे।[२]

कृष्ण के बालवर्णन में तो सूर बेजोड़ हैं। कृष्ण के बाल-जीवन की जो झांकी सूर ने प्रस्तुत की है, उसका रूप-बिंब देखते ही बनता है :

सोभित कर नबनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए।[३]

रूप-बिंब का अनुपम दृश्य राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन में देखिए :

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी।
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि बर, दसन-दमक दामिनि-छबि छोरी।
गए स्याम रबि-तनया कैं तट, अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठ रुलति झकझोरी।
संग लरिकिनी चलि इति आवति, दिन-थोरी अति छबि तन-गोरी।
सूर स्याम देखत हीं रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।[४]

राधा-कृष्ण के प्रेम का प्रगाढ़ रूप एक-दूसरे का स्पर्श पाकर और निखर जाता है। इस स्पर्श भाव से जो बिंब उभरता है, वह उनके प्रेम-स्वरूप को पुष्ट करता है—कहीं कृष्ण का पीक राधा के कपोलों को सानता है—'कबहुँक बैठि अंस भुज धरिकै, पीक कपोलनि पागे'।[५] और कहीं राधा अपनी भुजा श्याम के ऊपर

---

१. सूरसागर, १२१४ २. सूरसागर, १४७३ ३. सूरसागर, ७१७
४. सूरसागर, १२९० ५. सूरसागर, १३०४

और श्याम की भुजा अपने हृदय पर रखती है—'अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, स्याम भुजा अपनैं उर धरिया'।[1] इससे जो स्पर्श-बिंब का चित्र बनता है, वह उनके प्रेम को परिपक्व बनाता है। यही नहीं, अपितु पूर्ण स्पर्श (आलिंगन) बिंब का चित्र भी सूर ने अनूठे ढंग किया है :

आलिंगन दै अधर पान करि खंजन कंज लरे।
हठि करि मान कियौ जब भामिनी, तब गहि पाइ परे।[2]

गंध-बिंब कवि की पैनी पहुँच का अनुपमेय रूप है। सूर दृष्टि के अभाव में भी अपनी अलौकि दृष्टि से ऐसे भाव और रसों में रमे कि उनमें खो ही गए। अपने परम इष्ट 'कृष्ण' के रंग, रूप और गंध में तो वे स्वयं को भी भूल गए और यह स्वयं को भूलना ही भक्ति की चरम स्थिति और प्रेम की अंतिम परिणति है। कृष्ण और उनसे संबंधित वस्तुओं, कथाओं आदि की गंध तथा उनके निरीक्षण-परीक्षण कीं दृष्टि तो उन्हें मानो विरासत में ही मिल गई हो, इसलिए उन्होंने इस गंध-बिंब को जी भर कर सँजोया है। बसंत पंचमी की गंध से कृष्ण की वासंती राग-लीलाओं को सूँघना और उनका वर्णन करना सूर का ही काम है :

सरिता सीतल बहति मंद गति, रबि उत्तर दिसि आयौ।
अति रस-भरि कोकिसा बोली, बिरहिनि बिरह जगायौ।
द्वादस बन रतनारे देखियत, चहुँदिसि टेसू फूले।
मौरे अँबुआ अरु द्रुम बेली, मधुकर परिमल-भूले।[3]

इस सबके अतिरिक्त-बिंब भावों को संप्रेषणीयता प्रदान कर औचित्य-स्थापन का धर्म पूरा करते हैं। भावों की प्रेषणीयता से सुकोमल भाव-बिंब की संरचना होती है :

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम-भोयो मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृष्ना नाद करिति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।[4]

यहाँ सूर की बिंब-योजना से लोभ, मोह, तृष्णा तथा माया सबको आकार प्राप्त हुआ है।

औचित्य-निवहि में सूर अद्वितीय हैं। औचित्य एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवन

१. सूरसागर, १३०६
२. सूरसागर, १३०७
३. सूरसागर, ३४७२
४. सूरसागर, १५३

और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी एवं सार्थक है। बिंब के लिए भी औचित्य-निर्वाह परमावश्यक है, औचित्य के अभाव में बिंब न तो सार्थक होता है और न ही सफल। सूरसागर में औचित्य-निर्वाह के साथ बिंबों का सफल प्रयोग हुआ है।

ऊधौ भली भई ब्रज आए।
विधि कुलाल कीन्हे काँचे घट ते तुम आनि पकाए।
रंग दीन्हौ हो कान्ह साँवरैं, अँग-अँग चित्र बनाए।
पातैं गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए।
ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूँक उसास विरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए।
भरे सँपूरन सकल प्रेम जल, छुवन न काहू पाए।
राज काज तैं गए सूर प्रभु, नंद नँदन कर लाए।[1]

इस लेख में सूर के बिंब-विधान की एक झलक मात्र प्रस्तुत की गई है, क्योंकि 'सूरसागर' तो आद्यंत बिंबों की खान है। इसलिए जो कुछ भी कहा जाएगा, थोड़ा ही होगा।

---

१. सूरसागर, ४३६६

□ डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल

सूरसाहित्य में प्रकृति

'काव्य' और 'प्रकृति'—इन दो संज्ञाओं या शब्दों की प्रतिक्रिया संवेदनशील पाठकों, कवियों व समीक्षकों पर, देशकाल, परिवेश व नाना साहित्यिक मतवादों व दार्शनिक विचारधाराओं के प्रभाव से, आज भिन्न-भिन्न होती है। प्रकृति का संबंध जितना एक रस-चेता, भाव-प्रवण या कल्पना-प्रवण व्यक्ति से होता है, उतना ही किसी शुद्ध बौद्धिक व्यक्ति से भी। 'वस्तु' (प्रकृति) तो वही रहती है—हाँ, उसके ग्रहण की विधि व भावविचारगत उपयोग की प्रक्रिया में निश्चय ही बहुत अधिक अंतर रहता है। अतः स्पष्ट है कि 'प्रकृति' शब्द में जो कुछ निहित है उसकी व्यंजना व्यक्ति के संस्कार-भेद व व्यक्तित्व-भेद से बदलती रहती है। इसी प्रकार युग-भेद से भी प्रकृति-विषयक संवेदना व अभिव्यक्ति बदलती रहती है। सूर के युग में 'प्रकृति' शब्द में जो कुछ भरा था, वह रीति-युग में नहीं रहा और रीति-युग में जो था, वह भारतेंदुयुग द्विवेदीयुग में व प्रसादयुग में नहीं रहा। छायावाद-युग में 'प्रकृति' के प्रति एक रोमांटिक-रहस्यवादी दृष्टि थी और आज विज्ञान-युग में तथ्य व यथार्थ के प्रेमी हो कर प्रकृति को जिस दृष्टि से हम देख रहे, हैं, उसमें रहस्य-कुतूहल व सहज जीवनोल्लास का अभाव स्पष्ट अधिकाधिक दिखाई पड़ रहा है।

पच्चीस वर्ष पहले 'सूरकाव्य में प्रकृति' विषय के प्रति कुछ और ही प्रतिक्रिया हो सकती थी। उसी ढंग से आज नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि आज 'प्रकृति' शब्द श्रवण के साथ ही, परिस्थितिवश, हमारे संवेदना-तंत्र को वैसा झंकृत नहीं करता, हमारी कल्पना को उतना उत्तेजित नहीं करता, हमारी भावुकता को उतना नहीं उभारता जितना पूर्व शताब्दियों में करता था। रस, भक्ति, कल्पना व आदर्श के स्थान पर आज विचार, तथ्य, तर्क, चिंतन व यथार्थ की प्रतिष्ठा हो गई है। यह सब मनुष्य के हित में हुआ है या और कुछ—यह तो 'बैलेंस शीट' लगा कर ही देखा जा सकता है।

विभिन्न जातियों के आदर्शों के भेद से व साहित्यों के पारस्परिक प्रगाढ़ संपर्कों के कारण 'काव्य'-विषयक धारणा भी आज सर्वत्र एक समान नहीं पायी जाती। आभिजात्यवादी, अभिव्यंजनावादी, रहस्यवादी, समाजवादी, स्वच्छंदतावादी, प्रतीकवादी, बिंबवादी धारणाएँ परस्पर बहुत भिन्न हैं। अतः किस निरापद भूमिका वाले काव्य को हम काव्य कहें ? काव्य के स्वरूप, उसकी प्रकृति, उसके कर्त्तव्य-कर्म और उसकी रचना-प्रक्रिया के संबंध में विचारकों में आज इतना मतभेद है कि काव्य का सर्वमान्य रूप खड़ा करना और उसे सहज ही स्वीकार कर लेना आज असंभव नहीं तो नितांत कठिन अवश्य हो गया है।

इस प्रकार 'काव्य' और 'प्रकृति' दोनों ही शब्द हमारे संदर्भ के लिए, विषय-विवेचन के द्वार पर ही आरंभिक कठिनाई उपस्थित करते जान पड़ते हैं।

वस्तुतः सूर-काव्य में प्रकृति पर विचार दो दृष्टियों से संभव है : वर्तमान युग के परिवेश—पर्यावरण, दबाव व चेतना को पूरी तरह विस्मृत करके (मनोविज्ञान की दृष्टि से यह संभव है या नहीं, यह एक दूसरी ही बात है) कल्पना के बल से सूर की अपनी ही भूमि पर पहुँच कर अथवा प्रकृति विषयक आज की साहित्यिक-सांस्कृतिक, दार्शनिक व वैज्ञानिक विचारधारा को अपनी चेतना में आत्मसात् करते हुए आज की आँख से, आलोचनात्मक दृष्टि से देखकर। दोनों ही दृष्टियों से किया गया विवेचन भिन्न प्रकार का होने को बाध्य है। अवश्य ही बहुत व्यापक दृष्टि से या बहुत ऊँचाई से जाकर देखने पर जीवन की मूल चेतना को आत्मसात् करते हुए दो सुदूर या भिन्न युगों की अथवा रस और बुद्धि की अथवा विज्ञान और साहित्य की, दो भिन्न दीखने वाली चेतना में भी समन्वय स्थापित किया ही जा सकता है क्योंकि जीवन इन देश-काल गत भेदों के होते हुए भी अंततः अपनी समग्रता में तो एक ही है। फिर भी इस विषय पर विचार करने की अपनी एक कठिनाई है ही, इसे आज अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूर द्वारा काव्य में प्रकृति का निरूपण मूलतः मानवीय, मनोवैज्ञानिक व रागात्मक भूमिका पर ही किया गया है; दार्शनिक जिज्ञासात्मक भूमि पर नहीं। यों तो रागात्मक व दार्शनिक-जिज्ञासात्मक भूमिकाएँ मानवीय चेतना की मूल समग्रता के नाते सर्वथा भिन्न नहीं है (वस्तु के स्वरूप-बोध के बिना राग व कल्पना के तत्त्व मन में जागृत नहीं होंगे और भावुकता व कल्पना के तत्त्व के समावेश के बिना कोरा तथ्यात्मक ज्ञान या प्रतीति स्थूल व निर्जीव रहेगी) पर प्रकृति को देखकर केवल उस के स्वरूप, उसके मूल स्रोत के अनुसंधान या उसकी जिज्ञासा और उसके प्रति बौद्धिक व दार्शनिक ऊहापोह ही करते रहना किसी भी कलाकार का एक विशेष वृत्ति (पैटर्न) है और प्रकृति के आधार मात्र या निमित्त से अपने व्यक्तित्व के रागात्मक, भावात्मक या कल्पनात्मक तत्त्वों को वेग से जागृत कर प्रकृति का भावन करना व क्रमशः उसकी

अंतःसत्ता में डूबना एक भिन्न ही प्रकार की वृत्ति (पैटर्न) है। सूर के आराध्य वल्लभाचार्य ने प्रकृति पर एक तत्त्वज्ञ के नाते दार्शनिक जिज्ञासा की, जो उनके दर्शन में समाविष्ट है; वल्लभाचार्य से दीक्षित-प्रेरित सूर ने अपनी रागात्मक प्रकृति से यह गीति-काव्य लिखा, जिसमें से, गहराई में जाकर, दार्शनिक दृष्टि ढूँढ कर निकाली जा सकती है। अतः दार्शनिक जिज्ञासा व रागात्मकता में अवश्य मूल में कहीं गहरा संबंध है। कवियों में प्रमुखता से रागतत्त्व ही उभरता है; दार्शनिक जिज्ञासा तो मात्र उनके राग की प्रारंभिक प्रेरिका मात्र ही कही जा सकती है। 'ब्रह्मसूक्त' में कहा गया है कि—"केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौ रुत्तरा हिता। केनेद मूर्ध्वं तिर्यक चान्तरिक्षं व्यचोहितम्।" किंतु 'प्रसाद' ने जब यह कहा :

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान।
हे अनंत रमणीय, कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।[1]

तो एक अत्यंत अनुभूति-संपन्न व प्रकृति-प्राण रागात्मक कवि की दार्शनिक जिज्ञासा ही प्रकट हुई थी, बस।

हम यह भी कहना चाहते हैं कि एक कवि का क्षेत्र प्रकृति का कोरा चित्रण मात्र नहीं है, सुख-दुःखात्मक भावों की मानव-सापेक्ष व्यंजना ही है। कोरा चित्रण चित्रकला का क्षेत्र है, काव्य का नहीं। हाँ, प्रबंधकाव्यों में आवश्यकतानुसार कहीं प्रभाव उत्पन्न करने या प्रभाववृद्धि के लिए तूलिका-चित्रण का न्यूनाधिक सहारा अवश्य लिया जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर आचार्य शुक्ल का कविता में प्रकृति-चित्रण विषयक दृष्टिकोण बहुत मान्य नहीं ठहरता—उसे कुछ सीमाओं के साथ ही ग्रहण या स्वीकार किया जा सकता है। आलंबन के रूप में प्रकृति को चित्रित करना कहीं-कहीं अवश्य कवि की सात्त्विक वृत्ति का प्रकाशक हो सकता है, पर इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि तूलिका-चित्रण से ही कवि का प्रकृति के प्रति सात्त्विक अनुराग का आकलन किया जा सकता है, हमें पूर्णतः मान्य नहीं।

हम स्पष्ट ही यह कहना चाहते हैं कि काव्य में प्रकृति का उद्दीपनगत प्रयोग ही स्वाभाविक व प्रभावशाली होता है। काव्य की मूल दृष्टि मानवीय है, उसका मुख्य उद्देश्य मानव-भावों का चित्रण या निरूपण ही है, कोरा ठंडा-ठंडा तूलिका-चित्रण नहीं, अर्थगर्भित व्यंजना है। फिर गीति-काव्य में तो, जिसमें सूरदास ने अपना हृदय खोलकर डाल दिया है, कवि का दायित्व और भी गहरा है; वहाँ कवि भेद-विग्रह व वर्गीकरण-विश्लेषण-विशिष्ट बुद्धि के परे जाकर एकत्व की संपादिका भावना व अनुभूति के ठेठ मूलों में जाकर वाणी का ऐसा समायोजन करता है, जिस

१. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २६

से गीतिकाव्योपयुक्त तन्मयता की प्रतिष्ठा होती है और यही संभवतः गीति-काव्य का सिद्धि है—विश्व के सभी श्रेष्ठ काव्य इसी सत्य को उजागर करते हैं। ऐसे आयोजन में केवल स्थूल बाहरी चित्रण व बौद्धिक विश्लेषण-विवेचन मात्र की गुंजायश कहाँ ? संयोग से सूर का विषय भी उनके आराध्य प्रेमावतार श्रीकृष्ण व श्रीकृष्ण के भौगोलिक परिवेश से नियंत्रित है। सहज ही इससे सूर के काव्य में 'प्रकृति' विषय का महत्त्व स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

यद्यपि सूर प्रकृति के व्यापक निरीक्षण तथा उसके साथ पूर्ण रागात्मकता का पूरा परिचय देते हैं किंतु यह भी निश्चित है कि इस सत्ता को वे प्रणय या प्रेम का' जिसका उन्होंने विशेष निरूपण किया है, साधन ही मानते हैं, कोई स्वतंत्र साध्य जैसी वस्तु नहीं। हाँ, साथ ही, यह अवश्य है कि प्रेम या प्रणय की तरल, सूक्ष्म, व्यापक व गंभीर अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का ग्रहण उनके लिए अनिवार्य ही है। प्रकृति के इस रूप में ग्रहण को केवल 'उद्दीपन जैसी काव्य शास्त्रीय स्थूल व औपचारिक संज्ञा से अभिहित करने से भी तृप्ति नहीं होती। सूर के संदर्भ में 'उद्दीपन' शब्द के उपयोग में वे सब मानवीय सजीवताएँ व मनोवैज्ञानिक सत्य समाए हुए हैं, जो प्रकृति के गूढ़ अनुराग से प्रेरित हुए हैं या प्रकृति के प्रति गंभीर अनुराग के परिचायक हैं।

यों तो प्रकृति के ऐश्वर्य से पगे भू-भाग—ब्रजमंडल—से संबंधित होने के कारण सूर के काव्य में सहज ही व पग-पग पर प्राकृतिक पदार्थों व दृश्यों का उल्लेख-समावेश मिल जाता है या मिल सकता है, पर प्रकृति के प्रति सूर के प्रगाढ़ अनुराग के निदर्शक कुछ पद ऐसे हैं, जो बड़े ही मार्मिक होने के कारण विशिष्ट कहे जा सकते हैं और जिनके द्वारा सूर और प्रकृति के वास्तविक अंतर्संबंध के स्वरूप का आकलन किया जा सकता है; उदाहरणार्थ, निम्न टेकों वाले पद :

(क) बिन गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।[१]
(ख) देखियत कालिंदी अति कारी।[२]
(ग) किधौं घन गरजत नहिँ उन देसनि।[३]
(घ) बरु ए बदरौ बरषन आए।[४]
(ङ) कोउ, माई ! बरजै या चंदहिँ।[५]
(च) आजु घनस्याम की अनुहारि।[६]

इन विशिष्ट पदों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर सूर-काव्य में निरूपित प्रकृति के संबंध में ये बातें कही जा सकती हैं :

---

१. सूरसागर, ४६८६ २. सूरसागर, ३८०९
३. सूरसागर, ३९२८ ४. सूरसागर, ३९२६
५ सूरसागर, ३९७७ ६. सूरसागर, ३९३३

सूर ने अपने पदों में प्रकृति का तूलिका-कौशल प्रदर्शित करने वाला चित्रण (जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रकृति के प्रति अनुराग के परिचायक की दृष्टि से विशेष रूप से सुझाया है) कहीं भी नहीं किया है। फिर भी, सूर का प्रकृति के प्रति स्वतंत्र अनुराग अथवा उनके हृदय का प्रगाढ़ व स्निग्ध रागात्मक संबंध नाना रूपों में छन-छन कर फूट पड़ता है :

(क) घन, विद्युत, दादुर, बक, मयूर, चातक, पिक, द्रुम-बेली, पंछी, तृन, चंद्र, कुमुदिनी, रवि, तमचुर आदि प्राकृतिक पदार्थों का बारंबार उल्लेख हुआ है। मानव (कृष्ण)-सापेक्ष रूप में उनके स्निग्ध स्मरण के द्वारा प्रकृति के प्रति अनुराग का पूर्ण आश्वासन मिलता है।

(ख) मानव जगत् में जिस प्रकार चेतन धरातल पर जीवन के नाना लौकिक या व्यावहारिक कार्य-व्यापार चलते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के जगत् में भी,—चाहे हम प्रकृति को जड़ भले ही कहें। जड़ प्रकृति-जगत् में जीवन-हिल्लोल के इस प्रकार प्रवाहित होते रहने की भावना में तीन बातें स्पष्ट हैं—(१) कवि ने जड़ प्रकृति पर चेतना का आरोप किया है, (२) कवि की सर्जनात्मक कल्पना-शक्ति प्रत्येक क्षण सजग-सक्रिय है, और (३) कवि ऐसा सहृदय व अनुभूतिशील है कि समस्त जड़ व चेतन जगत् को एक ही मूल प्रेरिका जीवन-शक्ति से परिचालित-संचालित व आंदोलित होते हुए अनुभव करता है।

(ग) इस प्रकार समग्र रूप में देखने पर हम अवश्य कह सकते हैं कि प्रकृति का आलंबनगत उपयोग भी सूर में खूब हुआ है—चाहे मोटे रूप में हम उनके प्रकृति-निरूपण को उद्दीपनगत निरूपण से ही विशेष रूप से संबद्ध रखें।

सूर की कुछ उक्तियों को लेकर हम प्रकृति-विषयक कुछ तथ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करें :

(१) **किधौं घन गजरत नहिं उन देसनि।**
किधौं हरि हरषि इंद्र, हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि।
किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिकनि बधे बिसेषनि।
किधौं उहिं देस बाल नहिँ भूलतिँ गावतिँ सखि न सुदेसनि।
सूरदास-प्रभु पथिक न चलहीँ कासौं कहौं सँदेसनि।[1]

जिस देश में घन, दादुर, मोर, बक-पिक, चातक आदि नहीं होते—वह देश भी कोई देश है। वहाँ लोग कैसे नीरस, निष्ठुर, निर्दय होंगे। तभी तो श्रीकृष्ण के पास से योग का ऐसा निर्मम-निष्ठुर संदेश आया है। ऊधो के प्रति गोपियों के इन

१. सूरसागर, ३९२८

वचनों में सूर की प्रकृति के प्रति भावुकता व स्निग्ध रागात्मक दृष्टि ही व्यंजित हो रही है :

(२) **बरु ए बदरौ, बरषन आए।**
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए।
कहियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तैं धाए।
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि-सँचि, पंछिन हूँ मन भाए।
समुझतिं नहीं ! चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास-प्रभु रसिक सिरोमनि मधुबन बसि बिसराए।[1]

यह गोपियों की उक्ति है। श्रीकृष्ण की कितनी भारी चूक या भूल है कि वे हमें शांति-शीतलता प्रदान करने के लिए यहाँ नहीं आ रहे हैं—वे तो हमें भूल गए। इतना ही नहीं, ऊपर से योग का संदेश भी भेज रहे हैं। और इधर यह देखो—प्रकृति के बादल सृष्टि को कैसी शीतलता व प्रफुल्लता प्रदान कर रहे हैं। प्रकृति व मानव की तुलना, प्रकृति व मानव का पारस्परिक रूप-साम्य, स्मृति की स्निग्धता व प्रकृति के प्रति अनुराग व्यंजित है :

(३) **देखियत कालिंदी अति कारी।**
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार-चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसिदिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[2]

कवि ने प्रकृति का शुद्ध उद्दीपनगत रूप में प्रयोग किया है। यमुना (जो स्वतः सुंदर है) श्रीकृष्ण के विरह में या उनकी स्मृति से भयंकर ज्वर में पड़ी जलती रोगिणी हो गई है। कल्पना का व्यापार स्पष्ट है। सांगरूपक खड़ा किया गया है, जिसमें अन्य अलंकार भी गर्भित हैं। प्रकृति के पदार्थों का या सामूहिक सौंदर्य का अपना कोई महत्त्व नहीं। विरही व्यक्ति प्रकृति को पूर्णतः अपनी भावना के रंग में ही रँग कर देखता है, देख सकता है, यह बात पूर्ण मनोविज्ञान-सम्मत है। मानवीय भाव-भूमि पर यही सत्य ठहरता है।

१. सूरसागर, ३९२६ २. सूरसागर, ३८०९

(४) आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनै साँवरे, सजनी, देखि रूप की आरि।
इंद्रधनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि।
गरजत गगन गिरा गोबिंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भईं ब्रजनारि।[1]

प्रकृति प्रिय के स्मरण की एक साधन या माध्यम मात्र है। घन, इंद्रधनुष, बिजली, बगपाँति, मेघ-गर्जन का यहाँ कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं। इन्होंने श्रीकृष्ण की पूरी रूप-छवि पर मन को पूर्णतः स्थापित-निमग्न कर दिया। अतः प्रकृति का महत्त्व यहाँ मानव (श्रीकृष्ण)-सापेक्ष है। उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे प्रकृति और मानव के पारस्परिक रूप-साम्य की सटीक व मनोहर कल्पना की गई है। नाना रंगों, रंग-छायाओं अथवा रंगों की पारस्परिक अन्विति व उनकी चटक-मटक की चित्र में गर्भित भावना भी ध्यातव्य है :

(५) बिनु गुपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब वै लता लगतिं तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल-फूलनि, अलि-गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनिभानु भईं भुंजैं।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं।[2]

प्रकृति को हृदय के शुद्ध भाव (प्रणय) के रंग में ही पूर्णतः रँग कर देखा गया है। प्रकृति का महत्त्व केवल मानव या मानव-भाव के नाते से ही है, उसके अपने निजी महत्त्व के कारण नहीं। मानवीय-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात तथ्यात्मक होकर पूर्णतः ग्राह्य है। प्रेम और सौंदर्य की भावना से असंपृक्त प्रकृति नीरस और ठूँठी ही नहीं है—भयंकर है, काटने को दौड़ती है, भूँज डालती है।

भारतीय और पाश्चात्य अद्यतन काव्य में प्रकृति के आज जो अनेकानेक नवीन उपयोग—मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन के बीच की तुलना द्वारा मानव-नियति की विडंबना की व्यंजना, सामाजिक स्थितियों पर व्यंग्य और कटाक्ष, जीवन की आलोचना, नवीन जीवन-परिवेश से संगत, प्रकृति के पदार्थों का प्रतीक रूप में निर्माण व ग्रहण आदि—सूर के काव्य में ढूँढने का प्रयास अप्रासंगिक या अनुचित ही होगा। नवीन काव्यात्मक रुचियों व अभ्यासों के कारण, देश-काल के अंतर को भुलाकर, हम कभी-कभी ऐसी अपेक्षाएँ कर उठते हैं, जो सर्वथा अनुचित होती हैं।

---

१. सूरसागर, ३६३३ २. सूरसागर, ४६८६

हमें किसी कवि को उसी की भूमि पर और उसी की ऐतिहासिक जलवायु में देखना चाहिए—यदि उसके प्रति अन्याय न करना चाहें तो। सूर का युग भक्ति का युग था, पुराणप्रियता का युग था [इंद्र, सुरलोक, पन्नग (वासुकि), राहु, केतु, शनि, शुक्र, मंगलादि नक्षत्रों का उल्लेख स्थल-स्थल पर मिल जाएगा], भिन्न विश्वासों व आस्थाओं का युग था; साहित्यिक-रूढ़ियों का युग था; हमारे अपने युग की-सी उन्मुक्त बौद्धिकता काव्य में उस समय अपरिचित थी; काव्य में पांडित्य व चमत्कार की अपनी महत्ता थी; कवियों को अलंकारों से प्रेम था।

इन स्थितियों व सीमाओं के साथ हम सूर के प्रकृति-काव्य का अनुशीलन करें तो उस युग का काव्य-सत्य कदाचित् हमारे हाथ लगे।

□ डा० एस० एन० गणेशन्

सूरसाहित्य का मनोवैज्ञानिक पक्ष

सौंदर्य के प्रति राग-भाव या आसक्ति मानव-मन की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। सौंदर्योन्मुख मन की सृजनात्मकता की दो परिणतियाँ हैं—भक्ति और कविता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य सामान्य धरातल की मानसिक प्रक्रियाओं और रागभावों से ऊपर उठकर, अपने संकुचित अस्तित्व के पार जाकर, किसी उदात्त तत्त्व या विश्वात्मा में तादात्म्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। इसी के परिणाम-स्वरूप उसमें भक्ति का उदय हुआ है, उसकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति काव्य-रूप में प्रकट हुई है। भक्ति-काव्य में सौंदर्य और उदात्तता एक जगह सम्मिलित हो जाती हैं; वह एक ओर विभिन्न सांसारिक विषयों की ओर भटकने वाले मन को एक परम सात्त्विक सत्ता में केंद्रित करके चरम शांति प्रदान करता है, तो दूसरी ओर इस केंद्रीभूत अनुभूति को तीव्रतम बनाकर मनुष्य को रागात्मकता के सागर में निमग्न कर देता है।

कृष्णभक्ति-काव्य, जो सौंदर्य और रागात्मकता को विशेष महत्त्व देता है, मन को अत्यंत स्वाभाविक दिशा में संचालित करके श्रीकृष्ण के मोहक रूप में तल्लीन कराता है। रामभक्ति-काव्य में नैसर्गिक रागभाव को मर्यादा, गरिमा और उदात्तता की दिशा में उन्मुख करके सात्त्विक आनंद की दशा तक पहुँचाया जाता है, तो कृष्ण-भक्ति-काव्य में मन को प्रमोद और उत्फुल्लता के मार्ग से चलाकर सौंदर्यजगत् के मोहक दृश्यों का दर्शन कराया जाता है। हृदय में तरंगित उद्दाम राग-भाव को रोके या दबाए बिना रूप-सौंदर्य और भावोत्फुल्लता के अलौकिक जगत् तक पहुँचाने का श्रेय कृष्ण-भक्त कवियों को ही है। हृदय की स्वाभाविक उल्लास-वृत्ति के अनुकूल रूप देकर भक्ति-मार्ग को सुगम बनाने के ध्येय से ही वल्लभाचार्य ने सैद्धांतिक रूप में शुद्धाद्वैत-मत की स्थापना करने के बाद, रूप और माधुर्य के आगार श्रीकृष्ण की

विविध रूपों में उपासना का समर्थन करते हुए, पुष्टिमार्ग चलाया। इसे अपनाकर जिन कवियों ने भक्तिकाव्य की अमृत-धारा बहायी है, उनमें सूरदास का स्थान अद्वितीय है।

सूरदास ने भक्ति के संवेदना-रूप को स्वीकृत कर उसे सबल मनोवैज्ञानिक आधार दिया है। मानवीय मनोवृत्तियों का गहरा ज्ञान और उनके सूक्ष्म रूपों की मूर्त अभिव्यक्ति ही सूर-काव्य की यथार्थता और मार्मिकता का कारण है। सूर-काव्य का क्षेत्र सीमित है। सूरदास जी ने भी 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण के बाल्य और यौवन की लीलाओं को ही विशेष महत्त्व दिया है। परंतु इस सीमित क्षेत्र में मानवीय संबंधों की जो मार्मिक अभिव्यक्ति उन्होंने की है, शायद ही और किसी कवि ने की हो। पारिवारिक जीवन के सबसे मार्मिक संबंधों को चुनकर, उनको अपार मनोवैज्ञानिक दक्षता के साथ प्रकट किया है।

सूर ने बालकृष्ण के प्रसंग में नारी और बालक के विविध मनोभावों को बड़ी बारीकी से दिखाया है। यशोदा और गोपियों का जो चित्रण सूर ने किया है, उसमें भारतीय ग्रामीण नारी का समुज्ज्वल रूप मिलता है।

भारतीय नारी का सर्वोज्ज्वल रूप मातृ रूप है। बालकृष्ण के प्रति यशोदा के विभिन्न भावों को एक सामान्य माता की मनोवृत्तियों के रूप में ही सूर ने अभिव्यक्त किया है। कन्हैया की छोटी-छोटी चेष्टाएँ भी उसे मुग्ध और पुलकित कर देती हैं। पैर का अँगूठा हाथ से खींचकर मुँह में डालना, अकेले पड़े-पड़े खेलना, अनजाने ही मुस्कराना, उठने का प्रयास करते बार-बार गिर पड़ना, मक्खन-दही लेकर मुँह में भर लेना आदि क्रियाओं को देखकर माता का मन हर्षोत्फुल्ल हो जाता है। उसकी हर चाल को, हर क्रिया को, हर दशा को देखती रहने वाली माता के मन में पुत्र के बड़ा हो जाने की इच्छा अत्यंत स्वाभाविक है। सूर ने यशोदा की इस इच्छा को स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। वह सोचती है कि कब मेरा बेटा बड़ा होगा, कब घुटनों के बल रेंगेगा, मैं कब उसके दूधिया दाँत देखूँगी, कब उसकी तोतली बोली सुनूँगी, कब वह वह मुझे 'माँ' कहकर और नंद को 'बाबा' कहकर पुकारेगा, कब मेरा आँचल पकड़कर झगड़ा करेगा।[1] हर माता के मन में उत्पन्न होने वाली ऐसी अभिलाषाएँ यशोदा के मन में भी उठती हैं। सार्वलौकिक मातृत्व और पुत्रत्व की अनेक मनोहर झाँकियाँ सूर-काव्य में मिलती हैं।

कृष्ण दूध न पीने का हठ करते हैं। माता यशोदा को एक उपाय सूझता है। वह कृष्ण को समझाती है कि कजरी गाय का दूध पीने से चोटी बढ़ेगी। विश्वास दिलाने के लिए सामने बैठे बलराम की चोटी दिखा देती है। बालक कृष्ण में स्पर्धा का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है, और वे दूध पीते हैं। इस तरह समस्या तत्काल

---

१. सूरसागर, १२

तो हल हो जाती है पर झूठ को कितने दिन तक छिपाया जा सकता है। कई दिन दूध पीने के बाद भी टटोलकर देखने पर चोटी बढ़ी हुई नहीं दीखती। कृष्ण को दुख और झुँझलाहट होती है। बाल-बुद्धि को यह सूझता है कि दूध पीने से नहीं, माखन-रोटी खाने से ही चोटी बढ़ेगी और माँ वह नहीं देती। शिकायत के स्वर में वे कहते हैं :

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी !
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै नागिनि सी भुइँ लोटी।
काँचौ दूध पियावत पचि-पचि, देति न माखन रोटी।[१]

बाल-मन की निरीह कल्पना में चाँद भी खिलोना होता है। पुत्र को खेल खिलाने वाली यशोदा उन्हें चंदा दिखा देती है[२] और खेल में उसे बुलाती है। कृष्ण तुरंत हठ पकड़ते हैं, माँ की गोद से उतर कर भूमि पर लोटने को तैयार हो जाते हैं, दूध पीने से इंकार करते हैं। यहाँ तक कि यशोदा का पुत्र कहलाना भी छोड़ देना चाहते हैं।[३] "तेरौ सुत न कहै हौं" कहकर माँ से रिश्ता तोड़ देने की धमकी देने वाले बालक से माँ का हृदय कितने दृढ़ बंधन से बँध जाता है ! माँ पुत्र के नटखटपन या हठ से कुपित नहीं होती, बल्कि वह अपने को दोषी मानती है, और कहती है कि मैंने ही तो भूलकर बच्चे को चाँद दिखला दिया—मैं ही भूलि चंद दिखरायौ, ताहि कहत मैं खैहौं।"[४]

इसी प्रकार खाना खाने में, नहाने में, सोने में—हर बात में बालक हठ करता है, माँ मनाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस हठ-मनोबल से माँ का हृदय पुत्र-वात्सल्य के कोमल तंतुओं से बँध जाता है।

पुत्र-वात्सल्य के कारण माता के मन में सदा पुत्र की भलाई की और उस पर कोई विपत्ति न आने की चिंता रहती है। अतः जब कृष्ण बाहर जाने लगते हैं तो "मारैगी काहू की गैया" कहकर रोकना चाहती है। लेकिन गोप-बालक को गाय का डर कहाँ तक रोक सकता है ? यशोदा एक और उपाय ढूँढ़ निकालती है। वह 'हौवे' का भय दिखाकर कृष्ण को रोकना चाहती है।[५] चार पाँच दिन तक यह चालाकी चल जाती है। इसके बाद कृष्ण को भी संदेह होने लगता है और वे पूछते हैं **"मैया कौन पठाए हाऊ ?"** पुत्र के संबंध में माता की उत्कंठा और बालक की बंधनों को तोड़कर स्वतंत्र विचरने की अभिलाषा दोनों को सूरदास ने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. सूरसागर, ७९३ २. सूरसागर, ८०६ ३. सूरसागर, ८११
४. सूरसागर, ८०७ ५. सूरसागर, ८३८

थोड़ा बड़ा हो जाने पर लड़के मिलकर खेलते भी हैं, और बीच-बीच में झगड़ भी पड़ते हैं। शिकायत माँ के दरबार में पहुँचती है, और माँ को निर्णय करना पड़ता है। ऐसी शिकायत के अनेक प्रसंग सूरसागर में मिलते हैं। बलराम, सुदामा और अन्य बड़े लड़के कृष्ण को बार-बार चिढ़ाते हैं। उन्हें 'काला' कहते हैं, तो कृष्ण को बड़ा क्रोध आता है। बलराम तो सप्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि कृष्ण नंद-यशोदा का पुत्र नहीं हैं। नंद गोरे हैं, यशोदा गोरी हैं तो कृष्ण कैसे काला हो गया ? जरूर उसे मोल लिया होगा। इस से अन्य बालकों को हँसी का अवसर मिल जाता है। इन सब से परेशान कृष्ण माँ से शिकायत करते हैं।[1] पुत्र के रोष और अमर्ष भरे शब्दों को सुनकर माता का मन तो भर जाता है, पर कृष्ण को सांत्वना देने के लिए 'जनम के धूर्त' बलराम की बातों में न आने को कहती है, और गाय की सौगंध खाकर विश्वास दिलाती है कि तू मेरा बेटा है, मैं तेरी माँ हूँ :

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूर' स्याम मोंहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।[2]

यशोदा साधारण भारतीय ग्रामीण माता की तरह अपने पुत्र के मनोभावों को, उसके इष्टानिष्टों को अच्छी तरह जानती है। इसीलिए हर दुर्घट प्रसंग को बड़ी आसानी से सँभाल लेती है।

बालकृष्ण के प्रसंग में सूरदास ने बालसुलभ चपलता और नटखटपन के कितने ही रोचक प्रसंग प्रस्तुत किए हैं। इनमें माखन-चोरी का प्रसंग बाल-मनोभावों के विश्लेषण और काव्यात्मकता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस प्रसंग को लेकर सूर ने अनेक पद लिखे हैं, जिनमें बालकृष्ण, गोपबालक, गोप-युवतियाँ, यशोदा सबकी मनोवृत्तियों का गहरा और यथार्थ चित्रण किया गया है।

इस प्रसंग का अवतरण भी यथार्थ और मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। एक दिन कृष्ण गोपबालकों के साथ खेलते-खेलते उनके सामने यह प्रस्ताव रखते हैं—**"चोरि माखन खाहु सब मिलि,"**[3] फिर क्या था, साथियों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। व्रजराज-नंदन ही चोरी का प्रस्ताव करें, सो भी माखन-चोरी का। कृष्ण को उनके इस अपार बुद्धि-कौशल के लिए बधाई देते हुए बालक एक-कंठ से प्रस्ताव स्वीकृत कर लेते हैं। व्रजमंडल में इस नूतन कार्य का उद्‌घाटन हो जाता है। कृष्ण और अन्य बालकों की इस चौर-वृत्ति की प्रेरणा असल में न मक्खन की लालसा है, न घर की दरिद्रता से जनित विवशता। यह शुद्ध शरारतीपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो किशोरों के मन में नैसर्गिक रूप में उदित होता है, और चार साथियों के मिल जाने पर पूरी उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँच जाता है। इस शरारत से बड़ों को परेशानी भी होती है, आनंद भी मिलता है। इस मनोवैज्ञानिक

१. सूरसागर, ८३३ २. सूरसागर, ८३३ ३. सूरसागर, ८८७

तथ्य से अवगत होकर ही कृष्ण-भक्त कवियों ने 'माखन चोरी' जैसे सामान्य और अनैतिक विषय को भी काव्य का विषय बनाकर चमत्कृत कर दिया है।

एक बार-चोरी की योजना सफल हो गयी, तो फिर शरारत और आगे बढ़ती है। रोज-रोज माखन की चोरी, सींकों का टूटना, बर्तनों का फूटना—इन सब से ब्रज-रमणियाँ परेशान हो जाती हैं। पर चोर-मंडल का नेता ब्रजाधिपति का पुत्र है, यह जानकर वे पहले सह लेती हैं, फिर एक-दूसरी से कानाफूसी करती हैं, और कभी-कभी बालकों को पकड़कर डाँट बताती हैं। आखिर कोई चारा न देखकर वे यशोदा के पास जाकर शिकायत करती हैं—**तेरैं लाल मेरौ माखन खायौ……दिन प्रति हानि होति गोरस की, यह ढोटा कौनें ढँग लायौ।**[1]

इस शिकायत को सुनकर कृष्ण और गोपियों के प्रति यशोदा की जो प्रतिक्रिया होती है उसे भी सूर ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता के साथ चित्रित किया है। हर माँ के मन में यह दृढ़ विश्वास होता है कि अपना बेटा सच्चा होता है, भोला होता है, दुनिया ही उसमें दोष देखने को उतारू रहती है। गोपियों की शिकायतों को सुनकर यशोदा का पुत्र-वात्सल्य से ओतप्रोत मन मानने को तैयार नहीं होता। नन्हें कृष्ण को माखन-चोरी के लिए एकदम असमर्थ स्थापित करके वह गोपियों को ही झूठा बताती हैं।[2]

बड़ों से तनिक भी शरम न करके, जोबन-मद में इतराती फिरने वाली चंचल किशोरियों की बात का क्या भरोसा? मातृ-मनोविज्ञान के पूरे जानकार सूरदास ने यशोदा से बड़ा ही तर्कपूर्ण उत्तर दिलाया है। पर जब शिकायतों का सिलसिला जारी रहता है, तब उनको एकदम टाल देना भी संभव नहीं है। मार्मिक वेदना और कुंठा से ग्रस्त मन से यशोदा बेटे को समझाती है कि बेटा, तुम अब बाहर मत जाओ, तुम्हारे लिए ही तो मैंने छहों रस की चीजें बर्तनों में भर-भर कर रखी हैं। तुम क्यों पराये घर जाते हो।[3]

जब समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं होता, चोरी जारी रहती है, और शिकायतियों को जवाब देते-देते यशोदा तंग आ जाती है, तब उसके मुँह से कुछ कटु शब्द निकलने लगते हैं :

कन्हैया तू नहिं मोहिं डरात।
षटरस धरे छाँड़ि कत पर घर, चोरी करि करि खात।
बकत-बकत तोसौं पचि हारी, नैंकुहुँ लाज न आई।
ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई।
पूत सपूत भयौ कुल मेरैं, अब मैं जानी बात।[4]

---

१. सूरसागर, ९४९ २. सूरसागर, ९१२
३. सूरसागर, ९१३ ४. सूरसागर, ९४७

पुत्र के प्रति प्रेम, उसकी हरकतों पर क्रोध, जग-हँसाई का भय और लज्जा, अपनी विवशता-जनित कुंठा, सब के सम्मिलित रूप को सूरदास ने यहाँ मूर्त रूप में प्रस्तुत किया है। जब इस तरह मनाना, समझाना और डाँटना व्यर्थ होता है, तभी दंड का प्रयोग होता है। मन में अतीव व्यथा के साथ ही सही, यशोदा कान्ह को पीटती है और ओखली से बाँध देती है। माता के मन में उदित होने वाले रोष-भाव के क्रमिक विकास का चित्रण अत्यंत स्वाभाविक रूप में किया गया है।

यशोदा के ही नहीं, अन्य गोपियों के भी मातृ-भाव को सूरदास ने मोहक रूप में दिखाया है। गोपियों के प्रसंग में नारी का माता-रूप और कामिनी-रूप दोनों प्रस्तुत किए गए हैं। जब कृष्ण शिशु या बालक हैं, तब गोपियों के हृदय में सुसुप्त मातृ-भावना ही जागृत होकर प्रकट होती है। जब यशोदा शिकायतों से बाज आकर कृष्ण को पीटती है, ओखली से बाँध देती है, तब गोपियाँ हर्षित नहीं होतीं। उल्टे, उनका मातृत्व भाव और उभर-आता है, और वे यशोदा की ज्यादती पर कुपित होती हैं। पिटने पर कृष्ण का मुख डर से सिकुड़ गया है। इसे देख कोई अपने यहाँ से मक्खन ला देने को भी तैयार हो जाती है।[1] दूसरी नारी एक साधारण ग्रामीण माता की तरह कहती है—'घर का लड़का थोड़ा मक्खन खा गया तो क्या हुआ ? अपनी कोख से जन्मे पुत्र को इतना नहीं पीटा जाता' :

कहा भयौ जा घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ।
अहो जसोदा कत त्रासति हौ यहै कोखि को जायौ।[2]

कोई ग्वालिन ओखली से बाँधने से कृष्ण की भुजा पर पड़े डोरी के चिह्न को देख सहताप प्रकट करती है[3], तो दूसरी, "**जसुमति किहि यह सीख दई, सुतहि बाँधि तू मथति मथानी, ऐसी निठुर भई**"[4] कहकर यशोदा की निष्ठुरता पर रुष्ट होती है। नारी-मन का कैसा विचित्र रूप ! पहले शिकायत, और फिर अपराधी को दंड मिलने पर दया और सहताप। इन संकुल मानसिक प्रवृत्तियों को सूरदास ने बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है।

इस सहताप-प्रदर्शन का जो प्रभाव यशोदा पर पड़ता है, वह भी द्रष्टव्य है। वह वेदना और कुढ़न से भरकर कहती है—'तुम्ही ने तो थोड़ा-सा मक्खन खाने के कारण मेरे बेटे को बँधवा दिया। अब बढ़-बढ़कर बातें करती हो और कहती हो कि मक्खन मँगवाकर दे दूँगी, जैसे मेरे घर में कुछ नहीं है :

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।
अब मोहिं माखन देति मँगाए मेरैं घर कछु नाहिं।[5]

---

१. सूरसागर, ९७२ २. सूरसागर, ९७४ ३. सूरसागर, ९८५
४. सूरसागर, ९९९ ५. सूरसागर, ९७३

नारी मन की सरलता, आर्द्रता और परिवर्तनशीलता को सूर ने ऐसे यथार्थ चित्रों द्वारा साकार किया है।

नारी का दूसरा रूप सहज वासना से भरा रूप है। वासना जीवन की अत्यंत प्रबल शक्ति होती है, जिसका पूरा दमन असंभवप्रायः है। कृष्ण-भक्त कवियों ने इस नैसर्गिक वासना को सात्त्विक रूप देकर परब्रह्म कृष्ण के प्रति उन्मुख करने तथा उस पर आसक्त बनाने का ही प्रयास किया है।

गोपियों का यह वासना-भाव बालकृष्ण के प्रति उनके प्यार में ही प्रकट होता है। बालकृष्ण को पकड़कर छाती से लगाने और चूम लेने में, उनके नटखटपन से रुष्ट होने पर भी, उनके दर्शन की लालसा करने में, उनके हृदय में स्थित अस्पष्ट वासना का ही रूप प्रकट होना है। कहीं-कहीं सूर ने ऐसी वासना को प्रत्यक्ष दिखा दिया है। गोप-युवतियाँ कृष्ण को पकड़कर अंक से लगा लेती हैं, पर यशोदा के पास जाकर शिकायत करती हैं :

सुनहु महरि अपने सुत के गुन, कहा कहौं किहि भाँति बनाई।
चोली फारि, हार गहि तोर्यौ, इन बातनि कहौ कौन बड़ाई।[1]

इसके प्रतिवाद के रूप में कृष्ण स्पष्ट कह देते हैं **"खेलत तैं मोहिं बोलि लियौ इहिं, दोउ भुज भरि दीन्ही अँकवारि"**।[2]

कृष्ण के बाल्यकाल में ही गोपियों के मन में उत्पन्न होने वाला प्रेमभाव, युवावस्था में नारी-पुरुष के प्रेम के रूप में प्रकट होता है। इस प्रेम के क्रमिक विकास और विविध दशाओं का चित्रण सूरदास ने किया है। कृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों की जो विरह दशा है, उसका भी विशद् वर्णन मिलता है। संयोग और वियोग शृंगार के प्रसंगों में नारी मन के किन-किन गूढ़ तत्त्वों को सूर ने खोज निकाला है, और कितने यथार्थ रूप में मनोवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण किया है, यह देखते ही बनता है। कृष्ण गोपियों के मन में प्रविष्ट होकर उस मन की ही चोरी कर लेते हैं :

मेरैं हिय लागै मनमोहन, लै गए री चित चोरि।[3]

भ्रमरगीत के प्रसंग में तीव्र विरह-दशा की प्रायः सभी मनोवृत्तियों को मार्मिक रूप में प्रकट किया गया है। विरह-दशा का वर्णन कलात्मक दृष्टि से उत्तमकोटि का है, तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कम महत्त्व का नहीं है। विरह ही वस्तुतः प्रेम की कसौटी है। प्रेम जितना उत्कट होता है, विरह-वेदना भी उतनी तीव्र होती है, और विरह-वेदना जितनी तीव्र होती है, पुनर्मिलन का आनंद भी उतना तीव्र होता

१. सूरसागर, ६२१ २. वही, ६२२ ३. वही, १२८८

है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को दृष्टि में रखते हुए सूरदास ने गोपियों के विरह का अत्यंत विशद् चित्रण किया है। विरह की विविध दशाओं का जो विशाल और मार्मिक चित्रण सूरसागर के 'भ्रमरगीत' में हुआ है, वह सचमुच बेजोड़ है। आचार्य शुक्ल के मत में "यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही लें, अथवा भ्रमर-गीत को ही देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी, जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं।"[1]

मन की नैसर्गिक वासना के सात्त्विक रूप को ही भ्रमरगीत में अनावृत किया गया है। गोपियों की विरह-जनित मार्मिक व्यथा, निर्ममता से उन्हें छोड़कर गये हुए कृष्ण पर उनका क्रोध, उनको भूलने की चेष्टा करते हुए भी भूलने में असमर्थ होने के कारण उत्पन्न आत्मग्लानि, कृष्ण को भूलने और ज्ञानयोग सीखने का उपदेश देने वाले उद्धव के प्रति झुँझलाहट, उन्हें यथोचित उत्तर देने के प्रयास में स्वाभाविक रूप से निकलने वाले व्यंग्य-वचन, अपने ही भाग्य के खोटेपन के बारे में सोचकर होनेवाली निराशा—सब एक साथ क्रोड़ीकृत होकर भ्रमरगीत में प्रकट हुए हैं। कवि की संपूर्ण भक्ति-भावना और काव्य-प्रतिभा यहाँ मनोविज्ञान का आधार पाकर चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती हैं। एक ही मूल मनोवृत्ति विविध परिस्थितियों में कैसी भिन्न-भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं में परिणत होती हैं, इसके विस्तृत निरूपण से मनोव्यापारों की संकुलता भी स्पष्ट प्रकट हुई है।

अपने समस्त भावों और अनुभूतियों को एक ही वस्तु पर केंद्रित कर अहर्निश तीव्र वेदना में निमग्न गोपियों की विविध मनोदशाओं के चित्रण में सूरदास को अपार सफलता मिली है। वे मधुवन की ओर आँखें लगाये दिन बिताती हैं, जागते जागते ही रातें काटती हैं। कभी कृष्ण की कोई खबर सुनने को मिले, तो उससे मन की व्याकुलता बढ़ ही जाती है। घर सूना-सूना लगता है, सारा ब्रज ही मानो उनको काटने को दौड़ता है:

चितवत ही मधुवन दिन जात।
नैननि नींद परत नहीं सजनी, सुनि-सुनि बातनि मन अकुलात।
अब ये भवन देखियत सूने, धाइ-धाइ हमकौं ब्रज खात।[2]

कृष्ण उनको छोड़कर चले गये तो चले गये। फिर न कोई खबर, न समाचार। दो कौड़ी के कागज-स्याही लेकर दो शब्द लिख भेजने की भी उन्हें नहीं सूझी। इससे गोपियों को बड़ी निराशा होती है:

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भ्रमरगीत-सार, भूमिका, पृ० ३
२. सूरसागर, ३८६९

लिख नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ, लागत है बहु मोल।[1]

कभी-कभी उनकी व्यथा इतनी तीव्र हो जाती है कि वे सोचने लगती हैं—हरि के चले जाते ही हृदय ही क्यों न फट गया ? तब तो ऐसी व्यथा सहन करनी न पड़ती। वज्र से भी कठोर होकर उस 'पापी' ने क्या किया है ? घोर निराशा में गोपियाँ सोचती हैं कि उसी दम हलाहल पीकर जीवन का अंत ही क्यों नहीं कर लिया ?

हरि बिछुरत फाट्यौ न हियौ।
भयौ कठोर बज्र तैं भारी, रहि कै पापी कहा कियौ।
घोरि हलाहल सुनि री सजनी, तिहिं अवसर काहैं न पियौ।[2]

इस प्रकार जब गोपियाँ अत्यंत व्यथित रहती हैं और ब्रज में व्यथा को दूर करने का कोई उपाय नहीं रहता, तभी उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर वहाँ पहुँचते हैं। कृष्ण के पास से संदेश आया है, यह जानते ही गोपियों को जो हर्ष होता है, और उनसे निर्गुण ब्रह्म तथा योग-साधना के बारे में सुनने पर जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन सबका चित्रण सूरदास ने मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

मथुरा से कृष्ण ने अपने परम मित्र के द्वारा पाती भेजी है, यह जानकर उन सबको अपार हर्ष और उत्साह होता है। कोई पत्र लेकर पढ़ने लगती है, तो कोई आँखों से लगाती है, और कोई छाती से। कोई पूछती है कि क्या पत्र स्वयं कृष्ण ने लिखा है। जब उद्धव उन्हें पत्र पढ़कर सुनाने लगते हैं, तब वे तनिक आश्वस्त होती हैं कि आखिर उन्हें हमारा ध्यान तो है।[3] किंतु पत्र से, और उद्धव से यह जानकर कि उन्हें कृष्ण को भूल जाने का और योग-साधना द्वारा परब्रह्म को पाने का उपदेश दिया गया है, तो सारी आशा पर पानी फिर जाता है। क्या-क्या आशाएँ बाँध रखी थीं ? पर मिला केवल शुष्क योग-साधना का उपदेश। इससे जो घोर निराशा होती है, वह क्रोध और व्यंग्यवचनों के रूप में प्रकट होती है। जब उद्धव बार-बार कृष्ण के प्रति उनकी आस्था को हिलाने का प्रयत्न करते हैं, तब गोपियों की मंडली व्यंग्यबाणों की वर्षा करने लगती हैं। निराशा-ग्रस्त नारी के मन में कैसी उथल-पुथल होती है, और मनोवृत्तियाँ कैसे बदलती हैं, इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। योग का उपदेश देने वाले उद्धव से गोपियाँ कहती हैं कि ब्रज का हाल देखकर उनके पश्चात् अपनी सिद्धि और योग की कथा कहो।[4] यौवन के सहज राग-विरागों से भरी युवतियों को योग-शिक्षा ! यह भी कैसी बेतुकी बात है। उद्धव के

---

१. सूरसागर, ३८७२
२. सूरसागर, ३६२३
३. सूरसागर, ४१०६
४. सूरसागर, ४२३६

औचित्य-रहित उपदेश की हँसी उड़ाती हुई वे कहती हैं कि यह तो ऐसी बात हुई जैसे कोई गाय को हल में जोते, और बैल को दुहने का प्रयास करे।[१]

जिस चीज को उद्धव ने अमूल्य मानकर गोपियों के सामने प्रस्तुत किया, उसके अनमोलपन को मानती हुई ही वे उसकी पर्याप्त हँसी उड़ाती हैं। वे उपदेश देती हैं कि उद्धव, योग को भूल न जाओ, खूब गाँठ में बाँधकर रखो; नहीं तो कहीं छूटकर गिर जायेगा और पीछे पछताओगे। यह हम नारियों के किस काम का, तुम्हीं अपने पास सुरक्षित रखो।[२]

इस प्रकार अपनी व्यंग्य-विदग्धता और परिहास-चातुरी को प्रकट करने वाली गोपियाँ कभी-कभी अपने भोलेपन और विवशता का भी परिचय देती हैं। उद्धव के प्रति या योग-साधना के संबंध में उनका अनादर वस्तुतः कृष्ण के प्रति उनकी अदम्य प्रीति का ही परिणाम है। वास्तव वे में अपना मन तक लुटा बैठी हैं। कृष्ण तो मथुरा चले गए, साथ उनके मन को भी ले चले। अब परब्रह्म की उपासना के लिए मन है ही कहाँ?[३]

जब मन ही अपने हाथ में नहीं हैं तब कोई क्या कर सकता है? इस अकाट्य तर्क के सामने उद्धव को निरुत्तर हो जाना पड़ता है। सूरदास ने यहाँ गोप-नारियों के उत्कट प्रेम और तज्जनित विवशता को अभिव्यक्त करके सच्चे नारी-हृदय का ही उद्घाटन किया है। सभी व्यंग्य वचनों और परिहासों के साथ-साथ आंतरिक कोमलता और आर्द्रता अंत में प्रकट हो ही जाती है। पहले उबल पड़ने वाली गोपियाँ अपनी विवशता को जानकर और कातर हो जाती हैं। जब उन्हें मालूम होता है कि उद्धव के द्वारा ही अपनी व्यथा का समाचार कृष्ण को पहुँचाया जा सकता है, तब वे अत्यंत दीन होकर निवेदन करती हैं कि ब्रज का सारा हाल तुमने अपनी आँखों से देख ही लिया है। अब कृपा करके हरि को यह सब बता दो :

या ब्रज कौ ब्यौहार सखा तुम, हरि सौं सब कहिबौ।
देखे जात आपनी अँखियनि, या तन को दहिबौ।[४]

अपनी वेदना का और संपूर्ण ब्रज में फैली हुई व्यथा का पूरा विवरण देकर उद्धव से बड़ी नम्रता से निवेदन करती हैं :

कहियौ मुख संदेस जु हरि कै, हाथ दीजियौ पाती।
समय पाइ ब्रज बात चालिबी, सुख ही माँझ सुहाती।[५]

यहाँ एक ओर तो गोपियों की दीनता प्रकट हुई है तो दूसरी ओर उनकी व्यवहार-कुशलता भी।

---

१. सूरसागर, ४४६४ २. सूरसागर, ४४२७ ३. सूरसागर, ४३४३, ४३४४
४. सूरसागर, ४६७४ ५. सूरसागर, ४६८१

इस तरह विविध मनोवृत्तियों का विशद् चित्रण होने पर भी संपूर्ण भ्रमर-गीत की अंतर्धारा तीव्र प्रेम और विरह की है। उपालंभ ही विविध रूप लेकर भिन्न-भिन्न मनोदशाओं के रूप में प्रकट हुआ है। यह सूरदास का काव्य-कौशल ही है, जिसने इस मूलभूत भावना के अंतर्गत अनेक मनोवृत्तियों को सामाहित किया है और सर्वत्र पूरी स्वाभाविकता का परिचय दिया है।

बालक और नारी की मनोवृत्तियों के विश्लेषण में सूरदास ने अपार दक्षता दिखायी है। वात्सल्य और शृंगार के अंतर्गत जितनी मनोवृत्तियाँ हो सकती हैं, मानसिक दशाएँ हो सकती हैं, उनके मार्मिक चित्रण में सूर की समता और कोई कवि नहीं कर सकता। सूरदास निस्संदेह सौंदर्य-जगत् की कोमल मनोवृत्तियों और सरस संवेदनाओं के सिद्धहस्त कवि हैं।

☐ डा० हरवंशलाल शर्मा

सूरसाहित्य में दार्शनिकता

सूरदास जी तत्त्वतः दार्शनिक नहीं थे। वे तो संत, भक्त और सिद्ध कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक-सिद्धांतों की विवेचना नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर हुए उनके हृदय की तंत्री से जो राग स्वतः निर्गत हुए, उन्हीं का संकलन 'सूरसागर' है। परंतु महात्मा सूरदास एक विशेष संप्रदाय में दीक्षित थे—और उसी की सेवा-पद्धति को, जो उस संप्रदाय का आचरण-पक्ष है, उन्होंने अपनाया था—इसलिए उसके सिद्धांतपक्ष से भी अवश्य प्रभावित हुए होंगे। उनसे पहली चार-पाँच शताब्दियाँ उत्तरी भारत के धार्मिक आंदोलन के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं। भारतीय शास्त्र में वह टीकाओं का युग कहा जाता है। संभवतः ये भारतीय-संस्कृति को बचाए रखने के लिए टीकाकारों के प्रयत्न थे। बौद्ध-धर्म का नया रूप देश में उपस्थित हो चुका था। नाथ-पंथी योगियों की निरंजनी-शाखा और सूफियों के मेल से एक नई धारा निकल पड़ी थी, जो एक ओर तो योगमार्ग को पकड़े हुए थी, और दूसरी ओर प्रेम और भक्ति के तत्त्वों को अपनाए हुए थी। उधर, दक्षिण भारत से उमड़ती हुई भक्तिधारा ने सारे उत्तरी-भारत को सराबोर करने का संकल्प-सा कर लिया था, सामान्य रूप से शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव सारे भारतवर्ष में व्याप्त था। सूरदास जी के काव्य में इन सभी विभिन्न धाराओं का प्रभाव लक्षित होता है; परंतु कवि सिद्धांतों के बंधनों में बँधने वाला नहीं होता। जब उसकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र में अबाध-गति से विचरण करने लगती है तो वह भावमय हो जाता है और दार्शनिक-सिद्धांत, जो कि बुद्धिगम्य होते हैं, उसके मार्ग से बहुत दूर पड़ जाते हैं।

यों तो 'सूरसागर' एक महान् सागर है और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' के अनुसार किसी भी वैष्णव-संप्रदाय का व्यक्ति अपनी हृदयमाला के रत्न उसमें से खोज निकालता है, फिर भी उसमें प्रचुरता वल्लभीय-संप्रदाय के सिद्धांत-मुक्ताओं से

मेल रखने वाले रत्नों की ही है। इसलिए हम वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों के मेल में रखकर ही सूर के सिद्धांतों का विवेचन करेंगे।

वल्लभ-संप्रदाय की भाँति सूरदास के इष्ट श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। जिस प्रकार श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने अनेक ग्रंथों में कृष्ण का नाम हरि लिखा है और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से ऊपर बताया है, उसी प्रकार सूरदास ने भी स्थान-स्थान पर हरि का स्मरण किया है।[1] सूरदास ने वल्लभाचार्य जी की भाँति ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष में अद्वैतता स्थापित की है और पूर्ण पुरुषोत्तम तथा श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है :

सदा एक रस एक अखंडित आदि सनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, बिहरत युगल, स्वरूप।
सकल तत्त्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सबै हैं अंश गोपाल।[2]

इस अंश और अंशीवाली बात को उन्होंने कई बार दुहराया है। कृष्णरूप परब्रह्म की अद्वैतता और निर्गुणत्व का भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है।[3]

दशम-स्कंध के प्रारंभ में सूरदास ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत व्यवस्था की है और उसमें भगवान् के तीनों रूप आ गए हैं—पूर्ण पुरुषोत्तम, रस-रूप श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म तथा अंतर्यामी श्रीकृष्ण परब्रह्म का विरुद्ध-धर्माश्रयत्व भी उसमें बताया गया है :

आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरंतर घट-घट बासी।
पूरन ब्रह्म, पुरान बखानैं। चतुरानन, सिव, अंत न जानैं।
गुन-गन अगम, निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।[4]

सूरसागर में इस प्रकार अनेक पद हैं, जिनमें परब्रह्म कृष्ण के अंतर्यामी स्वरूप, विराट्-स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है।[5]

सूर ने ब्रह्मा के परमानंद-स्वरूप सगुणत्व-विशिष्ट का भी वर्णन विस्तार से किया है। वे कहते हैं—भगवान् कृष्ण, जो अविगत, आदि, अनंत, अनूपम, अलख और अविनाशी पुरुष हैं, वह वृंदावन में गोपियों के मंडल के बीच नित्य लीला-बिहार करते हैं।[6] वृंदावन और ब्रज के आध्यात्मिक रहस्य की ओर सूरदास ने कई बार संकेत किया है।[7] सूर ने कृष्ण को तीनों देवों से ऊँचा माना है और विष्णु का पूर्णावतार कहा है। विष्णु के अवतार होने की बात उन्होंने कई पदों में कही है।[8]

---

१. सूरसारावली, ९९३, पृ० ३४
२. वही, पृ० ३८
३. सूरसागर, ३८१
४. सूरसागर, ६२१
५. सूरसागर, ३७०
६. सूरसारावली, पृ० २
७. सूरसागर, १०६७, १०६८
८. सूरसागर, ६२२, ६१८५, ११८६

सूर के विनय-संबंधी पदों में भगवान् की भक्त-वत्सलता और भक्त की दीनता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। प्रायः लीला संबंधी पदों के पश्चात् सूरदास ने इस प्रकार के पद लिखे हैं, जो भक्त-वत्सलता-विषयक कहे जा सकते हैं। केवल इतना अंतर है कि भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा व्रज-लीलाओं में प्रेम का रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि लीलाओं का वर्णन करता हुआ कवि लीला के सुख में स्वयं इतना तल्लीन हो जाता है कि भगवान् की कृपा का उसे इतना ध्यान नहीं रहता, जितना भागवतकार को। फिर भी कवि हरिकृपा का स्मरण दिलाना नहीं भूला है। चीरहरण, कालियदमन, गोवर्द्धन आदि लीलाओं में हरि-कृपा का संकेत किया गया है। स्थान-स्थान पर गोपियों ने भगवान् कृष्ण से कृपा-दृष्टि की याचना की है। कदाचित् भक्त-वत्सलता का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है।

जीव—सूर ने वल्लभ के अनुसार जीव को गुपाल (गोपाल) का अंश माना है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर के विषय में उन्होंने जितने संकेत किए हैं, उतने जीव के विषय में नहीं। जीव को उन्होंने साधारण रूप से माया से आवृत माना है। जिस प्रकार वल्लभाचार्य जीवों की तीन श्रेणियाँ मानते हैं, उस प्रकार का सैद्धांतिक विवेचन सूर ने नहीं किया, फिर भी उनके काव्य में तीनों प्रकार के जीवों का संकेत अवश्य मिल जाता है। शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन उन्होंने भागवत की नित्य-लीला के संबंध में, और संसारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में किया है। अविद्या और माया का स्वरूप विस्मृति का कारण बताया है। यदि माया न हो तो ब्रह्म और जीव में कोई अंतर नहीं।[१] माया के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है, जैसा कि सूर के इस पद से प्रकट होता है :

अपुनपौ, आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसें स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ।
× × ×
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनैं पकर्‌यौ।[२]

संसारी जीवों की दुर्गति, भ्रम और अनेक प्रकार की आपत्तियों का वर्णन सूर ने बड़े विस्तार के साथ किया है। भगवान् की कृपा से जब वह संसारी जीव माया से छुटकारा पा जाता है और उसमें आनंदांश का भी अविर्भाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। यह आनंद उसका अपना ही है। भ्रांति तथा माया के कारण वह उससे दूर पड़ा था। भ्रम दूर होने पर जीव को अपना ज्ञान हो जाता है :

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ; सतगुरु भेद बतायौ।

---

१. सूरसागर, ३८१ २. सूरसागर, ३६९

ज्यौं कुरंग-नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ।
× × ×
सूरदास समुझे की यह गति, मनही मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ, या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगै गुर खायौ।[1]

इन्हीं पदों को आधार मानकर सूर पर शंकर के मायावाद का प्रभाव भी बताया जाता है। डा० दीनदयालु गुप्त इस विषय में लिखते हैं :

"सूरदास के अन्य पद और कथनों के मिलान करने पर तथा वल्लभ-सिद्धांत को ध्यान में रखने पर हमें ज्ञात होगा कि वास्तव में सूर पर शंकर के मायावाद का प्रभाव नहीं था : ऐसे पदों का अर्थ वल्लभ-सिद्धांतानुसार ही है।[2]

परंतु हम डा० गुप्त के इस कथन से पूर्णतः सहमत नहीं। इसके दो कारण हैं : १. सूरदास ने निश्चित सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं किया। उनका उद्देश्य भगवान् का गुणगान करना था। वैष्णव-संप्रदायों के दार्शनिक सिद्धांतों का सूक्ष्म भेद प्रकट करने का न तो उन्हें अवसर ही था और न आवश्यकता ही थी। अतएव हमारी दृष्टि से इस प्रकार की शंका उठाना ही असंगत है। २. माया, अविद्या, जीव, जगत् आदि से संबंध रखने वाले पद सूर ने उस समय बनाए थे, जब वे किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं थे। साधारण जनता में शंकर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव-संप्रदाय के सिद्धांतों का नहीं। अतः बहुत संभव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्ष रूप से शंकर का प्रभाव रहा हो। संप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् तो वे मनसा-वाचा-कर्मणा, गोविंद के स्मरण में ही कल्याण मानने लगे और मन को मिथ्या वाद-विवाद त्यागने का निर्देश करने लगे।[3] कहीं-कहीं सूर ने उन ज्ञानी-जीवों की ओर भी संकेत किया है, जो सदा एक-रस रहते हैं और तन के भेद को वास्तविक नहीं समझते। उन्हें देह का अभिमान भी नहीं रहता, जबकि अज्ञानी जीव देह के धर्मों को अपना ही धर्म समझता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति सूरदास भी संसार के सब क्रिया-कलापों का नियंता गोपाल को ही मानते हैं :

कही गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ।[4]

जीव के संबंध में सूरदास ने भावी की प्रबलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म-गति माना है। तीनों लोक उसी के वश में हैं और उसी के आधीन होकर सुर और नर देह धारण करते हैं।[5] जीव के लिए वे भगवद्भजन को ही कल्याणकारी मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है :

---

१. सूरसागर, ४०७ २. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, द्वितीय भाग, पृ० ४२९
३. सूरसागर, प्रथम स्कंध, मनः प्रबोध नामक शीर्षक में संकलित पद।
४. सूरसागर, २६२ ५. सूरसागर, २६४

सूरदास भगवंत भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैयैं।

जगत् और संसार—वल्लभ-संप्रदाय में जगत् और संसार अलग-अलग हैं, जगत् सत्य है और संसार असत्य। सूरदास जी ने जहाँ जगत् को गोपाल का अंश बताया है, वहाँ संसार का नाम नहीं लिया है और उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही मानी है। वे जगत् को मिथ्या मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। जिस जगत् में भगवान् का गुणगान करके जीव तरता है, उसे कैसे मिथ्या कहा जा सकता है ?[१] प्रभु का मर्म नहीं जान पड़ता, वे संसार का सर्जन, पालन और संहार करते हैं और संहार के बाद फिर सर्जन में लग जाते हैं।[२] सूरदास संसार को हरि की इच्छा का फल मानते हैं। उनकी इच्छा से प्रकट हुआ यह संसार स्वयं भी हरि-रूप ही है, फिर भी इसे मायाकृत समझो, अतएव मन को सब स्थानों से खींचकर कृष्ण भगवान् में लगाओ। सूर के पदों से स्पष्ट झलक जाता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को माना है; क्योंकि जगत् की उपमा उन्होंने पानी के उस बुलबुले से दी है और आचार्य वल्लभ के समान ही ईश्वर को ही जगत् का निमित्त उपादान कारण माना है। 'सूरसारावली' में सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय में भी लिखा है कि किस प्रकार भगवान् के हृदय में सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल-पुरुष के चित्त में किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ ? तदनंतर सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों के मेल से प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। वल्लभाचार्य के सिद्धांतों के अनुसार 'सूरसारावली' में २८ तत्त्व माने गये हैं, जिनका विवेचन 'सूरसागर' में किया गया है :

आदि निरंजन, निराकार कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा इक औसर।
त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तैं अहंकार।
मन-इंद्री-सब्दादि-पंच, तातै कियौ बिस्तार।
सब्दादिक तैं पंचभूत सुंदर प्रगटाए।
पुनि सबकौं रचि अंड, आपु मैं आपु समाए।[३]

तीसरे स्कंध में भी सृष्टि का क्रम बताया है। यह सृष्टि-क्रम कपिल ने अपनी माता को बताया था। इस वर्णन में सूर वल्लभ-संप्रदाय से कुछ अलग प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने माया को त्रिगुणात्मिक मानकर सत्त्व, रज और तम उसके गुण माने हैं और आगे चलकर माया का मिथ्यात्व सिद्ध किया है।[४] सूरदास जी संसार को सेंमल के समान और जीव को संसार-सेमल के रूप पर मुग्ध शुक के समान मानते

---

१. सूरसागर, ४९१९
२. सूरसागर, ४९२०
३. सूरसागर, ३७९
४. सूरसागर, ३९४

हैं। भेद खुलने पर जीव को पश्चाताप करना पड़ेगा।[1] संसार का मिथ्यात्व उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है और जीव की अविद्या को उसके भ्रम का कारण बताकर बार-बार उसे चेतावनी दी है।

माया—माया का वर्णन सूर के पदों में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने निश्चित रूप से शंकराचार्य के मत से अपने मत को भिन्न रखा है, और माया को सत्य तथा भ्रम दोनों ही प्रकार की बताया है। वह स्वयं ब्रह्म की शक्तिस्वरूपा है, और उसके दो स्वरूप विद्या और अविद्या हैं। शंकर के मत से तो अविद्या का नाश होने पर जीव और जगत् दोनों की ही सत्ता का लोप हो जाता है परंतु वल्लभाचार्य के मत से अविद्या का नाश होने पर भी दोनों की स्थिति रहती है केवल संसार का नाश होता है। सूरदास माया को ईश्वर की ही शक्ति मानते हैं और उन्होंने इस माया की करामात का अनेक प्रकार से वर्णन भी किया है। यह मायानटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् में विचित्रताओं को भर देता है। वास्तव में उसकी गति—यह माया ही है। विनय के पदों में सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। माया के चक्र में पड़ा हुआ भक्त हरि को भी विस्मृत कर देता है। केवल भक्ति द्वारा ही माया से छुटकारा संभव है। इस माया ने किस को नहीं बिगोया ? नारद जैसे ज्ञानी, शंकर जैसे महादेव और ब्रह्मा जैसे सृष्टिकर्त्ता भी इस माया के चक्कर में आ गए हैं। सूर इस माया को हरि की माया ही मानते हैं।[2] इस प्रकार विनय के पदों में उन्होंने माया का अनिष्टकारी रूप प्रदर्शित किया है और माया का प्रभाव अत्यंत व्यापक बताया है। उनके पदों में माया का मिथ्यात्व भी प्रतिपादित हुआ है। हम पहले बता चुके हैं कि उनके इन पदों को देखकर यह संदेह हो जाता है कि उन पर शंकराचार्य का प्रभाव था। सूर ने माया को मोहिनी, भुजंगिनी, नटिनी आदि नामों से पुकारा है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि इसी माया के रूप हैं। इस विषय में सूर ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है और उनकी माया वल्लभ और शंकर की माया का सम्मिश्रण-सी प्रतीत होती है। सूर ने माया को अविद्या और तृष्णा बताकर अनेक रूपकों की योजना की है। अविद्या को गाय बताकर वे अपनी इस गाय को गोकुलपति के गोधन में मिलाना चाहते हैं।[3] यह पापिनी अविद्या आशा के समान है, जो जीव को भरमाती रहती है। तृष्णा भी माया का स्वरूप है, जिसका वर्णन सूर ने एक बड़े सुंदर रूपक में किया है :

माधौ, नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर, अपथ-पथ, अगह गहि नहिं जाइ।

---

१. सूरसागर, १११० २. सूरसागर, ४३,४४ ३. सूरसागर, ५

छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्ट-दस-घट नीर अँचवति, तृषा तऊ न बुझाइ।[१]

सारे सांसारिक संबंध माया से उत्पन्न हैं और माया मनुष्य को उन संबंधों के बंधन में डाल देती है। सूर के लिए माया और अज्ञान एक ही है।[२] इसी अज्ञान-तिमिर में पड़कर मनुष्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है। माया के कारण करुणामय की सेवा को छोड़कर मन मोह में पड़ जाता है और निकट रहने पर भी कस्तूरी वाले मृग के समान जान नहीं पाता।[३] सूर ने माया को भगवान् की वह शक्ति माना है, जिसके कारण वह मिथ्या संसार सत्य-सा प्रतीत होता है। तृतीय स्कंध के ३८० वें पद में कपिल ने हरिमाया का रूप समझाया है, और भागवत् के अनुसार त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति को ही 'माया' वताया है। माया और जीव में इतना ही अंतर है कि माया चैतन्य-रहित है और जीव चैतन्य-सहित। माया का वर्णन 'सूरसागर' में स्थान-स्थान पर मिलता है। दशम-स्कंध-पूर्वार्द्ध में ब्रह्म द्वारा बालवत्स-हरण-लीला में कृष्ण ने अपनी माया का रूप बताया है। अंत में, ब्रह्मा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वास्तव में यह संसार मिथ्या है, और भगवान की माया के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मा की स्तुति में माया के रूप को और भी स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा कहते हैं—यह संसार, माया और देह मिथ्या है, फिर हे हरि, बताओ, हम तुम्हें क्यों भूल गए? इत्यादि।[४] कृष्ण भी ब्रह्मा से कहते हैं "मेरी माया अत्यंत अगम्य है, इसका पार कोई नहीं पा सकता।[५] माया वास्तव में ब्रह्म की मोहक-शक्ति है, जिसको योगमाया कहा गया है। इस योगमाया का वर्णन भी सूर ने किया है।

यद्यपि सूर ने अनेक प्रकार से माया का वर्णन किया है, तथापि माया के विषय में उनके ऊपर पुष्टि-मार्ग का ही प्रभाव था, क्योंकि दशम्स्कंध में राधा एवं अन्य गोपियों को कृष्ण के द्वारा मायाजन्य सांसारिक-संबंधों का आदर करने का आदेश दिया गया है।

मोक्ष—सूरदास ने पुष्टि-संप्रदाय के अनुसार ही जीवों की कोटियाँ मानी हैं। भक्ति-मार्ग के पथिक, वास्तव में, उसी भक्त को मुक्त मानते हैं, जो निर्गुण भक्ति को न चाहकर भगवान् के दर्शन से सुखी होता है। सूरदास की भक्ति स्वतःपूर्ण है, जिसके प्राप्त होने पर कोई इच्छा नहीं रह जाती। तभी तो वे कहते हैं, "हे भगवान् मुझे अपनी भक्ति दो। चाहे आप करोड़ों लालच दिखाएँ लेकिन मुझे अन्य किसी बात की रुचि नहीं हो सकती।"[६] सूर ने कई स्थानों पर भक्ति का फल बताया है और कई

---

१. सूरसागर, ५६
२. सूरसागर, ४७
३. सूरसागर, ४९
४. सूरसागर, १११०
५. सूरसागर, १११०
६. सूरसागर, १०६

भक्तों को वैकुंठ धाम की प्राप्ति कराई है, जिसमें भक्त जल में कमल के समान हर्ष-शोक से दूर रहकर जीवन्मुख हो जाते हैं[१] कपिल ने भक्ति का फल हरिपद की प्राप्ति और हरिपुर का वास बताया है। अधिकतर भक्तों को हरिपुर-वास ही प्राप्त हुआ है। ध्रुव की कथा में भक्ति का फल वैकुंठ-निवास बताया गया है।[२] इसी प्रकार शुकदेव, अजामिल, राजा-पुरुरवा इत्यादि की कथाओं के संबंध में कहा जा सकता है। सूरदास ने कहीं मुक्ति का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया है। राजा-पुरुरवा के वैराग्य-दर्शन में निर्वाण-पद का उल्लेख है।[3] इसी प्रकार सौभरि-ऋषि की कथा में भगवान् का भजन करने वाले के लिए मुक्ति सुलभ बताई है।[४] जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने की ओर सूर ने अनेक संकेत किए हैं। सारा 'भ्रमरगीत' इस प्रकार के संकेतों से भरा पड़ा है। सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य-मुक्तियों का सैद्धांतिक-रूप तो 'सूरसागर' में नहीं है, परंतु इन चारों मुक्तियों की अनुभूति सूर ने पूर्ण रूप से की है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुँचने की इच्छा सूर के कई पदों से प्रकट होती है और उस भगवत्धाम का स्वरूप भी सूरदास ने बताया है।[५] भगवान् के लीलाधाम में पहुँचना ही सालोक-मुक्ति है, उनके चरणाविंद का सान्निध्य सामीप्य-मुक्ति कहलाता है, कृष्ण के साथ उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य-मुक्ति है, तथा ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य-मुक्ति है। जब भक्त रसरूप-भगवान् का अंग हो जाता है तब सायुज्य-भक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिए। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने भी सायुज्य-मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। भगवान् के नित्यरास का वर्णन सायुज्य-मुक्ति का ही रूप है। सायुज्य-मुक्ति के भी दो रूप हैं—संसार के दुःख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। इन दोनों अवस्थाओं में जीव भगवान् का अंग नहीं बनता। लयात्मक-सायुज्य-मुक्ति में जीव ईश्वर का अंग हो जाता है। शृंगाररस के संयोग और वियोगात्मक दोनों ही रूप इस सायुज्य-मुक्ति के रूप हैं। सूर ने एक का वर्णन 'रासलीला' में और दूसरे का 'भ्रमरगीत' में किया है।

लयात्मक-सायुज्य-मुक्ति के दोनों रूप हमें सूर में दिखाई देते हैं। वे कृष्ण के अक्षरधाम वृंदावन का अंग बनकर उस आनंद का अनुभव करना चाहते हैं। उनके साथ अनेक देवताओं ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। एक स्थान पर सूर 'वृंदावन की रेणु' ही बनने की कामना करते हैं।[६] हिंदी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इस प्रकार की इच्छा प्रकट की है। दूसरे प्रकार की लयात्मक-मुक्ति का वर्णन

---

१. सूरसागर, ३९४ २. सूरसागर, ४०४
३. सूरसागर, ४४० ४. सूरसागर, ४५२
५. सूरसागर, ३३७, ३३८, ३३९,
६. करहु मोहिं ब्रजरेणु देहु वृन्दावन वासा। सूरसागर

गोपियों के विरह में हुआ है। वहाँ सूर की भक्ति-स्वरूपा-गोपियाँ कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं तभी तो किसी-किसी गोपी के मुख से 'दही-लेहुरी' के स्थान पर 'गोपाल लेहुरी' निकल जाता है।[1] प्रवेशात्मक-सायुज्य-मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्य-रास के वर्णन में बड़े विस्तार से उपस्थित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि यद्यपि सूर ने सैद्धांतिक-रूप से मुक्ति-भेद का वर्णन नहीं किया तथापि क्रियात्मक-रूप से उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार सब प्रकार की मुक्तियों का स्वरूप अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। गोपी-उद्धव-संवाद के अंत में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

ऊधौं सूधें नैंक निहारौ।
हम अबलनि कौ सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ।
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुंदर कौं, मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरे, तुम अलि बड़े अदाई।
हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिऐ।
वे ही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निजगहिये।
तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत, ज्ञान रूप हमहीं।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु कौ अलि, देखत जित तितहीं।[2]

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारों प्रकार की मुक्ति का आनंद ले रही हैं। वे कृष्णमयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञानरूप मानती हैं। जिधर भी वे देखती हैं, उधर ही कृष्ण का स्वरूप दीख पड़ता है। यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनों प्रकार की सायुज्य-मुक्ति की चरम सीमा है। इसी जीवन-मुक्त-अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। सूर उच्चकोटि के भावुक कवि थे। ईश्वर की लीला-धाम, श्रवण, सेवा-संगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनंद का अनुभव करते है, वह किसी मुक्ति से दुर्लभ है। उस आनंद को सूरदास ने बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी स्पृहणीय माना है। वेद उपनिषदादि धर्म-ग्रंथों में जिस परम-धाम का वर्णन है, वह सूरदास का लीला-धाम है, उनका भजनानंद ब्रह्मानंद से बढ़कर है।[3]

भागवत की भाँति सूरदास में भी आध्यात्म-पक्ष की झलक मिलती है। वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार सूरदास ने ब्रज, वृंदावन, गोकुल को नित्य-लीला-धाम गौलोक का अवतरित रूप माना है और स्थान-स्थान पर ब्रजधाम की मुक्तकंठ से

१. सूरसागर, २२५५ २. सूरसागर, ४५१८
३. भजनानंद अलि हम प्यारौ।
ब्रह्मानंद सुख कौन विचारौ ? सूरसागर (भ्रमरगीत)

प्रशंसा की है।[1] ब्रह्मा ने ब्रज-वृंदावन की महिमा 'वत्स-हरण-लीला' के समय गाई है। सूर कहते हैं कि ब्रज की लीला को देखकर विधि का ज्ञान भो नष्ट हो गया। ब्रज की गोपियाँ धन्य हैं, ग्वाले धन्य हैं, वे बछड़े और गौएँ धन्य हैं। इस ब्रजलीला का पार शारदा भी नहीं पा सकती। इस वृंदावन की रज भी प्रशंसनीय है, जहाँ कृष्ण ने धेनुओं को चराया और अपने अधरों से वेणु-वादन किया। अरे मन, इस स्थान का क्या कहना ? यहाँ तो पुरातन पूर्ण-पुरुष श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं। इस धाम में कुछ लेना-देना नहीं है, केवल मनमोहन के ध्यान में ही सब आनंद है। यहाँ की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते।[2] इसलिए तो ब्रह्मा के रूप में सूर ने 'ब्रज की रेणु' होने की कामना प्रकट की है।[3]

सूर ने ब्रजधाम और वृंदावन को लौकिक और अलौकिक दोनों ही रूप दिए हैं और पूर्णतया वल्लभ-संप्रदाय का अनुकरण किया है।

रास : वृंदावन की भाँति सूर ने रास को भी आध्यात्मिक पक्ष प्रदान किया है और रास का विशद् वर्णन किया है। जहाँ तक रास का प्रश्न है, सूर की रास-लीला 'रासपंचाध्यायी' को आधार मानकर लिखी गई है, किंतु उसमें सूर की मौलिकता भी है और बंगीय प्रभाव भी। रासलीला तथा उसमें प्रवेश करना सूर का चरमलक्ष्य है। उसी स्थिति को उन्होंने सब से बड़ी मुक्ति माना है। वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास-रस की अंशकला को भी प्राप्त नहीं कर सकते।[4] रास-रस का वर्णन सूर अपनी शक्ति के बाहर की वस्तु समझते हैं। रास का प्रभाव सार्वत्रिक एवं सार्वभौतिक है, उसके प्रभाव से यमुना भी उलटी बहने लगती है, सुर, नर और मुनियों का ध्यान टूट जाता है और चंद्रमा भी आत्म-विभोर होकर आकाश में अपना मार्ग भूल जाता है।[5] भागवत पर आधारित होने पर भी सूर के रास-वर्णन में पर्याप्त मौलिकता है, उसमें लौकिक और आध्यात्मिक भावों का सुंदर सामंजस्य है। आध्यात्मिक रूप में कृष्ण घन हैं एवं गोपियाँ दामनी-स्वरूपा तथा भौतिक पक्ष में कृष्ण नायक और गोपियाँ नायिकाएँ। यह रास शाश्वत् है।[6]

मुरली का भी सूर ने लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों से वर्णन किया है। जहाँ एक ओर उन्होंने वल्लभाचार्य के अनुसार मुरली को आध्यात्मिक रूप दिया है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक दृष्टि से भी मुरली को लेकर बड़ी खिलवाड़ की है। राधा को तो उन्होंने प्रकृति माना है और कृष्ण को पुरुष, फिर प्रकृति-पुरुष की एकता भी प्रतिपादित की हे।[7] कहीं-कहीं उन्होंने राधा को कृष्ण की शक्ति कहा है और उसी

---

१. सूरसागर, १११० २. सूरसागर, ११०६ ३. सूरसागर, १११०
४. सूरसागर, १७६१ ५. सूरसागर, १७६७
६. सूरसागर दशमस्कंध (रास पंचाध्यायी) ७. सूरसागर, २३०४

रूप से उसकी उपासना भी की है। वल्लभ-संप्रदाय में राधिका को स्वामिनी माना है, स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने राधा के विषय में 'स्वामिन्यष्टक' और 'स्वामिनी-स्तोत्र' द्वारा राधा की उपासना की है। सूर की गोपियों का विभाजन भी अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा तथा गुणातीता के रूप में हो सकता है।

श्रीमद्भागवत, वल्लभ-संप्रदाय तथा अन्यान्य संप्रदायों को आधार मानते हुए भी हमें सूर के सिद्धांतों में पर्याप्त मौलिकता मिलती है। सूर ने अपने इष्ट के अतिमानवीय रूप के साथ मानवीय रूप का भी चित्रण किया है। उनके कृष्ण एक ओर तो भागवत के श्रीकृष्ण और वल्लभ के इष्टदेव, परब्रह्म पुरुषोत्तमस्वरूप तो हैं ही, दूसरी ओर उनके कृष्ण में मानवता का भी पूरा पूरा पुट हमें मिलता है। कृष्ण के बालरूप का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें अबोध, सुकुमार, चंचल तथा धृष्ट शिशु के रूप में चित्रित करता है। उस चित्रण में इतनी मानवीयता और मनोवैज्ञानिकता है कि कृष्ण हमें अपने बीच खेलते हुए प्रतीत होते हैं। संभवतः इसीलिए सूर उनकी अलौकिकता की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते जाते हैं।

जीव, जगत्, मोक्ष आदि के विषय में भी सूर ने केवल मौलिकता ही नहीं, निर्भीकता भी दिखायी है। जगत् और संसार के सूक्ष्म-भेद की ओर सूर का ध्यान इतना नहीं गया है और न ही जीवों की कोटियाँ गिनाने में उनका मन रमा है, ब्रजभूमि में प्रवेश होने से पहले उनका मनसामीप्य के लिए मानो तड़पता था। माया और अविद्या को वे आवरण समझते थे। इसलिए भगवान के सम्मुख सूरदास कभी करुणा-क्रंदन करते हुए दीख पड़ते हैं तो कभी अपना दैन्य प्रकट करते हुए और कभी माया और उसके रूप, तृष्णा आदि पर पिल पड़ते हुए लक्षित होते हैं। यही कारण है कि वल्लभाचार्य जी से साक्षात्कार होने तक वे घिघियाते रहे। ब्रजभूमि के स्पर्श से उनका घिघियाना बंद हो गया और मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति हो गयी। उस परमधाम में पहुँचकर भगवान् का लीला-गान ही वे अपना कर्तव्य समझते रहे। जीवन्मुक्त भक्त को मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचड़े में पड़ने से क्या मतलब ? इसीलिए 'सूरसागर' में दार्शनिक सिद्धांतों की खोज करना असंगत-सा ही प्रतीत होता है।

□ डा० नंदकिशोर तिवारी

सूरसाहित्य में माया

कृष्णकाव्यधारा का उपजीव्य ग्रंथ श्रीमद्भागवत है और दार्शनिक पृष्ठाधार श्रीमद्वल्लभाचार्य जी का विशुद्धाद्वैत संबलित पुष्टिमार्ग। समस्त कृष्णकाव्य की रचना के श्रेय-पुरुष आचार्य वल्लभ ने विष्णु स्वामी के दार्शनिक सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए अणु-भाष्यादि ग्रंथों द्वारा शुद्धाद्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया। माया-भावना के दार्शनिक-विभावन की दृष्टि से आचार्य शंकर के मायावाद के प्रतिवर्त्तन-स्वरूप प्रश्चात्वर्ती जितने भी संप्रदाय आए उनका लक्ष्य मायावाद का विखंडन था किंतु इस माया का प्रयोग किसी न किसी रूप में प्रायः सभी आचार्यों ने किया। वल्लभाचार्य ने भी अपने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना में 'माया संबंधीरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः कहकर ब्रह्म को माया-रहित बताया। आचार्य शंकर ने परब्रह्म के साथ एक अनिर्वचनीय माया-शक्ति भी मान ली, वह भी ब्रह्म से ही प्रकट होने वाली। आचार्य वल्लभ ने तत्त्वदीप निबंध के शास्त्रार्थ प्रकरण में भगवान् की शक्ति-स्वरूपा माया का विश्लेषण किया है। यहाँ माया के दो रूपों—विद्या और अविद्या माया की चर्चा है। [पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार इस संप्रदाय में माया के तीन भेद माने जाते हैं—एक, परब्रह्म की अंतरंग शक्ति रूप माया; जिसे पांचरात्रादि तंत्र-ग्रंथों में 'लक्ष्मी' या 'रमा' शब्द से अभिहित किया गया है। दूसरे के अंतर्गत वह परब्रह्म के उस सामर्थ्य के रूप में है, जिससे संपूर्ण जगत् का निर्माण होता है। तीसरे में जीवों को मोह कराने वाली भगवान् की शक्ति के रूप में है, जिसे अविद्या भी कहा गया है। यहाँ चतुर्वेदी जी ने परब्रह्म की अंतरंग शक्ति को भी माया की रूप-प्रशस्ति दी है, जैसा कृष्ण-काव्य के अन्यानुसंधायकों ने नहीं किया है।

इस प्रकार सृष्टि के प्रसार में विद्या और अविद्या का ही हाथ है। जीव भी जागतिक होने के कारण इसी माया के अधीन है, यद्यपि भगवान् इस माया के

अधीनस्थ नहीं। अविद्या-माया जीव को संसार चक्र में आबद्ध कर, सत्य को असत्यवत् प्रत्यक्ष करा देती है। शोक-मोह, सुख-दुख, राग-द्वेष आदि का जन्म इसी से होता है। पुनः विद्या माया द्वारा जीव संसार-मुक्त होता है, राग-द्वेषों पर विजय प्राप्त करता है। अविद्या माया के कारण पाशित जीव में से वस्तुतः ईश्वरीय धर्मों का तिरोधान हो जाता है, जिससे दैहिक सुख-दुख को वह आत्मिक धर्म समझ बैठता है और नाना योनियों में चंक्रमण करता रहता है। इस प्रकार जागतिक संरचना में जीव की कल्पना ही प्रमुख है। यद्यपि इस कल्पना की प्रेरक शक्ति उसी की अविद्या माया है। शास्त्रार्थ-प्रकरण के अनुसार अविद्या रूपिणी माया द्वारा अन्यथा प्रतीतिकरण दो प्रकार से होता है—एक तो सत्य ज्ञान के आच्छादन द्वारा और दूसरे सत्य में असत्य का भान कराकर। माया के द्वारा जगत् के पदार्थों के मध्य परस्पर भिन्नत्व का उद्भव होता है। ऐसा लगता है जैसे वे सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से भिन्न हों—इस प्रकार अहंभाव और अब्रह्मत्वभाव माया से उत्पन्न होता है। इसके द्वारा जीव शोक-मोह के घनपटल में विभ्रमित होकर अपनी प्राकृत-इयत्ता खो देता है।

भागवत की सुबोधिनी टीका में श्रीमद्वल्लभ ने माया की व्यामोहिका शक्ति का विस्तृत वर्णन किया है—'यह माया जीव के अंतःकरण, बुद्धि आदि को मोहती है और यही मोह अथवा भ्रमयुक्त बुद्धि रंगीन चश्मे की भाँति पदार्थों को उस रूप में देखती है, जिस रूप में वे वस्तुतः रहते नहीं।[1] एवंविध भ्रम उत्पन्न कर कभी तो यह जो कुछ विद्यमान है उसका प्रकाशन नहीं करती और दूसरे में अविद्यमान को प्रकाशित कर अपने द्विविध रूप धारणत्व को चरितार्थ करती है।[2] माया शब्द का अर्थ, जो वर्णों के व्यत्यय से (या + मा = मा + या अर्थात् जो है, है, फिर नहीं है) बनता है, वह संसार की अविद्यामाया के अनेक नामों, जैसे अज्ञान, अध्यास, भ्रम, स्वप्नादि का पर्यायत्व धारण कर लेता है। आचार्यों ने इन नामों का उल्लेख तदर्थ संदर्भों में व्यंजित किया है। आचार्य वल्लभ ने माया को 'पंचपर्वा' बतलाया और उसमें आबद्ध जीव के अनेकविध संसृति-क्लेशों की चर्चा की है। उक्त क्लेश से मुक्त होने के लिए अविद्यामाया का मूलोच्छेदन आवश्यक है। मुक्तिकाल में जब विद्या द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है, उस समय देह, इंद्रिय और अंतःकरण का भेद भी मिट जाता है और संसृति-क्लेशों से मुक्त जीव 'जीवन्मुक्त' की संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार वल्लभमतानुसार विद्या अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिए, जिससे पंचपर्वा माया का ध्वंस हो और जीव अपने सत्यस्वरूप को जानकर मुक्ति-लाभ करे, साधक को भगवान् के

१. यद्वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तदात्मनो जीवानो व्यामोहिकम् माया पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यं सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्संबंधितमन्तःकरण बुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति।
श्रीमद्भागवत—(सुबोधिनी टीका) २/९/३३

२. माया च द्विधा भ्रमं जनति, विद्यमानं च प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति देश काल व्यत्यासेन।
श्रीमद्भागवत—(सुबोधिनी टीका) २/९/३३

अनुग्रह से प्राप्त भगवत् प्रेम करना चाहिए; क्योंकि अविद्या को नाश करने के अन्य मार्ग अत्यंत दुस्तर-दुरंत है। अतः भगवान् के अनुग्रह अर्थात् पुष्टि या कृपा द्वारा भगवद्भक्ति ही सरलतम मार्ग है।

शांकर-मत की अनिर्वचनीया माया और वाल्लभ-मत की तत्तत्-भावना में अंतर यह है कि शंकर की माया भ्रमस्वरूपा है और वह ब्रह्म को प्रभावित करती है। वल्लभ-माया सत्य और भ्रम उभय प्रकार की है पर ये दोनों ब्रह्म पर अपना प्रभाव नहीं डालतीं। वे उनकी (ब्रह्म की) इच्छानुसार ही कार्य करती हैं। माया के तीनों रूप-शक्तिस्वरूपा माया, विद्यामाया और अविद्यामाया अथवा इनके विभिन्न रूप ब्रह्म की प्रेरणा पाकर ही कार्यरत होते हैं। दूसरे, यह है कि शांकर-मत में विद्या अथवा ज्ञान से जीव की अविद्या अथवा भ्रम का नाश हो जाता है, तब न जीव रहता है, न जगत् क्योंकि जीव और जगत् दोनों भ्रमजन्य हैं। वाल्लभ-मत में जीव और जगत् का नाश अविद्या-नाश के साथ नहीं होता, जीव फिर भी सत्य रूप में स्थित रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी स्थिति ब्रह्म से पृथक् रहती है और उसका भवपाश भी ढीला पड़ जाता है।

सूरदास जी का काव्य माया-चित्रण की दृष्टि से अपूर्व विस्तार को प्राप्त है। ये माया को ईश्वर की अपरिमेय शक्ति के अंतर्गत परिगणित करते हैं और इसकी करामातों का अनेकविध वर्णन करते हैं। सूर के इस वर्णन के दो विभाग किए जा सकते हैं—पहले में माया की दार्शनिक अभिव्यक्ति और दूसरे में वह जीव की अनेक तृष्णाओं का कपाट विवृत कर प्रत्यक्ष होती है। सांसारिक विषय-वासना, ऐश्वर्य और शक्ति, काम और क्रोध आदि अनेक प्रपंचों की स्थिति इसी माया के अंतर्गत मिलती है, जिससे जीव अपने परम कल्याणमय ईश्वर को भूलकर अनेक जागतिक दुःखों में पिसता रहता है। सूर ने इस माया का, जो सत्पथ से विमुख कर ईश्वर-भजन में अनेकानेक व्याघात उपस्थित करती है, विस्तृत वर्णन किया है। इस माया के अनेक रूप हैं; जैसे—मन की मूढ़ता, तृष्णा, ममता, मोह, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ तथा अनेक मानसिक विकार। सांसारिक विषय से भ्रमित जीव को दुःखावर्त्त में डालने वाले इस माया के अनेक कृत्यों का सूर ने विविध रूपकों-प्रतीकों एवं दृष्टांतों द्वारा वर्णन किया है। वे कहते हैं—'कोई किस प्रकार भगवत्लीला गाकर भगवान् को अपनी प्रार्थना सुनावे; इस अविद्या माया के हाथ प्राणी जैसे बिक गया है। उसकी स्थिति नटी-बंधन में पड़े कपि जैसी हो गई है, जिसे डंडे के भय से 'कोटिक नाच नाचने पड़ते हैं, माया-जनित लोभ के कारण नाना स्वांग बनाने की निर्लज्जता करनी पड़ती है। यह माया अनेक मिथ्या अभिलाषाओं के पाश में बद्धकर सुख-शांति का अपहरण कर लेती है। स्वप्निल सुखों में मन को लुभाकर यह अनेक पाप-कर्म कराती है। यह महान् मोहनशीला है, जो प्राणी को मुग्ध करके सत्य-संबंधों से पृथक् लोक के मिथ्या

संबंधों में बहका देती है। जैसे दूती पर-बधू को अनेक प्रलोभनों से युक्त कर पर-पुरुष की ओर आकर्षण बँधाती है।'[1] इतिहास साक्षी है कि इस हरि की माया ने किसे नहीं बहकाया ? शतयोजन की मर्यादा से पूर्ण सिंधु को राम ने पल में मिटा दिया। नारद इसी में मग्न होकर ज्ञान-बुद्धि और बल से हीन हो गए। कामिनी के आकर्षण में पड़कर शंकर को सेज छोड़कर भूमि की शरण लेनी पड़ी और उस पर भी अत्यंत रम्या मोहिनी ने इस प्रकार अंधा बनाया कि वे जीवन भर रोते रहे। राजा दुर्योधन के एक से एक बढ़कर सौ भाई धूलि में मिल गए। वास्तव में यह माया ही है जो सोना और शीशे को एक धागे में पिरोकर जीव को नचा रही है। संतों ने तो केवल माया को चटकीली साड़ी पहनायी थी। सूरदास ने एक पद में माया की वेष-भूषा का सांगोपांग वर्णन कर उसकी अकथ-कथा, पुनरालेखित की है।

वस्तुतः संसार को अपने वश में करने वाली माया सामान्य नहीं हो सकती, वह निःसंदेह महाबली है। वह किंचित् दृष्टि लेकर मुस्क्यान भर देने से ही संसार का मन अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उसकी साज-सज्जा भी आकर्षण के क्षेत्र में कम महत्त्वपूर्ण नहीं। 'लालचूनरी' पर 'सेत उपरना' कटि-प्रदेश के चतुर्दिक नीला लहँगा और उपरना के नीचे झाँकती हुई चोली तथा झिलमिले 'अंतरौटा' को पहने हुए यह माया चतुरानन, असुरकुल तथा शिवादि को मुग्ध और मदमत्त क्योंकर नहीं बना सकती है ? उसे इस स्थिति में देखकर देवताओं अथवा शिव की सारी योग-साधना काफूर हो जाती है और काम-क्रोधादि जाग्रत हो जाते हैं।[2] इससे लोक-लज्जादि पर आवरण पड़ जाता है और व्यक्ति मनचाही करना चाहता है। इस उत्पात को सुनकर सुक-सनकादि डर के मारे भागते फिरते हैं। सचमुच उससे मुक्त होना सहज नहीं। अगर इंद्रियों को उधर से मोड़ भी लिया जाय तो भी वह अपनी ओर फेर ही लेती है। इसके पास से सुर-असुर-मनुज कोई नहीं बच पाए। इसकी छाया सर्वत्र व्याप्त है। जल, थल और नभ कोई भी इससे बचा नहीं। सभी बिना देखे ही ठगे रह गए हैं।[3]

माया हरिभजन में बहुत बड़ी बाधा है। यह रह-रहकर चित्त (मन) को भरमा दिया करती है। साधुओं की संगति में आने पर कुछ समय के लिए तो चित्तवृत्ति स्थिर रहती है किंतु वहाँ से हटते ही हाथी के सरित्-स्नान के पश्चात् मार्ग-रज को पृष्ठभाग पर फेंकने के समान मन विषय-वासनाओं में रम जाता है। लोभ का आतंक सिर पर बैठ जाता है। पर धन-हरण-कार्य में निपुणता प्राप्त हो जाती है। बाहर से साधु-वेषधारी और अंतर में कुटिलता का भांडागार नट के अनेक स्वाँग का स्मरण कराता है। यह प्रभु की सबल माया की ही करामात है, जो सदा अपने फेरे में डाल देती है। इस माया में यदि एक बार कोई उलझ गया तो फिर हानि-लाभ

१. सूरसागर, ४२ २. सूरसागर, ४४ ३. सूरसागर, ४४

कुछ समझ में नहीं आता और शलभ के समान सारा शरीर इसी को अर्पित करना पड़ता है। इसके लिए कवि ने एक रूपक का आयोजन किया है—गृह ही दीपक है और धन ही तेल है। रूई स्त्री है और इन सबसे उत्पन्न पुत्र दमकती हुई ज्वाला है। बुद्धिहीन मानव इसी ज्वाला में सशरीर भस्मीभूत हो जाता है :

गृहदीपक, धन-तेल, तूल-तिय, सुत-ज्वाला अति जोर।
मैं मतिहीन मरम नहिं जान्यौ, पर्यौं अधिक करि दौर।[1]

अगर इस पाश से विनिर्मुक्त करने वाला कोई है तो श्रीकृष्ण की सेवा ही क्योंकि 'माया देहि मन भरमाइ' के फलस्वरूप 'हरि तेरो भजन कियो न जाइ' की स्थिति आती है। जीव की स्थिति बंधन में पड़े पशु की तरह है, जो उस सीमा के बाहर नहीं जा सकता। एवंप्रकारेण जीव हिंसा, मद और ममता के रस में भूलकर आशा-तृष्णा में लिपटा रहता है। यह अज्ञान-तिमिर उसके द्वारा ही विस्तारित है, जिसमें वह अपना ही ठिकाना भूल गया है।[2] उस माया की ठगौरी पड़ी कि भगवान् की शरणागति समाप्त हो जाती है। माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर पड़ता है। अहर्निश माया-मंत्र का उच्चारण करते हुए मोह की मूर्च्छा धर दबाती है। मृग को अपने नाभि-कमल का अभिज्ञान नहीं है।[3] मधुमक्खी स्थान-स्थान से कठिन परिश्रम कर मधुसंचय करती है किंतु उसके काम वह नहीं आता। उसी प्रकार पुत्र, कलत्र, धन, ऐश्वर्यादि भी काम नहीं आ सकते। इनमें भगवान् की चरण-रज छोड़कर प्रीति लगाना पाखंड मात्र है, देखने-दिखाने के लिए है। इनकी पारमार्थिक सत्ता बिल्कुल शून्य है।[4]

वस्तुतः हरि के नाम-स्मरण के बिना ही सारा समय पर-निंदा के श्रवण में समाप्त हो जाता है। केवल तिलक धारण करने, स्वच्छ वस्त्र पहनने और इत्रादि सुगंधित वस्तुओं के प्रयोग द्वारा स्वामी बनकर विषय-वासना में उलझना ठीक नहीं। समय ने ब्रह्मादिकों पर भी विजय पाई है। काल-सर्प की फुंकार में कुछ भी अदग्ध नहीं। अतः बिना श्यामसुंदर की कृपा के इस आगाध भवसागर से पार लगना कठिन है। यद्यपि तीनों 'पन' का क्रमशः ह्रास बिना हरिभजन के ही हो जाता है। शिशुपन क्रीड़ा-कौतुक में, युवाकाल विषय-रस से संलिप्त होने में और जरठपन में जब स्मृति समाप्त हो जाती है, उस समय की आर्त्त पुकार को कोई सुनने वाला नहीं होता। सूरदास ने अपने को सर्वश्रेष्ठ पतित माना है—'सब पतितन पतितेश'। इस 'पतितेश' की नगरी 'महामोह' है। आशा ही सिंहासन है। दंभ ही छत्र है। काम और क्रोध अपने-अपने ढंग के मंत्री हैं। दुविधा और द्वंद्व रात-दिन विपरीत

१. सूरसागर, ४६
२. सूरसागर, ४७
३. सूरसागर, ४६
४. सूरसागर, ५०

भाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं तथा अहंकार रूपी द्वारपाल अहर्निश पहरेदार बना है। ममता जैसे सुझाव देने वाले वृद्ध भी हैं। तृष्णादासी एक क्षण भी विश्राम भी नहीं लेती। वह सदा अनाचार रूपी सेवकों से मिलकर अपना काम करती रहती है। राजाओं के पास जैसे हाथी, घोड़े, रथ, सारथी आदि होते हैं, कवि ने क्रमशः गर्व, मनोरथ, कुमत मन, दुष्टमति आदि को अपने रूपक में केवल स्थान ही नहीं दिया है अपितु उनकी सर्वोचित व्याख्या भी की है। इस प्रकार 'यह सब माया का परिवारा, प्रबल अमित को बरनै पारा' का सांगोपांग वर्णन माया-परिवार के प्रत्येक सदस्य की विशिष्टता एवं कार्यपटुता के रूप में बड़े ही सूक्ष्म ढंग से वर्णित मिलता है। प्रायः सभी मध्यकालीन भक्त कवि इस विचार-बिंदु पर एक हैं कि इंद्रियों के अनेक विषयों में संलिप्त हो जाने के कारण, सभी तरह के कुकृत्य सामाजिक, पारिवारिक, व्यैक्तिक तथा आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतः उन पर समुचित प्रतिबंध अनिवार्य है। यही कारण है कि सारी व्याधियों की एक-मात्र औषधि है—प्रभु की कृपा से उनके चरणों में प्रीति-स्थापन-कार्य। उसी से सारी सांसारिक व्याधियाँ, जो माया के अनेक रूप, जैसे—मोह, ममता, अहंकार, दंभ, काम, क्रोध, मद, लोभ, अधीरज, गर्व, मन, कपट आदि में अभिधान प्राप्त हैं, समाप्त होती हैं।

सूरदास के अनुसार माया जड़ है—जड़ स्वरूप सब माया जानौ। माया सृष्टि की रचयित्री हैं। यद्यपि उसमें रचना के स्वतंत्र गुण का अभाव है। कृष्ण या राम उसकी सहायता से सृष्टि रचते हैं। देवहूति और कपिल संवाद के प्रसंग में सूर ने माया को भगवान् की सृष्टिकारिणी त्रिगुणात्मिका शक्ति कहा है। यद्यपि यहाँ कवि सांख्य-दर्शन की श्रेण्य परंपरा का अनुसरण करता नहीं दीखता। उसका लक्ष्य है कि माया भगवान् के भ्रूविलासों के संकेत पर ही सृष्टि-संरचना में क्षम होती है और यह विभावन वल्लभसंप्रदाय के सिद्धांतों की एक कड़ी के रूप में स्वीकृत है। यहाँ संसार की असारता का प्रतिपादन अविधामाया के प्रसंग में हुआ है। वल्लभ मत में विद्या और अविद्या माया के दो रूपों की चर्चा है। विद्यामाया भगवान् के अधीन है और अविद्या जीव की प्रकृतिस्वरूपा सृष्टि की असारता माया के वैतथ्य-प्रमाण हेतु निष्पादित है। भक्तकवियों की दृष्टि प्रेम भक्ति की ओर सर्वाधिक तीव्रता के साथ इसीलिए है और उन्हें उसे साधन-रूपा स्वीकार करने के पीछे भी, माया के पाशक से दूर रहने का ही अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष हेतु संप्रतिष्ठित है। उस भक्ति को एक ऐसे सर्वसमर्थ परमकल्याणकारी का वरदहस्त प्राप्त है, जो माया के प्रत्येक बंधन को पल में काट देने वाला है।

सूरदास ने माया का वर्णन अप्रस्तुत योजना के अंतर्गत भी किया है। माया को अविद्या और तृष्णा बताकर अनेक रूपकों की योजना करते हुए, उसे गाय के रूप में

संबोधित कर, गोकुलपति के गोधन में मिलाने की उन्होंने प्रार्थना की है। "माधव ! अपनी इस गो (तृष्णा, माया-प्रकृति) को थोड़ा हटक दो। यह अहर्निश घूमने वाली तथा परले किस्म की भगेड़ू है, जो सहज में पकड़ाती नहीं। इसकी बुभुक्षा कभी शांत नहीं होती। वेद रूपी वृक्ष के पत्ते और पुराण रूपी घड़ों के जल से भी इसकी तृष्णा शांत नहीं होती। यह षड्दर्शन रूपी षट्रस आपूर्ण रस को सामने रख लेती है, जिनसे सुहावनी गंध का उत्सेध होता है। इसके अतिरिक्त वाणी के द्वारा अवर्णनीय, अहितकारी पदार्थ भी इसके ग्रास बनते हैं। नभ, नदी, पृथ्वी, वनादि सर्वस्थलों पर इसका चारागाह तथा भ्रमणस्थली प्रतिष्ठित है, फिर भी इसे तृप्ति नहीं मिलती। इसका सम्मोहक प्रभाव देव, मानव, राक्षस और दुष्ट सब पर समान है। तमोगुण रूपी नीले खुर, रजोगुण रूपी लाल नेत्र तथा सतोगुण रूपी श्वेत सींग से युक्त यह चतुर्दश भुवनों में अहर्निश कौतुक करती घूमती रहती है।[1] एक पद में पुनः इसी गाय के रूपक से वे अविद्या का वर्णन करते हैं।[2] सूर की दृष्टि में माया और अज्ञान एक ही हैं। इस अज्ञानांधकार से विनिर्मुक्त होने के लिए करुणामय की सेवा और तद्स्नेह-याचना विधेय माना गया है। यही 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की भावना है, जिसकी भूमिका ईशोपनिषद् की 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' में वर्णित सत्यावलोकन की प्रवृति को निनादित करती है। यह कामना ब्रह्म के मायावृत होने की कल्पना को जन्म देती है और भागवत में 'स्वमायया संवृत रूद् दृष्टये' अथवा निराकारमेव ब्रह्म माया जवनिकाच्छन्नम्' आदि अनेक उपवाक्य तत्तत् भावना के प्राश्रय स्वरूप प्रकट मिलते हैं। यहाँ माया अज्ञान के रूप में ही प्रतिफलित होती है।

सूरदास ने कृष्ण की कमरी को माया के रूप में वर्णित किया है। गोपियों के इस माया-कमरी को सामान्य कमरी समझकर संबोधित करने पर कृष्ण का कथन है कि यही तीनों लोक की प्रपंच है। इसी के बल पर उन्होंने असुर-कुल का संहार किया है और उनकी सारी भोग-निधि इसी पर आधृत रही है। यहाँ 'कमरी' कृष्ण की माया-शक्ति की प्रतीक है, जो गीतोक्त 'यंत्रारूढ़ानि मायया' के सदृश समाख्यायित है। इसीलिए माया-वपु धारण-कार्य का वर्णन भी सूर ने प्रत्यक्ष रूप में किया है। इस संदर्भ में कृष्णचरित्र का प्रचुरांश मायिक-कार्य वैशिष्टय से समारंभित किया गया है। लीलाजन्मधारण, वासुदेव के गृह-अवतरण, गोपियों के साथ लीला-कार्य, वकासुर-वध, इंद्र का गर्वहरण, नारद का संशय, आसुरी विद्या का समूल नाश, तृणावर्त्त-वध आदि अनेक प्रसंग माया-कार्य पर ही आधृत हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण-प्रिया राधा के वर्णन-प्रसंग में उसे मूल प्रकृति की रूप-प्रतिष्ठा देकर कृष्ण के साथ प्रकृति-पुरुष जैसी एकरूपता निर्दशित है। यहाँ राधा का रूपत्व आध्यात्मिकता में

१. सूरसागर, ५६ २. सूरसागर, ५१

प्रकृतस्थ जान पड़ता है, पुराणों में प्रायः प्रकृति विष्णुमाया के रूप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार परमेश्वर ने स्थावर जंगमात्मक विश्व का सृजन सृष्टि-काल में माया से मीलित होकर किया है। भागवत के अनुसार 'अगुण विभुने गुणमयी सद्सद्रूपा आत्मा माया के द्वारा ही यह सारी सृष्टि की है, माया और प्रकृति सर्वथा एक नहीं हैं। प्रकृति मायाशक्ति का एक विशेष क्रियात्मक रूप है और माया विश्वभुवन-व्यापिनी भ्रमशक्ति है। यद्यपि वैष्णवाचायों ने इसे 'विलास विभ्रम' माना है—विलासार्थ लीलायुक्त भगवान् ने स्वेच्छया एक अखंड सत्ता में 'बहु' के अस्तित्व को प्रतिभासित किया है। गीता में जहाँ कहीं सृष्टि का प्रसंग आया है, वहाँ 'प्रकृति' शब्द का और जहाँ जीव के मोह कराने का प्रसंग है, वहाँ प्रायः 'माया' शब्द का व्यवहार हुआ है। सूर ने 'प्रकृति पुरुष एकै करि जानौ बातनि भेद करायौ' में राधा को प्रकृति तथा कृष्ण को पुरुष की व्याप्ति दी है। राधा यहाँ भगवान् की जगत्–उत्पादिका-शक्ति मानी गई है और उसके रूप की वंदना भी की गई है। इस तरह का संकेत पुराणों में भी मिलता है। वहाँ विष्णुमाया के दो रूप मिलते हैं—(१) विष्णु की आत्ममाया तथा (२) त्रिगुणात्मिका ब्राह्म माया। त्रिगुणात्मिकामाया विष्णु की आश्रिता मात्र है। विष्णु की आत्ममाया को ही 'वैष्णवी माया' कहते हैं। इस प्रकार सूर की राधा, कृष्ण की आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा अभिन्न प्रकृति अर्थात् उन्हीं की माया या योगमाया है, जो उनसे अभिन्न है। गीता का व्यावृत सत्य भी 'अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ' उक्त कथन की संपुष्टि करता है।

सूर ने 'माया' शब्द का प्रयोग विभिन्नार्थों में किया है। यह प्रयोग वेद-वेदांत तथा उनके पूर्ववर्त्ती भाषाकवियों के भावानुरूप ही है। विशेषतया तृष्णा का अर्थ कवि की भावनाओं के सर्वथा निकट है। इसके अतिरिक्त धन, शक्ति, सुंदर स्त्री, पुत्र, कपट, मोह, आसक्ति, ममता, इंद्रजाल, अविद्या आदि का आश्रय भी इस आलोच्य कवि ने ग्रहण किया है। डा० प्रेमनारायण टंडन ने 'ब्रजभाषा सूर-कोश' में 'माया' के निम्नलिखित अर्थों का अभियोजन किया है :

माया—१. धन-संपत्ति,

२. अज्ञानता, अविद्या

(क) हरि तुम माया को न बिगोयौ।[1]

(ख) तुम्हारी माया महाप्रबल जिहि सब जग बस कीन्ही।

३. छलकपट :

धरि के कपट वेष भिक्षुक को दशकंधर तहँ आयो,
हरि लीन्हौं छन मैं माया करि अपने रथ बैठायो।

---

१. सूरसागर, ४३

४. सृष्टि की उत्पत्ति का कारण, प्रकृति :

माया माँहि नित्य लै पावै । माया हरि पद माँहि समावै ।

५. ईश्वर की शक्ति :

रावन सो नृप जात न जान्यो, माया विषम सीस पर नाँची,

६. जादू, इंद्रजाल,

७. देवलीला ।

गोकुल रहौ जाहु जनि मथुरा झूठा माया मोह ।

डा० जनार्दन मिश्र ने मोहिनी को माया का अन्य रूप माना है और धन-दौलत, शक्ति-सौंदर्य, स्त्री-पुत्र तथा आनंद के अन्य उपादानों को माया के विभिन्न रूपों में स्वीकार किया है, जिसका संकरी-कृत रूप सूर की रचनाओं में संकीर्तित है। उदाहरणार्थ :

ईश्वरी माया—माया काल कछु नहिं व्यापे, यह रस रीति न जाने ।

अविद्या माया—महामोहिनी मोहि आतमा अपमारग गहि लगावै ।

स्त्री—नारद मगन भए माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयो ।

धन-संपत्ति—कहा कृपिन की माया मनिए, करत-फिरत अपनी-अपनी,
खाइ न सकै, खरचि नहिं जाने, ज्यों भुवंग सिर रहत मनी ।

पुत्र-कलत्रादि—माधो जू मन-माया बस कीन्हो ।
लाभ-हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यों पतंग तन दीन्हों ।

आशा—यह आशा पापिनी दहै ।
तजि सेवा बैकुंठनाथ की नीच नरनि के संग रहै ।

विषय वासना (क) मगन भयो माया-रस लंपट समुझत नाहिं हरी ।
(ख) नंद-नंदन पद कमल छाँड़ि के माया-हाथ बिकानों ।

लोभ-मोह—माया लोभ मोह हैं चाड़े काल नदी की धार ।

कपट—माया-कपट-युवा कौरव सुत लोभ मोह मद भारी ।

छल—बकासुर रचि रूप माया, रह्यौ छल करि आई ।

माया-मोह—माया-मोह लोभ के लीन्हें जानी न वृन्दावन रजधानी ।
बिनु अपराध पुरुष हम मारे । माया मोह न मन में धारे ।

इंद्रजाल—अति कुबुद्धि मन हाँकन हारे, माया जूआ दीन्हों ।

ईश्वर की शक्ति—सत मिथ्या मिथ्यासत लागत, मम माया सो जानि ।

पारिवारिक मोह—बाबा नंद झखत किहि कारन यह कहि मया मोह अरुझाइ ।

आसक्ति—जोगी जती रहित माया तें, तिनही यह मत सोहे ।

विविध अर्थों के दृष्टिकोण से ओर भी अर्थ निष्पादित हो सकते हैं किंतु भाव संकेत के लिए ये कम नहीं है ।

सूरदास के अन्य ग्रंथ 'सूरसारावली' में भी माया के संबंध में कुछ विचार अनुस्यूत हैं। योग और ज्ञान की तुलना में भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि योगी और ज्ञानी ध्यान और ज्ञानपूर्वक माया के बंधनों को तोड़ते हुए भी केवल निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं, किंतु प्रेमपूर्वक भगवत्यश गाने वाले भक्त के हृदय में साक्षात् भगवान् का निवास होता है। इस विमर्शन का फलितार्थ स्पष्ट है—'भगवत् प्राप्ति का रहस्य है प्रेमसिक्त होकर प्रभु का यशोगान करना, जो योग और ज्ञान-मार्ग से अत्युत्कृष्ट है। बाल-लीला के वर्णन में भी सूर ने कृष्ण के अघटन घटना शवलित कार्यों का उन्मुक्त भाव से विवरण दिया है। मुख के भीतर सकल ब्रह्मांड, ब्रजमंडल, पातालधेनु आदि का दर्शन कर यशोदा श्रीकृष्ण को पूर्णब्रह्म के रूप में देखती हैं किंतु दूसरे ही क्षण हरि की माया से वे पुनः उन पुत्र के वात्सल्यमंडित शरीर का ही संस्पर्श करती हैं। इसके अतिरिक्त सीताहरण में रावण का अपनी माया द्वारा सीता को रथ में बैठाया जाना, माया सीता के अभाव में राम का द्रुम-दल जाति से जिज्ञासा करना, लंकाविजय के क्रम में राक्षसों की प्रगाढ़ और दुर्जेय माया का राम द्वारा विनाश आदि अनेक कार्य माया द्वारा संपादित कराए गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि सूर ने अपने माया संबंधी विचारों को अर्थ, स्वरूप और क्षेत्र की दृष्टि से अलम् विस्तार दिया है। एक ओर वे जहाँ अपनी माया-धारणा में वल्लभसिद्धांतों की पूर्ण छाया का निर्वहण करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने उसके रहस्यमय और अवर्णनीय स्वरूप को विभिन्न उपमानों तथा रूपकों द्वारा व्यावृत करने का भी उत्कट प्रयास किया है। 'ठोंक-बजाकर' देखने से 'माया-मोह की निशा' को विवेक-प्रकाश से ही हटाया जा सकता है और प्रभु के कृपा-कटाक्ष-प्रभाव के बिना यह अज्ञान पराभूत नहीं हो सकता। इसीलिए सर्व समर्थ प्रभु के, जिनके समक्ष माया अहर्निश हाथ जोड़े खड़ी रहती है, श्रीचरणों में अपने को अनन्य-भाव से रख छोड़ना ही विधातव्य है।

□ डा० श्यामबहादुर वर्मा

सूरसाहित्य में शक्ति-तत्त्व

भक्तिकालीन काव्य में सगुण कृष्णभक्ति काव्यधारा के अंतर्गत मुख्य रूप से वल्लभसंप्रदाय, राधावल्लभ-संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय, गौड़ीय संप्रदाय, सखी संप्रदाय आदि के कवियों की गणना है। शक्तितत्त्व की दृष्टि से कृष्णभक्तिकाव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव कविता में राधा-कृष्ण-युगल, कामेश्वरी-कामेश्वर युगल से भिन्न नहीं है। गोपियाँ भी विभिन्न शक्तियों के रूप में गृहीत हैं। राधा-कृष्ण की रति-क्रीड़ाओं का वर्णन भी शाश्वत् प्रकृति-पुरुष-केलि के रूप में ही स्वीकृत है और इसीलिए नित्यलीला अथवा नित्यरास का नित्यधाम गोलोक या नित्य वृंदावन में होना वर्णित है। शक्तिपात के सिद्धांत के समान ही 'कृष्ण' की कल्पना यहाँ है। साधना में गुरु-महत्ता को शक्ति-उपासना की तांत्रिक अथवा शाक्त पद्धतियों जैसा ही यहाँ भी स्थान है, मंत्रों, बीजमंत्रों अथवा नाम के जप का विधान भी अद्भुत साम्य रखता है। किंतु यहाँ हिंसापूर्ण बलि आदि का विधान भी नहीं है और पंचमकारों का प्रयोग भी नहीं है। यहाँ भावसाधना ही प्रधान है और राधा, जो या तो परब्रह्म कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं या सर्वोपरि स्वामिनी, निस्संदेह सर्वत्र महाभावस्वरूपा हैं, रसमयी हैं और श्रीकृष्ण भी रसमय हैं। भावसाधना राग-साधना है। राग से बँधना और राग से ही मुक्त होना इस साधना का घोष-वाक्य है। वैष्णव साधना की मधुराभक्ति मानव के सहज रागात्मक जीवन की संरक्षक होने के कारण अन्य उपासना-पद्धतियों से अधिक लोकमान्य हुई है।....."वैष्णव आचार्य ऐसी साधना-पद्धति का विकास करना चाहते थे, जिसमें मनुष्य के रागात्मक जीवन का विनाश न हो। भाव, राग का ही विकसित रूप है और प्रत्येक साधक को चित्त-वृत्ति के अनुकूल कोई एक भाव चुन लेने की छूट दे दी गई है, उसी भाव द्वारा प्रत्येक भक्त अपने इष्ट का अन्वेषण करता है। यह पद्धति हठयोग और संन्यास मार्ग

से सरल और आकर्षक होने के कारण जनता में अधिक प्रचलित हुई। तांत्रिकों के वाममार्ग और हठयोग जैसी कृच्छ साधनाओं को छोड़कर एक मध्यम मार्ग के आविष्कार का श्रेय वैष्णव आचार्यों को अवश्य है।···तांत्रिकों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों में जहाँ आकर्षण था, वहीं भ्रष्टाचार का भय भी उपस्थित रहता था। वैष्णवों ने इसीलिए भगवान् के रतिचक्र को केवल मानसी ध्यान के रूप में ग्रहण किया है और भावविभोर होकर भगवान् की मनोहर लीलाओं का गायन किया है।[१]

नारद पंचरात्र आदि ग्रंथ जिस निकुंजेश्वरी वृंदावनविहारिणी राधा को परमतत्त्व या परमतत्त्व की पराशक्ति बताते हैं, कृष्ण-भक्तकवियों ने उसी राधा का कृष्ण के साथ स्तवन या लीला-गायन किया है।

अष्टछाप काव्य—वल्लभाचार्य के शिष्यों—सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास तथा कृष्णदास और उनके उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों—नंददास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी तथा छीतस्वामी—की प्रसिद्धि 'अष्टछाप' के नाम से है। इन कवियों ने राधा-कृष्ण का शक्ति-शक्तिमान के रूप में तथा उनकी नित्यलीला, उनके नित्यधाम, राधा व गोपियों का परब्रह्म श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति या रस-सिद्ध शक्ति व आनंदप्रसारिणी शक्तियों के रूप में अनेक स्थानों पर वर्णन किया है।

सूरदास ने परब्रह्म श्रीकृष्ण और उनकी शक्ति राधा का वर्णन इस प्रकार किया है :

सुंदरता रस गुन की सीवां, सूरराधिका स्याम।[२]

अर्थात् राधा-कृष्ण सौंदर्य, त्रिगुण और रस की सीमा हैं।

एक अन्य स्थान पर सूरदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण सदा एकरस, एक, अखंडित, सबके आदि, स्वयं अनादि और अनुपम हैं। सभी तत्त्व, ब्रह्मांड, देवगण, माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, नारायण से सभी श्रीकृष्ण के ही अंश हैं :

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटिककला बीतत नहिं जानत बिहरत युगल-स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल।[३]

राधा प्रकृति-रूप हैं और श्रीकृष्ण पुरुष-रूप हैं, एक पद में श्रीकृष्ण द्वारा राधा को यह स्मरण कराया गया है :

---

१. संत-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृष्ठ ३६६-३६७
२. सूरसागर, १६६३
३. सूरसारावली, १०९९-११०१

ब्रजहिं बसें आपुहिं बिसरायौ ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ ।
जल थल जहाँ रहौं तुम बिनु, नहिं बेद उपनिषद् गायौ ।
द्वै-तन जीव-एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ ।
ब्रह्मरूप द्वितीया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ ।
सूर स्याम मुख देखि अलप हँसि, आनंद-पुंज बढ़ायौ ।[1]

श्रीकृष्ण द्वारा यह कहे जाने पर राधिका हर्षित हो उठीं । श्रीकृष्ण का पुरातन स्नेह जानकर उन्हें अत्यंत आनंद हुआ । उनका प्रकृति-पुरुष संबंध तो नित्य है :

तब नागरि मन हरष भई ।
नेह पुरातन जानि स्याम कौ अति आनंद-मई ।
प्रकृति पुरुष, नारी मैं वै पति, काहैं भूल गई ।
को माता, को पिता बंधु को, यह तौं भैंट नई ।
जन्म-जन्म जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई ।
सूरदास-प्रभु की यह महिमा, तातें बिबस भई ।[2]

सूरदास ने राधा को जगत्-जननी और जगरानी भी कहा है तथा उस शक्ति-स्वरूपा राधा की कई पदों में कृष्णभक्ति पाने के लिए वंदना भी की है ।[3] यथा :

जगनायक-जगदीश-पियारी, जगतजननि जगरानी ।
नित बिहार गोपाललाल-संग, बृंदावन रजधानी ।
अगतिनि की गति, भक्तनि की पति राधा मंगल दानी ।
असरन-सरनी, भव-भय-हरनी, बेद पुरान बखानी ।
रसना एक, नहीं सत कोटिक, शोभा अमित अपार ।
कृष्ण-भक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहार ।[4] इत्यादि

राधा शेष, महेष, गणेश, शुकनारदादि की स्वामिनी भी कही गई हैं । यह भी स्पष्ट कथित है कि रूपराशि, सुखराशि, शीलराशि तथा महागुणराशि राधिका के चरणों के उपासक ही श्रीकृष्ण-चरणों का दर्शन पाते हैं । यह श्रद्धा राधा के पराशक्ति रूप के प्रति ही है ।

नंददास ने भी राधा के पराशक्तितत्त्व का स्पष्ट वर्णन किया है :

सब जग-धाम धाम पुनि जाकौं सेस-धाम जिहि मानें ।
नंददास सुख कौ सुखसागर प्रगटी ह्वै बरसानें [5]।

---

१. सूरसागर, २३०५ २. सूरसागर, २३०६
३. 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय', भाग २, पृष्ठ ५१०
४. सूरसागर, १६७३
५. नंददास ग्रंथावली, पदावली ५२, पृष्ठ २९७

तथा :

शक्ति सबै दासी हैं जाकी, तातैं अधिक सुहाई ।[१]

सूरदास ने नित्यलीला तथा नित्य वृंदावन का वर्णन भी स्थान-स्थान पर किया है ।[२] कृष्णदास ने तो जहाँ "कृष्ण का वर्णन किया है, वहाँ उनको उन्होंने युगल रूप में ही देखा है ।"[३] उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण रस रूप हैं और राधा उनकी रस-शक्ति हैं ।[४] परब्रह्म परमेश्वर संसार में अपने अक्षरधाम तथा अपनी आनंदप्रसारिणी शक्तियों के साथ अवतार लेता है, ऐसी पुष्टिमार्गीय मान्यता के कारण ही राधा व गोपियों को श्रीकृष्ण शक्ति के रूप में देखने वाले अष्टछाप-कवि गोपियों को वैसे ही नित्य कहते हैं, जैसे रास को और रस को ।[५]

निस्संदेह "सूरदास ने भी इस रास-रस को लोकानुभूत रसों से तथा ब्रह्मानंद से भी इतर अद्भुत रस कहा है । सूर का अंतिम लक्ष्य इसी रास में ही प्रवेश पाना है ।"[६] इस रास का रहस्य प्रभु-कृपा बिना वेदज्ञ भी नहीं जान सकते ।[७]

रासमंडल में नृत्य करते कृष्ण व राधा का वैष्णव वर्णन और नृत्य-निपुण शिव व पार्वती के शैव-शाक्त-वर्णन का अद्भुत साम्य महत्त्वपूर्ण है । और यह भी सत्य है कि नंददास ने :

अमल अष्टदल कमल महामंडल मंडित तहँ ।
मधि कमनीय करनिका तापर बिधि किसोर बर ।
पुनि द्वै द्वै गोपी करि हरि मंडित मंडल पर ।[८]

कहकर 'मंडल' की बात कही है किंतु इससे तांत्रिकों के 'भैरवी चक्रों' की समानता या उनका इस वर्णन पर प्रभाव मानना उचित नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश किया है ।[९]

सूरदास ने राधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन भी रास से पूर्व किया है । राधा ने श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए व्रतपूर्वक देवी की पूजा की थी, वही पूर्ण

१. नंददास ग्रंथावली, पदावली ५३, पृष्ठ २६७
२. उदाहरणार्थ सूरसारावली (पृष्ठ ५०२) की पंक्तियाँ "जहँ वृंदावन आदि अजिर वहाँ कुंजलता-विस्तार । तहँ विहरत प्रिय पीतमदोऊ निगम भृंग गुंजार ।"
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग २, पृष्ठ ४१७
४. द्रष्टव्य-पद-'रसिकनी राधा रसभीनी' इत्यादि ।
५. नंददास ग्रंथावली में रास पंचाध्यायी पृष्ठ ३० ।
६. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग २, पृष्ठ ४९९-५००
७. द्रष्टव्य-सूरसागर के पद क्रमांक १७९१, १६२४, १६८७, १६८२, १६८३ ।
८. नंददास ग्रंथावली-श्रीकृष्ण सिद्धांत पंचाध्यायी, पृ० ३८
९. जैसा वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ (पृष्ठ ३७९) में मिलता है ।

हुई ।[१] यह प्रसंग भी राधा-कृष्ण के शक्ति-शक्तिमान-संबंध की स्पष्ट स्वीकृति का पोषक है ।

पुष्टिमार्ग में माया के विद्या-अविद्या दोनों रूपों का उल्लेख है । सूरदास ने देवहूति-कपिल-संवाद में माया का भी विवेचन किया है । यह माया हरि के अधीन है, त्रिगुणात्मक है तथा सृष्टि की उत्पादिका है ।[२] सूर के अनेक पदों में माया—अविधा माया—से भक्त को सावधान किया गया है ।[३] "इनके चेतावनी के पदों में विद्या माया के प्रभाव का वर्णन है तथा अविद्या से छूटने का प्रबोधन है । पुर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म की रसशक्ति राधारूपिणी माया का गुणगान भी अवश्य अष्ट-भक्तों ने प्रचुर रूप में किया है ।[४] नंददास ने 'दशमस्कंध भाषा' (२७ वाँ अध्याय) में लोक-सृष्टि का सृजन करने वाली माया-शक्ति का उल्लेख किया है :

'लोक सृष्टि सिरजति यह माया' ।[५]

'रास पंचाध्यायी' में नंददास ने मुरली-वर्णन में 'जोगमाया सी मुरली' कह कर 'अघटित घटना चतुर' गोगमामा के स्वरूप का कुछ वर्णन अप्रस्तुत विधान के रूप में इस प्रकार किया है :

जाकी धुनि तैं आगम निगम प्रगटे बड़ नागर ।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर ।[६]

'श्रीकृष्ण सिद्धांतपंचाध्यायी' में नंददास ने माया के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है :

दस इंद्रिय अरु अहंकार महँ तत्वत्रिगुन मन ।
यह सब माया बर विकार कहें परमहंसगन ।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस ।
विश्व-विभव-प्रतिपाल-प्रलय-कारज आयसु बस ।[७]

यह आदिशक्तिरूपा माया का ही वर्णन है, जो विश्व की उत्पत्ति, पालन व संहार करती है ।

सूरसागर के चतुर्थ स्कंध में सती व पार्वती के चरित्रों का वर्णन भो महत्त्व-पूर्ण है । तदंतर्गत पार्वती-विवाह का वर्णन भी सूर ने किया है । नवम स्कंध में

१. सूरसागर, १६६०
२. सूरसागर, ३६४
३. सूरसागर, ६६, १०५, ३७३, ३७५
४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ४५८
५. नंददास ग्रंथावली, पृष्ठ २७२
६. वही, पृष्ठ ५
७. वही, पृष्ठ ३४२

रामचरित-वर्णन में सूर की सीता 'जगज्जननी' हैं। रावण भी जानता है कि सीता जगज्जननी हैं[१] और मंदोदरी भी।[२]

यहाँ पर एक और तत्त्व का विचार समीचीन है। 'बैठे स्यामा स्याम झुलत हैं नील कमल पिय राधा गोरी'[३] तथा 'नीलांबर पहिरे तनु भामिनि'[४] व 'स्याम तनु राजति पीत पिछौरी'[५] में राधा व कृष्ण के गोरे व नीले वर्ण तथा क्रमशः नीले व पीले वस्त्रों का जो वर्णन कृष्ण-भक्तों में मान्य हुआ है, वह कवि-रुढ़ि जैसा है या उसके पीछे कोई सारपूर्ण तथ्य है? वस्तुतः इन रंगों का स्वीकरण प्रतीक-विद्या के आधार पर ही समझा जा सकता है। 'आकाश शरीरंब्रह्म'[६] के अनुसार ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण का वर्ण अनंत आकाश के समान ही श्याम वर्ण या नीलवर्ण कहा गया है। इसी प्रकार ज्योतिर्मयी ब्रह्मशक्ति राधिका प्रकाशरूपा, गौरवर्णा अथवा स्वर्णिम पीतवर्णा हैं और ब्रह्म से ब्रह्मशक्ति की अभिन्नता को दर्शाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने राधिका के वर्ण का वस्त्र तथा राधिका ने श्रीकृष्ण के वर्ण का वस्त्र धारण किया है, ऐसा कवियों व भक्तों ने वर्णन किया है। इस प्रकार राधा-कृष्ण का शक्ति-शक्तिमान्-संबंध उनकी वेशभूषा से भी पुष्ट होता है।

---

१. सूरसागर, ५२२ २. वही, ५६० ३. नंददास ग्रंथावली, पृ० ३४२
४. सूरसागर, १६७२ ५. वही १६७३ ६. तैत्तिरीयोपनिषत् १/६/२

☐ डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

सूरदास और मोक्ष-भावना

मुक्ति की कल्पना भारतीय दर्शन की विशेषता है। वैष्णव संप्रदाय के आचार्य भी मुक्ति की कल्पना करते रहे हैं, परंतु उसके स्वरूप के संबंध में सब एकमत नहीं हैं आचार्य रामानुज जीव की ही नहीं, अहंकार की सत्ता को भी मुक्ति में स्वीकार करते थे, क्योंकि अहंकार के बिना मुक्ति के भोग को नहीं भोगा जा सकता। यह मुक्ति दुःख से छूट जाने का नाम है। दुःख दुष्कर्मों का भोग है तो सुख सत्कर्मों का। भोगवाद को दृष्टि में रखकर ही कतिपय वैष्णव आचार्य मुक्ति के साथ मोक्ष-सुख को भी भक्ति के समक्ष अधम कहते रहे हैं।[1] गीता भी स्वर्ग-सुख को नित्य नहीं मानती और वहाँ से च्युत होने का उल्लेख करती है।[2] सुख और दुःख दोनों से ऊपर परम गति है। इसे मोक्ष नहीं, ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाना कहा गया है।

श्रीमद्भागवत[3] में मुक्ति के सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य और सार्ष्टि नाम के पाँच भेद किए गए हैं। महात्मा सूरदास ने भी इनका वर्णन अपने सूरसागर में किया है।

आचार्य वल्लभ ने माया के दो भेद किए हैं—अविद्या माया और विद्या माया। अविद्या माया से जीव की और विद्या माया से ईश्वर की संज्ञा बनती है। जीवात्मा जब अविद्या माया से मुक्त हो जाता है, तो उसमें भी ईश्वर का अंश आ जाता है। परंतु ऐसा होने पर भी रहता वह ब्रह्म से भिन्न ही है। 'जीवाभिन्नाः एव न संशयः'—ऐसा आचार्य वल्लभ का मत है। ईश्वर अथवा ऐश्वर्य से मंडित जीव

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, पूर्वभाग २।११ २. गीता ६।२१

३. श्रीमद्भागवत् ३।२९।१३

दुःख से छूट जाता है। उसके देह, इंद्रिय और प्राण सब निरध्यस्त हो जाते हैं, परंतु नष्ट नहीं होते। वे देवभाव से हरि-सेवा में निरत रहते हैं।

पुष्टिमार्ग में भक्त चार प्रकार के माने गए है—प्रवाही, मर्यादावादी, पुष्टि-पुष्ट और शुद्ध पुष्ट। मर्यादावादी भक्त सालोक्य मुक्ति के अधिकारी हैं। पुष्टि-पुष्ट भक्त मर्यादा से ऊपर उठ जाते हैं, स्थूल चिह्न वाले शरीर को भी छोड़ जाते है और लीला के लिए उपयोगी देह धारण कर लेते हैं। इन्हें सख्यभक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसमें भगवान् के साथ खेलना और आनंद प्राप्त करना प्रमुख हैं। सूरदास ने वंशी-वादन में मर्यादा से मुक्त होने का विशेष रूप से उल्लेख किया है, यथा :

(क) बाँसुरी बजाइ आछे रंग सौं मुरारी।
सुनि कै धुनि छूटि गई, संकर की तारी।
वेद पढ़न भूलि गए, ब्रह्मा ब्रह्मचारी।[1]

(ख) जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह ब्यौहार तजे आरज-पथ, चलत न संक करी।[2]

पुष्टि-पुष्ट भक्त की महिमा भी सूरदास ने मुरली के ही बहाने प्रकट की है।[3] यहाँ तप, व्रत आदि मर्यादा मार्ग के अंतर्गत है। शील-कुल छोड़ना मर्यादा-मार्ग से ऊपर उठ जाना है। अनुराग में मग्न होना पुष्टि-पुष्ट भक्ति है और अधर-रस पीना शुद्ध पुष्टि भक्ति है। शुद्ध पुष्टि-भक्ति का उल्लेख नीचे लिखे पद में भी है :

मोहि बिना ये और न जानैं।
बिधि-मरजाद लोक की लज्जा तृनहु तें घटि मानैं।[4]

शुद्ध पुष्टभक्त इनसे भी ऊपर हैं। इस प्रकार पुष्टि संप्रदाय में भक्तों के विविध रूपों के साथ मुक्ति के कई स्तर अपने आप हो जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद् इन स्तरों को स्वीकार करती है। स्व के ऊपर जितने लोक हैं सब अमृतलोक कहलाते है, परंतु स्तर में भिन्न-भिन्न हैं।

वैष्णव आचार्य सामान्यतः स्वर्ग को वैकुंठ कहते हैं। जहाँ किसी प्रकार की कुंठा न हो, वही वैकुंठ है। यथा :

सूरदास प्रभु दरस-परस करि, ते वैकुंठ सिधाए।[5]

पर साथ ही सूर यह भी लिखते है :

बंसीवट, वृंदावन, जमुना तजि वैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव जल आवै।[6]

---

१. सूरसागर, १२६७
२. सूरसागर, १२७७
३. सूरसागर, १२७४
४. सूरसागर, १६५०
५. सूरसागर, ४६१७
६. सूरसागर,

आचार्य वल्लभ वैकुंठ से भी बढ़कर गोकुल को महत्त्व देते हैं। प्रकृति, काल आदि से अतीत, वैकुंठ से भी उत्कृष्ट गोकुल में ही भगवान् कृष्ण की नित्य-लीलाएँ होती हैं। वृदावन इसी के समकक्ष है। यथा : **जो क्रीड़ा श्री वृंदावन मैं तिहूँ लोक मैं नाहिं।**[1] अमरपुर वैकुंठ या स्वर्ग है। सूर की दृष्टि में उससे बढ़कर वृंदावन का महत्त्व है। एक गोपी कहती है :

हमकौं बिधि ब्रजबधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर वास भएें।
बार-बार पछितात्ति यहै कहि, सुख होतौ हरि संग रहैं।
कहा जनम जो नहीं हमारौ, फिर-फिरि ब्रज अवतार भलौं।
वृंदावन द्रुम-लता हूजियै, करता सौं माँगियै चलौ।[2]

पद संख्या १६७३ में सूर ने वृंदावन को राधा की राजधानी माना है। बैकुंठ में नारायण और लक्ष्मी का निवास है। जब मुरली-ध्वनि उनके कानों में पड़ी तो वे कमला से कहने लगे :

सुनौ प्रिया यह बानी अद्भुत, वृंदावन हरि देखौ।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौं लेखौ।[3]

आचार्य वल्लभ ने लीलाधाम की इस उच्च अवस्था में भी जीव और ब्रह्म की भी अभेदता स्वीकार नहीं की है क्योंकि अभेदता में आनंद का अनुभव नहीं हो सकता। मोक्ष में ब्रह्म-भाव तो जीव को प्राप्त हो जाता है, परंतु द्वैत बना रहता है।

वैधीयामर्यादा-मार्गीय भक्ति में साधन क्रम चलता है। वेद-पथ भी मर्यादा-मार्ग है। मर्यादा से शासित भक्त स्वाधीन नहीं है। लीलारस को प्राप्त करने के लिए स्वाधीनता चाहिए। यह पुष्टभक्त को ही प्राप्त होती है।

आचार्य वल्लभ साधनों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, परंतु ज्ञान और योग को साधनों में क्लेशकर एवं कष्टसाध्य मानते हैं। भक्ति ही सहज और सरल साधन है। वह सर्वश्रेष्ठ साधन भी है। ज्ञान शुभकर्मों, अग्निहोत्र-दान आदि से प्राप्त हो सकता है। उपासना भी ज्ञान की उपलब्धि में सहायिका है, परंतु यह ज्ञान ब्रह्म-ज्ञान है और सांसारिक अथवा प्राकृतिक ज्ञान से बहुत ऊँचा है। इस ज्ञानार्जन से, जो कर्म और उपासना के उपरांत आता है, भक्त क्रम-मुक्ति का अधिकारी बनता है और मुक्ति के विभिन्न स्तरों में या लोकों में होकर अंत में ब्रह्म को प्राप्त करता है। ज्ञान-मार्गी ज्योतिमय ब्रह्म के ज्ञान द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति करता है—ऐसा आचार्य वल्लभ का मत है।

---

१. सूरसागर, १८६१ २. सूरसागर, १६६४
३. सूरसागर, १६८२ तथा द्रष्टव्य १६८३, १६९६

ज्ञानी भक्त सात्त्विक भक्त है। वह संतों में भगवान् की मूर्ति के दर्शन करता है। भगवत्कृपा से उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। प्रकृति के गुणों से विहीन निर्गुण भक्त भगवान् के दर्शनों से सुख प्राप्त करते हैं। महात्मा सूरदास ने लिखा है :

ऐसो भक्त सुमुक्त कहावै, सौ बहुर्‌यो भवजल नहिं आवै।

जिसने भगवान् के चरण-कमलों में अपने चित्त को लगा दिया, भगवान् को अपने हृदय में स्थापित कर लिया और निरंतर भगवान् के स्मरण में ही लगा रहा, वह वैकुंठ की आकांक्षा नहीं करता। उसे गोपाल के गायन में ही, कीर्तन और भजन में ही, ब्रह्मानंद की उपलब्धि हो जाती है। नेत्रों पर लिखते हुए सूर भव-सुख से मुक्ति के आनंद को श्रेष्ठतर मानते हैं :

मुकुति-पराग-रसहि इनि चाख्यो। भव-सुख-फूल रसहि इनि नाख्यो।

वेद जीव और ब्रह्म दोनों को सयुजा और सखा कहता है। सखा समान भाव वाले हैं तो सयुजा साथ-साथ, संयुक्त होकर रहने वाले हैं। सयुजा और सखा वस्तुतः साथी हैं। साथ-साथ रहना भावात्मक क्षेत्र की एकता का सूचक है। सखा साथ ही रहता है, वैसे तो जीव ब्रह्म का शाश्वत् सखा है, परंतु अविद्यामाया के जाल में फँसकर प्रभु से पृथक् हो जाता है। कठोर साधना ही उसे प्रभु से पुनः संयुक्त कर पाती है। यदि किसी सिद्ध संत या गुरु का अशीर्वाद प्राप्त हो जाय, तो साधक प्रभु के सखाभाव को अनायास प्राप्त कर लेता है। सूरदास ने अपने जीवन में गुरु-कृपा का अनुभव किया था और सिद्धि उपलब्ध की थी। उन्हीं के शब्दों में :

श्री गुरु सकल कृपा करी।
सूर आस करि बर्‌न्यो रास। चाहत हौं बृंदावन बास।
राधा (वर) इतनी करि कृपा।
निसिदिन स्याम सेंउ मैं तोहि। यहै कृपा करि दीजै मोहिं।
नव निकुंज सुख पुंज में।
हरिवंशी हरिदासी जहाँ। हरि करुना करि राखहु तहाँ।
नित बिहार आभार दै।[1]

सायुज्य भाव के साथ भगवान्-वेश अथवा अक्षर धाम का अंग बनना अथवा विरह की गंभीर अनुभूति में भगवान् के साथ तन्मय हो जाना भी आवश्यक है। वृंदावन की रज कितनी पवित्र है, जिसमें भगवान् भ्रमण करते हैं। सूरदास वृंदावन की रेणु बन जाना चाहते हैं, जिससे भगवान् के अंगों का स्पर्श तो कर सकें।

१. सूरसागर, १७९८

माधौ मोहिं करौ वृंदाबन-रेनु ।
जिहिं चरननि डोलत नँद-नंदन, दिन प्रति बन-बन चारत धेनु ।
× × × ×
हम ते धन्य सदा वै तृन-द्रुम, बालक-बच्छ-बिषानऽरु बेनु ।
सूर स्याम जिनकैं सँग डोलत, हँसि बोलत, मथि पथि पीवतु फेनु ।[1]

सूर की यह आकांक्षा भगवान् के अंगों के स्पर्श के साथ उनसे एक हो जाने के लिए है। वियोग की तन्मयता भी इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उस अवस्था में साधक का मन भगवान् में ही लगा रहता है। उसकी रसना भगवान् के नाम की रट लगाती है। उसे ऐसा करने में न देश का ज्ञान रहता है, न काल का। एकमात्र भगवान् के ध्यान में ही वह संलग्न रहता है। विरह की यह दशा साधना के क्षेत्र में उत्कृष्ट मानी जाती है। इस दशा में और मोक्ष में अधिक अंतर नहीं है।

मुक्ति के भेदों को भी सूरसागर में देखा जा सकता है। सालोक्य मुक्ति में भगवान् और भक्त एक ही लोक अथवा देश के निवासी बन जाते हैं। सूर ने भगवान् के चरणों को सरोवर या सिंधु का रूप दिया है। जिस सरोवर में सनक और शिव जैसे दिव्य पुरुष परमहंस के रूप में निवास करते हों, मुनिजन मीन बनकर रहते हों, जहाँ हृदय रूपी कमल सदैव प्रफुल्लित रहता हो, जहाँ वैदिक ऋचाओं का गुंजन अनवरत होता रहता हो, जहाँ मुक्ति रूपी मुक्ताफल तथा अमृतरूपी रस खान और पान के लिए प्राप्त होते रहते हों, सूर को उसी सरोवर में अपना निवास बनाना है। इस सरोवर के आगे विषयरस के पोखरे किस को अच्छे लगेंगे ? **सुवा, चलि ता बन का रस पीजे ।**[2] टेक वाले पद में भी सालोक्य-मुक्ति का ही वर्णन है। सूर ने विरह में भी सालोक्य-मुक्ति का आभास दिया है। यथा :

करन दै लोगन कौं उपहास ।
मन क्रम बचन नँद-नंदन कौ नैकु न छाड़ौं पास ।
× × ×
कैसे रह्यौ परै री सजनी, एक गाँव कै बास ।[3]

सालोक्य-मुक्ति के लिए सूर ने तप की महत्ता स्वीकार की है। यथा :

अति तप करति घोष कुमारि ।
कृष्न पति हम तुरत पावैं, काम-आतुर नारि ।[4]

तपश्चर्या मर्यादामार्ग में तो आती ही है, मोक्ष के अन्य साधनों को भी सहायता देती है। यशोदा तो पुत्र-प्रेम के कारण तप-साधना करती हैं, जिससे उनका कन्हैया

---

१. सूरसागर, ११०७
२. सूरसागर, ३४०
३. सूरसागर, २२८२
४. सूरसागर, १३६६

सुखपूर्वक रह सके और उसके मार्ग में कोई विघ्न उपस्थित न हो। यह मर्यादा है, तप इसका पूरक है और कृष्ण यशोदा के धाम में अथवा यशोदा कृष्ण के साथ एक देश में ही सुख का अनुभव करते हैं। गोपियाँ, जो तपश्चर्या कर रही हैं वे भी कृष्ण को अपने धाम में पाने के लिए, अपना बनाने के लिए। यह साधन सालोक्य से ऊपर नहीं ले जाता।

'सालोक्य' में देश की समानता है, तो 'सामीप्य-मुक्ति' में काल की समीपता है। सालोक्य में सामीप्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। गोकुल में सालोक्य तो है, पर गोपियाँ और कृष्ण एक-दूसरे से दूर भी हैं। सामीप्य निकटता चाहता है। प्रभु मेरे निकट हैं, मैं प्रभु के निकट हूँ, यह नैकट्य सदैव बना रहे, भगवान् हमें छोड़कर कहीं न जावें, हम निरंतर उनके समीप रहने का अनुभव करें। ऐसी भावना सामीप्य-मुक्ति के अंतर्गत है। हम कहीं हों, परंतु सर्वत्र भगवान् के समीप बने रहें। यथा : **हौं सँग साँवरे के जैहौं।**[1]

सारूप्य-मुक्ति में भगवान् के रूप के साथ एक हो जाने की भावना है। भगवान् भक्तवत्सल हैं, हमारे अंदर भी यह वात्सल्यभाव क्रीड़ा करे। भगवान् सौंदर्य की राशि हैं। हम भी वैसे ही बनें, वैसे न सही तो सौंदर्य के उपासक ही बनें। भगवान् पीतांबर धारण करते हैं, हम भी पीतांबर धारण करें। वे दैत्यों के संहारक हैं, हम भी अपने भीतर छिपे दानव का संहार करें। ऐसा आचरण सारूप्य-मुक्ति का साधक है। यथा :

माधो जू सुनियै ब्रज व्यवहार।
मेरौ कह्यौ पवन कौ भुस भयौ, गावत नंदकुमार।
एक ग्वाल गौसुत ह्वै रेंगत, एग लकुट कर लेत।
एक मंडली करि बैठारत, छाक बाँटि इक देत।[1]

एक गोप गोवत्स बनता है, एक हाथ में लकड़ी लेता है, एक मंडली बनाकर बैठता है और एक कलेवा बाँट रहा है। गोपों का यह कृष्ण-रूप बनना सारूप्य-मुक्ति का द्योतक है।

सायुज्य-मुक्ति में हमने सखा-भाव की स्थिति को प्रधानता दी है। एक भाव इसी के साथ और रहता है। यह है साधक का भगवान् के रंग में रँग जाना और एक हो जाना। कुरुक्षेत्र द्वारिकावास के उपरांत जब राधा और माधव की भेंट हुई तो कीट-भृंग न्याय के अनुसार राधा माधव बन गयी, और माधव राधा बन गये। यथा :

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृंग गति ह्वै जु गई।

---

१. सूरसागर, २२८६   २. सूरसागर, ४७६३

माधव राधा के रँग राचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।[1]

सायुज्य-मुक्ति में भक्त और भगवान् का अंतर मिट जाता है। सार्ष्टि नाम की मुक्ति दशा भी ऐसी ही है। इसमें भक्त भगवान् के साथ समान स्थान, समान दशा, समान पद तथा समान अधिकार वाला बन जाता है। उसकी शक्ति तथा गुण, समृद्धि एवं ऐश्वर्य परमात्मा के समान हो जाते हैं।

वैष्णव आचार्य शंकर अद्वैत के साथ कभी सहमत नहीं हुए। उन्होंने कोई न कोई विशेषण अद्वैत के साथ लगा ही दिया है, जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत अथवा द्वैताद्वैत। शंकर अद्वैत ज्ञान-प्रधान है और वैष्णवों का विशिष्ट अथवा शुद्धाद्वैत भक्ति-प्रधान है। भ्रमरगीत में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—"उद्धव ! तनिक विचार तो करो। तुम जिस निर्गुण अद्वैत ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो, वह हम अबलाओं की बुद्धि में कैसे समा सकता है। हम तो सगुण श्याम सुंदर की उपासिकाएँ हैं और चारों प्रकार की मुक्तियाँ सदैव हमारे समीप बनी रहती हैं।"

आचार्य वल्लभ भक्ति को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हुए भी ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते थे। सूरदास ने आचार्य वल्लभ की इस मान्यता पर विशेष ध्यान दिया। वे भक्ति को ही प्रधानता देते रहे। आचार्य वल्लभ योगी भी थे, परंतु सूरदास ने ज्ञान के साथ योग का भी तिरस्कार किया है। वे कहते हैं :

(क) **ऊधौ जोग सिखावन आए।**
सृंगी भस्म अधारी मुद्रा, दै ब्रजनाथ पठाए।
जौ पै जोग लिख्यौ गोपिनि कौं, कत रस रास रचाए।[2]

(ख) **आए जोग सिखावन पांडै।**
परमारथी पुरानन लादे, ज्यौं बनजारे टाँडे।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैं ते राँड़े।[3]

गोपियों को अपने सगुण ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी का अवलंबन नहीं चाहिए। जैसे मछली को जल का आधार है, वैसे ही गोपियों को श्री कृष्ण का। उन्हें मुक्ति की भी कामना नहीं है। सूरदास के शब्दों में :

शुद्धा भक्ति मोहि कौ चाहे। मुक्तिहुँ कौ नहिं अवगाहै।

मन, कर्म एवं वचन से समस्त आशाओं को छोड़कर एक भगवान् का भजन करना ही सूर की सम्मति में परमगति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। परमगति किसी स्थान का नहीं, मन की स्थिति-विशेष का नाम है। जब मन के संशय दूर हो जाते

---

१. सूरसागर, ४६१० २. सूरसागर, ४२२१ ३. सूरसागर, ४२२२

हैं और हृदय की ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, तो कर्मजाल स्वतः क्षीण हो जाता है। ग्रंथि का निर्माण उन कामनाओं से होता है, जिन्हें मानव अभद्र समझकर पूर्ण नहीं कर पाता। ऐसा करने में उसे भय लगता है। सामाजिकता के संस्कार उसे ऐसा नहीं करने देते। पूर्ण न होने की दशा में उद्वेग-वलित ये कामनाएँ हृदय के किसी कोने में छिपी पड़ी रहती हैं और मन का मंथन करती रहती हैं। यदि अभिव्यक्त हो जातीं तो इनका वेग कम हो जाता। अनभिव्यक्त रहने से हृदय में गाँठ बनकर पड़ी रहती हैं। ये गाँठें जब संयम और तप की भट्टी में पड़कर भस्म हो जाती हैं या ज्ञान के प्रकाश में उन्मुक्त हो उठती हैं, तो मानव आनंद का अनुभव करता है। इस अवस्था में ग्रंथियाँ तो खुलती ही हैं, संशय भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब संशय नहीं रहे और ग्रंथियाँ भी नष्ट हो गईं, तो असत्कर्म हो ही नहीं सकते। असत्कर्मों की हीनता सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करेगी, पर कालंतर में इनकी भी अपेक्षा नहीं रहेगी। यही है जंजाल से छूट जाना, प्रपंच से मुक्ति पा जाना और मोक्ष या परम गति को उपलब्ध करना।

ज्ञानेश्वर महाराज ज्ञानेश्वरी के बारहवें अध्याय में मुक्तात्मा की जीवन-दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—"मुक्तात्मा का हृदय समता का केंद्र होता है। शत्रु और मित्र का वैषम्य ऐसे हृदय से दूर हो जाता है। दीपक अंधकार को दूर करने में स्थान का भेदभाव नहीं करता। वृक्ष छाया देने में सबके प्रति समभाव से रहता है, पृथ्वी उत्कृष्ट-निकृष्ट सबको आश्रय देती है, प्राण राजा-रंक सबके शरीर को स्थिर रखता है, जल व्याघ्र या गौ की पिपासा शांत करने में एक जैसा व्यवहार करता है, मुक्तात्मा भी इसी प्रकार मेरे-तेरे-पन से शून्य, सबके प्रति मैत्री-भाव रखने वाला और करुणा-परायण होता है। सुख-दुख के द्वंद्व उसे संतप्त नहीं कर पाते।"

मुक्तात्मा ऋण-रहित होता है। वह कृषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा मानव-ऋण सबसे उऋण हो जाता है। उसने स्वाध्याय किया है, संतति का विस्तार किया है, हवन यज्ञ किए हैं, और अन्न-वस्त्र आदि का दान करके वह अलिप्त बन गया है। निर्लेप, निःसंग, साथ ही व्यवहार में सबका हितकारी, मुक्तात्मा, जनतात्मा के लिए वंदनीय है। सूर ने यही गुण भक्त में दिखलाए हैं। कहते हैं :

निसिदिन स्याम सुमिरि जस गावै, कल्पन मेटि प्रेमरस माँचै।
यह व्रत धरे लोक मैं बिचरे, सम करि गनै महामनि-काँचै।
सीत-उष्न, सुखदुख नहिं मानै, हानि-लाभ कछु सोच न राँचै।
जाइ समाइ सूर वा निधि मैं, बहुरि न उलटि जगत मैं नाँचै।[1]

यह है भक्त, प्रभु का अनन्य उपासक। यही मुक्तात्मा है। भक्ति को वैष्णव आचार्यों ने जो इतनी महत्ता प्रदान की, उसके मूल में प्रपंच से ऊपर उसका यही

१. सूरसागर, ३५४

सात्त्विक वातावरण था। यज्ञादि की क्लेशकारिता, हिंसा तथा दांभिकता से समाज चिढ़ने लगा था। यज्ञ, योग आदि के प्रसंगों को लेकर विवाद भी उठ खड़े होते थे, जिनसे समाज को कोई लाभ नहीं था। सूर ने इसीलिए कहा है :

स्वपचहु श्रेष्ठ होत पद सेवत, बिनु गुपाल द्विज जनम न भावै।
बाद-बिवाद, जज्ञ-ब्रत-साधन, कितहूँ जाइ, जनम डहकाव।
होइ अटल जगदीस-भजन मैं, अनायास चारिहुँ फल पावै।[1]

यज्ञादि के अनुष्ठान ब्राह्मणों तक ही सीमित थे। शूद्र और फिर श्वपच इनके पास भी नहीं जा सकते थे। मनुष्य तो मनुष्य है। वह पत्थर नहीं है जो अपमान का अनुभव ही न करे। यज्ञ यदि अपमान का कारण है, तो शुद्रादि उसकी ओर क्यों आकर्षित होंगे? भक्ति-पथ वैष्णव आचार्यों द्वारा जब प्रचारित किया गया ओर उसके अधिकारी ऊँचे-नीचे सभी वर्ग वाले स्वीकार कर लिए गए, यही नहीं, श्वपच आचार्य तक बन सके तो स्वाभाविक था कि यज्ञादि की ओर से हटकर सब भक्ति के इस विशाल राजपथ के पथिक बनें। जो भक्ति अनायास चारों फलों की उपलब्धि करा दे, वह माननीय होगी ही।

मोक्ष भावना, इस प्रकार, सूरसाहित्य में कृष्ण-भक्ति का प्रसाद है। जबतक भक्ति नहीं तब तक दुःखदाह से मुक्ति भी नहीं। तप, व्रत, ज्ञान, योग, यज्ञ सभी यदि कृष्ण-भक्ति के सहायक उपपादक साधन बनते हैं, तो ग्राह्य हैं, अन्यथा विषवत् परित्याज्य हैं। मोक्ष के जिन वैकुंठादि लोकों का वर्णन है, वह उपनिषदादि में भी हैं, पर ये लोक भी सूरसाहित्य में गोकुल और वृंदावन की समता नहीं कर सकते। मोक्ष इन लोकों से व्यतिरिक्त मन की वह अवस्था विशेष भी है, जिसमें मानव द्वंद्वों से शून्य समत्व की अवस्था में पहुँच जाता है। श्रीमद्भागवत में सालोक्य आदि पाँच प्रकार की मुक्ति का जो उल्लेख है, वह उसी रूप में तो सूरसागर में नहीं है, पर किसी-न-किसी रूप में, परोक्षतः उनका वर्णन आ गया है।

---

१. सूरसागर, २३३

☐ डा० सत्यनारायण शर्मा

सूरदास की भक्ति-भावना

'भक्ति' शब्द संस्कृत के 'भज सेवायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र के अनुसार भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्य लगाने से निष्पन्न हुआ है। इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सेवा करना। किंतु अल्पज्ञ एवं असमर्थ मानव में इतनी क्षमता कहाँ कि वह अखिल ब्रह्मांडव्यापी परमात्मा की सेवा कर सके? इसीलिए महर्षि शांडिल्य ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात् अपूर्व एवं प्रकृष्ट अनुराग रखने को ही भक्ति कहते हैं।[१] भक्त शिरोमणि नारद के मत में अपने समस्त कर्मों को भगवान् को समर्पित करना और उनका थोड़ा सा भी विस्मरण होने पर परमव्याकुल होना ही भक्ति है।[२]

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[३] सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "परमेश्वर की निरंतर उत्कंठायुक्त स्मृति ही भक्ति है।"[४] "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"[५] सूत्र का भाष्य करते हुए रामानुजाचार्य भी परमात्मा की निरंतर स्मृति को ही भक्ति मानते हैं।[६]

श्री मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार भागवतधर्म सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविच्छिन्न वृत्ति है, वही भक्ति है।[७]

महाकवि सूरदास जी परमवैष्णव भक्त थे। इनके साहित्य में भक्ति का

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्य भक्ति-सूत्र २
२. नारद भक्तिसूत्र, १९
३. ब्रह्मसूत्र, अ० ४, पाद १, सूत्र १
४. ब्रह्मसूत्र, अ० ४, पाद १, सूत्र १ का शांकर भाष्य
५. ब्रह्मसूत्र, अ० १, पाद १, सूत्र १
६. ब्रह्मसूत्र, अ० १, पाद १, सूत्र १ का रामानुजभाष्य
७. भक्ति रसायन, प्रथम उल्लास, श्लो० ३

विशद् निरूपण हुआ है। सूर निरूपित भक्ति का स्वरूप परंपरागत आचार्यों की मान्यताओं एवं सनातन धर्म के लक्षणों के सर्वथा अनुकूल है। माया की विशाल वाहिनी को विध्वस्त करने के लिए तथा दुस्तर संसार-सागर को पार करने के लिए भक्ति का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार करते हुए सूरदास कृष्ण-भक्ति पर बल देते हैं। 'सूरसागर' में सर्वत्न कृष्णभक्ति के लिए ही उनका सर्वोपरि आग्रह दृष्टिगोचर होता है। यही कृष्णभक्ति उनकी संपूर्ण जीवन-परिधि का केंद्र बिंदु है और अपनी कृतियों में इसी को प्रस्तुत करने का उन्होंने विराट् आयोजन किया है।

सूरदास गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। अतः इनकी भक्ति-भावना अधिकांशतः वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धांतों पर ही आधारित है। वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है पर वे निर्गुण ब्रह्म की आराधना की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की उपासना को सुगम एवं श्रेष्ठ मानते हैं। निर्गुण ब्रह्म चिंतन का विषय हो सकता है, उसकी आराधना एवं उपासना कदापि संभव नहीं है। निर्गुणमार्गी भक्त भी भगवान् के प्रेम में तन्मय होकर उनमें क्षमा, दया, करुणा, भक्तवत्सलता आदि गुणों का आरोप कर लेते हैं। किंतु अव्यक्त में आसक्त साधकों को अधिकतर कष्ट ही होता है।[१] सूर ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[२] उन्होंने 'सूरसागर' के सर्वाधिक मर्म-स्पर्शी प्रसंग 'भ्रमरगीत' की रचना सगुणोपासना के निरूपण एवं निर्गुणोपासना के खंडन के लिए ही की है। निर्गुणोपासक एवं पूर्ण ज्ञानी, योगी, कृष्ण-सखा उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उन्हें अपना संदेश देकर अपने विरह में व्याकुल गोपियों के पास भेजा था, जिससे उन्हें अपने ज्ञान की सारहीनता का पता लग जाय और उनके नीरस निर्गुणवाद का अहंकार छूट जाय।[३] गोपियाँ इस प्रसंग में उद्धव के समक्ष ज्ञान, भोग एवं निर्गुण ब्रह्म की व्यर्थता दिखाकर भक्ति, प्रेम तथा सगुण ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक करती हैं।[४] उनके प्रेम के उच्च आदर्श एवं सच्ची भक्ति-भावना की तन्मयता को देखकर ज्ञान-गर्व से पूरित उद्धव भी उन्हीं के रंग में रँगे जाते हैं।[५] उनके नियम-व्रत छूट जाते हैं और वे कृष्ण का गुण-गान करने लगते हैं। यहाँ तक कि वे गोपियों के चरणों की धूलि लेने को लालायित हो जाते हैं। उद्धव भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें ब्रज की लता-पता बना दें, जिससे गोपियाँ उनके ऊपर से होकर चलें और उन्हें उनकी चरण-धूलि के

१. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। गीता, १२-५

२. सूरसागर, २

३. वही, ४०३१

४. वही, ४१२२, ४१७६, ४२७९, ४३३७, ४३४३, ४३४४, ४४०८, ४५४२, ४५४६

५. वही, ४७१५

स्पर्श का सौभाग्य उपलब्ध हो। 'भ्रमरगीत' प्रसंग के अंत में उद्धव पर गोपियों की यह विजय वस्तुतः निर्गुणवाद पर सगुणवाद की, ज्ञान पर भक्ति की तथा योग पर प्रेम की विजय है।

सूरदास का भक्ति-मार्ग पुष्टि-मार्ग कहा जाता है। इसमें भगवान् की कृपा से भक्त उनके आनंद-धाम में प्रवेश पाता है। वस्तुतः पुष्टि-मार्ग की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही संभव है। इसमें भक्त को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। वह परमात्मा की कृपा पर ही पूर्णतया अवलंबित रहता है। इसीलिए महात्मा सूरदास परमात्मा की कृपा के लिए लालायित हैं।[१] वे प्रभु-कृपा की याचना एवं अभिलाषा करते हैं। पर अपने को विषय-वासना में तल्लीन देखकर वे भयभीत हैं कि कदाचित् प्रभु उन पर कृपा न करें। फिर भी वे उनको 'पतितपावन' जानकर साहस करके उनकी शरण में जाते ही हैं।[२]

पुष्टिमार्गीय भक्ति का सीधा संबंध भगवान् की लीला में भाग लेकर उनकी सेवा करने से है। यह मार्ग प्रधान रूप से भगवान् की सेवा को ही महत्त्व प्रदान करता है। सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में इसका विशद् वर्णन किया है। पुष्टिमार्ग में वर्ण एवं आश्रम की मर्यादा की कुछ भी मान्यता नहीं।[3] इसमें सभी वर्णों के लोगों को भगवान् की भक्ति, पूजा एवं कीर्तन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। भक्त किसी भी वर्ण एवं आश्रम का क्यों न हो, उसका प्रधान कर्त्तव्य प्रभु की सेवा है। सूर ने अपने अनेकानेक पदों में जाति-पाँति की निरर्थकता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनों को भी भ्रमात्मक माना है। अपने गुरु स्वामी वल्लभाचार्य से हरिलीला के रहस्य को अवगत कर लेने के पश्चात् वे समस्त साधनों को तिलांजलि देकर हरि-लीला के गायन में ही तल्लीन हो गए थे और इस तल्लीनता की स्थिति में ही उन्होंने अपनी यह आस्था व्यक्त की थी कि गोपाल श्रीकृष्ण के गुणों के गायन से जो सुख मिलता है, वह बहुत से जप-तप आदि साधनों के संपन्न करने तथा करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी नहीं मिल पाता :

जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटि तीरथ न्हाएँ।[४]

वस्तुतः पुष्टिमार्ग में हरि-लीला की ही सर्वाधिक प्रधानता थी। कृष्ण की लीला में भाग लेना भक्तों का सर्वस्व था। ये सब लीलाएँ भक्त और भगवान्, जीव और ब्रह्म के व्यवधान को छिन्न-भिन्न करने का साधन हैं। इन लीलाओं में राधा, कृष्ण, गोपियों एवं ग्वाल-बालों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। कृष्ण की

१. सूरसागर, १२७
२. सूरसागर, ११९
३. सूरसागर, १२
४. सूरसागर, ३४९

यह लीला, जो ब्रजभूमि में हुई, शाश्वत् एवं चिरंतन हैं। इसके समक्ष मुक्ति का स्थान तुच्छातितुच्छ है। वृंदावन गोलोक का प्रतीक है, जहाँ सदैव आनंदमय रास होता रहता है। श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, राधा उन की आह्लादिनी शक्ति और गोपियाँ भक्त-आत्माएँ हैं। प्रत्येक भक्त अपने को इस लीला का अंश समझता है। कृष्ण प्रतिदिन प्रातःकाल उठते, कलेवा करते, गाय चराते, गोदोहन करते, यमुना तट पर क्रीड़ा करते, संध्या समय घर लौटते और शयन करते हैं। सबेरे उठते ही उनको जगाना, मुँह धुलाना, कलेवा कराना आदि भक्तों की सेवा समझी जाती थी। मन, वचन एवं कर्म से कृष्ण की विविध लीलाओं में योगदान करना उपासकों का परम धर्म था। प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रति ऋतु में कृष्ण के जीवन की विशेष-विशेष बातों के लिए उत्सव मनाए जाते थे। वृंदावन, मथुरा, गोकुल, बरसाना आदि मंदिरों में आज भी समयानुसार उत्सव मनाए जाते हैं, फाग खेले जाते हैं, हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं तथा रास-लीला होती रहती हैं। इस तरह सूर-प्रतिपादित पुष्टिभक्ति सर्वथा प्रवृत्तिमूलक है। इसमें निराशा नहीं है, बल्कि जीवन की आनंददायिनी आशा का अजर स्रोत विद्यमान है। भगवान् की विविध लीलाओं में भाग लेकर, उनकी सेवा कर, भगवत्प्रेम एवं भगवत्कृपा की प्राप्ति पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रधान संदेश है। गोस्वामी वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-भक्ति की तीन अवस्थाएँ मानी हैं: स्नेह, आसक्ति और व्यसन।

स्नेह की अवस्था में संसार के संपूर्ण संबंधों से विमुख होकर भक्त का मन भगवान् की ओर आकृष्ट हो जाता है। आसक्ति की अवस्था में मिलन की विकलता रहती है। यह विरह की अवस्था है। इसमें भगवान् से संबंध न रखने वाले पदार्थों से घृणा होती है। व्यसन में प्रत्येक पल भगवान् का ध्यान बना रहता है। अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती। वस्तुतः शनैः शनैः स्नेह ही आसक्ति में और आसक्ति परमात्मा के व्यसन अर्थात् पूर्ण प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। सूर की रचनाओं में इन अवस्थाओं को प्रकट करने वाले अनेक पद वर्तमान हैं। उन्होंने राधा के स्नेह में भक्ति के विकास का यह क्रम बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया है। सर्वप्रथम राधा और कृष्ण में स्नेह अंकुरित होता है;[१] फिर यही स्नेह आसक्ति का रूप धारण करता है[२] और अंततः यह आसक्ति व्यसन के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[३]

स्वामी वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में अनेकानेक शुभ गुणों का निवास माना है। सूर भी पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण को अनेकानेक शुभ गुणों का निवास-स्थान बतलाते हैं। उन्होंने सूरसागर के प्रथम स्कंध के लगभग पच्चीस प्रारंभिक पदों में कृष्ण की कृपालुता, कृतज्ञता, क्षमाशीलता आदि गुणों का सविस्तार वर्णन किया है। उनके

१. सूरसागर, १२९०
२. सूरसागर, १२९६
३. सूरसागर, २५२७

कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं। वे शरणागत-वत्सल हैं, जगत्पिता हैं, जगदीश हैं तथा भक्त की घृष्टता पर ध्यान नहीं देते हैं। भगवान् कृष्ण का जन्म साधारण मनुष्यों के समान नहीं होता। वे अजन्मा हैं। अतः अपने जन्म-काल में वे अपनी माता के समक्ष अपने चारों आयुधों—शंख, चक्र, गदा, पद्म—के साथ सहसा आविर्भूत हो जाते हैं।[१] वे सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं, असंख्य राक्षसों का संहार करने में समर्थ हैं। फिर भी वे साधारण मनुष्यों के लड़कों की तरह लीला करते हैं।[२] अपनी माता से मक्खन-रोटी लेने का और आकाश में उदित चंद्रमा को खिलौना बनाने का हठ करते हैं।[३] बाल सुलभ ईर्ष्या की भावना प्रकट करते हैं। मित्रों सहित गोपियों के गृह में प्रवेश कर मक्खन चुराते हैं और उनका दधि-भांड फोड़ते हैं। वे साधारण नायक की तरह अपनी प्यारी गोपियों के साथ लीला करते हैं। कभी उन्हें पनघट पर छेड़ते हैं, कभी उनसे दधि का दान लेते हैं और कभी उनके चीर-हरण करते हैं। इन लीलाओं के अतिरिक्त समय-समय पर वे अपने अलौकिक पराक्रम का भी प्रदर्शन करते हैं। अपने बचपन में ही वे पूतना, श्रीधर, शकटासुर, बकासुर, अघासुर आदि दुष्टों को मार डालते हैं। बड़े होने पर कालिनाग को नाथते हैं और कंस जैसे आततायी का संहार करते हैं। क्रुद्ध होकर इंद्र के भयंकर वृष्टि करने पर वे अपने बायें हाथ की कनिष्ठिका पर गोवर्द्धन पर्वत को धारण कर लेते हैं। गुरु दक्षिणा में वे अपने गुरु के मृतक पुत्र को लाकर अर्पित कर देते हैं। इनकी मुरली की मधुर ध्वनि स्वर्ग-लोक तक पहुँचकर जड़-चेतन सबको मंत्र-मुग्ध कर देती है। इस तरह कृष्ण अवसर-अवसर पर अपने अलौकिक ऐश्वर्य को भी प्रदर्शित करने में नहीं चूकते।

भगवान् कृष्ण का ही दूसरा स्वरूप राधा है। वह अनादि हैं, अनुपम हैं तथा निरंतर श्रीकृष्ण से मिली हुई रहती हैं। राधा और कृष्ण के बीच कोई अंतर नहीं है।[४] सूर ने राधा और कृष्ण को प्रकृति और पुरुष का अवतार माना है। वे दो नहीं हैं बल्कि एक हैं और दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि कृष्ण सौंदर्य हैं तो राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। सूर ने उनके शाश्वत् एकत्व एवं चिरंतन साहचर्य पर अनेकानेक बार बल दिया है। यों वैष्णव साहित्य में राधा कृष्ण की प्रियतमा के रूप में बहुत पीछे आती हैं पर सूर की राधा कृष्ण के जीवन में सहसा नहीं आतीं। सूरसाहित्य में राधा कृष्ण की बाल-संगिनी के रूप में चित्रित हैं। राधा और कृष्ण का प्रेम क्रमिक रूप से विकसित होता है। उसमें रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।[५] बचपन में जब कृष्ण गोकुल की गलियों में खेलने को निकलते हैं, तभी उन्हें एकाएक यमुना के तट पर राधा का साक्षात्कार हो जाता है।[६] वे परस्पर

---

१. सूरसागर, ६२२
२. सूरसागर, ७२०
३. सूरसागर, ७८३, ८०६
४. सूरसागर, ४६१०
५. पं० रामचंद्र शुक्ल, त्रिवेणी पृ० ८६
६. सूरसागर, १२६०, १२६२, १२६४

खेलते हुए बड़े होते हैं। इस बाल-स्नेह में ही सूर ने दांपत्य-भाव का बीज-वपन कर दिया है। बाल-क्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं।[1] सूर की दृष्टि में ब्रह्म के इन स्वरूपों को समझने के लिए एकमात्र साधन भक्ति ही है। वस्तुतः केवल कृष्ण की ही कृपा से जीव का कल्याण संभव हो सकता है और उनकी इस कृपा की प्राप्ति भक्ति से ही होती है। अतः सूर ने संसार की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता का प्रभावोत्पादक चित्रांकन करते हुए मानव-जीवन के लिए भक्ति की सर्वाधिक आवश्यकता घोषित की है। उनका कथन है कि यह संसार निश्चित रूप से नश्वर है। एक-न-एक दिन सब की मृत्यु अवश्यंभावी है। इस शरीर से प्राण-पक्षी के उड़ जाने पर यह शरीर जलकर भस्मीभूत हो जायगा।[2] अतः हमें संसार की मृग-मारीचिका को छोड़कर भगवान् के ही पीछे दौड़ना चाहिए। उन्हीं के चरणों की अनन्य-भक्ति करनी चाहिए। उन्हीं की सेवा में सतत् संलग्न रहना चाहिए। हमें सब कोई छोड़ दें तो छोड़ दें, सब कोई धोखा दे दें तो दे दें पर भगवान् हमें कभी नहीं छोड़ते, कभी धोखा नहीं देते।[3] जिस किसी भाव से संभव हो जीव को उनकी ओर उन्मुख होना चाहिए। कृष्ण की सभी प्रेमिकाएँ गोपियाँ माधुर्य भाव से उनकी ओर उन्मुख हुईं। ग्वाल-बालों ने सखा-भाव से उनकी उपासना की। नंद-यशोदा एवं वसुदेव-देवकी ने वात्सल्य-भाव से उनसे स्नेह किया। आततायी कंस, जरासंध, शिशुपाल, पूतना आदि शत्रु-भाव से उनकी ओर उन्मुख हुए, पर सब को समान भाव से मुक्ति की प्राप्ति हुई। अतः किसी तरह भगवान् के प्रति आकर्षण होना जीव के लिए कल्याणकारक है।

श्रीमद्भागवत में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की बतलायी गयी है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभसंप्रदाय में भी हुआ है। सूर ने भी भक्ति के चार ही प्रकार बतलाए हैं—तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी और मुक्त या निर्गुणा या सुधासार। इनका स्वरूप-निर्देश करते हुए वे कहते हैं :

भक्ति सात्त्विकी, चाहत मुक्ति। रजोगुनी, धन-कुटुंबऽनुरक्ति।
तमोगुनी, चाहै या भाइ। मम बैरी क्यौंहूँ मरि जाई।
सुद्धा भक्ति मोहिं कौं चाहै। मुक्तिहुँ कौं सो नहिं अवगाहै।
मन-क्रम-बचन मम सेवा करै। मन तें सब आसा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहिं प्यारौ। इक छिन तातें रहौं न न्यारौ।[4]

वस्तुतः सूर-प्रतिपादित भक्ति के ये चारों प्रकार भक्तों के आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नयन की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। इसमें भक्त क्रमशः सकामता से निष्कामता की ओर अग्रसर होता है।

---

१. पं० रामचंद्र शुक्ल, त्रिवेणी, पृ० ८६
२. सूरसागर, ८६
३. सूरसागर, ३७२, ३७३
४. सूरसागर, ३९४

वल्लभमत में श्रीमद्भागवत की नवधाभक्ति के अतिरिक्त दसवीं प्रेम लक्षणा भक्ति कही गई है। इसी से भगवान् के स्वरूपानंद की उपलब्धि होती है। सूर ने नवधा भक्ति और दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति का भी उल्लेख किया है। उनके प्रेममय भगवान् प्रेम के पाश में आबद्ध हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने यशोदा के स्तनों का दुग्ध-पान किया, देवकी के गर्भ में निवास किया और गोवर्द्धन पर्वत को धारण किया।[१] सूर ने भक्तों के स्वरूप एवं महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए अनेकानेक पदों में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भक्त सतत् भगवत्-गुणगान में तल्लीन रहता है। सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि एवं अनुपलब्धि से उसे हर्ष-विषाद नहीं होता। सूर की दृष्टि में भक्त गृहस्थ भी हो सकते हैं और विरक्त भी। इन दोनों ही कोटि के भक्तों के लिए कामनाओं एवं विषय-वासनाओं के परित्याग तथा भगवच्चरणों में प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम की आत्यंतिक आवश्यकता है। विरक्त भक्त के अंतःकरण में तो भोजन एवं वस्त्र की चिंता नहीं होनी चाहिए। विश्वंभर भगवान् ने उनके भोजन के लिए जंगलों में फल उत्पन्न किए हैं। उनके पीने के लिए झरनों एवं नदियों में जल भरे हैं। पात्र के लिए उसने हाथों का निर्माण किया है और वस्त्रों के लिए वल्कलों की रचना की है। पर्वत की कंदराएँ उसके भक्तों के लिए निवास-गृह हैं और शयन करने के लिए पृथ्वी रूपी विस्तृत शय्या विद्यमान है। अतः उसे चिंता-मुक्त होकर भजन करना चाहिए।

गृहस्थ-भक्तों के लिए सूर ने भगवान् के नाम को भारी सहारा बतलाया है। उन्होंने अपने अनेकानेक पदों में नाम-महिमा का प्रतिपादन करते हुए दिवारात्र भक्तों को भगवान् के नाम को स्मरण करते रहने का आदेश दिया है।[२] वे उन्हें साधु-संतों की संगति में रहने को कहते हैं। उनके मन, वचन एवं कर्म में पवित्रता तथा एकता अपेक्षित है। उन्हें पापकर्म, आलस्य, अधिक द्रव्य-संचय की वासना, भगवान् से विमुख पुरुषों के संसर्ग आदि दुर्गुणों का परित्याग कर देना चाहिए।[३] उन्हें जितना लाभ हो उसी से संतोष करना चाहिए तथा अपने अपराधों को अनुभूत करते हुए प्रतिदिन भगवान् के सगुण स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। सूर ने भगवान् के नख-शिख ध्यान की विधि भी वर्णित की है। यदि गृहस्थ-भक्त दीर्घकाल तक वह ध्यान करता रहे तो वह स्वाभाविक हो जाता है और आगे चलकर समस्त सृष्टि में उसे केवल भगवान् का ही स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। गार्हस्थ्य जीवन में निवास करते हुए भी वह स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदि से उसी प्रकार अछूता रहता है जैसे कमल का पत्र जल में निवास करते हुए भी जल से अलिप्त रहता है।

---

१. सूरसागर, २६६५, २६३६

२. सूरसागर, ६०, २३१, २३२, २६७, ३०६, ३४३

३. सूरसागर, ३३२

यों सूर वल्लभाचार्य के शिष्य हैं और सगुण भक्ति-मार्ग के आराधक हैं, पर जब वे भक्ति के आवेश में आते हैं तो किसी भी बंधन में नहीं रहते। वे सब प्रकार के बंधनों से ऊपर उठ जाते हैं और सांप्रदायिक न रहकर सार्वभौम बन जाते हैं। उन्होंने अपने गुरु वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए भी उन्हीं तक अपने को सीमित न रखकर प्रपत्ति के छः अंगों का भी सांगोपांग वर्णन किया है।

(क) आनुकूल्य संकल्प :

जैसें राखहु तैसें रहौं।
जानत हौ दुख-सुख सब जन के, मुख करि कहा कहौं।[1]

(ख) प्रतिकूल्य-वर्णन :

सोइ कछु कीजै दीन-दयाल।
जातैं जन छन चरन न छाँड़े, करुना-सागर, भक्त-रसाल।[2]

(ग) ईश्वर द्वारा रक्षा में विश्वास :

तुम हरि, साँकरे के साथी।
सुनत पुकार, परम आतुर ह्वै, दौरि छुड़ायौ हाथी।[3]

(घ) गोप्तृत्व-वरण :

दीन-नाथ अब बारि तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि कैं, बिगरी लेहु सँवारी।[4]

(ङ) आत्म-निक्षेप :

कृपा अब कीजिऐ, बलि जाऊँ।
नाहिन मेरैं और कोउ बलि, चरन-कमल बिन ठाऊँ।[5]

(च) कार्पण्य :

नाथ सकौ तौं मोहिं उधारौ।
पतितनि मैं बिख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारौ।[6]

इसी तरह सूर के कुछ ऐसे पद भी हैं, जो निर्गुण-भक्तिमार्गी कवियों की तरह रहस्यवाद से संबद्ध हैं। पर सूर के ये पद निर्गुणमार्गी कवियों के पदों की भाँति धूमिल, अस्पष्ट एवं कोरी कल्पना की उपज मात्र नहीं हैं, प्रत्युत उनकी प्रत्येक

---

१. सूरसागर, १६१
२. सूरसागर, १२७
३. सूरसागर, ११२
४. सूरसागर, ११८
५. सूरसागर, १२८
६. सूरसागर, १३१

पंक्ति में रसपूर्णता और प्रेम का प्रभावशाली उद्गार विद्यमान है।[1] इस तरह सूर केवल संप्रदाय की परिधि में ही घिर कर नहीं रहे। उनकी भक्ति सांप्रदायिकता की परिधि का अतिक्रमण कर सार्वदेशिक बन गई है। सबसे बड़ी बात यह है कि सूर ने भक्ति-रस को काव्य-रस में घोलकर इतना मधुर और स्निग्ध बना दिया है कि उनके साहित्य में भक्ति और काव्य दोनों अमृतमय प्रभाव से जगमगा रहे हैं।

---

१. चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल,अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
× × ×
सूर क्यों नहिं चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं। सूरसागर, ३३८

☐ डा० गोपीनाथ तिवारी

सूर की दास्य-भक्ति

श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ प्रकार माने गए हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यात्मनिवेदनम् ।[1]

इनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन और आत्मनिवेदन भक्ति के साधन हैं तथा भक्ति के भेद दो हैं—दास्य और सख्य। ईश्वर में परमप्रेम ही भक्ति है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे,'**[2] **'सा त्वास्मिन् परमप्रेम रूपा'।**[3] ईश्वर की यह प्रीति ग्यारह प्रकार की हो सकती है—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, सख्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति ।[4]

संबंध रूप में आसक्ति चार प्रकार की है—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति और वात्सल्यासक्ति। सूर में इन चारों संबंध-भाव वाली भक्ति प्राप्त होती है परंतु इन चारों में प्रधानता कांतासक्ति की है। उन्हें उद्धव का अवतार माना जाता है। जब प्रश्न आता है कि सूर में किस प्रकार की भक्ति है तो उत्तर दिया जाता है कि सूर की भक्ति सख्य-भाव की है।

कांता भक्ति के बाद सूर ने वात्सल्य भक्ति को ऊँचा पद दिया है। परंतु सूर में दास्य भावना भी है और यह भावना उनमें अंत समय तक बनी रही। ऐसा नहीं है कि आचार्य वल्लभ के प्रभाव और उनकी दीक्षा के पश्चात् उनमें से इस भाव का संपूर्णरूपेण तिरोभाव हो गया। वे अंत तक अपने को भगवान् का सेवक मानते रहे हैं और दास्य-भाव उनमें प्रवाहित रहा। भक्तों में भगवान् के प्रति यह भाव रहता

१. श्रीमद्भागवत ७/५/२३
२. शांडिल्य भक्तिसूत्र १/३
३. नारद भक्तिसूत्र, १
४. नारद भक्तिसूत्र, ८२

ही है । हाँ, तुलसीदास में यह भाव प्रधानता पा गया है । उन्होंने सेवक-सेव्य-भाव की दास्योपासना को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है ।[1]

ईश्वर ही मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामीभक्त दास हूँ, यह दास्यप्रीति या दास्यभक्ति है । दास्यभक्ति में निष्काम-भावना की प्रधानता रहती है । निष्काम-भाव से कर्म करते रहने पर भक्त की अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है । गीता में लिखा है कि भक्त मेरा आश्रय लेकर सब कामों को करता हुआ भी मेरे प्रसाद से अव्यय शाश्वत पद पाता है ।[2]

सूरदास में भी यह सेवक-सेव्य-भाव प्राप्त होता है । उनका कथन है कि जप, तप, ज्ञान सब व्यर्थ हैं क्योंकि प्रभु का स्वामित्व प्रकट हो गया है । इस सेवक-सेव्य भाव को अपनाकर मानव सहज में ही अपना उद्धार कर सकता है :

अब मिथ्या तप, जाप, ज्ञान, सब प्रकट भई ठकुराई ।
सूरदास उद्धार सहज गनि, चिंता सकल गँवाई ।[3]

भगवान् कृष्ण का तो यह स्वभाव ही है कि वे अपने सेवकों को सदैव सुख देते आए हैं, तीनों लोकों के कष्टों का निवारण करते हैं :

कीन्हौं कोप इंद्र बरषारितु, लीला लाला गोबर्धन धारी ।
राखी लाज समाज माहिं जब, नाथ नाथ द्रोपदी पुकारी ।
तीनि लोक के ताप-निवारन, सूर स्याम सेवक-सुखकारी ।[4]

ऐसा और कौन-सा स्वामी है, जो अपने सेवकों के लिए दुःख सहकर दासों का भला करता है ।[5] अतः ऐसे स्वामी का अनुचर होकर सूर उनके चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं ।[6] सूर ही नहीं, शिव, ब्रह्मा, इंद्र आदि सभी प्रभु के चरणों की सेवा करना चाहते हैं ।[7] जो दास भगवान् की शरण में गया उसका दुःख भगवान् ने दूर किया है । सूर भी दास्य-भाव से भगवान् के चरणों में जाते हैं और उनकी उपेक्षा के लिए उलाहना भी देते हैं ।[8] संसार के मानवों की ओर नहीं देखते क्योंकि वे तो भगवान् के घर के दास हैं और भगवान् की शरण में हैं। श्यामसुंदर का जो भी सेवक बनेगा वह कभी दीन न होगा, इसकी पूरी आशा सूर को है ।

---

१. सेवक-सेव्य-भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि । मानस ७/११९/क
२. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । गीता १८/५६
३. सूरसागर, २०७ ४. सूरसागर, ३०
५. ऐसौ को ठाकुर, जन कारन, दुख सहि भलो मनावै । सूरसागर, १२२
६. कमल नयन, घन स्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहौं ।
सूरदास प्रभु भक्त, कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं । सूरसागर, १६१
७. सिव बिरंचि सुरपति समेत सब सेवत प्रभु पद चाए । सूरसागर, १६३
८. बेर मेरी क्यों ढील कीन्हीं सूर बलिहारी । सूरसागर, १७६

तुलसी के समान ही सूरदास जी ने भी भगवान् कृष्ण को बार-बार नाथ,[१] प्रभु,[२] ठाकुर[३] एवं स्वामी[४] कहा है और यह स्वीकार किया है कि आपका यह भक्त पापी है, अपराधों से परिपूर्ण है, और आप भक्त वत्सल हैं, इसलिए इसको आपका ही पूर्ण भरोसा है, इस हेतु ही यह आपकी शरण में आया है :

क : मेरी कौन गति व्रजनाथ ?
भजन विमुखऽरु सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ।
हौं पतित, अपराध-पूरन, भर्‌यौ कर्म-विकार।
काम क्रोधऽरु लोभ चितवौं, नाथ तुमहिं विसार।
उचित अपनी कृपा करिहौं तबै तौ बनि जाइ।
सोइ करहु जिहि चरन सेवै सूर जूठनि खाइ।[५]

ख : अनाथ के नाथ प्रभु कृष्न स्वामी।
नाथ सारंगधर, कृपा करि मोहिं पर, सकल अघ-हरन हरि गरुड़गामी।[६]

ग : सूरदास प्रभु सब सुख-सागर, दीनानाथ मुकुन्द, मुरारी।[७]

घ : सूरदास प्रभु भक्तबछल है, उपमा कौं न बियौ।[८]

ङ : ऐसौ को ठाकुर, जन-कारन दुख सहि, भलौ मनावै।[९]

च : सूरदास-स्वामी, यह जन अब करत करत स्रम हारौ।[१०]

छ : अवगाहौ पूरन गुन स्वामी, सूर से अधम उधारै।[११]

सूरदास कहते है कि मैं नंदनंदन का खरीदा हुआ दास हूँ। उनकी शरण में आने के कारण यम के फंदे से मुझे छुटकारा मिल गया। तिलक, तुलसी-पत्र, बनमाला आदि धारण किए हुए भक्त के वेश में देखकर लोग मुझे कृष्ण का दास कहते हैं। यह सुनकर मैं बहुत प्रसन्न होता हूँ। दासवृत्ति करने के कारण मुझे भगवान् की जूठन प्रसाद रूप में खाने को मिलती है। यह मेरे लिए सबसे बड़े आनंद की बात है :

हमैं नँदनंदन मोल लिये।
जम के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये।

---

१. सूरसागर, २१, ३०, १२०, १२६, १३१, १७४, १८७, २०७, २०९, २१४

२. सूरसागर, २२, २६, ३२, ३३, ३६, ३८, ४१, ४२, ४५, ५७, ५९, ९१, ९५, १०९, ११३, ११६, ११८, १२३, १३० १३३, १३४, १३७, १३८, १३९, १४०, १४८, १५४, १६१, १६३, १६८, १६९, १७२, १७८, १७९, १८२, १८४, १८५, १८६, १९१, १९६, १९८, १९९, २०१, २०२, २०६, २११, २१४, २१६, २१८, २२०, २२१

३. सूरसागर, १२२

४. सूरसागर, १५७, १९७

५. सूरसागर, १२६

६. सूरसागर, २१४

७. सूरसागर, २२

८. सूरसागर, ३८

९. सूरसागर, १२२

१०. सूरसागर, १५७

११. सूरसागर, १९७

भाल तिलक स्रवननि तुलसीदल मेटे अंक बिये।
मूँड्यौ मूँड़, कंठ बनमाला, मुद्रा-चक्र दिये।
सब कोउ कहत, गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये।
सूरदास कौं और बड़ौ सुख जूठनि खाई जिये।[1]

दास्य-भाव की भक्ति में प्रभु-चरणों की शरणागति पर विशेष बल दिया जाता है। भक्त भगवान् के चरणों में जाने और पड़े रहने की सदा आकांक्षा करता रहता है। शरणागति ही तो उसका लक्ष्य है। तुलसी के समान सूर में भी यह भाव भरा हुआ है। यह अपनी बुद्धि को प्रबोध देते हैं कि तू रस चाहती है ना? तो ले, एक उत्तम रस मैं बताता हूँ। भगवान् के चरणांबुज में कैसा रस भरा है। तो ले, इस रस को जी भर कर पी और श्रीकृष्ण को अपने हृदय में धारण कर :

रे मन, सुमिरि हरि हरि हरि।
सत जज्ञ नाहिंन नाम सम, परतीति करि करि करि।
× × ×
रस-चरन-अंबुज बुद्धि-भाजन, लेहि भरि भरि भरि।
× × ×
सूर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि।[2]

भगवान् के चरणों के प्रताप का वर्णन जगत् में कौन कर सकता है।[3] सूरदास कहते हैं कि हे प्रभु, मैंने दृढ़ता से आपके चरणों को पकड़ लिया है।[4] अतः ऐसा कीजिए कि मेरा चित्त बस इन चरणों में ही सदा अनुरक्त रहे,[5] अन्यत्र न जाए। मानव इसलिए दुःख पाता है कि उसका मन विषय-वासनाओं में रमा रहता है और हरि-चरणों में लीन नहीं होता है। सूर भी तो इसीलिए दुःख पाता रहा है।[6] अतः वे अपने मन को बार-बार समझाते हैं कि तू भगवान् के चरणों का ध्यान कर, उनका भजन कर, उनकी महिमा गा, उनमें ही सदा स्थिर रह :

क : सेव चरन-सरोज सीतल तजि विषय-रस-पान।[7]
ख : भजि मन, नंद नंदन चरन।
परम पंकज अति मनोहर, सकल सुख के करन।
सनक-संकर ध्यान धारत, निगम-आगम बरन।[8]

---

१. सूरसागर, १७१ २. सूरसागर, ३०६
३. चरन प्रताप, भजन महिमा कौ, को कहि सकै तुम्हारे। सूरसागर, १५८
४. सूरदास हम दृढ़ करि पकरे, अब ये चरन सहायक। सूरसागर, १७७
५. चरननि चिन्त निरंतर अनुरत। सूरसागर, १८९
६. हरि जू, हौं यातैं दुख पात्र।
श्री गिरिधरन-चरन रति ना भई तजि विषया रस मात्र। सूरसागर, २१६
७. सूरसागर, ३०७ ८. सूरसागर, ३०८

क्योंकि यदि ऐसा न किया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाएगा और तुझे भवसागर में पुनः डूबना होगा :

क : दिन दस लेहि गोविंद गाइ ।
छिन न चिंतन चरन-अंबुज, बादि जीवन जाइ ।[१]

ख : जनम गँवाया ऊआबाई ।
भेज न चरन-कमल जदुपति के, रह्यौ बिलोकत छाई ।[२]

भगवान् के इन चरणों की शरणागति पर सूर का बल तुलसी से कम नहीं है। सूर ने बार-बार भगवान् की शरण तकी है ।[३] उनके सामने अनेक उदाहरण हैं कि जो भी उनकी शरण में आया, उसके दुःख दूर हो गए । उसके भवफंद कट गए ।[४]

ऐसे भगवान् की शरण छोड़कर सूर के लिए अन्य गति नहीं है ।[५] अतः वह जाएँ तो कहाँ जाएँ । तुलसीदास जी को कुछ माध्यम मिल गए हैं, कुछ सहायक मिल गए है तो प्रभु को तुलसीदास का स्मरण करा देते हैं । गोस्वामी जी माता जानकी से प्रार्थना करते हैं :

कबहुंक अंब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ।[६]

माता सीता ने सहायता भी की किंतु बेचारे अंधे सूर को कोई भी सहायता प्राप्त नही है जो भगवान् को स्मरण दिला दे एवं उनकी 'चरन सरन' सुलभ करा दे ।[७]

---

१. सूरसागर, ३१५ २. सूरसागर, ३२८
३. क : सूरदास प्रभु भक्त बछल हैं चरन सरन हौं आयौ । सूरसागर, ३२
ख : पतित-पावन जानि सरन आयौ । सूरसागर, ११६
ग : सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे । सूरसागर, १७०
घ : अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यौं जानौ त्यौं तारौ । सूरसागर, १७८
ङ : अब हौं हरि सरनागत आयौ । सूरसागर, २०५
४. क : सरन गये को को न उबार्‌यौ । सूरसागर, १४
ख : नंद बरुन बंधन भय मोचन, सूर पतित सरनाई । सूरसागर, २७
ग : तातैं जानि भजैं बनवारी । सरनागत की ताप निवारी ।
गज, गनिका, गौतम-तिय तारी । सूरदास सठ, सरन तुम्हारी । सूरसागर, २८
घ : जाकौं हरि अंगीकार कियौ ।
ताके कोटि बिधन हरि हरि कैं, अभै प्रताप दियौ । सूरसागर, ३८
५. क : काकी सरन जाऊं नंदनंदन, नाहिंन और बियौ । सूरसागर, १२१
ख : सूर पतित कौं नाहिं कहूँ गति राखि लेहु सरनाई । सूरसागर, १८७
६. विनयपत्रिका, पद ८४
७. असरन सरन सूर जाँचत है, को अब सुरति करावै । सूरसागर, १७

शरणागत होने के लिए तुलसी के[१] समान सूर भी भगवान् को अपने विरद[२] का स्मरण कराते हैं। दोनों भगवान् के द्वार पर पड़ा रहने की अभिलाषा कर रहे हैं। तुलसी तो राम के द्वार पर पड़ा रहना चाहते हैं[३] सूर भी पूछते हैं कि बताओ प्रभु, किसके द्वार पर जाकर पड़ूँ।[४] मैं अंधा तो तेरे ही द्वार पर पड़कर गुणगान करना चाहता हूँ।[५] बस तो सूर द्वार पर ही पड़ा है और पड़ा रहेगा।[६]

---

१. विनयपत्रिका, पद ३५, १०१, १०६, १३६, १४८, १५०, १८०, १८३, २०८, २१०, २११, २१४, २२३, २३४, २५६, २७६
२. सूरसागर, ६, ११, २१ ३७, ६६, १०६, ११३, ११६, १२३, १२४, १२५, १३०, १३१, १३२, १३३, १३७, १४५, १५७, १७६, १८३, १६१, १६२, १६४, १६८
३. विनय पत्रिका ६१, १३४, १८३, २१६, २३२
४. अवधौं कहौ, कौन दर जाऊं। सूरसागर, १६५
५. सूर कूर आंधरो, मैं द्वार पर्‌यो गाऊं। सूरसागर, १६६
६. अब करि सूरदास प्रभु आपुन, द्वार पर्‌यो है तेरैं। सूरसागर, २०६

□ डा० गिरिधरप्रसाद शर्मा

पुष्टिमार्ग और सूरदास

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने ब्रह्म-सूत्र के दूसरे और तीसरे सूत्र को एक में मिला कर उनकी व्याख्या अपने सिद्धांत के अनुकूल की है—ब्रह्म ही इस जगत् के उदय और अस्त का कारण है और वह केवल शास्त्रों के द्वारा ही जाना जा सकता है।[1] इस जगत् के विषय में सर्वोच्च निर्णय उस ब्रह्म के ही हाथ में हैं--धारण, पोषण और अंत सब कुछ उसी के द्वारा होता है। ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में कोई अनुमान उचित नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान केवल उपनिषदों एवं उनसे संबद्ध अन्य ग्रंथों के प्रमाण द्वारा ही हो सकता है। वह ब्रह्म माया से अलिप्त है अतः पूर्ण शुद्ध है और ऐसी माया से अलिप्त ब्रह्म अद्वैत है। इसलिए वल्लभ का दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत कहलाता है।[2] इस मत के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनंद स्वरूप है। उसके तीन रूप हैं—(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनंद स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण (२) अक्षर ब्रह्म (३) अंतर्यामी रूप।

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार वह परब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष भी है और सगुण सविशेष भी। वह प्रकृति-जन्य शारीरिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण और आनंदात्मक दिव्य धर्मों से युक्त होने के कारण सगुण कहलाता है। वह युक्ति से परे है और सभी धर्मों का आश्रय भी है।[3] वह सूक्ष्मतम भी है और महानतम भी। वह अदृश्य भी है और दृश्य भी। वह स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु उसी के अंश रूप हैं। उसी परब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप पुरुषोत्तम के नाम

---

१. जनमाद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्म-सूत्र/१/१/२,३

२. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, २७

३. (क) 'अणुभाष्य' १/१/४ पृ० १३९
 (ख) विरुद्ध सर्व धर्मणामाश्रयो युक्त्यगोचरः। तत्त्वदीप निंदंध

से प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम परब्रह्म का सगुण लीलारूप है। वह सच्चिदानंदस्वरूप है। सच्चिदानंद का पर्यायवाची ही श्रीकृष्ण हैं।

वल्लभाचार्य के 'तत्त्वदीप' के अनुसार गीता ही एक मात्र ऐसा शास्त्र है, जिसे भगवान् ने स्वयं सुनाया है; देवकीनंदन श्रीकृष्ण का नाम जपना ही प्रधान मंत्र है और श्रीकृष्ण की भक्ति ही जीवन का प्रमुख कार्य है। हरि की भक्ति जगाना ही समस्त शास्त्रों का उद्देश्य है। भक्त ही सबसे बड़ा बुद्धिमान और ज्ञानी है। ईश्वर की प्रसन्नता ही भक्त की सफलता है। जीवों पर अनुग्रह करने के लिए एवं साधन-निरपेक्ष मुक्ति प्रदान करने के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। अनुग्रह करना भगवान् की लीला का नित्यरूप है।

जीव को भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता है। जीव उस सच्चिदानद ब्रह्म का सत् और चित् अंश है। जीव में आनंद-अंश तिरोहित रहता है। इस आनंद-अंश के अभाव में जीव अहंकारी, आसक्तिग्रस्त दुःखी एवं पराधीन रहता है। परिणाम-स्वरूप वह भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य आदि छः गुणों से रहित होता है। ऐसे हीन जीव को भगवान् अपने अनुग्रह से पुष्ट करते हैं। किंतु सभी जीव भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त कर पाते हैं। आचार्य वल्लभ की दृष्टि में जीव कई प्रकार के होते हैं। उनके दो प्रधान वर्ग हैं—दैवी जीव और आसुरी जीव। आसुरी जीव भगवान् से वैर-भाव रखकर संहार के द्वारा मुक्त हो सकते हैं। दैवी जीव दो प्रकार के होते हैं—पुष्टि जीव और मर्यादा जीव। मर्यादा जीव तो कर्म और ज्ञान के द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। केवल पुष्टि जीव ही भगवान् की भक्ति के अधिकारी होते हैं। इनके चार प्रकार होते हैं—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट एवं प्रवाह पुष्ट।

'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जीव के तीन मार्गों का उल्लेख किया है। पहला प्रवाह-मार्ग है। सांसारिक सुख-भोग की खोज में लगा जीव सदा जन्म-मरण के प्रवाह में ही पड़ा रहता है। वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करता है। इन्हें संसारी जीव भी कहा जाता है। दूसरा मर्यादा मार्ग है। यह वैदिक अथवा शास्त्रीय धर्म का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले जीव के लिए वेद-विहित मर्यादा की रक्षा आवश्यक होती है। मर्यादा मार्गीय भक्ति को साधन-भक्ति भी कहते हैं। इस मार्ग पर चलने वाला भक्त ज्ञान के सहारे अक्षर-धाम की सायुज्य-मुक्ति को ही अपना लक्ष्य बनाता है। अक्षर ब्रह्म की वाणी से यह मार्ग उत्पन्न हुआ है। तीसरा मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। यह एक मात्र भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है।

'तत्त्वदीप प्रकाश' में वल्लभाचार्य भक्ति की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं—भक्ति शब्द 'भज' धातु में 'क्ति' प्रत्यय लगाने से बना है। 'भज्' का अर्थ है सेवा

और 'क्ति' का अर्थ है प्रेम। इस प्रकार भक्ति में सेवा और प्रेम का समन्वय हुआ है। भक्ति में शरीर और मन दोनों सक्रिय रहते हैं। बिना सेवा के प्रेम निरर्थक है और बिना प्रेम के सेवा अपूर्ण है। भगवान् के प्रति प्रेम भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है। पुष्टि भक्ति रागानुगा (प्रेम की अनुयायिनी) भक्ति है। इसी को प्रेम लक्षणा भक्ति भी कहते हैं। पुष्टिमार्ग में यह विश्वास किया जाता है कि भक्ति की प्राप्ति केवल भगवान् के अनुग्रह से ही संभव है। इसलिए यहाँ प्रयत्न को अर्थात् साधना को प्रमुखता नहीं दी गयी है। केवल भगवान् की कृपा ही बहुत है। ईश्वर के अनुग्रह पर निर्भर रहने के कारण पुष्टिमार्ग प्रवाहिमार्ग एवं मर्यादामार्ग से श्रेष्ठ माना गया है। विशुद्ध प्रेम ही शुद्ध पुष्टि है। ज्ञान के द्वारा साधक ज्योति रूप परब्रह्म तक पहुँचता है किंतु भगवान् की कृपा से भक्त परब्रह्म में पूर्ण विलय की अवस्था को प्राप्त करता है। भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग से निरपेक्ष भी कहा गया है।[१] प्रभु में अहेतुकी श्रद्धा एवं प्रेम से यह भक्ति प्राप्त होती है। लेकिन इसी अणुभाष्य में एक अन्य स्थान पर आचार्य जी ने प्रेम तथा भक्ति से उत्पन्न पुरुषोत्तम के ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताया है।[२] इस भक्ति का पथ सेवा का पथ है। इस भक्ति से प्राप्त ज्ञान मोक्ष का दाता है।

'भक्ति-वर्धिनी' में वल्लभ भक्ति का बीज ईश्वर की कृपा से प्राप्त प्रेम को ही मानते हैं। भक्ति-शास्त्र के सुनने, ईश्वर-नाम जपने और त्याग से भक्ति में वृद्धि होती है। गृहस्थ अपने दैनिक कार्यों को करते रहने पर भी भक्ति कर सकता है—भगवान् का नाम जप सकता है। धीरे-धीरे साधक के हृदय में संसार से विरक्ति और भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ती जाती है और तब प्रेम-भक्ति के आधार पर जीव अपने अंशों से ब्रह्म-संबंध कायम करता है। इस ब्रह्म-संबंध के लिए भक्त को दो बातों का सदा ध्यान रखना पड़ता है—एक है भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम और दूसरा है भगवान् की महिमा का निरंतर ज्ञान।[३] भक्त भगवान् के प्रति सर्वात्म समर्पण करता है। श्रीमद्भागवत की गोपियों ने इस समर्पण का आदर्श प्रस्तुत किया है।[४]

गुरु के आदेश से भक्त 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का मंत्र जपता है। भक्त तीन प्रकार से भगवान् की सेवा करता है—(१) तनुजा—अपना तथा अपने परिवार वालों के शरीर को भगवान् की सेवा में लगाना; (२) वित्तजा—धन तथा यश भगवान्

१. देखिए, आचार्य वल्लभकृत ब्रह्मसूत्र का अणुभाष्य ३/३/२९, पृ० १०६४-६५

२. अणुभाष्य, पृ०, १०६५

३. माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।। तत्त्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ४६, पृ० १२७

४. श्रीमद्भागवत १०/४६/४-६

को अर्पित करना; (३) मानसी—सभी तरफ से मन को खींच कर केवल भगवान् में ही लीन करना। इस प्रकार भक्त संसार से रागात्मक संबंध तोड़ लेता है और केवल भगवान् को ही अपने राग का आलंबन बनाता है। संसार से रागात्मक संबंध-विच्छेद को पुष्टिमार्ग में राग-विनाश की स्थिति कहते हैं। किंतु बिना किसी सहारे के राग का बंधन नहीं टूटता है। अत: संसार से राग-संबंध-विच्छेद करने के लिए भक्त को भगवान् के रूप-गुण-महात्म्य आदि से अपना राग जोड़ना पड़ता है। इस स्थिति को **आसक्ति** कहते हैं। रूप-गुण आदि से आसक्ति का आरंभ होता है और सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तथा तन्मयतासक्ति से इसका विकास होता है। और जब भक्त को भगवान् का विरह असह्य हो जाता है तब यह तीसरी स्थिति व्यसन कहलाती है। भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग तथा व्यसन आदि अवस्थाओं में भक्ति का विकास होता है। अंतिम अवस्था अर्थात् व्यसन वह अवस्था है जब प्रेमा-भक्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। इसमें भगवान् का वियोग सहा नहीं जाता है। सूर की प्रेममयी गोपियाँ बाहर-भीतर कृष्ण को ही देखती रहती हैं।[१]

वल्लभाचार्य की इस प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। गोपी-प्रेम को इस भक्ति का आदर्श माना गया है। नारदीय भक्तिसूत्र के अनुसार भी भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है।[२] भक्त भगवान् को प्रेम के लिए ही प्रेम करता है। यहाँ भक्त का भगवान् के साथ प्रेममय एकीकरण हो जाता है।

भक्ति का फल तीन प्रकार से मिलता है—अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य तथा सेवोपयोगी देह। किंतु पुष्टिमार्ग पर चलने वाला भक्त केवल दो प्रकार के ही फल की कामना करता है—भगवान् के साथ एकीकरण और सेवा-उपयोगी देह।

परब्रह्म के विषय में वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण ही सूरदास का दृष्टिकोण है। वेद और उपनिषद् के परब्रह्म ने ही श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया है।[३] नंद के घर में वही लीला कर रहा है। सत्, चित् तथा आनंदमय ब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं।[४]

इस विश्व का सृष्टा निर्गुण परब्रह्म ही ब्रज में अवतार लेकर गोप-गोपियों के साथ खेल रहा है और दधि का दान माँग रहा है। विष्णु, रुद्र तथा ब्रह्म—ये तीनों उसी एक परब्रह्म की ही तीन शक्तियाँ हैं। उसकी सृजन-शक्ति ब्रह्मा है, पालक-शक्ति विष्णु है एवं संहार-शक्ति रुद्र है :

विष्नु, रुद्र, बिधि एकहि रूप। इन्है जानि मति भिन्न स्वरूप।
जातैं ये परगट भए आइ। ताकौं तू मन मैं निज ध्याइ।[५]

---

१. सूरसागर, ४३५०

२. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतरूपा च। नारदीय भक्तिसूत्र १, २, ३

३. सूरसागर, ४ ४. वही, ७४६ ५. वही, ३९९

इस प्रकार हम देखते हैं कि वह निर्गुण, निराकार, विश्व का रचयिता, पालक तथा संहारक परब्रह्म ही अवतार लेकर ब्रज में लीला कर रहा है। उस परब्रह्म को सब प्रकार से अगम जानकर सूरदास ने सगुण भगवान् की लीला का गान किया है। उस भगवान् के भक्ति-रस के आनंद को भक्त अपने अंतर में अनुभव तो करता है किंतु प्रकट नहीं कर पाता है :

अविगत-गति कछु कहत न आवै ।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ।[1]

मनुष्य अपने कर्म के अनुसार शरीर पाता है। अज्ञानी शरीर को देखकर भूला-भूला फिरता है किंतु ज्ञानी सदा एकरस रहता है। हर्ष-शोक तो शरीर के व्यवहार हैं। आत्मा अमर है :

जीव कर्म करि बहु तन पावै । अज्ञानी तिहिं देखि भुलावै ।
ज्ञानी सदा एक रस जानै । तन कैं भेद भेद नहिं मानै ।
आतम अजन्म सदा अबिनासी । ताकौं देह-मोह बड़ फाँसी ।[2]

जीव और ब्रह्म में भेद है। जीव अणुरूप है, भगवान् विभु रूप; जीव की शक्ति सीमित है, भगवान् की असीम। जीव भक्ति के द्वारा और भगवान् की कृपा से जब अपने मूल रूप को प्राप्त कर लेता है तब मुक्त कहलाता है। अनेक होते हुए भी जीव प्रभु के साथ एकरूप होकर रहता है।[3] गोपियों के रूप में शुद्ध जीव श्रीकृष्ण के साथ विहार करता है।[4] किंतु बिना भगवान् की भक्ति के मुक्ति संभव नहीं है।[5] जीवात्मा नित्य है, मुक्त है, गतिमान है। यह उस परब्रह्म का अंश है। वह विशुद्ध चेतन इस संसार में जन्म लेकर जीव कहलाता है—**जब तैं जग जनम लियौ, जीव नाम पायौ।**[6] अतः इस जीव को माया-मोह के बंधन में नहीं पड़ना चाहिए। परिवार वालों का मिलना तो संयोग की बात है। भगवान् ने मानव-शरीर में अवतार लिया था। मानव रूप में ही उन्होंने लीलाएँ की थीं। इस प्रकार मानव का रूप उच्चतम रूप है। यह रूप बार-बार नहीं मिलता है। जीव का जब आनंदमय रूप जग जाता है तब वह कृष्ण से अभिन्न हो जाता है। आत्मा-परमात्मा का यह प्रेम सनातन है। इसी बात को सूरदास प्रतीकों के द्वारा समझाते हैं। राधा जीव का प्रतीक है और कृष्ण परमात्मा का। दानों का प्रेम सदा से चला आ रहा है। इस पुरातन प्रीति को पहचान कर नागरी पुलकित हो उठी है :

---

१. सूरसागर, २
२. सूरसागर, ४११
३. सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय । सारावली, १०००
४. गोपीमंडल मध्य विराजत निसिदिन करत बिहार । सारावली, ४
५. जब लगि भजै न चरन मुरारि । तब लगि होइ न भव-जल पार । सूरसागर, ४११
६. सूरसागर, १२४

तब नागरि मन हरष भई ।
नेह पुरातन जानि स्याम कौं, अति आनंद-भई ।
प्रकृति पुरुष, नारी मैं वै पति, काहैं भूलि गई ।
को माता, को पिता, बंधु को, यह तौ भेंट नई ।
जन्म-जन्म जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई ।[1]

आत्मविस्मृति की अवस्था में एक प्रकार से आत्मा का नाश हो जाता है । इसे आत्मनिवृत्ति भी कहा जाता है । इस अवस्था में भक्त और भगवान् का एकीकरण हो जाता है । भक्त का प्रत्येक अनुभव भनवान् के अनुभव के समान ही होता है । यहाँ भक्त और भगवान् के बीच का भेद समाप्त हो जाता है । गोपी-ग्वाल और कृष्ण सब एक ही हैं । राधा और कृष्ण एक प्राण दो शरीर लेकर अवतरित हुए हैं । औपनिषदिक भाषा में यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक ही हैं—लेकिन यह तो ज्ञानमार्ग की बातें हैं । महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-सिद्धांत के अनुसार साकार पुंभाव अंश एवं पराशक्ति स्त्री अंश मिलकर परब्रह्म श्रीकृष्ण माने गए हैं । राधा परब्रह्म की आत्मशक्ति मानी गयी है । इसीलिए राधा और कृष्ण अभिन्न एवं एक रूप हैं ।[2] उस परमतत्त्व कृष्ण को प्रेम के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । वल्लभाचार्य ने इस विशुद्ध प्रेम को पुष्टि-प्रवाह, पुष्टि-मर्यादा और पुष्टि-पुष्टि आदि तीन प्रकारों में विभाजित किया है । इन तीन भावनाओं के आधार पर व्रज की गोपियों को भी उन्होंने तीन वर्गों में बाँटा है । ये तीन वर्ग हैं—व्रजांगना, गोपी एवं गोपांगना । व्रजांगनाओं ने कृष्ण को बालभाव से प्रेम किया है । यहाँ वात्सल्य-भावना की स्थिति है । इन्हें 'पुष्टि-प्रवाह' कहा गया है । गोपियों अथवा कुमारिकाओं ने कृष्ण को स्वकीय स्त्री-भावना से प्रेम किया है । इन्हें 'पुष्टिमर्यादा' रूप कहा गया है । किंतु गोपांगनाओं ने लोक-भय भुलाकर कृष्ण को परकीय-भावना से प्रेम किया है । इन्हें 'पुष्टि-पुष्टि' कहा गया है । सूरदास ने इन तीनों अवस्थाओं-बाल, दांपत्य एवं परकीय कांता भावनाओं—का वर्णन पूर्वोक्त पुष्टिमार्गीय भक्ति-मान्यताओं के अनुसार ही किया है । भाव-भाविक परमदेव श्रीकृष्ण के प्रति पुष्टि-मर्यादा की आसक्ति रूप गोपी अथवा कुमारिकाओं की स्वकीय स्त्री-भावना का चित्रण सूरदास ने अनेक पदों में किया है । पुष्टि-पुष्टि के व्यसन रूप परकीय-भावना से भरे पद 'सूरसागर' के अत्यंत रसमय पदों में गिने जाते हैं । गोपांगनाओं का भक्ति विह्वल हृदय उस परब्रह्म श्रीकृष्ण को पाने के लिए कृतसंकल्प है । यह किसी भी बाधा को मानने के लिए तैयार नहीं है । नदी सागर से मिलने के लिए बढ़ चली है । गिरि-कानन उसका पथ अवरुद्ध नहीं कर सकते हैं ।[3] गोपियों का कृष्ण के प्रति यह

१. सूरसागर, २३०६
२. सूरसागर, २३०५, ३११३, २२२३, २३११, २५२१
३. सूरसागर, २२४६, २२५१, २२५३

अनन्य प्रेम ही पुष्टिमार्गीय भक्ति का आदर्श है। वह प्रभु के वश में है—**प्रीति के वस्य प्रभु सूर त्रिभुवन बिदित, प्रीति-बस सदा राधिका स्वामी।**[१] सूरदास ने इस विशुद्ध प्रेम की तन्मय अवस्था के दोनों रूपों—संयोग एवं वियोग—का बड़ा ही रसमय चित्रण किया है :

अँखियाँ जानि अजान भईं।
एक अंग अवलोकत हरि कौ, और न कहूँ गईं।
यौं भूली ज्यौं चोर भरें घर, निधि नहिं जाइ लई।
फेरत पलटत भोर भयौ, कछु लई न छाँड़ि दई।
पहिलैं रति करिकै आरति करि, ताही रँग रँगई।
सूर सुकत हठि दोष लगावति, पल पल पीर नई।[२]

दूषण-रहित मान भी प्रेमा-भक्ति का एक भूषण है। भगवान् अपने रूठे भक्त को मनाते हैं। अपने परमप्रिय भक्त को मनाने में भगवान् को यदि असाधारण श्रम करना पड़े तो भी कोई बात नहीं है।[३] भगवान् की यही प्रणय-लीला है।

प्रभु के प्रताप से भक्त उच्चतम पद पाता है और सबका पूज्य बनता है।[४] उस प्रभु के दरबार में कोई जाति-पाँति नहीं पूछता है।[५] भगवान् की भक्ति से नीच भी उच्च पद पाता है।[६] किंतु यह भक्ति भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। जब तक उस नंद-नंदन की कृपा नहीं होती तबतक मनुष्य के सारे साधन मंत्र-तंत्र, सारे उद्यम व्यर्थ हो जाते हैं।[७]

इस संसार में अपना जो कुछ है वह सब उस भगवान् को अर्पित कर देने से कुछ घटता नहीं है। तन, मन, धन, पुत्र, कलत्र आदि सब उस प्रभु को ही समर्पित करके भक्त सांसारिकता से निवृत्ति प्राप्त करता है।[८] संसार से राग के बंधन को तोड़ना जरूरी है। बिना राग-विनाश के भगवान् में आसक्ति असंभव है। वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सांसारिकता दूर होती है। संसार से नाता टूटने पर ही भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव पैदा होता है।[९]

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत की नवधा-भक्ति को साधन-भक्ति के रूप में स्वीकार किया है किंतु प्रेमलक्षणा भक्ति को साध्य-भक्ति माना है। इस विषय में सूरदास ने वल्लभाचार्य का ही अनुसरण किया है। सूरदास ने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधियों के दोनों प्रकारों का—नित्य की सेवा-विधि एवं वर्षोत्सव का—वर्णन किया है। १. मंगला, २. शृंगार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग, ५. उत्थान, ६. भोग,

---

१. सूरसागर, २६३६ २. सूरसागर, २४०१ ३. सूरसागर, ३४३३
४. सूरसागर, ४० ५. सूरसागर, २३१
६. सूरसागर, २३५ ७. सूरसागर, २६२
८. सूरसागर, २६६ ९. सूरसागर, ३६२

७. संध्या-आरती एवं ८. शयन आदि नित्य की सेवा-विधि का क्रम प्रातःकाल से शयनपर्यंत चलता था। भगवान् की अवतार-लीलाओं के उत्सव वर्ष भर चलते थे। पुष्टिमार्गीय सेवा सूरदास का परमधाम था। अतः उन्होंने इन सभी सेवाओं के लिए सरस पदों की रचना की है। किंतु सूरदासजी सदा मानसी सेवा में लीन रहते थे। वैराग्य-भावना को सजग रखने के लिए वे लीला-रस में मग्न रहते थे।

वैराग्य ही भक्ति का साधन है। संसार से रागात्मक संबंध-विच्छेद के लिए यह जरूरी है कि भक्त भगवान् के नाम, रूप, गुण आदि के श्रवण, स्मरण एवं कीर्तन में अपने मन को लगा दे। हरिनाम जपने से पता नहीं कितने पापी मुक्त हो गए हैं।[१] भगवान् का यश गाने से भक्ति की सहज प्राप्त होती है।[२] 'सौ बातनि की एकै बात। सूर सुमिरि हरि-हरि दिन-रात।'[३] प्रभु की लीला के गान में बड़ा सुख मिलता है : **जो सुख होत गुपालहिं गाएँ। सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाएँ।**[४] लेकिन भगवान् की लीला का ज्ञान बिना गुरु-कृपा के संभव नही है—**हरि लीला अवतार पार सारद नहिं पावै। सतगुरु-कृपाप्रसाद कछुक तातैं कहि आवै।**[५] इसलिए सूरदास जी जहाँ यह गाते हैं—**भरोसौ नाम कौ भारी।**[६] वहीं अपने गुरु की महिमा का गान भी करते हैं।

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नखचंद छटा बिनु सब जग माँह अँधेरी।[७]

जहाँ तक दर्शन की बात है वल्लभाचार्य का दर्शन ही सूरदास का दर्शन है किंतु पुष्टिमार्गीय भक्ति ही 'सूरसागर' नहीं है। एक महाकवि किसी संप्रदाय में सीमित नहीं हो सकता है। सूरदास की चेतना तो शतधा होकर उस विश्व-चेतना से मिलने के लिए ही 'सागर' भरती रही है :

सीत-उष्न, सुख-दुख नहिं मानै, हर्ष शोक नहिं खाँचे।
जाइ समाइ सूर वा निधि मैं, बहुरि जगत नहिं नाचै।[८]

मुक्त जीव पुरुषोत्तम में लीन हो जाता है और आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

---

१. सूरसागर, ८६
२. सूरसागर, ८३
३. सूरसागर, ३४८
४. सूरसागर, ३४६
५. सूरसागर, ११११०
६. सूरसागर, १७६
७. सूरदास की वार्ता (अग्रवाल प्रेस, मथुरा), पृ० ६०
८. सूरसागर, ८१

□ डा० भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'

सूरकाव्य में रास

रस का आंतरिक स्फुरण, अखंड आस्वादन और चिन्मय अभिव्यंजन ही रास है। कृष्ण तत्त्वतः रस हैं—रसो वै सः। वे सत्य, ज्ञान और अनंत हैं, किंतु उनमें वैशिष्ट्य मुख्यतः रस का है। अद्वैतागम की दृष्टि से स्वरूप-प्रतिष्ठा ही रास है किंतु यह ज्ञान-विशिष्ट न होकर रस-विशिष्ट ही है। इसमें बोध की प्रधानता नहीं, आनंद के आस्वादन की प्रमुखता है। भौतिक-विज्ञान के अनुसार अनंत आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के चारों ओर विभिन्न ग्रह-उपग्रह परिक्रमारत हैं। केंद्रवर्ती-सूर्य आकर्षण-गुण के कारण श्रीकृष्ण हैं और उनके चतुर्दिक् संचरणशील-नक्षत्रगण ही गोपिकाएँ हैं, राशियों की अनुराधा, चित्रा, विशाखा आदि संज्ञाएँ भी इस ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं। अणु-विज्ञान अब अणु (molecules) को मौलिक तथा अविभाज्य इकाई नहीं मानता अपितु परमाणुओं (atoms) से उसकी उत्पत्ति स्वीकार करता है। परमाणु भी विभाज्य है। उसके भीतर इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन का संसार है। इन विद्युत्कणों के अविराम नृत्य के मध्य[१] एक नाभिकीय केंद्र (Nuclear) है, जहाँ कोई स्पंदन और हलचल नहीं। यही केंद्र श्रीकृष्ण हैं और विद्युत्कण ही गोपिकागण है।

पत्ते के कोष (Cell) में जैव पदार्थ (Protoplasm) की अविरामगतिशीलता वनस्पतिशास्त्र का प्रकट सत्य है ही।

भगवान् श्रीकृष्ण हैं—आत्मा, श्रीराधा हैं—आत्माकार वृत्ति और गोपांगनाएँ हैं आत्माभिमुख वृत्तियाँ। उनका अनवरत आत्मरमण ही रास है। यह विभूतियुक्त

---

१. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, काम-६५

अणुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अविराम नाचता कंपन है, उल्लास सजीव हुआ कितना।

दिव्य पूर्णशक्ति के साथ सच्चिदानंदघन परिपूर्णतम भगवान् का अप्राकृत और अचिंत्य पवित्रतम प्रेमरस का महास्वादन है। यह **रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रस का एक दिव्य प्रकाश है।**[१]

महाकवि सूर का रास-वर्णन श्रीमद्‌भागवत की रासपंचाध्यायी (दशम स्कंध के २९ वें अध्याय से ३३-वें तक) पर आधारित है। शरद-पूर्णिमा की रात में यमुना पुलिन अलौकिक-सा लग रहा है। चंदा प्राची के कपोलों पर रोली-केसर मल रहा है तथा बेला-चमेली का सौरभ सब में मँह-मँह हो रहा है। अचानक कृष्ण की वंशी का दिव्य आह्वान मुखरित हो उठता है। किसी गोपी ने उफनता-दूध छोड़ा, किसी ने अधूरा गोदोहन। किसी ने भोजन परोसते-परोसते हाथ खींच लिया तो किसी ने शिशु को दूध पिलाते-पिलाते रोक दिया। भाई-बंधु, पिता-पति आदि के निषेध को भी व्रजांगनाओं ने अनसुना कर दिया। भागवतकार लिखते हैं कि गोपिकाओं ने शीघ्रता और आतुरता के कारण उलटे-पुलटे वस्त्राभूषणों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। सूर गाते हैं :

जबहिं बन मुरली स्रवन परी।
चक्रित भयीं गोपकन्या सब, काम-धाम बिसरीं।
कुल मर्जाद, बेद की आज्ञा, नेंकहुँ नहीं करीं।
× × ×
जो जिहिं भाँति चली सो तैसेंहि, निसि-बन कुंज खरी।
सुत-पति-नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नाहिं करी।[२]

श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म और आर्य-मर्यादा के निर्वाह की आवश्यकता प्रतिपादित की और सोलह हजार गोपिकाओं (गईं सोलह सहस हरि पैं, छाँड़ि सुत पति नेह।[३]) के समक्ष गार्हस्थ्य-धर्म का सुंदर निरूपण किया किंतु गोपियों को परलोक-सुख का प्रलोभन, लज्जा, लोक-निंदा, कुल-मर्यादा आदि के पाश लुभाने, डिगाने या डराने में सफल नहीं हुए। परमप्रेमास्पद प्रभु से अंतरंग मिलन में बाधक होने वाला धर्म भी वस्तुतः अधर्म है। प्रभु से ऐकात्म्य के लिए स्व-सुख-निरपेक्ष प्रेम ही एक मात्र और सर्वोत्कृष्ट धर्म है। बड़े धर्म के सम्मुख छोटे धर्म स्वतः विसर्जित हो जाते हैं और हो जाने चाहिए। (गीता में सर्व-धर्म-परित्याग का आशय कदाचित् यही है।) रागात्मिका-भक्ति इसीलिए वैधी मर्यादाओं को भागवत प्रेम के सम्मुख आदर नहीं देती।

रास प्रारंभ हुआ। बीच में हैं—राधा और कृष्ण तथा चारों ओर गोपवधुएँ

---

१. श्री राधा-माधव-चिंतन—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ० ४८५
२. सूरसागर, १६१८
३. सूरसागर, १६२५

हैं। ऐसा लग रहा है, जैसे दो मेघों के बीच एक दामिनी और दो दामिनियों के मध्य एक मेघ हो। श्याम तेज और गौर तेज—ब्रह्म तेज का घनात्मक तथा ऋणात्मक रूप :

मानौ माई घन-घन अंतर दामिनी।
घन-दामिनि दामिनि-घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज-भामिनि।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि।
सुंदर ससि गुन-रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भईं गुन ग्रामिनि।[1]

रास करते हुए गोपिकाओं के सिर से वस्त्र नीचे खिसक पड़ता है, केशों में गुँथी फूल-माला नीचे गिर पड़ती है, हार में अनुस्यूत मुक्ताकण इधर-उधर बिखर जाते हैं, कानों के कुंडल भूमि पर गिर पड़ते हैं। नूपुरों के रुनझुन पर किंकिणी ताल देती है, जिसके साथ करताल का योग एक विलक्षण वातावरण की सृष्टि करता है। विभिन्न वाद्य बज रहे हैं। नारद, शारदा, शिव और नारायण तक इस स्वर्गिक दृश्य को देख कर सुध-बुध खो बैठते हैं और ब्रज-बालाओं के भाग्य से ईर्ष्या करने लगते हैं।[2]

साधना के बीच अहंकार को अवकाश कहाँ! साधना परिपूर्ण समर्पण चाहती है। गोपिकाओं को गर्व हुआ कि कृष्ण हमारे वशम्वद हैं। कृष्ण 'गरब तरु भारी' को उखाड़ने में परम निपुण हैं। अंतर्हित हो गए। गोपियाँ विरहोन्मत्त हो उठीं। वृक्षों, लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों से प्रियतम का पता पूछने लगीं। जब ढूँढते-ढूँढते थक गईं, तो प्रभु के चरित का स्मरण कर आर्त्त हो उठीं। कृष्ण द्रवित हो गए और प्रकट हो गए। पुनः रास का आरंभ हुआ। मुरली बज उठी। चेतन जड़ हो गए और जड़ चेतन। पत्थरों में कमल खिल उठे और यमुना की धारा उलटी बहने लगी :

जब हरि मुरली नाद-प्रकास्यौ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हे, पाहन जलज विकास्यौ।
स्वर्ग, पताल दसौं दिसि पूरन, ध्वनि आच्छादित कीन्हौ।
निसि हरि कल्प समान बढ़ाई, गोपिनि को सुख दीन्हौ।
मैमत भए जीव जल-थल के तनु की सुधि न सँभार।
सूर स्याम-मुख बैन मधुर सुनि, उलटे सब व्यवहार।[3]

रास के वास्तविक रस का आस्वादन तो मुरली ने ही किया। यह नंददास की योगमाया[4], दंडी की शब्द-ज्योति[5], सुबोधिनीकार की नाम-लीला है।[6]

१. सूरसागर, १६६६
२. सूरसागर, १६६४
३. सूरसागर, १६८४
४. रासपंचाध्यायी, प्रथम अध्याय
५. काव्यादर्श १-४
६. भागवत १०/२१/५ का भाष्य

शैवागमों का शब्दब्रह्म यही है। परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद, नाद से बिंदु (नाद, बिंदु, बीज) और बिंदु से शब्द की सृष्टि होती है, जो कर्णगोचर होने पर शब्द ब्रह्म का अभिधान पाता है और जिससे समस्त जगत् का आविर्भाव होता है।[१] यही मुरली है, जो नाम ले लेकर आवाज देती है—**'लै लै नाम सबनि को टेरै।'**[२] यह मुरली निरंतर बज रही है। परमात्मा प्रतिक्षण-जीवात्माओं का आह्वान कर रहा है। यह आह्वान सबको सुनाई नहीं पड़ता। बिरले ही उसे सुन पाते हैं और जो सुन लेते हैं उनका रँग-ढँग ही निराला हो जाता है।[३]

भागवतकार ने यह स्पष्ट किया है कि रास क्षुद्रमर्त्य-मानवों का काम-कला-विलास नहीं अपितु सर्वातर्यामी की लीला है, जिसमें काम की गंध भी नहीं। पद्म-पुराण के अनुसार गोपबालाएँ मानवी हैं ही नहीं, अपितु श्रुतियाँ, ऋषिजा और देवकन्याएँ हैं।[४] रासलीला-चरित गोपांगना और कृष्ण द्वारा भावदेह से किया गया था न कि स्थूल देह से। गोपियों का काम भागवत काम है, जिसका उद्देश्य निजेंद्रिय-सुख नहीं :

निजेंद्रिय सुख हेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्ण सुख तात्पर्य गोपी भाव वर्य।
निजेंद्रिय सुख वांछा नहे गोपिकार।
कृष्ण सुख हेतु करे संगम-विहार।[५]

डॉक्टर ग्रियर्सन ने राधा-कृष्ण-प्रेम के इस पक्ष पर स्पष्ट शब्दों में लिखा है : "Hence the soul's devotion to the deity is pictured by Radha's self-abandonment to her beloved Krishna and all the hot blood of oriental passion is encouraged to pour forth in one mighty flood of praise and prayer to the infinite creator who waits with loving, out-stretched arms to recieve the worshipper into his bosom and to convey him safely to enternal rest across the seemingly shore-less ocean of existence.[६]

यह रास-क्रीड़ा शाश्वत् है, यह दिक्काल के बंधनों से परे है, नित्य नूतन और अखंड है :

---

१. शारदा तिलक, प्रथम अध्याय २. सूरसागर, १६०७
३. सूर-काव्य का आस्वादन, भगवानशरण भारद्वाज, पृ० ४४
४. गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेंद्र न मानुष्यः कदाचन ॥
५. चैतन्यचरितामृत
६. बिहारीसतसई की भूमिका

नित्य-धाम वृंदावन स्याम, नित्य उप-राधा ब्रज बाम ।
नित्य रास-जल नित्य विहार, नित्य भाव खंडिताभिसार ।[1]

सूर मानते हैं कि रास-रहस्य अतीव गहन है। यह तो भावैकगम्य है। उनकी यह आंतरिक उत्कट कामना है कि प्रभु के अंतरंग परिकर में सम्मिलित होकर वे भी इस 'मधु वातः ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः' के रस-महोत्सव से कृतार्थ हो सकें और युगल-रस-मूर्ति के दर्शन सतत् करते रहें :

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै ।
जो कहौं, कौन मानै, जो निगम-आगम कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै ।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मैं ये नहीं, भावही माहि ध्यानहि बसावै ।
यहै निज मंत्र, यह ग्यान, यह ध्यान है, दरस दंपति भजनसार गाऊँ ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन-दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ ।[2]

---

१. सूरसागर, ३४६१ २. सूरसागर, १६२४

☐ सुश्री शोभा सत्यदेव

सूर की राधा

भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास का 'सूरसागर' राधाकृष्ण की लीलाओं का निकेतन है, रस का सागर है, हार्दिक प्रेमोद्‌गारों का भांडार है। सूर-काव्य के नायक श्रीकृष्ण हैं, जो पूर्ण पुरुष हैं, रसिक-शिरोमणि हैं, मनमोहन हैं। उनकी नायिका राधा हैं, जो निष्कपट हैं, पवित्र हैं, अनुरागिनी हैं और हैं प्रेम की साकार प्रतिमा।

कृष्ण का उल्लेख प्राचीनतम ग्रंथों में हुआ है। महाभारत में गीता के उपदेष्टा वीर योद्धा कृष्ण का परिचय मिलता है। उसके अनंतर अनेक पुराणों एवं उपनिषदों ने कृष्ण को ईश्वर रूप में प्रस्तुत किया है परंतु कृष्ण की लीला-सहचरी अनन्य प्रियतमा राधा, जो आज जन-जन के हृदय में विशुद्ध प्रेम की प्रतीक बनकर अधिष्ठित हो चुकी हैं, इन सभी ग्रंथों में अनुल्लिखित ही हैं। यों तो विद्वानों ने राधा की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ऋग्वेद के 'स्तोत्रं राधानां पतेः'[१] में आए हुए 'राधानां' शब्द से राधा का संबंध जोड़ दिया है, परंतु वेद में राधा धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है। ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण आदि किसी प्राचीन ग्रंथ में राधा का नाम नहीं है। जिस पुराण में श्रीकृष्ण की ब्रजलीला का सर्वाधिक विस्तृत और सरस वर्णन है उस भागवतपुराण में भी राधा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हाँ, भागवत-पुराण के दशम स्कंध में रासलीला-वर्णन में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का उल्लेख अवश्य है, जिसे लेकर कृष्ण रासमंडल से अंतर्धान हो गए थे। विरहातुरा गोपियाँ चतुर्दिक कृष्ण को खोजती हैं। एक स्थान पर कृष्ण के चरणचिह्न दिखाई देते हैं, साथ ही किसी युवती के पदचिह्न भी। गोपियाँ इसे लक्ष्य कर कहती हैं :

१. ऋग्वेद १/२०/२९

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।[१]

इसके 'आराधित' शब्द से ही विद्वानों ने राधा की कल्पना की। वृहद् ब्रह्मसंहिता में 'राधा' शब्द की यही व्युत्पत्ति बतलायी गई है :

त्वया चाऽऽराधितो यस्मादहं कुंजमहोत्सवे ।
राधेति नाम विख्यातारासलीला विधायिका ।[२]

भारतीय धर्म आरंभ से ही शक्तिवाद पर आधारित रहा है। सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की समस्त क्रियाओं का मूल उनकी एक सर्वव्यापिनी शक्ति है, जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इन तीन गुणों से युक्त है। ब्रह्म की यही त्रिगुणात्मिका शक्ति महामाया है, देवी है। इस शक्ति से रहित देवता अपूर्ण हैं इसीलिए भारतवर्ष में प्रत्येक देवता की आद्याशक्ति के रूप में उनकी पत्नी की कल्पना की गई है। विष्णुपुराण में विष्णु के साथ श्री का उल्लेख है[३] विष्णु को नारायण और श्री को लक्ष्मी भी कहा गया है।[४] कृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार हैं अतः लक्ष्मी को राधा कहकर कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति मान लिया गया। आचार्य निंबार्क ने राधा को कृष्ण की शाश्वत् पत्नी के रूप में उपस्थित किया है।

राधा का स्पष्ट उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण ने राधा को अपना अर्धांश और मूलप्रकृति कहा है[५] और राधा और कृष्ण में अभेद संवंध स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति माना गया है।[६] राधा सृष्टि का आधार हैं तथा कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं।

राधा-कृष्ण की सम्मिलित लीला को बंगाल के वैष्णव भक्तों ने माधुर्य प्रदान किया। इस नूतन वैष्णव धर्म का अवलंबन करके जयदेव ने अपने 'गीतगोविंद' की रचना की और राधा को भक्ति और दर्शन के क्षेत्र से काव्य की भूमि पर प्रस्तुत किया। बंगला के कवि चंडीदास तथा मैथिल कवि विद्यापति ने इस राधावाद का प्रचार किया। राधा मानवीय स्तर पर आकर जन-जन के हृदय में उनकी रागमयी भावना का विषय बन कर समा गयीं। हिंदी साहित्य की सगुणधारा का आरंभ होने के पूर्व ही राधा श्रीकृष्ण की लीलासहचरी, परमानुरागिनी, प्रेम की साकार प्रतिमा बनकर काव्य में अवतरित हो चुकी थीं। सूर ने भी राधाकृष्णलीला को अपने काव्य का विषय

---

१. भागवतपुराण १०/६०/२४
२. बृहद् ब्रह्मसंहिता २/४/१७४
३. विष्णुपुराण १/८/१५
४. वही १/८/३१
५. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय १५, श्लोक ६६
६. वही, अध्याय १५, श्लोक ५७-६१

बनाया परंतु उन्होंने राधा को जिस रूप में चित्रित किया है वह अतुलनीय है। सूर की राधा कोई नवीन सृष्टि नहीं हैं वे जयदेव के 'गीतगोविंद' में विरहिणी नायिका के रूप में पाठकों को विह्वल कर चुकी हैं, विद्यापति की पदावली में अपरूप सौंदर्य वाली मुग्धा किशोरी के रूप में पाठकों को मुग्ध कर चुकी हैं और चंडीदास के काव्य में प्रेम-विह्वला, आत्म-समर्पिता, विरह-विधुरा, मोम की पुतली बनकर सहृदयों को द्रवित कर चुकी हैं परंतु सूर की राधा तीन लोक से न्यारी सृष्टि हैं। सूर की राधा केवल शृंगारिक नायिका नहीं हैं, कृष्ण के साथ उनका संबंध केवल यौवनकाल का नहीं है, वे तो उनके बालपन की सखी हैं। राधा से कृष्ण का प्रथम परिचय उस समय होता है जब कृष्ण भौंरा-चकडोरी खेलने के लिए व्रज की गलियों में निकलते हैं और अचानक ही समवयस्का सखियों के साथ आती हुई राधा को देखते हैं। राधा के सहज-स्वर्गिक सौंदर्य ने कृष्ण को मुग्ध कर दिया। गौरवर्ण, नील वस्त्र, पीठ पर लटकती वेणी, विशाल नेत्र और माथे पर रोली की बिंदी; राधा के इस अभिराम रूप को कृष्ण देखते ही रह गए, नैनों से नैन मिले, ठगौरी पड़ गई।[१]

सूर की राधा अपरिमित सौंदर्य की स्वामिनी हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है—'राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।'[२] सूर ने राधा के रूप-सौंदर्य का चित्रण बड़ी ही तन्मयता से किया है। राधा 'सहज रूप की राशि'[३] हैं। राधा के अंगों की रचना में सौंदर्य-कोष भी रीत गया है अतः चौदहों लोक सौंदर्यविहीन होकर नीरस हो गए हैं।[४] राधा के रूप में मानो सुंदरता का पुंज ही प्रकट हो गया है।[५] राधा 'रूप निधान'[६] हैं, उनके रोम-रोम से सहज माधुरी बरसती है।[७] राधा का रूप अतुलनीय है। उनके सौंदर्य का वर्णन करने में उपमानों का वही महत्त्व है, जो 'सुमेरकूट' के सामने 'धुँघुची का।[८] राधा के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य का वर्णन सूर ने स्थान-स्थान पर किया है। राधा नित्य नवीना हैं, समस्त सौंदर्य-उपादानों को एकत्र कर विधाता ने स्वयं इस मदनमयी मूर्ति को रचा है :

आजु लखी इक बाम नई सी।
ठाढ़ी हुती अंगना द्वारै, बिधि बिरची किधौं मदन मई सी।[९]

सूर की राधा रूप की राशि तो हैं ही, परंतु इस रूप को निखारने वाली उनकी दूसरी विशेषता है उनकी सरलता। राधा नितांत भोली एवं निष्कपट हैं।

---

१. सूरसागर, १२६०
२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सूरदास, पृ० १६२
३. सूरसागर, ३०६३ ४. सूरसागर, ३०६६ ५ सूरसागर, ३०६५
६. सूरसागर, ३०६४ ७. सूरसागर, ३०६६ ८. सूरसागर, ३०६६
९. सूरसागर, २७३१

कृष्ण के साथ प्रथम परिचय में ही उनका यह भोलापन प्रकट हो जाता है। राधा के रूप से ठगे हुए से कृष्ण उनसे परिचय पूछते हैं :

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ।।[1]

सरला राधा उत्तर देती हैं :

काहे को हम ब्रज-तनि आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नंद-ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।[2]

राधा के भोलेपन को जानकर रसिक-शिरोमणि कृष्ण ने उन्हें बातों ही बातों में भुला दिया :

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।[3]

प्रतिदिन मिलने का मार्ग बताकर कृष्ण ने राधा को प्रेम-पास में बाँध दिया। 'फिर तो घाट, बाट, खरिक इत्यादि में कृष्ण से परिचय बढ़ता गया और यह भोली उनके प्रेम-रज्जु में बँधती गयी। प्रेम में मन की ही तो चोरी होती है लेकिन भोली राधा को यह ज्ञान नहीं हो सका।'[4] राधा कृष्ण से अपने माता-पिता, भाई के द्वारा की गई आलोचना का भी स्पष्ट वर्णन कर देती है[5] और उन्हें धिक्कारते हुए कह देती है कि मेरा मन तो तुम्हारे साथ उसी प्रकार मिल गया है जैसे हल्दी-चूना मिल जाते हैं।[6] कृष्ण के प्रेमरस में पगी राधा का यह कथन उनकी निश्छलता एवं भोलेपन का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार जब सखियाँ राधा को मान के लिए प्रेरित करती हैं तो वह बड़ी सरलता से कहती हैं कि वह मन के साथ बहुत लड़ी पर मन तो कृष्ण का प्रेमी और उनका बैरी हो गया है। अब वह क्या करे ? हाँ, यदि पाँच सखियाँ मिलकर निर्णय कर दें कि मान करने से मन वापस मिल जाएगा तो वह मान कर लेगी।[7] यह कह कर 'इत उत चितै डरी सी' राधा कितनी भोली प्रतीत होती हैं। अंत में राधा मान न करने का ही निश्चय करती हैं और कहती हैं कि जो मान करने के लिए कहेगा उससे लड़ूँगी। इस प्रसंग में डा० रमाशंकर तिवारी का

---

१. सूरसागर, १२९१
२. सूरसागर, १२९१
३. सूरसागर, १२९१
४. सूर का शृंगार वर्णन, डा० रमाशंकर तिवारी, पृ० २९६
५. सूरसागर, २५५९
६. सूरसागर, २५६०
७. सूरसागर, २७१२

कथन है कि 'राधा का सरल भोलापन मानो उसकी संपूर्ण चतुरता एवं नागरता का अपलाप कर प्रखर किरणों के साथ उद्भासित हो जाता है।'[१]

परंतु सूर की राधा मात्र भोली ही नहीं है, वह समयानुसार बातें बनाना भी जानती है, वह परमचतुर[२] भी है, तभी तो माँ से, सखियों से बहाने बना बनाकर कृष्ण से मिलती है। सखियाँ भी उसकी चतुराई समझती हैं, अतः व्यंग्य से कहती हैं :

> **राधा तू अति हीँ है भोरी।**
> **झूठेंहि लोग उड़ावत घर-घर हम जान्यो अब तोरी।**[३]

सूर की राधा नवल नागरी हैं। वयःसंधि को प्राप्त राधा नित्य शृंगार करती हैं, भाल पर बेंदी, नेत्रों में अंजन, मुख में पान भर कर दर्पण में अपना रूप निहारती हैं। माँग सँवारकर, वेणी बनाकर चमक-चमक कर चलती हैं, अपने शरीर को मटकाती हुई अपने उरोजों को निहारती हैं तभी तो सखियाँ कहती हैं कि राधा को अब भोली न कहो। अब तो वे जैसी है उसे मैं अच्छी तरह पहचानती हूँ।[४] सूर की राधा 'रासरसज्ञा' है। अनेक हाव-भावों से कुशलतापूर्वक वे कृष्ण को आनंदित करते हुए रासलीला में सक्रिय होती हैं। कृष्ण के साथ 'होड़ाहोड़ी' से नृत्य करती हैं।[५] डा० रमाशंकर तिवारी के शब्दों में 'राधा लीला-विहारिणी हैं, क्रीड़ा, नृत्य एवं संगीत उनके प्राणों की तंत्री को खनखना देते हैं। इसी कारण रास के बाद कृष्ण के साथ जलविहार करते हुए, राधा ने यमुना की तरंगों को भी थकित कर दिया है[६] :

राधा के इन समस्त रूपों के ऊपर आच्छादित रहने वाला उनका प्रेमी रूप है, जो आज जन-जन के मन में बस चुका है। सूर की राधा कृष्ण की अनुरागिनी हैं। उनका प्रेम बालपन की क्रीड़ाओं में पला है, कैशोर्य की चपलताओं में खिला है, संयोग के क्षणों में मधुरिम हुआ है, वियोग की ज्वाला में तपकर कंचन सा चमका है। राधा के प्रेम को सूर ने विभिन्न परिस्थितियों में रहकर बड़ी कुशलता से पूर्णता प्रदान की है। 'नैन विशाल भाल दिये रोली' राधा को 'औचक' की कृष्ण देखते हैं, रीझ जाते हैं, परिचय पूछते हैं और अपने साथ नित्य खेलने का निमंत्रण देते हैं, भोली राधा कृष्ण की बातों में भूल ही जाती हैं कि 'माखन दधि चोरी, करने वाले कृष्ण का हृदय चोर भी हो सकता है। राधा कृष्ण के प्रेम-पास में बँध गईं। अपने नये साथी के साथ खेलने के लिए वे व्याकुल रहने लगीं, घर पर अब चित्त नहीं लगता, नित्य

---

१. सूर का शृंगार-वर्णन, पृ० २६
२. सूरसागर, ३६३४
३. सूरसागर, २५७८
४. सूरसागर, २६६६, ७०
५. सूरसागर, १७१७
६. सूर का शृंगार वर्णन, पृ० ३००

नवीन बहाने बनाकर वे कृष्ण से मिलने जाने लगीं। हास-परिहास, क्रीड़ा-कौतुक, छेड़-छाड़ में प्रेम गाढ़ से गाढ़तर होता जाता है। वय-वृद्धि के साथ ही साथ प्रेम भी बढ़ता ही जाता है। बालपन के खेल के साथी यौवनकाल के विलास के साथी बन जाते हैं। अब कृष्ण के मादक संकेतों से राधा के कपोल रक्तिम हो उठते हैं। राधा के अंग-अंग से तारुण्य फूट पड़ा है, उनका सौंदर्य अपूर्व है, राधा के सौंदर्य पर कृष्ण मुग्ध हैं तो राधा भी कृष्ण के प्रतिक्षण अभिनव रूप धारण करने वाली रमणीयता पर आसक्त हैं।[१] दोनों परस्पर आकर्षित हैं,[२] दोनों में समान रूप से प्रेमभाव का उदय हुआ है, दोनों एक-दूसरे के प्रेम में आ-प्राण सराबोर हैं। इस आकर्षण के फलस्वरूप संयोग श्रृंगार के न जाने कितने चित्र सूर ने सूरसागर में चित्रित किए हैं। 'नवल गोपाल नवेली राधा' के नये 'प्रेमरस' से सूरसागर उद्वेलित हो उठा है। सूर ने इस प्रकार श्रृंगार-रति को रूपलिप्सा से आरंभ करके साहचर्य द्वारा पुष्टि किया है। संयोग-वर्णन में राधा-कृष्ण को 'एक प्राण दो देह' कर दिया है। राधा-कृष्ण का प्रेम इतना अधिक प्रगाढ़ हो चुका है कि 'राधा श्याम श्याम राधा रंग' हो गए हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है—"सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीत में जीवन एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं पड़ता।"[३]

सूर की राधा स्वकीया नायिका हैं। कृष्ण बहुनायक हैं परंतु राधा पटरानी हैं।[४] स्वकीया रूप में राधा गौरवशालिनी, मानिनी, गंभीर प्रियतमा हैं। सूर ने राधा-कृष्ण का विधिवत् विवाह कराया है। सूर ने वसंत, झूला तथा फागलीला के प्रसंग में राधा-कृष्ण को नव-दंपति माना है।[५]

सूर ने संयोग में राधा के शारीरिक सौंदर्य की जितनी झाँकियाँ दिखायी हैं उनसे कहीं अधिक वियोग में राधा के मानसिक सौंदर्य की। वियोगिनी राधा का कारुणिक चित्र पाठकों को विह्वल कर देता है। संयोगकाल की चपला, मुखरा, नवला राधा कृष्ण-गमन को बात सुनकर अवाक् रह जाती हैं, विरह-बेलि लहलहा उठती है।[६] सरला राधा इस दुःख में भी स्वयं को ही दोष देती हैं। कृष्ण को दोष देती हुई सखियों से वे कहती हैं :

---

१. निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि, रति कीजै जिय जान। सूरसागर, २४७०

२. चितै रही राधा हरि कौ मुख।

× × ×

उतहि स्याम इकटक प्यारी-छवि, अंग-अंग अवलोकत।

रीझ रहे इत हरि, उत राधा, अरस-परस दोउ नोकत। सूरसागर, २३८३

३. सूरदास, पृ० १८२

४. सूरसागर, २५१६

५. सूरसागर, १३३१, १३३३, १३५०, ३४५८, ३५१२ इत्यादि

६. सूरसागर, ३५८३

सखी री हरिहिँ दोष जनि देहु ।
तातैँ मन इतनौ दुःख पावत, मेरोइ कपट सनेहु ।[१]

कृष्ण का रथ चल पड़ता है—राधा के पाँव आगे नहीं पड़ना चाहते, नेत्र पीछे ही देखना चाहते हैं । अव ब्रज में लौटकर क्या होगा, मन तो रथ के साथ चला ही गया है । राधा की विवशता है कि वे पवन नहीं हो सकीं नहीं तो वे रथ की पताका को अंबर में उड़ा सकतीं, वे धूल भी नहीं बन सकीं कि कृष्ण के चरणों में लिपटकर उनके साथ ही चली जातीं ।[२] कृष्ण के वियोग में राधा रात-रात भर जागती हैं, उनकी रसना केवल 'गोविंद हरी' ही रटती रहती है[३] मौन राधिका कृष्ण का चित्र बनाती हैं पर उस चित्र के मुख को देखकर विह्वल हो जाती हैं, उसकी वाणी सुनने के लिए नित्य नवीन शृंगार करने वाली वृषभानुकुमारी अब 'अतिमलीन' हो गयी हैं । संयोगकाल के श्रम-जल से भीगी साड़ी को धुलवाती भी नहीं हैं ।[४] मधुवन का हरा-भरा रहना उन्हें सुहाता नहीं है ।[५] विरह की साकार प्रतिमा राधा कृष्ण के वियोग में मुरझा गयी हैं । अतीत की स्मृतियाँ ही उनकी निधि हैं उन्हीं के सहारे वे जीवित हैं ।

कृष्ण का संदेश लेकर उद्धव आए । दूर से देखकर राधा ने समझा कि कृष्ण ही आ रहे हैं । विरह-दुःख से कृश राधा मिलन के लिए आतुर हो दौड़ पड़ीं । कृष्ण के नेत्रों में ठगौरी डालने वाले राधा के नेत्रों को उद्धव ने उमड़ते हुए देखा, वर्षा से होड़ बदते देखा और देखा—'लोचन चुवत अचेत ।[६] सूर की राधा 'द्वार खड़ी एक-टक मग जोवति, उर्ध उसाँसनि लेत ।'[७] तथा 'रहति रैन दिन हरि हरि हरि रट ।' राधा के अश्रु-सलिल में गोकुल मानो डूबने लगा था तभी तो उद्धव कहते हैं—'तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी ।'[८]

कुरुक्षेत्र में कृष्ण-राधा से मिले । परंतु अब कृष्ण ब्रज के रासविहारी नहीं हैं, वे महाराज हैं, उनके साथ लाव-लश्कर है, दास-दासियाँ हैं, पट्ट महिषी रुक्मिणी भी हैं । राधा के नेत्र भर आते हैं । कृष्ण निकट तो आ गये हैं परंतु उनसे मिलना न जाने कब हो सकेगा । महाराजा की अभ्यर्थना के लिए पौर-युवतियाँ खड़ी हो गयी हैं । भीड़-भाड़ में राधा भी अपनी मर्मव्यथा को समेटे खड़ी हैं । मथुरा के अपरिमित वैभव के मध्य भी जिस ब्रजवाला की स्मृति में कृष्ण निरंतर व्यथित रहते थे, कृष्ण की उस बालपन की सखी का परिचय पाने को रुक्मिणि भी उत्सुक हैं[९] और कृष्ण

१. सूरसागर ३८१४ २. सूरसागर, ३६१७ ३. सूरसागर, ३६२२
४. सूरसागर, ४६९१ ५. सूरसागर, ३८२८ ६. सूरसागर, ४७२२
७. सूरसागर, ४७३३ ८. सूरसागर, ४७३३ ९. सूरसागर, ४७३१
१०. सूरसागर, ४६०३

'जुवतिवृंद में ठाड़ी नील वसन तन गोरी'[1] राधा को दिखा देते हैं। पतिपरायणा रुक्मिणी राधा से ऐसे मिलीं 'जैसे—बहुत दिननि की बिछुरी एक बाप की बेटी।'[2] और फिर 'राधा माधव भेंट भई।[3] परंतु यह मिलन मूक था—राधा एक शब्द भी बोल न सकी। कृष्ण फिर चले गये—राधा पछता के रह गयी, ठगी सी रह गयी, चित्रलिखी सी रह गयी।[4]

यह है सूर की राधा, जो पहले हमारे सामने शृंगारमयी नवलनागरी बनकर आती है और फिर विरहकातरा, त्यागमयी, विरहिणी ब्रजबाला बनकर हृदयपट पर अंकित हो जाती है। कौन भूल सकता है इस चिरविरह की ज्वाल में जलने वाली राधा को, कर्त्तव्य की कठोर शिला पर हृदय की कोमल कल्पनाओं को चूर करने वाली राधा को, गूढ़ गंभीर परम वियोगिनी राधा को?

१. सूरसागर, ४६०४
२. सूरसागर, ४६०६
३. सूरसागर, ४६१०
४. सूरसागर, ४६११

☐ डा० राजमल बोरा

सूर की गोपियाँ

सूरदास की भक्ति का विवेचन करते समय सूरदास की गोपियाँ अपने भक्ति भाव के कारण अनायास ही भक्तिभाव रखने वाले प्रमुख पात्रों के रूप में दिखलाई देने लगती हैं। सूर की भक्तिभावना में प्रेमतत्त्व है और इस प्रेमतत्त्व का प्रतिनिधित्व गोपियों ने ही किया है। इस गोपीभाव पर भक्तों की श्रद्धा है और इस संबंध में दार्शनिक मान्यताएँ प्रस्तुत की गई हैं। डा० चंद्रभान रावत ने लिखा है—"दार्शनिक दृष्टि से गोपियाँ वास्तव में पुरुषोत्तम की शक्तियों का ही प्राकट्य हैं। उनकी श्रिया, पुष्टि, गिरा और कांत्या आदि द्वादश शक्तियाँ चंद्रावली, राधा आदि के रूप में अवतरित होती हैं। ये ही अवतरित होकर पुरुषोत्तम की लीला में स्थित होती हैं। इन शक्तियों में जो भाव प्रतिक्षण तरंगित होते रहते हैं, वे स्वयं अनेक सखी-सहचरी के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार मानसिक रूपों के अवतरण की ही भूमिका प्रस्तुत हो जाती है।"[1] इसी तरह डा० सत्येंद्र ने भी लिखा है—"वल्लभ संप्रदाय में गोपी भाव को प्रधानता दी गई है, उनके प्रेम को श्रेष्ठ माना गया है। उस प्रेम की चाह भी तीव्र रूप में इस संप्रदाय में उपस्थित है। परंतु यह प्रेम भावुकतापूर्ण उतना नहीं जितना अंतर्गत और निजी है। साथ ही इसका उद्भव भागवत-अनुग्रह पर निर्भर करता है। वह अनुग्रह गुरु के द्वारा कृष्णार्पण होकर निरंतर गोपीभाव से सेवा करने से ही मिले तो मिले। फलतः यह प्रेम भी प्रेमालक्षणा कोटि का होते हुए भी सांप्रदायिक प्रणाली पर निर्भर करता है।"[2] यही नहीं इस गोपीभाव को भक्तों ने दार्शनिक दृष्टि से व्यापक महत्त्व देते हुए इस भाव को पुरुषों के लिए भी आदर्श माना है। पुरुषों को सखा-रूप मानते हुए भी उनमें सखी-रूप का आरोप हुआ

१. सूर साहित्य : नवमूल्यांकन, डा० चंद्रभान रावत, पृ० २०६
२. सूर की झाँकी, डा० सत्येंद्र पृ० ६५

है। इस विषय पर हरिराय जी ने प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहे हैं जो······जब श्री ठाकुर जी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत हैं, सो सगरी गोपीजन लीला को अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी बन की लीला गान करत हैं। ता पाछें जब श्री ठाकुरजी संध्या समय बनतें घरकूं आवत हैं, सो तब पाछें रात्रि को गोपीजन सो निकुंज में लीला करत हैं। सो तब अंतरंगी सखान को विरह होत है, तब निकुंज लीला कौ गान करत हैं, अनुभव करत हैं। सो काहे तें ? कुंज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहत हैं—पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखि। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि कों सखि द्वारा अनुभव है।"[१] इस आधार पर डा० सत्येंद्र ने लिखा है—"इसीलिए प्रत्येक भक्त के दो स्वरूप मिलते हैं, एक सखा रूप, दूसरा सखी रूप; एक दिन का, एक रात्रि का।"[४] इस तरह हम देखते हैं कि गोपी भाव पर दार्शनिक मान्यताएँ प्रस्तुत की गई हैं और सांप्रदायिक विचारधारा के (वल्लभसंप्रदाय) अनुरूप इन मान्यताओं का विश्लेषण किया गया है। इन सब को स्वीकार करते हुए सूर की गोपियों पर विचार किया जा सकता है। यहाँ इन दार्शनिक प्रतिपत्तियों से हटकर सूरसाहित्य में—विशेष रूप से सूरसागर में—गोपियों का चरित्र जिस रूप में व्यक्त हुआ है, या गोपियों का व्यक्तित्व जिस रूप में उद्घाटित हुआ है, उसी का संक्षिप्त विश्लेषण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

सूर की भक्ति भावना में प्रेमतत्त्व है और इसका प्रेमतत्त्व का प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। गोपियों का जीवन प्रेममय है। इस प्रेम का अंतर्बाह्य स्वरूप गोपियों में परिलक्षित होता है। संयोग-पक्ष एवं वियोग-पक्ष दोनों ही स्थितियों में प्रेमाभिव्यंजना है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस प्रेमाभिव्यंजना में मानवीय (सांप्रदायिक विचारधारा से युक्त मानने पर भी) पक्ष ही प्रबल दिखलाई देता है। सांप्रदायिक विचारधारा का बोध न होने पर भी यदि कोई सूरसाहित्य पढ़ेगा, तो वह गोपियों के प्रेमपूर्ण व्यवहारों में, गोपियों के चरित्र में मानवीय संवेदना का अनुभव करेगा। विश्वसाहित्य में प्रेमकथाएँ मिलती हैं। इन प्रेमकथाओं के पात्रों में अनेक प्रेमी युगल मिलेंगे। गोपियाँ और गोपियों के कृष्ण का प्रेम विश्वसाहित्य की प्रेमकथा में अपना विशेष महत्त्व रखता है। गोपीकृष्ण और (गोपियों का प्रतिनिधित्व करने वाली—विशेष गोपी—राधा के कारण) राधाकृष्ण युगल-प्रेमी के रूप में ख्यात हैं। इस प्रेम कथा (युगल प्रेमियों के वृत्त पर) को आधार मानकर संस्कृत, हिंदी ही नहीं, भारत की अन्य अनेक भाषाओं में विपुल साहित्य लिखा गया है। इन सब में सूरदास के साहित्य का विशिष्ट स्थान है। यों कहना चाहिए कि सूरदास प्रेमकथा के प्रसिद्ध गायक हुए हैं।

---

१. सूर की झांकी, डा० सत्येंद्र, पृ० ६०   २. वही, पृ० ६०

अब हम गोपी-कृष्ण की प्रेमकथा का विश्लेषण करें। यह विश्लेषण सूरसागर के आधार पर ही किया जा रहा है। सूरसागर के पद मुक्तक होने पर भी उन पदों को जिस क्रम में रखा गया है, उस क्रम के आधार पर प्रबंधात्मक कथा का बोध होता है। गोपियों की प्रेमकथा प्रबंधात्मक क्रम में है। गोपियाँ व्रजवासिनी हैं। कृष्ण व्रज में बसते हैं और इनमें एक-दूसरे के प्रति आकर्षण जीवन के सहज प्रवाह में होता दिखलाया गया है। प्रेमी पात्रों को पता भी नहीं चलता और यह प्रेम (मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए) दैनिक व्यवहारों में (स्थानीय संस्कृति के अनुसार) पनपता जाता है। प्रेमियों के सहज प्रेमोद्भव और इस प्रेमोद्भव के उपरांत उसका सहज विकास सूरदास ने दिखलाया है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :

देखौ माई या बालक की बात।
बन-उपबन, सरिता-सर मोहे, देखत स्यामल गात।
मारग चलत अनीति करत है, हठ करि माखन खात।
पीतांबर वह सिर तैं ओढ़त, अंचल दै मुसुकात।
तेरी सौं कहा कहौं जसोदा, उरहन देति लजात।
जब हरि आबत तेरे आगें सकुचि तनक ह्वै जात।
कौन-कौन गुन कहौं स्याम के, नैकु न काहुँ डरात।
सूर स्याम मुख निरखि जसोदा, कहति कहा यह बात।[1]

सुनहु स्याम अब करहु चतुराई, क्यौं तुम बेनु बजाई बुलाईं ?
बिधि-मरजाद, लोक की लज्जा, सबै त्यागि हम धाई आईं।
अब तुमकौं ऐसी न बूझियै, आस निरास करौ जनि साँईं।
सोई कुलीन सोई बड़भागिनी, जो तुव सम्मुख रहे सरदाईं।
ते धनि पुरुष, नारि धनि तेई, पंकज चरन रहैं दृढ़ताईं।
सूरदास कहि कहा बखानैं, यह निसि, यह अँग सुंदरताईं।[2]

गोपिनि हेत माखन खात।
प्रेम कैं बस नंद-नंदन नैंकु नाहिं अघात।
सबै मटुकी भरीं बैसैंहि, प्रेम नाहिं सिरात।
भाव हिरदय जानि मोहन, खात माखन जात।
इकनि कर दधि दूध लीन्हे, इकनि कर दधिजात।
सूर प्रभु कौं निरखि गोपी, मनहिं-मनहिं सिहात।[3]

तीनों ही पदों में 'गोपीभाव' देखा जा सकता है। प्रथम पद में एक गोपी श्याम की शिकायत यशोदा के पास कर रही है। इस शिकायत में उसका—शिकायत

---

१. सूरसागर, ९५६ २. सूरसागर, १६४३ १. सूरसागर, २२१९

करने वाली का—प्रेम झलकता है। वह अपने आकर्षण को छिपा नहीं सकती। कृष्ण के अनोखे व्यवहार उसे अच्छे लगते हैं। वह उलाहने देती जाती है और लजाती भी है। यशोदा भी क्या कहे? वह श्याम का मुख देखती है और कहती है, यह बात है। इस 'यह बात' में शिकायतों का समाधान निहित है। बातें तो कहने के लिए और मन के भाव को व्यक्त करने का आधार हैं। भाव वाणी के लिए व्याकुल हैं। दूसरे पद में गोपी स्वयं कृष्ण के सम्मुख उपस्थित है और अपने प्रेम को व्यंजित करते हुए कृष्ण से आशानुरूप प्रेम की याचना करती है। आकर्षण से खिंची-खिंची (मुरली के) चली आई है और अब जब बुला लिया तो और ढंग का व्यवहार नहीं होना चाहिए। कृष्ण के पास पहुँचने में वे अपने को धन्य मानती हैं और लोक की मर्यादाओं का उल्लंघन करती हैं। गोपी मानती हैं कि कृष्ण के पास बने रहने में कुलीनता है और उसी का बड़ा भाग है। तीसरे पद का प्रसंग कुछ और है। कृष्ण माखन खा रहे हैं और गोपियाँ माखन खिला रही हैं। खाने-खिलाने में खाने वाले और खिलाने-वाले के बीच जो प्रेमपूर्ण व्यवहार है, वह व्यवहार ही पद का मुख्य भाव है। नंद-नंदन माखन खाते हुए अघाते नहीं और गोपियाँ भी अपने-अपने पात्रों को—मटुकी को—लिए बैठी हैं। खाते हुए कृष्ण की छवि देख कर गोपियाँ मन ही मन सिहाती हैं। ये सभी पद विरह के नहीं हैं। इन पदों में कृष्ण गोपियों के बीच विराजमान हैं। इस तरह के अनेक पद हैं। इन पदों में व्यावहारिक दृष्टि से जीवन के जिन व्यापारों का उल्लेख हुआ है, वे व्यापार और व्यवहार दैनिक दिनचर्या से संबंध रखने वाले हैं। यह दैनिक दिनचर्या गाँवों की है। गोपियाँ गाँव की रहनेवाली हैं और अपनी दैनिक दिनचर्या में वे आनंद मानती हैं। इस आनंद को नंदनंदन ने बढ़ाया है। नंदनंदन की उपस्थिति में ये सभी चर्चाएँ विलक्षण आनंद प्रदान करती प्रतीत होती हैं। गोपी को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में न लेकर जातिवाचक संज्ञा के रूप में लिया गया है। जातिवाचक भी न कहकर सर्वनाम के रूप में लिया गया है, ऐसा कहा जाय तो उचित होगा। यहाँ भी सर्वनाम का अर्थ व्याकरणिक रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। सर्वनाम का अर्थ सब का नाम। गोकुल में (ब्रजभूमि में) बसनेवाली सभी गोपियाँ है। गोपी नाम सब का प्रतिनिधित्व करने वाला है। वैसे तो दार्शनिक दृष्टि से पुरुषों का भी इसमें समावेश हो सकता है। यहाँ यह विवेचन दार्शनिक पक्ष को छोड़ कर ही किया जा रहा है। गोपी को इस प्रकार व्यापक रूप देने से गोपी के चरित्र और व्यक्तित्व का जो बोध होता है, वह भावरूप को—गोपीभाव को—(अमूर्त भाव को) दर्शाने वाला है।

भावकथा में भाव के विकल्पों से संबंध रखनेवाली स्थितियों को परखा जा सकता है और इसी तरह भाव के विकास को देखा जा सकता है। इस संबंध में (भाव की वैकल्पिक स्थितियों के संबंध में) सूर के अद्वितीय गुण को सभी ने स्वीकार

किया है। संयोग एवं वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ संभव हो सकती हैं, वे सब सूर की गोपियों में दिखलाई गई हैं। वियोग की कुछ दशाओं के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :

उधौ बात कही नहिं जाइ।
मदन गुपाल लाल के बिछुरे, प्रान रहे मुरझाइ।
जब स्यंदन चढ़ि गवन कियौ हरि, फिरि चितए गोपाल।
तबहीं परम कृतज्ञ सबै उठि, संग लगीं ब्रजबाल।
अब यह औरै सृष्टि बिरह की, बक्त बाइ बौरानी।
तिनसौं कहा देत फिरि उत्तर, तुम हौ पूरन ज्ञानी।
अब सो साधन घट का कीजै, क्यौं उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै, कठिन बिरह की रीति।[1]

हरि दरसन कौं तलफत नैंन।
अरु जो चाहत भुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैंन।
जिय तलफत है बन बिहरन कौं, तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
कल न परत तुम बिनु हम इक-छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।
जब तैं तुम हरि बिछुरे हम तैं, निसि बासर नहिं चैन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, काग उड़ावतिं सैन।[2]

माधौ जू सुनौ ब्रज को प्रेम।
सोधि मैं षट मास देख्यौ, गोपिकनि कौ नेम।
हृदय तैं नाहिं टरत टारे, स्याम राम समेत।
आँसु-सलिल प्रवाह मानौ, अर्घ नैननि देत।
चँवर अंचल कुच कलस, वर पानि पद्म चढ़ाइ।
सुमिरि तुम्हरी प्रगट, लीला, कर्म उठतीं गाइ।
देह गेह सनेह अर्पन कमल लोचन ध्यान।
सूर उनकौ प्रेम देखैं, फीकौ लागत ज्ञान।[3]

इन पदों में गोपियों की प्रेमदशाओं का वर्णन है। प्रथम दो पदों में गोपियों की विरहावस्था, जो उद्धव के सम्मुख व्यक्त की गई है, का वर्णन है। प्रेम को—कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को—गोपियाँ जिस रूप में उद्धव के सम्मुख निवेदित करती हैं, उसका उत्तर ज्ञानी उद्धव के पास नहीं है। वह सुन कर मौन रहने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। तीसरे पद में उद्धव की आत्मस्वीकृति है, जो वह कृष्ण के सम्मुख निवेदित कर रहा है। एक प्रकार से उद्धव गोपियों के प्रेम को प्रमाणित कर देता

---

१. सूरसागर, ४३५९ २. वही, ४६४७ ३. वही, ४७६२

है और कृष्ण के सम्मुख अपनी हार को—गोपियों द्वारा पराजित स्थिति को—स्वीकार कर लेता है। उद्धव-गोपी संवाद भ्रमरगीत के रूप में प्रसिद्ध है। इस भ्रमरगीत में एक ओर सगुण-निर्गुण का विवाद है, तो दूसरी ओर भावना के धरातल पर भावना (प्रेम भावना—भक्ति रूप में) और ज्ञान का विवाद है। ज्ञान की हार हुई है और भावना की जीत हुई है, इसी तरह निर्गुण हारा है और सगुण जीत गया है। संवाद के रूप में दो पक्षों को रखना और एक की हार दिखलाना और दूसरे की जीत दिखलाना, एक दृष्टि से अपनी स्थापना को सुदृढ़ रूप में प्रस्तुत करना ही है। उद्धव की हार, गोपियों की जीत है। गोपियों की यह जीत, जिसकी प्रतीति उद्धव को व्रज में कुछ दिन बसने के कारण हो गई, उनके प्रेम के कारण है।

गोपियों का प्रेम-नेम, गोपीभाव है। भ्रमरगीत के पदों में इस भाव को तार्किक रूप प्रदान किया गया है। भ्रमरगीत के पदों में हम देखते हैं, गोपियाँ बहुत अधिक मुखरित हैं। उद्धव से अधिक वे बोलती हुई दिखलाई गई हैं। मन में किसी प्रकार का दुराव-छिपाव न रखते हुए खरी-खोटी सुनाने में वे चूकती नहीं हैं। एक बार जब वे उद्धव से परच जाती हैं, तो फिर अपने प्रिय के प्रति जो कुछ उनके हृदय में है, सब कहती जाती हैं। यह उन्मुक्त कथन गोपियों के चरित्र एवं व्यक्तित्व को समझने में अधिक सहायक है। संयोग अवस्था की बात और है, किंतु वियोग में तड़पते हुए जीने में जब उन्हें व्यापक अविनाशी ब्रह्म की आराधना करने के लिए कहा जाता है, उस समय वे घबरा जाती हैं और सगुण के वियोग को निर्गुण के योग से अच्छा मानती हैं। उनकी आँखों ने कृष्ण के जिस रूप को निहारा है और कृष्ण के साहचर्य में उनका जो जीवन बीता है, उसकी सुखद स्मृतियाँ उनके हृदय में मौजूद हैं और अब यदि उनसे कोई वे स्मृतियाँ छीन लेना चाहे तो वे यह प्रस्ताव किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकतीं। हम देखते हैं कि उद्धव के तर्कों का उत्तर वे तर्क के साथ देने का प्रयत्न करती अवश्य हैं, किंतु तर्क का उत्तर तर्क ही हो सकता है अतः कथनों के बीच-बीच—तार्किक कथनों के बीच-बीच—अपनी मनोदशा सहज रूप में व्यक्त करती जाती हैं। और इन मनोदशाओं के कारण ही उद्धव परास्त होता है, उद्धव तर्क से नहीं हारता, वह उनके प्रेम-नेम के कारण हारता है। इसी संबंध में एक बात ध्यान रखने योग्य यह है कि उद्धव-गोपी संवाद, प्रश्नोत्तर के रूप में या पहले उद्धव कहें और उनका उत्तर गोपियाँ दें या इसके विपरीत पहले गोपियाँ कहें और पश्चात् उद्धव कहें, इस रूप रूप में नहीं चलता। जैसे कि पहले ही कहा गया है, भ्रमरगीत वाले पदों में गोपियाँ ही अधिक बोलती हैं। यों कहना चाहिए कि गोपियों के वचनों (कथनों) का विस्तार अधिक है। गोपियों के कथनों में उद्धव का विरोध है। इस विरोध को देखकर ही उद्धव के पक्ष को समझा जा सकता है। यों कहना चाहिए कि उत्तर को देखकर प्रश्न की कल्पना करनी चाहिए और यों भी कह सकते हैं कि उत्तर

की शैली में (कहने के ढंग में) प्रश्न की (उद्धव द्वारा रखे गए समाधानों की) भूमिका निहित है। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि गोपियों ने उद्धव के निर्गुण संबंधी उपदेशों को और ज्ञान को जिस रूप में समझा है, वही पक्ष प्रमुख रूप से, उद्धव के पक्ष से आया है। स्वतंत्र रूप से उद्धव अपनी बात कहते हुए बहुत कम स्थलों पर दिखाई देते हैं, ऐसी स्थिति में गोपियों के तर्क, गोपियों द्वारा उद्धव के तर्कों के समझे हुए तर्कों का उत्तर हैं। उद्धव का ज्ञानमूलक विवेचन नहीं मिलता। यों कहना चाहिए कि गोपियों ने उद्धव के व्यक्तित्व को, विचारों को एवं तर्कों को जिस रूप में ग्रहण किया, वही उद्धव का रूप झलकता हुआ दिखलाया गया है। उद्धव के स्वतंत्र व्यक्तित्व को—गोपियों से हटकर—भ्रमरगीत के पदों में, स्थान नहीं मिला है (प्रायः नहीं मिला है) और अंत में हम देखते हैं कि उद्धव की स्थिति गोपीसदृश हो जाती है। गोपियाँ उद्धव से प्रभावित नहीं होतीं। उद्धव ही गोपियों से प्रभावित होता है।

और अंततः गोपियों एवं कृष्ण की प्रेमकथा के व्यापक प्रभाव को देखा जा सकता है, यह प्रेमकथा भारतीय संस्कृति के एक पहलू को व्यक्त करने वाली है। मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए, मानवीय स्वच्छंद वृत्तियों को प्रोत्साहन देनेवाली, साथ ही प्रेम का सहज बोध करानेवाली (कारण रहित प्रेम का उद्‌भव और विकास तथा अंततः विरह में भी सतत् जाग्रत रहने वाला प्रेम) यह प्रेमकथा है। सूरदास ने सारी कथा लौकिक रूप में ही लिखी है। अर्थ लगाने वाले इसे अलौकिक अर्थ देते हैं और दार्शनिक ढंग से भी इसका विवेचन करते हैं। इन अर्थों और मान्यताओं के कारण इस कथा को सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। किंतु सहज मानवीय दृष्टि से भी यदि इस कथा पर विचार किया जाय तो इसका अपना स्वतंत्र महत्त्व है। इस दृष्टि से यदि इस कथा पर विचार करें तो इस प्रेम में समता के भाव को (गोपी एवं कृष्ण दोनों) को उन्मुक्त अभिव्यक्ति मिली है। इस संबंध में डा० चंद्रभान रावत ने ठीक लिखा है—"सख्य भाव के हिंदी-काव्य की सूर पूर्व स्थिति नहीं मिलती। वैसे सख्यभाव 'सखी' और 'सखा' दोनों के ही आश्रय से निष्पन्न और परिपक्व हो सकता है, पर 'सखी' के आश्रय से निष्पन्न सख्यभाव प्रायः सभी कवियों के काव्य में माधुर्य में संक्रमित हो गया है। केवल सूर ही 'सखी' के आश्रय से सख्य और माधुर्य का साथ-साथ परिपाक कर सके। 'सख्य' भाव का तात्पर्य है, भगवान् को शुद्ध मानवीय धरातल पर प्रस्तुत कर देना। सूर का प्रमुख वैशिष्ट्य यही है कि 'सख्य' भाव पर प्रथम और इतना उत्कृष्ट काव्य लिख सके। श्रीदामा आदि सखाओं के आश्रय से शुद्ध सख्य का परिपाक हुआ और गोपियों के आश्रय से सख्य स्वतंत्र भी परिपक्व होता रहा और माधुर्य को स्वाभाविकता प्रदान करता रहा।"[१] इस कथन से यह बात

१. सूर साहित्य : नवमूल्यांकन, डॉ० चन्द्रभान रावत, पृ० ४६४

पुष्ट होती है कि प्रेम में समता को महत्त्व मिला है। भगवान् और मानव के बीच का अंतर कम हुआ है। सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से भी देखें तो सूरदास ने गोपी-कृष्ण की प्रेमकथा में मानवीय सहज गुणों को सहज अधिकारों के आलोक में—(मानवीय अधिकारों के आलोक में) अभिव्यक्ति दी है। मानवीय संवेदना का स्वर सूरसाहित्य में अधिक सशक्त है इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से सूरदास को अधिक ख्याति प्राप्त है। सूर की गोपियाँ मानवीय संवेदनाओं का वाहक बन गई हैं, इसीलिए गोपियों के भाव अब केवल गोपियों के नहीं रह गए हैं, वे अब हम सब के हैं, जो हममें उसी प्रकार का मानवीय स्पंदन जगाते हैं।

☐ डा० सत्येन्द्र

सूरदास का नेत्रवर्णन

भारतीय कला में आनुपातिक साम्य (Proportionate symmetry) का उतना महत्त्व नहीं जितना आंतरिक सौंदर्य (Internal grace) का। कला की वस्तु में भाव का जो रूप विशेष आकर्षक होता है वही उसके आयास-विन्यास का ध्यान बिना रखे प्रकट किया जाता है। संसार के सौंदर्यानुशीलन से यह बात स्पष्ट विदित होगी। रूप संगीत (Formal rhythm) सौंदर्य तभी आता है जब उसका आधार-पट विरूप और विकृत हो। उसकी मधुरता का भाव क्या कभी सौंदर्यशील हो सकता था, यदि नीलाकाश में पलपल परिवर्तनशील रंग और प्रकाश उसमें नवोन्मेष न भर देता। यदि सभी वृक्षों में हर काल हर टहनी और पत्ते के स्थान पर गुलाब अथवा कमल ही उगता तो उसे हम सुंदर कह सकते, इसमें संदेह है! भारतीय दृष्टा मनुष्य की आकृति और उसकी सुंदरता देखते हैं, किंतु जब वे आत्मिक सौंदर्य को देखते हैं तो आकृति की गठन और रूप-रेखा का सौंदर्य उनके सामने विकृति में परिवर्तित हो जाता है। वे उस भाव के विशेष तत्त्वों को सूक्ष्मता और पूर्णता से अभिव्यक्त करने में लग जाते हैं, जिससे पारिधेय तत्त्व मंद हो जाते हैं।

भारतीय कला के इस स्वभाव का रूप इस उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है। द्रोणाचार्य जी पांडवों तथा कौरवों की परीक्षा लेने वन में गए। एक चिड़िया एक टहनी पर रख दी गयी। पांडवों में से एक धनुष-संधान कर आगे बढ़ा। आचार्य ने पूछा—तुम चिड़िया की आँख, उसके पर, पेड़ और हमें देखते हो? उत्तर मिला—हाँ। उसे हट जाने के लिए कहा गया। सबके अनुत्तीर्ण हो जाने पर अर्जुन ने कहा—"मैं आँख की उस पुतली के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। न पक्षी का धड़, न वृक्ष, न पास खड़े आचार्य। वही अभीष्ट आँख दिखायी देती है" और इस एकाग्रदृष्टि से उस छोटी पुतली का आकार और रूप अवश्य वर्द्धित हो गया

होगा। सूरदास जी के नयन में भी इसी तूलिका से रंग भरा गया है। उनके नयनों में वे सारे लक्षण आ जाते हैं, जो मनुष्य में हैं। उनके नेत्र अपनी कायिक सीमा का अनुल्लंघन कर मानव-स्वभाव के धर्म में वर्धित हो गए है। सूरदास जी के नयनों में कमल का-सा सौंदर्य नहीं, उनमें मछली, खंजन, मृग जैसे उपमानों की अगतिक (static) समता नहीं। सौंदर्य में जो धमनियों में विद्युत-स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली महागति है, उसी गत्यात्मकशक्ति (Dynamic force) से सूरदास के नेत्रों का सृजन हुआ है।

इसीलिए नेत्रों का अस्तित्व ही शरीर में एक पृथक् आकर्षण बन गया है। नेत्र हैं, उनके साथ मन है, और उन नेत्रों की करतूतों को देखने वाला—उन पर खीजने और झींकने वाला भी कोई है—उसका नाम गोपी रख सकते हैं। फिर एक और, वह है कृष्ण। नयन का वास्तविक रूप इस चतुर्विध व्यंग्य से ही समझा जा सकता है। नयन के संवंध में कवि का दृष्टिकोण अर्द्धविषयीपरक (semi-subjective) नहीं, विषयपरक (objective) हो गया है। मन (semi-subjective) है, इसलिए नहीं कि उसमें विषयपरक (objective) तत्त्व आ गया है। वस्तुत: मन में विषयपरक (objective) तत्त्व नहीं आ पाया। वह अर्द्धविषयीपरक (semi-subjective) इसलिए है कि विषयीपरक (subjective) तत्त्वों में से स्वानुभूति के तत्त्व की मन में कमी है।

मन ने नेत्रों को ठगा है—सूरदासजी कहते है :

मन कैं भेद नैन गये माई।
× × ×
सुनहु सखी मनके ढँग ऐसे, ऐसी बुद्धि उपाई।
सूर स्याम लोचन बस कीन्हे, रूप ठगोरी लाई।[1]

फिर—**मन तैं ये अति ढीठ भए।**
वह तो आइ मिलत है कबहूँ, ये जु गए सु गए।[2]

इन अवतरणों में मन और नेत्रों के संवंध की कुछ मर्यादा है। मन भेद डालने वाला है, उसने नयनों को श्याम को बेच दिया है, अथवा उनके अधीन कर दिया है। नयन और मन के अन्यथा में अंतर है। नेत्र एक बार चले गए, मन उन्हें ले गया। नेत्रों को कवि मानता है कि उनका स्वभाव हठी है, वे एक बार जहाँ लग गए फिर वे लौटना नहीं चाहते किंतु उनमें स्वगति तथा स्वानुभूति नहीं। विषयपरक (objective) रूप में ही नेत्र ऐसे हो सकते हैं। किंतु इनकी विषयपरकता (objectivity) पदार्थों की विषयपरकता (objectivity) से बिल्कुल भिन्न है। पदार्थों की तरह इनमें गति और अनुभूति नहीं किंतु चेतना है। हाँ, मूर्त सौंदर्य का

१. सूरसागर, २८४७ २. सूरसागर, २८४६

इनमें अभाव है, और यही एक बात है जो सूरदास के नयनों को विशेषतः विषयपरक वर्ग में रखती है। मन में गति भी है और चेतना भी, मूर्त्त-सौंदर्य नहीं, इस दृष्टि से वह विषयपरक (objective) नहीं किंतु विषयीपरकता (subjectivity) की कुछ झलक लिए हुए है, गति और चेतना के कारण, हाँ स्वानुभूति का अभाव इसे पूर्ण विषयीपरक (subjective) होने से रोकता है। वास्तव में विषयोपरकता की दृष्टि से हम सूरदास की वस्तु नहीं देख सकते। हाँ, इससे इतना समझ सकते हैं कि एक नया दृष्टिकोण सूरदास ने उपस्थित किया है, जिसका श्रेणी-विभाजन समालोचना शास्त्र में अभी अपेक्षित है। सूरदास का यह पद देखने योग्य है :

नैन भये हरि ही के।
जब तैं गये फेरि नहिं चितये ऐसे गुण इनिही के।
और सुनौ इनके गुण सजनी, सोऊ तुर्माहि सुनाऊँ।
मोसौं कहत तुहूँ नहिं आवै, सुनत अचंभो पाऊँ।
मन भयो ढीठ, इनहुँ कौं कीन्हौ, ऐसे लोन हरामी।
सूरदास प्रभु इन्हैं पत्याने, आखिर बड़े निकामी।[1]

नेत्र कृष्ण के हो गए, मन भी हो गया, नेत्रों में और मन में उनकी छवि भी समा गई किंतु आत्म-साक्षात नहीं हुआ। यही अभाव सारी पीड़ा का मूल है—इसमें उस चतुष्ट्य का स्पष्ट आभास मिलता है—नैन हैं ही, हरि के वे हो गये हैं, मन भयौ ढीठ,—मन का भी एक पृथक् अस्तित्व है—और फिर 'मोसो कहत तुहूँ नहिं आवे'—में 'मौ' वही गोपी है। यह चतुष्ट्य तो ऐसा है, जिसका कुछ न कुछ रूप सूरदास के काव्य में प्रकट होता है। पाँचवाँ व्यक्ति और है, और वह सखी है अथवा उद्धव है—सखी का समाहार गोपी में ही हो सकता है, इधर उद्धव का कृष्ण में। यह समाहार की समस्या एक पृथक् समस्या है। मनोविज्ञान की दृष्टि से शिकायत करने वाली और शिकायत सुनने वाली एक हो गई है, उसी प्रकार शिकायत के शिकारों का समाहार हो गया है। इस चतुष्ट्य में 'गोपी' का रूप समझना आवश्यक है। 'नयन' और 'गोपी' का एक कुटुंब-सा है। इसमें गोपी अपना कुछ विशेषाधिकार समझती है। उनका स्थान पिता-माता के सदृश है—विशेषकर नयन पर तो वे ऐसा ही अधिकार दिखलाती हैं। वे तभी कहती हैं :

(क) **नैना ऐसे है बिसबासी।**
आन काज कीन्हौ हमकौं तजि, तबतें भई निरासी।
प्रतिपालन करि बड़े कराए, जानि आपने अंग।[2]

(ख) **नैना भए प्रगट ही चेरे।**
ताकौ को कछु उपकार न मानत, हम ये किए बड़े रे।[3]

---

१. सूरसागर, २८७० २. सूरसागर, २८९३ ३. सूरसागर, २८९४

गोपी, 'नयन' की पालक है, उन्हें 'नयनों' से शिकायत है, वे पराए हो गए हैं, वे विश्वासघाती हैं। वे 'गोपी' के कृतज्ञ नहीं। वे रोकती हैं, नयन भाग-भाग कर उधर ही जाते हैं। उलटे गोपियों को फुसलाते हैं :

मोसो कहत तुहू नहिं आवे सुनत अचम्भो पाऊँ।[1]

आश्चर्य की बात है, ढीठपन की हद हो गई है। जिन नेत्रों को गोपी से भयभीत रहना चाहिए, उनका आतंक मानना चाहिए, वे इतने धृष्ट और मुँह लगे हो गए हैं—मन भी साथ छोड़ गया है। साथ नहीं छोड़ गया, यह सब उसी की करतूत है :

(क) **कियो वह भेद मन, और नाहीं।**[2]
(ख) **मन बेंच्यौ लै वस्तु हमारी, सुनहु सखी ये काम।**[3]

गोपी जब नयन और मन की इतनी भर्त्सना कर रही है, तब वह धीरे-धीरे अज्ञात रूप से स्वयं कृष्ण पर रीझी जा रही है। उसकी रुचि में पहले तो नेत्रों के प्रति कुछ विरोध खड़ा होता है। उन्हें चोर, निर्लज्ज, स्वार्थी कहा गया है—नेत्रों को धिक्कारा गया है :

(क) **मेरे नैना ई अति ढीठ।**
मैं कुलकानि किए राखति हौं, ये हठि होत बसीठ।[4]
(ख) **कहाँ गए जो आप स्वारथी नैनन अपनी निनंद्य कराई।**
जो यह सुनत कहत सोइ धृग-धृग तुरतई ऐसी भई बड़ाई।

किंतु फिर क्या हो जाता है कि वह कह उठती है :

हौं तौ ता दिन कजरा देहौं।
जा दिन नंद नंदन के नैननि, अपने नैन मिलैहौं।
सुन री सखी ! यहै जिय मेरे, भूलि न ओर चितैहौं।
अब हठ 'सूर' यहै ब्रत मेरौ, कांकिर खै मरि जैहौं।[5]

गोपी स्वयं कृष्ण की ओर झुक गयीं।

नयन अब तक वश में थे, कृष्ण को देखते ही पराए हो गए, धृष्ट हो गए, उद्दंड हो गए। गोपी का संबंध इन नेत्रों के प्रति किसी अपने अभिभावक की भाँति है। अभिभावक पहले अपने बालक को रोकता है, ताड़ता है फिर अपना भाग्य ठोकता है और उसकी बुरी दशा की कथा दूसरों को सुनाता है। फिर उस पर सहानुभूति करने लगता है। फिर स्वयं भी उनके साथ उसी मार्ग में कुछ झुक जाता है।

---

१. सूरसागर, २८७०
२. सूरसागर, २८५८
३. सूरसागर, २८५७
४. सूरसागर, २९९०
५. विरहपदावली (गीता प्रेस) १५१

गोपी में इसके साथ कुलकानि का भाव, मर्यादा और धर्मनिष्ठा का भाव भी है। नेत्रों के प्रति इतनी झुँझलाहट का कारण यही है कि वे कुल-लाज को धता बता कर कृष्ण से जा मिले हैं, उनके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं।

गोपियाँ अपनी सफाई भी देती हैं। वे नेत्रों के अपराध से अपने को मुक्त समझती हैं। वे कहती हैं :

………ब्रज घर घर यह बानी।
हमहूँ को अपराध लगावहिं, येऊ भई दिवानी।
लूटहिं ये इन्द्री मन मिलिकै, त्रिभुवन नाम हमारौ।
सूर कहाँ हरि रहत, कहाँ हम, यह काहे न विचारौ।[1]

अतः गोपी मनुष्य की वह मनस्भावना है, जो लोकाचार और मर्यादा तथा लज्जा से जकड़ी हुई है और मर्यादारूढ़ (conservative) मति का रूप उपस्थित करती है। मर्यादा और अमर्यादा संघर्ष ही नयनों में समाहित है। मर्यादारूढ़ मति एक स्वाभाविक प्रेमोल्लास से कृष्ण की ओर आकर्षित हो गई है, उसमें अमर्यादा की ओर कुछ प्रवृत्ति हो गयी है। सूरदास अमर्यादित प्रेम के पोषक है। वे जिस मन की भर्त्सना कर रहे हैं, जिन नयनों को डाँट रहे हैं, वह सब व्यंग्य है। साधारण संसार मन को अत्यंत चंचल समझता है, इंद्रियों को अत्यंत व्यसनशील। यह समझा जाता है कि ये नीचे की ओर ही जाते है। किंतु प्रेम-प्रेरणा में सूरदास की दृष्टि में और ही बात उपस्थित हो गयी है। उनकी चंचलता तो प्रकट ही है कि वे मर्यादित पति का साथ छोड़ गए और अमर्यादित प्रेम के प्रतीक श्रीकृष्ण से जा लगे, इंद्रियाँ भी उधर लग गयीं—अतः संसार इन्हें निंद्य कहेगा ही। गोपियाँ इसी संसार के शब्दों में अपनी मर्यादित-मति का परिचय दे रही हैं—पर उनकी विवशता कुछ और भी प्रकट करती है। वे विवश हैं। नयन पागल हो गए हैं, वे रोके नहीं रुकते—इसी प्रकार गोपियाँ अपनी विवशता से अमर्यादित प्रेम की महत्ता प्रकट करती हैं। वह स्वोद्भूत प्रेम है और वही जीवन-लाभ का सच्चा अर्थ है। नयन इसी प्रेम के अविकल सौंदर्य की अनुभूति कराते हैं। उनके इसी सौंदर्य का साक्षात्कार यहाँ है। पर वह सौंदर्य-संघर्ष के आधार-पट पर है। सुर और असुरों का संघर्ष सदा रहा है। वह संघर्ष ही जीवन की रागिनी का मूल स्वर है। वहाँ सौंदर्य (Aesthetic) और आचार (Ethics) की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। पहले नयनों की आचार-नीति (Ethics) ही लीजिए।

सूरदास जी भली प्रकार जानते हैं कि जिसके द्वारा किसी व्यक्ति का पालन-पोषण हुआ है, उसके विपरीत आचरण विश्वासघात है, उसके विरुद्ध किसी में विशेष

---

१. सूरसागर, २८७६

मोह पैदा कर लेना भी बुरा है। स्वार्थी होना, लोक-लज्जा-त्यागकर धृष्ट होना, लोभ करना, इतराना, दया हीन होना, किसी के रूप की ओर एकटक देखना, रस-लंपट होना, गुरुजनों का संकोच न होना, आर्यपथ त्याग देना, यह सब अनैतिक (Immoral) है। लोक में यह सब अवांछनीय है। किंतु अमर्यादित प्रेम में यही सब बातें ग्राह्य और अनुकरणीय हैं। इसलिए नहीं कि 'Everything is fair in love and war' वरन् इसलिए कि जीवन लक्ष्य (Summum bonum) की प्रेरणा से नीति और अनीति का निश्चय होता है। गोपी की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उसमें मर्यादित मति की झलक है। वह लौकिक दृष्टि से नेत्रों की गति-विधियों का विरोध करती है, किंतु अंत में स्वयं उसी पक्ष का अनुसरण करने लगती है। उस प्रेम-मार्ग में मर्यादा-मति अथवा लोक-निबंध हार मानकर चलने लगता है। वह उसी व्रत में दीक्षित हो जाता है। लोक और धर्म के संघर्ष में धर्म की अमर्यादित-प्रेम-मति की विजय गोपी को तब अनुभव होती है, जब कृष्ण गोकुल से चले जाते हैं। अभाव में ही मूल्य का पता चलता है। नेत्रों के चकोर-भृंग जैसे व्रत और हठ ने गोपियों को वैसे ही कुछ झुका दिया है, किंतु अब जब कृष्ण भी नहीं तो उनके हृदय भी रिक्त से हूकपूर्ण लगते हैं, तब तो उन्हें नेत्रों से संवेदना और सहानुभूति में कोई कमी ही नहीं रहती। जब उद्धव आते हैं, तब वे नेत्रों की करुण दशा का बड़ा दीन चित्र उपस्थित करती हैं, उनकी सिफारिश करती हैं :

अखियाँ हरि दरसन की भूखी,
कैसें रहें रूप रस राँची, ए बतियाँ सुनि रूखी।[1]

जो प्रेम की आग नेत्रों में लगी है; प्रेम के कारण जो हूक और विकलता उनमें पैदा हुई है, उसका यदि आकर्षण कृष्ण में न होता तो सूफियों के प्रेम के समकक्ष हो जाता। किंतु नेत्रों के आचार का जीवन लक्ष्य (Summum bonum) केवल प्रेम नहीं, जिसमें प्रेमपात्र के लिए ही प्रेम-प्रेरणा है, जहाँ प्रेम-प्रेरणा और प्रेम ही अभीष्ट है। इनके नयनों के आचारों में स्वाभाविक प्रेम-प्रेरणा है, किंतु पुरुषार्थ 'कृष्ण दर्शन' है। 'कृष्ण-दर्शन' में ऐंद्रिकता का मूर्त आधार बिल्कुल स्पष्ट है :

नैनन उहै रूप जौ देखौं।
तौ ऊधौ यह जीवन जग कौ साँच सफल करि लेखौं।
लोचन चपल चारु खंजन मन-रंजन हृदय हमारे।
सुरँग कमल मृग मीन मनोहर, सेत अरुन अरु कारे।
रतन जड़ित कुंडल श्रवननि वर परति कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महँ ढूंढ़त यह छबि पाई।

---

१. सूरसागर, ४१७५

मुरली अधर विकट भौंहें करि, ठाढ़ो, होन त्रिभंग।
मुक्त माल उर नील-शिखर तैं धँसी धरनि जनु गंग।
और बेष को कहै बरनि सब, अँग-अँग केसरि खौर।
देखें बने, कहत रसना सौं, सूर बिलोकत और।[१]

यह रूप वास्तव में एक समय और क्षण का देखा हुआ नहीं। गोपी-मति ने अब तक कृष्ण के जितने रूप देखे हैं उन सबके संस्मरणों से यहाँ एक मिश्र रूप उपस्थित कर दिया है। किंतु कृष्ण के रूप के साथ उसके स्वाभाविक क्रिया-चित्र में कहीं अधिक सौंदर्य है : **'बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।'** 'दौने में दूध दुह कर पीते हुए कृष्ण का दर्शन'—जिसकी कल्पना सूर की कल्पना के साथ उड़कर इस सक्रिय चित्र की रेखाओं को सजीव बना सकती है, वह उस सौंदर्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। पहले पद में जो छबीला राजसी सौंदर्य अंकित किया गया है उसमें श्रद्धा-भक्ति के अमर्यादित प्रेम के साथ यौवनौद्दाम भावना का रूप है, उसका सात्त्विक रूप जो मूल की तरह उस राजसीभाव की अभिव्यक्ति को उत्तेजित कर सका है, वह इन्हीं पंक्तियों में है : **'बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।'**

गोपी के रूप में हमें मर्यादा और अमर्यादा का घोर द्वंद्व मिलता है। अमर्यादा की विजय होती है। निश्चय ही अमर्यादा लोकहित-साधक नहीं हो सकती—फिर प्रेम की अमर्यादा तो सृष्टि को महाविकृत करने वाली है। वह पुण्य की अपेक्षा पाप का सृजन अधिक करती है। यदि सूरदास में केवल वह राजसी-सौंदर्य-लिप्सा की ऐंद्रिकता होती तो प्रेम की सात्त्विकता समझना कठिन हो जाता किंतु उस ऐंद्रिकता का सात्त्विक रूप कितना मनोहर है और कितना मूल में है, जब हम यह जान लेते हैं तो आज भी हृदय उल्लसित हो जाता है, और कृष्ण की साकार मूर्ति हमें प्रेम-गद्गद् कर देती है। इस प्रकार के चरम पुरुषार्थ के कारण ही अमर्यादा और अनीतियाँ श्लाघ्य हो जाती हैं। Ethics अथवा आचार का प्रश्न, जीवन के ध्येय से संबद्ध है। कृष्ण के पीछे आध्यात्मिक भित्ति और धार्मिक साहचर्य के साथ ऐंद्रिक-सौंदर्य है—वह महान् ध्येय है—उसके लिए अन्यतम त्याग और लगन की आवश्यकता है। उसमें न केवल मन लगना चाहिए वरन् सारी इंद्रियाँ अपने अपर विषयों को छोड़ उसी में तन्मय हो जाएँ, उसी की मनोरमता में निर्विषय हो जाएँ तब जीवन-लाभ की प्राप्ति हो सकती है। उठते-बैठते-खाते-पीते यदि वही कृष्ण और उसका रूप सामने है, तभी धार्मिक प्रक्रियाओं की पूर्ति हो सकती है, तभी जीवन के सारे आयोजनों की सफलता है। गोपी और उसके नयनों के आचार (Ethics) का यही मर्म है। जिस संघर्ष ने आचार की सुंदरता प्रकट की है, वह

१. सूरसागर, ४१७८

नयनों के सौंदर्य को निखारता है। कृष्ण का पूर्व रूप सूरदास ने अवश्य रखा है, किंतु नयनों का, उन नयनों का जिनका चित्र नहीं, चरित्रांकन किया गया है; कुछ भी परिचय नहीं। उन्हें 'काजल' अवश्य प्रिय है, क्योंकि उसी का लालच उन्हें दिया गया है। फिर वे खंजन, मीन, कमल, मृग के-से हैं अथवा कैसे हैं, यह कुछ विदित नहीं। होंगे ऐसे ही! किंतु उनका अंतरंग सौंदर्य हमारे सामने अपने अनिवर्चनीय ढंग से उपस्थित है।

तृष्णा, अतृप्ति, दाहक, हूक, चिरंतन गति और अबाध पीड़ा में जो सौंदर्य है, वह इन नयनों में है। जिसे नयनों का सा हृदय मिल जाय वह क्या हो जाय ?

□ डा० कृष्णचंद्र वर्मा

सूर की मुरली

मुरली को लेकर सूरदास ने सूरसागर में शताधिक पद कहे हैं। सूरदास प्रेम की महिमा के गायक थे। आभीर जीवन के चितेरे थे। गो-गोसुत, गोप-गोपांगनाएँ और उनका वन्य जीवन— इसी के सूक्ष्म विशद् चित्रण में सूरदास ने अपनी संपूर्ण शक्ति और प्रतिभा का विनियोग किया है। मुरली भी इस वन्य-जीवन से गृहीत एक प्रतीक या उपकरण है। मुरली या बाँसुरी बाँस की कन्या है। बाँस या वंश जंगलों में आप ही आप उगने वाली चीज है। बाँस की बाँसुरी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े तक बजाया करते हैं। वह खेल और मनोरंजन का साधन भी है और वाद्य-संगीत की उच्चतम कला-साधना का उपकरण भी। सूर-साहित्य में मुरली या वंशी मात्र जड़ पदार्थ नहीं रह गई है, वह व्यक्तित्ववान् होकर आई है। उसका अभूतपूर्व मानवीकरण हुआ है। उसके गुणों का, ऐश्वर्य का, भाग्य का, प्रभाव और महिमा का कुछ ठिकाना नहीं। वह क्या नहीं कर सकती? किसे नहीं जीत सकती? वह कृष्णप्रिया है, असली कृष्णप्रिया! अनंत व्रत और तपस्या में अपना जीवन तिल-तिल कर घुला देने वाली गोपांगनाओं के भाग्य को मर्दित करके रख देने वाली मुरली उनकी ईर्ष्या का विषय होकर आई है। उसने कृष्ण को वश में कर रखा है! इतना ही नहीं, कृष्ण को गोपियों से काटकर अलग कर दिया है। ऐसी मुरली भला गोपियों को प्रिय हो सकती है? गोपियों की झौंर में एक ही चर्चा है, एक ही विषय है—मुरली।

मुरली कृष्ण को बहुत प्रिय थी। नंदगाँव के वनों में पाई जाने वाली यह मुरली उन गोप-ग्वालों के मनोरंजन का साधन थी। सभी मुरली बजाते थे पर कृष्ण की मुरली और उसका नाद तो त्रिभुवन-मोहक था। नदियों का प्रवाह रुक जाता, अचल चलायमान हो उठते और मनुष्य! उसका तो कहना ही क्या, वह तो हृदय पकड़कर ठक्-सा रह जाता। जड़ को चेतन और चेतन को जड़ करने की

शक्ति इसी मुरली में थी। जड़-सृष्टि विकल हो उठती थी और चेतन सृष्टि जड़िमाग्रस्त हो जाती थी। शरद्पूर्णिमा की अर्धरात्रि में जब कृष्ण मुरली बजाते थे तो सभी गोपांगनाएँ अपने घर-गाँव, काम-काज-छोड़कर यमुना की रेणुकामयी भूमि पर पहुँच जाती थीं। अपने वेणुनाद से वे सभी का सयानपन हर लेते थे। गोपियाँ प्रेम के हिंडोले में झूलने लगती थीं, प्रस्वेद बह चलता था, कभी बेहोश हो जातीं और कभी-कभी होश में आ जातीं और कभी मुरली के नाद में समा जातीं। स्वयं कृष्ण इसके वश में हो गए थे।

सूरदास ने मुरली का मानवीकरण किया है। कृष्ण के मुरलिका-प्रेम को लेकर गोपियों ने हजार-हजार बातें कही हैं; उसे कुलांगार बताया है, उसके वंश का बखान किया है, उसके माता-पिता को कोसा है, उसे बैरिन और सौत बतलाया है, उसके अपकर्मों की गणना की है, उसके सौभाग्य का कथन किया है, उसे विधाता से भी चतुर और प्रवीण ठहराया है। उस जैसी तुच्छ चीज को सूरदास ने अपनी अनुभूति और भाषाभिव्यंजना के बल पर इतना ऊँचा उठा दिया है कि मुरली सूर-काव्य में विश्लेषण का एक स्वतंत्र विषय बन गई है।

गोपियों की उक्तियों के अनुशीलन से आपको यह पता चले बिना न रहेगा कि मुरली ने गोपियों के जीवन में कितना विषाद फैला रखा है; उन्हें कितना संत्रस्त कर रखा है। गोपियाँ तो थीं या हो ही सकती थीं किंतु मुरली का व्यक्तित्व विशुद्ध सूरदास की कल्पना की सृष्टि है। मुरली सौ-सौ गोपियों से भी अधिक व्यक्तित्ववान् है। वह सहस्रों गोपियों की प्रगाढ़ ईर्ष्या का आलंबन बनी हुई है।

गोपियाँ कहती हैं कि वंशी हमारी बैरिन है। कृष्ण का अधर-रस वह लूटती रहती है, पीती रहती है, रात-दिन उसका भोग करती है और हम इस सुख-सौभाग्य से वंचित हैं। अपने प्राप्य से ही जो वंचित हो जाए उसके विषाद की क्या कोई सीमा होती है? इतना ही नहीं कि मुरली कृष्ण का सर्वस्व हो गई है। कृष्ण के पास हमारे लिए अवकाश नहीं है और शायद हृदय में स्थान भी नहीं है। कृष्ण मुरली के कहने से हम गोपियों पर कोप भी करते हैं। निश्चय ही ये सारी बातें सहन की सीमा से बाहर हैं :

(क) बंशी बैर परीजु हमारैं।
अधर पियूष अंस सबहिन कौं, इन पीयौ सब दिन निज न्यारैं।
इक धुनि हरि मन हरति माधुरी, दूजै बचन हरति अनियारैं।
बाँस बंस हिय बेध महासठ, अपने छिद्र न जानत गारैं।[1]

(ख) मुरली कैं बस स्याम भए री।
अधरनि तैं नहिं करत निनारी, बाकै रंग रए री।

१. सूरसागर, १८४७

रहत सदा तन-सुधि बिसराए, कहा करन धौं चाहति।
देखी, सुनी न भई आजु लौं, बाँस बँसुरिया दाहति।
स्यामहिं निदरि, निदरि हमहूँ कौं, अब ही ते यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाऐं, बोलति बचन अनूप।[1]

(ग) मुरली भई स्याम-तन-मन-धन।
अब बाकौं तुम दूरि करावति जाके बस्य भए नँद-नंदन।
कबहूँ अधर कबहूँ राखत कर, कबहूँ गावत हैं हिरदै धरि।
कबहूँ बजाइ मगन आपुन ह्वै, लटकि रहत मुख धरि तापर ढरि।
ऐसे पगे रहत हैं जासौं, ताहिक रति कैसें तुम न्यारी।
सूर स्याम हम सबनि बिसारी, वह कैसैं अब जाति बिसारी।[2]

कभी वे मुरली को अपनी सौत ठहराती हैं, कभी उसके खानदान और जन्म और जाति का पूरा विवरण देती हैं, कभी उसके कुल-धर्म का बखान करती हैं, कभी कृष्ण पर उसके अधिकार का वर्णन करती हैं और कभी उसे विधाता से भी बढ़ा-चढ़ा घोषित करती हैं। इस प्रकार के समस्त कथनों में मूलतः ईर्ष्या का भाव ही विद्यमान है। वे कहती हैं यह तो ऐसी सौत है, जो कृष्ण के अमृत भरे अधरों से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होती। न जाने कितनी प्यास और ज्वाला से पीड़ित है यह। उनका अधर-रस पीकर थकती भी नहीं। यहाँ पीती है, वहाँ उड़ेलती है—जल, थल, वन सभी जगह। जिस अधर-रस की प्राप्ति के लिए हमने अपना शरीर गला डाला, कण-कण कर डाला, वही रस निःसंकोच होकर वह लिए लेती है! कामदेव को जीतने वाले कृष्ण इस बाँस की बाँसुरिया के वश में हो गए। वे भी इसके प्रभाव से न बच सके। ऐसी मुरली गोपियों की दृष्टि में हीनकर्मा है, जंगल में रहने वाली है, बाँस के खानदान की है। मेघ इसका पिता है, धरती इसकी माता है। निपट उजाड़ प्रदेश की रहने वाली है और परम विश्वासघातिनी है।[3] इसके पिता सब जगह बरसते हैं, इसकी माता खुद कुमारिका है पर सभी को पैदा करती है। ऐसे वंश में यह जन्मी है, इसकी कथा क्या कही जाए?[4] गोपियाँ कहती हैं कि इस मुरली ने हमारा कुछ भी भला नहीं किया वरन् भारी अनहित किया। इसने हमारा प्राप्य खुद लूटा और दूसरों को बाँटा। इस कुटिल मति ने हमारा सर्वस्व हरण कर लिया। जिस रस की प्राप्ति के लिए हमने कालिंदी-तट पर गौरीपूजन करके अपना शरीर तपा और सुखा डाला, उस रस को इस कुलटा ने सब के देखते-देखते हमसे छीन लिया।[5] हमें तो हमें इसने

१. सूरसागर, १८४६
२. सूरसागर, १८५५
३. सुनहु री मुरली की उतपत्ति। १८७४
४. सुनहु सखी या के कुल-धर्म। १८७५
५. इहि मुरली कछु भलौ न कीनौं। १६२४

कृष्ण तक को नहीं छोड़ा। खेल-खेल में उन्हें आपने वश में कर लिया। उनका सारा अधर-रस पीती है, उन्हें किसी और के समीप जाने नहीं देती; खुद ही बोलती है, उन्हें बोलने भी नहीं देती और न किसी और को उनके मुँह लगने देती है। खुद तो परम लोभिनी है और डर उसे किसी का भी नहीं है। ठीक ही है जिसने अपने कुल को जला डाला उसे किसका डर हो सकता है। यह तो वन की व्याधि थी जो अब हमारे घर आ गई है।[१] कृष्ण को यह खूब नाच नचाती है और फिर भी उन्हें अच्छी लगती है। अपने अधीन किए हुए है, इतना अधीन कि बेचारे बात करते सकुचाते हैं, उनकी गर्दन झुकी रहती है, उनके अधरों पर लेटती है और अपने चरण चँपवाती है। जब वह कृष्ण की सेवा से रीझती है, तब कृष्ण भी अपना सिर डुलाने लगते हैं।[२] इतना अधिकार है और फिर भी कृष्ण हैं कि उसे पसंद करते हैं :

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि, नंद लालहिं नाना भाँति नचावति।[३]

इस बाँसुरी की महिमा बहुत बड़ी है। यह तो विधाता से भी अधिक प्रवीण है। इसके समान कौन है, जिसने जगत् को वश में कर रखा हो ? विधाता के चार मुँह हैं, इसके आठ। यह आठ मुँह से गरजती है और विधाता के विधि-विधानों को मिटाए डालती है। विधाता एक कमल पर आसन जमाते हैं और यह तो कृष्ण के दो कर-कमलों पर आसीन रहती है। विष्णु के एक बार उपदेश से विधाता को ज्ञान लाभ हुआ था पर कृष्ण तो सदा रात-दिन इसके कानों में लगे रहते हैं। इसके महाभाग्य का क्या कहना ? गोपियों के हृदय में इस प्रकार के असंख्य ईर्ष्या भरे भाव तरंगित होते हैं।

अब इसी प्रसंग में वे पद भी दर्शनीय हैं, जिनमें मुरली ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया है। मुरली कहती है कि हे गोपियो ! मुझसे क्यों ईर्ष्या करती हो ? मेरे प्रति तुम्हारा उपालंभ-भाव अकारण है, कृष्ण हमें क्यों चाहते हैं, उन्हीं से जाकर पूछो। हम कृष्ण को यों ही प्रिय नहीं हो गई हैं। उन्हें पाने के लिए हमने भी तपस्या की है और हमारी तपस्या कुछ साधारण नहीं रही है। तुम्हारी तपस्या से तो निश्चय ही सौगुना अधिक तप हमने किया है और तब कहीं जाकर कृष्ण के अधर-रस की अधिकारिणी बनी हैं। तुम भी जाकर तपस्या करो, तुम्हें किसने रोका है ? तुम भी कृष्ण को रिझा लो और उनके अधरों का रस प्राप्त करो। मुरली के ये तर्क गोपियों के क्षोभ की धार को कुंठित कर देने वाले हैं :

---

१. मुरली मोहि लिए गोपाल। १६४४
२. मुरली हरि कौ नाच नचावति। १६४३
३. सूरसागर, १२७३

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु ।
पूछहु जाइ स्याम सुंदर कौं, जिहिं दुख जुर्‌यौ सनेहु ।[१]

मुरली इसी प्रकार कितने ही तर्क प्रस्तुत करती है। वह कहती है—हे गोपांगनाओं ! तुम जब हमारी तपस्या की कहानी सुनोगी, तब तुम्हें मन ही मन पश्चाताप होगा कि तुमने हमें व्यर्थ ही गाली दी। मैंने सुना है कि तुमने भी तपस्या की है पर वह मेरी तपस्या के बराबर नहीं है। मैं अपनी तपस्या के बल पर कृष्ण के साथ रहती हूँ, इससे तुम्हें क्यों दुःख होता है। तुम भी सुखी रहो, आनंद करो, मैं कब मना करती हूँ। श्याम की मुझ पर कृपा है, तुम भला मुझे उनसे क्यों दूर कराना चाहती हो ! हमारे प्रति तुम्हारा वैर-भाव अकारण है। रात-दिन हमें कोसती रहकर, हमारी निंदा में समय गँवाकर तुम अपना जन्म व्यर्थ कर रही हो। तुम तो सयानी हो और मैं जड़ गँवार मूरख होकर भी तत्त्व की बात तुम्हें समझा रही हूँ।[२] इस प्रकार नाना पदों में मुरली गोपियों की बातों का, ईर्ष्या और रोषपूर्ण कथनों का उत्तर देती है। मुरली के इस प्रकार के निरुत्तर कर देने वाले और प्रबोध को जाग्रत करने वाले वचन सुनकर गोपियों में सद्भाव और बोध का उदय होता है। वे कहती हैं कि अब मुरली से द्वेष मत करो, उस पर क्रोध करना ठीक नहीं है। देखो न उसके मन में परिपूर्ण दैन्य भाव है, उसे हमसे कोई ईर्ष्या नहीं है। हमने तो समझा था कि यह परम गर्वीली है परंतु यह तो सबसे साधु है, फिर भला कृष्ण इस पर क्यों न कृपा करेंगे और यह पटरानी क्यों नहीं बनेगी ! इसने अपनी तपस्या के बल से कृष्ण को रिझा लिया है, हमारे शोर करने से क्या होता है ? कृष्ण तो बहुनायक हैं। उनकी अनंत प्रेयसियाँ हैं। यह भी आकर उनमें एक हो गई है। तुम भी अपना प्रेम-नेम पालन करो और कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करो।[३] इसे रोको मत, बुरा-भला भी मत कहो। अपने कानों से इसकी अमृतमय वाणी का रसपान करो। सुनती नहीं हो, मुरली में हरि राधा-राधा नाम का उच्चारण करते हैं। तुम समझती हो कि कृष्ण हमें भूल गए हैं, परंतु नहीं, वे मुरली में ही हमें स्मरण करते हैं और हमारे तथा मुरली के वैर-भाव को समाप्त कर हमें मुरली से मिलाना चाहते हैं।[४] तुम्हारी सारी आशंकाएँ, समस्त भय आदि मिथ्या हैं।

इस प्रकार 'मुरली' कृष्ण और गोपियों के वन्य-जीवन का एक विशिष्ट संदर्भ है। एक उल्लेखनीय प्रसंग है। इस प्रकरण का 'सूरसागर' में सम्यक् विस्तार है। यह मुरली वन्य-जीवन के सौंदर्य के फूल तो खिलाती ही है, गोपियों के प्रेमसागर में

१. सूरसागर, १६४८
२. सूरसागर, १६५२, १६५४
३. मुरली सौं अब प्रीत करौ री। सूरसागर, १६६२
४. मुरली स्याम बजावन दै री। सूरसागर, १६७५

भी तरंग-क्षोभ पैदा करती है। क्षुब्ध सागर की भाँति गोपियाँ हिल्लोलित हो उठती हैं। परंतु उनका सारा कोप-रोष व्यर्थ है। मूल वस्तु है साधना और तपस्या। इस साधना और तपस्या में मुरलिका गोपियों से आगे है। जड़ होकर भी उसने इस मर्म को समझ लिया है और गोपियाँ अपना करणीय छोड़कर अपने प्रेम के गर्व में पागल होकर एक श्रेष्ठतर प्रेमिका और तपस्विनी को बुरा-भला कहने लगती हैं। इसमें उनका प्रमाद है, विशुद्ध ईर्ष्या की दुष्प्रवृत्ति है। परंतु उनका यह सारा क्रोध, प्रमाद, रोष, क्षोभ शांत हो जाता है, बाँस की जड़ बाँसुरी द्वारा। उनमें बोधोदय होता है। उनमें प्रेम का भाव दृढ़तर हो जाता है। वे जिस मार्ग की पथिक हैं, उस पर और भी चल चुके हैं, और भी प्रौढ़ प्रेमीजन हैं, जिनसे उन्हें मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है, प्रेम के पथ पर चलने वालों के प्रेम में जो भी खोट या कमी हो, उसका दूर होना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की चित्त-शुद्धि का विधान ही मुरली-प्रसंग का मूल लक्ष्य है।

□ प्रो० श्रीचंद्र जैन

सूरसागर के पशु-पक्षी एवं पादप-पुष्प-लता

विश्व की समस्त संस्कृतियाँ एवं साहित्य पशु-पक्षियों के मधुर कलरव से निनादित है। यदि पादप-पुष्पों से सांस्कृतिक चेतना उल्लासमयी बनी हुई है तो पशु-पक्षियों की क्रीड़ाओं से उसमें अगाध आकर्षण समुत्पन्न हुआ है। यही प्रमुख कारण है कि साहित्य का माधुर्य पशु-पक्षियों से सप्राण बना है तथा पादप-पुष्पों की सुरभित हरितिमा से यह मधुर बनकर जन-जन का आकर्षण-केंद्र बना है।

संसार का कोई भी ऐसा काव्य नहीं है, जिसकी सहज मधुरिमा चतुष्पदों की मादक गति से द्विगुणित नहीं हुई हो। इसी प्रकार ये हरे-भरे वृक्ष, लताएँ और सौरभ-संपन्न सुमन कविता की प्राण-लहरी को अहर्निश अविरल गति से प्रमुदित करते रहते हैं। वैदिक साहित्य में इन सबकी अर्चना-वंदना की गई है एवं इन की उपयोगिता को ध्यान में रखकर महर्षियों ने इनकी प्रशस्ति में बहुत कुछ लिखा है।

प्रकृति-चित्रण के अनेक रूप हैं। काव्यकारों ने सामान्य रूप से प्राकृतिक सौंदर्य के प्रमुख केंद्र पशु-पक्षियों, वृक्ष-पुष्प-लतादि को निम्नस्थ रूपों में चित्रित किया है:[1] १. आलंबन रूप में, २. उद्दीपन रूप में, ३. अलंकार रूप में, ४. रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में, ५. मानवीकरण रूप में, ६. उपदेश-कथन के रूप में, ७. पृष्ठभूमि या वातावरण-निर्माण के लिए, ८. प्रतीक रूप में।

आलंकारिक रूप में ये पशु-पक्षी, वृक्ष, पुष्प, लता आदि विशद् रूप से चर्चित हुए हैं। कहीं-कहीं महाकवि सूरदास ने कवि-निर्दिष्ट परंपरा को अपनाया है और कहीं अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। साहचर्य-संबद्धता भक्तिकाल में प्रकृति-उपकरणों के चित्रण में अधिक परिलक्षित हुई है। कृष्णलीला का चित्रण करते

१. कविता में प्रकृति-चित्रण, डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल, पृ० १२०

हुए कवि के मानस-पटल पर गौ-चारण की रम्य स्थलियाँ बार-बार अंकित हो उठती हैं। इसी प्रकार मोर-मुकुट की छवि के अंकन में मयूर की सुखद आकृति अपने आप झूमने लगती है। भगवान् कृष्ण की लीला को लिखते या गाते समय सूर के प्रज्ञा-चक्षुओं से न कुंज ओझल हो पाते हैं, न कदंब की छैयाँ तिरोहित हो पाती है, और न बाँस के झुरमुट विलीन हो पाते हैं। कविवर सूर की अंतर्दृष्टि बड़ी व्यापक और गंभीर है। फलतः वृंदावन का हरा-भरा प्रत्येक स्थल सूर की भावानुभूति से विलग नहीं हो पाता है। यमुना-वर्णन के साथ तटों पर खड़े हुए वृक्ष और विटपों से लिपटी हुई बल्लरियाँ अपने आप सौंदर्य-बोध की सीमा अभिव्यक्त करने लगती हैं। आनंदातिरेक से जब कवि की वाणी विमुग्ध हो उठती है तब लता-कुंज में क्रीड़ा-रत विहंग अपनी सलोनी सत्ता से सूर की चिंतनशील मेधा को विविध रूपों में उल्लसित करने लगते हैं।

यहाँ सूरसागर में उल्लिखित कतिपय पशु-पक्षियों, वृक्ष-पुष्पों तथा लताओं की चर्चा की जा रही है, जो महाकवि के विशद् प्राकृतिक ज्ञान पर आधारित है :

१. सिंह : सिंह का पर्यायवाची केहरि शब्द है, जिसका बल विश्वविख्यात है। अवतारों के माध्यम से इस मृगराज का अधिक उल्लेख हुआ है। यथा :

(क) **निकसे खंभ-बीच तैं नरहरि, ताहि अभयपद दीन्हौ।**[1]

(ख) **मच्छ, कच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि।**
बामन, बहुरौ, परसुराम, पुनि राम रूप करि।[2]

(ग) **फटि तब खंभ भयौ द्वै फारि, निकसे हरि नरहरि-वपु धारि।**[3]

भगवान् नंद-नंदन को युद्धार्थ रथ से उतरते हुए देखकर महाकवि सूर ने उन्हें उत्प्रेक्षालंकार के माध्यम से सिंह बताया है—**मानौ सिंह सैल तैं निकस्यौ, महामत्त गज जानि।**[4] सिंह एवं खरगोश की लोक-कथा से जन-जीवन परिचित ही है। यहाँ केहरि की मूढ़ता एवं अभिमान-निमग्नता उल्लेख्य है :

(क) **जैसे केहरि उझकि कूप-जल, देखत अपनी प्रति।**[5]

(ख) **ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखिकै, आपुन कूप पर्‌यौ।**[6]

रूपकातिशयोक्ति में राधा के सुललित शरीर का रूपक बाग से बाँधा गया है। यहाँ सिंह उपमान से क्षीण कटि का संकेत हुआ है :

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।[7]

---

१. सूरसागर, १०४
२. सूरसागर, ३७६
३. सूरसागर, ४२१
४. सूरसागर, २७६
५ सूरसागर, ३००
६. सूरसागर, ३६६
७. सूरसागर, २७२८

कहीं-कहीं पर रूप-लावण्य को अधिक आकर्षक बताने के लिए उपमानों को भी सूर ने हीन बताया है। यहाँ कटि को देखकर बनराज (सिंह) लज्जित हो जाता है : **उर निरखि चकवाक बिथके, कटि निरखि बनराज।**[१] कानन में भ्रमण करते हुए सिंह की गर्जना बड़ी भयावह होती है, जिसे सुनकर वन के पशु भयातुर हो जाते हैं। इसी प्रसंग में केहरि का उल्लेख हुआ है : **जा बन केहरि-सब्द सुनाइ। ता बन तैं मृग जाहिं पराइ।**[२] सीता-हरण के विषाद से पीड़ित भगवान् राम केहरि-कटि को देखकर सीता की स्मृति से अधिक विह्वल हो जाते हैं—कटि केहरि कोकिल कल बानी, ससि मुख-प्रभा धरी।[३] अशोक वन में बंदिनी सीता रावण के कटु वचन सुनकर उसे धिक्कारती है और कहती है कि :

पापी जाउ जीभ गरि तेरी, अजुगुत बात बिचारी।
सिंह कौ भच्छ सृगाल न पावै, हौं समरथ की नारी।[४]

इस प्रकार सूरसागर में सिंह विविध रूपों में चर्चित हुआ है।

२. हाथी (गज) : यह पशु स्वभावतः जंगली है परंतु पालतू बनकर यही भयावह कानन-चारी बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्राचीनकाल में इसकी उपयोगिता युद्धों में विशेष थी। आज भी यह वैभवशालिता का प्रतीक माना जाता है। सूरसागर में इसका उल्लेख भी विभिन्न रूपों में हुआ है। गज-ग्राह का युद्ध पुराणों में वर्णित है। गजपति की करुण पुकार सुनकर भगवान् विष्णु ने इसका उद्धार किया था—**ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त, नाम लेत वाकौ दुख टार्‌यौ।** मन की सहज चंचलता को प्रकाशित करने एवं इसके पुनः विषय-वासना की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति को दिखाते हुए महाकवि सूर ने कहा है कि—**ज्यौं गयंद अन्हाइ सरिता बहुरि बहै सुभाइ।**[६] गज बलशाली होता हुआ भी विवेकशून्य होता है। स्फटिकशिला में वह अपनी छाया को देखकर दूसरा हाथी जानकर लड़ने को तैयार हो जाता है। सचमुच यह उसकी अज्ञानता ही है : **जैसे गज लखि फटिक सिला में दसननि जाइ अर्‌यौ।** मदमाती चाल के लिए गजगति उपमान के रूप में गृहीत है—**खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।**[७]

पौराणिक हाथियों में ऐरावत तथा दिशागज विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। कहा जाता है कि प्रमुख चार दिशाओं में विशाल गजराज हैं, जो इस धरती को अपने सुदृढ़ पैरों से दबाए हुए हैं :

---

१. सूरसागर, २३३३ २. सूरसागर, ४१५
३. सूरसागर, ५०७ ४. सूरसागर, ५३२
५. सूरसागर, १४ ६. सूरसागर, ४५
७. सूरसागर, १६६६

बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।

३. निम्नलिखित पंक्तियों में अनेक पशु चर्चित हुए हैं :

(क) **ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ।**

(ख) **ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन को चौहटै नचायौ।**

(ग) **खर कौं कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग।**

(घ) **भजन बिनु कूकर-सूकर जैसौ।**

(ङ) **सूरदास भगवंत भजन बिनु, मनो ऊँट-वृष-भैंसो।**

(च) **जैसे स्वान काँच-मंदिर में भ्रमि-भ्रमि भूकि मर्‌यौ।**

(छ) **ज्यौं सौरभ मृगनाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिर्‌यौ।**

महाकवि सूर ने इन उदाहरणों के द्वारा एक विशिष्ट उद्‌बोधन दिया है तथा पशुओं की अज्ञानता एवं जीवन-निस्सारता की ओर पर्याप्त संकेत किया है। इन पशुओं में कई वन्य हैं तथा अनेक पालतू भी हैं।

४. **गाय** : कृष्णलीला में गाय का अत्यधिक महत्त्व है। भगवान् ने गौचारण को अपनाकर एक ओर श्रम की महिमा को स्थापित किया है और दूसरी ओर गौ के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। यह एक पालतू पशु है, जो सर्वथा अवध्य है : इस पावन पशु का उल्लेख अनेक प्रसंगों में हुआ है। गाय हरि का अनुगमन छायावत् करती है :

बाललीला में :

दूरि खेलन जनि जाहु लला रे, मारैगी काहू की गैया।[१]

बालक्रीड़ा में :

अति अधिकार जनावत यातैं अधिक तुम्हारे गैयाँ।[२]

गौदोहन में :

सूर स्याम सौं कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु।[३]

गौचारण में :

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।[४]

विरह-वर्णन में :

गोपी, ग्वाल, गाइ, गौसुत सब, अतिहिं दीन बिचारे।[५]

इस प्रकार गौ की चर्चा सूरसागर में शताधिक बार हुई है।

सूरसागर में विविध पक्षियों का भी उल्लेख है, जिसमें विविध दृष्टिकोण

---

१. सूरसागर, ७७३ २. सूरसागर, ८८३

३. सूरसागर, १०१६ ४. सूरसागर, १०२६

५. सूरसागर, ४७१८

द्रष्टव्य हैं। कहीं प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण इनके माध्यम से हुआ है तो कहीं इन विहगों द्वारा किसी सत्य का प्रतिपादन है, कहीं आलंकारिक अंकन है तो कहीं इनका मानवीकरण भी हुआ है। प्रतीकों के रूप में स्वीकार कर इन नभचरों के माध्यम से कई आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सत्य भी प्रमाणित किए गए हैं। परिगणन शैली में कई पक्षी स्वयं परिगणित हो गए हैं। निम्नलिखित पद में मन को पक्षी मानकर तन-तरुवर की कल्पना की गई है :

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर कै सबै पात झरि जैहैं।[1]

चकई और सुवा आत्मा के प्रतीक बनकर एक दार्शनिक सत्य की ओर संकेत करते हैं :

(क) चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
(ख) सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै।[2]

ईश भजन के बिना मानव-जीवन, बग-बगुली और गीध-गीधनी की भाँति निष्फल है—आध्यात्मिक भावना को प्रदीप्त करने के संदर्भ में इन विहगों को चर्चित किया गया है :

भजन बिनु कूकर-सूकर जैसौ।
बग-बगुली अरु गीध-गीधिनी, आइ जनम लियौ तैसौ।[3]

मुरली के प्रभाव को अंकित करने के लिए पक्षियों को भी विमोहित बताया गया है—**खग मोहैं, मृग-जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छबि धरत।**[4] कृष्ण के अंतर्धान होने से व्यथित गोपिकाएँ एवं राधा मुरलीधर के विषय में मृगी, मधुप और मराल से भी पूछती हैं—**कहि धौं मृगी मया करि हम सौं, कहि धौं मधुप मराल।** कृष्ण के सौंदर्य के प्रति नेत्र उसी प्रकार वशीभूत हो गए हैं जिस प्रकार चकोर चंद्रमा की ओर एवं चातक स्वाति-बूंद के लिए लालायित रहता है।[5] उलूक को सूर्य का तेज प्रकाश अनजान-सा रहता है, इस सत्य के संदर्भ में यह विहग उल्लिखित हुआ है—**रवि को तेज उलूक न जानैं।** पावस में पपीहा का बोलना, मोर की मदभरी पुकार, कोयल की कुहकि-कुहकि एवं चकोर की मधुर ध्वनियाँ विरह को उद्दीप्त करती हैं :

(क) दादुर मोर पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए।
(ख) दादुर मोर चकोर मधुप पिक बोलत अमृत बानी।

---

१. सूरसागर, ८६
२. सूरसागर, ३४०
३. सूरसागर, ३५७
४. सूरसागर, १२३८
५. सूरसागर, २८६६

गोपियाँ कृष्ण से निरंतर संबद्ध हैं। इस सत्य को वे 'हरि हारिल की लकरी' कहकर निरूपित करती हैं। इसी प्रकार आँखों के उपमान के रूप में खंजन स्मरणीय है।[१]

काग लोकजीवन का विशेष परिचित पक्षी है। लोक-विश्वासों में भी यह अधिक समाया हुआ है। यह मान्यता है कि यदि कौआ प्रातःकाल घर में आकर बैठता है और काँव-काँव करके उड़ जाता है तो किसी प्रेमी अथवा संबंधी का आगमन निश्चित है। विरह-पीड़िता युवती तथा स्नेह-परिपूर्णा जननी इस लोक-विश्वास को अधिक महत्त्व देती है। निम्नस्थ पंक्तियों में इसी मान्यता के माध्यम से यह पक्षी चर्चित हुआ है :

तौ तू उड़ि न जाइ रे काग।
जौ गुपाल गोकुल कौं आवैं, तौ ह्वै है बड़ भाग।
दधि ओदन भरि दोनौ दैहौं, अरु अंचल कौ पाग।[२]

बकासुर-बध में बगुले का उल्लेख हुआ है और भगवान् कष्ण की अजेयता भी सिद्ध हुई है :

मनहिं मन तब कृष्न भाष्यौ, यह बकासुर अंग।
चौंच फारि बिदारि डारौं, पलक मैं करौं भंग।[३]

वृक्ष-पुष्प-लतादि की चर्चा :

अनेक वृक्ष-पुष्प-लतादि से सूरसागर की सुरभि विशेषतः मन-मोहक बनी है। इनका उल्लेख पशु-पक्षियों की ही भाँति विविध रूपों एवं प्रसंगों में हुआ है।

श्री कृष्ण के अंतर्धान होने से विह्वल राधा एवं गोपिकाएँ नंद-नंदन की खोज करती हैं और कई वृक्षों, पुष्पों, पादपों आदि से इन मुरलीधर का पता पूछती हैं :

(क) **कहि धौंरी बन-बेलि कहूँ तैं, देखे हैं नँद-नंदन।**
बूझहु धौं मालती कहूँ तैं, पाए हैं तन-चंदन।
कहि धौं कुंद, कदंब, बकुल, बट, चंपक, ताल, तमाल।
कहि धौं कमल कहाँ कमलापति, सुंदर नैन बिसाल।
कहि धौं री कुमुदिनी, कदली कछु, कहि बदरी, करबीर।
कहि तुलसी तुम सब जानति हौ, कहँ घनस्याम सरीर।[४]

(ख) **चंपक, जाहि, गुलाब, बकुल प्रति पूछति कहुँ देखे नँद-नंदन।**[५]

---

१. सूरसागर, ४१९० २. सूरसागर, ४०७४ ३. सूरसागर, १०४५
४. सूरसागर, १७०९ ५. सूरसागर, १७११

(ग) अति व्याकुल भईं गोपिका, ढूँढ़त गिरिधारी।
बूझति हैं बन बेलिकौं, देखे बनवारी।
जाही, जूही, सेवती, करना, कनियारी।
बेलि, चमेली, मालती, बूझति द्रुमडारी।
कूजा, मरुआ कुंद सौं, कहैं गोद पसारी।
बकुल, बहुलि बट, कदम, पै ठाढ़ीं ब्रजनारी।[1]

त्रिभंगीलाल (कृष्ण) को अनेक स्थलों पर तमाल तरु के नीचे खड़ा हुआ दिखाया गया है :

तरु तमाल तरे त्रिभंगी कान्ह कुंवर ठाढे हैं साँवरे सुवरन।[2]

बजती हुई मुरली के मधुर स्वरों से विश्व विमोहित होता है और बेली-द्रुम चपल होने लगते हैं। विटपों के पात (पत्ते) भी चंचल होकर स्वयं को प्रभावित बताते हैं :

बेली द्रुम चपल भए। सुनि पल्लव प्रगटि नए।
सुनि बिटप चंचल पात। अति निकट कौं अकुलात।[3]

प्रचंड दावानल से भयभीत ब्रज के निवासियों की दयनीय स्थिति के प्रदर्शन के साथ तरु, लता आदि की पीड़ित दशा को भी दिखाया गया है।[4]

महाकवि सूर रचित रामकथा में अशोक वृक्ष का उल्लेख हुआ है :

लंका पौरि-पौरि मैं ढूँढी, अरु बन उपवन जाइ।
तरु अशोक-तर देखी जानकी, तब हौं रह्यो लुकाइ।[5]

कृष्ण-विरह-पीड़िता गोपिकाएँ अपने आप को साधारण लता न बनाकर असाधारण बेलि के रूप में अभिहित करती हैं। यहाँ लता (बेलि) का एक मनोरम रूपक चित्रित किया गया है :

मधुकर हम न होहिं वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग, करन कुसुम-रस केलि।
बारे तैं बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि।
ये बेली बिरहीं बृंदावन, उरझी-स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल।
जोग समीर धीर नहिं डोलति रूप डार दृढ़ लागीं।
सूर पराग न तजति हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागीं।[6]

---

१. सूरसागर, १७१३
२. सूरसागर, १२३२
३. सूरसागर, १४४१
४. सूरसागर, १२१२
५. सूरसागर, ५४८
६. सूरसागर, ४१२६

इस सुंदर रूपक में लता के साथ पुष्प एवं तमाल वृक्ष भी उल्लिखित हैं। आकर्षक रूप-वर्णन में भी उपमान के रूप में कई सुमन-वृक्षादि का उल्लेख हुआ है :

(क) नासिका चंपक कली कौं अली भाए ।[१]

(ख) चंपक कनक कलेवर की दुति ससि न बदन समता री ।

(ग) अधर बिंब-बंधूक-निरादर दसन कुंद-अनुहारी ।[२]

पूजा-अर्चना में भी पुष्पों का उल्लेख हुआ है तथा समादृत करने एवं शरीर-अलंकारों के रूप में भी ये सुमन चर्चित हुए हैं।

भगवान् का जन्म होने पर गौ-दान वस्त्राभूषणादि के दान के साथ-साथ पुष्पों की मालाएँ भी आदर के लिए समर्पित की गई थीं :

आज नंद के द्वारे भीर ।
एकनि कौं गौ-दान समर्पत, एकनि कौं पहिरावत चीर ।
एकनि कौं पुहुपनि की माला, एकनि कौं चंदन घसि नीर ।[३]

उल्लसित देवता भी पुष्पों की गगन से वर्षा करते हैं। श्री कृष्ण-विवाहोत्सव पर इसी प्रकार की पुष्पवर्षा का उल्लेख हुआ है :

बरषि सुरपति कुसुम अंजुलि, निरखि त्रिदस आकास ।[४]

कृष्ण-विरह में सुखद कुंज विषम-ज्वाल की भाँति प्रतीत होती हैं। इनमें (कुंजों में) विविध लताएँ एवं पुष्प भी समाहित हैं :

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं ।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ।[५]

इसी प्रकार 'सलोने स्याम' के बिना 'फूलनि फूली डार' भी फूलझड़ी-सी लगती है। अतः विरह-पीड़िता गोपिका फूल चुनने के लिए वन में नहीं जाती है, क्योंकि उसे अब ये सलौने फूल त्रिशूल-से लगते हैं :

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे ।
वे जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार ।
हरि बिनु फूलझरी सी लागत, झरि झरि परत अँगार ।
फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री, हरि बिनु कैसे फूल ।
सुनि री सखी मोहिं राम दुहाई, लागत फूल त्रिसूल ।[६]

निस्संदेह सूरसागर की गहनता में रोचकता इन प्राकृतिक उपकरणों के सहयोग से अधिक बढ़ी है।

---

१. सूरसागर, १६६४ २. सूरसागर, १८१५
३. सूरसागर, ६४३ ४. सूरसागर, १६८६
५. सूरसागर, ४६८६ ६. सूरसागर, ३८६३

☐ डा० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ

सूरसागर पर पुराणों का प्रभाव

पुराणों या महापुराणों की संख्या १८ मानी जाती है। ये कृष्ण द्वैपायन या व्यास-रचित अथवा संपादित माने जाते हैं। व्यास-रचित पुराणों की संख्या २० भी मानी जाती है। पुराणों में अठारह पुराणों का उल्लेख है पर क्रम भिन्न-भिन्न है। अधिकांश पुराणों में निम्नलिखित क्रम मिलता है :

(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) शिव या वायु (५) भागवत (६) नारदीय (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्यत (१०) ब्रह्म वैवर्त (११) लिंग (१२) वाराह (१३) स्कंद (१४) वामन (१५) कूर्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड़ (१८) ब्रह्मांड।

उपर्युक्त पुराणों में से ब्रह्मपुराण (अध्याय ७२ से १०३ तक), विष्णु पुराण (चौथे अंश के १५-वें अध्याय तथा पाँचवें अंश में), पद्मपुराण (पातालखंड तथा उत्तरखंड), शिवपुराण (रुद्र संहिता के ५४-वें अध्याय, शतरुद्र संहिता के २९, ३७, ४१-वें अध्याय तथा उमासंहिता के प्रथम तीन अध्याय), वायुपुराण (९६ तथा ९७ अध्याय), अग्निपुराण (अध्याय १२), ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्मखंड, कृष्ण जन्मखंड), ब्रह्मांड पुराण (अध्याय २०), देवी-भागवत पुराण (चौथा स्कंध), हरिवंश पुराण (अध्याय ३५), वामन पुराण (केशी, मुर तथा कालनेमि का वध), कूर्म पुराण (अध्याय २४, २५ तथा २६), गरुड़ पुराण (आचार कांड, अध्याय १४४) तथा भागवत पुराण में कृष्णचरित का उल्लेख मिलता है। 'सूरसागर' में विशेष रूप से भागवत पुराण की कथा को आधार बनाया गया है; मुख्य रूप से भागवत के दशम् स्कंध में वर्णित कृष्ण-चरित्र को। 'सूरसागर' में कृष्ण की बाललीला और यौवन लीला का ही चित्रण है। इसको 'भागवत्' का अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। 'भागवत' में भक्ति की प्रधानता है जबकि 'सूरसागर' में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण की लीला

१. पद्म पुराण, उत्तर कांड, अ० २६३

चित्रित की गई है। राधा और कृष्ण की बाललीलाएँ तथा भ्रमरगीत सूर की मौलिकता है। कुछ प्राचीन कथा-प्रसंगों का वर्णन संक्षेप में और मार्मिक प्रसंगों का वर्णन विस्तार से भी किया गया है। 'भागवत् पुराण' का अंधानुकरण सूर ने नहीं किया है।

कृष्णावतार का वर्णन ब्रह्मपुराण (अध्याय १८२-१८४), पद्मपुराण (अ० २४५-२५२), विष्णुपुराण (५/१-४), वायुपुराण (अ० ९६), भागवतपुराण (१०/२-५), देवीभागवतपुराण (४/२३), अग्निपुराण (अ० १२), ब्रह्मवैवर्तपुराण (कृष्ण जन्मखंड अ० ७०), और लिंगपुराण (अ० १९५) में मिलता है। 'पद्म पुराण' और 'विष्णुपुराण' में उल्लेख है कि कंस का अत्याचार जब बहुत बढ़ गया तब संत्रस्त होकर पृथ्वी विष्णु के पास पहुँची और कंस को मारने के लिए उनसे कृष्णावतार लेने को कहा। विष्णु ने पृथ्वी को ढाढस देकर विदा किया और देवकी के आठवें गर्भ से अवतरित होने का आश्वासन दिया। 'पद्मपुराण' में पृथ्वी पहले ब्रह्मा के समीप गयी है, फिर ब्रह्मा पृथ्वी तथा अन्य देवताओं को लेकर विष्णु के पास गए हैं। 'विष्णुपुराण' में पृथ्वी सीधे विष्णु के पास गयी है।

'वायु पुराण' में कृष्ण के प्रकट होने का कारण निम्नलिखित दिया गया है :

अचरत् स महीं देवः प्रविष्टो मानुषी तनुम्।
मोहयन् सर्व भूतानि योगात्मा योगमायया।। २३१।।
नष्टे धर्मे तदा जज्ञे विष्णुर्वृष्णि कुले स्वयम्।
कर्तु धर्म व्यवस्थानमसुराणां प्रणशनम्।। २३२।।

'सूरसागर' में कृष्ण के जन्म के संबंध में 'भागवत' के अनुसार ही वर्णन किया गया है। पृथ्वी गौ का रूप धारण कर ब्रह्मा जी के पास जाती है और ब्रह्मा आदि भगवान् विष्णु की स्तुति करते हैं, तब विष्णु उन्हें सांत्वना देते हुए कहते हैं—'मैं शीघ्र ही असुरों को मारने के लिए अवतार लूँगा' :

धेनु रूप धरि पुहुमि पुकारी सिव-विरंचि कै द्वारा।
सब मिलि गए जहाँ पुरुषोत्तम, जिहिं गति अगम अपारा।
छीर-समुद्र-मध्य तै यौं हरि, दीरघ बचन उचारा।
उधरौं धरनि, असुर-कुल मारौं, धरि नर-तन-अवतारा।[1]

कृष्णजन्म-प्रसंग से संबंधित सूर का निम्नलिखित पद 'भागवतपुराण' का अनुवाद प्रतीत होता है :

आनंदै आनंद बढ़्यौ अति।
देवनि दिवि दुंदभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादवपति।

---

१. सूरसागर, ६२२

विद्याधर-किन्नर कलोल मन उपजावत मिलि कंठ अमित गति ।
गावत गुन गंधर्व पुलिक तन, नाचतिं सब सुर-नारि रसिक अति ।
बरषत सुमन सुदेस सूर सुर, जय-जयकार करत, मानत रति ।
सिव-विरंचि, इंद्रादि अमर मुनि, फूले सुख न समात मुदित मति ।[१]

'सूरसागर का कृष्ण-जन्मोत्सव से संबंधित निम्नलिखित पद भी 'भागवत' से प्रभावित परिलक्षित होता है :

ब्रज भयौ महर कैं पूत, जब यह बात सुनी ।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक गुनी ।
अति पूरन पूरे पुन्य, रोपी सुधिर थुनी ।
ग्रह-लगन-नषत पल सोधि, कीन्हीं बेद-धुनी ।
सुनि धाई सब ब्रजनारि, सहज सिंगार किये ।[२]

तृणावर्त-वध का उल्लेख हमें पद्मपुराण (उत्तर २५५/८५-८६), भागवतपुराण (१०/७/१८-२३), देवीभागवतपुराण, (४/२४) और ब्रह्मवैवर्त पुराण (अ० ११) में मिलता है। सूरदास का तृणावर्तवध-वर्णन श्रीमद्‌भागवतपुराण से बहुत साम्य रखता है।[३]

पूतना-वध का उल्लेख ब्रह्मपुराण (१८४/१९०), पद्मपुराण (उत्तर खंड २४५/७२-७७), विष्णुपुराण (५/५), भागवतपुराण (१०/६/१०), देवी भागवत पुराण (४/२४), अग्नि पुराण (१२/१६-२७) तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण, (कृष्ण जन्म खंड अ० १०) में मिलता है। हरिवंशपुराण के अनुसार पूतना कंस की धात्री है। सूर ने उसे कंस के परिवार से संबंधित बतलाया है। पूतना ने मोहिनी रूप धरकर, अद्‌भुत और मनोहर शृंगार कर, कुंचों पर विष लगाया और कंस की आज्ञा से श्रीकृष्ण को मारने के लिए चल दी।[४] जब पूतना यशोदा के पास पहुँची तो यशोदा उसका मुख देखकर विचार करने लगीं कि यह किसकी बहु मेरे यहाँ आई है? यशोदा ने उसे बैठने के लिए पीढ़ा दिया और कुशल समाचार पूछे। कृष्ण को पालने में लिटा कर कार्यवश चली गईं। पूतना ने श्रीकृष्ण को गोद में उठा लिया और प्रसन्न होकर अपना विषाक्त स्तन कृष्ण के मुख में दिया। उन्होंने दूध पीने के साथ ही उसके प्राण भी खींच लिए।[५]

---

१. सूरसागर, ६२४; द्रष्टव्य, श्रीमद्‌भागवत पुराण १०/३/५६
२. सूरसागर, ६२४; द्रष्टव्य, श्रीमद्‌भागवत १०/५/९-११
३. सूरसागर, ६६६
४. सूरसागर, ६६८
५. सूरसागर, ६६९

'हरिवंशपुराण'[1] में कंस-संहार का वर्णन मिलता है। कृष्ण और बलराम जब कुवलयापीड़ हाथी और चाणूर तथा मुष्टिक आदि आंध्रप्रदेशीय मल्लों को मारते हुए कंस के समीप पहुँचे, तब कृष्ण को देखते ही कंस के चेहरे पर पसीने की बूँदें झलक आयीं।[2] उसने नंद, गोप और बसुदेव को अपशब्द कहने आरंभ कर दिए। बसुदेव तथा नंद पर आक्षेप होते ही कृष्ण कुपित हो उठे। उन्होंने लपककर कंस के केश पकड़ लिए और उसे मंच से गिराकर रणभूमि में घसीटना आरंभ किया। इतना घसीटा कि उसका शरीर निर्जीव हो गया।[3] कंस के वध के पश्चात् कृष्ण और बलराम अपने माता-पिता के पास पहुँचे और उनके चरणों में प्रणाम किया। 'ब्रह्मपुराण' और 'पद्मपुराण'[5] में कंस-वध का उल्लेख कृष्ण-चरित्र-वर्णन के प्रसंग में किया गया है और उनकी घटनाओं में पूर्ण साम्य है। 'अग्निपुराण'[6] में कृष्ण ने कंस का वध किया है और उसके पिता उग्रसेन को राज्य देने का उल्लेख मिलता है।

'विष्णुपुराण'[7] में धनुषयज्ञ के धनुष को तोड़कर कुवलयापीड़ हाथी को मारकर चाणूर एवं मुष्ठिक मल्लों को मारकर कृष्ण सीधे कंस पर टूट पड़ते हैं। उन्होंने कंस के केशों को पकड़ लिया और उसे खींचकर पृथ्वी पर दे मारा। कृष्ण के कंस पर गिरते ही उसने प्राण त्याग दिए। कंस के मृत शरीर को केश पकड़कर रंगभूमि में घसीटा। कंस के भाई सुमाली ने आक्रमण किया, कृष्ण ने उसे भी मार डाला। कृष्ण ने अपने माता-पिता के चरण स्पर्श किए।

'श्रीमद्भागवत'[8] में जब कृष्ण-बलराम ने चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल इनमें पाँचों पहलवानों को मार डाला, तब कंस भयभीत होने के साथ दोनों भाइयों से चिढ़ गया। कृष्ण को सामने पाते ही उस पर कृपाण का वार किया किंतु कृष्ण ने झपट कर उसे पकड़ लिया, उसे मंच से गिरा दिया, उस पर कूद पड़े। कूदते ही कंस मर गया। कंश के शव को कृष्ण ने रंगभूमि में खूब घसीटा।

'देवीभागवत पुराण'[9] में जब कृष्ण गोकुल में पूतना, केशी आदि का वध कर देते हैं तब कंस धनुष-यज्ञ का आयोजन करता है और उसे देखने के बहाने

---

१. हरिवंश पुराण (विष्णु पर्व) ३०/६३-८८
२. वही ३०/६३-६४
३. वही ३०/७१-८८
४. ब्रह्मपुराण अ० १६३
५. पद्मपुराण (उत्तर खंड) २४५/३७६-३८०
६. अग्निपुराण १२/२६
७. विष्णुपुराण ५/२०/७६-८७
८. भगवतपुराग १०/४४/३०-३८
९. देवीभागवत पुराण ४/२०/६३-६५

अक्रूर से उन्हें मथुरा बुलाता है। वहाँ कृष्ण कंस के महाबली मल्लों—चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल आदि का वध कर देते हैं। कंस को केश पकड़कर खींच लेते हैं और मार डालते हैं। माता-पिता को बंदीगृह से मुक्त करते हैं और उग्रसेन को राज्य दे देते हैं।[१]

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण मथुरा पहुँचते हैं और कंस को यह ज्ञात होता है कि उन्होंने गयंद, मुष्टिक, चाणूर मल्ल आदि को मार दिया है तब 'देखि पराक्रम कंस' तब जिय बिलखाने' होता है। कृष्ण कंस के पास पहुँच जाते हैं। कंस के बाल पकड़कर खींचते हैं, घसीटते हैं, लात मारने से मुकुट सिर से गिर जाता है।[२]

कंस के मरने पर आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई, सिद्ध तथा गंधर्वों ने जय-जयकार किया। जब श्रीकृष्ण महल के द्वार पर पहुँचे, वहाँ पर उग्रसेन को श्रीकृष्ण के आने का पता लगता है। अपराधों के लिए क्षमा याचना करने पर कृष्ण ने उन्हें हृदय से लगा लिया।[३] तत्पश्चात् वे उग्रसेन को राज्य देते हैं और माता-पिता को बंदीगृह से मुक्त करते हैं।[४]

कृष्ण के मथुरा से द्वारका चले जाने के पश्चात् राधा-कृष्ण-मिलन का उल्लेख अनेक पुराणों में मिलता है। 'हरिवंशपुराण'[५] में उल्लेख है कि गोवर्धन पर्वत के पास युद्ध में हंस को कृष्ण ने मार दिया और उसके भाई डिबक ने आत्म-हत्या की थी। युद्ध के पश्चात् कृष्ण और बलराम गोवर्धन पर्वत पर एक वृक्ष की छाया में लेटे हुए अपने बाल्यजीवन की स्मृतियों में खोए हुए थे कि उनके आगमन का समाचार पाकर उनसे भेंट करने के लिए गोप-गोपियों सहित नंद-यशोदा आए। वे मक्खन, दही, खीर, खिचड़ी, मोरपंख के बाजूबंद आदि भेंट लेकर उनके पास गए। कृष्ण ने गोप-गोपियों, गाय-बछड़ों, गोरस-गोचर आदि सबका समाचार ऐसे पूछा मानो उनको छोड़े अधिक समय नहीं बीता हो। यहाँ जो मिलन हुआ है उसमें राधा नाम का उल्लेख नहीं मिलता है।

भागवतपुराण[६] में कृष्ण-बलराम का पुनः गोप-गोपियों से मिलने का उल्लेख है। सर्वग्रास सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र-स्थित समंतपंचक तीर्थ में सभी एकत्र हुए। श्रीकृष्ण वसुदेव, उग्रसेन, देवकी, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि परिजनों के साथ द्वारका से उस तीर्थ में गए। वहाँ उनसे मिलने गोप-गोपियाँ तथा नंद पहुँचे। नंद

---

१. देवीभागवत पुराण ४/२०/६३-६५
२. सूरसागर, ३६९६
३. सूरसागर, ३७०३
४. सूरसागर, ३७०५
५. हरिवंश पुराण (भविष्य पर्व) ११५-१३०
६. भागवतपुराण १०/८२/३२-४५

वसुदेव मिले, देवकी और रोहिणी ने यशोदा के प्रति आभार प्रकट किया, क्योंकि उसने कृष्ण का अपने पुत्र के समान पालन-पोषण किया था। कृष्ण एकांत में गोपियों के पास गये, उनको हृदय से लगाया, उनकी कुशल-क्षेम पूछी। रसपूर्ण बातों से गोपियों के चित्त को प्रसन्न किया। अक्रूर द्वारा मथुरा ले जाए जाने के बाद कृष्ण का गोकुल के गोप-गोपियों से पुनर्मिलन का यही एक वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण में मिलता है। किंतु कृष्ण का पुनर्दर्शन प्राप्त करने वाली गोपियों में राधा के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है।

'सूरसागर' में राधा के मिलन का उल्लेख मिलता है। श्रीकृष्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र आते हैं और उनके साथ उनके माता-पिता और 'निज नारि' (रुकिमणी) भी हैं। कुरुक्षेत्र में आकर एक दूत भेजकर नंद, यसोदा और गोपी तथा ग्वालों को बुला लेते हैं।[१] एक गोपी 'सखी राधिका भोली' से कृष्ण-मिलन की बात कहती है।

रुक्मिणी श्रीकृष्ण से पूछती है :

हरि सौ बूझति रुकमिनि इनमें को भूषभानु किसोरी।
बारक हमें दिखावहु अपने बालापन की जोरी।[२]

राधा और रुक्मिणी के मिलन का वर्णन सूर ने निम्न प्रकार से किया है :

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी।
जैसें बहुत दिननि की बिछुरी, एक बाप की बेटी।
एक सुभाव एक वय दोऊ, दोउ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान, मन एक दुहुनि की, तन करि दीसति न्यारी।[३]

और अंत में राधा-कृष्ण का मिलन होता है :

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।[४]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में रास-लीला का जो वर्णन हुआ है, उसमें कृष्ण की मुरली के मादक शब्द को सुनकर कई हजार गोपियों का कृष्ण के पास आने का उल्लेख है।[५] हरिवंश पुराण में रास-लीला का वर्णन मिलता है।[६] विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है कि कृष्ण को गोपियाँ सतृष्ण नेत्रों से टकटकी लगाकर देखती हैं।[७]

---

१. सूरसागर, ४८६३
२. सरसागर, ४६०३
३. सूरसागर, ४६०६
४. सूरसागर, ४६१०
५. ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्म खंड) अ० २८-२६
६. हरिवंश पुराण २०/२४-३५
७. विष्णुपुराण, १३/२४-६०

सूर की गोपियाँ रास प्रारंभ होने से पहले जब मुरली बजती है तब अपने समस्त गृह-कार्यों को छोड़कर, मर्यादाओं को तोड़कर, विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी यमुना तट पर पहुँच जाती हैं।[१] मुरली की ध्वनि को सुनकर गाएँ चरना छोड़ देती हैं, बछड़े दूध नहीं पीते, शिव की समाधि भंग हो जाती है। खग-मृग, सुर-नर-मुनि सब पर जिसका अधिकार है उस मुरली की ध्वनि सुनकर गोपियाँ कुल लज्जा को त्याग कर कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं। सूर कहते हैं :

राधिका खन बन भवन सुख देखि के अधर धरि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप-कन्यान के सबन के स्रवन वह धुनि सुनाई।

जब गोपियाँ कृष्ण के पास आ जाती हैं तब कृष्ण उनसे कहते हैं 'निशीथकाल में अपने पतियों को छोड़कर तुम यहाँ कैसे आईं ? आर्य मर्यादा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। घर जाकर पति की सेवा करो। मर्यादा का पालन करो।'[२]

रास प्रारंभ हुआ। शरद्कालीन स्वच्छ आकाश, पूर्ण चंद्र का प्रकाश, शीतल मंद सुगंधित वायु और यमुना का तट है। राधा और कृष्ण बीच में हैं। चारों ओर गोपियाँ हैं :

मानो माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज भामिनि।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भईं गुन ग्रामिनि।
रूप निधान स्याम सुंदर घन, आनँद मन बिस्रामिनि।
खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ भेद गज गामिनि।
को गति गने सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यौ कामिनि।[३]

रास के बीच में राधा-कृष्ण का विवाह सूर ने कराया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिए राधा व्रत रखती है। यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनती है। कुंज मंडप का कार्य करते हैं। गोपिकाओं को मुरली आमंत्रित करती है, भाँवरे पड़ती हैं और वहीं धूम-धाम के साथ विवाह संपन्न होता है।[४] विवाह होने के पश्चात् राधा को गर्व हुआ। कृष्ण अंतर्धान हो गए। कृष्ण को न पाकर राधा बिलखती हुई एक बृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़ीं।[५] गोपियों को लता, वृक्ष कदंब, कुंज आदि ने कृष्ण के संबंध में नहीं बताया। अंत में कृष्ण आ जाते हैं और रास-लीला फिर चलने लगती है :

---

१. सूरसागर, १६१८, १२७७, १६०७, १६८५   २. सूरसागर, १६३४
३. सूरसागर, १६६६   ४. सूरसागर, १६८९-९०   ५. सूरसागर, १७१५

बहुरि स्याम सुख-रास कियौ।
भुज-भुज जोरि जुरीं ब्रजबाला, वैसेई रस उमंगि हियौ।[1]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में उद्धव के ब्रज-गमन और वहाँ कृष्ण के प्रति राधा और गोपियों के भक्तिभाव को देखकर प्रभावित होने का वर्णन आया है। उद्धव के वृंदावन में पहुँचने तक नंद मथुरा से लौटे नहीं है। उद्धव राधा से कहते हैं कि कृष्ण, बलराम जी और नंद जी सहित शीघ्र ही यहाँ आएँगे। प्रिय का यह संदेश पाकर राधा उद्धव को अपनी रत्नजटित अँगूठी दे देती है। राधा मूर्छित हो जाती है और चैतन्य होने पर कृष्ण को मथुरा से लाने को कहती है। जब उद्धव वृंदावन से मथुरा लौटकर कृष्ण के पास अपनी ब्रज-यात्रा का समाचार सुनाते हैं तब भी यही कहते हैं कि हे कृष्ण, राधा की आप में अनन्य भक्ति है, उसको छोड़ना उचित नहीं। मैंने राधा से कह दिया है कि कृष्ण तुम्हारे पास शीघ्र ही आएँगे। कृष्ण रात को स्वप्न में गोकुल जाते हैं और राधा तथा ब्रजवासियों को प्रसन्न कर पुनः मथुरा आ जाते हैं।[2]

श्रीमद्भागवत पुराण में कृष्ण-संदेश लेकर उनके सखा और मंत्री उद्धव के गोकुल-आगमन का उल्लेख मिलता है। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर नंदगाँव आते हैं, नंद उनका सत्कार करते हैं। गोपियों के प्रेमातिरेक से उद्धव जी प्रभावित हुए। उद्धव के समझाने से गोपियों की विरह-व्यथा कम हो गयी किंतु वे कृष्ण को भूली नहीं। उद्धव जी मथुरा लौट आए और ब्रजवासियों में और विशेषतया गोपियों में उन्होंने प्रेममयी भक्ति का जो उद्रेक देखा था, उसका वर्णन श्रीकृष्ण से किया।[3]

सूरसागर में कृष्ण गोपियों को योग का संदेश देने के लिए उद्धव को भेजते हैं, उद्धव को 'पूरन ब्रह्म अकल अविनासी, ताके तुम हो ज्ञाता' कहकर कृष्ण ब्रज को भेजते हैं और कृष्ण कहते हैं :

मो बिन, बिरह भरीं ब्रजबाला, जाइ सुनावहु जोग।
प्रेम मिटाइ ज्ञान परबोधहु, तुम हौ पूरन ज्ञानी।[4]

उद्धव जब ब्रज में पहुँचते हैं तो गोपियाँ समझती हैं कि कृष्ण आ गए। जब यह पता चलता है कि श्रीकृष्ण नहीं हैं तब सब ब्रजबालाएँ दुखी हो जाती हैं। नंद उनका स्वागत करते हैं। उद्धव गोपियों को कृष्ण का संदेश देते हैं।[5]

१. सूरसागर, १७५०
२. ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्म खण्ड) अ० ९१-९८
३. भागवतपुराण १०/४६-४७
४. सूरसागर, ४०४३
५. सूरसागर, ४१२०

जब उद्धव गोपियों को योग और निर्गुण का संदेश देते हैं, तब गोपियाँ उन पर व्यंग्य करती हैं और अनेक तर्क देती हैं, उनके निर्गुण के संदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उद्धव को अनेक प्रकार के अपशब्दों को सुनना पड़ता है :

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
मूरी के पातनि के बदलैं, को मुक्ताहल दैहै।
यह ब्यौपार तुम्हारौ ऊधौ, ऐसैं ही धर्‌यौ रैहे।[1]

गोपियों की भक्ति देखकर उद्धव भी प्रभावित हो गए और कहने लगे

आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ।
जो मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ।
अति अज्ञान कछु कहत न आवै, दूत भयौ हरि कैरौ।
निज जन जानि मानि जतननि तुम, कीन्हौ नेह घनेरौ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ।[2]

उद्धव से श्रीकृष्ण पूछते हैं तो पता चलता है कि उद्धव योग के संदेश देने के बदले स्वयं ही गोपियों के ज्ञान से प्रभावित हो गए हैं।[3]

कृष्ण द्वारा सुदामा का दारिद्रय दूर करने तथा सुदामा का द्वारकापुरी से लौटने पर अपने घर को न पहचानने का उल्लेख हरिवंशपुराण, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, वायुपुराण आदि में नहीं मिलता है। श्रीमद्‌भागवतपुराण[4] में उल्लेख मिलता है।

सूरसागर में सुदामा के दारिद्रय का वर्णन मिलता है। सुदामा भिक्षा माँगकर गृहस्थी का भरण-पोषण करते थे। उनकी पत्नी सुशीला थी, जो कि पतिव्रता तथा आज्ञाकारिणी थी। सुशीला ने सुदामा को श्रीकृष्ण के पास द्वारका जाने को अनेक बार कहा, जिससे उनकी गरीबी समाप्त हो जाय। सुदामा द्वारका पहुँचते हैं तो श्रीकृष्ण उन्हें अपने सिंहासन पर बैठाकर स्वागत करते हैं और पूछते हैं कि भाभी ने खाने को क्या भेजा है, और :

फेंट ऊपर तैं अंजुल तंदुल, बल करि हरि जू खोले।
द्वै मूठी तंदुल मुख मेले, बहुरौ हाथ पसार्‌यौ।
त्रिभुवन दै करि कह्यौ रुकमिनी, अपनौ हाथ निवार्‌यौ।[5]

श्रीकृष्ण और सुदामा अपने बचपन की बातें स्मरण करते हैं, गुरु पत्नी के आदेश से लकड़ी लेने जाने वाली बात भी करते हैं। विदा करते समय सुदामा को

१. सूरसागर, ४२८२
२. सूरसागर, ४६९७
३. सूरसागर, ४७५६
४. श्रीमद्‌भागवतपुराण
५. सूरसागर, ४८६३

श्रीकृष्ण कुछ देते नहीं हैं, सुदामा मार्ग में सोचते जाते हैं कि कुछ दिया नहीं है, पत्नी को जाकर क्या कहूँगा। परंतु अपनी छोटी सी मड़ैया के स्थान पर महल देखकर डर जाते हैं और सोचने लगते हैं कि कहीं द्वारका वापस तो नहीं आ गया हूँ। अपनी पत्नी से श्रीकृष्ण के मिलने का वर्णन निम्न प्रकार करते हैं :

आपु हँसत दौरि मिले, उर तें नहिं टारे।
छीन अंग जीर्न बसन, दीन मुख निहारे।
मम तन रज पर्थाहि लगी, पीत पट सु झारे।
सुखद सेज आसन दै, स्वहथ पग पखारे।[1]

विष्णुपुराण में विष्णु को ही परब्रह्म माना गया है और श्रीकृष्ण उन्हीं परब्रह्म के अवतार हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं, वे ही अपने भक्तों को संसार-सागर से तारने वाले हैं। वे ही स्वयं जगत् रूप भी हैं। वास्तव में, श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं।

एवमेष जगत्स्रष्टा जगत्पिता तथा जगत।
जगदभक्षयिता देवः समस्तस्य जनार्दनः।[2]

ब्रह्मवैवेर्त पुराण[3] में ब्रह्मा जी श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं, आप ही जगत् के स्वामी हैं, सुख-दुःख और संसार के कारण हैं। शंकर भी आपसे पार नहीं पा सकते। जो कुछ भी संसार में है, सब आपका ही अंश है। आपसे परे कुछ भी नहीं है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। भगवान् उद्धव से कहते हैं कि मैं सबका उपादान कारण होने से सबकी आतमा हूँ, सब में अनुगत हूँ, इसलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार के सभी भौतिक पदार्थों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएँ बनी हैं और वही उन वस्तुओं के रूप में हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इंद्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझ में हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूँ।[4] पद्मपुराण[5] में विष्णु को परब्रह्म माना गया है। ये साक्षात् परमात्मा विष्णु भगवान् हैं व जगत् के लिए ब्रह्मा की प्रार्थना से प्रकट होते हैं।

सभी वैष्णव पुराणों में श्रीकृष्ण परब्रह्म के रूप में ही वर्णित हैं और इसका प्रभाव सूर पर भी पड़ा है।

---

१. सूरसागर, ४८६२
२. विष्णुपुराण १/२२/४०
३. ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्म खंड) २०/४०/५१
४. भागवतपुराण ४०/४७/२९
५. पद्मपुराण (स्वर्ग खंड) १/८२-८३

सूर के इष्टदेव पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। उनके सगुण और निर्गुण दोनों रूप में परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। इस संपूर्ण विश्व के कारण हैं। वे ही अक्षर-ब्रह्म रूप हैं और वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं।[1] सूर ने ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष की अद्वैतता स्वीकार करते हुए कृष्ण और परब्रह्म का भी एकीकरण किया है, वे सदा एक हैं, रस रूप हैं, अखंडित हैं और अनादि हैं :

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कला बीतत नहिं जानत विहरत युगल सरूप।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव मुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गुपाल।

दशम् स्कंध में श्रीकृष्ण की अनेक स्थानों पर स्तुति की है और कृष्ण को परब्रह्म कहा है, उन्हीं की उपासना को इष्ट बताया है :

परम हंस तुम सबके ईस, वचन तुम्हारे स्तुति जगदीस।
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानंद सदा सुख रासी।
तुम तनु धरि हर्‌यौ भुवसार, नमो नमो तुम्हें बारम्बार।

श्रीकृष्ण सर्वव्यापक अचल और कूटस्थ होते हुए भी चल, अंदर होते हुए भी बाहर, निकट होते हुए भी दूर, फल प्रदाता होते हुए भी एकरस और सर्व समर्थ हैं। सूर कहते हैं :

अछर अच्युत अविकार है निराकार है जोइ।
आदि अंत नहिं जानियत, आदि अंत प्रभु सोइ।[2]

और भी :

कोटि ब्रह्मंड करत छिन भीतर, हरत बिलंब न लावै।
ताकौं लिए नंद की रानी, नाना खेल खिलावै।[3]

विष्णुपुराण में जीवन के संबंध में लिखा है, जिस प्रकार अभिन्न भाव से व्याप्त एक ही वायु के बाँसुरी के छेद के भेद से षड्ज आदि भेद होते हैं उसी प्रकार (शरीर आदि उपाधियों के कारण) एक ही परमात्मा के (देवता, मनुष्य आदि) अनेक भेद प्रतीत होते हैं।

---

१. (क) विष्णु, रुद्र, विधि, एकहि रूप, इन्हें जान मत भिन्न स्वरूप। सूरसागर, ३९९
(ख) विष्णु विधि रुद्र मम रूप ये तीनहूँ दच्छ सों वचन यह कहि सुनायौ।
सूरसागर, ४००

२. सूरसागर, १७९३

३. सूरसागर, ७४४

माया के संबंध में 'भागवतपुराण' में उल्लेख है कि माया द्वारा जब तक मनुष्य जीव को ईश्वर से भिन्न देखता है, तब तक वह इस संसार से छुटकारा नहीं पाता। चिर माया उनकी (वायु देवता की) आँखों के सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूर से ही भाग जाती है परंतु संसार के अज्ञानी जन उसी से मोहित होकर 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है', इस प्रकार कहते रहते हैं।[1] 'विष्णुपुराण' में लिखा है कि आपकी (वायु देव) माया ही परमार्थ तत्त्व के न जानने वाले पुरुषों को मोहित करने वाली है, जिसे मूढ़ पुरुष अनात्मा में आत्म-बुद्धि करके बंधन में पड़ जाते हैं।[2] 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'[3] में भगवान् की अविद्या माया का वर्णन करते हुए ब्रह्मा श्रीकृष्ण से कहते हैं कि आपकी माया के वशीभूत होकर ही मैंने आपसे छल किया। 'कूर्मपुराण' में माया को मोहिनी कहा है। मन में पाप की उत्पत्ति माया से होती है और इसी को अविद्या तथा तृष्णा भी कहा है।[4] सूर गौ का रूपक बाँधकर कहते हैं—माधव, अपनी इस गौ (माया) को थोड़ा-सा हटक दो। दिनरात इधर-उधर घूमा करती है और ऐसी भागने वाली है कि पकड़ में तो कभी आती ही नहीं।

माधौ नेंकु हटकौ गाई।
भ्रमत निसि-बासर, अपथ-पथ, अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम दलि खाइ।[5]

सूरसागर में माया जड़ प्रकृति का रूप है। यह माया भगवान् के अधीन है, उनकी दासी है :

अलख निरंजन निराकार अच्युत अविनासी।
सेवत जाहि महेस सेस, सुर माया दासी।[6]

मोक्ष के संबंध में 'भागवतपुराण' में दो प्रकार का वर्णन मिलता है—देह रहते और देह त्यागने के पश्चात् ईश्वर की कृपा के बल पर प्राप्त मोक्ष-अवस्था के सुख का वर्णन किया है। भगवान् स्वयं कहते हैं—निष्काम भक्त दिये जाने पर भी मेरी सेवाओं को छोड़कर सालोक्य, सर्ष्टि सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते।[7] सूर कहते हैं कि मानसिक प्रबोधन, संसार की अनित्यता तथा माया-मोह की निंदा में जितने पद सूरदास ने लिखे हैं, उन सब में जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त

---

१. भागवतपुराण २/५/१३
२. विष्णुपुराण ५/३०/१४
३. ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्म खंड) २०/४०
४. कूर्मपुराण (उत्तरार्द्ध) ४/१८-१९
५. सूरसागर, ५६
६. सूरसागर ४८२८
७. भागवतपुराण ३/२९/१३

करने के उपायों को उन्होंने बताया है। इस अवस्था के अपूर्व आनंद के सामने उन्होंने जीवनमुक्ति अवस्था के बाद के मोक्षसुख की उपेक्षा करदी। गोपी उद्धव से कहती है :

जोगी होइ सो जोग बखानै। नवधा भक्ति दासरति मानै।
भजनानंद हमें अलि प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन विचारौ।[१]

सूर जीवनमुक्त सुख के आगे बैकुंठ-सुख को हीन बताते हैं। जो सुख गोपाल के गुणगान में है, वह जप, तप, धर्म आदि के करने में नहीं है। ब्रज निवास के सामने बैकुंठ निवास-सुख भी त्याज्य है। हरि के स्मरण से संसार के दुःख छूट जाते हैं और जीवनमुक्त परमानंद मिलता है।

पुराणों में केवल ब्रह्मवैवर्त, पद्म तथा वायु पुराण में ही राधा का उल्लेख मिलता है। भागवत में एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है, जो कृष्ण को सर्वाधिक प्यारी थी।[२] ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने राधा की स्थापना उसके समग्र रूप में की है। राधा शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं :

रासे संभूय गोलोके सा दधाव हरे पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुरोविद्भिः द्विजोत्तम।[३]

राधे तेव च सं सिद्ध रा कारो दान वाचकः।
धा निर्वाणंच तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता।[४]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में उल्लेख है कि राधा कृष्ण को प्राणों से प्यारी है।[५] जैसे दूध में धवलता है, अग्नि में दाहकता है, पृथ्वी में गंध है, उसी प्रकार कृष्ण अपनी मूल प्रकृति राधा में रहते हैं। जैसे कुंभकार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता, स्वर्णकार सोने के बिना कुंडल नहीं बना सकता, वैसे ही कृष्ण राधा के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। राधा सृष्टि का आधार है और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं।[६] 'पद्मपुराण' में उल्लेख मिलता है कि राधा कृष्ण की शक्ति के रूप में हैं। जो सृष्टि स्थिति व अंत रूप है व विद्या-अविद्या, वेदत्रयी रूपिणी है, व स्वरूपा, शक्ति रूपा, माया रूपा, चैतन्यमयी है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि के देहों के कारणों की भी कारण है व जिनकी माया से यह चराचर जगत् सदा परिरमित

१. सूरसागर, ४७१२
२. भागवतपुराण १०/३
३. ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्म खंड), ५/२६
४. वही (कृष्णजन्म खंड), १७/२२३
६. वही, ४०/११
६. वही, १५/५८-६१

रहता है, उनका वृंदावनेश्वर राधिका नाम है, जो ब्रह्म की भी कारण रूपा है। उन्हीं राधा को आलिंगन किए हुए वृंदावन के ईश्वर वृंदावन में वास कर रहे हैं।[1]

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' तथा 'पद्मपुराण' में राधा को कृष्ण की परिणीता माना गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा कृष्ण की विवाहित पत्नी हैं, वे कृष्ण के वामांग में शोभा पाती हैं। रास की प्राणधात्री हैं।[2]

'सूरसागर' में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह रास में ही करा दिया है। सूर कहते हैं कि दोनों एक हैं, राधा और कृष्ण में अंतर नहीं है, वे अभिन्न हैं।[3]

'पद्मपुराण' में सगुण भक्ति का विधान मिलता है। वृंदावन में ईश्वर निरंतर ऐश्वर्य से युक्त ब्रज के बालकों के वल्लभ हैं, जो कि श्रुतियों के टूटने के योग्य और गोप-गोपियों के मन को हरने वाले परमधाम, परमश्रेष्ठ, परमरूप हैं, ब्रज गोकुल के ईश्वर हैं। ऐसे गोपी नंदन का ध्यान करना आवश्यक है, जो कि निर्गुण के एक मुख्य कारण हैं, व नवीन, स्वच्छ श्याम तेज से युक्त मनोहर रूप हैं।[4] 'स्कंदपुराण' में निर्गुण भक्ति को अगम और सगुणभक्ति को सुगम माना है। इसी प्रकार भगवान् के स्थूल तथा सूक्ष्म दो रूप माने हैं। सभी उस रूप का पहले पहल चिंतन नहीं कर सकते। अतः उन्हें श्री हरि के विश्वमय स्थूल रूप का ही चिंतन करना चाहिए।[5]

सूर ने **'अबिगत-गति कछु कहत न आवै। रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै। सब बिधि अगम बिचारहिं तातै सूर सगुन पद गावै।**[6] कहकर निर्गुणोपासना में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख किया है और सगुण ईश्वर की भक्ति करता हूँ और लीलापद गाता हूँ, कहा है।

सूर के कृष्ण कहते हैं कि योग, कर्म और ज्ञान के मार्ग से लोग मुझे नहीं पा सकते और जो गद्गद् कंठ से मग्न होकर मेरा गान करता है, उसके हृदय में मेरा निवास है। उसके योग-क्षेम का भार भगवान् वहन करते हैं क्योंकि जो उनकी शरण में पहुँच गया उसे वे विस्मृत नहीं कर सकते हैं।[7]

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भक्ति के चार भेद माने गए हैं—सात्त्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण। सातवें स्कंध में नौ भेद बतलाए गए हैं। सूर ने भक्ति

१. पद्मपुराण (पाताल खंड), ७६/१५/१७
२. ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्म खंड), १७/२२१
३. सूरसागर, २३०५, २३११, २५२१
४. पद्मपुराण, ३/२६/१३
५. विष्णुपुराण, ६/७/५५
६. सूरसागर, २
७. सूरसागर, ६

की विस्तृत व्याख्या करते हुए चार रूप बताए हैं और निर्गुण भक्ति को सुधासार भक्ति कहा है, यही प्रेमाभक्ति है ।[१]

सूर ने दसवीं प्रेमस्वरूपा भक्ति का उल्लेख किया है । वल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति को प्रेमस्वरूपा भक्ति का साधन माना है । सूर ने साधन रूप में नवधा भक्ति को कहकर इसी प्रेमाभक्ति की ओर संकेत किया है :

श्रवण कीर्तन पादरत, अरचन वन्दन दास ।
सख्य और आत्मनिवेदन, प्रेमलक्षणा जास ।

सूर ने नवधा-भक्ति में से पहले छह प्रकार के साधनों का विस्तृत विवेचन नहीं किया है किंतु अंतिम तीन प्रकार के साधनों का विशद् विवेचन किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सूरसागर' भागवत-पुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों से भी प्रभावित है । यह प्रभाव आख्यानों तक ही सीमित न होकर दार्शनिक, भक्ति और अवतारों के वर्णन पर स्पष्ट परिलक्षित होता है । यहाँ तक कि सूर का ब्रज और वृंदावन का वर्णन भी पुराणों से प्रभावित है ।

१. सूरसागर, ३९४

□ डा० विश्वनाथ शुक्ल

सूरसागर और श्रीमद्भागवत

भारतीय अध्यात्म-वाङ्मय का मौलिक रत्नभूत, कृष्णलीला का आकर, महर्षि व्यास-प्रणीत श्रीमद्भागवत महापुराण और उससे अनुप्राणित कृष्णलीला के अमर गायक महाकवि सूरदास की विश्व-विश्रुत कृति 'सूरसागर' भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। श्रीमद्भागवत 'महापुराण' कोटि की विशद् रचना है, जो अत्यंत प्रौढ़ संस्कृत में है। इसमें १२ स्कंध, ३३५ अध्याय और १८,००० श्लोक हैं। इसकी अतिशय प्रसिद्धि, लोकप्रियता एवं दार्शनिक गरिमा ने इसके रचनाकाल के अनुसंधान की ओर अनेक देशी-विदेशी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। श्रद्धालु भावुक भक्त इसे महाभारत के तुरंत बाद की रचना मानते हुए इसका रचनाकाल विक्रम संवत् से ३००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं और आधुनिक भावापन्न अनुसंधाताओं के विचार में यह ५-वीं और ९-वीं शती ई० के मध्य की रचना है। तथ्य जो भी हो, यह निर्विवाद है कि अपने वर्तमान रूप में श्रीमद्भागवत एक अनल्प माहात्म्यशाली ग्रंथ है, जो केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, अनेक दृष्टियों से विश्वसाहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। वास्तव में यह समस्त आध्यात्मिक संस्कृत वाङ्मय के तत्त्वज्ञान एवं साधना का एक अद्भुत समन्वयात्मक और परिपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करता है। 'भागवत' शब्द हमारे देश में बहुत प्राचीनकाल से एक अहिंसात्मक, समन्वयात्मक उदार धर्म-मत और तद्नुयायी 'भक्त' के अभिधान में व्यवहृत होता आया है। एक सर्वसामान्य भक्ति धर्म और वेदांत-दर्शन की प्रौढ़ संहिता के रूप में तो उसका स्थान महत्त्वपूर्ण है ही, कृष्णभक्ति के सबसे बड़े प्रेरणास्रोत, सबसे विशाल उपजीव्य आकर ग्रंथ और सबसे प्रबल प्रतिपादक के रूप में उसका स्थान सर्वोपरि है। मध्ययुगीन समस्त भारतीय भक्ति-साहित्य किसी न किसी रूप में श्रीमद्भागवत से प्रभावित हुआ है, किंतु समस्त भारतीय भाषाओं के कृष्णभक्ति साहित्य का अंतरंग

और बहिरंग तो श्रीमद्भागवत के आध्यात्मिक अंतस्तत्त्व और कथात्मक बाह्य वस्तु-तत्त्व से पूर्णतया अनुरंजित है। प्रमुख भारतीय भाषाओं—असमिया, उड़िया, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, हिंदी, उर्दू, सिंधी और कश्मीरी में इसके अनुवाद पहले से होते आ रहे हैं। हिंदी में तो इसके समग्र एवं आंशिक गद्य-पद्यात्मक अनुवादों की संख्या सहस्रावधि हो तो आश्चर्य नहीं। संस्कृत में इसकी अनेक उच्चकोटि की टीकाएँ स्वतंत्र एवं तत्तत् दार्शनिक संप्रदायों के आचार्यों द्वारा गत अनेक शताब्दियों से होती रही हैं। अँग्रेजी, फ्रेंच, फारसी आदि विदेशी भाषाओं में इस पुराण के अनुवाद इसकी लोकप्रियता एवं व्यापकता के प्रमाण हैं। विक्रम की १५-वीं शती तक यह ग्रंथ अपनी ख्याति एवं लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। 'भक्ति' और 'भागवत' पर्यायवाची जैसे शब्द हो गए थे और 'पढ़िये गुनिये भगति भागवत' कहकर उनकी सहस्थिति की घोषणा सूर जैसे तत्त्वदर्शी भक्त कवियों द्वारा की जाती थी। संक्षेप में, तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष में मध्य युग से आज तक दर्शन एवं भक्ति के क्षेत्र में श्रीमद्भागवत का प्रभाव अक्षुण्ण है। प्रस्तुत पंक्तियों में हम श्रीमद्भागवत और सूरसागर के संबंध पर किंचित पर्यालोचन करेंगे।

सूरदास (१५३५–१६४० वि०) के दीक्षागुरु श्री वल्लभाचार्य (१५३५–१५८७ वि०) ने अपने दार्शनिक मत शुद्धाद्वैतवाद को वेद, ब्रह्मसूत्र और गीता के 'प्रस्थानत्रय' या 'प्रमाणत्रय' में श्रीमद्भागवत को भी सम्मिलित कर 'प्रस्थान चतुष्टय' के आधार पर स्थापित किया :

वेदाः **श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।**
समाधिभाषा व्यासस्य **प्रमाणं तच्च तुष्टयम्।**[1]

श्रीमद्भागवत को 'व्यास की समाधि भाषा' कहकर श्री वल्लभाचार्य ने उसके अलौकिक और अपूर्व महत्त्व की घोषणा की। श्रीमद्भागवत आचार्य वल्लभ का सर्वाधिक प्रिय स्वाध्याय ग्रंथ था। अपने जीवन में आचार्य ने श्रीमद्भागवत के शताधिक पारायण किए थे। इस देश में भ्रमण कर उन्होंने जिन-जिन १०८ स्थानों पर श्रीमद्भागवत का पाठ किया वे आज भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के पुनीत तीर्थों के रूप में 'महाप्रभुजी की बैठक' कहलाते हैं। संवत् १४६७ वि० में श्री वल्लभाचार्य जी से गऊघाट (आगरा जिले में यमुना तट) पर सूरदास का प्रथम साक्षात्कार हुआ था। वहीं आचार्य ने 'नाम दीक्षा' और ब्रह्म संबंध मंत्रोपदेश के पश्चात् सूर को श्रीमद्भागवत के कृष्णलीलाख्यापक विशाल दशमस्कंध की स्वरचित ६८ श्लोकों में संक्षिप्त अनुक्रमणिका सुनाई थी। इसमें दशमस्कंध पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के समस्त ८७ अध्यायों (यद्यपि वर्तमान श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में ९० अध्याय हैं, किंतु पता

१. तत्त्वदीप निबंध, प्रकरण-१

नहीं क्यों श्रीवल्लभाचार्य ने पूर्वार्ध के बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय को प्रक्षिप्त माना है।) में वर्णित कृष्ण लीलाओं की सूची है, यथा :

राजप्रश्नो हरेर्जन्मकारणं भूमिसांत्वनम् ।
कंसबोधन षट्पुत्रवधः कंसभयं नृषु ॥१॥
× × ×
महारथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तथा ।
यादवानन्त्यमित्येवमुत्तरार्धे निरूपितम् ॥६८॥

उक्त अनुक्रमणिका के लीला-सूत्रों को लेकर सूर ने अपनी अद्भुत सहज कवित्व-शक्ति से सहस्रावधि मुक्त पदों में कृष्णलीला का गान किया। किंतु श्री वल्लभाचार्य से मिलन के पूर्व भी सूर एक परम विरक्त भक्त कवि के रूप में श्रीमद्-भागवत के आध्यात्मिक माहात्म्य का ख्यापन करते हुए विनय के पदों की रचना करते थे, यथा :

१. **नर तैं जनम पाइ कह कीनौ ?**
उदर भर्‌यौ कूकर-सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ।
श्रीभागवत **सुनीं नहिं स्रवननि, गुरु गोबिंद नहि चीनौ।**[1]

२. श्रीभागवत **सुनी नहिं स्रवननि नैंकहुँ रुचि उपजाइ।**
आनि भक्ति करि, हरि-भक्तिनि के कबहुँ न धोए पाइ।[2]

३. **इत-उत देखत जनम गयौ।**
× × ×
श्रीभागवत **सुन्यौ नहिं कबहूँ, बीचहिं भटकि मर्‌यौ।**
सूरदास कहै, सब जग बूड़्यौ, जुग-जुग भक्त तर्‌यौ ॥[3]

४. **गीता-बेद**—भागवत **मैं प्रभु, यौं बोले हैं आथ।**
जन के निपट निकट सुनियत हैं, सदा रहत हौ साध ॥[4]

जब सं० १५६७ में अड़ैल (प्रयाग-त्रिवेणी संगम, दक्षिण की ओर यमुना-पार स्थित) से ब्रज आते हुए श्रीवल्लभाचार्य 'गऊघाट' पर ठहरे, तब सूरदास 'स्वामी' रूप से प्रख्यात एक परम भगवद्भक्त कवि के रूप में वहाँ स्थायी रूप से रहते थे। सूर की प्रगाढ़ भगवद्भक्तिमय अलौकिक कवित्व की ख्याति निश्चय ही श्रीवल्लभा-चार्य के श्रुतिगोचर हो चुकी थी, और काशी तथा दक्षिण भारत में मायावाद का निरसन कर शुद्ध निर्गुण भक्तिमार्ग के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्य के प्रकांड पांडित्य और प्रखर व्यक्तित्व की महिमा-कथा सूर के कानों तक पहुँच चुकी थी। सूर आचार्य वल्लभ के अंतरंग साक्षात्कार के लिए पर्युत्सुक हो उठे। इन दोनों महापुरुषों के

---

१. सूरसागर, ६५
२. सूरसागर, १५५
३. सूरसागर, २६१
४. सूरसागर, १६६

मिलन का वह क्षण भारतीय अध्यात्म और हिंदी साहित्य के इतिहास का महान् सौभाग्य ही कहा जायगा। श्री वल्लभ ने सूर से कुछ भगवद्यश वर्णन करने को कहा, जिसपर सूर ने उनके सम्मुख अतिशय दीनतापूर्ण स्वरचित दो पद गाए :

१. हरि, हौं सब पतितनि कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी, और नहीं कोउ लायक।
जो प्रभु अजामील कौं दीन्हों सो पाटौ लिखि पाऊँ।
तो बिस्वास होइ मन मेरैं, औरौ पतित बुलाऊँ।[१]

२. प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि कै, हौं तौ जनमत ही कौ।
× × ×
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं मोहूँ तैं को नींकौ ![२]

श्रीमद्भागवत में चित्रित यशोदोत्संग लालित नवनीत प्रिय और गोपबालकों के साथ क्रीड़ारत उनके प्रिय सखा कृष्ण के परमोपासक आचार्य वल्लभ को सूर की यह पश्चातापमय आत्मभर्त्सना और दैन्य नहीं रुचा। उन्होंने सूर से कहा, "जो सूर ह्वै कै ऐसौ घिघियात काहे कौं है ? सो तासौं कछु भगवल्लीला वर्णन करि।"[३] जब सूर ने भगवल्लीला वर्णन करने में अपना अज्ञान और तज्जन्य असमर्थता प्रकट की तब श्रीवल्लभाचार्य जी ने उन्हें नामदीक्षा (श्रीकृष्ण: शरणं मम) एवं ब्रह्म संबंध मंत्र (सहस्रपरिवत्सर···) देने के बाद श्रीमद्भागवत दशमस्कंध की स्वरचित अनुक्रमणिका सुनाई। यह मानो शिष्य पर गुरु का 'शक्तिपात' था। "सो सगरी श्री सुबोधिनी जी कौ ज्ञान श्री आचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापन कियौ। तब भगवल्लीला जस वर्णन करिबै कौ सामर्थ्य भयौ। तब अनुक्रमणिका तें सगरी लीला हृदय में स्फुरी।"[४]

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बाद में अपने गुरु वल्लभ की प्रेरणा से श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्णलीला का गान ही सूर का मुख्य उद्देश्य हो गया। वे एक अत्यंत प्रखर प्रतिभा संपन्न रससिद्ध कवि तो थे ही दशम स्कंध (विशेषकर पूर्वार्ध) की लीलाओं का उन्होंने अत्यंत ललित और मनोहर रूप में उपबृंहण (विस्तार) किया। जिन लीलाओं में उनकी चित्तवृत्ति अधिक रमी है, उनका वर्णन उन्होंने विशेष उत्साह, उल्लास और भावुकता से किया है। इनमें

१. सूरसागर, १४६
२. सूरसागर, १३८
३. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, सं० श्री द्वारिकादास परीख, पृ० ४०५
४. वही, पृ० ४०६

बाललीला और कैशोर्य की प्रेमलीलाएँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें सूर ने आपादमस्तक निमग्न हो, अपने हृदय में लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वर्णन में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। स्फुट पदात्मक, लीलागान-परक यह संग्रहात्मक रूप ही 'सूरसागर' का मूलरूप है। सूरसागर का द्वादश स्कंधात्मक दूसरा रूप १७ वीं शती के बाद संपादित हुआ।[1]

उत्तर भारत में, विशेषकर पश्चिमीय अंचल में जामनगर, जूनागढ़ उदयपुर, जयपुर, काँकरौली, किशनगढ़, जोधपुर, बीकानेर, कोटाबूँदी आदि स्थानों में प्राप्त सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ संग्रहात्मक हैं और वे पूर्वीय अंचल में—काशी, लखनऊ आदि में प्राप्त द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों से लगभग १०० वर्ष पुरानी हैं। वैसे भी भारत में प्राप्त सूरसागर की अधिकतर हस्तलिखित प्रतियाँ संग्रहात्मक हैं, द्वादश स्कंधात्मक नहीं। इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' की सबसे प्राचीन मुद्रित प्रति भी संग्रहात्मक है। वि० सं० १९२० में व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि अयोध्या के महाराज मानसिंह जी 'द्विजदेव' के संरक्षण में पं० कालीचरण द्वारा संपादित और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर का संग्रहात्मक संस्करण सभी मुद्रित प्रतियों से प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सूरसाहित्य' और 'श्रीमद्भागवत' के किसी विशेषानुरागी ने कालांतर में दोनों का साम्य स्थापित करने के लिए सूर के मुक्त पदों को 'श्रीमद्भागवत' के द्वादश स्कंधों के वर्ण्य-विषयों के अनुसार स्थूलरूप से संग्रहीत कर दिया है। किंतु यदि हम वर्तमान श्रीमद्भागवत और द्वादश स्कंधात्मक सूरसागर (ना० प्र० सभा) को सामने रखकर उनके बाह्य कलेवर और अंतरंग वर्ण्य-विषय की तुलना करें तो पर्याप्त असमानता भी दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध में शुकदेव के जन्म की कथा, है, जो 'श्रीमद्भागवत' में नहीं है। इसी प्रकार दशम स्कंध में 'श्रीधर-अंग-भंग' की कथा भी भागवतोक्त नहीं। फिर भी यदि 'सूरसागर' और 'श्रीमद्भागवत' में तुलना की जाय तो दोनों के दशमस्कंधों में ही पर्याप्त साम्य दिखाई देगा। इसका कारण है दोनों की कृष्ण-लीलापरकता। सूरसागर में प्रथम स्कंध के २२३ विनय के पदों को छोड़कर शेष पद इतिवृत्तात्मक हैं। उनमें सूर का 'सूरत्व' व्यक्त ही नहीं होता। द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर के पहले से आठवें और ग्यारहवें-बारहवें स्कंधों की पद रचना में सूर का मन नहीं रमा है। इनकी रचना शिथिल और पौराणिक इतिवृत्तात्मकता से बोझिल है। इनकी रचना मानो सूर ने अपने गुरु के प्रमाण ग्रंथ श्रीमद्भागवत की एक स्थूल-उद्धरणी के कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए की है। हाँ, नवमस्कंध में रामचरित के गान में वे श्रीमद्भागवत के रामचरित की विशेषताओं को कहीं अधिक अग्रसर करते हुए रम गए हैं। लीलागान

---

१. देखिए पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ में श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी का लेख, 'सूरसागर का विकास और उसका रूप'

में ही सूर को अक्षय, अनिर्वचनीय आनंद मिला। फिर चाहे वह रामलीला हो, या कृष्णलीला। श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी (श्रीमद्भागवत टीका) के दशमस्कंधीय मंगलाचरण से सूर के हृदय में कृष्णलीला का सागर ही उमड़ पड़ा। वह श्लोक है :

नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्।

सूर का प्रसिद्ध पद 'चकई री चलि चरन सरोवर जहँ नहिं प्रेम वियोग। × × × जहँ श्री सहस्र सहित नित क्रीडत सोभिद सूरजदास। अब न सुहाय विषय रस छिलकर वा समुद्र की आस', उक्त श्लोक की पीठिका पर आधारित है। इसी में सूर के 'सागरत्व' का संकेत है।

सूरसागर का नामकरण—वास्तव में श्रीवल्लभाचार्य जी ने सूर की अद्भुत काव्यशक्ति, उनके पदों की प्रचुर संख्या और प्रगाढ़ भक्तिभाव के कारण उन्हें स्नेह और आदरपूर्वक 'सागर' की उपाधि दी थी। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में उल्लेख है—"और सूरदास कों जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते, जो आवो सूरसागर। सो ताको आसय यह है, जो समुद्र में सगरे पदार्थ होत हैं तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं।"[१] सूर के अतिरिक्त अष्टछापी कवियों में श्रीवलभाचार्य जी ने परमानंददास को ही श्रीमद्भागवत की दशमस्कंधीय अनुक्रमणिका सुनाई थी। उनमें भी कृष्णलीला का स्फुरण हुआ था और उन्हें भी 'सागर' का विरुद मिला था। श्रीहरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में कहा है—"तासों वैष्णव तो अनेक श्री आचार्य जी के कृपापात्र हैं, परंतु सूरदास और परमानंददास ये दोऊ 'सागर' भये। इन दोउन के कीर्तन की संख्या नाहीं। सो दोऊ 'सागर' कहवाए।[२]

श्री वल्लभाचार्य जी ने जब यह पूर्णतया अनुभव कर लिया कि सूरदास को कृष्णलीला का स्फुरण और पुष्टिमार्गीय सिद्धांत एवं सेवापद्धति फलित हो गई है तो उन्होंने सूरदास को श्रीनाथ जी के स्वरूप के सम्मुख नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव-कीर्तन की सेवा सौंप दी। वल्लभसंप्रदाय में नित्यसेवा में मंगला आदि के आठ विभिन्न अवसरों पर कीर्तन या पदगान के अतिरिक्त वर्ष भर के उत्सवों, यथा रामनवमी, नृसिंह जयंती, वामनजयंती, अन्य अवतारों की लीलाओं और षट्ऋतुओं के उत्सवों पर भी कीर्तन होता है। सूर ने इन सभी विषयों पर पद-रचना की है, जिनके बीज श्रीमद्भागवत में विद्यमान हैं। सूर ने अपनी प्रातिभ कल्पना से उनमें नवीनता और माधुर्य का संचार किया है।

कृष्णभक्ति के महान् आकर श्रीमद्भागवत में अनेक दार्शनिक सिद्धांतों का भी निरूपण हुआ है। भागवत का यह पक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है किंतु सूरसागर में

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, सं० श्री द्वारिकादास परीख, पृ० ४१४
२. वही, पृ० ४५२

दर्शन के निरूपण को महत्त्व नहीं दिया गया है। दर्शन का प्रतिपादन सूर का लक्ष्य नहीं था। जहाँ कहीं भी वे कुछ दार्शनिक शब्दावली प्रयोग करते हैं, वह भक्ति के प्रतिपादन के लिए ही करते हैं :

मारि न सकै, विघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर।
क्रिया-कर्म करतहुँ निसिबासर भक्ति कौ पंथ उजागर।[1]

इसी प्रकार सूर की दृष्टि में कर्मकांड एक पुष्पितावाक् है :

कुसुमित धर्म-कर्म को मारग जउ कोउ करत बनाई।
तदपि बिमुख पाती सो गनियत, भक्ति हृदय नहिं आई।[2]

श्रीमद्‌भागवत में चतुःश्लोकी (२ स्कंध, ९ अध्याय, श्लोक ३२-३५) उसका परम रहस्य है, जो दार्शनिक ज्ञान का उत्स है। सूर ने उसका अनुसरण करते हुए लिखा है :

पहले हौं ही हों तब एक।
अमल, अकल, अज, भेद-विवर्जित सुनि बिधि बिमल बिवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछैं इन गुननि गए तैं हौं रहि हौं अवसेष।[3]

श्रीमद्‌भागवत और सूरसागर का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रीमद्‌भागवत की भक्ति पद्धति, कृष्णलीला और सामान्य दर्शन सूरसागर की आत्मा होते हुए भी अनेक दृष्टियों से सूरसागर रससिद्ध महाकवि सूर की एक स्वतंत्र और मौलिक रचना है। हाँ, सगुण साकार ब्रह्म कृष्ण की लीलागान-जन्य परम प्रेमारूपा भक्ति दोनों का एकांत प्रतिपाद्य है, यह निर्विवाद है।

---

१. सूरसागर, ६१ २. सूरसागर, ६३ ३. सूरसागर, ३८१

☐ डा० शंभुशरण शुक्ल

सूरदास और विद्यापति

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्त शिरोमणि सूरदास पर विद्यापति का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] दोनों कवियों के अध्ययन के उपरांत यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सूर ने विद्यापति की शृंगारी प्रवृत्तियों को अपनाया है। कहीं-कहीं तो परस्पर भावसाम्य भी मिलता है।

सूर भक्त कवि हैं, इसमें दो मत नहीं। विद्यापति भक्त कवि हैं अथवा शृंगारी कवि, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है परंतु बहुमत इस पक्ष में है कि विद्यापति शृंगारी कवि हैं। हिंदी में कृष्णकाव्य-परंपरा के आदि कवि विद्यापति ही हैं। 'सूर में राधा-कृष्ण का हास-विलास विद्यापति से ही आया।……अंतर केवल इतना है कि विद्यापति के राधा-माधव में अलौकिकता की कहीं-कहीं झलक अथवा संकेत भर था तो सूरदास ने उसे पूर्णता दी है।[2] जिस शृंगारी हास-विलास की प्रतिष्ठा विद्यापति ने अपने राधाकृष्ण में की, सूर उससे इतना प्रभावित हुए कि भक्त कवि होते हुए भी वे उससे बच न सके वरन् उन्होंने भी राधा-कृष्ण की घोर शृंगारिक झाँकियाँ प्रस्तुत कर अपने भक्त हृदय को तृप्त किया।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम में रूपाकर्षण को महत्त्व दिया है। सूर भी रूप के आलोक और उसके मनोवैज्ञानिक पहलू की उपेक्षा न कर सके, यद्यपि उन्होंने रूपलिप्सा के साथ-साथ साहचर्य के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया। सूर की राधा के प्रथम दर्शन हमें तब होते हैं, जब वह बालिका ही हैं। अतः उनमें बाल-सुलभ चपलता, तरलता, माधुर्य तथा भोलापन है। सूर के कृष्ण भी बालक हैं। दोनों ही

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १६१
२. विद्यापति, डा० आनंदप्रकाश दीक्षित, पृ० ४७

एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं : कृष्ण को राधा अच्छी लगती हैं, वे उसके साथ खेलने का प्रस्ताव रख देते हैं और खेल ही खेल में वह बात पैदा हो जाती है, जिसे प्रेम कहते हैं। शैशव-क्रीड़ा के सखा यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। वयः संधि का पता ही नहीं चलता। यौवनावस्था के खेल भी उन्हें शैशवावस्था जैसे ही स्वाभाविक लगते हैं। सूर की राधा यौवनागम की देहरी को सरलता से पार कर जाती है। इसके विपरीत विद्यापति की राधा को यौवन की ओर बढ़ते हुए शरीर में होने वाले परिवर्तन और इस परिवर्तन से होने वाली मानसिक हलचल का सामना करना पड़ता है।[1] सूर के राधा-कृष्ण की अवस्था में विषमता नहीं है।[2] जबकि विद्यापति का प्रेमी युग्म अवस्था में विषम हैं। राधा किशोरी है परंतु कृष्ण उद्दाम यौवन वेग वाले प्रौढ़ नायक हैं। विद्यापति ने इस बात की अभिव्यक्ति विभिन्न सुंदर प्रतीकों—काच कमल भमरा झिकझोर,[3] रति केहरी, नया हाथी आदि द्वारा की है। विद्यापति में कृष्ण का यह रूप भगवान् कृष्ण का रूप न होकर कामुक सामंत का पर्याय है।

सूर और विद्यापति दोनों ही रूप-सौंदर्य के चितेरे हैं। सूर का सौंदर्य-चित्रण भावुकतापूर्ण है जबकि विद्यापति का सौंदर्य-चित्रण यौवन-विलासी है। सूर में राधा और कृष्ण दोनों के ही सौंदर्य चित्र समान हैं, जबकि विद्यापति में राधा की अपेक्षा कृष्ण के चित्र कम हैं। सूर ने दोनों में 'गए स्याम रबि तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी' तथा ''औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी' कह कर शैशव सौंदर्य के दर्शन कराए हैं, जबकि विद्यापति की राधा का वयः संधि के रूप में धूपछाँही[4] सौंदर्य-चित्र सबसे पहले सामने आता है। रूपचित्रण की शैली में अनेक स्थलों पर सूरदास विद्यापति के ऋणी लगते हैं। रूपकातिशयोक्ति के द्वारा दोनों कवियों की सौंदर्यानुभूति देखिए :

माधव पक कहब सुंदरि रूपै।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे।
पल्लवराज चरन युग सोभित, गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने।
मेरु ऊपर देइ कमल फुलाएल, नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि, तओ नहिं कमल सुखाई।
अधर बिंब सन, दसन दाड़िम-बिजु रबि-ससि उगथिक पासे।

---

१. विद्यापति की पदावली, सं० डा० देशराजसिंह भाटी, पृ० १०
२. सूरसागर, २५२१
३. वही, पृ० १३३
४. वही, पृ० १७

राहु दूर बसि नयरो न आवथि, तैं नहिं करथि गरासे।
सारंग नयन बयन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग, केलि करथि मधु पाने।
भनइ बिद्यापति सुन बर जौबति, एहन जगत नहि आने।
राधा सिर्वासिंघ रूपनरायन लखिमा देइ पति भाने।[1]

सूर द्वारा प्रस्तुत रूप-चित्रण :

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल-लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग-मद काग।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और और छबि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस, मानौ अधरनि के बड़ भाग।[2]

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर सूर ने विद्यापति के भावों और उपमानों को अपनाया है। अभिव्यक्ति-पद्धति में भी साम्य है, फिर भी दोनों के सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। नखशिख-चित्रण के अंतर्गत विद्यापति ने कुचों की उपमा चक्रवाक-युगल से दी है। उनकी नायिका कुचों को भुजपाश में इसलिए कसे है कि कहीं वे आकाश में उड़ न जाएँ। विद्यापति की भाँति सूर की नायिका ने भी कुच-खंजनों को आँचल के नीचे इसलिए छिपाया है कि वे उड़ने के लिए आतुर हैं।[3] विद्यापति में युगल बाहुओं में चक्रवाक युगल को कसे हुए सजीव नारी प्रधान है जबकि सूर के चित्र में खंजन पक्षी प्रधान हो गया है। इस प्रकार रूप-सौंदर्य का जो स्वाभाविक चित्र विद्यापति में उभरा है, सूर में नहीं। वास्तव में नारी-अंग 'अंग रूप में' कोई सार्थकता नहीं रखता, उसकी सार्थकता नारी के साथ है। विद्यापति ने इस पहलू पर विचार कर नारी का चित्र प्रस्तुत किया है, जबकि सूर ने नहीं।

रूप का उपभोग सूर की अपेक्षा विद्यापति में अधिक है। इसका कारण यह है कि विद्यापति दरबारी कवि थे, जबकि सूर भक्त कवि थे। सूर ने रूप के जो उपभोगजन्य चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे कृष्णलीला के अभिन्न अंग रूप में हैं, जबकि विद्यापति के चित्र काम मनोवैज्ञानिक रहस्यों की भावात्मक अभिव्यक्ति हैं। विद्यापति

---

१. विद्यापति की पदावली, सं० डा० भाटी, पृ० २५
२. सूरसागर, २७२८
३. (क) विद्यापति की पदावली, सं० डा० भाटी, पृ० ४६
   (ख) सूरसागर, २४३४

के लौकिक जगत् में अलौकिक का धोखा नहीं, जबकि सूर के अलौकिक जगत् में लौकिक का धोखा हो जाता है।

विरह-दशा के जितने मार्मिक और व्यापक चित्र सूर में मिलते हैं, विद्यापति में नहीं। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति में सूर व्यापक नहीं पूर्ण मौलिक भी हैं। कुछ प्रसंगों में सूर और विद्यापति में भाव-साम्य तथा अभिव्यक्ति-साम्य मिलता है। विरह में मन की एक ऐसी अवस्था होती है, जब विरहिणी स्वप्न में प्रियतम-मिलन की अनुभूति करती है। सूर और विद्यापति दोनों ने ही विरहिणी का प्रियतम से स्वप्न में मिलन कराया है।[१]

प्रिय-विरह में होने वाली कामानुभूतिजन्य पीड़ा की अभिव्यक्ति विद्यापति ने शंकर-कामदेव की पौराणिक शत्रुता के संदर्भ में की है। नायिका कामाग्नि के शमन हेतु चंदन, कस्तूरी, पुष्पमाला आदि शीतलता प्रदान करने वाले प्रसाधनों से अपने को सुसज्जित करती है परंतु फिर भी कामानुभूति शांत होने के स्थान पर बढ़ती ही जाती है। उसे ऐसा लगता है कि इस वेश-भूषा में कहीं कामदेव उसे वामदेव तो नहीं समझ रहा है। इसी भाव को किंचित परिवर्तन के साथ सूर ने भी प्रस्तुत किया है परंतु विद्यापति की विरहिणी में जो आर्तता है, वह सूर में नहीं।[२]

उन्मादावस्था में कृष्ण के साथ राधा की तन्मयता के चित्र दोनों कवियों में एक से हैं।[३] जब कृष्ण किसी अन्य नायिका के साथ रमण करके लौटते हैं तो मानिनी राधा उनकी भर्त्सना करती है। इस पर विद्यापति के कृष्ण राधा से जिस प्रकार दंड-विधान की बात करते हैं,[४] ठीक उसी प्रकार का दंड सूर के कृष्ण भी चाहते हैं।[५]

दृष्टकूट पदों की रचना भी सूरदास ने विद्यापति के ही अनुकरण पर की। दोनों में प्रकार साम्य, शब्द-साम्य और भाव-साम्य हमारे कथन की पुष्टि करता है।[६] सारंग शब्द को लेकर विद्यापति और सूर दोनों ने ही दृष्टकूट पदों की रचना की है।[७]

---

१. (क) विद्यापति, आनंदप्रकाश दीक्षित, पृ० १५६
   (ख) सूरसागर, ३८८६
२. (क) विद्यापति की पदावली, सं० डा० भाटी, पृ० ७८
   (ख) सूरसागर, २७३५
३. (क) विद्यापति की पदावली, सं० डा० देशराजसिंह भाटी, पृ० ३३८
   (ख) भ्रमरगीत सार, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १५५
४. विद्यापति की पदावली, सं० भाटी, पृ० २३०
५. सूरसागर, ३४४१
६. विद्यापति, डा० जयनाथ नलिन, पृ० २१२
७. (क) विद्यापति की पदावली, सं० डा० भाटी, पृ० २६
   (ख) सूरसागर, ३४१६

गीतिकाव्य की दृष्टि से सूर ही नहीं हिंदीसाहित्य के अन्य कवि भी विद्यापति के ऋणी हैं। विद्यापति हिंदी गीतिकाव्य-परंपरा के प्रथम कवि हैं। उनकी पदावली राग-रागनियों का भंडार है। उन पर लोकधुनों का भी प्रचुर प्रभाव है। सूर के काव्य में भी सभी राग-रागिनियाँ मिलती हैं। सूर का क्षेत्र विद्यापति की अपेक्षा विस्तृत है। उनके पदों में संगीतात्मकता अधिक है। विद्यापति हिंदी गीति-परंपरा के उद्‌गम हैं तो सूरदास के सूरसागर में उस परंपरा का पूर्ण विकास हुआ है। गीतिकाव्य का जो झरना विद्यापति के मानस से झरा वही, सूर में अनवरत प्रवाहमयी मंदाकिनी बन गया।

भक्तिभावना :

सूरदास मूलतः भक्त कवि हैं जबकि विद्यापति मूलतः शृंगारी कवि; फिर भी सूरदास में शृंगार के पद मिलते हैं और विद्यापति में भक्ति के—भक्ति के पवित्र रस से मन के कलुष को धो देने वाले। सूरदास प्रारंभ से अंत तक भक्त हैं जबकि विद्यापति युवावस्था में शृंगारी कवि थे जैसे जैसे वे वृद्धावस्था के निकट पहुँचते गए—भक्तिमयी अनुभूतियों में डूबते गए।

अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की लीला गान करने से पूर्व सूरदास वैरागी संत थे। इसी कारण उनके विनय के पदों में संसार की असारता, मनुष्यजीवन की निरर्थकता की अभिव्यक्ति मिलती है। बल्लभसंप्रदाय में दीक्षित होने के बाद उनकी भक्ति-भावना में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। उनकी कृष्णभक्ति का आधार निवृत्तिपरक न होकर प्रवृत्तिपरक है। सूरदास केवल कृष्ण के भक्त हैं। अन्य किसी देवता की भक्ति उन्हें काम्य नहीं। विद्यापति ने अपना आरंभिक समय शृंगार रस में ही लगाया था।

वृद्धावस्था में कवि विद्यापति ने मोक्ष-हेतु भक्ति की शरण ली और मोक्ष-दाता शिव के चरणों में ध्यान लगाया। कुछ थोड़े से पद ऐसे भी हैं, जिनमें कृष्ण के अलौकिक भाव की अभिव्यक्ति हुई है। डा० उमेश मिश्र का मत है कि मिथिला के लोग विद्यापति की शिवभक्ति की प्रशंसा करते हैं, बंगाल में विद्यापति वैष्णवभक्त कहे जाते हैं। बंगाल के कवि चंडीदास ने विद्यापति की कृष्णभक्ति संबंधी कविताओं से ही प्रेरणा पाई थी।[१]

परिमाण की दृष्टि से विद्यापति के भक्ति विषयक पद सूर की अपेक्षा बहुत कम है परंतु भक्ति की तन्मयता में वे सूर से पीछे नहीं हैं। विद्यापति ने अपनी भक्ति से अपने इष्टदेव शिव को इतना प्रसन्न कर लिया था कि शिव उगना के रूप में उनके दास बनकर रहे और गंगा जी स्वयं उनके पास आयीं।

१. डा० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर, पृ० ९२

□ डा० राजनारायण राय

सूर और तुलसी : दार्शनिक पक्ष

सूरदास और तुलसीदास—दोनों महान् संत, भक्त और स्वयं सिद्ध कवि थे। न तो सूर ही हृदयहीन दार्शनिक थे और न तुलसी ही, यद्यपि दोनों की कृतियों को दर्शन ही मेरुदंडीय शक्ति प्रदान करता है। सफल कवि अपनी कारयित्री प्रतिभा से दर्शन की शुष्कता को सरसता में परिणत कर देता है और असफल अपनी शक्तिहीनता के कारण किसी दार्शनिक सिद्धांत को अनुभूति का रूप नहीं दे पाता। यह निर्विवाद है कि दर्शन मस्तिष्क की उर्वरता का परिचायक है और काव्य हृदय की। जगत्, जीव, मोक्ष आदि की बौद्धिक व्याख्या करने वाला दर्शन मुख्यतः विश्लेषणात्मक है; किंतु काव्य का संश्लेषणात्मक। दर्शन के सत्य में राग एवं कल्पना तत्त्व के लिए स्थान नहीं; पर काव्य-सत्य में दोनों अपेक्षित हैं। दर्शन काव्य का मधुर कलात्मक स्पर्श पाकर सहज ग्राह्य बनता है और काव्य उससे स्थायित्व, गंभीरता एवं प्रौढ़ता ग्रहण करता है। जहाँ दर्शन आदि शास्त्रों का उद्देश्य ज्ञानवर्द्धक रहा, वहाँ इसका प्रयोजन मनःप्रसादन के द्वारा रुचि का संस्कार करना और सात्त्विक प्रेरणा जगाना रहा। किंतु काव्य अपनी दृष्टि का संग्रह दर्शन से करता रहा और दर्शन प्रभाव-प्रेषण के लिए काव्य का मुखापेक्षी रहा।[१] अतः यह कहना अनुचित नहीं कि दर्शन और काव्य का संबंध साध्य-साधक का है। सूर और तुलसी दोनों का काव्य दर्शन के अति धरातल पर संप्रतिष्ठित है क्योंकि दोनों मनीषी, दार्शनिक नहीं, कवि दार्शनिक भी नहीं, अपितु अग्रगण्य दार्शनिक कवि हैं। दर्शन प्रेमी कवियों की काव्य-संपदा किसी दार्शनिक सिद्धांत का पद्यात्मक रूपांतर नहीं होती, अविकल पुनर्गान भी नहीं होती; बल्कि सर्वथा नूतन मौलिक रसात्मक सृष्टि होती है, जिससे सदैव लोकहित-साधन होता है। सूर और तुलसी ऐसी ही सृष्टि के सृजेता थे।

१. दे०, 'साहित्य का विश्लेषण', डा० वासुदेवनंदन प्रसाद पृ०, २६६

हिंदी के मननशील आलोचकों ने सूर और तुलसी के दार्शनिक सिद्धांतों का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे यह ज्ञात होता है कि दोनों कवि दर्शन सत्य को अनभूति सत्य के रूप में परिणत करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं; पर प्रथम की अपेक्षा द्वितीय का सिद्धांत अधिक विवादग्रस्त है। सबने एक स्वर से कहा कि कृष्ण-लीला-गायक सूर शुद्धाद्वैतवाद के समर्थक थे; परंतु तुलसी को कोई अद्वैतवादी बताता है तो कोई विशिष्टाद्वैतवादी। प्रख्यात रामायणी श्री विजयानंद त्रिपाठी का कहना है कि 'मानस की अंतरंग और बहिरंग परीक्षा करने का यही फल मिला है कि गोस्वामी जी का दार्शनिक विचार अद्वैतवाद ही है।'[१] महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मतानुसार, 'दावे के साथ कहा जा सकता है कि शंकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले सांप्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं।'[२] डा० श्यामसुंदर दास का निष्कर्ष है कि 'तुलसीदास का दर्शन अद्वैत से मिलता है।'[३] श्री संगमलाल पांडेय यह जोर देकर कहते हैं कि 'तुलसीदास पक्के विशिष्टाद्वैतवादी थे। इस युग में कुछ विद्वानों ने उन्हें अद्वैतवादी दिखलाने का प्रयास किया है, पर वे निश्चित रूप से विशिष्टाद्वैतवादी ही थे, जैसा कि उनकी सगुणभक्ति गुरु परंपरा और चिंतन प्रणाली से सिद्ध होता है।'[४] श्री श्रीकांतशरण जी भी उन्हें सर्वथा विशिष्टाद्वैतवादी मानने के ही पक्ष में हैं। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र आदि उन्हें समन्वयवादी सिद्ध करते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि रामोपासक तुलसी का दार्शनिक मत साहित्य के अनुशीलकों के लिए जितना उलझा प्रश्न है, उतना सूर का नहीं। अतः सूर और तुलसी के ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, लीला, अवतार आदि से संबंधित विचारों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित प्रतीत होता है।

ब्रह्म : महासाधक सूर का ब्रह्म संबंधी सिद्धांत आचार्य वल्लभ द्वारा उपस्थापित शुद्धाद्वैतवादी ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न है। वाल्लभ-वेदांत में परब्रह्म सत, चित् और आनंद तीन गुणों या धर्मों से युक्त होने के कारण उसे सच्चिदानंद पूर्ण पुरुषोत्तम बताया गया है।[६] ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—१. पूर्ण पुरुषोत्तम रस रूप ब्रह्म श्रीकृष्ण। २. पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षरब्रह्म। ३. अंतर्यामी ब्रह्म। सूर ने रस रूप परब्रह्म को ही आराध्य माना; तुलसी ने इन स्वरूप-भेदों को स्वीकार नहीं किया तथापि राम के पुरुषोत्तम रूप को महत्त्व दिया। यह ध्यातव्य है कि सूर के रसेश श्रीकृष्ण और तुलसी के परमोपास्य राम दोनों अनिर्वचनीय परब्रह्म हैं। तुलसी के काव्य में ईश्वर, कर्त्ता, भर्त्ता व संहर्त्ता राम का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप, वस्तुतः रामानंदी संप्रदाय के चिंतन के प्रभाव का परिणाम है। सूर और तुलसी दोनों के ब्रह्म नाशरहित,

१. २, ३. द्रष्टव्य, तुलसी मानस रत्नाकर, सं० डा० भाग्यवतीसिंह, पृ० २२१
४. हिंदी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ७२२
५. तुलसी दर्शन मीमांसा, डा० उदयभानुसिंह, पृ० ३३५
६. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४०१

सर्वज्ञ, स्वतंत्र एवं सर्वशक्तिमान हैं, व्यापक और जगताधार हैं। दोनों यह मानते हैं कि मायापति ब्रह्म लीलाशाली हैं। सूर-आराधित कृष्ण पूर्णानंद हैं;[१] तुलसी के राम भी सच्चिदानंद हैं।[२] दोनों के काव्य में परब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूप अभिवर्णित हैं। सगुण रूप लीला के कारण है—भक्त हितार्थ, धर्मस्थापनार्थ।

आचार्य वल्लभ ने शंकराचार्य के विरोध में इस नूतन सिद्धांत की प्रस्थापना की कि जीव ब्रह्म का चिदंश है, अतः वह सत्य और नित्य है। ब्रह्म से जीव उसी प्रकार निकलते हैं, जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से स्फुलिंग।[३] जीव अणु रूप है, ससीम है। तात्त्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, फिर भी प्रथम में आनंद का अभाव है, द्वितीय में नहीं। जीवात्मा व्यामोहिका माया से ग्रसित होकर सांसारिक प्रपंचों में संलग्न रहता है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, संसारी और मुक्त। सूरकाव्य में इन जीव-भेदों का निरूपण है। जीव और ईश्वर में वही संबंध आचार्यों ने देखा है जो समुद्र और बूंद तथा अग्नि और चिनगारी में परिलक्षित होता है। अविद्या माया के कुचक्र में पड़े जीवों के प्रति सूर और तुलसी दोनों की धारणाएँ अभिन्न हैं।[४] किंतु वल्लभ द्वारा प्रतिपादित जीवाणुत्व तुलसी को स्वीकार्य नहीं। सूर जीव के स्वरूप-निर्धारण में वल्लभ-सिद्धांत के अनुयायी हैं। जीव और ब्रह्म में स्वरूपगत अभिन्नत्व की प्रतिष्ठा सूर की निम्नोद्धत पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

१. सरिता निकट तड़ाग कैं निकसी कूल विदारि।
नाम मिट्यौ सरिता भई, कौन निवारो बारि।[५]
२. प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ।[६]
३. सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।[७]

तुलसी भी 'ईश्वर अंश जीव अविनासी' कहकर ब्रह्म और जीव के अंशांशी

१. (क) सोभा अमित अपार अखंडित आप आत्माराम।
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सबविधि पूरनकाम। सूरसारावली, ६६१
(ख) सो गुपाल ब्रज मैं सुनि सूरज प्रघटे पूरन परमानंद। सूरसागर, ८२२
२. (क) सुद्ध सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार।
(ख) ब्रह्म सच्चिदानंद कंद भानुकुल केतु।
(ग) ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जँह भूप। रामचरितमानस
३. विस्फुलिंगा इवाग्ने हि जड़ जीवा विनिर्गताः। —ब्रह्मसूत्र २/३/४३ पर अणुभाष्य
४. (क) सूरसागर, ३६६
(ख) ईश्वर अंश जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो मायावश भयउ गोसाईं। बँधेउ कीट मरकट की नाईं।
तब तें जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी। —रामचरितमानस
५. सूरसागर, २२५८
६. सूरसागर, २३०५
७. सूरसारावली, सं० मनमोहन गौतम, १०००

संबंध की उद्घोषणा करते हैं। सूर और तुलसी के अनेक पद उद्धृत कर यह सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है कि मायाबद्ध जीवात्मा की दयनीय स्थिति के वर्णन में दोनों भक्त कवियों का स्वर एक ही है।

जगत् : सूर और तुलसी दोनों के काव्य में जगत् का स्वरूप-वर्णन मिलता है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार अक्षर ब्रह्म के सदंश से जड़ जगत् निकलता है। जगत् ब्रह्म में वैसे ही निहित रहता है जैसे दूध में घृत। ब्रह्म की स्वेच्छा से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। जगत् शुद्ध ब्रह्म का परिणाम है, वह ब्रह्मरूप है, ब्रह्माभिन्न है। दोनों का समवाय संबंध है। परिणाम दृष्टि से वल्लभमत अविकृत परिणामवाद है। कई आचार्यों ने जगत् और संसार में अभेदत्व की प्रस्थापना की है जबकि वल्लभ ने भेदत्व की। वल्लभ के मतानुसार जगत् ब्रह्मकार्य और ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है जबकि संसार जीव एवं माया निर्मित होने के कारण मिथ्या, झूठा एवं क्षण-भंगुर है। संसार वस्तुतः अविद्या माया का सृजन है।[1] दोनों कवियों की कृतियों में ब्रह्म और जगत् का एकीकरण मिलता है, दोनों अविकृत परिणामवाद के प्रति आस्थावान हैं। संसार दोनों भक्तों को अग्राह्य है। दोनों की धारणा है कि संसार की सत्यता-प्रतीति भ्रमवश है और मिथ्यात्व बोध ही सच्चा ज्ञान है। इसीलिए दोनों कवियों ने सांसारिकता के उन्मूलन के लिए प्रपंचरत जीव को अनेकशः उपदेश दिए हैं। उपर्युक्त कथन को निम्नोद्धृत काव्यांश से प्रमाणित किया जा सकता है :

१. **मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।**
मिथ्या है यह देह कहौ क्यौं हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव सब उतपति प्रलय समाहिं।
सरन मोहिं प्रभु राखिये चरन-कमल की छाहिं।[2]

२. **मैं तोहिं अब जान्यों, संसार।**
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत, कबहुं न निकसत सार।[3]

माया : दर्शनशास्त्र में माया का शक्ति स्वरूप स्वीकृत है, अतः भक्त्यात्मक साहित्य में भी ब्रह्म की शक्ति का नाम माया है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार भगवान् रमणार्थ जिस शक्ति का आश्रय लेते हैं, वही माया है। अतः भगवान् से भिन्न मानना अनुचित है। इसके दो भेद मान्य हुए हैं—(क) विद्या—भगवान् की क्रीड़ा इसी के आश्रय से संपन्न होती है। वल्लभ के शब्दों में इसे ही 'करण' कहा जाता है। यह

---

१. तत्त्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक २६
२. सूरसागर, १११०
३. विनयपत्रिका, १८२

श्रीकृष्ण की लीलापयोगिनी माया है। भगवत्‌शक्ति रूपा होने के कारण यह उनकी कार्य-साधिका है। (ख) अविद्या माया—यह जीव को ग्रस लेती है, फलतः वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है। यह मिथ्यापूर्ण संसार के सृजन में पूर्ण समर्थ मानी जाती है। यह बंधन में जकड़ देती है, जिससे पाँच प्रकार के अध्यास उत्पन्न होते हैं। माया जनित अध्यास का नाश पंचपर्वा विद्या माया करती है। वल्लभ साहित्य में 'व्यामोहिका'[1] शब्द से इसे अभिहित किया गया है।

सूर और तुलसी दोनों की काव्य-कृतियों में माया का महत्वांकन पूरे विस्तार के साथ प्राप्त है। दोनों अविद्या माया के कुकृत्य का निरूपण करते हुए जी भर कर कोसते हैं। भुजंगिनी, नटिनी, मोहिनी आदि सूर प्रयुक्त शब्द उसके दुर्गुणों के सच्चे व्यंजक हैं। तुलसी साहित्य में सीता को विद्या स्वरूपा माया बताया गया है, जिनकी कृपा से भगवच्चरणों में अनुरक्ति उत्पन्न होती है। सूर-काव्य में योग माया अभिवर्णित है, जिसके पति श्रीकृष्ण हैं। दोनों महाकवियों की रचनाओं में पापिनी, भव बंधनकारिणी, तृष्णास्वरूपा अविद्या माया का जितना उपबृंहण हुआ है उतना 'करण' का नहीं। दोनों भक्त काम, क्रोध, मद, लोभ मोहादि उत्पन्नकर पाश में बाँधने वाली माया से बचने के लिए भगवदनुग्रह की कामना करते हैं। माया-वर्णन की दृष्टि से दोनों कवियों में अनुपेक्षणीय साम्य लक्षित होता है।

अवतार : 'सूरसागर' में अवतारवादी सिद्धांत के प्रति जितनी गहरी आस्था व्यंजित हुई है उतनी ही 'रामचरितमानस' में भी। 'अवतार' का अर्थ है उतरना, ऊपर से नीचे आना—अवतरणमवतारः। गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी द्वारा अवतार इन शब्दों में परिभाषित है—'जगत् में परमात्मा जो आविभूत होता है, सो मानो, अपने स्व-स्वरूप स्वधाम से जगत् में उतरता है। अव्यय पुरुष ही क्षर रूप में उतर कर आया है। इसीलिए उसे अवतार कहते हैं।[2] सूर और तुलसी दोनों ने कृष्णावतार और रामावतार की ललित लीलाओं का अत्यंत उत्कृष्ट सौंदर्य वर्णन किया है। दोनों को यह मान्य है कि भगवान् का प्राकट्य धर्म-स्थापना और अधर्मनाश के लिए होता है, जैसा कि श्रीभद्‌भागवत पुराण के निम्नलिखित श्लोक में संकेतित है:

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वर :।[3]

प्रयोजन दृष्टि से दोनों कवियों की रचनाओं में निर्विवादतः भाव साम्य है।

---

१. (क) विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता तत्त्वार्थदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण।३५।
(ख) सुबोधिनी टीका, भागवत २/६/३३१
२. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति
३. श्रीमद्‌भागवत पुराण, १०/३२/२७, गीता : ४/८

पर सूर इस मत के प्रति अधिक निष्ठावान हैं कि ईश्वरावतार का प्रयोजन है अपने अनुग्रह से साधकों को मुक्ति प्रदान करना, जबकि गोस्वामी जी भू-भार-हरण और 'विप्र, धेनु, सुर, संत' के परित्राण को ही प्रमुख उद्देश्य मानते हैं।[१] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों उपासकों के परमाराध्य अवतार और अवतारी दोनों हैं, दोनों में स्वरूप-भेद नहीं है। सूर के कृष्ण में विष्णुता गौण है, तुलसी के राम में प्रधान है।

लीला : भक्ति साहित्य में बहुप्रयुक्त 'लीला' शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक भक्तों ने न केवल लीला सिद्धांत का अभिनव प्रतिपादन किया अपितु उसकी उत्कट अनुभूति की व्यंजना भी की। लीला भगवान् का विलास है। जगत् की उत्पति, स्थिति और लय उनकी लीला के अंतर्गत परिगण्य हैं। दोनों कवियों के परमोपास्य लीलावतार हैं, जो लीलातनु धारण कर अपने श्रद्धालु एवं निर्मल हृदय वाले भक्तों का कल्याण करते हैं। सूरवर्णित श्रीकृष्णलीला स्वलीला है, जिसमें भक्त का सम्मिलित होना संभव है, किंतु तुलसी के राम की लीला अभिनयरूपा है, जिसमें आराधक मात्र दर्शक रहता है। सूर और तुलसी के लीलाबोध में अंतर है, फलतः प्रथम ने रससागर लीलाकाव्य का सृजन किया, द्वितीय ने लोककल्याण हेतु चरित-काव्य का।

गोलोक और वैकुंठ : वैष्णव भक्तिकाव्य में एक अति उदात्त ऊर्ध्वलोक की परिकल्पना हुई है। वह है सूरसाहित्य में गोलोक, जो वल्लभ सिद्धांत के अनुसार नित्य लीलाधाम है, जिसमें अक्षर ब्रह्म अपनी आनंद प्रसारिणी शक्तियों के साथ क्रीड़ा या रमण में निमग्न रहते हैं। तुलसी के राम जिस धाम में निवास करते हैं, वह वैकुंठ है। यही विष्णु का धाम है, जो अत्यंत तेजोमय है। वहाँ किसी प्रकार का कष्ट-शोक नहीं है। वैकुंठ जितना तुलसीसाहित्य में काम्य है उतना ही सूरकाव्य में गोलोक और वृंदावन भी। "वल्लभ संप्रदाय में बहुवर्णित गोलोक, गोकुल या वृंदावन, रासलीला, मधुर भक्ति, सखी भाव, पूजाविधान आदि के प्रति भी तुलसी निष्ठावान नहीं हैं",[२] जबकि सूर के लिए अनिवार्य था, अतः हैं। सूरदास श्रीकृष्ण की रासक्रीड़ा-भूमि वृंदावन धाम को तजकर वैकुंठ जाना श्रेयस्कर नहीं मानते :

बंसीबट बृंदावन, जमुना तजि वैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै।[३]

---

१. (क) विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। रामचरितमानस
(ख) भूमिधर भार हर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूप धर भक्त हेतू। रामचरितमानस...
२. तुलसी दर्शन मीमांसा, डा० उदयभानु सिंह, पृ०३५२
३. सूरसागर, ३४६

निष्कर्ष यह है कि सूर और तुलसी के दार्शनिक सिद्धांतों में अपूर्व साम्य है क्योंकि दोनों के उत्तमर्ण ग्रंथों में श्रीमद्भागवत पुराण और वल्लभ-साहित्य प्रमुख हैं। श्रीकृष्णचरणानुरागी सूर के काव्य में वल्लभमत को एकांत प्रतिष्ठा मिली है; तुलसी की कृतियों में शंकराचार्य, रामानंद आदि द्वारा प्रतिपादित अनेक मतवादों को भी। इस तरह, तुलसी ने अपनी समन्वयकारिणी शक्ति का परिचय दिया, सूर ने दर्शन के विभिन्न पचड़ों से बचाते हुए केवल शुद्धाद्वैतवाद को अमर वाणी दी। तात्पर्य यह कि दोनों मनीषी सच्चे अर्थ में महान् दार्शनिक कवि हैं।

☐ डा० विश्वदेव त्रिगुणायत

सूरदास तथा नंददास

सूरदास उच्चकोटि के भक्त, शृंगार तथा वात्सल्य रस के अनुपम चितेरे कवि हैं। उनका भावुक मन अपने आराध्य व्रजनाथ कृष्ण के चरणों में पूर्णतः समर्पित है। उनका संपूर्ण कवि-व्यक्तित्व कृष्ण के अनुपम सौंदर्य, गुणों, मधुर लीलाओं तथा माहात्म्य का गुणगान करने में मग्न रहा है। इसी युग में एक और कृष्ण भक्त कवि हुए हैं—कविवर नंददास। वे सूरदास की भाँति अष्टछाप परंपरा के प्रमुख कवि, आचार्य वल्लभ के अनुयायी, अत्यंत प्रतिभाशाली, संस्कृतज्ञ, काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ तथा रसिक कलाकार थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी अथवा नाममाला, भाषा दशमस्कंध, श्यामसगाई, गोवर्धनलीला, सुदामाचरित, विरह-मंजरी, रूप-मंजरी रुक्मिणी-मंगल, रासपंचाध्यायी, भँवरगीत, सिद्धांत-पंचाध्यायी और पदावली उल्लेखनीय हैं।

अष्टछाप के अन्य सभी कवियों की भाँति सूरदास तथा नंददास दोनों के काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं का वर्णन करना है। दोनों ने भागवत से भावात्मक स्थल चुनकर अपने काव्यों की रचना की है। सूर के समस्त काव्य में भागवत के ही प्रसंग हैं, जबकि नंददास ने उसके अतिरिक्त भी कृष्ण-लीलाओं का काव्यात्मक चित्रण किया है। भागवत का 'भ्रमरगीत' प्रसंग अष्टछाप कवियों का अत्यंत प्रिय प्रसंग रहा है। इसको लेकर विभिन्न कवियों ने भ्रमरगीतों का प्रणयन किया है। सूरदास तथा नंददास का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

भ्रमरगीत प्रसंग में सूरदास का मन इतना अधिक रमा है कि उन्होंने तीन भ्रमरगीतों की रचना की है। इन भ्रमरगीतों में उनकी भावुकता, सहृदयता, कल्पना-वैभव, तार्किता, दार्शनिकता एवं अभिव्यंजना-कौशल का श्रेष्ठतम रूप दृष्टिगत होता है। सूरदास तथा नंददास दोनों के भ्रमरगीतों का आधार भागवत है किंतु

दोनों कवियों ने इस प्रसंग के वर्णन में अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। सूर इस प्रसंग में नंददास की अपेक्षा कहीं अधिक भावुक और संवेदनशील हैं। उनमें तार्किकता और दार्शनिकता के स्थान पर प्रेम एवं भावात्मकता का प्राबल्य है। नंददास जिन प्रसंगों में तर्क और दर्शन का सहारा लेते हैं, वहाँ सूर भावना का आश्रय लेते हैं। उदाहरणार्थ सूर के उद्धव कृष्ण के प्रेम में खोई गोपियों की अनन्य प्रीति, एकनिष्ठा तथा निश्छल एकांतभाव को देखकर भावविह्वल हो उठते हैं। वह प्रेम के अनंत सागर में आकंठ निमज्जित हो जाते हैं। उनके ज्ञान-गर्व पर भावना छा जाती है :

ऊधो कहैं, 'धन्य ब्रजबाल। जिनके सर्बस मदनगोपाल।
वह मत त्याग्यो, यह मति आई। तुम्हरे दरस भगति मैं पाई।
तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो। भगति सुनाय जगत निस्तारो।'[1]

इसके विपरीत नंददास के उद्धव गोपिकाओं के अकाट्य तर्कों और अनन्य प्रेमभाव से प्रभावित होकर मन में ज्ञानोपदेश की निस्सारता पर लज्जित तो अवश्य होते हैं : **देखत उनको प्रेम, नेम ऊधौ को भाज्यो। तिमिर भाउ आवेस, बहुत अपने मन लाज्यौ।**[2] किंतु वह सूर के उद्धव की भाँति प्रेमविह्वला गोपियों के रंग में नहीं रँग पाते। सूर के उद्धव तो मथुरा लौटने पर कृष्ण से यहाँ तक कह देते हैं :

एक बेर ब्रज जाहु देहु गोपिनि दिखराई।
बृंदावन सुख छाँड़ि कै, कहाँ बसै हो आई।[3]

नंददास के उद्धव इतने सहृदय तथा सरलता से परास्त होने वाले नहीं हैं। वे अहंकारी शास्त्रार्थी के सदृश गोपियों के दर्शन के जटिल प्रश्नों पर वादविवाद करते हैं। नंददास की गोपियाँ भी भोली ग्रामीण बालाएँ नहीं। वे दर्शन के उच्च धरातल पर पहुँचकर निर्गुण-सगुणब्रह्म-विवाद में तर्क द्वारा ही उद्धव को परास्त करती हैं[4] :

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासौं कहो ऊधो।
हमरो सुंदर स्याम प्रेम कौ मारग सूधो।[5]

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूर में भावुकता और सहृदयता की प्रधानता है, उनमें दार्शनिकता तथा तार्किकता गौण है। इसके विपरीत नंददास में

---

१. भ्रमरगीतसार, सं० आचार्य रामचंद्र शुक्ल, ३७९
२. भँवरगीत, नंददास, ४३
३. सूरसागर, ४७१३
४. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिंदी में भ्रमरगीत काव्य : उसकी परंपरा, पृ० २८४
५. भँवरगीत, १२५

वैचारिकता और दर्शन के जटिल सिद्धांतों का विवेचन करने की प्रवृत्ति है। यद्यपि सूर के भ्रमरगीत में भी विस्तार से वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया गया है किंतु उनमें नंददास के सदृश दार्शनिकता दृष्टिगत नहीं होती।

नंददास के भँवरगीत के वर्ण्य-विषय पर सूरदास के भ्रमरगीतों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उसकी शैली तथा छंदयोजना पर भी सूर का प्रभाव है, किंतु नंददास ने अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। उदाहरण के लिए पद के अंत में एक अर्द्धाली जोड़कर उन्होंने छंद को और अधिक संगीतात्मक बना दिया है :

कोऊ कहै री विस्व माँझ जेते हैं कारे।
कपटी कुटिल कठोर परम मानस मसिहारे।
एक स्याम तन परसि के जरत आज लौं अंग।
ता पाछे फिरि मधुप यह लागो जोग भुजंग।
कहाँ इनको दया।[1]

सूरदास तथा नंददास के भ्रमरगीतों में भावसाम्य होने पर भी नंददास की प्रतिपादन-शैली अधिक नाटकीय और प्रभावशाली है। उन्होंने किसी प्रकार की भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं समझी और सीधे ही विषय से प्रारंभ किया है। भागवत में उद्धव वक्ता हैं और गोपियाँ श्रोता; सूरदास को तो अपनी बात कहने का अवसर ही नहीं मिलता। किंतु नंददास ने बीच का रास्ता अपनाया है।[2] इसीलिए नंददास अपने भँवरगीत में सूर की भाँति भावुक, सहृदय एवं एकनिष्ठ प्रेमी के रूप में भले ही न उभर पाए हैं, किंतु उनकी शैली सूर की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तथा वैदग्ध्य पूर्ण है।

अष्टछाप परंपरा में शृंगार-वर्णन का विशेष महत्त्व है। सूरदास तथा नंददास दोनों ही ने रसराज शृंगार का बड़ा ही व्यापक, विस्तृत और सांगोपांग चित्रण किया है। उनमें रतिभाव का अत्यंत सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक, हृदयस्पर्शी एवं रसपेशल अंकन हुआ है। उन्होंने गोपी-कृष्ण के अनिंद्य सौंदर्य-चित्रण, प्रणयलीला, यमुना तट के सुरम्य कछारों तथा कुंजों की प्रेमलीलाओं, उनके परस्पर आकर्षण, हास्य-विनोद, दूतीकर्म, वनविहार, सुरति आदि प्रसंगों का अत्यंत चित्ताकर्षक वर्णन किया है। शृंगार के दोनों ही पक्षों—संयोग तथा विप्रलंभ—के इतने अधिक चित्र इन दोनों के साहित्य में दृष्टिगत होते हैं कि उनके आगे बड़े-बड़े शृंगारी कवि भी फीके पड़ जाते हैं।

---

१. भँवरगीत, १३४

२. डा० रूपनारायण, नंददास विचारक, रसिक कलाकार, २७७

संयोग शृंगार के विविध रूपों के कितने ही मोहक, रमणीय चित्ताकर्षक तथा स्वाभाविक चित्र सूर-साहित्य में बिखरे हुए हैं। राधा-कृष्ण तथा गोपिकाओं के रूप-वर्णन, काम-क्रीड़ाओं, प्राकृतिक सुषमा आदि अनेक प्रसंगों में सूर की विलक्षण काव्य-प्रतिभा, कल्पना-वैभव और वर्णन-नैपुण्य देखते ही बनता है। उनकी रसिकता एवं भावुकता इन वर्णनों में उमड़ी पड़ती है। कहीं-कहीं तो रसिक-शिरोमणि सूर इन शृंगारिक दृश्यों में वात्स्यायन के कामसूत्र के वर्णनों को भी मात दे गए हैं।

सूरदास की भाँति संयोग शृंगार के वर्णन में नंददास की काव्य-प्रतिभा उल्लेखनीय है। उनकी प्रायः सभी प्रमुख कृतियों—रूप-मंजरी, विरह-मंजरी, भंवरगीत तथा रासपंचाध्यायी आदि में संयोग शृंगार के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का व्यापक एवं मधुर चित्रण देखने में आता है। रूप मंजरी के शृंगारिक प्रसंग निश्चय ही अत्यंत हृदयग्राही हैं। कवि ने शृंगारिक चेष्टाओं—आलिंगन, चुंबन, सुरत-सुख आदि के अतिरिक्त मानसिक दशाओं—लज्जा, उत्साह, उल्लास और आत्मविस्मृति आदि का भी अत्यंत रमणीय वर्णन किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—कृष्ण के अनन्य अनुराग में भावविभोर रूपमंजरी की दशा इतनी विचित्र हो गई है कि वह अपनी चतुर सखियों द्वारा हठपूर्वक बार-बार पूछने पर भी लज्जा के वशीभूत होने के कारण अपनी दशा कहने के लिए शब्द नहीं जुटा पाती :

जब अति सखिन बूझनी लई। तब हँसि कँवरि गोद लुठि गई।
बात कहन कछु मान ह्वै आवै। बहुरि लजाय जाय छवि पावै।[1]

नंददास का शृंगार-वर्णन असंदिग्ध रूप से चित्तानुरंजक है—प्रेम और सौंदर्य के आतिशय्य ने उसे जिस रागमयता से आप्यायित किया है, उसमें सहृदय को पूर्ण भाव से निमज्जित करने की क्षमता है। अनुभूति, कल्पना, सूक्ष्मदर्शिता और संगीतमय प्रवाह के सुंदर संयोग से प्रेम की सजल सूक्तियों को जिस प्रकार उभारा गया है, उससे कवि की शृंगार विषयक मर्मज्ञता का परिचय मिलता है। प्रणयाच्छन्न हृदयों के शृंगारिक हास-विलास से उसमें अद्भुत आकर्षण आ गया है। उत्कृष्ट एवं परिष्कृत शृंगार के मनोरम चित्र नंददास की काव्यकृतियों में राशि-राशि पूंजीभूत हो गए हैं—ऐंद्रिय होते हुए भी वे सुरुचिपूर्ण हैं।[2] भाषा दशमस्कंध का यह उदाहरण द्रष्टव्य है। चीरहरण के अवसर पर गोपियों की काम-भावना उनकी शारीरिक कांति के रूप में उद्भूत होकर कितनी मधुर हो गई है :

रूप उदधि भरि-भरि रस आछें। मीन चलत जिमि मीन के पाछें।
सीतल सलिल कंठ परजंत। तहँ ठाढ़ी थर-थर बेपंत।[3]

१. रूपमंजरी, ५२०
२. प्रो० रमेश कुमार खट्टर, नंददास, पृ० २७६
३. भाषादशमस्कंध २२/७३

विरहाग्नि में तपकर कर ही प्रेम का रूप निखरता है। प्रेम के अनन्य गायक सूरदास और नंददास ने भी विप्रलंभ श्रृंगार के अंतर्गत मानव-हृदय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रणयानुभूति की बड़ी मार्मिक, रमणीय, चित्ताकर्षक एवं स्वाभाविक अभिव्यंजना की है। उनमें विप्रलंभ श्रृंगार के अंतर्गत आने वाली समस्त काम-दशाओं अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण का अत्यंत मार्मिक चित्रण दृष्टिगत होता है। सूर की विरहव्यथिता गोपिकाएँ अपने प्रेमाकुल हृदय में अनेक अभिलाषाएँ संजोए हैं कि उनके प्राणवल्लभ आकर उनके व्याकुल नेत्रों की दर्शन-पिपासा को तृप्त करें।[1]

कविवर नंददास की गोपिकाओं के हृदय में भी अपने प्रियतम के मिलन की उत्कृट अभिलाषा उमड़ रही है। वे कृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन के लिए नितांत विह्वल हैं :

कोउ कहे अहो दरस देहु तो बैन बजावो।
दुरि-दुरि बन की ओर कहा हिय लौन लगावो।
हमकौ पिय तुम एकहौ, तुमकौ हम सी, कोरि।
बहुत पाइके रावरे प्रीति न डारौ तोरि।[2]

प्रणयजन्य वियोग-व्यथा की असह्य पीड़ा को शांत करने के लिए प्रेमीजन अपने प्रिय के गुण-कथन का आश्रय लेते हैं। सूर की विरहिणी गोपिकाओं के हृदय में कृष्ण की कितनी लीलाएँ, कितने कृत्य और कितने ही गुण पिरोये हुए हैं।[3]

नंददास की विरहविदग्धा नायिका प्रिय के वियोग में इतनी अधिक व्याकुल हो उठी है कि उसको आकाश में उदित होने वाला दूज का चाँद कामदेव की तीक्ष्ण कटार-सा प्रतीत हो रहा है और तारे तो अंगारों की भाँति उसको दग्ध ही कर रहे हैं :

द्वैज चंद दिखि मैं भरि भारी। उगी गगन जनु काम करारी।
टूटहि तार कि अँगार बगावै। काम भूत जनु मोंहि छुरावै।[4]

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूरदास तथा नंददास दोनों ही ने विप्रलंभ श्रृंगार का बड़ा ही मार्मिक, सजीव और हृदयस्पर्शी अंकन किया है, किंतु सूर के वर्णन में जहाँ भावुकता तथा कवित्व की तल्लीनता दृष्टिगोचर होती हैं, वहीं नंददास में उनका आचार्यत्व झलकता है। उनका पांडित्य रूपमंजरी, विरह मंजरी और मानमंजरी आदि कृतियों में स्पष्ट देखने में आता है। आचार्य कवि ने विरह की प्रचलित परिपाटी का सैद्धांतिक अनुसरण करते हुए षड्ऋतु, बारह

१. सूरसागर, ४००५
२. भँवरगीत, ३२
३. सूरसागर, ४००२
४. रूपमंजरी, पृष्ठ १८

मासा, विरह की विभिन्न कामदशाओं, नायिका की मानसिक दशा आदि का विस्तृत चित्रण किया है। सूर में भी इस प्रकार के चित्र बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, किंतु वह परिपाटी का पालन मात्र नहीं है। सूर ने प्रेमजन्य विरहावस्था का अत्यंत सूक्ष्म, मार्मिक और सहज चित्रण किया है। उनकी भावाभिव्यक्ति कहीं अधिक स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी है।[1]

निःसंदेह सूरदास रससिद्ध कवि हैं। उन्होंने श्रृंगार का अत्यंत व्यापक और स्वाभाविक चित्रण किया है। इसके विपरीत, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, नंददास ने उसके सैद्धांतिक पक्ष का कहीं अधिक विस्तृत विवेचन किया है। इस क्षेत्र में सूर क्या अष्टछाप का कोई अन्य कवि उनकी तुलना में नहीं ठहरता। वस्तुतः नंददास का सैद्धांतिक ज्ञान अष्टछाप के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, विस्तृत, सूक्ष्म एवं गहन है। रति अथवा श्रृंगार के स्वरूप, नायक-नायिका भेद निरूपण, विप्रलंभ श्रृंगार विवेचन, विरह की विभिन्न दशाओं आदि के वर्णन में उनका काव्यशास्त्रीय पांडित्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

वल्लभ-संप्रदाय में वात्सल्य-भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित समस्त अष्टछापी कवियों ने अपने इष्टदेव कृष्ण की बालछवि का गुणगान किया है। इनमें सूरदास का विशिष्ट स्थान है। सूरकाव्य में वात्सल्य का विस्तृत, गहन और सूक्ष्म चित्रण हुआ है। कवि ने वात्सल्य से संबद्ध विविध भावों, लीलाओं, प्रसंगों आदि का अत्यंत स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, सजीव और हृदय-स्पर्शी चित्रण किया है। कृष्ण की बाललीलाओं, स्वभावजन्य चपलता, हठ, स्पर्धा आदि मनोवृत्तियों का कवि ने बड़ा ही मार्मिक अंकन किया है। निश्चय ही सूर बाल मनोविज्ञान के सच्चे पारखी थे। इस क्षेत्र में उनकी बड़ी गहरी पैठ थी। बालकों की मनोवृत्ति, चेष्टाओं तथा स्वभाव-व्यवहार के जितने रूपों से वे परिचित थे, वह अन्य किसी भी कवि के लिए अभिप्रेत हो सकता है। इच्छा के अनुरूप खाद्य-पदार्थ उपलब्ध न होने पर बालक को खीझ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कृष्ण का मन रोटी में है, किंतु माता यशोदा ने माखन खाने को दिया है। मक्खन से कितना भी लगाव क्यों न हो, परंतु आज उसमें मन नहीं है। परिणामस्वरूप खीज उनके मुख-मंडल पर स्पष्ट झलक रही है :

खीजत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंहें टेढ़ी, बार-बार जमात।
× × ×
कबहुँ झुकिकै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात।[2]

---

१. सूरसागर, ३९६८ २. सूरसागर, ७१८

कृष्ण की बालछवि, बालसुलभक्रीड़ाओं, मनोवृत्तियों आदि के चित्रण के अतिरिक्त सूरदास ने बालक कृष्ण के संपर्क में आने वाले माता-पिता, संगी-साथी, गौओं आदि के हृदय में पल्लवित होने वाले वात्सल्यभाव की भी विशद् व्याख्या की है। घुटनों के बल आँगन में दौड़ने वाले कृष्ण नंद-यशोदा के लिए क्रीड़ा-कंदुक बने हुए हैं :

कबहुँक दौरि घुटुरुवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावै री।
इततैं नंद बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री।
दंपति होड़ करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री।[1]

डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में 'बाल्यावस्था का बड़ा ही सुंदर और स्वाभाविक वर्णन सूर ने किया है। बच्चों की मनोवृत्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार और सजीव चित्रण सूरसागर में मिलता है। सूर की अंतर्दृष्टि मानव-मानस की तह में गोता लगाकर भावरत्न लाने में बेजोड़ है। बालकों की दैनिक चर्या के सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को चित्रित करना कवि भूला नहीं। एक के बाद दूसरा चित्र इस सफाई से कवि ने दिया है कि उसकी चित्रपटी का सौंदर्य देखते ही बन पड़ता है।'[2]

सूरदास आदि अन्य अष्टछाप के कवियों की भाँति नंददास ने भी कृष्ण के बालरूप से संबद्ध पदों की रचना की है। कृष्ण की मधुर बालछवि का एक उदाहरण उल्लेखनीय है :

पानि पकरी जब आँगन आने, जिनतें उर डरपे सु डरावे।
डर तें नैन सजल ह्वै भाये, जनु अरविंद अलिंद हलाये।
परत दृगन तैं अलकन जोती, डारत ससि जनु मंजुल मोती।
मींजत चल मसि प्रसरत ऐसे, निर्मम जल बिधु-कलंक जैसे।[3]

नंददास ने कृष्णजन्म, बधाई और बाललीला पर पद लिखे हैं, किंतु वे बहुत थोड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। उन पदों में सूर की सी प्रगाढ़-वात्सल्य-भक्ति का परिचय नहीं मिलता। नंददास कृष्ण के किशोर रूप के उपासक विशेष रूप से थे।[4] वस्तुतः नंददास ने वातसल्य भाव का चित्रण कोरा अष्टछाप परंपरा का निर्वाह करते हुए किया है। उनके बालवर्णन पर सूरदास का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, उनका मन कृष्ण के बालरूप की अपेक्षा किशोर तथा युवारूप में ही अधिक रमा है। इसीलिए उनके बालवर्णन में सूर की सी व्यापकता,

१. सूरसागर, ७१६
२. सूर और उनका साहित्य, पृ० ३२३
३. भाषा दशम स्कंध, नंददास ग्रन्थावली, पृ० २१७
४. डा० दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६२०

स्वाभाविकता, सूक्ष्म गहनता एवं प्रभावात्मकता देखने में नहीं आती। सूर इस क्षेत्र में निश्चय ही अनुपमेय हैं।

अष्टछाप के अन्य कवियों की भाँति महाकवि सूरदास और कवि श्रेष्ठ नंददास दोनों आचार्य वल्लभ के अनुयायी थे। आचार्य वल्लभ ने सांसारिक दुःखों से निवृत्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय 'भक्ति' को माना है। उनके अनुसार भक्तिमार्ग ज्ञान तथा कर्म की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और श्रेष्ठ साधन है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' कहलाता है। उन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति को प्रभु का अनुग्रह माना है—'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः।'[१] वल्लभ ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति के महत्त्व पर बल देते हुए आत्मनिवेदन अथवा आत्मसमर्पण को अधिकतम महत्ता दी है। वह तन, मन और धन से इष्ट के चरणों में समर्पण को श्रेष्ठ भक्ति मानते हैं। उनकी पुष्टि-भक्ति के सेव्य रसरूप श्रीकृष्ण हैं।[२]

भक्तशिरोमणि सूरदास की भक्तिभावना वल्लभसंप्रदाय से पूर्णतः अनुप्राणित है। वे ब्रजचंद्र श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के अनन्य उपासक हैं। वे उनके चरणों में सर्वथा समर्पित हैं। नंदनंदन कृष्ण उनके एकमात्र आश्रय हैं। वे समस्त सुखों के केंद्र और एकमात्र आराध्य एवं पुण्यदाता हैं—**'सौ बातनि की एकै बात। सूर सुमिरि हरि-हरि दिन-रात।'**[३]

सूर ने विस्तार से नवधाभक्ति का विवेचन किया है। उनकी भक्तिभावना की विशेषताएँ हैं—सख्यभाव तथा वात्सल्य भक्ति। सूर की सख्यभक्ति अनुपम है। वह अक्खड़ हैं। अपने इष्टदेव से सीधे-सीधे बात करने में विश्वास करते हैं—**'आजु हौं एक एक करि टरि हौं। कै तुमहीं कै हमहीं माधव, अपुन भरोसें लरिहौं'**।[४] उनकी मनोवृत्ति सखाभाव में खूब रमी है।[५] सूर अपने प्रभु के अनुपम सौंदर्य पर बुरी तरह रीझे हुए हैं। उनके हृदय-पटल पर कृष्ण के अनिंद्य, अलौकिक रूप की कितनी ही मधुर छवियाँ अंकित हैं।[६]

भक्तकवि सूर का हृदय अपने उपास्य की बालछवि पर सब से अधिक अनुरक्त है। वे कृष्ण के बालरूप, नट-खट स्वभाव और बालक्रीड़ाओं पर मुग्ध हैं। उनका कलाकार भक्तिभावना की पुनीत अनुरक्ति से आपूरित हो उठा है।[७]

---

१. अणुभाष्य, ४/४/९, टीका
२. डा० दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ५२५
३. सूरसागर, ३४८
४. सूरसागर, १३४
५. सूरसागर, ८६३
६. सूरसागर, १९९८
७. सूरसागर, ७९५

सूर की भक्तिभावना में उच्चकोटि की भावप्रवणता, दैन्य, एकनिष्ठा, पूर्ण तादात्म्य एवं सर्वस्वसमर्पण का भाव छलका पड़ता है। वह प्रेमाभक्ति को ही मुक्ति का एकमात्र साधन मानते हुए अपने प्रभु से विनयपूर्वक उसी की याचना करते हैं :

प्रेम भक्ति बिनु कृपा न होइ। सर्ब सास्त्र हम देख्यौ जोइ।
बिनु हरि नाम नहीं उद्धार। सूर जानि यह भजौं मुरार।[1]

कविवर नंददास भी कृष्ण के अनन्य भक्त हैं। उनके हृदय में अपने आराध्य कृष्ण के बाल, किशोर तथा युवा सभी रूपों के प्रति तीव्र अनुराग है :

सिसु कुमार पौगंड बलित अभिनय दिखराए।
कमल नैन प्रापत्ति उपाइ सब लोक सिखाए।[2]

नंददास ब्रजनाथ के किशोर-रूप पर अधिक मुग्ध हैं। वह उनको परब्रह्म, अज, अनंत, सर्वांतर्यामी रूप में देखते हुए भी उनके रसिक रूप के प्रति अधिक मोहित हैं :

जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत हैं जाहि।
तदपि रँगीले प्रेम तें निपट निकट प्रभु आहि।[3]

सूर की भाँति नंददास में भी नवधाभक्ति के अतिरिक्त सख्यभाव तथा वात्सल्य भक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं, किंतु उनकी अनुरक्ति इन सब में मधुराभक्ति के प्रति विशेष रही है :

गढ़्यौ जु मन प्रिय प्रेम रस, क्यों हूँ न निकस्यो जाय।
कुंजर जिम चेहलें पर्‌यो, छिन-छिन अधिक समाय।[4]

नंददास की भक्तिभावना में प्रेम-जन्य विरह की प्रधानता है। उसमें विरहाकुल भावप्रवणता, अनन्यता तथा तल्लीनता देखते ही बनती है :

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसांई।
नंदनंदन बिडराति फिरत तुम बिन बन गाई।
काहे न फेरि कृपाल ह्वै गौ-ग्वालन सुधि लेहु।
दुख जल-निधि हम बूड़हिं कर अवलंबन देहु।[5]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्तशिरोमणि

---

१. सूरसागर, ४६१६
२. सिद्धांत पंचाध्यायी, नंददास ग्रंथावली, पृ० ३६
३. रूपमंजरी, पृ० २७
४. वही, २११
५. भँवरगीत, पृ० १३०

सूरदास तथा भक्तप्रवर नंददास दोनों ही उच्चकोटि के कलाकार हैं। दोनों ही हिंदी साहित्य जगत् की निधि हैं। दोनों ही मानव अनुभूति के विलक्षण मर्मज्ञ तथा उसकी अभिव्यञ्जना-कला के पारखी हैं। दोनों अष्टछाप-परंपरा के अमूल्य रत्न हैं। निःसंदेह सूरदास इस वर्ग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी-सी गहन, गंभीर, सूक्ष्म और व्यापक भावानुभूति विश्व के गिने-चुने कवियों में दृष्टिगत होती है। नंददास का पांडित्य तथा भाषा-नैपुण्य भले ही सूर से बढ़कर है, किंतु जहाँ तक भावुकता और सहृदयता का प्रश्न है, इस क्षेत्र में उनके समक्ष नंददास क्या, हिंदी का कोई भी कवि नहीं ठहरता। इस संबंध में डा० मुंशीराम शर्मा के ये शब्द उद्धरणीय हैं— 'भाव-साम्राज्य के एकछत्र सम्राट सूरदास ने इन भावों में अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा गहरा प्रवेश किया है। उनका यह साम्राज्य विस्तृत भी है और गंभीर भी। वे अपने इस क्षेत्र में आगे भी बहुत दूर तक बढ़े हैं और गहराई में भी उतरे हैं। जहाँ तक भावजगत् का संबंध है, सूर की समता करने वाला कवि विश्व में कठिनाई से मिलेगा। वे भावजगत् के कविसम्राट हैं।[1]

---

१. सूरदास का काव्य-वैभव, पृ० ८५-८६

□ डा० बाबूलाल गोस्वामी

सूरदास और घनानंद

सूर और घनानंद दोनों ही इतिहास के मध्य-युग में हुए। किंतु जहाँ सूर ने मध्यकाल की विकासमान चेतना को स्पर्श कर उसमें नए सिरे से प्राणप्रतिष्ठा करने का कार्य अपने काव्य के माध्यम से किया वहाँ घनानंद के समय तक भक्तिभावना और विलासिता दोनों ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। सूरदास ने अपने समय की विलासिता की प्रवृत्ति को भगवदुन्मुख कर संपूर्ण समाज को प्रभावित कर युग-चेतना को नवीन दिशा प्रदान की। घनानंद के समक्ष सामाजिक दृष्टि से ऐसी कोई समस्या नहीं थी। सूर की साधना नितांत वैयक्तिक होते हुए भी इसी कारण संपूर्ण समाज को प्रभावित करने में सफल रही है, किंतु घनानंद की काव्य-संपदा या तो काव्य-प्रेमियों, कलाविदों और रसविदग्धों को चमत्कृत और संतुष्ट करने तक ही सीमित रही है अथवा आत्म-परिष्कार के लिए उसका उपयोग किया गया है। सूर ने काव्य-संवेद्य का ही चरम निदर्शन नहीं किया, भाषा को भी संस्कारित करने का महत्कार्य किया है। घनानंद ने काव्य में समय के अनुरूप एक ताजगी और आत्माभिव्यंजन का नवीन कौशल प्रदर्शित किया। सूर के पद जनसाधारण से लेकर सुपठित वर्ग तक सभी के लिए आनंद प्रदान करने में समर्थ हैं तो घनानंद के कवित्तों को समझने के लिए एक विरले ही अनुभव और रीति-नीति की समझ आवश्यक मानी जाती है। सूर के समान घनानंद भी ब्रजभक्ति के कायल थे किंतु सूरकालीन भक्ति घनानंद युग तक आते-आते रूढ़ हो चुकी थी। अतः इस क्षेत्र में जो यश सूर को प्राप्त हो सका, वह घनानंद को प्राप्त होना कदापि संभव न था। यही कारण है कि विद्वानों ने सूर को भक्ताग्रगण्य पहले और कवि बाद में माना है, जबकि घनानंद की भक्ति में समर्पण की वैसी ही तीव्रता और भावुकता होते हुए भी उन्हें मूलतः लौकिक प्रेम का कवि घोषित किया है। परंपरागत काव्य का अनुसरण

करने के कारण घनानंद की भक्तिभावना आलोचकों की दृष्टि में वैसी महत्त्वपूर्ण नहीं बन पायी है, जैसी कि सूर की। हमारा विचार है कि भक्ति की दृष्टि से अभी तक घनानंद के काव्य पर गंभीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया गया। इसके कुछ कारण हो सकते हैं। प्रथमतः घनानंद के काव्य के उस अंश को, जिसे आलोचक सर्वोत्कृष्ट और अभूतपूर्व कहकर घनानंद को दाद देते रहे हैं, उनके जीवन की घटनाओं से जोड़कर अपनी अंजलि को संकुचित कर लेते हैं और उनकी भक्तिपरक रचनाओं के मर्म तक पैठने की आवश्यकता ही नहीं समझते। ब्रजभूमि के धूलिकणों को भी घनानंद ने जिस आकुल-व्याकुल रीति से अपनी भावना का अंग बनाया और उसमें रहकर जिस दिलेरी के साथ शूरवीर की भाँति मृत्यु का आलिंगन किया, वह घटना भक्तिजगत् में बेजोड़ है।

महात्मा सूरदास की तीन रचनाएँ प्रमाणिक मानी जाती हैं—'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी'। सूरसागर में पाँच हजार के आसपास पद उपलब्ध होते हैं, सारावली और साहित्यलहरी अपेक्षाकृत छोटी रचनाएँ हैं। कुल मिलाकर सूर का उपलब्ध साहित्य भी परिमाण में कम नहीं है। किंतु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इस उपलब्ध साहित्य में से चुनाव करने पर बहुत-सा भाग छोड़ना पड़ता है। उनकी तुलना में घनानंद का साहित्य-परिमाण बहुत कम नहीं तो आधे से अधिक के बराबर अवश्य होगा। उनके उपलब्ध ग्रंथों की संख्या घनानंद-ग्रंथावली में ४१ दी गयी है। इनमें पदावली की संख्या सहस्राधिक है। 'सुजानहित' में ५०७ कवित्त सवैये हैं, 'कृपाकंद' में ६२ और 'प्रेमपत्रिका' में छोटे बड़े ९५ छंद हैं। अन्य ३७ ग्रंथ छोटे-छोटे हैं, किंतु उन्हें एकत्र गिन लिया जाय तो दो हजार से अधिक छोटे-बड़े छंद मिलेंगे। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से 'सुजानहित', 'पदावली', 'कृपाकंद' और 'प्रेमपत्रिका' अधिक महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। भावना की तरलता तो उनकी सभी कृतियों में विद्यमान है किंतु पदावली और कवित्त-सवैयों में उनकी आत्माभिव्यक्ति और काव्यसौष्ठव विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

उनकी उपासना-पद्धति तथा काव्यभूमि पर किंचित् दृष्टिपात करें। सूर और घनानंद क्रमशः वल्लभ तथा निंबार्क संप्रदाय के अनुगत और परंपरागत रूप में दीक्षित थे और उनकी उपासना-पद्धति के प्रति निष्ठावान् होते हुए भी दोनों भक्ति-भावना और काव्य-रचना में उन्मुक्त और स्वच्छंद थे। दोनों में अंतर यह है कि सूरदास ने ब्रजप्रेम के जिन तत्त्वों को प्रचारित किया था, वे घनानंद को परंपरागत रूप में प्राप्त हुए थे अतः उनके काव्य में ब्रजवर्णन एक प्रकार से परंपरा का निर्वाह ही कहा जा सकता है। इस परंपरा-निर्वाह में घनानंद की भावनाओं का क्रमशः परिष्कार होते-होते उदात्तीकरण हो गया है। सूरदास का काव्य साधना की कोटि से आगे प्रायः सिद्धावस्था का काव्य है। वहाँ हरिलीला प्रमुख हो गयी है। अतः सूर का

निजत्व यदि वहाँ कहीं प्रकट है तो लीलागान में, उनकी तल्लीनता और वैयक्तिक अनुभवों की श्रीकृष्णचरित के गान के साथ संपृक्ति के रूप में ही।

सूर और घनानंद दोनों का आदर्श गोपीभाव या सखीभाव था। सूरदास को अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य से हरिलीला-गान की प्रेरणा मिली थी। अतः वे श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का भागवत के आधार पर गान करने में प्रवृत्त हुए। आरंभ में दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों से ब्रजलीला-गान करते-करते वे सखी-भाव तक जा पहुँचे और 'सारावली' की रचना करते समय निकुंज की नित्यलीला का वर्णन करने में लग गए। इस प्रकार सूरदास के कृष्णकाव्य के दो सोपान सामने आते हैं। प्रथम ब्रजलीला का और द्वितीय निकुंज-लीला का, जिसकी स्वीकृति वृंदावन की रसोपासना से प्रभावित होकर बाद में वल्लभसंप्रदाय में भी हुई। घनानंद सीधे वृंदावन आए थे, वृंदावनवासी के नाम से प्रसिद्धि भी पायी और श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं की ओर न जाकर निकुंजलीला में ही रमे रहे। उनके काव्य में ब्रज का अंश तो है किंतु वे उसे भजन का साधन मानकर ही चलते रहे, उनका साध्य सखी या सहचरी भाव ही था अतः नित्य विहार का गान ही उन्होंने मुख्य रूप से किया। उनके लघुकाव्य प्रबंधों में, जिन्हें निबंध की संज्ञा दिया जाना ही उचित होगा, जिनमें यमुना, गिरिराज (गोवर्द्धन), बरसाना, प्रेम-भावना, गोकुल आदि की महिमा प्रकट की गयी है और उन्हें श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के साधनवत् अपनाया है। प्रत्येक निबंध में वे अपने इसी सिद्धांत के कथन में प्रवृत्त हुए हैं। निंबार्क संप्रदाय में गोपी प्रेम की स्वीकृति होने से ब्रजलीला को ही प्रारंभ में स्वीकृति मिली थी। सखीभाव यहाँ परवर्तीकाल में ही स्वीकृत हुआ है। ब्रजभूमि के माहात्म्य के उनके कुछ उल्लेख द्रष्टव्य हैं :

(क) **जमुना जस बरन्यौ बिसद, निरवधि रस को मूल।**
जुगल केलि अनुकूल है, बसिवौ जमुना कूल।
जमुना जस कों जियरा तरस्यौ। जनुना कृपा सुरस उर सरस्यौ।
तब कछु जमुना मरमहिं परस्यौ। बानी है आनंदघन बरस्यौ।

—यमुना यश

(ख) **मानस प्रीति पपीहा परसै। तोषै पोषै पीवै तरसै।**
घन चातक को मरम न परसै। ब्रज कासनि आनंदघन बरसै।

—प्रीति-पावस

वस्तुतः ऐसे कथन सिद्धांत के अंतर्गत ही आएँगे। इनसे श्रीकृष्ण के प्रति प्रीति की दृढ़ता ही उद्दिष्ट है, अतः इन्हें साधन-भक्ति के अंतर्गत ही रख सकते हैं। किंतु उसमें मन की गति पूरी तरह समाहित हो गई है। काव्य की दृष्टि से तो ये स्थल वर्णनात्मक हैं, जिनमें भावना की गंध विद्यमान है। रस की झलक उतनी नहीं

कि काव्य प्रेमी उसमें सराबोर हो सकें। भक्त-मन के लिए यहाँ अवलंब अवश्य मिल सकता है। ये उक्तियाँ भावना और बुद्धि दोनों के संयोग का प्रतिफल कही जा सकती हैं।

सूर की काव्यराशि में ऐसे अनेक स्थल मिल सकते हैं जहाँ उन्होंने सिद्धांत-कथन किया है और जो उनके भजन या साधना की कोटि में आते हैं। विनय के पदों के अतिरिक्त भागवत की प्रथम से नवम स्कंध तक की कथाओं का वर्णन उन्होंने परंपरा-निर्वाह या भक्ति-सिद्धांत-कथन के उद्देश्य से ही किया है। इनमें ऐसे स्थल बहुत अल्प हैं, जहाँ सूर का भावुक मन रमा हो। फिर भी इन स्थलों पर एक कथात्मक सौंदर्य विद्यमान है। घनानंद के उक्त काव्य की तरह वे निबंधात्मक नहीं हैं। सूर की साक्षी भी हम दे सकते हैं। सारावली की रचना सार रूप में सिद्धांत कथन के लिए हुई है।

सूर और घनानंद दोनों के काव्य का मूल तत्त्व 'प्रेम' है। यहाँ दोनों कवि समान धरातल पर स्थित हैं। सूर ने कृष्णकथा को अपनी प्रेम-व्यंजना का माध्यम बनाया। उसमें सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति की छाप स्पष्ट रूप से अंकित है। घनानंद के काव्य में भी कृष्णराधा ही अवलंबन हैं और कहीं उनकी रति राधाकृष्ण युगल के 'नेह' का रूप धारण कर सकी है तो कहीं उनकी निजी 'रीझि' का परिपाक हुआ है। यह निजी 'रीझि' 'रति' या 'आसक्ति' इतनी सीधी और आत्मपरक हो उठी है कि उसमें भक्ति-भावना वाच्य न रहकर व्यंग्य हो गयी है। इससे आलोचकों को उसमें लौकिक प्रेम की गंध आने लगती है। किंतु घनानंद और सूर का अधिकांश काव्य ऐसी कोटि का है, जिसमें प्रेम की व्यंजना तो हुई है किंतु वासना की गंध तक नहीं है। सूर और घनानंद दोनों ही प्रेम की सूक्ष्म रीति और गहरी अंतःप्रेरणा के कवि हैं। इस क्षेत्र में दोनों ही पूर्ण स्वच्छंदता के समर्थक हैं और यहाँ वे किसी भी नियम और चतुराई का प्रयोग निषिद्ध ठहराते हैं। सूरदास के यहाँ प्रेम का सीधा 'राजपंथ' है, वे उसे किसी भी इतर विचार से अवरुद्ध होते नहीं सहन कर सकते। **'सुनहु मधुप निर्गुन कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधौ। काहे कों रोकत मारग सूधौ ?** घनानंद भी यही बात कहते है—**'अति सूधौ सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं। तहँ साँचे चलें तजि आपुनपौ, झिझकें कपटी जे निसांक नहीं।'**

प्रेम के महत्त्व का वर्णन सूर और घनानंद ने एक ही समान ढंग से किया है। उसकी अपारता और सर्वसक्षमता की ओर दोनों ने ही लक्ष्य किया है। दोनों की दृष्टियों में वही तत्त्व लोक और परलोक में सर्वत्र समान रूप से प्रसरित है। वह प्रेम स्वयं ही अपना साध्य है और यही उनके इष्ट कृष्ण अथवा राधाकृष्ण युगल के रूप में उन्हीं की प्राप्ति में स्थित है :

प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहिं जइयै ।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहियै ।
साँचौ निहचै प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल ।
एकै निहचै प्रेम को, जबै मिलै गोपाल ।

और घनानंद के शब्दों में :

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कें विचार,
बापुरौ हहरि बार ही तें फिरि आयौ है ।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन,
पूरि लोक लोकन उमंगु उफनायौ है ।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ।
ताहि एक रस ह्वै विवस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि-राधा जिन्हें हेरैं सरसायौ है ।

वास्तविकता तो यह है कि प्रेम को लौकिक और अलौकिक के भेद करके देखा ही नहीं जा सकता । प्रेम तो सदा एकरस अखंड अलौकिकता पर ही आधारित है, लोक में भी प्रेम की वही पवित्रता व्याप्त देखी जा सकती है । घनानंद के काव्य में प्रेम-तत्त्व का विवेचन करते समय इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं किया जाना चाहिए । वस्तुतः प्रेम मात्र की व्याख्या लोक को सामने रखकर की जाती है । इस अर्थ में सूर के काव्य को भी लौकिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित माना जा सकता है ।

सूरकाव्य में कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम प्रकट होता हुआ दिखाया गया है । कृष्ण वहाँ प्रेम के बहुसंख्यक आश्रय हैं । अनेकानेक गोपियों के मन में एकमात्र कृष्ण आलंबन हैं और कृष्ण के सान्निध्य, रूपदर्शन, अंग-संग आदि की अभिलाषाएँ अनेकधा प्रकट हुई हैं । दानलीला, मानलीला, चीरहरण, माखनचोरी आदि लीलाओं का वर्णन करते समय सूर के संभोग-वर्णन में अनंग की विविध क्रीड़ाओं की झलक देखी जा सकती है । भक्ति की दृष्टि से यह कृष्ण की स्वरूपासक्ति के ही विविध रूप हैं । काव्य के नायक-नायिका मानकर यदि इनके संभोग श्रृंगार को देखा जाय तो बहुनायिका-वल्लभ श्रीकृष्ण का रूप सामने आता है । वही सब गोपियों के प्रेम-काम के एकमात्र आलंबन हैं । किंतु सूर अंततोगत्वा सख्यभाव को ही प्रश्रय देते देखे जाते हैं, जहाँ राधाकृष्ण युगल की निकुंज-क्रीड़ाओं को सखी-सहचरीवृंद जालरंध्रों से देखकर उन्हीं की सेवा में सहायक बनकर अपने को धन्य मानती हैं । घनानंद के काव्य में प्रेम का आश्रय स्वयं घनानंद ही हैं । वे एक प्रेमी के रूप में अपने प्रिय की अनंत छवियों में खो जाते हैं । संयोग में आलंबन सुजान के रूप और उसके साथ की अनंग-क्रीड़ाओं का विशद वर्णन देखने को मिलता है । संभोग में रूप-तत्त्व प्रमुख होता है ।

सूरदास अपने आलंबन कृष्ण और राधा तथा आश्रयरूप राधा तथा गोपियों का सांगोपांग चित्रण करते देखे जाते हैं। नखशिख वर्णन के अनेक पद उनके 'सागर' में विद्यमान हैं। घनानंद के रूपवर्णन की परिपाटी सूक्ष्म है। नखशिख वर्णन वहाँ प्रायः नहीं हैं। सौंदर्य के आंतरिक और बाह्य तत्त्वों का उद्घाटन करते हुए वे नायक अथवा नायिका की अंगदीप्ति, गर्व, चितवन, शरीर की सुडौलता आदि को ही सामने लाते हैं, और अंग-अंग के प्रति उनकी 'रीझि' या 'आसक्ति' गहरे रूप में प्रकट होती जाती है। ऐसे स्थलों पर सौंदर्य मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित होते हुए भी लौकिक शृंगार के समकक्ष दिखाई पड़ता है; जबकि सूर के रूपवर्णन में विविध उपमानों की आलंकारिक छटा के साथ सौंदर्य का प्रभाव-पक्ष पुनीत आसक्ति को द्योतित करने वाला है। 'रीझि' का वर्णन सूरदास ने न किया हो, सो बात नहीं है। मिलनसुख प्राप्त करते हुए प्रिया-प्रियतम दोनों की परस्पर रीझि या आसक्ति 'एक प्राण दो देह' की उक्ति को चरितार्थ कर रही है।[१]

सूर और घनानंद दोनों ने ही सुरत या रतिक्रीड़ा के वर्णन में स्वच्छंदता और स्पष्टता बरती है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के हृदय में दर्शन की लालसा अनेकानेक रूपों में दोनों के काव्य में दिखाई देती है। उनके गुणगान में दोनों ही समान रूप से लगे हैं। उनकी वंशी की ध्वनि पर दोनों ही मोहित हैं और दोनों पर उनके प्रेम की करारी चोट पड़ी है, जिससे उनमें निरंतर व्याकुलता बनी रहती है। पूर्वराग व मान के प्रसंग में ही यह मिलनोत्कंठा नहीं दिखायी देती, प्रवास की दशा में भी उनकी कातर पुकार प्राणों को, तन-मन को हिला देने वाली है। वस्तुतः जो कवि मिलन में भी विरह की अनुभूति कर पाते हैं, उनके लिए विरह-दशा का अधिक असह्य होना स्वाभाविक है। ब्रज में रहने पर भी कृष्ण के चारों ओर गोपियाँ दीवानी होकर चक्कर काटती हैं। सूरदास ने श्रीकृष्ण को भी तरह-तरह से गोपियों को रिझाने और उनके वशवर्ती होकर नाचने-गाने का वर्णन विस्तार से किया है, घनानंद ने भी इस भावना को गहराई से अनुभव किया है। उन्हें कृष्ण की बाँसुरी के बोल भी विरह-भरे लगते हैं :

मन मोहन की बाँसुरिया, बाँसुरिया बाजै बिरह भरी।
सुनि व्याकुल प्रान होत हमारे रह्यो न परत घर एक घरी।
कैसे कै कुल लाजनि बहिये कान्ह कुमर सों बसाति न री।
आनंदघन नित उमड़ घुमड़ कें, हमही पै लाये रहत झरी।

सूर के कृष्ण की जब मुरली बजती है तो गोपियों की दशा ऐसी ही हो जाती है।[२] इस बाँसुरी पर सूर और घनानंद दोनों की उक्तियाँ बहुसंख्यक और एक जैसी मिलती हैं। अनेकानेक पदों में इसकी गाथा का विस्तार है।

१. सूरसागर, १७००   २. सूरसागर, १२७७

सूर और घनानंद दोनों ही गीतिकार हैं, उनका प्रत्येक पद मुक्तक है और उनमें एक विशेष भाव अपेक्षित है; किंतु सूर की कृष्णलीला एक कथात्मकता लिए है। अतः पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण आदि विरह के प्रसंग वहाँ कथाक्रम में निबद्ध देखे जा सकते हैं। घनानंद केवल ब्रजवासी कृष्ण के स्वरूप और लीलाओं तक ही सीमित रहे हैं, उनके यहाँ कृष्ण के असुरसंहारक रूप का वर्णन नहीं, केवल प्रेम का ही संकीर्तन है। 'भ्रमरगीत' जैसा कोई प्रसंग उनके काव्य में पृथक् से नहीं मिल सकता। फिर भी गोपियों के विरह की अविरल धारा और बीच-बीच में मिलन के प्रसंग, वसंत, शरद, होली आदि उत्सवों के विवरण, जैसे सूरकाव्य में भी हैं, उनके काव्य में देखने को मिलते हैं। प्रेम की वास्तविकता तो विरह में ही प्रकट होती है। 'ऊधौ विरही प्रेमु करै।' सूर की यह उक्ति भ्रमरगीत प्रसंग की है। यहाँ सूर अद्वितीय कहे जाते हैं, जो सर्वथा उचित ही है; किंतु घनानंद की गोपियों की मार्मिक व्यथा भी किसी प्रकार कम नहीं है। वह आत्मपरक होने के कारण सचोट और सीधी है, अतः प्रभाव की दृष्टि से वह भी वेजोड़ है। सूर की गोपियों की तरह ही घनानंद भी विरह-व्यथा से पुकार उठते हैं :

हमारी सुरति करौ ब्रजनाथ।
तुम बिन अब हम निपट दुखारी जैसें मीन बिन पाथ।
निसदिन गाइ गाइ जीवति है सबरेई गुनगाथ।
'आनंदघन' रस बरसि पोषिये पान पपीहा साथ।

विरह-वेदना या प्रेम की पीर और आकुलता का अनुभव सूर और घनानंद दोनों ने गहराई के साथ किया है, यह उनके काव्य से प्रत्यक्ष है। यह पीड़ा कितनी असह्य है; उसे वही जान सकता है, जिसके शरीर पर कभी यह बीती हो, जिसकी लगन लगी हो। सूर कहते हैं :

जासौं लगन लागी होइ।
कठिन पीर सरीर ब्यापै, जानिहै पै सोइ।
बिरह बाइ बबूर विरबा, गए हैं हरि बोइ।
उठत अंग अनंग चिनगी, दृगनि सींचौ रोइ।[1]

घनानंद की पीड़ा को तो उसका प्रिय भी नहीं समझ पाता। वे कहते हैं :

कान्ह परे बहुतायत मैं इकलैन की बेदनि जानौ कहा तुम,
हौ मनमोहन मोहे कहूँ न विथा बिसनैन की मानौ कहा तुम,
बोरे वियोगिनि आप सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम,
आरतिवंत पपीहन को घनआनंदजू पहिचानौ कहा तुम।

१. सूरसागर, ४५६६

घनानंद के विरह-वर्णन में संयम का बांध टूट गया है और हाहाकार सर्वत्र व्याप्त होता दिखाई देता है। अंग-अंग विरहाग्नि से दग्ध होता रहता है। घनानंद ने विरह घाती की घातों का कैसा मार्मिक वर्णन किया है, यह निम्न कवित्त में देखा जा सकता है :

पाती मधि छाती छत लिखि न लिखाए जाएँ,
काती लै बिरह घाती कीनै जैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल माल हैं।
जान प्यारे जौऽब कहूँ दीजियै संदेसौ तौऽब,
अवा सम कीजियै जु कान तिहि काल हैं।
नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागैं,
जागैं घनानंद ज्यों पुंजनि मसाल हैं।

सूरदास ने विरह की तीखी चर्चा इस प्रकार की है :

तुम्हारी प्रीति, किधौं तरवारि।
दृष्टि धारि धरि हुती जु पहिलैं, घायल सब ब्रजनारि।
गिरीं सुमार खेत बृंदावन, रन मानी नहिं हारि।
बिह्वल बिकल सँभारति छिनु-छिनु, वदन सुधा निधि वारि।[1]

सूर और घनानंद के विरह-वर्णन में इतनी समानताएँ हैं, जिन सबका उल्लेख यहाँ कर पाना कठिन है। सूर के यहाँ प्रेम की फाँसी (कीन्हीं प्रीति हमारे गर सों दई प्रेम की फाँसी) की चर्चा है तो घनानंद ने भी 'पोषि रसै जिय सोखत क्यों गुन बाँधिहू डारत दोष की फाँसी। हाहा सुजान अचंभो अयान जु भेदि के गाँसहि बेधति गाँसी' कहा है। जहाँ तक प्रिय की निष्ठुरता का प्रश्न है, घनानंद उसका वर्णन करने में सूर से आगे हैं। उसका 'बिसासी' प्रिय तो विश्वास देकर विष घोल रहा है। कितनी तरह से घनानंद अपने प्रेम का परेखा करते हैं, कितना अधिक कहना चाहते हैं। अपनी व्यथा प्रियतम तक पहुँचाने के लिये आकुल हैं, किंतु न तो उनकी बात कहने में आती है न उनकी वेदना को कोई समझ पाता है। यही कारण है कि वे भूलकर भी प्रेम का नाम लेने का निषेध करते हैं :

चाह बढ़्यौ चित चाक चढ़्यौ, सो फिरे तित ही इत नेकु न धीजै।
नैक थकैं छबिपान छकैं घनआनंद लाज तौ रीझनि भीजै।
मोह में आवरी ह्वै बुधि बावरी, सीख सुनै न दसा दुख छीजै।
देह दहै न रहै सुधि गेह की भूलि हू नेह कौ नाम न लीजै।

---

१. सूरसागर, ४२८९

घनानंद ने ऋतुओं के अनुसार विरह की पीड़ा का जैसा वर्णन किया है, एक-एक भाव को जिस प्रकार छंदोबद्ध किया है, अंतर की असह्य पीड़ा को जिस व्यापकता से चित्रित किया है, वह सूर में संयम के साथ ही वर्णित हुई है। विरह की सभी दशाएँ सूर और घनानंद दोनों के काव्य में पाई जाती हैं। यह सब होते हुए भी सूर और घनानंद के विरह-वर्णन में तापक्रम का अंतर है और इसी कारण आलोचकवृंद घनानंद को एक अलग धारा से संबद्ध करके देखने का प्रयास करते हैं। घनानंद रीतिकाल के कवि थे अतः उनकी छंदोयोजना में चमत्कार और रीति का पूर्ण आभास दिखाई देता है। वियोग की दसों दशाओं का चित्रण एक ही छंद में कवि ने इस प्रकार किया है :

लाख अभिलाषनि की चिंता गुन कथननि
सुधि करि दीन की उदेग दसा दहियौ।
लाप के प्रलाप उनमाद के संताप व्याधि
पापिन की आप नेकु बेगि सुधि लहियौ।
जड़ता कही न जात ज्यों त्यों अति अकुलात
सैनन कही है बात मेरी और चहियौ।
जानी दिलजान सों जु मानी वा सुजान सों
निसानी दै कै प्रान सों निदान प्रान कहियौ।

वस्तुतः घनानंद की प्रेमाभक्ति निकुंजलीला की अनुसारिणी बनती गयी है, और वहाँ वे सूर से अलग हैं तथा अधिक गहराई तक उतरे हैं। उन पर वृंदावन के रसिक समाज की उस परंपरा का प्रभाव विशेष रूप से देखा जा सकता है, जिसमें स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, व्यास जी आदि आते हैं। वहाँ प्रिया-प्रियतम की निकुंज केलि के अनेक चित्र पूर्ववर्त्ती उन्हीं महात्माओं के पदों से मिलते-जुलते हैं। निकुंज की अष्टयाम लीलाओं, सुरतांत के वर्णनों की उनके यहाँ भरमार है। प्रिया-प्रियतम की परस्पर देखा-देखी, खान-पान, जलकेलि, फाग, वसंत, हिंडोरा आदि के वर्णन ठीक निकुंज-लीलागायकों के अनुरूप हैं। छंदों का बंधन भी उनका वैसा ही है जैसा कि इन रसिकों की वाणियों में। सूरदास में ये सभी बातें हैं, किंतु इनकी मात्रा घनानंद की तुलना में कहीं कम है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि घनानंद में अपने पूर्ववर्ती वे सभी प्रेम और भक्ति के तत्त्व विद्यमान हैं, जो ब्रज और निकुंज-लीला दोनों प्रकार के भक्तों की परंपरा में आते गए हैं। ऐसी दशा में यदि सूफियों के प्रभाव की भी यत्किंचित् झलक आगयी हो तो कोई अचरज नहीं। रीतिकाल में भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से भक्तों ने पूर्ण स्वच्छंदता बरती है। राजस्थानी, पंजाबी, पूर्वी, पश्चिमी सभी भाषाओं में घनानंद ने भी पद रचे हैं। यही नहीं तुलसी की तरह अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियाँ भी उनके काव्य में विद्यमान हैं। सूरदास

विष्णु के अनेक अवतारों का वर्णन करते हैं और समस्त चराचर में वे उसी तत्त्व का रूप देखते हैं तो घनानंद ने भी नृसिंह-वामन आदि अवतारों का वर्णन किया है और परंपरा को निभाया है।

सूर और घनानंद दोनों ही भाषा प्रवीण थे। किंतु घनानंद शब्दयोजना के प्रति अधिक सजग थे, ऐसा लगता है। उनकी भाषा अधिक सुथरी और काव्यात्मक है। सूरदास के अनेक पद अनगढ़ और चलती भाषा में भी मिल जाते हैं। 'सूर-सारावली' तो पूरी तरह काव्योत्कर्ष से अलग हटकर लिखी गयी है। 'सूरसागर' में चुने हुए पदों को छोड़कर भाषा की अनगढ़ स्थिति विद्यमान है। परंतु घनानंद को सूर की भाषा विरासत में मिली है और रीतिकाल की जागरूकता के कारण वह और सुथरी हो गयी है। दोनों ही कवि प्रायः तद्भव शब्दों के प्रयोगकर्त्ता हैं किंतु कहीं-कहीं वे तत्सम शब्दों से पूरे पदों की रचना करते देखे जाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने के बाद कुछ निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं। सूर और घनानंद दोनों ही रससिद्ध विदग्ध कवि थे। दोनों की प्रेम व्यंजना उच्चकोटि की है, किंतु सूरदास और घनानंद दोनों में जीवन की घटनाओं को देखने पर स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है, जिससे दोनों के स्वभावों और इसी कारण उनके काव्य विषयक दृष्टिकोणों में अंतर परिलक्षित होता है। सूरदास अपने साम्राज्य के स्वयंभू कवि हैं। यह ठीक है कि उन्होंने संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद अपना सर्वस्व श्री वल्लभाचार्य के अथवा श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया और एक भरोसे के साथ काव्य-रचना में निश्चित होकर लग गए। उनके व्यक्ति जीवन में कुंठाएँ शेष नहीं रह गयी थीं और वे अपने इष्टदेव को सर्वतोभावेन रिझाने और उनके गुणगान करने में प्रवृत्त हुए। इस समर्पण से पूर्व उन्होंने जो कुछ किया हो, किसी की दरबारी नहीं की। उनके स्वभाव में भावुकता तो थी किंतु वे थे मनमौजी सिद्ध और उनके चारों ओर उनका अपना एक साम्राज्य अवश्य रहा होगा। घनानंद के साथ स्थिति भिन्न थी, वे दरबार में रहे थे अतः किसी न किसी रूप में वे अपने स्वामी को प्रसन्न रखने में अवश्य तत्पर रहते होंगे। दूसरे उनके जीवन पर 'सुजान' का अन्यतम अधिकार था, जिसे हम प्रथम समर्पण के रूप में देख सकते हैं। प्रेम के परिणाम-स्वरूप उनका हृदय चोट खाकर किस प्रकार विह्वल हुआ होगा, यह उनकी कतिपय रचनाओं को देखने से प्रकट हो जाता है। वृंदावन पहुँचने पर वे द्वितीय समर्पण के लिए तैयार हुए और इस बीच में उन्हें जो कुछ सहना पड़ा, मानसिक तौर पर उनकी वह कसमसाहट या विरह-विकलता उनके व्यक्तिगत जीवन से गहरे रूप में जुड़ गयी। यही कारण है कि उनमें वैकल्य की प्रवृत्ति बहुत देर तक रही लेकिन वे सूर के समानधर्मा अंततोगत्वा बन ही गए और उनका भक्तिकाव्य, प्रम के संयोग और वियोग-वर्णन, राधा-कृष्ण की ब्रज और निकुंज लीलाओं का आख्यान उनके एक सच्चे

भक्त रूप का परिचय देता है। वे भी सूर की भाँति एक श्रेष्ठ गीतिकार तथा विरह-मिलन के कुशल चितेरे कहे जा सकते हैं। उनकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ, सूर की तरह ही गहरे अनुभव पर आधारित होने से, मार्मिक रूप में प्रकट हुई हैं। विरह-व्यथा-वर्णन के क्षेत्र में वे सूर के समकक्ष कहे जा सकते हैं और भक्ति के क्षेत्र में उनका स्थान किसी भी प्रकार कम नहीं है।

जहाँ तक उनके वर्ण्य वस्तु और शिल्प का संबंध है, उनमें रीतिकाल और भक्तिकाल दोनों का श्रेष्ठ रूप देखने को मिलता है। रूपवर्णन में नायिका के सौंदर्य, उसके अंग-प्रत्यंग, गुणों, उसकी चाल-ढाल, नृत्यसंगीत, बात-चीत आदि पर उनकी दृष्टि रीतिकालीन कवियों के नायिका-वर्णन से मिलती-जुलती है। अंतर यही है कि भावना का आवेग जैसा उनमें है, वैसा रीतिकाल के कम ही कवियों में देखने को मिलेगा। सांसारिक दृष्टि से उन्हें व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता, जैसा गुण अन्य दरबारी कवियों में देखने को मिलता है, वे इस अर्थ में सूर के समकक्ष स्वतंत्र और स्च्छंद थे। किंतु उनके मन का द्वंद्व उनके काव्य के विपुल अंश पर देखने को मिलेगा। चमत्कार-प्रदर्शन की भावना उनके कवित्तों में अवश्य विद्यमान है। ब्रज से इतर भाषाओं के प्रयोग में भी उनका मन खिलवाड़ करता प्रतीत होता है। सूरदास की तरह उन्होंने कूटकाव्य की रचना नहीं की थी किंतु उनकी विविध भाषापरक इस वृत्ति में सूर की उस वृत्ति की छाया अवश्य देखी जा सकती है। यह सब सूर के सूरत्व को प्रभावित नहीं करता। सूर सूर हैं और घनानंद घनानंद। घनानंद विरही और प्रेमी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं तो सूर नित्य निकुंजलीला के पार्षद के रूप में। एक पुष्टिमार्ग का जहाज बना लोकहृदय में भक्तरूप में प्रतिष्ठित है, तो दूसरा रसिकों के भाव-जगत् पर अपना अधिकार जमाए हुए है। कहा जा सकता है कि घनानंद बहुत सीमा तक सूर के ऋणी हैं, और विरह के क्षेत्र में एक अन्यतम चातक, जिसे आनंदघन उपलब्ध होने से अमृतत्व प्राप्त हो गया।

☐ डा० चंद्रपाल शर्मा 'मधु'

सूर एवं प्राणनाथ का कृष्ण-काव्य

भक्ति को जो अजस्र धारा हिंदी-साहित्य के मध्य-काल को प्रक्षालित करती लगभग चार सौ साल बहती रही, जन-मन पावन करती हुई भक्तों की जीवनदायिनी बनी रही, उस भक्ति-धारा का प्रारंभ दक्षिण में हुआ था।[१] रामानंद ने उत्तर भारत में इसका प्रचार किया। आलवारों के अनंतर दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त 'आचार्यों' के नाम से प्रसिद्ध हुए, जो बहुत कुछ "प्रबंधम्" द्वारा ही प्रभावित थे।[२] आलवार या आडावार भक्तों का प्रभाव भक्ति का प्रचार करने वाले वैष्णव आचार्यों पर निश्चित रूप से हुआ है। इन आचार्यों में सर्वप्रथम रघुनाथाचार्य या नाथमुनि हुए। उन्होंने आलवारों के चार सहस्र पदों को संपादित किया था।[३] यह अनुमानतः विक्रम की छठी शताब्दी में रहे होंगे, क्योंकि इनसे आगे के चौथे आचार्य यमुनाचार्य सं० ९७३—१०९७ तक रहे। इसके पश्चात् ही चतुः संप्रदायों का उदय हुआ। हिंदी-साहित्य में प्रवर्तित भक्ति पर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्कचार्य एवं विष्णुस्वामी का प्रभाव विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है। चतुः संप्रदाय का उद्भवकाल विक्रम की दसवीं शती से तेरहवीं शती के कुछ बाद तक माना जाता है। डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने ग्रंथ 'भक्ति का विकास' में भक्ति का आरंभ नाथमुनि से भी पूर्व से माना है। उन्होंने इसे वैदिक काल से जोड़ दिया है और विक्रम की १४-वीं शती में इसकी पूर्ण परिणति स्वीकार की है।

भक्ति का यह प्रभाव समस्त भारत-मानस को प्रक्षालित कर रहा था। दक्षिण

---

१. भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद।
परगट करी कबीर ने सात दीप नवखंड॥ सत्य कबीर की साखी १५।१

२. उ० भा० सं० प०—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ८३

३. वही, पृ० ८३

में आलवार और भक्ताचार्य, बंगाल के वाऊल और वैष्णव, गुजरात के भक्त, काश्मीर के शैव तथा युक्तप्रांत में कबीर, तुलसी, सूर आदि भक्ति-रस का अशेष दान जन-मन को दे रहे थे। भारतवर्ष की धार्मिक एकता का यह एक ज्वलंत प्रमाण है।

भक्तशिरोमणि सूर और स्वामी प्राणनाथ दोनों ही उस काल में हुए जब भक्ति-पारिजात पूर्ण पुष्पित हो अपनी स्वर्गिक सुरभि से दिगंत सुवासित कर रहा था। सूर का काल सं० १५३५ से १६२० तक माना जाता है।[१] स्वामी प्राणनाथ सं० १६७५ से १७५१ तक वर्तमान रहे।[२] वे सूरदास के परवर्ती वैष्णव भक्त हैं। यद्यपि प्राणनाथ गुजरात प्रांत के जामनगर नामक नगर में उत्पन्न हुए, वहीं उन्होंने गुरु देवचंद जी से दीक्षा ली परंतु वे सं० १७४० से १७५१ तक पन्ना (म० प्र०) में रहे और इसके पूर्व उन्होंने पर्याप्त समय तक उत्तर भारत में धार्मिक यात्राएँ कीं। वे कृष्ण की जन्मभूमि व्रज भी गए थे। विक्रम की १० वीं शती के लगभग धर्म-प्रचार-यात्राओं का प्रचलन हो गया था। प्राणनाथ जी ने भी देश और विदेश में धर्म-प्रचार-यात्राएँ की थीं। सूरदास का वल्लभाचार्य से साक्षात्कार उनकी धर्म-प्रचार-यात्रा के समय ही हुआ था और उन्होंने वल्लभाचार्य से गुरु-मंत्र लिया था। वल्लभाचार्य ने उन्हें श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा-कार्य सौंप दिया था। संत प्राणनाथ जी को देवचंद जी ने कृष्ण के वस्त्राभूषणों की सेवा दी थी और उन्हें प्रणामी धर्म-प्रचार का भार सौंपा था।

यद्यपि संत प्राणनाथ वल्लभाचार्य और सूरदास के परवर्ती हैं, पर वे वल्लभाचार्य की भक्ति और उनके द्वारा भागवत पर लिखी टीका से बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने इसका कथन बहुविध अपने ग्रंथों में किया है :

(क) बचन विचारो रे मीठड़ी वल्लभाचारज बानी।

(ख) वल्लभबानी समझे बिना खोबत नध तुमारी।

(ग) बैसनव होए सो वचन मानसी, और जो वल्लभबानी से टलिया।
महामत कहे सो जनम्या, गर्भ माहे क्यों न गलिया।
टीका बल्लभी बानी सुखदेव की, ताके एक अक्षर को न कीजे भंग।[३]

(घ) भागवत वचन वल्लभी टीका, तुम या की सुध न लीनी।[४]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध है कि वे श्रीमद्भागवत की सुबोधनी टीका से प्रभावित हुए थे और उसमें उन्होंने अपने सिद्धांतों को ही प्राप्त किया था। 'सुबोधनी'

---

१. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ २३
२. बीतक स्वामी लालदास
३. किरंतन, १४
४. किरंतन, पृ० ५२६

उनके सिद्धांतों के अनुकूल थी। इसके कारण यह बात और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि दोनों कवियों की तुलना की जाए। सूरदास ने भी 'भागवत' को गुन की खानि बताया है।

डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने दोनों कवियों को सखी भावोपासक स्वीकार किया है। डा० गोस्वामी ने यह बात भक्तिकाल का उदाहरण देकर स्पष्ट की है कि वल्लभ संप्रदाय विष्णुस्वामी के सिद्धांतों पर आधृत है।[1] सूरदास वल्लभ के शिष्य थे इसलिए वे भी सखी-भावोपासक थे। पहले वे शिवोपासक थे परंतु उन्हें सिद्धि नहीं मिली, तभी तो उन्होंने वल्लभाचार्य के मार्ग को अपनाया था :

गुरु परसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कर्यौ निरंतर, तऊ पार नहिं लीन।[2]

प्रणामी संप्रदाय को भी डा० गोस्वामी ने सखी भावोपासक माना है। उन्होंने यह बात भी स्पष्ट की है कि वे साकार ब्रह्म के उपासक थे।[3] यह सिद्ध हो जाता है कि दोनों ही कवि अर्थात् सूरदास एवं प्राणनाथ साकार ब्रह्म की उपासना सखी भाव से करने वाले भक्त हैं।

दोनों ही कवियों ने कृष्ण को परात्पर ब्रह्म तो माना है किंतु सूर के कृष्ण स्वयं ही सृजनकर्ता, पालनकर्त्ता ओर हर्त्ता हैं। वे माया के स्वामी हैं। वे पूर्ण परात्पर ब्रह्म हैं। नित्य वृंदावन में लीलारत हैं : **ब्रह्म रूप येई करतार, करन-हरन-त्रिभुवन येइ सार।**[4]

वे नित्य वृंदावन में राधा एवं सखियों के साथ रासक्रीड़ा में रत रहते हैं : **नित्य धाम वृंदावन स्याम, नित्य रूप राधा ब्रज बाम। नित्य रास जल नित्य बिहार, नित्य मान खंडिताऽभिमार।**[5]

स्वामी प्राणनाथ के कृष्ण भी सर्वशक्तिमान हैं। उनका विग्रह किशोर है। इनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होने वाला है किंतु वे स्वयं कुछ भी नहीं करते हैं। उनकी इच्छाओं को कार्यान्वित करने का कार्य अक्षर ब्रह्म करते रहते हैं। उनके द्वारा ब्राह्मणों का उदय और लय हुआ करता है :

कोई कदम न उठे हुकम बिना, कोई हले न हुकम बिना पात।
जहाँ मुतलक हुकम क्यों नहीं, जहाँ बरनन होए हक जात।
ना हुआ, ना है, ना होएगा, बिना हुकम खसम।[6]

---

१. कृष्णभक्तिकाव्य में सखी भाव, डा० शरणबिहारी गोस्वामी, पृ० ६४७
२. सूरसारावली, पृ० ८०
३. कृष्णभक्तिकाव्य में सखी भाव, डा० शरणबिहारी गोस्वामी, पृ० ७०७
४. सूरसागर, ३४६१ ५. सूरसागर, ३४६१
६. सिनगार, ११६४ व सिंधी, १३६६

सूरदास ने भी उन्हें आदि सनातन और घट-घटवासी बताया है : **आदि सनातन हरि अबिनासी, सदा निरंतर घट-घटवासी। पूरन ब्रह्म पुरान बखानै, चतुरानन शिव अंत न जानै।**[१] संत प्राणनाथ भी यही कहते हैं कि श्रीकृष्ण परात्पर ब्रह्म हैं और उनके भेद को ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं जान सकते हैं। वे सब माया के फेर में उलझे हुए हैं :

क्या दानव क्या देवता, क्या तिर्थंकर अवतार।
ब्रह्मा विष्णु महेश लो, सो भी पैदा माया मोह अहंकार।[२]

सूरदास ने कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन बहुत विस्तृत एवं बाल-मनोविज्ञान के आधार पर किया है। प्राणनाथ जी के साहित्य में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता है। वहाँ तो उनकी किशोर लीलाओं का ही वर्णन है। प्रणामी कृष्ण को गोकुलवास में ही पूर्ण परात्पर ब्रह्म का अवतार मानते हैं। दोनों कवियों ने कृष्ण का रूप-वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया है। प्राणनाथ ने कृष्ण का रूप-वर्णन शाश्वत् वृंदावन की स्थली में किया है। वहीं वृंदावन की दिव्य शोभा का वर्णन हुआ है। यहाँ प्रकृति-चित्रण के लिए कवि को विस्तृत पृष्ठभूमि मिली है। सूर ने कृष्ण का रूपांकन वृंदावन, गोकुल और मथुरा की भूमि पर किया, वहीं उन्हें प्रकृति-चित्रण के अवसर भी प्राप्त हुए हैं।

संत प्राणनाथ ने कृष्ण का सौंदर्यांकन करते हुए कहा है कि मेरी दृष्टि इस नश्वर संसार की है, मेरी जिह्वा भी लौकिक है। इस संसार की जिह्वा कैसे उस दिव्य स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ हो सकती है। मेरे नेत्र उस अलौकिक शोभा को कैसे परख सकते हैं। उस परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन इस फानी दुनिया के कवि नहीं कर सकते हैं : **ए जुवाँ दृष्टि इत फना की, सोभा क्यों कहे कंठ वका।**[३] कृष्ण का सौंदर्य अपूर्व है। उनके एक-एक अंग का सौंदर्य ऐसा हृदयग्राही है कि एक अंग को देखते-देखते ही सारी आयु व्यतीत हो गई है : **एक अंग जो निरखिए, तो निकस जाए उमर।**[४]

प्राणनाथ जी ने चरण, कटि, वक्षस्थल, कंठ, नैन, नासिका, श्रवण, ललाट आदि अंगों का वर्णन अलग-अलग किया है। नेत्रों के वर्णन की बानगी नीचे प्रस्तुत की जा रही है :

नैन रस भरे रंगीले, चंचल चपल भरे सरम।
नेत्र अनियां अति तीखियाँ, रस इसक भरे पूरन।[५]

हिंदी-साहित्य में प्रेमी या प्रेमिका के कानों का वर्णन बहुत ही कम देखने में आया है। संत प्राणनाथ ने कृष्ण के श्रवणों की कोमलता का वर्णन किया है :

---

१. सूरसागर, ६२१ २. किरंतर, पृ० ४१ ३. सिनगार, पृ० १२०१
४. वही, पृ० १२०० ५. वही, पृ० १२०२

देख कोमलता कान की, नैनो सीतलता होय।
कृष्ण के आसिक इन सरूप के, ए रुख जाने सोय।

प्राणनाथ ने वस्त्राभूषणों का वर्णन भी विस्तार से किया है। सूरदास का कृष्ण-सौंदर्य वर्णन भी बहुत विस्तृत है। यह सौंदर्य-वर्णन बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक खलता है। कृष्ण यमुना के तट पर खड़े हुए व्रजवनिताओं की जलक्रीड़ा को निहार रहे हैं। यहाँ सूर ने उनके सौंदर्य का चित्रण बड़े मनोयोग से किया। पाठक के सामने एक-एक अंग की माधुरी को प्रस्तुत कर दिया है। वस्त्र और आभूषणों का वर्णन भी इसके साथ हुआ है।

जमुनाजल विहरति ब्रज-नारी।
तट ठाढ़े देखत नंद-नंदन, मधुर मुरलि कर धारी।
मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुंडल, जलज-माल उर भ्राजत।
सुंदर सुभग स्याम तन नव घन बिच बग पांति विराजत।
उर बनमाल सुमन बहु भाँतिनि, सेत, लाल, सित, पीत।
मनहु सुरसरि तट बैठे सुक बरन बरन तजि भीत।
पीतांबर कटि तट छुद्रावलि, बाजति परम रसाल।
सूरदास मनु कनकभूमि ढिग, बोलत रुचिर मराल।[१]

सौंदर्यांकन का एक उदाहरण और :

सोभा सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
सूरस्याम प्रभु इंद्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री।[२]

आदि पुरुष श्रीकृष्ण रूप की ऐसी राशि हैं कि दृष्टि उधर स्वभावतः जाना ही चाहती है। गोपियाँ उस रूप-सिंधु की ओर अपनी दृष्टि-सरिता को जाते हुए रोक न सकीं, वे असफल हो गईं :

चितवनि रोकें हू न रही।
स्याम सुंदर-सिंधु-सनमुख, सरित उमंगि बही।[३]

दोनों ही कवियों ने राधा का सौंदर्य-चित्रण भी किया है। संत प्राणनाथ ने अपने 'सिंगार' ग्रंथ में राधा-माधव-शृंगार वर्णन बहुत विस्तार से किया है। नख-शिख शृंगार के अंतर्गत चरणों से लेकर शिरोभूषण पर्यंत सभी वर्णन-विस्तार के मूल में धार्मिक भावना ही रही है। राधा के सुंदर रूप की झाँकी निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है। कवि परंपरानुसार सर्वप्रथम राधारानी के चरणों में प्रणाम करता है, क्योंकि इन्हीं चरणों ने उसे जीवन दिया है :

---

१. सूरसागर, २३७२   २. सूरसागर, ६४७   ३. सूरसागर, २३८१

प्रथम लागूँ दोऊ चरन को, धनी ए न छोड़ाइयो जिन।
लाँक तली लाल एड़ियाँ, मेरे जीव के यही जीवन।[1]

चरणों का सौंदर्य उनके पतले तथा एड़ियों का लाल होने में है। बिहारी की नायिका की एड़ियाँ ऐसी लाल हैं कि महावर देने वाली नाइन को भ्रांति हो जाती है। प्राणनाथ ने चरणों के आभूषणों का वर्णन भी किया है। राधा ने चरणों में अनवट और बिछिया धारण कर रखा है। भारतीय परंपरा के अनुसार बिछिया सुहाग का चिह्न है।

मोतियों की राखड़ी राधा का केश-शृंगार करती है। लाल साड़ी से उसकी ज्योति प्रकीर्ण होती है। राखड़ी पर लाल मानिक लगा है। उसकी ललाई से सब जगत् लाल दिखाई पड़ता है :

सिर पर सोहे राखड़ी, जोत साड़ी में करे अपार।
× × ×
ऊपर राखड़ी जो मानिक, क्यों देऊँ इनकी मिसाल।
आसमान जिमी के बीच में, होय गयो सब लाल।[2]

राधा की वेणी का वर्णन करते हुए सखी भावोपासक संत कहते हैं कि वेणी में तीन गोफने हैं और घूंघरी नाम का आभूषण, जो वेणी की शोभा को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जड़ाऊ है। आभूषणों को जड़ाऊ बनाना हमारी सौंदर्य चेतना का निखार ही कहा जाएगा। यह वेणी गोरी पीठ पर साँपिन-सी डोलती है और महीन लाल साड़ी से स्पष्ट दीखती है। चोली के चारों बंद भी साड़ी के झीनेपन से देखे जा सकते हैं :

बेन गूँथी तीन गोफने, जड़ित घूँघरी घमकार।
× × ×
बेन गूँथी एक भाँत सो, पीठ गौर ऊपर लेहेकत।
देत दिखाई साड़ी मिने, फिरती घूँघरड़ी घमकत।
चोली के बंद चारो बँधे, सोभित पीठ ऊपर।
झलकत कुंदन चोली कागरी, सोभा देखत साड़ी अंदर।[3]

रूपांकन में प्राणनाथ जी ने कमाल कर दिया है। इस रूपचित्रण को पढ़कर राधारानी का स्पष्ट चित्र बनाया जा सकता है और शाश्वत् वृंदावन में मादन-भावासिक्त राधा की हृदयहारी मूर्ति हमारी कल्पना में स्पष्ट उभर आती है।

नेत्रों के वर्णन में प्राणनाथ जी ने कमाल किया है। कवि रसलीन ने 'सेत

---

१. कुलजम सरूप (सागर), पृ० १०८७
२. वही, पृ० १०९०
३. वही, पृ० १०९०-९१

स्याम रतनार' तो कहा किंतु श्यामता, श्वेतता और रतनारता किस कोटि की है, यह बात वे नहीं बता सके हैं। संत प्राणनाथ जी ने 'स्याम सेत लाल असल' कहकर राधा जी के नेत्रों के इन रंगों को आदित्व प्रदान किया है। स्याम, सेत और लाल रंग, जो राधा के नेत्रों में है, वही असल है, शेष सब नकल है। समस्त सृष्टि में इन्हीं नेत्रों के सौंदर्य से नेत्र-सौंदर्य उद्भुत हुआ है। ये नेत्र मूल हैं और शेष इनसे उत्पन्न होने वाले, इन पर आश्रित। धन्य हैं ये नेत्र और धन्य हैं वे भक्तजन, जिन्होंने इन नेत्रों का दर्शनलाभ किया है :

काजल रेखा तो कहूँ जो होय सुपन के नैन।
ए स्याम सेत लाल असल, सदा सुखकारी सुख चैन।
नैन तीखे अति अनियारे, सखी ए छवि कही न जाए।
आधे घूँघट मासूक को, निरखत नैन तिरछाए।[1]

आभूषणों के वर्णन में प्राणनाथ अद्वितीय हैं। आभूषणों का जड़ाऊपन, उनमें लगे हीरा-मोती माणिक्य आदि के रंग, उनकी पैनी दृष्टि से नहीं बच सके हैं। राधा जी ने नाक में मुरकी पहिन रखी है। उसमें खसखस के दाने के समान छोटा नग लगा है। उस नग की ज्योति से धरती और आकाश भर गए हैं। आश्चर्य है, खसखस के दाने के समान नग और उससे प्रकीर्ण ज्योति से भरित आसमान—यह सब दिव्य है। उनके वर्णन पर दिव्यता और अलौकिकता का भाव सर्वत्र विद्यमान है।

महाकवि सूर ने भी राधा का शृंगार-वर्णन किया है। वे प्रभु की सर्जना-शक्ति हैं। वे उनकी माया हैं। उनसे ही यह सृष्टि उद्भूत हुई है। उनके सौंदर्य की उपमा ढूँढना व्यर्थ है। वे भक्ति रूपा हैं। भक्ति स्वयं ही अपना प्रयोजन है। वे स्वयं ही अपनी उपमा हैं। सखी राधा के वदन-सौंदर्य की प्रशंसा करती हुई कहती है। राधा की सुंदरता कैसी अद्भुत है। उनके मुख-सौंदर्य को पारधि मदन बना दिया गया है :

राधे तेरो बदन बिराजत नीकौ।
जब तू इत-उत बंक बिलोकति, होत निसा-पति फीकौ।
भृकुटी धनुष नैन सर, साँधे, सिर केसरि कौ टीकौ।
मनु घूँघट-पट मैं दुरि बैठ्यौ, पारधि रति-पति ही कौ।[2]

एक चित्र और देखिए :

राजति राधे अलक भली री।
मुकता माँग, तिलक पन्नगि सिर, सुत समेत भष लेन चली री।
कुमकुम-आड़ स्रवत स्रम-जल मिलि, मधु पीवत छबि-छीट चली री।

१. कुलजम सरूप (सागर) पृ० १०६१ २. सूरसागर, २३२०

चारु उरज ऊपर यौं राजति, अरुझे अलि-कुल कमल-कली री।
रोमावलि त्रिबली उर परसति, बाँस चढ़े नट काम बली री।
प्रीति सुहाग भुजा सिर मंडन, जघन-सघन विपरित कदली री।
जावक चरन, पंच-सर-सायक, समर जीति लै सरन चली री।[1]

संत प्राणनाथ ने राधा के सौंदर्य अंकन में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि कहीं वे राधा के अंगों का खुला वर्णन न कर बैठें। केवल चरणों, हथेलियों आदि के वर्णन ही किए गए हैं, वहाँ उरोज, जंघा आदि के वर्णन उपलब्ध नहीं हैं। संतप्राणनाथ के सौंदर्य-अंकन में सदैव सावधानी बरती गई है कि कहीं आराधनीया राधा के प्रति कोई बात भक्त ऐसी न कहे, जो उचित न हो।

सूरदास ने राधा के अंग-प्रत्यंग का स्पष्ट वर्णन किया है। उपर्युक्त पदों में यह बात स्पष्ट है। वहाँ मदन का नाम बार-बार लिया जाता रहा है। वहाँ रति-पति की पूरी सेना राधा के तन में तैयार खड़ी है। प्राणनाथ ने काम और मदन की बात तक नहीं की। जगज्जननी का सौंदर्य-अंकन और कामदेव की बात! इसे प्राणनाथ उचित नहीं मानते हैं। ऐसे वर्णन कवियों के उपचेतन में पड़ी कामलालसाओं के उद्बोधक हैं। उनके दोष निवारण के लिए हम उन लालसाओं के इस प्रस्तुती-करण में उदात्तीकरण चाहे मान लें। अस्तु,

दोनों ही भक्त कवियों ने विरह-वर्णन किया है किंतु विरह की स्थितियाँ भिन्न हैं। कृष्ण व्रज से मथुरा चले गए और व्रजवासी तथा राधा उनकी स्मृति में जीवन भर विसूरते रहे। इस विरह को प्रवास-विरह की संज्ञा दी जा सकती है। इंद्रावती सखी संतप्राणनाथ के रूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुई। प्रभु से विछड़ गई और विरह-क्लेशों में जीवन जीती रही। यह विरह भी प्रवास विरह है। प्रवास के कारण भिन्न हैं। व्रज-वनिताओं के प्राणपति राजकाज से गोकुल छोड़ गए हैं और इंद्रावती को कर्मों ने प्रियगृह से निकाल विदेश भेज दिया है।

दोनों ही कवियों की विरह-भावना की गहराई प्रथम हमें आश्चर्य से पुलकित कर पुनः भाव-तरंगों से मन गीला करा जाती है। सूर की राधा को जमुना का तट अब अच्छा नहीं लगता। उसका प्रवाह मिलन में बाधक है। वह गोकुल और मथुरा के बीच व्यवधान बनी है :

मोकौं माई जमुना जम ह्वै रही।
कैसैं मिलौं स्यामसुंदर कौं, बैरिनि बीच बही।[2]

दिन में मधुवन अब अच्छा नहीं लगता। रात में नींद नहीं आती। बैरी पपीहा जगाए रखता है। पपीहा बैरी हो गया है। विरहिणी ने आक्रोश में कहा----

---

१. सूरसागर, २३२१ २. सूरसागर, ३८९२

"अरे, अगला जन्म भी क्यों बिगाड़ता है। तू श्याम के बिना ब्रज में बोल कर मेरे विरह-वेदन को बढ़ाता है :"

(हौं तो मोहन के) बिरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिय पिय करि अधराति पुकारत।
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, काहें अगिलौ जनम बिगारत।[1]

सूर का विरह-वर्णन बहुत विस्तृत है। विरह की अनेक स्थितियों के दर्शन हमें वहाँ हो जाते हैं। राधा साड़ी नहीं धुलवाती है। नीचे मुख किए रहती है, जैसे जुआरी सब कुछ हारकर बैठ गया हो। अब फूल व्यर्थ खिलते हैं। ब्रज-बनिताओं को फूल शूल हो गए हैं। धन्य है ऐसी प्रेम की दशा और धन्य हैं वे ब्रज-गोपिकाएँ, जिन्हें कृष्ण का ऐसा विरह प्राप्त हुआ।

प्राणनाथ जी ने भी विरह-वर्णन विस्तार से किया है। यह विरह-वर्णन प्रेमी की अनेक स्थितियों और मनोदशाओं को चित्रित करता है। विरह-व्यथा को तो वही जानता है, जो मिलकर बिछुड़ गया हो। जिसने मिलन का सुख ही नहीं भोगा, वह विरह के दुःख को क्या जानेगा? विरह की अग्नि को विरहिणी ही जानती है। उसे समस्त संसार में विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित दिखाई पड़ती है, न पिंड दीखता है, न ब्रह्मांड; केवल एक अपना दुलहा ही दिखाई देता है। चौदह लोकों का राज्य इस विरह पर निछावर है। विरह सागर है और विरहिणी इस सागर में रहने वाली मीन है। धन्य है यह विरह। धन्य है वह नारी, जो इस सागर में निसि-दिवस मग्न है :

विरह गत रे जाने सोई, जो मिलके बिछुरी होए।
जो मीन बिछुरी जल थें, या गत जाने सोय। मेरे दुलहा॥

× × ×

विरहा जाने विरहनी वाकौ आग न अंदर समाए।
सो झाले बाहेर पड़ी, तिन दियौ वैराट लगाए।
विरहा न छूटे वल्लभा, जो पड़े विघन अनेक।
पिंड न देखे ब्रह्मंड, देखो दुलहा अपना एक।

× × ×

विरहा सागर होए रहा, बीच मीन विरहनी नार।
दौड़त हो निसिवासर, कहँ बेट न पाइए पार।[2]

विरह संबंधी निम्नलिखित उदाहरण गुजराती में है। विरह वैकल्य की अभिव्यक्ति इसमें बड़ी सहज और सरल है। फागुन आ गया। बेलें वन में उछल पड़ीं। वृक्षों का आलिंगन करने लगीं। पक्षी अपने नीड़ों में बैठे किलोल कर रहे हैं।

१. सूरसागर, ३९५६
२. कुलजम सरूप (सनंध) पृ० ४००

विरहिणियों के चित्त उनके बस से वाहर हुए जाते हैं। वे आंगन में खड़ी-खड़ी अपने प्रियतम की अनवरत प्रतीक्षा कर रही हैं। नारी के स्वभाव का सहज चित्रण एवं विरह की गहनता का स्पष्ट अंकन इन पंक्तियों में हुआ है :

बाला वन फागणियों रे उछाले।
पंखीड़ा करे रे कलोल बैठा माले।
हां रे हम विरहणीओनां चितड़ां चाले,
आंगणडे ऊमीयो पंथड़ो निहाले।
हो स्याम पीऊ पीऊ करी रे पुकारूं।[१]

संत प्राणनाथ ने बारह-मासा एवं ऋतु-वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उसमें विरह-वर्णन के लिए विस्तृत अवसर उन्हें मिले है। महाकवि सूर ने अलग कोई बारहमासा या ऋतु-वर्णन नहीं किया किंतु उनके भ्रमरगीत प्रसंग में ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें ऋतुओं और विभिन्न मासों का प्रभाव ब्रज-वनिताओं पर स्पष्ट हुआ है।

कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत प्रसंग अत्यधिक प्रमुख है। महात्मा सूरदास ने इस प्रसंग को भागवत पुराण के आधार पर अपने सूरसागर में सँजोया है। इस प्रसंग ने सूर को अत्यधिक लुभाया है। उन्होंने यह प्रसंग अलग-अलग तीन बार लिखा। उन्होंने भ्रमर का प्रवेश भी कराया है।[२] भ्रमर फूल-फूल पर जाकर उसका रस पीता है। जब फूल रसहीन हो जाता है तो वह भूलकर भी उधर नहीं जाता। भ्रमर बेवफा पुरुष का प्रतीक है। पुरुष की बेवफाई के प्रति नारी की शिकायत का इतिहास बहुत पुराना है।[३]

भ्रमरगीत प्रसंग के अंतर्गत गोपियों द्वारा कृष्ण को दिए गए उपालंभ हैं। भ्रमर तो प्रतीक मात्र है। उद्धव के संदेश के अनुसार गोपियाँ योग भी कर लेंगी पर शर्त कृष्ण के मिलने की है। **जौ हरि बेगि मिलें अब हमकौं, वैसे वेष धरें।**[४] कभी उन्होंने अपनी विवशता उद्धव के सम्मुख रखी है। बिना मन को साधे योग कैसे हो सकता है और मन उनके पास अब नहीं है। वह तो कृष्ण के साथ मथुरा चला गया। मन तो एक ही होता है। कोई दस-बीस मन तो होते नहीं : **एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, को अवराधै ईस।**[५]

इस छोटे प्रसंग को सूर ने अनेक कोणों से पाठकों के सामने रखा है। एक-

---

१. कुलजम सरूप (षटसति वारहमासी) पृ० १८०
२. सूरसागर, ४११५
३. सूर और उनका साहित्य पृ० ३४५
४. सूरसागर, ४४१३
५. सूरसागर, ४३४४

एक स्थिति पर कई-कई पद हैं। किंतु पुनरावृत्ति की ऊब कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।

संत प्राणनाथ ने भी इस विषय को लिया है किंतु बहुत संक्षेप में। 'अथ बारहमासीनो कलस' शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने केवल सत्रह छंद लिखे हैं। इनमें से केवल सात छंद उद्धव को संबोधित करके लिखे गए हैं। शेष दस छंदों में सखियों का वार्तालाप वर्णित है। विरह के प्रभाव से उत्पन्न मनोदशा का चित्रण इन छंदों की विशेषता है। ये गुजराती में लिखे गए हैं।

छह ऋतु और बारह मास के ३६० दिवस और ३६० रात्रि हुए। इतने लंबे समय तक सखियाँ रोती रहीं, मार्ग जोहती रहीं, तो भी कृष्ण का दर्शन न हुआ। कृष्ण ही उनकी खबर नहीं लेंगे तो कौन उनकी खबर लेगा :

बाला मारा षट रुतना बारा मास।
हां रे तेहना अहि निश त्रणेश ने साठ।
वाला तारी रोई रोई जोई में बाट।
अम ऊपर एवड़ो को कीधो शामाट। हो श्याम।[1]

गोपियों ने कहा कि उद्धव संदेश क्या लाए, गोपियों के प्राणों को खींचकर निकालने के लिए सूली और सनसी लेकर आए। जिस समय अक्रूर श्रीकृष्ण को मथुरा ले गए थे, उस समय भी हमको ऐसी गहन वेदना नहीं हुई थी जैसी उद्धव के वचनों को सुनकर अब हुई है। ठीक भी तो है, उस समय तो आने की आशा थी और अब उद्धव के वचनों ने आशा को नष्ट कर दिया है और कृष्ण के लौटने की समस्त संभावनाओं को सदैव के लिए समाप्त ही कर दिया है :

रे ओधव। तू तो भली रे बधामणी लाव्यौ।
अमारे काजे सूली ने साणासीयौ लई आव्यौ।
औधव ते तो अक्रूर पर इंडू रे चढाव्यौ।
औधव ! तें दुखड़ा घणूज देखाव्यौ। हो श्याम।[2]

गोपियों ने उद्धव से कहा—हे उद्धव, हमारे प्रियतम हमारे पास ही हैं। अपनी चतुराई और बुद्धि तू अपने साथ ले जा। हमारे प्रियतम हमसे आधा क्षण भी भिन्न नहीं होते। तुझे इसका अनुभव नहीं है। हम वियोग में प्रियतम के साथ आनंद-विनोद करते रहते हैं :

रे ओधबणा, अमारो घणी छै अम पासे।
तारी मत लेई जा रे तू साथे।

---

१. षट्ऋतु, सं० मो० मु० ब्रह्मचारी, पृ० १०८
२. वही, पृ० १०९

अधक्षण अलगो न थाय अमथीनाथ।
विरह माहै विलसूं वालैया सगाथ। हो श्याम।[1]

विरहिणयों ने उद्धव को परम ज्ञान सिखा दिया। अद्वैत का मंत्र उन्हें बता दिया। भला चतुराई और बुद्धि से भी कहीं कृष्ण का दर्शन होता है। वह तो गोपियों से आधे क्षण को भी दूर नहीं है। विरह-काल प्रियतम के साथ आनंद विनोद का काल है। धन्य है यह ज्ञान, धन्य है यह लगन और धन्य हैं व्रज की गोपियाँ, जिन्हें यह स्थिति प्राप्त हुई।

यद्यपि यह भ्रमरगीत प्रसंग सूर की तुलना में अत्यंत संक्षिप्त है किंतु इसकी अभिव्यक्ति का चोखापन इसकी अपनी विशेषता है। इसमें भी सखियों ने उद्धव पर करारे वचन-प्रहार किए हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि दोनों ही कवियों ने भ्रमरगीत प्रसंग लिखा है। सूर ने इस प्रसंग को बहुत विस्तार दिया है, इसका कारण यही हो सकता है कि उन्हें उनके गुरु ने केवल श्रीकृष्ण-सेवा का कार्य सौंपा था। वे उसी में रमे रहे जबकि प्राणनाथ जी ने समाज की ओर भी ध्यान दिया। सखियों के मन की गहन वेदना की अभिव्यक्ति जितने से हो सकी, उन्होंने उतना ही लिखा।

दोनों ही कवियों को लोक और शास्त्र का विशेष ज्ञान है। डा० हरवंश लाल शर्मा एवं श्रीमती सरोजिनी कुलश्रेष्ठ ने क्रमशः "सूर और उनका साहित्य" एवं "हिंदी साहित्य में कृष्ण" नामक अपने ग्रंथों में सूर की बहुज्ञता का आख्यान किया है। संत प्राणनाथ के ग्रंथों के अवलोकन से पता चलता है कि उनका लोक एवं शास्त्र का ज्ञान बहुत विस्तृत था। अनेक वृक्षों, फूलों, सुगंधों, मणि-माणिक्यों, वस्त्रों, आभूषणों का जिक्र उन्होंने बहुत विस्तार से किया है। एक बात और विशेष है, जो हमें सूर में देखने को नहीं मिलती। वह है वास्तुकला का ज्ञान। परमधाम का वर्णन करते हुए अनेक प्रकार के भवनों, मेहरावों, द्वारों, चौकियों, चबूतरों आदि का जिक्र संत प्राणनाथ ने किया है। उन्हें हीरे-जवाहरात का भी विशेष ज्ञान है।

आचार्य शुक्ल ने सूर में लोकपक्ष की कमी पर अपना मंतव्य दिया है। वे तुलसी की अभ्यर्थना करते हुए उनके शिवम् पक्ष पर विशेष मुग्ध हुए हैं और उन्होंने अपनी बात अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—"सूरदास की भक्ति में लोकसंग्रह का भाव न था।"[2] जीवन के पूर्णत्व की अभिव्यक्ति वे सूर के काव्य में नहीं स्वीकार करते। लोक के सुंदरम् की भावना उसमें है।

सूरदास भक्त थे। भक्ति की अजस्र अभिव्यक्ति उनका प्रयोजन था। इस प्रयोजन-सिद्धि से ही उन्होंने लोक में शिवं की स्थापना का प्रयास किया है। वस्तुतः

१. षट्ऋतु, सं० मो० मु० ब्रह्मचारी, पृ० ११३
२. गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३८

बात यह है कि समाज का नेता ही समाज का कल्याण-साधक नहीं है अपितु वह भी समाज का कल्याण करता है, जो प्रभु की निस्वार्थ भक्ति का प्रचार-प्रसार करता है; वह भी समाज का कल्याण करता है, जो समाज से अलग रहकर आत्म-दर्शन के लिए साधना करता है। यह बात साधारण बुद्धि वालों की समझ में शायद न आए परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि सभी साधकों ने साधना लोकपक्ष के लिए ही की है, क्योंकि परम उपलब्धि के उपरांत हर साधक अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हुआ है और अभिव्यक्ति लोक के शिवं के लिए है।

डा० मुंशीराम शर्मा ने भी अपने 'सूर सौरभ' नामक ग्रंथ में यह स्वीकार किया है कि सूरदास के काव्य में लोकसंग्रह की भावना विद्यमान है। उन्होंने काव्य की रचना लोककल्याणार्थ ही की थी।[१]

हाँ, एक बात माननी पड़ेगी, वह यह कि सूरदास ने अपने काव्य में सामाजिक दशा का चित्रण समग्र रूप से नहीं किया। केवल उसका धार्मिक पक्ष ही उन्होंने लिया है।

संत प्राणनाथ का साहित्य हमें स्पष्ट रूप से दो प्रयोजनों के लिए रचा गया मालूम होता है—भक्ति साधना और समाज सुधार।

उन्होंने समाज-सुधार के लिए धर्म में फैली अनेक भ्रांतियों, अंधविश्वासों और धार्मिक कटुताओं को दूर करने का अथक् प्रयत्न किया। उन्होंने नाम के वैष्णव को ललकारा है और सच्चे वैष्णव की पहचान बताई है :

हो भाई मेरे वैष्णव कहिए वाको, निर्मल जाकी आतम।
नीच करम के निकट न जाए, जाए पहिचान भाई पारब्रह्म।[२]

उन्होंने संसारवासियों को माया से सचेत रहने के लिए कहा है[३] और बनावटी ब्रह्मज्ञानियों को झिड़का है।[४] अहंकार को सर्वथा त्याज्य बताया है।[५] पंथ पंडों की खींचातानी में समाज की दुर्दशा के लिए उन्होंने पंथ पंडों में मुल्लाओं और पंडितों को जिम्मेदार ठहराया है। उन्होंने सच्चे मुसलमान की पहचान बताकर मुस्लिम समाज के दोषों को भी दूर करने का अथक् परिश्रम किया।[६] इसलिए उन्होंने दिल्ली में १६ माह रहकर सत्याग्रह संचालित किया। वे धर्म के सच्चे अर्थ तत्कालीन बादशाह औरंगजेब को बताना चाहते थे। स्वामी प्राणनाथ धर्मों की एकता और धर्म-समन्वय में विश्वास रखते थे। वे एक मानव-धर्म के पक्षपाती थे। १७-वीं शताब्दी में ऐसा प्रयास इस बात का द्योतक है कि वे अपने समय से तीन सौ साल आगे थे। इसलिए उस काल में उनकी बात पूर्णरूपेण नहीं समझी गई।

१. सूर सौरभ, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १६३-६४
२. किरंतन पृ० ८
३. किरंतन पृ० २८
४. किरंतन पृ० ३२
५. किरंतन पृ० १००
६. कुलजम सरूप

सूरदास ने अपना संपूर्ण साहित्य ब्रजभाषा में लिखा। उस समय देश में भाषा का कोई झगड़ा भी न था, क्योंकि राजा की भाषा ही राजकाज की भाषा होती थी। प्रजा कोई भी भाषा बोले इसकी राजा को कम ही चिंता होती थी। इसलिए सूरदास की भाषा ब्रजभाषा ही रही किंतु उसमें तत्कालीन प्रचलित अरबी, फारसी के शब्द भी आ गए। ये शब्द घिसकर ही ब्रजभाषा में अपना स्थान पा सके। इनका मूलरूप बदल गया और ये ब्रजभाषा के प्रभाव से प्रभावित हो गए। इसी कारण ब्रजभाषा में इनका प्रयोग अनुचित नहीं हुआ। ब्रजभाषा के अतिरिक्त सूरदास ने और कोई भाषा नहीं लिखी।

संत प्राणनाथ जी कई भाषाओं के ज्ञाता थे और उन्होंने इन भाषाओं को अपने कृतित्व में स्थान भी दिया। वे अरबी, फारसी, संस्कृत, गुजराती, बुंदेलखंडी और ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता थे। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओं में कई भाषाओं का प्रयोग किया किंतु उनका आग्रह हिंदुस्तानी भाषा की ओर ही था। उन्होंने अपने 'सनंद' नामक ग्रंथ में स्पष्ट कहा है :

बिना हिसाबे बोलियां, मिने सकल जहान।
सबको सुगम जान के, कहूंगी हिंदुस्तान।
बड़ी भाषा एही भली, सो सबमें जाहेर।
करने पाक सबन को, अंतर माहै बाहेर।[1]

एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग का कारण उनका भ्रमणशील होना है। वे जहाँ पर गए वहीं की भाषा सीख ली। सूरदास तो केवल अपने प्रभु की लीला-स्थली में ही जीवन भर रहे। उन्होंने धार्मिक यात्राएँ नहीं कीं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सूरदास ने जिस भाषा का प्रयोग किया, वह मधुर, परिमार्जित और व्याकरण सम्मत है। प्राणनाथ जी की भाषा में व्याकरण और प्रयोग की त्रुटियाँ भी देखने में आती हैं।

अंत में यही कहा जा सकता है कि दोनों ही कवियों ने मध्यकालीन भक्तिधारा में अपना योगदान अपने काल और समाज की परिस्थिति के अनुकूल किया। दोनों ही कवियों ने अपने भगवान् कृष्ण की आराधना पूर्णरूप से की और त्रयताप से दुःखित प्राणियों को भक्ति का संदेश दिया। संत प्राणनाथ जी ने समाज सुधार के लिए लंबी-लंबी यात्राएँ कीं और धार्मिक वैमनस्य एवं कटुता को दूर कर एक विश्व-धर्म की स्थापना के लिए अथक् प्रयत्न किया।

---

१. कुलजम सरूप (सनंद) पृ० ३८६

☐ डा० रामेंद्र पांडेय

सूरदास और भारतेंदु हरिश्चंद्र

हिंदी-कृष्णकाव्य-परंपरा में सूर का स्थान सर्वोपरि है। परवर्ती कवियों ने कृष्णकाव्य की रचना करने से पूर्व सूरसागर का अवगाहन अवश्य किया है। यही कारण है कि उनका काव्य किसी न किसी रूप में सूर से प्रभावित है। भारतेंदु वल्लभ-संप्रदायी भक्त थे। उनकी भक्ति-भावना पर सूर का सर्वाधिक प्रभाव है।[1] यही कारण है कि जहाँ उनकी भक्ति-भावना के दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव विशेष रूप से सूर से प्रभावित हैं, वहीं उनके कृष्णकाव्य में आये रस, अलंकार, छंद, बिंब-विधान और संगीत-योजना पर भी सूर का प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित हाता है। भारतेंदु-काव्य पर पड़े सूर के इस व्यापक प्रभाव का ही परिणाम था कि जब सूर के पदों पर आधारित 'प्रेम-फुलवारी' के पद 'कवि वचन सुधा' तथा 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे थे तो लोग उन्हें देखकर यही कहते थे, "यह तो सूरदास······की चोरी है"।[2]

भारतेंदु का विचार समस्त कृष्ण-चरित्र प्रस्तुत करने का न था। अतः कुछ प्रसंगों को उन्होंने छोड़ा तथा अनेक प्रसंगों पर दो-चार छंदों की रचना कर परंपरा का पालन मात्र किया है। उनके अधिकांश पद तो ऐसे हैं, जो सूर के पदों से साम्य रखते हैं; किंतु ऐसे पदों में न तो उन्हें भाव-पक्ष में सफलता मिल पायी है और न ही कला-पक्ष में।

सूर की भक्ति के विविध भावों के अनुरूप ही भारतेंदु जी ने भी अपने कृष्ण-काव्य की रचना की थी। सूर की दास्य-भक्ति में तुलसी जैसा दैन्य नहीं, अपितु वह सख्य रति से मंडित है। भारतेंदु जी की दास्य-भक्ति में भी मुँहलगे दास वाली सख्य

१. देखिए—भारतेंदु-ग्रंथावली, भाग ३, चरितावली, पृ० ७१-७७

२. देखिए—काव्यामृतप्रवाह, सं० बा० रामदीन सिंह, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पृ० १३

रति ही विशेष है। भक्त का आराध्य के प्रति यह मुँहलगापन उसकी अनन्य आस्था और भक्ति-भावना की चरमावस्था का व्यंजक है। इस संबंध में सूर एवं भारतेंदुकृत दास्य भक्ति से संबंधित पद द्रष्टव्य हैं, जिनके आधार पर भारतेंदु पर सूर के प्रभाव का सहज ही आकलन संभव है :

सूर—आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं।[१]
भारतेंदु—आजु हम देखत हैं को हारत।
हम अघ करत, कि तुम मोहिं तारत, को निज बानि बिसारत।[२]

यद्यपि भारतेंदु ने अपने को कृष्ण का सखा कहा है तथापि उनके कृष्णकाव्य में सख्यभक्ति-परक छंदों का नितांत अभाव है। इसके विपरीत सूर के काव्य में सख्यभक्ति-संबंधी पद पर्याप्त संख्या में हैं। भारतेंदु की सख्यभक्ति उनके दास्य भक्ति संबंधी पदों में ही मुख्यतः दृष्टिगत होती है; किंतु उनके इस प्रकार के पदों को शुद्ध रूप से सख्य भाव के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतेंदु-काव्य में इस भाव की न्यूनता का कारण उनका मुख्यतः माधुर्योपासक होना रहा है।

भारतेंदु-काव्य में वात्सल्य भक्ति का रूप भी दृष्टिगत होता है। भक्ति के इस रूप के लिए वे सूर से प्रभावित हैं। वात्सल्य को रस की कोटि तक लाने का एकमात्र श्रेय सूर को है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का जैसा प्रचुर, अद्भुत एवं चित्ताकर्षक वर्णन सूर ने किया है, वह भारतेंदु के कृष्ण-काव्य में कहीं लक्षित नहीं होता। उनकी वात्सल्य भक्ति में सूर की भाँति कृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही रूपों का सन्निवेश न होकर केवल लौकिक रूप ही चित्रित हुआ है। भारतेंदु के बाल-लीला संबंधी पद उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। इन पदों को देखते हुए किन्हीं स्थलों पर वे सूर के वात्सल्यभक्तिपरक पदों से टक्कर अवश्य लेते हैं पर उनमें न तो सूर का-सा सूक्ष्म निरीक्षण ही दृष्टिगत होता है और न क्षेत्र-विस्तार ही। कृष्ण की बाल-लीला की समस्त अवस्थाओं, दशाओं और क्रीड़ाओं का सन्निवेश भी उनके कृष्णकाव्य में नहीं हुआ। इस प्रकार भारतेंदु के कृष्ण-काव्य में वात्सल्य-भक्तिपरक कतिपय पद परंपरा-निर्वाह मात्र करते लक्षित होते हैं; किंतु इन सीमित पदों में भी कवि ने सूर के अनुरूप ही अपनी वात्सल्य भक्ति का परिचय दिया है। यथा :

सूर—मैं देख्यौ जसुदा कौ नंदन, खेलत आँगन बारो री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री।[३]

---

१. सूरसागर, १३४
२. भारतेंदु-ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-मालिका, पृ० ६६, पद सं० ४४
३. सूरसागर, ७५३

भारतेंदु—आजु लख्यौ आँगन में खेलत कसुदा जौ को बारौं री।
पीत झँगुलिया तनक चौतनी मन हरि लेत दुलारौ री।[1]

वात्सल्य भक्ति के लिए भारतेंदु यद्यपि सूर से प्रभावित है किंतु कहीं-कहीं पर उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। राधा तथा कृष्ण दोनों एक हैं। लीलार्थ उन्होंने अपने को दो रूपों में विभक्त कर रखा है। उनका पारस्परिक संबंध जल-वीचि जैसा है। इसीलिए भारतेंदु ने कृष्ण के साथ ही साथ राधा की बाल-क्रीड़ा का भी चित्रण किया है।[2] इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी वात्सल्यभक्ति में बलराम की बाल-लीलाओं[3] को चित्रित कर व्यापक दृष्टि तथा मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है; जब कि सूर-काव्य में राधा तथा बलराम की बाल-लीलाओं के चित्रण का अभाव है।

सूर वात्सल्य के साथ ही शृंगाररस के भी सम्राट् हैं। राधा-कृष्ण-केलि के जैसे संयोग एवं संभोगपूर्ण चित्र भारतेंदु जी ने अपने काव्य में चित्रित किए हैं, उन्हें देखते हुए उनकी भक्ति में शृंगारिकता का बाहुल्य होना स्वाभाविक है। उनके संयोग एवं संभोगपरक छंदों पर जहाँ रीतियुगीन परंपरा का प्रभाव है, वहीं उन्हें ऐसे काव्य की रचना-प्रेरणा सूर, नंददास तथा कृष्णदास जैसे अष्टछापी कवियों एवं अन्य माधुर्योपासकों से प्राप्त हुई थी।[4]

संयोगपक्ष की भाँति ही माधुर्य भक्ति के वियोगपक्ष के लिए भी भारतेंदु सूर से प्रभावित हैं। कथन की पुष्टि हेतु दोनों माधुर्योपासकों के पद उल्लेखनीय हैं :

सूर—निसिदिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा ऋतु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।[5]
भारतेंदु—हमारे नैन बही नदियाँ।
बीती जानि औधि सब पिय की जे हम सों बदियाँ।[6]

भारतेंदु के कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत-परंपरा का भी निर्वाह हुआ है। सूर को आदर्श मानते हुए उन्होंने अपने काव्य में इस प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किए हैं। उनकी निर्गुण के खंडन तथा सगुण के मंडन से संबंधित शैली भी सूर से पूर्णतः प्रभावित है। यथा :

१. भारतेंदु ग्रंथावली (भाग २७), राग-संग्रह, ४४३/१७
२. वही, राग-संग्रह, ४६७/६०
३. वही, प्रेम-मालिका, ४७/६ तथा देवी-छद्म लीला, ६३६/८
४. वही, प्रेम मालिका, ६४/६५
५. सूरसागर, ३८५४
६. भारतेंदु ग्रंथावली (भाग २), प्रेमाश्रु-वर्षण, ११६/२०

सूर—ऊधो मन न भए दस बीस ।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस ।[१]
भारतेंदु—ऊधो जौ अनेक मन होते ।
तौ इक स्याम-सुँदर कों देते इक लै जोग संजोते ।[२]

भारतेंदु के कृष्णकाव्य पर यद्यपि सूर की अमिट छाप है फिर भी हिंदी-कृष्णकाव्य में उनकी मौलिकता का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व अक्षुण्ण है। भक्ति-भावना की व्यापक परिधि में इस कवि ने राष्ट्रीय भावना को भी स्थान दिया। उसने राष्ट्र-भक्ति को ईश्वर-भक्ति का पूरक मानते हुए अपने इष्टदेव का ध्यान दुर्दशाग्रस्त देश की ओर आकर्षित किया। इस प्रकार सूर की भाँति संसार की दृश्यमान वास्तविकता और तज्जन्य प्रगतियों के प्रति उदासीन न रहकर भारतेंदु ने इस जगत् को भी इष्टदेव की लीला-भूमि होने के कारण सत्य माना और उसके प्रति अपना प्रेम व्यक्त किया। हिंदी-भक्ति-काव्य में पहली बार इस कवि ने 'प्रबोधिनी' जैसी सांप्रदायिक रचना में भी पतनोन्मुख देश के उद्धारार्थ कृष्ण को जगाते हुए कहा :

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो ।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो ।
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो ।
कृपा-दृष्टि की बृष्टि बुझावहु आलस त्यागो ।
अपुनो अपनायो जानि कै करहु कृपा गिरबरि-धरन ।
जागो बलि बेगहिं नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन ।[३]

इसी प्रकार 'निवेदन पंचक' में भक्त कवि ने आराध्ययुग्म से 'स्याम घन अवतौ जीवन देहु,'[४] अथवा 'कितै बरसाने वाली राधा। हरहु न जल बरसाइ जगत की पाप तापमय बाधा'[५] कहकर जल बरसाने की प्रार्थना की है। इस प्रकार सर्वप्रथम भारतेंदु ने कृष्णकाव्य में राष्ट्रीय भावना का सन्निवेश किया। यह उनकी बहुत बड़ी देन है; जिसका समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं किया गया। पूर्ववर्ती भक्तकवि जहाँ अब तक आराध्य से अपने दुखड़े रोकर संसार के प्रति विरक्ति प्रदर्शित कर कृष्णानुग्रह की याचना करते आए थे, वहीं भारतेंदु ने देशोद्धार हेतु अपने इष्टदेव से "कहाँ करुणानिधि केशव सोये"[६] के रूप में आर्त्त गजराज की भाँति टेर लगाई थी। स्पष्ट है कि उनकी भक्ति व्यष्टि प्रधान न होकर समष्टि प्रधान थी।

---

१. सूरसागर ४३४४
२. भा० ग्रं० २, प्रेम-मालिका, ६५/६८
३. भा० ग्रं० २, प्रबोधिनी, ६८३/१७
४. भा० ग्रं० २, निवेदन पंचक, ७१९/१
५. भा० ग्रं० २, निवेदन पंचक, ७२०/४
६. भा० ग्रं० १, नीलदेवी, पृ० ५३६-३७

भारतेंदु के कृष्णकाव्य के अनुभूति पक्ष के साथ ही साथ उसके अभिव्यक्ति पक्ष पर भी सूर का विशेष प्रभाव है। यह प्रभाव मुख्यत: उनकी पद-रचना, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य तथा संगीत-योजना में लक्षित होता है। उनके कृष्णकाव्य में उपलब्ध वात्सल्य और अलौकिक श्रृंगाररस सूर से प्रभावित है। वल्लभ-संप्रदाय में वात्सल्य भाव का विशेष महत्त्व है। वलभाचार्य ने इसे भक्ति-भाव का प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सोपान मानकर अपने शिष्यों को इसी भाव से भगवद्-भक्ति की आज्ञा दी थी, इसीलिए इस संप्रदाय में मुख्यत: कृष्ण के बाल-रूप की उपासना होती है। संप्रदाय की अष्टयामी उपासना में भी कृष्ण का बाल-रूप ही उपास्य है। वात्सल्य भाव को सर्वाधिक महत्त्व दिये जाने के कारण सूर ने वात्सल्य भक्ति संबंधी पदों की रचना कर वात्सल्य को रस की कोटि तक लाने का स्तुत्य प्रयास किया था। वात्सल्य रस की सूर द्वारा की गयी व्यावहारिक स्थापना को भारतेंदु ने सर्वप्रथम शास्त्रीय दृष्टि से रस की संज्ञा प्रदान करायी। इसी प्रकार भक्ति रस की सैद्धांतिक स्थापना भी पहली बार इसी भक्त कवि द्वारा संभव हो सकी।

सूर का संपूर्ण काव्य ब्रजभाषा में है; जबकि भारतेंदु ने ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी और खड़ी बोली में ही नहीं अपितु हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला, पंजाबी एवं उर्दू भाषा में भी कृष्णकाव्य की रचना की है। वैसे यह अवश्य है कि उनका कृष्णकाव्य मुख्यत: ब्रजभाषा में है; जिसके लिए वे सूर से प्रभावित हैं। अन्य भाषाओं में कृष्णकाव्य की रचना करने में उनका उद्देश्य जहाँ उसे व्यापकता प्रदान करना था, वहीं अपना भाषाधिकार भी प्रदर्शित करना रहा है।

अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति भारतेंदु ने भी कृष्णकाव्य की रचना अधिकांशत: पद-शैली में की है। उस शैली के लिए वे एकमात्र सूर से प्रभावित हैं। सूर का अनुकरण करते हुए उन्होंने प्राय: समस्त सरस प्रसंगों की रचना पदों में की है। उन्होंने कृष्णकाव्य को लोकव्यापी बनाने के लिए कजली, ठुमरी तथा लावनी जैसे लोकगीतों को भी महत्त्व दिया। यही नहीं 'गीत-गोविन्द' में प्रयुक्त अष्टपदी को भी अपने कृष्णकाव्य में स्थान देकर उन्होंने उसे माधुर्य गुण से युक्त करना चाहा है।

भारतेंदु के कृष्णकाव्य की अलंकार-योजना भी सूर से प्रभावित है। सूर-सागर के व्यापक अवगाहन के कारण उनके उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा इत्यादि अलंकारों पर सूर की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। यथा :

उत्प्रेक्षा—

सूर—सुंदर भाल-तिलक गोरोचन, मिलि मसि-बिंदुका लाग्यौ री।
मनु मकरंद अँचै रुचि कै, अलि सावक सोइ न जाग्यौ री।[1]

---

१. सूरसागर, ७५५

भारतेंदु—अति सुकुमार चंद्र से मुख पै तनक डिठौना दीनी री।
मानहुँ श्याम कमल पै इक अलि बैठो है रँग-भीनो री।[1]

रूपक—

सूर—मनौं गिरिवर तैं आवति गंगा।
× × ×
गौर-गात-दुति विमल बारि-बिधि, कटि-तट त्रिबली तरल तरंगा।
× × ×
भुज जुग पुलिन पास मिलि बैठे, चार चक्कवै उरज उतंगा।
× × ×
'सूरदास' मनु चली सुरसरी, श्रीगुपाल-सागर सुख संगा।[2]

भारतेंदु—प्यारी-रूप-नदी छबि देत।
सुखमा-जलभरि नेह तरंगनि बाढ़ी पिय के हेत।
नैन-मीन कर-पद-पंकज से सोभित केस-सिवार।
चक्रवाक जुग उरज सुहाए लहर लेत गलहार।[3]

कृष्णकाव्य में प्रयुक्त अलंकार-योजना के लिए भारतेंदु न केवल सूर जैसे कृष्ण-भक्त कवियों से प्रभावित हैं बल्कि उन पर रीतियुगीन कवियों का भी प्रभाव है। उनके शब्दालंकारों पर तो विशेषत: रीतिकालीन कवियों की ही छाप है।

हरिश्चंद्र जी के कृष्णकाव्य में उपलब्ध वक्रतापूर्ण उक्तियों पर भी सूर की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। यथा :

सूर—कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े।[4]
भारतेंदु—रहे क्यौं एक म्यान असि दोय।[5]
सूर—काहे कौं झाला लै मिलवत कौन चोर तुम डाँड़े।[6]
भारतेंदु—चोरनि छाँड़ि छाँड़ि कै डाँड़ौ उलटो धन को स्वामी।[7]
सूर—मेरे नैना दोष भरे।
× × ×
ये मेरे अब होंहि नहीं सखि, हरि-छबि बिगरि परे।[8]

भारतेंदु—भई सखि अंखियाँ बिगरैल।
बिगरि परीं मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल।[9]

---

१. भा० ग्रं० २, राग-संग्रह, ४४३/१७
२. सूरसागर, ३०७२
३. भा० ग्रं० २, प्रेमाश्रु-वर्षण, ११६/१८
४. सूरसागर, ४२२२
५. भा० ग्रं० २, प्रेम-फुलवारी, ५८२/२०
६. सूरसागर, ४२२२
७. भा० ग्रं० २, प्रेम-फुलवारी, ५७८/३
८. सूरसागर, २९७३
९. भा० ग्रं० २, प्रेम-फुलवारी, ५८४/२६

भारतेन्दु के कृष्णकाव्य में उपलब्ध उक्तिवैचित्र्य पर सूर की अपेक्षा रीतिकालीन कवियों का विशेष प्रभाव है, जिनमें से घनानंद तथा ठाकुर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कलाकार की सफलता बहुत कुछ उसकी चित्र-योजना पर निर्भर होती है। वह अपनी भावनाओं, कल्पनाओं अथवा भावानुभूतियों को जितना ही अधिक मूर्त रूप देता है, पाठक का मन उसके पढ़ने तथा हृदयंगम करने में उतना ही लगता है। भारतेन्दु काव्यगत चित्रण-कला में सिद्धहस्त हैं। उनके काव्यगत रेखाचित्र रूप, रस, गंध, स्पर्श और ध्वनि से संपुष्ट हैं। उन्होंने व्यक्ति तथा सामूहिक दोनों ही प्रकार के चित्रों की योजना की है। उनके कृष्णकाव्य में उपलब्ध व्यक्ति-चित्र राधा-कृष्ण तथा सामूहिक चित्र हिंडोला, राधा, कृष्ण तथा चंद्रावली इत्यादि के जन्मोत्सवों अथवा होली, दीवाली आदि पर्वों से संबंधित हैं। उनके आलंबन चित्र भक्तकवियों द्वारा निर्मित चित्रों के कहीं अधिक निकट हैं। कृष्ण की बाल-वर्णन से संबंधित लगभग समस्त चित्र-योजना सूर से प्रभावित है।[1]

हरिश्चंद्र के जन्मोत्सवों तथा पर्वों से संबंधित सामूहिक चित्रों एवं राधा-कृष्ण के संयोग अथवा संभोगपरक चित्रों पर भी सूर का प्रभाव है; किंतु इन सभी प्रकार के चित्रों पर सूर के अतिरिक्त अन्य संप्रदायों के कृष्ण-भक्त कवियों का ही नहीं अपितु रीतियुगीन कवियों का भी अच्छा प्रभाव है। इस प्रकार भारतेंदु की चित्र-योजना भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन परंपराओं का सुंदर समीकरण है। उनकी लक्षित चित्र-योजना में सूर जैसे भक्तों की ऋजुता और सरलता के साथ ही साथ वक्र रेखाओं का भी सफल सम्मिश्रण हुआ है, जो उन पर पड़े सामयिक प्रभावों का द्योतक है।

भारतेंदु के कृष्णकाव्य की संगीत-योजना पर भी सूर का व्यापक प्रभाव है। वस्तुतः सूर ही उनके आदर्श हैं। उन्होंने सूर की भाँति ही रागों का क्रम निर्धारित किया है। ऐसे वर्णनों में, जिनमें हर्षोल्लास और सामूहिक आनंद की तुमुल ध्वनि विद्यमान है; उदाहरणार्थ—कृष्ण, राधा तथा चंद्रावली जन्मोत्सवों, रासलीला, राधा-कृष्ण-विवाह, झूला तथा वसंत-लीला आदि प्रसंगों में, भारतेंदु ने सूर की भाँति विविध राग-रागिनियों की योजना की है। इसी प्रकार प्रायः रागों में परिवर्तन करना तथा रागों की व्यवस्था, उनकी प्रकृति और विषय के अनुरूप करने की प्रेरणा भी, लगता है, भारतेंदु ने सूर से ही प्राप्त की थी। इसीलिए इन प्रसंगों में उन्होंने सूर की भाँति ही बिलावल, आसावरी, रामकली, धनाश्री, काफी, कान्हरा, सारंग, विहाग, सोरठ, भैरव, भैरवी, पूर्वी, वसंत, मारू, मलार इत्यादि राग-रागनियों का प्रयोग किया है।

---

१. द्रष्टव्य—सूरसागर, ७१५

भारतेंदु के कृष्णकाव्य में शास्त्रीय संगीत के साथ ही साथ लोकसंगीत की धुनों का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण है। सूर के समय में शास्त्रीयसंगीत के अंतर्गत ध्रुपद तथा ख्याल ही प्रचलित थे। कालांतर में मुगल-दरबारों के प्रभाव से भारतेंदु-युग तक आते-आते ठुमरी, कव्वाली तथा गज़ल का प्रचलन हो चुका था। इसीलिए उनके कृष्णकाव्य में भक्तिकालीन तथा रीति-युगीन राग-रागिनियों के साथ ही साथ तत्कालीन लोकजीवन में व्यवहृत दादरा, खेमटा, लावनी तथा कजली इत्यादि के रूप भी उपलब्ध होते हैं। भारतेंदु ने अपनी संगीत-योजना में नए प्रयोग भी किए हैं। उन्होंने ऐसे भी पद रचे हैं, जिनमें टेक मात्र जोड़कर अपने तथा तुलसी और बिहारी के दोहों को बीच-बीच में जड़ दिया है।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेंदु के कृष्णकाव्य पर सूर का व्यापक प्रभाव है। सच्चे अर्थों में वे सूर के अनुकर्त्ता रहे हैं। हिन्दी कृष्णकाव्य-परंपरा में भारतेंदु की एक देन अवश्य है कि उन्होंने 'गोविंद' पर दृश्य जगत् की वास्तविकता को बिलकुल न्यौछावर नहीं कर दिया, अपितु उनका ध्यान दुर्दशाग्रस्त देश की ओर आकृष्ट किया। उनकी इस उल्लेखनीय उद्‌भावना के महत्त्व का आकलन अभी तक विद्वानों द्वारा नहीं किया गया; जिसकी अपेक्षा है।

---

१. देखिए—भा० ग्रं० २, वर्षा-विनोद, पृ० ४६४, ९६।२५

□ डा० भगवतशरण अग्रवाल

सूरकृत भ्रमरगीत और रत्नाकरकृत उद्धवशतक

कृष्णभक्त महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के दशम् स्कंध के पूर्वार्द्ध के अंत में, कृष्ण कथा के एक अंश के रूप में, कृष्ण द्वारा उद्धव के व्रज भेजे जाने से लेकर उद्धव के अपना निर्गुण-ज्ञान भूलकर भक्तिरस में आकंठ निमग्न हो कृष्ण के पास वापिस मथुरा लौट आने तक की कथा, भ्रमरगीत के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। इस प्रसंग में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर अनेक कवियों ने, स्वतंत्र रूप से अपने ग्रंथों की रचना करके अथवा कृष्ण-काव्य की रचना के एक अंश के रूप में, इसे एक परंपरा का रूप भी दे दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा सूरसागर में से इस प्रसंग से संबंधित अंश को चुनकर 'भ्रमरगीतसार' शीर्षक से प्रकाशित करने के पश्चात् अनेक पाठकों को इसके पृथक् होने का भ्रम भी हुआ। 'सूरसागर' में यह प्रसंग चार बार मिलता है।[१] इन्हें सूर के चार भ्रमरगीत कहा जा सकता है। एक तो पद शैली में, इसे सूर का प्रमुख अथवा विस्तृत भ्रमरगीत कहा जाता है। कीर्तनकार होने के नाते सूर ने अपने सूरसागर में कृष्णकथा-संबंधी प्रसंगों में से अनेक को बार-बार, विभिन्न रंगरूप देकर प्रस्तुत किया है। सूर का विस्तृत भ्रमरगीत लगभग ७५० पदों में है, जिसमें एक ही भाव को अनेक बार दुहराया गया है, किंतु प्रत्येक बार कुछ नये अनुभावों की झलक दिखाई पड़ती है। इसमें भागवत के भ्रमर संबंधी प्रसंग की कथा के साथ-साथ अनेक मौलिक उद्‌भावनाएँ भी सूर ने की हैं। दूसरा भ्रमरगीत दो पदों में, दोहा-चौपाई छंद में, भागवत के प्रसंग से अधिक प्रभावित, कुछ-कुछ उसके अनुवाद जैसा है।[२] तीसरा[३] और चौथा[४] भ्रमरगीत एक-एक ही पद में इस प्रसंग के

१. अनेक विद्वानों ने सूर के केवल तीन भ्रमरगीतों का उल्लेख किया है।
२. सूरसागर, ७४११-१२
३. सूरसागर, ४७१३
४. सूरसागर, ४६६७

संक्षिप्त वर्णन के समान है। दूसरे और तीसरे भ्रमरगीत में भ्रमर का प्रवेश भी नहीं है और उसके प्रति कोई संबोधन भी नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में उद्धव और गोपियों के मध्य आध्यात्मिक वाद-विवाद अधिक है। दूसरे भ्रमरगीत में भ्रमर का उल्लेख उद्धव स्वयं ही ब्रह्म के लिए करते हैं. "आपुहिं भ्रमर आपुहिं फूल।" चौथे भ्रमरगीत में गोपियों द्वारा भ्रमर को संबोधन तो है, उसका प्रवेश नहीं है। दूसरे और चौथे भ्रमरगीतों में भ्रमरगीत पठन-पाठन का माहात्म्य भी बताया गया है।

रत्नाकरजी का उद्धव-शतक भी कोई क्रमबद्ध रचना नहीं है। उन्होंने समय-समय पर उद्धव-विषयक जो कवित्त रचे थे, उन्हीं ११८ कवित्तों को भ्रमरगीत प्रसंग के क्रम में रखकर उद्धवशतक के नाम से प्रकाशित किया गया है।

जहाँ तक भ्रमरगीत की कथा का संबंध है, इसका (भ्रमर के आने का) प्रारंभ भागवतकार ने किया था। भागवत के दशम् स्कंध (पूर्वार्द्ध) के ४६ तथा ४७-वें अध्यायों में यह कथा मिलती है। भागवत के आधार पर हिन्दी-काव्य-साहित्य में यह परंपरा अष्टछाप के कवियों ने प्रारंभ की और महाकवि सूरदास की भ्रमरगीत संबंधी रचनाएँ केवल मूलाधार ही नहीं बनी, बल्कि अपनी नवीन उद्भावनाओं के कारण शीघ्र लोकप्रिय भी हो गई।

सूर के द्विपदीय भ्रमरगीत में—उद्धव ब्रजागमन; गोपियों की आशा निराशा; कुब्जा पर व्यंग्य; कृष्ण के फिर से मिलने की आशा; उद्धव द्वारा आत्मज्ञान का उपदेश; गोपियों द्वारा नवधाभक्ति और भजनानंद का गुणगान; उद्धव का फिर से ज्ञानोपदेश; गोपियों का निर्गुणज्ञान पर हँसना; कुब्जा के कूबर में योग के छिपे रहने का व्यंग्य; ज्ञान के नीरस और भक्ति-विरोधी होने की चर्चा; उद्धव द्वारा प्रेमाभक्ति की प्रशंसा और भ्रमरगीत के श्रवण-कीर्तन का महत्त्व है।[१]

सूर के प्रथम एकपदीय भ्रमरगीत में—गोपियों द्वारा उद्धव का स्वागत; उद्धव का मन ही मन गोपियों की भक्ति की प्रशंसा करना; ज्ञानगर्व का दूर होना; फिर भी निर्गुण का उपदेश; गोपियों द्वारा प्रतिवाद; गोपियों की प्रेमलक्षणा भक्ति से प्रभावित हो उद्धव का नियम भूलना; कृष्णभक्त बन गोप-गोपियों तथा कृष्ण की लीलाओं का गुणगान करते हुए कुंजों में विरमना; फिर कृष्ण को जाकर गोपियों की भक्ति का परिचय देना; कृष्ण का नेत्रों में जल भरकर भूमि पर पड़ना और उद्धव के प्रति 'जोग सिखा आने' पर व्यंग्य करना वर्णित है।[२]

सूर के दूसरे एकपदीय अथवा तीसरे भ्रमरगीत में उद्धव का योग-साधना का उपदेश; गोपियों का मधुकर को संबोधित करते हुए, कपटी कहकर उपालंभ देते हुए

१. सूरसागर, ४७११-१२
२. वही, ४७१३

श्रीकृष्ण के नटवर-वेश में वृंदावन में बसने की बात; योग का प्रतिवाद; उद्धव का शीश हिला कर भक्ति की महत्ता का स्वीकार; भ्रमरगीत का महत्त्व इत्यादि चित्रित हैं।[१] सूर के प्रमुख, पदशैलीवाले अथवा विस्तृत भ्रमरगीत में एक ओर तो ब्रज तथा ब्रजवासियों की कृष्ण के वियोग से उत्पन्न तथा विकसित व्याकुल दशा का चित्रण है, कृष्ण की निर्ममता के प्रति उपालंभ हैं और फिर से ब्रज आकर दर्शन देने की आर्त्त-प्रार्थनाएँ हैं तो दूसरी ओर इन संदेशों से विचलित हुए कृष्ण को देखकर उद्धव के ब्रह्मज्ञान के अभिमान का संकेत है और अपने सखा के उस अभिमान को नष्ट करने के हेतु श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें अपना लिखित तथा मौखिक संदेश लेकर ब्रज में भेजे जाने के पद हैं। प्रत्यक्ष रूप में श्रीकृष्ण ने उद्धव को अपने ज्ञान से गोप-गोपियों के मोह को नष्टकर, विरहमुक्त करने के लिए भेजा है, जबकि वास्तव में श्रीकृष्ण उद्धव के ज्ञानांध हृदय को प्रेमभक्ति से परिपूरित करा देना चाहते थे। सूर के इस 'भ्रमरगीत' में श्रीकृष्ण अपने मातापिता, सगे-संबंधियों के साथ मित्रों और गोप-गोपियों को संदेश भेजते हैं। उद्धव को ब्रज जाते देख कुब्जा भी कुछ निजी संदेश यशोदा, राधा तथा गोपियों के पास भेजती है। यह सूर की नवीन उद्भावना है और इसके माध्यम से उन्हें कुछ अधिक तीव्र व्यंग्य और उपालंभ प्रस्तुत करने का अवसर मिल गया है। वैसे कुब्जा के संदेश में अपना बचाव-पक्ष भी है और साथ में कही नम्रता और कहीं उपालंभ, इस प्रकार दोनों का सुभग समन्वय मिलता है।

उद्धव-ब्रजगमन का सूर ने विस्तृत वर्णन किया है, जिसमें शुभ-शकुनों के साथ-साथ गोपियों के मन में उठनेवाली आशा-निराशाओं के सुंदर चित्र दिए हैं। उद्धव के ब्रज पहुँचने पर उनके साथ श्रीकृष्ण को न देखकर यशोदा मूर्छित हो जाती हैं। उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण का पत्र देने पर, पहले तो गोपियाँ सोचतीं हैं कि कृष्ण हमसे रुष्ट हैं। गोपियों की इस व्याकुलावस्था के समय एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ जा पहुँचता है और यहीं से वास्तविक भ्रमरगीत प्रारंभ होता है : **इहिं अंतर मधुकर इक आयौ।**[२] वैसे सूरसागर में इससे पहले के दो पदों में भी गोपियों ने उद्धव को मधुप और अलि कहकर संबोधित किया है।[३]

उद्धव अनेक बार गोपियों को श्रीकृष्ण के लौकिक रूप को भूलकर ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप में, योग-साधना के माध्यम से, ध्यान केंद्रित कर मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। गोपियाँ कहीं श्रद्धा से, कहीं तर्क से, कहीं भावविह्वलता से, कहीं अपने संबंधों की दुहाई देकर प्रेमलक्षणा भक्ति का ऐसा प्रभाव उद्धव पर डालती हैं कि वे अपना निर्गुण-ज्ञान भूलकर उन्हीं के गुण गाने लगते हैं। यही नहीं

---

१. सूरसागर ४६६७
२. सूरसागर, ४११५
३. सूरसागर, ४१११, ४११३

जब वे ब्रज से मथुरा वापिस आते हैं तो श्रीकृष्ण से एक बार अवश्य ही ब्रज जाने का अनुरोध भी करने लगते हैं।

'उद्धव-शतक' का प्रारंभ रत्नाकरजी की मौलिक सूझ का परिचायक है। श्रीकृष्ण यमुना में स्नान करते समय एक मुरझाया कमल देखते हैं। उसे सूँघते समय उन्हें राधा की याद आ जाती है, जो उन्हें विरहातुर बना देती है, वे बेसुध जैसे हो जाते हैं। श्रीकृष्ण को उद्धव अपनी बाहों का सहारा देकर वापिस लाते हैं। उस समय किनारे पर एक तोता भी राधा का नाम ले बैठता है, जिससे कृष्ण की दशा और भी व्याकुलतापूर्ण हो उठती है। धीरे-धीरे चेतना आने पर वे उद्धव को अपने मन की बात, अर्थात् गोपियों, विशेषकर राधा के प्रति अनन्य प्रेम की बात, नेत्रों की सजलता, भरे गले और हिचकियों के माध्यम से समझाते हैं।[१] ब्रजबालाओं के साथ ही साथ श्रीकृष्ण अपने मन के विभिन्न भावों को नंद-यशोदा के प्रति, ब्रज के प्रति और उसके सुखद सौंदर्य के प्रति भी प्रकट करते हैं। उद्धवजी श्रीकृष्ण को मोहासक्त देखकर उनके मोह का नाश करने के लिए उन्हें निर्गुण-निराकर ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देते हैं, किंतु श्रीकृष्ण तो उनके इसी अभिमान को समाप्त करना चाहते थे, इसलिए वे उद्धव से एकबार गोकुल हो आने की बात पर जोर देते हैं। उद्धव कृष्ण का संदेश और ज्ञानोपदेश लेकर जब ब्रजभूमि में प्रवेश करते हैं तो प्रवेश के साथ ही, ब्रजभूमि के सौंदर्य और अलौकिक-माहात्म्य के कारण, वहाँ के करीलों की कुंजों और यमुना की कछारों में उनकी ज्ञान-गठरी की पूँजी बिखरने लगती है। उद्धव द्वारा गोकुल की गलियों में पैर रखते ही, उनके ज्ञान का अहंकार दूर होने लगता है। ब्रज में उनके आने का समाचार मिलते ही गोपियों के झुंड के झुंड नंद के द्वार पर आने लगते हैं और श्रीकृष्ण के संदेश में "हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा" कह-कह कर गोपियाँ उनकी नाक में दम कर देती हैं। पहले तो उद्धव उनके अनन्य प्रेम, प्रतीक्षाकुल आतुर हृदय और तन्मयता को देखकर स्तब्ध रह जाते है, किंतु फिर किसी प्रकार साहस बटोर कर उन्हें योग-ध्यान इत्यादि के माध्यम से जीवन सार्थक बनाने का उपदेश देते हैं। श्रीकृष्ण के सखा तथा संदेशवाहक उद्धव के इस उपदेश से गोपियाँ ठगी-सी रह जाती हैं। फिर किसी प्रकार चेतना को सजग कर, तर्क और उपालंभों के माध्यम से उद्धव के मत का खंडन करती हैं। उद्धव की ज्ञानसाधना में मुक्ति के लक्ष्य को केंद्र में रखकर वे कुब्जा पर व्यंग्य करते हुए कहती हैं, "कि क्या यह मुक्ति कुब्जा के कूबर में छिपी हुई थी, जो श्रीकृष्ण को और तुम्हें उसका मथुरा में ज्ञान हुआ।"[२] यही नहीं उद्धव द्वारा केवल एक बार दिए गए ज्ञान के उपदेश का

---

१. गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं, प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कहि बैननि, अनेक कही नैननि सौं, रही सही सोऊ कही दीनि हिचकीनि सौं।
उद्धवशतक : ४

२. उद्धवशतक : ५२

गोपियाँ इतनी तीव्रता से प्रतिवाद करती हैं कि उद्धव को अंत तक दूसरी बार बोलने का अवसर ही नहीं मिलता, यहाँ तक कि वे उनकी भक्ति से प्रभावित हो, उन्हीं के रंग में रँग जाते हैं।

रत्नाकर की गोपियों के अधिकांश व्यंग्य और उपालंभ निर्गुण मार्ग, उद्धव, अक्रूर और कुब्जा पर हैं। जब उद्धव गोपियों की प्रेम भक्ति से प्रभावित हो, उनके संदेश लेकर श्रीकृष्ण के पास मथुरा लौटने का विचार करते हैं तो वह विचार तक उनको असहनीय लगने लगता है और उनका मन व्रज से वापिस जाने को तनिक भी नहीं करता। वे गोकुल के निवासियों की भक्ति और व्रज के सौंदर्य में निमग्न हो, वहाँ की 'धूरि' में लोटने लगते हैं।[1] फिर किसी तरह तन और मन को सम्हाल-कर 'ज्ञान गूदड़ी में अनुराग रतन ले', मथुरा वापिस पहुँचते हैं। वहाँ कृष्ण से मिलने जाते समय उनके पग तक सीधे नहीं पड़ते, क्योंकि उनके एक हाथ में यशोदा के वात्सल्य का साकार स्वरूप नवनीत है और दूसरे हाथ में राधा द्वारा भेजी गई प्रेम की प्रतीक मुरली है। किसी तरह अपने मनोभावों को संयत कर वे श्रीकृष्ण से कह पाते हैं कि हमारी ज्ञान-गूदड़ी वहीं रह गई है। पता नहीं उस भूमि का क्या प्रताप है कि मेरा यहाँ वापिस आने को मन ही नहीं कर रहा था। यदि आप वहाँ जाएँगे तो आपकी भी यही दशा हो जाएगी।

सूर के 'भ्रमरगीत' और 'उद्धवशतक' के उक्त कथ्य में हमें विशेष रूप में निम्नलिखित अंतर दिखाई देता है :

१. उद्धवशतक का प्रारंभ भागवतानुसार नहीं है। रत्नाकरजी ने उसमें एक नवीन उद्भावना की है। मंगलाचरण के पश्चात कथा का प्रारंभ श्रीकृष्ण के यमुना स्नान, मुरझाए कमल-पुष्प को सूँघने से राधा की याद आने से होता है। सूर का भ्रमर-गीत श्रीकृष्ण द्वारा अपने सखा उद्धव के ज्ञान के मिथ्याभिमान को नष्ट करने के विचार से प्रस्फुटित होता है।

२. उद्धवशतक में 'भ्रमरप्रसंग' कहीं नहीं है।

३. रत्नाकर के उद्धव, व्रज में प्रवेश करते ही उसके भक्ति-सौंदर्यपूर्ण वाता-वरण से प्रभावित हो उठते हैं, तत्पश्चात् गोपियों के सम्मुख भी केवल तीन कवित्तों में अपने मत को एक बार प्रतिपादित करने का अवसर ही उनको मिल पाता है। सूर के एकपदीय भ्रमरप्रसंग के पद को छोड़कर, शेष तीनों भ्रमरगीतों में उद्धव को अनेक बार अपने मत को विभिन्न तर्कों के साथ प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है।

४. सूर की गोपियों की विभिन्न विरह-दशाएँ, प्रतिवाद इत्यादि एक-दो पदों को छोड़कर, एक सामूहिकता या समूह के रूप में देखने को मिलती हैं, जबकि रत्नाकरजी की विभिन्न गोपियों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ अधिक चित्रात्मक हो सकी हैं।

---

१. उद्धवशतक ११७

५. सूर की गोपियाँ तर्ककुशल होते हुए भी भावनाशील अधिक हैं। इसके साथ ही सूर के भ्रमरगीत में पदों की अधिकता के कारण उन्हें कृष्ण, कुब्जा, अक्रूर तथा उद्धव पर भ्रमर के माध्यम से व्यंग्य करने के अवसर अधिक प्राप्त हो सके हैं। रत्नाकरजी की गोपियों में नंददास की गोपियों जैसी तर्कपटुता तथा सूर की गोपियों की भावप्रवणता का सुंदर समन्वय मिलता है। गोविंदराम शर्मा के मत से भी, 'रत्नाकर की गोपियाँ सरल हृदया, भोलीभाली होने पर भी वाक्पटु, हास्यप्रिय और तर्ककुशल दिखाई देती हैं।'[1]

६. सूर और रत्नाकर दोनों ही कवियों के उद्धव प्रारंभ में ज्ञानमार्ग के साधक थे। यही नहीं उन्हें अपने इस साधनापक्ष का अभिमान भी था। दोनों ही कवियों के श्रीकृष्ण उनके इस अभिमान को खंडित करने के लिए उन्हें गोपियों की ब्रह्मज्ञानसाधना सिखाने को भेजते हैं। सूर के श्रीकृष्ण उद्धव के विषय में पहले अपने मन में विचार करते हैं, **"निठुर जैसो काठ,**[2] **अति भरयौ अहंकार",**[3] **"निठुर जोगी जंग",**[4] **काक हंसहि संग जैसौ,**[5] **"हंस काग को संग भयौ",**[6] और पछताते हैं कि गोपियों की प्रेमलक्षणा भक्ति की बातें किसके आगे की जाएँ, **"वै बातें कहिये किहि आगैं, यह गुनि हरि पछितात",**[7] और इसीलिए उन्हें ब्रज भेजते हैं।[8] ब्रज में गोपियाँ उद्धव के मिथ्याभिमान को ही नष्ट नहीं करतीं, उन्हें अपनी भक्तिसाधना से इतना प्रभावित करती हैं कि दोनों ही कवियों के उद्धव गोपियों के गुणगान करते लौटते हैं और श्रीकृष्ण से ब्रज जाने का आग्रह करते हैं।

७. दोनों ही कवियों के श्रीकृष्ण पत्र तथा मौखिक दोनों माध्यमों से संदेशा भेजते हैं।

८. सूर ने कीर्तनकार होने के कारण एक ही भाव को विविध रंगरूप देकर, विभिन्न सूक्ष्म अंतर्भावों को परिवर्तित कर, एक से अधिक पदों में प्रस्तुत किया है। उद्धवशतक में रत्नाकर को इसका अवकाश नहीं मिला है।

९. उद्धवशतक में कृष्ण विरहातुर दिखाए गए हैं और इसी कारण वे बेसुध हो जाते हैं। उद्धव को ब्रज भेजते समय रथ के साथ दूर तक दौड़े चले आते हैं और रास्ते भर अनेक संदेश देते जाते हैं। सूर के भ्रमरगीत में ऐसा नहीं है।

---

१. सूर की काव्यसाधना, गोविंदराम शर्मा, पृ० २१७
२. सूरसागर, ४०३०
३. सूरसागर, ४०३१
४. सूरसागर, ४०३२
५. सूरसागर, ४०३५
६. सूरसागर, ४०३६
७. सूरसागर, ४०३३
८. सूरसागर, ४०३१, ४०३७

१०. सूर की गोपियाँ, नंद इत्यादि मथुरा की ओर से रथ आता देख कर और उसमें श्रीकृष्ण जैसा ही कोई बैठा देखकर उसे कृष्ण ही समझ स्वागत करने जाते हैं। बाद में कृष्ण के स्थान पर उद्धव को देख सभी स्तब्ध रह जाते हैं, गोपियाँ निराश-हताश हो मूर्छित हो जाती हैं। उद्धवशतक में यह प्रसंग नहीं है।

११. सूरसागर में नंद-यशोदा-उद्धव संवाद हैं, उद्धवशतक में नहीं।

१२. सूर की गोपियों को शंका है कि अक्रूर ही फिर से आ गए हैं। उद्धव-शतक में यह विचार ही नहीं है।

१३. सूर की गोपियाँ मूर्च्छा से उठ प्रारंभ में कृष्ण के सखा से मिलकर प्रसन्नता प्रकट करती हैं। उनके संदेशों के श्रवण-सुख से व्याकुल हो कुशलता पूछती हैं। उद्धव के पत्र देने पर वे उसे नेत्रों और हृदय से लगाती हैं। यहाँ तक कि **"लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।'** और फिर वे उद्धव से उसे पढ़कर सुनाने को कहती हैं। किंतु निर्गुणसाधना की बात सुनते सुनते तो वे उद्धव तथा कृष्ण पर क्रुद्ध हो उठती हैं। गोपियों की इसी अवस्था में एक भ्रमर उड़ता हुआ आता है, जबकि उद्धवशतक में गोपियों की पत्र के संबंध में जिज्ञासा को देखकर उद्धव दुविधा में पड़ जाते हैं कि अपना निर्गुण-ज्ञान का उपदेश कैसे प्रारंभ करें? फिर धैर्य धारण कर उपदेश दे ही डालते हैं।

१४. सूर के कृष्ण अपने माता-पिता, राधा की माता, श्रीदामा तथा गोप-गोपियों इत्यादि को जो संदेश भेजते हैं, वह विभिन्न पदों के माध्यम से काफी विस्तृत हो गया है। रत्नाकर के कृष्ण विरहाकुल अवस्था में राधा और गोपियों को ही अधिक केंद्र में रखते हैं। सूर के उद्धव गोपियों के लिए कुब्जा का संदेशा भी लाते हैं। उद्धवशतक में गोपियों ने लगभग ग्यारह कवित्तों में कुब्जा पर व्यंग्य किया है,[१] किंतु उसमें कुब्जा का संदेशा नहीं है। सूर के लगभग ७३ पदों में कुब्जा पर व्यंग्य हैं।[२]

१५. सूर और रत्नाकर दोनों ही कवियों के कृष्ण अपने बचपन और किशोर-अवस्था के, ब्रज में व्यतीत किए हुए, सुखपूर्ण समय का स्मरण करते और उसकी मथुरा के राजकाजपूर्ण जीवन से तुलना करते हैं।

१६. सूर की गोपियाँ भ्रमर के प्रतीक के माध्यम से कृष्ण, उद्धव, अक्रूर, पुरुषजाति तथा निर्गुणाभिमानियों पर जो तीक्ष्ण व्यंग्य कर पाती हैं और जो रसलंपट, शठ, रसलोलुप, नीच, मूढ़, कपटी, श्वान, अहि, कौआ, पागल, त्रिदोषपीड़ित, कुटिल जैसे शब्दों को विशेष अर्थ में प्रयुक्तकर पाती हैं, वह अवकाश भ्रमर प्रसंग न होने के कारण रत्नाकर को नहीं मिला है।

---

१. उद्धव शतक, ५२, ६६, ८१-८६, ८८, ९२ ९५,

२. ब्रज मैं जोग कहाँ तैं ल्यायौ। कुबिजा कूबर मांहि दुरायौ। सूरसागर, ४७१२

१७. उद्धव के मथुरा आते समय सूर की गोपियों को शुभशकुन होने लगते हैं, बाईं भुजाएँ फड़कने लगती हैं, कौए बोलकर उड़ जाने लगते हैं, आदि आदि। उद्धव-शतक में यह उद्‌भावना नहीं है।

१८. सूर ने कृष्ण के अन्य अवतारों की कथाओं के संदर्भ भी गोपियों के उपालंभों में दिए हैं,[1] उद्धवशतक में ऐसा नहीं है।

१९. सूर ने दो भ्रमरगीतों में भ्रमरगीत माहात्म्य भी दिया है; जिससे उनके भक्तकवि ही नहीं, बहुजनहिताय कथाकवि होने की प्रतीति भी होती है। रत्नाकरजी श्रृंगाररस के कवि थे, इसलिए भक्ति-प्रसंग लेकर भी कथावाचक जैसी नहीं, केवल कवि जैसी मौलिक उद्‌भावना ही उन्होंने की हैं।

२०. दोनों ही कवियों के इस कथा-प्रसंग में नाट्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

२१. सूर की गोपियाँ कृष्ण के बचपन की अनेकानेक घटनाएँ, लीलाएँ तथा किशोरावस्था की अनेक लीलाएँ याद कर करके दुखी भी होती हैं और सुखी भी। कहीं उनका संदर्भ देकर उपालंभ देती हैं, कहीं व्यंग्य करती हैं, कहीं स्मरण-रस में डूब जाती हैं और कहीं कुछ न कह सकने की व्यथा से मौन ही रह जाती हैं। उद्धव-शतक का फलक इतना व्यापक नहीं है।

२२. दोनों ही कवियों की गोपियों ने अक्रूर पर भी व्यंग्य किए हैं।

२३. सूर की गोपियों ने कुब्जा के साथ मथुरावासियों पर भी व्यंग्य किए हैं, कि वही नगरवासी और नागर-युवतियाँ निर्गुण के अधिक योग्य हैं।

२४. सूरसागर और उद्धवशतक दोनों ही की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यदि तुम श्रीकृष्ण से हमें मिलवादो तो हम जोग क्या और भी जो कुछ तुम कहो करने को तैयार हैं।[2]

२५. सूर तथा रत्नाकर दोनों ही कवियों ने व्यंग्य के साथ-साथ शिष्ट हास्य के भी सुंदर प्रयोग किए हैं।

२६. उद्धवशतक में उद्धव के ब्रज से मथुरा लौटते समय गोपियाँ अपने-अपने संदेशों के साथ भेंट भी देती हैं। राधा मुरली देती है, नंद पीत-पट और यशोदा नवनीत। सभी भेंट कृष्ण के ब्रज-जीवन से संबंधित हैं।[3] सभी गोपियाँ अलग-अलग पत्र लिखने बैठती हैं। सूर की गोपियाँ संदेशों में एक तो यह पूछती हैं कि हमें किन कारणों से छोड़ रखा है। इसके साथ ही वे उद्धव से ब्रज की दुखी दशा को कृष्ण तक पहुँचाने

---

१. सूरसागर, ४१३३, ४४१५, ४७१२ इत्यादि

२. उद्धवशतक, ७०, ७१, ७२; सूरसागर, ४४१३

३, उद्धवशतक, १०९

की प्रार्थना करती हैं और साथ ही पत्र भी देती हैं।[1] सूर ने यशोदा का आशीर्वाद और संदेश भी कई पदों में वर्णित किया है।

२७. सूर और रत्नाकर के कई छंदों में कथ्य की काफी समानता हमें मिलती है।[2]

२८. सूर ने गोपियों के माध्यम से यह समझाने की भी कोशिश की है कि प्रेम-लक्षणा भक्ति में विप्रलंभ की विभिन्न दशाओं में हठयोग साधना से किसी कम नियम-संयम इत्यादि का आचरण भक्त के जीवन में नहीं होता।[3] उद्धवशतक में इसी बात को श्लेष के माध्यम से कहा गया है।[4]

२९. सूर के उद्धव जब मथुरा वापिस आते हैं तो कृष्ण उनसे उत्सुकतापूर्वक सभी की कुशलता का हाल-चाल पूछते हैं और नंद, यशोदा, गोप-सखा, गाय-बछड़े, गोपियाँ, राधा, सभी का नाम लेते हैं। इसके बाद वे उद्धव से पूछते हैं कि वे अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुए ? उद्धव कहते हैं कि मैं ज्ञान-ध्यान-व्रत-नियम का परिवार साथ ले गया था, किंतु गोपियों के विरह-पवन में सब उड़ गया। मेरे मन का योग-ध्यान भी पता नहीं कहाँ गया। उद्धव कृष्ण को विस्तार से सभी बातें बताते और गोपियों की भक्ति का गुणगान करते हैं। कृष्ण के बिना ब्रज को दीन-क्षीण और दुःखी बताते हैं। उद्धव राधा की मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाओं एवं बाह्य वेशभूषा का अनेक पदों में अलग से वर्णन करते हैं। कृष्ण ब्रजवासियों के हित को मन में छिपा, उद्धव के ज्ञानाभिमान की पूर्वस्थिति पर व्यंग्य करते हैं। उद्धव युवतियों को अपने द्वारा योग का उपदेश दिए जाने के प्रयत्न पर दुख प्रकट करते हैं और बारंबार गोपियों के प्रेम की सराहना करने लगते हैं। अंत में कृष्ण कह उठते हैं :

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदाबन गोकुल बन उपबन, सघन कुंज की छाहीं।[5]

उद्धव-शतक के उद्धव तो भक्तिरस में इतने रचे-पचे पहुँचते हैं कि पहले कृष्ण से अपने स्वयं के स्वस्थ होने तक धैर्य धारण करने की प्रार्थना करते हैं :

आँसुनि की धार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकीनि के तनक टरि लेन देहु।...

---

१. सूरसागर, ४६७३, ८२, ८३, ८४ इत्यादि तथा यशोदा संदेश, ४७०० से ४७०९
२. उद्धवशतक ५४, ५६ की तुलना कीजिए सूरसागर पद ४१४८ से।
उद्धवशतक ४४ की तुलना कीजिए सूरसागर पद ४२७८ से।
सूरसागर, ४१८२ और उद्धवशतक, ५१
सूरसागर, ४७१३ और उद्धवशतक, ४७
३. सूरसागर पद ४१४८, ४३११, १२, १३, १४
४. उद्धवशतक, कवित्त पृ० ५४
५. सूरसागर, ४७७४

आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।[1]

रत्नाकरजी ने उद्धवशतक के प्रारंभ और अंत दोनों ही स्थानों पर कृष्ण की कातरावस्था दिखाकर, कृष्ण और गोपियों में तुल्यानुराग की एक नवीन उद्भावना करके अपने पूर्ववर्ती कवियों से भिन्नता दिखाई है। उद्धवशतक के अंत में सूरसागर के ही समान उद्धव श्रीकृष्ण को व्रज तथा व्रजवासियों की दुःखी अवस्था का परिचय देकर व्रज जाने का आग्रह करते हैं और कृष्ण उनके ज्ञानाभिमान को खंडित हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि जहाँ तक भ्रमरगीत और उद्धवशतक के कथ्य का संबंध है, मूल कथा एक होते हुए भी दोनों कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नवीन उद्भावनाएँ की हैं।

किंतु जहाँ तक दोनों कवियों के कथा-प्रसंग के उद्देश्य का प्रश्न है, वहाँ सूर और रत्नाकर दोनों ही एक दृष्टिकोण के हैं। दोनों ने ही साधारण गृहस्थजनों और विशेषकर अशिक्षित-अर्धशिक्षित गाँव में रहने वाली भोली नारियों के लिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर प्रेमलक्षणा भक्तिमार्ग को सरल और संभव सिद्ध करने की चेष्टा की है और उसमें वे सफल भी हुए हैं। हम आचार्य वाजपेयी के इस मत से सहमत हैं कि "यदि ध्यान देकर देखा जाए तो गोपियों के उत्तर में केवल कृष्ण के प्रति उत्कट अनुराग की ही सर्वत्र व्यंजना हैं; निर्गुण के खंडन का उपक्रम उतना नहीं। निर्गुण के संबंध में अधिकांश में गोपियों की ऐसी उक्तियाँ आई हैं, जिनमें निर्गुण का तिरस्कार नहीं है, उसके निराकरण का तो प्रश्न ही नहीं है। केवल उसके शुष्क ध्यान, उसकी कष्ट-साध्य साधना आदि का ही पद-पद में उल्लेख है। ···सूर का आशय निर्गुण, निरवधि ब्रह्म का खंडन करना ही नहीं था। वे तो कृष्ण की अलौकिक लोक-लीला के साथ-साथ तादात्म्य स्थापित कर रहे हैं।"[2] वास्तव में सूर तथा रत्नाकर ने जो व्यंग्य किए हैं वह ऐसे व्यक्तियों पर हैं, जो केवल सैद्धांतिक रूप में निर्गुण की बात करते हैं। ऐसे व्यक्तियों, तथाकथित ज्ञानियों के व्यक्तिगत जीवन में हमें किसी साधना अथवा आचरण का परिचय नहीं मिलता। वे निर्गुण ब्रह्म के विषय में उल्टी-सीधी बातें करके मदारी का तमाशा जैसा करते हैं। आचार्य वाजपेयी ने ठीक ही लिखा है, "उद्धव ने कृष्ण से कहा कि यदि आप कहें तो मैं व्रज जाकर उन सबको समझा आऊँ कि वे आपके पीछे हैरान न हों; निर्गण, निराकार ब्रह्मका ध्यान आरंभ करें। जिस व्यक्ति ने ऐसी बात कही वह न केवल हृदयहीन होगा; शास्त्रों के

---

१. उद्धवशतक

२. महाकवि सूरदास, आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, पृ० १३६, १३८

यथार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ, ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों में कृत्रिम भेद करने वाला भी ठहरता है। उसने न सगुण ब्रह्म का स्वरूप पहचाना, न निर्गुण ब्रह्म का, न उसने भगवान् के अवतार रूप की महिमा समझी।"[1] उद्धव यदि वास्तव में निर्गुण के, ज्ञान-मार्ग के साधक होते तो ब्रजबालाओं को उपदेश देने की बात विचार करने से भी पहले, कहीं योग-साधना में रत होते।[2]

इस प्रकार इन भ्रमरगीत संबंधी काव्यों के माध्यम से ६वीं शताब्दी से आज तक के समाज में रहकर सभी प्रकार से सांसारिक रसों में डूबे हुए किंतु फिर भी दूसरों को ज्ञान-मार्ग का उपदेश देनेवालों पर करारा व्यंग्य हो जाता है। सूरदास ने बीस से अधिक पदों में गोपियों से यही बात कहलाई है कि हम तो अबला, अपढ़, अहीरिनियाँ हैं, यह निर्गुण हमारे लिए नहीं है। यदि तुम ऐसा मानते हो कि नारियाँ भी यह सब कर सकती हैं तो पहले तुम मथुरावासिनी नागरबालाओं को यह सिखलाओ। और प्रसंग के अंत में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण के समक्ष उद्धव अपनी यह भूल स्वीकार भी करते हैं कि युवतियों को निर्गुण की शिक्षा देना कोरी मूर्खता थी। इसलिए यद्यपि भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन जैसा कथन काफी प्रचलित हो गया है, किंतु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि सूर अथवा उनकी परिपाटी के भक्त कवियों को साधारण जन और उसमें भी विशेषकर महिलाओं के लिए ज्ञान योग की साधना संभव नहीं दिखाई दी। क्योंकि "सूरदास योग की अपेक्षा भक्ति के महत्त्व का अधिक प्रतिपादन करते हैं, किंतु वे योग को सर्वथा हीन-दृष्टि से नहीं देखते। योग का मजाक उड़ाने से उनका तात्पर्य यही है कि भक्ति, योग की अपेक्षा सहज साध्य है : योग की साधना कठिन है। अतः सुकुमार नारियों को योग-साधन की सलाह देना एक विषमता मात्र है। उनके भावुक हृदय के लिए तो प्रेम-मार्ग का अनुकरण ही श्रेयस्कर है।"[3] डा० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ संप्रदाय के मोक्ष संबंधी विचारों के संबंध में यह लिखा है कि, "वल्लभ संप्रदाय ने मोक्ष की उच्च-अवस्था में जीव और ब्रह्म का तारतम्य संबंध रक्खा है, क्योंकि अभेद होने से आनंदानुभव नहीं हो सकता, इसीलिए ब्रह्मभाव प्राप्त करके भी ब्रह्म से अभेद रहे, यही इस मत में श्रेष्ठ अवस्था है।"[4] रत्नाकर के उद्धवशतक में इसीलिए गोपियाँ कहती हैं :

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम।
तौहूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।

---

१. महाकवि सूरदास, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १३५

२. सूरसागर, ४३१७

३. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ ३५६,५७

४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, भाग २, पृष्ठ ४६७

जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ।।४६।।

इसी प्रकार "लयात्मक मुक्ति का दूसरा रूप है, विरहासक्ति की अवस्था में भक्त का परमाराध्य में तल्लीनता का अनुभव करना।"[1] सूर और रत्नाकर दोनों ही कवियों की गोपियों में हमें यह स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

भावपक्ष—सूरदास और रत्नाकर, दोनों ही कवियों की रचनाओं में श्रृंगार-पक्ष की प्रधानता मिलती है। जहाँ तक भ्रमरगीत और उद्धव-शतक का प्रश्न है, दोनों ही में श्रृंगार के वियोगपक्ष की प्रधानता है, यद्यपि गौणरूप से हास्य तथा शांतरस भी मिलते हैं। सूर के भ्रमरगीत में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विप्रलंभ की सभी संभव अंतर्दशाएँ स्वीकार की हैं।[2] डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में, "उन्होंने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है।" और डा० ब्रजेश्वर वर्मा के मत से, "भ्रमरगीत मधुर प्रेम का अथाह समुद्र है, जिसमें लघु लहरें, उत्ताल तरंगें, झंझावात से आलोड़ित विप्लव, धैर्य तोड़ने वाले ज्वार और विह्वल करने वाली बड़वाग्नि तो है, किंतु सरिता में जो प्रवाह, गति, छिप्रता होती है, वह नहीं है।[3] वास्तव में सूरदास के भ्रमरगीत का कलेवर कई सौ पदों में होने के कारण और उनकी स्वयं की भक्ति भी गोपीभाव की होने के कारण, वे अनेक संभव और कल्पना-संभव भावों का सूक्ष्म चित्रण कर पाने में समर्थ हुए हैं। उद्धवशतक में यद्यपि रत्नाकर को इतना व्यापक फलक नहीं मिला है किंतु उन्होंने भी दसों अंतर्दशाओं के अंतर्गत, पुलकावली, अश्रुप्रवाह, उच्छवास, कंठावरोध, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, कंम्प, शैथिल्य, मोह-प्रमाद इत्यादि सात्त्विक अनुभावों और अनेक प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं का चित्रण किया है। सूर और रत्नाकर दोनों ही कवियों ने विप्रलंभ श्रृंगार के अंतर्गत षड्ऋतु वर्णन की परंपरा का निर्वाह भी किया है।

शैली—भ्रमरगीतसार और उद्धवशतक दोनों में ही प्रबंधकाव्य और मुक्तक-काव्य शैली का सुंदर समन्वय है। पता नहीं क्यों, कुछ आलोचक उद्धवशतक को केवल प्रबंध-काव्य के रूप में ही क्यों मान्यता देते हैं? वस्तुतः दोनों में ही एक घटना विशेष की कथा भी है और प्रत्येक छंद अथवा पद स्वतंत्र-सा भी है। सूर का बृहद् भ्रमरगीत गीतिकाव्य के अंतर्गत आता है, क्योंकि वह राग-रागिनियों में बँधा हुआ भी है और पद शैली में है। उनका एक 'भ्रमरगीत' दोहे-चौपाई शैली में भी है, जिसका संदर्भ हम ऊपर दे चुके हैं। 'उद्धवशतक' में वर्णिक वृत्तवाला घनाक्षरी या कवित्त छंद प्रयुक्त किया गया है, जिसमें ८,८,८, और ७ के क्रम से १६ और १५ पर विराम

---

१. अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्यांकन, डा० मायारानी टंडन, पृष्ठ २६९
२. भ्रमरगीत (वक्तव्य) आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ १३
३. सूरदास, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ३३१

या यति देते हुए ३१ वर्ण रखे जाते हैं। रत्नाकरजी ने वास्तव में इस छंद के संगठन में पद्माकर के समान कुशलता दिखाई है।

भाषा—डा० प्रेमनारायण टंडन के मत से सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में मिश्रित, साहित्यिक तथा आलंकारिक, तीनों भाषा-रूपों के दर्शन होते हैं।[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मत से, 'सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पायी है। भावुक सूर ने अपना शब्दशोधन दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्यभाषा होने से उसमें कहीं-कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय के पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा ब्रज से दूर-दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अंतर पड़े या कृत्रिमता आवे।[2] वास्तव में सूर के भ्रमरगीत-प्रसंग की भाषा विषयानुकूल, प्रसाद और माधुर्यगुण युक्त तथा प्रसंगानुकूल कहावतों-मुहावरों से सुसज्जित होते हुए भी, हमें एक दृष्टि से दोषयुक्त प्रतीत होती है। भ्रमरगीत प्रसंग में अनेक पदों में जहाँ गोपियाँ ज्ञान और निर्गुण के विषय में तर्क प्रस्तुत करती हैं, वहाँ भाषा पात्रोचित नहीं कही जा सकती। इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्णनात्मक काव्य-प्रसगों में इसकी अपेक्षा कम ही रहती है। वैसे सूर की भाषा में संगीतात्मकता और मार्मिकता उत्पन्न करने वाले सभी गुण मौजूद हैं। आधुनिक काल में ब्रजभाषा में रचना करने वालों में, भाषा की दृष्टि से, रत्नाकर निष्णात कहे जा सकते हैं। ब्रज में रहने, ब्रजभाषा के साहित्य का अध्ययन करने, बिहारी सतसई जैसे ग्रंथ की गवेषणापूर्ण टीका लिखने और ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करने के कारण ब्रजभाषा के प्रति उनके प्रेम को देखा जा सकता है। आचार्य रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का कथन है कि 'ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देने का जो कार्य आचार्य केशव के द्वारा उठाया गया था तथा महाकवि बिहारीलाल के द्वारा आगे बढ़ाया जाकर कविवर घनानंदादि के द्वारा प्रौढ़ किया गया था, वही अब रत्नाकरजी के द्वारा पूर्ण किया गया है।'[3] वास्तव में रत्नाकरजी की भाषा में चित्रात्मकता एवं सजीवता के गुण पाए जाते हैं। उन्होंने लाक्षणिक पदावली के प्रयोग के साथ ही साथ कुछ पुराने शब्दों को फिर से चलाया था। बिहारी के सदृश रत्नाकर ने भी अपनी भाषा में सामासिक पदावली की अधिकता रखी है।[4] उद्धवशतक की भाषा ब्रज की

---

१. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, पृ० ४१०
२. भ्रमरगीतसार (वक्तव्य), आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० २१
३. उद्धवशतक का प्राक्कथन, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पृ० ५१
४. हिंदी कवियों की काव्यसाधना, डा० भगीरथ मिश्र, पं० दुर्गाशंकर मिश्र, पृ० २४२

गोपियों के मार्मिक उद्गारों को प्रकट करने में ही समर्थ नहीं, बल्कि माधुर्य तथा प्रसादगुणयुक्त, प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों से परिपूर्ण, व्याकरण सम्मत, शैथिल्य दोष से मुक्त अर्थात् कसी हुई तथा परिमार्जित होने के कारण कहीं-कहीं संस्कृत तत्सम-शब्दावलीयुक्त है। उद्धवशतक में कहीं-कहीं पूर्वी के प्रयोग अवश्य मिल जाते हैं, किंतु यह बात तो सूर के भ्रमरगीत में भी देखी जा सकती है।

आलंकारिकता—भ्रमरगीत और उद्धवशतक दोनों में ही हमें नाद-सौंदर्य के दर्शन होते हैं। नाद-सौंदर्य-साधनों में अनुप्रासादि शब्दालंकार भी आते हैं। सूर संवेदनशील भक्त थे और इसलिए उनके काव्य में भावपक्ष की प्रधानता है। भ्रमर-गीत-प्रसंग में भी हमें यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है। फिर भी अलंकारों की संख्या आज इतनी अधिक बढ़ गई है कि कोई भी काव्य उससे अछूता रहे, यह मुश्किल है। देखना केवल यही होता है कि क्या वे अलंकार अनायास ही आ गए हैं या केशव की तरह कवि ने उसके लिए परिश्रम किया है। सूर के काव्य में अलंकार-योजना काव्य के एक अंग के रूप में, अभिव्यक्ति को रमणीयता प्रदान करने के हेतु ही हुई है, किंतु उसके लिए सूर ने कोई विशेष श्रमसाध्य साधना नहीं की है। सूर के भ्रमरगीत में भी उनके अन्य काव्यों की भाँति शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों को ही देखा जा सकता है, किंतु प्रचुरता सादृश्यमूलक अर्थालंकारों की ही है।

यमक अलंकार के माध्यम से किए गए भावोद्रेक के कुछ उदाहरण देखिए :

१. लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।

२. ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।

अर्थालंकारों में सूर ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा अतिशयोक्ति के सर्वाधिक प्रयोग किए हैं। इस प्रकार सूर के काव्य में नादसौंदर्य और अर्थसौंदर्य दोनों का ही प्रयोग भावसौंदर्य को बढ़ाने में किया गया है।

रत्नाकर के उद्धव-शतक में भी हमें जो अलंकार मिलते हैं, उनके पीछे किसी विशेष श्रम की झलक नहीं मिलती बल्कि वे भावपरिपोषण के लिए स्वाभाविक रूप से आये हुए दीखते हैं। वैसे उद्धवशतक में अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों की अधिकता है, जो कि सूर-काव्य के सर्वथा विपरीत है। रत्नाकरजी ने लगभग सभी शब्दालंकारों का उपयोग किया है इसलिए उद्धवशतक में अनुप्रास और उसके विभिन्न भेदों के साथ श्लेष, यमक तथा वक्रोक्ति सभी हमें मिलते हैं। किंतु इन अलंकारों के कारण उद्धवशतक के भावसौंदर्य में वृद्धि ही हुई है, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उद्धवशतक भी मुख्यतः भावप्रधान काव्य है। अलंकारों के कारण कहीं भी उद्धवशतक में स्वाभाविकता अथवा सार्थकता में कमी नहीं आ पाई है। वैसे शब्दालंकारों में भी रत्नाकरजी ने पदावृत्तिमूलक-वीप्सा तथा श्लेष के माध्यम से अपने चातुर्य-चमत्कार और पांडित्य का कौशल दिखाया है। अर्थालंकारों में

रत्नाकर जी ने उद्धवशतक में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास इत्यादि के प्रयोग तो किए हैं, किंतु उन्हें सर्वाधिक सफलता लोकोक्ति अलंकार के प्रयोगों में मिली है। रत्नाकर के अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए :

जैहैं बन बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

सूर के भ्रमरगीत और रत्नाकर जी के उद्धवशतक के कथ्य और शिल्प के तुलनात्मक अध्ययन का यह एक लघु प्रयास है, इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अंत में मैं केवल आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इस कथन को प्रस्तुत करना चाहूँगा कि, "सूर के भ्रमरगीत में जो थोड़ी कमी थी, वह उद्धवशतक में परिपूर्ण हो गई। कवित्त-शैली में कुछ नवीन उद्‌भावनाओं के साथ उद्धवशतक प्रस्तुत करके रत्नाकर ने अपनी कवित्व-शक्ति का सच्चा परिचय तो दिया ही, लाक्षणिक प्रयोगों और व्यंजक विधि की कसावट ने भाषा-शक्ति का भी पूरा प्रमाण उपस्थित किया।"[1]

---

१. भ्रमरगीत सार के आमुख से, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

☐ श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

महात्मा सूरदास और ओरछा के कविचंद उपनाम चंदसखी

सूर का हृदय सख्य-भाव से ओत-प्रोत था, यही कारण है कि उन्होंने श्री वल्लभाचार्य जी से मार्गदर्शन प्राप्त कर श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं का वर्णन करके अपने आपको प्रेम-रस में निमग्न रखा। जिस साहित्य का पारायण कर युग-युगों से भक्त-गण आनंद-विभोर होते आए हैं उसके लिए सारावली में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

करम जोग पुनि ज्ञान-उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ,
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला-भेद बतायौ।
ता दिन ते हरिलीला गाई, एक लक्ष पद बंद,
ता कौ सार सूर-सारावलि, गावत अति आनंद।[१]

श्री वल्लभाचार्य जी शुद्धाद्वैतवादी दर्शन के अनुयायी थे, उसका ही तत्त्व उन्होंने सूरदास जी को दिया था। यही कारण है कि श्रीकृष्ण-लीला की पुनीत मंदाकिनी प्रवाहित कर उसके प्रेम-रस में वे स्वयं सराबोर हो गए और राष्ट्र-भाषा-हिंदी का भंडार समृद्ध कर गए।

महात्मा सूरदास का छंद शास्त्र पर तो अधिकार था ही साथ ही साथ संगीत का भी उनको भरपूर ज्ञान था।

महात्मा सूरदास के सौ वर्ष पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ओरछा (बुंदेलखंड) में कवि चंद का जन्म हुआ, जिन्होंने सूरदास की शैली अपनाकर पदों और लोकगीतों की रचनाएँ कीं।

---

१. 'सूर-सारावली' पृ० ८७, पद सं० ११०२, ११०३, श्री प्रभुदयाल मीतल

कवि चन्द का वर्णन करने के पूर्व उनके जन्म-स्थल और आश्रयदाता के विषय में प्रबुद्ध-पाठक जानने के लिए इच्छुक होंगे। ओरछा नगर झाँसी से आठ मील पूर्व में है। मध्य रेलवे की झाँसी-मानिकपुर शाखा पर यह नगर पहिला स्टेशन है।

सं० १५८६ वि० को इस नगर को बुंदेला-नरेश ने अपनी राजधानी बनाया। राजधानी बनने के पश्चात् इस नगर का इतना अधिक विस्तार हो गया कि राष्ट्र-भाषा-हिंदी के प्रथमाचार्य कवींद्र केशव ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में इसकी प्रशंसा की :

चहूँ भाग बाग वन मानहु सघन घन,
सौभा की सी साला, हंस माला सी सरित वर,
ऊँचे-ऊँचे अटनि पताका अति ऊँची जनु,
कौशिक की कीन्हीं गंगा, खेलत तरल तर।
आपने सुखन आगे निंदत नरेंद्र और,
घर-घर देखियत देवता से नारि-नर,
केसौदास त्रास जहाँ, केवल अदृष्ट ही को,
बारिये नगर और ओरछा-नगर पर।

ओरछा के बुंदेला-नरेश अपने आप को अयोध्या-नरेश महाराजा रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र लव के वंशधर मानते हैं। कितने ही वर्षों तक काशी पर उनका राज्य रहा और तब वे गहरवार कहलाते थे।

इस वंश के ही वीर-पुरुष हेमकरन अर्थात् पंचम बुंदेला ने ग्यारहवीं शताब्दी में अपने राज्य का अधिक विस्तार किया और विन्ध्यवासिनी देवी की कठिन साधना करके वरदान पाया।

तेरहवीं शताब्दी में हेमकरन के वंशधर सोहनपाल बुंदेलखंड में आए और उन्होंने खंगारों को परास्त करके गढ़कुंडार को अपनी राजधानी बनाया।

ओरछा नरेश महाराजा पहाड़ सिंह के राजत्व काल में सं० १७०० वि० के आस पास ओरछा में चंद कवि का जन्म हुआ था।

शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् वे ओरछा राज्य के मोठ थाने के थानेदार हो गए थे। वहाँ कुछ वर्ष कार्य करने के पश्चात् पद-त्याग करके वे वृंदावन चले गए और वहाँ श्री बालकृष्ण स्वामी से राधावल्लभ-संप्रदाय की दीक्षा ले ली और अपना उपनाम 'चंद सखी' रख लिया।

अपने संप्रदाय का प्रचार-प्रसार करने के लिए वे पंजाब, राजस्थान, मालवा और भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में गए किंतु बुंदेलखंड और ओरछा से उनका संबंध सदैव ही घनिष्ठ बना रहा।

ओरछा नरेश उदोत सिंह उनका अधिक आदर किया करते थे और ऐसा कहा जाता है कि अपने जीवन के अंतिम प्रायः दस वर्षों तक वे ओरछा में ही रहे। आषाढ़ कृष्ण एकादशी सं० १७६० वि० में उनका ओरछा में ही निधन हुआ था। ओरछा में उन्होंने श्री राधाकृष्ण का मंदिर भी बनवाया था, जो अब भी विद्यमान है और चंदसखी का मंदिर कहलाता है। कवींद्र-केशव के भवनों से कुछ दूर पर श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर अधिक उँचाई पर है, इसमें बुंदेली-कलम की सुंदर चित्रकारी है। इस मंदिर के पीछे ही चंद सखी का राधाकृष्ण मंदिर है, जो अच्छी दशा में है।

कवि चंद ने अपनी कविताओं में महात्मा सूरदास की शैली का अनुकरण करते हुए श्रीकृष्ण विषयक ही पदों तथा लोक-गीतों की रचनाएँ की हैं। यथा :

राग ललित :

हौं तो प्यारी-प्रीतम की बलिहारी।
करत केलि, भुज मेलि जीव, सुख बिहरत कुंजबिहारी।
मुरली अधर मधुर धुनिबाजत, पग नूपुर झनकारी।
'चंद' स्वामिनी उरप-तिरप गति, लेति छबीली न्यारी-न्यारी।[1]

राग सारंग :

आजु इक देख्यौ सुन्दर स्याम।
निरखि नैकु छबि ऊपर सजनी, बारौं कोटिक काम।
नव किसोर, नव नीरज लोचन, नलिन बदन अभिराम।
'चंद' गोविंद होत नहिं न्यारौ, होय तैं आठौं जाम।[2]

राग बिलावल :

नाहिन परत री चित चैन।
जाहि लागी, सोई जाने, साँवरे की सैन।
और कछु न सुहाय हरि बिनु, कल नहीं दिन-रैन,
'चंद' श्रीगोविंद-चितवन, चुभी मेरे नैन।[3]

राग दव गंधार :

हमारौ तौ लाग्यौ गोपाल सौं नेह।
लोग-कुटम-संसार सो नातो, मान कोउ क्यों न लेहु।
कंचन काया नैननि देखत, मिरन गई छिन में खेह।
'चंद' सरन गहि राधा बल्लभ, साथ जाय नहिँ देह।

१. चंद सखी की जीवनी और पदावली, पृ० ९२
२. चंद सखी की जीवनी और पदावली, पृ० ९५
३. चंद सखी की जीवनी और पदावली, पृ० १०२

राग गौरी :

हरि बिन कोऊ नहीं अपुनौ ।
जे देखियत, सोई थिर नाहीं, जैसे रैन-सुपनौ ।
निस दिन बहत लोभ-लहरनि में, त्रिविध-ताप तपनौ ।
'चंद' भजे बिन राधा बल्लभ, नाहक पचि मरनौ ।[१]

राग देव गंधार :

सबै बिधि संतनि कें सुख रे ।
माया-मोह के बंधन काटें, कछु ब्यापैं नहिँ दुख रे ।
हरष-सोक वे कछु नहिँ मानें, हरि-रस-अमृत पीवें ।
सदा जु मगन रहत आनंद में, ऐसे हि जनम बितीवें ।
काम-क्रोध-लोभ बस करिकै, हरि-चरनन चित लावें ।
धन-धन 'चंद' साधु की संगति, जिन मिलि गोविंद गावें ।[२]

राग बरवै :

देखि सखी, स्याम प्रिया सकल सुख-रास री ।
करत नव नित वर, संग प्यारी सुपाक,
कोक-विधि निपुन, संगीत गति लास री ।
सरस मंडल रच्यौ, ज्ञान हाटक खच्यौ,
कोटि दिनकर मनो, उदित प्रकास री ।
तैसिय तन-झलक, झिलमिलन भूषन-बसन ।
दसेन की लसनि मुख, मंद-मृदु हास री ।
मधुर कल गान, सुर-तान मिल जुबति-जन ।
सब्द उच्चरत, बजत मृदंग अरु बाँसुरी ।
थकित सुर विमान, लखि बारत तन-मन-प्रान,
'चंद' आनंदघन, निज वन-विलासरी ।[३]

कवि चंद ने अपने पदों को विविध राग-रागिनियों में गाया है। उन में से कुछ का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा—राग बिलावल, रामकली, प्रभाती, बरवै, देव गंधार, गौरी, षट, ललित, कान्हरा, मलार, रायसौ, मारू, सोरठ, आसावरी, खेमता, भैरव, भूपाली, भैरवी, परज, खेमटा, कलिगड़ा, पंचम, वसंत, काफी, भीम पलासी

१. चंदसखी की जीवनी और पदावली, पृ० ७४, पद १२
२. वही, पद १४
३. वही, पृ० ८४ पद ४०

सारंग विहाग आदि । छंदशास्त्र के अतिरिक्त संगीत और रागों का भी चंद कवि को भरपूर ज्ञान था ।

चंद कवि के जन्म-स्थल ओरछा, ब्राह्मण वर्ण और वृंदावन जाकर राधा वल्लभ संप्रदाय में श्री बालकृष्ण के शिष्य होने का परिचय रास सर्वस्व से भी मिलता है । यथा :

नगर ओरछा जगत प्रसिद्धा, तहँ दुज चंद सखी भौ सिद्धा ।
थानेदार मोठ कौ सोई, सखी भाव हिय राखौ गोई ।
इक दिन ठाकुर राखौ गोदी, बालकृष्ण कहँ परम प्रमोदी ।
ठाकुर ने हँस बंसी मारी, तुरत हि ज्ञान भयौ भव हारी ।
तब सों भयौ कृष्ण रस कौ कवि, चंद सखी भज बालकृष्ण छबि ।

राधावल्लभी संप्रदाय में गोस्वामी बालकृष्ण चंद कवि के गुरु और हित हरिलाल परम गुरु थे अतएव उन्होंने वृंदावन-बास में अपना उपनाम चंद सखी प्रचलित कर दिया था ।

चंद सखी की पदावली से भी उक्त धारणा भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है :

हो हरि, सरन गहें की लाज ।
राधा-वर, सुख-सागर नागर, रसिक कुंवर ब्रजराज ।
दीनदयाल दयानिधि के सब, करुणा निधि महाराज ।
'चंद' सखी हित बालकृष्ण प्रभु, विरद गरीब-निबाज ।[1]

भजौ मन, राधे कृष्ण गोविंद ।
पिय प्यारी वृषभान-दुलारी, सुंदर श्री नँद-नंद ।
गौर-स्याम, सुख-सागर नागर, दंपति आनँद कंद ।
जै श्री हित हरिलाल लाड़ली-जीवन श्री वृंदावन-'चंद' ।[2]

महात्मा सूरदास वैष्णववाद के समर्थक, सगुणोपासक और विशिष्टाद्वैतवादी भक्त कवि थे । उनका समस्त काव्य रसानुभूतियों से ओत प्रोत है ।

सूर-सारावली में होरी-खेल के रूप में ब्रह्म का नित्य विहार, देवासुर संग्राम, चौबीस अवतार और श्रीराम की लीलाओं के पदों में वैसी ही तन्मयता प्रतीत होती है जैसी तन्मयता श्रीकृष्ण जी की विविध-लीलाओं के पदों में । 'सारावली' में दृष्टिकूट पद भी हैं, उनका भावार्थ समझने के लिए विद्वानों को भी बुद्धि-व्यायाम करना पड़ता है । काव्य की दृष्टि से 'सूर-सारावली' काव्य-रस का विशाल-महासागर-ग्रंथ है, ऐसा विद्वानों का मत है ।

१. चंद सखी की जीवनी और पदावली, पृ० ७१, पद १
२. वही, पृ० ७१, पद ३

'चंद कवि' उन अनेकानेक कवियों की शृंखला में आते हैं, जिन्होंने सूर का अनुकरण करके श्रीकृष्ण की लीलाओं के पद गाए हैं। 'चंद कवि' की यह विशेषता है कि उन्होंने पदों के अतिरिक्त भजन और लोकगीतों द्वारा भी यत्र-तत्र-सर्वत्र श्रीकृष्ण की लीलाओं का प्रचार और प्रसार किया।

निष्कर्ष यह है कि कलात्मक संगीतपूर्ण पदों के द्वारा ही महात्मा सूरदास युग-युगों से राष्ट्र-भाषा-हिंदी में सूर्य के रूप में सश्रद्धा स्मरण किए जाते हैं।

चंद कवि अधिक वर्षों तक लोक-कवि ही माने जाते रहे किंतु श्री प्रभुदयाल मीतल ने कठिन परिश्रम करके उनके काव्य पर भरपूर प्रकाश डाल दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि छंदशास्त्र और राग-रागिनियों की दृष्टि से तो वे सफल कवि थे ही, भक्त-कवियों में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

□ प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

सूर के कृष्णकाव्य पर अपभ्रंश-कृष्णकाव्य का प्रभाव

अपभ्रंश, भाषा की विकास-परंपरा में भारतीय प्राच्य-भाषा की अंतिम विकसित अवस्था है और यह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से आपाततः संबद्ध है। परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्रादेशिकता के सन्निधान के कारण आचार्य हेमचंद्र (१२-वीं शती) ने इसे ग्राम्य अपभ्रंश की संज्ञा दी है। हेमचंद्र द्वारा संदर्भित इसी ग्राम्य-अपभ्रंश से हिंदी का विकास हुआ है। अतएव, प्राचीन हिंदी-कवियों का अपभ्रंश-कवियों की कृतियों से प्रभावित होना या उनका आधार ग्रहण करना काव्यरचना-परंपरा की सहज एकसूत्रता का द्योतक है। इसलिए, अपभ्रंश और हिंदी-काव्यों में समानता स्थापित करने वाली तात्त्विक प्रवृत्तियों का समावेश हिंदी-साहित्य के इतिहास का एक उज्ज्वल पक्ष है।

अपभ्रंश-भाषा का समय पाँचवीं शती से तेरहवीं-चौदहवीं शती तक दृष्टि-गोचर होता है। किंतु, अपभ्रंश-साहित्य की उपलब्धि आठवीं शती से प्रारंभ होती है और इसका समृद्धि-युग नवीं से तेरहवीं-चौदहवीं शती तक है। आठवीं-नवीं शती में प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में स्वयंभू कवि का आदिम स्थान है। इनके अतिरिक्त, नवीं से तेरहवीं-चौदहवीं शती तक की अवधि में पुष्पदंत, धवल, धनपाल, नयनंदी, कनकामर, धाहिल्ल, रइधू आदि अनेक पांक्तेय प्रतिभाशाली कवियों ने अपने वाग्वैभव का विस्तार किया है। इनमें काव्यात्मक-कथ्य और शिल्प की दृष्टि से पुष्पदंत का नाम धुरिकीर्त्तनीय है।

अपभ्रंश-साहित्य में काव्यसृष्टि की दृष्टि से स्वयंभू और पुष्पदंत का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो सूर और तुलसी हिंदी-साहित्य के गौरवालंकार हैं। साथ ही, शोधचाक्षुष अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हिंदी के महाकवि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के रचना-शिल्प में अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू की रामायण

'पउमचरिउ' के प्रभाव को आत्मसात किया है, तो महाकवि सूरदास ने पुष्पदंत की अपभ्रंशकृति 'महापुराण' के भाव-शिल्प से अपने काव्य-तत्त्व को विशिष्टता प्रदान की है।

महाकवि पुष्पदंत और महाकवि सूरदास के समय, दार्शनिक मान्यताओं, भाषा-संस्कार, वर्णन-शैली और यहाँ तक कि काव्य-वस्तु में भी स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगत होता है; फिर भी दोनों के कृष्णलीला-चित्रण में मूलभूत समानताएँ हैं। पुष्पदंत अपभ्रंश के कवि हैं और सूरदास ने व्रजभाषा में अपने काव्यों का निबंधन किया है। पुष्पदंत का समय दसवीं शती का मध्यभाग है, जबकि देशी राज्यों के बीच सत्ता हस्तगत करने के लिए पारस्परिक संघर्ष चल रहा था और सूरदास ने सोलहवीं शती में, अर्थात् मुगलों के उत्कर्ष-काल में, अपनी काव्य-भारती का विस्तार किया था। पुष्पदंत ने अपने 'महापुराण' में 'कृष्णकथा' को बीज रूप में उपन्यस्त किया है, तो सूर ने अपने 'सूरसागर' में कृष्ण की लीलामयी कथा को विराट् और व्यापक-फलक पर उतारा है। हालाँकि 'सूरसागर' श्रीमद्भागवत पर आधृत है, किंतु सूर ने दसवें स्कंध में कृष्ण की ललित लीलाओं को इतना अधिक वैविध्य और विस्तार प्रदान किया है कि वह एक स्वतंत्र काव्यसृष्टि बन गई है।

'सूरसागर' की कृष्णलीलाओं का पारंपरिक प्रेरणा-स्रोत 'विद्यापतिपदावली' और 'गीतगोविंद' है, ऐसी भी सामान्य धारणा है। किंतु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूरदास के पहले भी कृष्णलीला-गान की लिखित या मौखिक पूर्वपरंपरा के रहने की ओर संकेत किया है। इसी तथ्य-संकेत के संदर्भ में 'महापुराण' में चित्रित कृष्ण-लीलाओं को देखकर यह बात स्थिर हो जाती है कि ईसा की दसवीं शती में कृष्ण की बाल्य और यौवन की लीलाएँ अपने नव्यतम् परिवेश में सातिशय लोकप्रिय होने के साथ ही भाषा-काव्य में भी प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। पुष्पदंत ने भी सूरदास की तरह ही कृष्ण की सामान्य बाल-लीलाओं के साथ उनकी मिथकीय, अर्थात् दैवी या पौराणिक लीलाओं का भी वर्णन उपस्थित किया है।

सूर के द्वारा पुष्पदंत से सीधे प्रेरणा ग्रहण करने की बात विवादास्पद भले ही हो, किंतु दोनों के कृष्णलीला-वर्णन की न्यूनाधिक मूलभूत समानताओं से इनकार नहीं किया जा सकता। वर्णन में अंतर केवल संप्रदाय-भेद के कारण ही आया है। 'महापुराण' जैन परंपरा का परिपोषक है, तो 'सूरसागर' वैदिक परंपरा के पर्यावरण में प्रस्तुत हुआ है। सच पूछिए तो जैन, बौद्ध और वैदिक परंपराओं की कथाओं की आत्माएँ एक हैं, विविधता है तो केवल वचोभंगी की। ज्ञातव्य है कि जैनकथाएँ जहाँ प्रायः लौकिक होती हैं, वहाँ वैदिक या पौराणिक कथाओं में अलौकिकता की स्थापना की परंपरा दृष्टिगोचर होती है। कृष्णकथा की लोकातिशायिनी प्रियता के कारण पुष्पदंत ने जैनकृष्ण से संबद्ध अपने 'महापुराण' काव्य-ग्रंथ में सामान्य धारण से कुछ

विपरीत बातें जोड़ी हैं। 'महापुराण' की ८५-८६वीं संधियों में मुख्यतः कृष्णलीला का ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त ८७-८८वीं संधियों में भी जरासंघ और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के कथा-प्रसंग में श्रीकृष्ण का चरित्र-चित्रण हुआ है।

पुष्पदंत के अनुसार, कृष्ण-जन्म माता-पिता के कारावास के समय यथा-निर्धारित सामान्य जन्मकाल के पहले, अर्थात् सातवें महीने में होता है। यही कारण है कि कृष्णवध का इच्छुक कंस तत्काल कृष्णजन्म की बात से अनभिज्ञ रह जाता है। वसुदेव नवजात बालक को गोद में उठाते हैं और बलराम उस पर छत्र की छाया करते हैं। एक देव वृषभ का रूप धारण कर अपने सींगों से प्रकाश करता है। कंस के भय से वे तीनों धीरे-धीरे चलते हैं। बालक के अंगूठे का स्पर्श होते ही गोकुल के गोपुर का द्वार खुल जाता है। उग्रसेन को यह बताने पर कि यह बालक उन्हें पर्याप्त सुख-समृद्धि प्रदान करेगा वे आगे बढ़कर उसे गोद में ले लेते हैं।

कृष्ण की आरती उतारती-सी यमुना नदी कलकल शब्द के साथ बह रही है। पुष्पदंत कवि के भाव-विमुग्ध यमुना-वर्णन की एक मनोरम झाँकी द्रष्टव्य है :

गरुयरत्तु तोउ रत्तंबरु। णं परिहइ चुयकुसुमहिं कब्बरु।
किंणारिथण सिहरइ णं दावइ। विब्भमेहिं णं संसउ भावइ।
फणिमणि-किरणहिं णं उज्जोयउ। कमलच्छिहिएँ कण्हु पलोयइ।
भिसिणिपथ णालेहिं सुणिम्मल। उच्चाइय णं खलकण-तंदुल।
खलखलंति णं मंगलु घोसइ। णं माहवहु पक्खु सा पोसइ।
बिहिं भाईहिं थक्कउ तीरिणिजलु। णं घरणारि विहत्तउं कज्जलु।

अर्थात्, यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी अधिक भक्ति-विभोर हो जाय कि वह गेरू से रंगे जल के कपड़े पहन ले, पानी में गिरे हुए फूलों से अपनी कबरी (जूड़ा) सँवार ले, स्नान करती किन्नर-वधुओं के स्तनों द्वारा अपना वात्सल्य प्रदर्शित करे, लहरों के विलास से विभ्रम पैदा करे, जल में रहने वाले नागराज की मणियों की किरणों से आलोक बिखेर दे, कमल की आँखों से कृष्ण को देखे, अतिशय निर्मल-जलकणों के चावलों से भरे कमलिनी के पत्तों के थाल से आरती उतारे, कलकल-शब्दों से मंगल की घोषणा करती हुई वह कृष्ण के शरीर का पोषण करे और कृष्ण को मार्ग देने के लिए यमुना नदी का जल गृहिणी के सीमंत द्वारा विभक्त काले-कजरारे केशपाश की तरह दो भागों में बँट जाय।

सूर ने कृष्णजन्म की घटनाओं को मिथक के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। कृष्ण योगमाया के प्रभाव से देवकी के घर में आते हैं और जन्म के बाद वसुदेव से कह देते हैं कि वे उन्हें गोकुल पहुँचादें :

अहो वसुदेब जाहु लै गोकुल,
तुम हो परम सभागे।

वसुदेव कृष्ण को गोद में ले जाते हैं और शेषनाग उन पर अपने फणों से छाया करता है। वसुदेव सीधे नंद के घर पहुँचकर कन्या से बालक का विनिमय कर, मथुरा वापस आ जाते हैं और यथावचन वह कन्या कंस को समर्पित कर दी जाती है।

पुष्पदंत ने इस प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। उनके कथ्य में तत्कालीन लोक-विश्वास की अनुध्वनि मुखर है। उनके अनुसार, बालक को लेकर यमुना पार करते ही बलराम को नंद मिलते हैं। नंद की गोद में नवजात कन्या है। पूछने पर वे बताते हैं कि उनकी पत्नी यशोदा के द्वारा पुत्र की प्राप्ति के लिए देवी की मनौती मनाने के बावजूद पुत्री उत्पन्न हुई। इसलिए, वे उसे वापस करने के लिए देवी के निकट जा रहे हैं। बलराम अवसर का लाभ उठाकर नंद से कहते हैं—'लो यह पुत्र। देवी ने तुम्हारे लिए ही भेजा है और अपनी पुत्री मुझे दो।' बलराम लड़की लेकर लौट जाते हैं। यहाँ भी लड़की कंस को सौंप दी जाती है। कंस उसके नाक-कान कटवाकर उसे तलघर में डलवा देता है। कन्या बाद में भिक्षुणी बन जाती है, लेकिन वह कृष्णजन्म के संबंध में आकाशवाणी नहीं करती। हालाँकि, 'सूरसागर' में जैसे ही कंस कन्या को पत्थर पर पटकना चाहता है, वैसे ही कन्या उसके हाथ से छूटकर आकाश में उड़ जाती है और कृष्णजन्म की सूचना देती है। 'महापुराण' के अनुसार, कंस को बहुत बाद में, वरुण ज्योतिषी से कृष्ण का पता चलता है। निस्संदेह, 'महापुराण' और 'सूरसागर' में कृष्णजन्म की अलौकिक पृष्ठ-भूमि और परिस्थितियाँ समान रूप से वर्णित हैं, किंतु उसके कारणों में पर्याप्त भिन्नता है।

'महापुराण' में कृष्ण की बाल-लीलाओं को मानवी और दैवी—इन दो रूपों में विभक्त किया गया है। मानवी-लीलाओं में धूलिधूसर बालक का गोपियों का हृदय चुराना, मथानी पकड़ना और मथानी को तोड़ देना, अधबिलोया दही बिखेर देना, गोपियों का कृष्ण को पकड़ना और मथानी तोड़ने के बदले में आलिंगन माँगना या दिन-भर के लिए आँगन की कैद दे देना आदि हैं।

बाल-लीला का एक रोचक प्रसंग है। घी के पात्र में अपनी परछाईं देखकर कृष्ण उसे बुलाते हैं। यह देख नंद और यशोदा आपस में हँसते हैं और कृष्ण को अपनी छाती से लगा लेते हैं :

घय भायणि अवलोइवि भावइ। णिय पडिबिंबु बिट्ठु बोल्लावइ।
हसइ णंदु लेप्पिणु अवरुंडइ। तहु उरयलु परमेसरु मंडइ।

इसी काव्य-प्रसंग को सूरदास की कारुकारिता के संदर्भ में देखिए। बाल-लीला का कितना मनोहारी रूप है! सूर की पंक्तियाँ हैं :

माखन खात हँसत किलकत हरि स्वच्छ घट देख्यों ।
निज प्रतिबिंब निरखि रिस मानत जानत आन परेख्यों ।

कृष्ण की दैवी-लीलाओं में उनका अलौकिक व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है। 'सूरसागर' में कंस को कृष्णजन्म की सूचना योगकन्या से ही मिल जाती है, अतएव वह प्रारंभ से ही ऋष्ण को विविध प्रकार से उपद्रुत करता है। परंतु, 'महा-पुराण के कंस को कृष्णजन्म की सूचना तब मिलती है, जब कृष्ण का पुण्य-प्रताप परवान चढ़ चुका होता है। कंस के दु:स्वप्न देखने के बाद ज्योतिषी वरुण उसे स्वप्नफल बताने के क्रम में कृष्णजन्म की सूचना देता है। कंस पूतना को कृष्ण-वध के लिए भेजता है, परंतु कृष्ण ही पूतना का रक्त-मांस चूस लेते हैं। उसके बाद एक देवी शकटासुर का रूप धरकर आती है और कृष्ण से पराजित होकर भाग खड़ी होती है। यशोदा ऊखल से कृष्ण को बाँधकर यमुना-किनारे चली जाती हैं। बालक कृष्ण उनके पीछे लगता है। इसी बीच एक राक्षस कृष्ण पर पेड़ उखाड़कर फेंकता है, जो उनकी भुजाओं से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। इसी प्रकार एक गर्दभी और अश्व उपद्रव करने आते हैं और दोनों बुरी तरह परास्त होते हैं। पनिहारिनें यशोदा को सारी बातें बताती हैं। यशोदा दौड़कर आती हैं और बालक के आहत होने की आशंका से उसे सहलाती हैं तथा बंधन खोल देती हैं। इसके बाद बालक कृष्ण अरिष्ट को पछाड़ते हैं। उनकी कीर्ति समस्त गोकुल में फैल जाती है। यशोदा को जब यह बात मालूम होती है, तब वह कुढ़कर सोचती हैं—यह मेरी कोख से बालक नहीं, राक्षस पैदा हुआ है ! लोग देखते ही रह जाते हैं और मेरा बालक अकेले संकटों से भिड़ जाता है ! और तब, कृष्ण को उठाकर घर ले जाती हैं। वर्षा में गोवर्धन पर्वत उठा लेने से कृष्ण की ख्याति दिगंतप्रसारी हो जाती है। कृष्ण को मथुरा बुलाने के व्याज से कंस अपनी कन्या के स्वयंवर का ठाट रचता है (जैन कथा-परंपरा में ममेरी बहन से विवाह का प्रचलन प्रचुरता से मिलता है।) स्वयंवर में जाने के लिए जरासंध के पुत्र भानु और सुभानु के साथ कृष्ण भी हो लेते हैं।

'महापुराण' और 'सूरसागर'—दोनों के वर्णन-क्रम में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण वैभिन्न्य यह है कि पुष्पदंत के कृष्ण जरासंध के पुत्र भानु-सुभानु के अनुचर बनकर जाते हैं, जहाँ वे कंस की कन्या के स्वयंवर की शर्तों को पूरा कर देते हैं। कंस अपने शत्रु कृष्ण को पहचान लेता है और उनके ससैन्य-वध की योजना बनाता है। बलराम नंद को इस बात की सूचना देते हैं। फलतः नंद सुरक्षा की दृष्टि से गोकुल से अन्यत्र 'नंदगोकुल' नाम की बस्ती बसाते हैं। कंस वहाँ भी कृष्ण का पीछा नहीं छोड़ता है। वह कृष्ण के लिए, यमुना से कमल लाने का आदेश भेजता है। नंद पर इसकी गहरी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण न केवल कमल तोड़ लाते हैं, प्रत्युत मुष्टिक और चाणूर के साथ कंस का भी काम तमाम कर देते हैं। आकाश से होनेवाली

पुष्पवृष्टि के बीच कृष्ण का अपने कुल के उद्धारक-रूप में अभिनंदन किया जाता है। इसके बाद कृष्ण उग्रसेन को मथुरा के राज्यसिंहासन पर स्थापित कर शौरिपुर जाने का निश्चय करते हैं।

'सूरसागर' में कंस, कृष्ण को बुलाने के लिए, अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नंद जाते हैं—यशोदा और दूसरी गोपियाँ नहीं जाती हैं। देवकार्य यानी कंसवध होने के बाद भी, जब कृष्ण वृंदावन लौटने को राजी नहीं होते, तब नंद अकेले वापस चले जाते हैं। कृष्ण के बिना उनकी वापसी पर यशोदा और गोपियों की गंभीर प्रतिक्रिया होती है। बाद में, कृष्ण अपना कुशल-संदेश देने के लिए उद्धव को गोकुल भेजते हैं। उद्धव से निर्गुण-साधना का उपदेश सुनकर गोपियों को गहरा आघात पहुँचता है। वे उसका कठोर प्रत्याख्यान करती हैं और इस प्रकार सगुण-प्रेमाभक्ति के समर्थन में उपालंभ-प्रधान एक नवीन आख्यान-काव्य की सृष्टि हो जाती है। पुष्पदंत्त के कृष्णकाव्य में इस मधुमय-प्रसंग का अभाव है। उनके अनुसार कृष्ण के साथ ग्वाल-बाल और नंद-यशोदा भी मथुरा जाते हैं। शौरिपुर जाने के पूर्व कृष्ण सबकी कामनाएँ पूरी कर विदाई देते हैं और नंद-यशोदा के अविस्मरणीय उपकार को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए कहते हैं :

इय गोवीयण बयणइं सुणंतु। कीलइ परमेसरु दर हसंतु।
संभासियउ मेल्लिवि गव्वभाउ। इह जम्महु महु तहुं ताय ताउ।
परिपालिउ थण-थण्णेन जाइं। बीसरमि न खणुं मि जसोइमाइ।
कइवय दियहिइं तुहु जाहि ताम। पडिवक्ख कुलक्खउ करमि जाम।

अर्थात्, इस प्रकार गोपियों की बातें सुनते और कुछ हँसते हुए 'परमेसरु' (कृष्ण परमेश्वर) क्रीड़ा करते रहे, यानी मनोविनोद की स्थिति में रहे। बाद में, गर्वभाव छोड़कर उन्होंने नंद से कहा—कि इस जन्म में आप मेरे तात हैं। मैं यशोदा माता को एक क्षण के लिए नहीं भूल सकता, जिन्होंने अपने स्तनों का दूध पिलाकर मुझे पाला। कुछ दिनों के लिए आप लोग चले जायँ, तबतक मैं प्रतिपक्षियों का कुलक्षय कर लूँ।

कृष्ण की इस कृतज्ञता की अनुध्वनि 'सूरसागर' में भी सुनाई पड़ती है, जब वे उद्धव से संदेश ले जाने की बात कहते हैं :

ऊधो मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं।
प्रात समय माता जसुमति अरु नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी देह्यौ सजायौ अति हित साथ खबावत।[1]

पुष्पदंत्त ने बाल-लीलाओं का ही प्रत्यक्ष वर्णन किया है, किंतु यौवन-लीलाओं का जान-बूझकर वर्णन नहीं किया है। पुष्पदंत्त कृष्ण की बाल-लीलाओं के बाद की

१. सूरसागर, ४७७४

श्रृंगार-लीलाओं के वर्णन के विषय में स्पष्टतया मुखर नहीं है। लेकिन, उन्हें श्रृंगार-लीलाओं की जानकारी नहीं थी, ऐसी बात नहीं है। ऊपर कहा गया है, कृष्ण गोपीजनों की बातें सुनकर कुछ मुस्कराते रहे (दर हसंतु)। वास्तव में, पुष्पदंत ने इन बातों के व्याज से बड़ी कुशलतापूर्वक संयोग-लीलाओं का आभास दे दिया है। मथुरा प्रवास के समय ही कुछ दिनों तक कृष्ण के साथ रतिक्रड़ा करने वाली गोपियाँ उनसे सोपालंभ कहती हैं :

कइवइ दियहहिं रइकीलरीहिं। बोल्लाविउ पहु गोवालिणीहिं।
पंगुत्तउ पइ माधव सुहिल्लु। कालिंदी तीरि मेरउं कडिल्लु।
एवहिं महुरा-कासिणिहिं रत्तु। महुं उप्परि दीसहि अधिरचित्तु।
कवि भणइ दहिउ-मंथंतियाइ। तुहुं महुं धरियउ उब्भंतियाइ।
लवणीय लित्तु करु तुज्झु लग्गु। कवि भणइ पलोयइ मज्झु मग्गु।
तुहुं णिसि णारायण सुयहिं णाहिं। आलिंगिउ अवरहिं गोवियाहिं।
सो सुयरहिं किं ण पउण्णबंछ। संकेय कुडंगुड्डीण-रिंछ।

घत्ता—कावि भणइ वासंतु उद्धरिवि खीरभिंगारउ।
कि वीसरियउ अज्जु जं मइं सित्तु भडारउ।

अर्थात् हे प्रभु, तुमने कुछ दिनों तक रति-क्रीड़ा के निमित्त हम गोपियों को अपने पास बुलाया था। हे माधव, तुमने यमुना-किनारे हमारे कटिवस्त्रों का अपहरण किया था और अब मथुरा की स्त्रियों पर तुम अनुरक्त हो, हमसे तुम्हारा मन विरक्त हो गया है। कोई कहती है : मैंने दही मथते तुम्हें पकड़ लिया था और मक्खन से लिपटा तुम्हारा हाथ मुझे लग गया था। कोई कहती है : तुम मेरा मार्ग देखो, रात तुम सो नहीं सके; क्योंकि दूसरी गोपियों ने तुम्हारा आलिंगन किया है। तुम्हारा रतिसुख से मन नहीं भरा और तुम संकेत-विटप के पास जाने को उत्सुक हो। कोई कहती है : क्या तुम भूल गये, जब मैंने तुम्हें दूध की झारी से भिगो दिया था।

कहना अनपेक्षित न होगा कि सूर ने भी अपनी कृष्णश्रृंगार-लीला के वर्णन-क्रम में उक्त प्रकार के भाव-परिप्रेक्ष्य में अनेक रसमय प्रसंगों की अवतारणा की है। हालाँकि, पुष्पदंत के भाव-विनियोग से सूरदास की भाव-तन्मयता का विन्यास अधिक मर्मवेधक बन पड़ा है, जो पुष्पदंत का ही बीजरूप रसमाधुरी की परंपरा का चरमोत्कर्ष है।

सूरदास पर पुष्पदंत्त से इतर कवियों का प्रभाव :

सूरदास पुष्पदंत्त से इतर अपभ्रंश-कवियों से भी प्रभावित थे, ऐसी संभावना सूर के कतिपय पदों से दृढ़ होती है। सूर ने सिद्ध कवियों की उपमाओं और अपभ्रंश-कवियों के पद्यों को धार्मिक परिवेश प्रदान कर अपने भक्तिकाव्य का विषय बना

लिया है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण के अपभ्रंश-प्रकरण में 'क्त्वा' प्रत्यय के 'इव' आदेश के प्रसंग में एक अपभ्रंश-पद्य का उदाहरण उपस्थित किया है:

बाह विछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवँइ को दोसु।
हिअय-ट्ठिय जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु।

अर्थात्, हे मुंज! तुम बाँह छुड़ाकर जा रहे हो, तुम्हें क्या दोष दूँ। यदि मेरे हृदय से निकल जाओगे तो जानूँगी कि तुम सरोष हो।

इस दोहे की शृंगार-भावना को सूर ने भक्ति-भावना में परिणत करते हुए इसका निबंधन इस इस प्रकार किया है:

बाँह छोड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे सबल जानुँगो तोहि।

सिद्धों ने बार-बार विषयों की ओर प्रधावित होने वाले मन की तुलना जहाज पर बैठे पंछी से की है। सूर ने उसी उपमा का प्रयोग बार-बार कृष्ण की ओर दौड़ने वाले गोपियों के मन को लक्ष्य कर किया है। विषयरस-लिप्सु मन के संबंध में सरह का एक दोहा है:

विसअ विसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ काउ जिमु, पलुटिअ तह वि पडेइ।

सूरदास ने अपने काव्य में भक्ति-परवश मन के लिए इसी उपमा का कई रूपों में प्रयोग किया है:

१. जैसै उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै।[1]
२. अब मन थक्यौ सिंधु के खग ज्यों, फिरि-फिरि सरन जहाजनि।[2]
३. थकित सिंध नौका के खग ज्यौं, फिरि-फिरि फेरि वहै गुन गावत।[3]
४. भटकि फिर्यौ बोहित के खग लौं, पुनि हरि ही पै आयो।[4]

सूरदास के 'सूरसागर' में कतिपय दृष्टकूट भी मिलते हैं। सूर के इन दृष्टकूटों का बीज सिद्धों की अपभ्रंशबहुल संध्याभाषा के अनेक पदों में भी उपलब्ध संभव है। न केवल सूर-साहित्य पर, अपितु हिंदी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों पर अपभ्रंश-साहित्य की परंपरा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इससे यह तथ्य उद्भावित होता है कि वैदिक साहित्य से हिंदी-साहित्य तक एक अखंड भावधारा प्रवाहित होती आरही है, विशेषकर आध्यात्मिक और उपदेशात्मक भावधारा की गति तो प्रायः समानांतर रही है। समय-समय इस धारा के बाह्य रूप में परिवर्तन अवश्य होता रहा, किंतु मूलभावना अपनी सनातनता के साथ सुरक्षित है।

---

१. सूरसागर, १६८ २. सूरसागर, ३७७६
३. सूरसागर, ४३४० ४. सूरसागर, ४३६२

□ श्री व्योहार राजेंद्र सिंह

सूरसाहित्य और बंगला का कृष्णकाव्य

महाकवि सूरदास जी के पूर्व वृंदावन में चैतन्य महाप्रभु का आगमन हो चुका था और रूपगोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी वहाँ स्थायी निवास करने लगे थे। उसके बाद से वैष्णव कवियों का वृंदावन से संपर्क बराबर रहा। श्री रूपगोस्वामी और सनातन गोस्वामी ने अपने काव्य, नाटक आदि ग्रंथ संस्कृत-भाषा में ही लिखे। वैष्णव कवियों ने बंगला भाषा में ही अपनी ललित-काव्य-माधुरी का प्रवाह बहाया। उनकी भाषा ब्रजभाषा के समकक्ष होने के कारण 'ब्रजबूलि' कही जाती है।

श्री रूपगोस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'उज्ज्वलनीलर्माण' में रसों का बड़ा विशद् विवेचन किया है। पहले 'भक्ति रसामृत सिंधु' नामक ग्रंथ में उन्होंने शांत, प्रीति, प्रियो, वत्सल एवं उज्ज्वल—इन पाँच रसों का विवेचन किया था। 'उज्ज्वल नीलमणि' में श्रृंगाररस तथा उसके भावों, विभावों अनुभावों तथा स्थायीभावों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

उसी का आदर्श मानकर वैष्णव कवियों ने तरुण कृष्ण और तरुणी राधिका को नायक-नायिका मानकर अपनी पदावली की रचना की। इसका प्रभाव वृंदावन के भक्त कवियों पर पड़े बिना नहीं रहा। पहले के कवियों ने श्री कृष्ण के बालस्वरूप की आराधना की थी। उसका सबसे अधिक प्रचार श्री वल्लभाचार्य जी ने किया था किंतु बाद में निंबार्काचार्य ने तरुण कृष्ण और तरुणी राधा के युगल रूप की उपासना प्रचलित की। इसका प्रभाव भी वृंदावन के भक्त कवियों पर पड़ा।

श्री वल्लभाचार्य से भक्त सूरदास जी की भेंट का उल्लेख वार्तासाहित्य में मिलता है। उन्हीं के प्रभाव से सूरदास ने बालकृष्ण के अनुपम सौंदर्य का वर्णन किया, इसके पश्चात् उन पर रूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी तथा निंबार्क का भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने राधाकृष्ण के मधुर श्रृंगार का समावेश अपने पदों में किया।

श्रीमद्भागवत में भी श्रीकृष्ण और गोपियों की शृंगार-संबंधी लीलाओं का वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गौड़ीय संप्रदाय में इन्हीं गोपियों की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, यद्यपि ये परकीया नायिकाएँ थीं। श्री जीवगोस्वामी ने राधा को स्वकीया ही माना है। 'भागवत' के वर्णनों से भी सिद्ध होता है कि जब गोपियाँ शरद्पूर्णिमा को श्रीकृष्ण के पास आईं तो उन्होंने स्पष्ट रूप से उन्हें आदेश दिया कि घर जाकर अपने पतियों की सेवा करो। उत्तर में उन्होंने कहा कि हम सबको त्यागकर आपकी शरण में आई हैं। इसलिए आप हमारा त्याग न करें। अतः श्रीकृष्ण को उनके साथ रासलीला करनी पड़ी। उनके मिलन और विरह का वर्णन सूरदासजी तथा वैष्णव कवियों ने किया है, क्योंकि उन पर गौड़ीय आचार्यों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। उन्होंने भक्ति को गौणी और पराभक्ति दो विभागों में विभक्त किया और गौणी के पुनः दो भेद किए—वैधी और रागानुगा। पहली मर्यादा प्रधान और दूसरी स्नेह प्रधान है। यही रागानुगा भक्ति मधुर-भाव की मूल आधार है। इसकी शास्त्रीय व्याख्या रूपगोस्वामी ने की है, इसी के प्रभाव से वैष्णव कवियों ने उद्दीपन विभाव के वर्णन में श्रीकृष्ण के गुण, प्रसाधन और अन्य रूपों का वर्णन किया है। सूरदास ने तो श्रीकृष्ण के बाल, किशोर और तरुण सभी रूपों और लीलाओं का विशद् चित्रण अपने काव्य में किया है। श्रीकृष्ण का दुष्ट-दमनकारी रूप अधिक विस्तृत नहीं है। बालकृष्ण दूध पीते समय भी कहते हैं :

मैया, मोहि बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा, जो माँगौ सो दै री।[1]

राधा-कृष्ण के युगल तत्त्व का मूल बीज भी हमें शैवों और शाक्तों की साधना में मिलता है। गौड़ीय दर्शन में वही श्रीकृष्ण राधा के रूप में प्रगट हुए। तंत्र की परकीया साधना का प्रभाव भी श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम पर पड़ा। दक्षिण में आलवार भक्तों ने माधुर्य भक्ति का सुंदर रूप प्रगट किया। उनके चार हजार गीतों में मर्म-स्पर्शी मधुरभावों की व्यंजना की गई है। निर्गुण-उपासक होते हुए भी उन्होंने अपने को भगवान् की प्रेमिका के रूप में स्वीकार किया।

यह माधुर्य-भक्ति चैतन्य मत के पंडितों के हाथ में पड़कर तो समृद्धिपूर्ण बन गई। उसको शास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टि से दो रूपों में बाँटा गया—विहिता और अविहिता। विहिता में ज्ञानाश्रयी मर्यादा प्रधान भक्ति को स्थान मिला, जो कि राम-भक्ति-शाखा में दृष्टिगत होती है। अविहिता भक्ति में चार भेदों के चार अधिकारी पाए गए—गोपी, कंस, शिशुपाल तथा कृष्णवंशी। इनमें भी गोपियाँ श्रेष्ठ मानी गईं।

---

१. सूरसागर, ७६४

राधा और कृष्ण का किशोर रूप जैसा सूर ने चित्रित किया है, वैष्णव कवियों में नहीं मिलता। वैष्णव कवियों ने राधा-कृष्ण के केवल तरुण रूप का वर्णन किया है, जिसमें उनके मिलन और विरह के सजीव चित्र देखने को मिलते हैं।

श्रीकृष्ण और राधिका के नख-शिख का जैसा वर्णन सूरदास ने किया है वैसा वैष्णव कवियों में देखने को नहीं मिलता। किसी-किसी वैष्णव कवि ने श्याम-सुंदर के रूप का भी वर्णन किया है :

ओहे पटल गिरधर, के मनो शिखिव तुम्हार मुख सुधाकर।
ओहे रस शेखर राय, के मनो पाहब, तोमा कह से उपाय।
ओहे नव जलधर श्याम, आरकी देखिल तोमा त्रिभंगिम ठाय।
आरकी अमारे तुमी दिव दर्शन,
आरकी देखव तोमार रागाचरण।
आरकी मालती माला गांधी दिव गले,
आरकी अधरे दिव काफूर तांबूले।

ये वर्णन भी प्रत्यक्ष-दर्शन के रूप में नहीं किंतु चिंतन के रूप में ही पाए जाते हैं।

श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन भी सूरदास ने किया है जबकि वैष्णव कवियों ने दुष्ट-दमन आदि कुछ लीलाओं का वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतु में उनके वन विहार, जल बिहार आदि का सरस वर्णन, जो सूरदास जी ने किया है, उसका भी वैष्णव कवियों में अभाव है। उसके बदले उन्होंने वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् शिशिर और हेमंत ऋतु में राधा-कृष्ण के विरह का वर्णन विशद् रूप से किया है, जबकि सूरदास जी ने केवल वसंत और वर्षा में ही विरह वर्णन किया है। दूसरा अंतर यह है कि सूरदास जी ने प्रत्यक्ष रूप से ये वर्णन किए हैं, जबकि वैष्णव कवियों ने परोक्ष रूप से दूतियों के मुख से ये वर्णन कराए हैं।

सबसे बड़ा अंतर यह है कि एक बार वियोग होने पर भी कृष्ण-राधा या गोपियों का मिलन सूरदास ने चित्रित नहीं किया क्योंकि 'भागवत' आदि में इसका वर्णन नहीं है किंतु वैष्णव कवियों ने उनके पुनर्मिलन का वर्णन किया है। उनके अनुसार वृंदावन से मथुरा जाकर भी श्रीकृष्ण फिर लौटकर आते हैं।

संयोग श्रृंगार का वर्णन सूरदास और सभी वैष्णव कवियों ने किया है। सूर ने मिलन के उत्साह का वर्णन वसंतोत्सव और होली या फाग के रूप में किया है। उन्होंने वसंत ऋतु के आलंबन से प्रकृति के नए अंकुरों के साथ प्रेम के लिए अंकुरों का प्रस्फुटन कराया है :

कोकिल बोली, बन बन फूले, मधुप गुंजारन लागे ।
सुनि भयौ भोर, रोर वंदनि कौ, मदन-महीपति जागे ।
ते दूने, अंकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दव दागे ।
मानहुँ रति-पति रीझि जाचकनि, बरन-बरन दए बागे ।
नई प्रीति, नई लता, पुहुप नए, नयन नये रस पागे ।
नए नेह, नव नागरि हरषित, सूर सुरँग अनुरागे ।[1]

वैष्णव कवि राधामोहन का पद है :

दिनकर किरण रहित घन कंजहि भीतल जुगल किशोर ।
दुहुँ कर किरणहि गेव सब अंधियार, अन्य कोटि रविक उजोर ।

वसंत के साथ यदि चाँदनी का मेल हो जाए तो विपिन की शोभा अनंत गुनी बढ़ जाती है । कवियों ने प्रकृति के आलंबन को मिलनरस का परिपाक करने में सहायक बना दिया है। एक सखी राधिका से कहती है :

सजनि देखि राधा-माधव केलि ।
अनभिरत नयन चषक भरि पियत दुहुँ रूप सुधासम मेलि ।
परसहिं दुहुँ जन तूनिक पूतलि जनु मिलन कबेरनि मेद ।
अइछनि भीलल कत सुख पावत नारह लव अलख खेव ।
चिरधिन मीलन कृत निबूकन आनदभाया रे बूर ।
राधा-मोहन पहु अहनिशि ब्रजे रहु सकल मनोरथ पूर ।

रास-गोष्ठियों में गोपियों के मधुरमिलन का आनंद तथा उसके बाद ही श्रीकृष्ण के अंतर्धान होने पर गोपियों के विरह का वर्णन हमें मिलता है । इसके बाद ही श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनका विरह बहुत तीव्र हो जाता है, जिसका वर्णन 'भ्रमरगीत' और 'गोपीगीत' में बड़ी मार्मिकता से किया गया है । उसकी शास्त्रीय व्याख्या 'उज्जवलनीलमणि' में बड़े विस्तार से की गई है । श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन पर राधा की उत्कट विरहावस्था का वर्णन 'ललितमाधव' नाटक में विस्तार से हुआ है ।

ब्रज में राधा और कृष्ण के संयोग के दिन थोड़े ही रहे। दस वर्ष की अवस्था में ही श्रीकृष्ण को मथुरा जाना पड़ा । कवियों ने इस किशोर अवस्था को पूर्ण यौवन में परिवर्तित करके राधा-माधव के प्रेम का वर्णन किया है । जयदेव से लेकर विद्यापति, चंडीदास और ब्रज में सूरदास से लेकर हितहरिवंश और हरिराम व्यास तक ने श्रीकृष्ण और राधा का पूर्ण युवक एवं युवती के रूप में वर्णन किया है ।

---

१. सूरसागर, ३४६६

यह परिपाटी बंगाल के सभी वैष्णव कवियों ने अपनायी। मिलन की अवस्था में मान का उदय हो जाता है। प्रेयसी को मनाने के लिए दूती भेजी जाती है और प्रेमी को मनाने के लिए दूत भेजे जाते हैं। सूरदास जी ने दूत-प्रेषण की पद्धति को अपनाया है।[१]

वैष्णव कवि कृष्ण की ओर से राधा के पास दूत भेजते हैं, जो उनके बारह मासी विरह-दुख का वर्णन करते हैं **"मधुमय समय मास मधु आवत, तरूनव पल्लव साख। नबलतिका पर कुसुम विछारत मधुकर मृदु मृदु डाक"** से लेकर सभी महीनों का विरह-वर्णन चलता है। इसी प्रकार राधा की दूती श्रीकृष्ण से राधा के द्वादश मासिक विरह का वर्णन करती है।

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर यह प्रेम-लीला समाप्त हो जाती है और चिरवियोग की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। बंगला के वैष्णव कवियों ने मथुरा में भी राधा की ओर से दूती भेजकर उनकी चिंता, जागरण, उद्वेग, प्रलाप, व्याधि, उन्माद तथा अंतिम दशा आदि का वर्णन किया है, जिससे कि विरह का रूप प्रगट हो जाता है :

फूटल कुसुम नव कुंज कुटीर बन कोकिल पंचम गावइ रे।
मलयानिल हिम शिखरे सिधारल पिया निज देसे न आवइ रे।
चांद चंदन तनु, अधिक उतापैं उपवने अलि उतरौल।
समय बसंत कंत रहु दूर देश जा नलु किहि जनी फूल।
अनिमिख नयने नांह मुख निरखिते तिरपित नहए नयान।
ऐस कुसमये सहये एत संकट अवला कठिन पराण।
दिने दिने खिनू तनु कि ये हिमे कमलिनी जन्म, न जानि कि इह परियन्त।
विद्यापति कहै धिक-धिक जीवन माधव निकरुण अंत।

सूर के कृष्ण स्वयं नहीं आए वरन् उन्होंने उद्धव के द्वारा गोपियों व राधा को संदेश भेजा। उद्धव ने ज्ञान का उपदेश दिया। इसके उत्तर में गोपियों ने भ्रमर को संबोधित कर अपने विरह का वर्णन किया है, जो कि भागवत में भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है। सूरदास जी ने अपने 'भ्रमरगीत' में उसका बड़े सुंदर रूप से अनुकरण ही नहीं किया अपितु अपनी नवीन उद्‌भावनाओं से उसे और भी चमत्कृत कर दिया है। वैष्णव कवियों में 'भ्रमरगीत' का उल्लेख नहीं है।

गोविंददास ने राधा के द्वारा भ्रमर को संबोधित कर अपना विरह-निवेदन किया है :

---

१. सूरसागर, ३३८८

पीआर फूले फूले बने फूले फूले पीर भ्रमरा।
पिया बिनै मधु न खाय घोरी बूले लारा।
मो यदि जानि ताम पिया जावे रे छाड़िया।
पराणें पराण दिया राखि, ताम बाँधिया।
चरणै धरिया काँधे गोविंद दासिया।
मुक्ति अभागिया आगे जाइव मरिया।

अर्थात् प्रिय के फूलवन में प्रिय का भ्रमर प्रिय के बिना मधुपान नहीं करता। यदि मैं यह जानती कि प्रिय मुझे छोड़कर चले जाएँगे तो मैं प्राणों को बाँधकर रख लेती। चरणों को पकड़कर गोविंददास क्रंदन करता है, मैं अभागी मुक्ति के आगे मर जाऊँगी।

वैष्णव कवि ज्ञानदास का एक गीत है :

जोई निकुंजे-राई परलामये सोई निकुंज समाज।
मधुर गुंजने सब मन रंजने भीलल मधुकर राज।
राहि ईकि तरण नियड़े उड़ि जावत ए रहते बिरहि निराईव।
राईव चरण नियरे छड़ि जावत हेरई ते विरहनि राईव।
सखि अवलम्बने सचकित जिचाकने बैठल चैतनपाई।

आलिहे न परस चरण हमारि।
कानुरूप परण गुण अइच्छनि सबहुँ तोहारि।
पुर रंगिनि कुच कुंकुम रंजित कानु कंठे बनमाल।
ताकर शेष पढ़ने लिया लागल, लागल ज्ञानदास हियकाल।

विरह के स्वप्न-दर्शन में भी मिलन का कुछ आनंद आता है। अतः कवियों ने उसका वर्णन भी किया है। सूरदास जी ने स्वप्न-दर्शन के पदों में इसका सुंदर वर्णन किया है।[1] वैष्णव-कवियों ने भी इसका वर्णन किया है। पुरुषोत्तमदास का एक पद द्रष्टव्य है :

आउब कानु सनइ घनि विरहिनि होयल दुःख अवसान।
किसलय रोये रजनि अवसानहिं, घूमहि मृदुल नयान।
हेरत सपने सोई ब्रजवल्लभ आवत गोकुल पूर।
धावल ब्रज बन आनंदनि मगन जय जय मंगल पूर।
यशोमति धाइ कोर पर पावल चुंबये ओ मुख चाँदे।
ब्रज रमणी गण करये निरीक्षण आनंद हिया नाहिं बाँधे।

---

१. सूरसागर, ३८७७

ऐछेन हेरइ स्वप्नभंग भेल आवत मेल आशोयास।
रजनि प्रभाते कहिये सब, सखिगणे कह पुरुषोत्तमदास।

विरह की चरम दशा को दशम अवस्था कहा गया है। बंगला कवियों ने सभी दशाओं के अंत में इसका वर्णन किया है :

माधव कि कहब विरह विषाद।
तिल एक कहूँ बिनेजी कहे ताहे कितहूँ परमाद।
पंथनि-हिरिते नयन अंधायल दिने-दिने खिन भेल देह।
कत उनमाल मोहि बष्टि जावत कथ परबोधन केह।
दशतिशाये अछेय इक ओषध श्रवणे कहिय तूया नाम।
सुनतेइ तबहि पराण केरि आवत सो दुःख कि कहब हाम।
कलप कत बर तोहे संवदिलु कैछन तया आशोयास।
न बुझये रीति मीति रहुँ अंतरे कहतहि बलरामदास।

सूरदास जी ने विरह की चरमावस्था का वर्णन तो विविध रूपों में किया है। यद्यपि उसे दशम अवस्था नहीं कहा।[1]

बंगला के कवियों ने केवल राधा तथा गोपियों का ही विरह-वर्णन किया है, जबकि सूरदास जी ने नंद-यशोदा, ग्वाल-बाल तथा पशु-पक्षियों का भी विरह-वर्णन किया है, सूरदास ने माता यशोदा के माध्यम से अत्यधिक मार्मिक संदेश भिजवाया है।[2]

अंत में यही कहना पर्याप्त होगा कि सूरदास जी ने मानव-जीवन के सभी अंगों पर प्रकाश डाला, प्रायः सभी रसों का परिपाक किया और मानव-सौंदर्य एवं प्रकृति-सौंदर्य दोनों में दक्षता प्राप्त की जबकि बंगला के वैष्णव कवियों ने केवल शृंगार और करुणरस में अपनी कवित्वशक्ति लगाई है और उसे चरमसीमा तक पहुँचाया है।

---

१. सूरसागर, ३६२४ २. सूरसागर, ३७८६

□ डा० अरविंदकुमार देसाई

सूरसाहित्य और गुजराती का कृष्णकाव्य

शंकराचार्य द्वारा प्रचारित 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का खंडन करने के लिए देश में विभिन्न वैष्णव मतों की स्थापना हुई। इन सब मतों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन सबने सगुणोपासना को अपनाकर विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों की भक्ति पर बल दिया। इन अवतारों में भी दो अवतारों, राम और कृष्ण, को अधिक महत्त्व दिया गया है। इन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खंडन करते हुए समान रूप से भक्ति के आलंबन तत्त्व, विश्वास, श्रद्धा, उपास्य की महत्ता, उसकी भक्तवत्सलता तथा भक्त की असमर्थता का वर्णन किया है। इस सगुणभक्ति का प्रारंभ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत से हुआ था। वहाँ इसके प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी नाम के आचार्य माने गए हैं। यही विष्णुस्वामी 'वल्लभ संप्रदाय' के भी आदि आचार्य कहे गए हैं। इन आचार्य प्रवर ने भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता दी तथा वेद, तंत्र, योग, कर्म, वर्णाश्रमधर्म आदि समस्त कर्त्तव्यों को भक्ति का साधन कहा। उन्होंने विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को परब्रह्म और परामाराध्य माना। दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार ब्रह्म और जीव का संबंध सर्वथा शुद्ध और अद्वैत होता है, किंतु इसकी अनुभूति केवल भक्ति के द्वारा ही संभव है। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति के प्रवर्त्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के पूर्व पुरुष इन्हीं विष्णुस्वामी के मतानुयायी थे। कहा जाता है कि इन्हीं की एक शिष्य-परंपरा महाराष्ट्र में भी गई थी, जिसके अनुयायियों में संत ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि हुए। महाराष्ट्र का 'वारकरी' संप्रदाय भी विष्णुस्वामी के मत का ही रूपांतर कहा गया है। इनकी दूसरी शाखा की शिष्य-परंपरा में श्री वल्लभाचार्य हुए, जिनके अनुयायी उत्तर के साथ-साथ राजस्थान और गुजरात में भी पर्याप्त संख्या में हुए।

उत्तर की भाँति गुजरात में भी भक्ति की लहर दक्षिण से ही आई थी। उस काल में गुजरात में जैनधर्म का विशेष प्रभाव होने से निर्गुणभक्ति को अवकाश नहीं मिला। कहा जाता है कि दक्षिण के आलवारों का सीधा प्रभाव महाराष्ट्र के संतों पर पड़ा था। पुंडरीक, ज्ञानेश्वर, जमाबाई, काम्होपत्र आदि संतों ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में दक्षिण के आचार्यों के समान ही वहाँ कृष्णभक्ति का प्रचार-प्रसार आरंभ कर दिया था। इसी के प्रभाव से गुजरात में भी तेरहवीं सदी में कृष्ण-भक्ति के गीतों की रचना होने के प्रमाण मिलते हैं। आचार्य हेमचंद्र के 'काव्यानु-शासन' में आए हुए दो श्लोक राधा-कृष्ण के गीतों को जयदेव से भी पूर्व गुजरात में प्रचलित होने का साक्ष्य देते हैं।[1] चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में यहाँ जयदेव और बिल्वमंगल की रचनाओं का प्रसार होने के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, इन्हीं सदियों में रचित श्रीधर के 'दशमस्कंध' और भीमकवि के 'हरिलीला षोडशकला' नामक ग्रंथों में कृष्णभक्ति के पद पाए जाते हैं। पंद्रहवीं सदी के कवि नरसिंह मेहता (सन् १४१४–१४८०) ने तो गुजराती साहित्य में कृष्णभक्तिकाव्य का एक नया युग ही उपस्थित कर दिया। गुजराती साहित्य के इतिहासकार नरसिंह मेहता पर चैतन्य का प्रभाव मानते हैं, क्योंकि नरसिंह के जन्म के कुछ समय पूर्व ही चैतन्य ने गुजरात की यात्रा की थी और वे जूनागढ़ (नरसिंह का जन्म स्थान) भी पधारे थे। कुछ लोग नरसिंह पर भागवत, जयदेव और भ्रमणशील साधु-संतों का प्रभाव बताते हैं।

गुजराती में कृष्णभक्तिकाव्य की सरिता पंद्रहवीं सदी से अर्थात् नरसिंह मेहता से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल तक अर्थात् दयाराम (सन् १७७७—१८५२) तक निरंतर प्रवाहित होती रही। नरसिंह ने 'सुरतसंग्राम', 'गोविंदमाला', 'हारमाला', 'शामलदासनो विवाह' जैसे अनेक कृष्णभक्ति संबंधी काव्यग्रंथों की रचना करके भक्ति की सुदृढ़ नींव डाली थी। उन्होंने अपने जीवन की कुछ अलौकिक घटनाओं के वर्णन के द्वारा भी भक्ति का महत्त्व दर्शाया है। नरसिंह के लगभग समकालीन मीराँबाई ने इस भक्तिभाव को अधिक समृद्ध एवं स्थिर बनाया। नरसिंह की भक्ति में प्रभु-मिलन का आनंद और उत्साह देखा जाता है, जबकि मीरां के पदों में विरह की व्यथा अभिव्यक्त होती है। नरसिंह के पद पुरुषसहज धृष्टता से युक्त हैं, किंतु मीराँ के पदों में नारी सुलभ मृदुता, लज्जा और कोमलता पाई जाती है। नरसिंह ने भक्ति के साथ-साथ ज्ञान, वैराग्य तथा सदाचार का उपदेश भी दिया है, मीराँ केवल भक्ति को शुद्ध आतमलक्षी रूप से गाती हैं। दोनों की ईश्वरपरायणता अनन्य है और दोनों की तन्मयता भी सच्चे भक्त हृदय की है। ईसा के पंद्रहवें शतक में इन दोनों भक्त-कवियों ने गुजरात में कृष्णभक्ति का सुव्यवस्थित प्रचार और प्रसार किया था।

---

१. मध्यकालीन गुजराती साहित्यनो इतिहास, अनंतराय रावल, पृ० ८१

गुजराती साहित्य पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव सोलहवीं सदी से पड़ना आरंभ हुआ। इस सदी के आरंभ में श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अनेक बार गुजरात की यात्रा की तथा अनेक नगरों में अपनी बैठकें स्थापित कीं। कहा जाता है कि महाप्रभु ने चार बार और विट्ठलनाथजी ने छह बार गुजरात का प्रवास किया था। इस यात्रा में वे दोनों ही सूरत, भरुच, बड़ौदा, अहमदाबाद, खंभात, डाकोर, गोधरा, द्वारका, नवानगर, मोरबी आदि नगरों में गए थे। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ के प्रचार का मुख्य क्षेत्र गुजरात ही था। उस काल में यहाँ पुष्टिमार्ग का इतना व्यापक प्रचार हो गया था कि 'वैष्णव' का अर्थ 'पुष्टिमार्गीय वैष्णव' ही लिया जाता था। गुजराती के एक प्रसिद्ध कवि भालण ने महाप्रभु के साथ रहकर उन्हीं से दीक्षा ग्रहण की थी। इसी प्रकार गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भीम कवि को दीक्षित करके अपना शिष्य बनाया था, जिन्होंने 'रसिकगीता' में कृष्णभक्ति पदों की रचना की है। व्रज की भक्ति के संबंध में इन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ लिखा है :

व्रजमां भगति घणी, ए सर्वे जाणे सही,
वल्लभ ए रसिक जन, तेणे लीला करी।
कीहां रस प्रीत न होती, व्रज थी परवरी,
जेणे विट्ठलेश जाण्या, तेना पाप थाये अरी।[1]

गोकुलनाथ के शिष्यों में कवि 'केशवदास' और 'वैकुंठदास' के नाम उल्लेखनीय हैं। केशवदास ने 'वल्लभवेल' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसमें वल्लभकुल से संबंधित अनेक घटनाओं का परिचय तथा इनकी गुजरात-यात्राओं का सविस्तार वर्णन किया गया है। गुजरात के निर्गुणी कवि अखा या अक्षयदास ने भी गोकुलनाथजी का शिष्यत्व स्वीकार किया था, किंतु बाद में वे निर्गुण भक्ति के हिमायती हो गए थे। उन्होंने लिखा है : **गुरु कर्या में गोकुलनाथ, गुरुए मुजने घाली नाथ।** उसी काल से गुजरात के वैष्णव मंदिरों में अष्टछापी कवियों के भक्तिगीत निरंतर गाए जाते रहे हैं और भालण से लेकर दयाराम तक के सभी वैष्णव कवियों ने उन गीतों से प्रेरणा ग्रहण की है। अष्टछापी कवि कृष्णदास तो गुजराती ही थे। उनका प्रभाव भी इन गुजराती भक्त कवियों पर अनिवार्य रूप से पड़ा है। गुजरात में व्रज प्राषा के प्रति लोगों का इतना आकर्षण रहा है कि कच्छ के भुज नगर में सदियों तक 'व्रजभाषा पाठशाला' चलती रही है, जिसे राज्य की ओर से भी पर्याप्त सहायता मिलती रही है। अनेक गुजराती कवियों ने उस पाठशाला में रहकर व्रजभाषा का विधिवत् अध्ययन करके व्रज़ में काव्यरचना भी की है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि संप्रदाय को स्वीकार करके कृष्णभक्ति संबंधी

---

१. रसिकगीता, पृ० ८

पदरचना करने वाले सोलहवीं सदी के कवियों में भालण (सन् १४७६–१५३४) का नाम सबसे प्रमुख है। भालण पहले रामानंदी संप्रदाय में दीक्षित थे, किंतु महाप्रभु के दर्शन के बाद वे पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हो गए थे। गुजराती में 'आख्यान काव्य' प्रकार के वे पुरस्कर्ता माने गए हैं। उनकी रचनाओं में 'दशमस्कंध', 'रुक्मिणीहरण', 'सत्यभामा विवाह', 'कृष्णविष्टि' तथा 'कृष्ण बालचरित' प्रसिद्ध हैं। उनके बाललीला के पदों पर सूरदास का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है, जिनमें सूर की भाँति ही स्वभावोक्ति एवं वात्सल्यरस के सुमधुर चित्र उपस्थित किए गए हैं। भालण का ही अनुकरण करने वाले उनके समकालीन कवि भीम, केशवदास और विष्णुदास भी उल्लेखनीय हैं। केशवदास ने भागवत के आधार पर चालीस सर्गों में 'कृष्णक्रीड़ा' नामक ग्रंथ में कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन किया है। इसमें बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक तथा व्रजभाषा के पद भी देखे जाते हैं। इसी शतक में कवि हरिदास ने 'कृष्ण वृंदावनराधारास' तथा कवि गोपालदास ने 'वल्लभाचार्य अने विट्ठलनाथनुं जीवन' नामक ग्रंथों की रचना की।

सत्रहवीं सदी में अनेक कृष्ण-भक्त कवि हुए, जिनमें नरहरिदास, शिवदास, देवीदास, विष्णुदास, प्रेमनंद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नरहरिदास का रचना-काल सन् १६१६-१६४३ माना गया है। उन्होंने 'हरिलीलामृत', 'गोपी उद्धव संवाद', 'ज्ञानगीता' इत्यादि अनेक ग्रंथों की रचना की। कवि शिवदास ने 'कृष्णबालचरित्र' तथा 'द्रौपदीस्वयंवर' आदि रचनाओं में अपना भक्तिभाव प्रदर्शित किया है। देवीदास ने 'रासपंचाध्यायी' और 'रुक्मिणीहरण' की रचना की। इनके गीत नारी समाज में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। विष्णुदास ने 'मामेरू' तथा 'भ्रमरगीत' की रचना के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना अभिव्यक्त की है। इस शताब्दी के सबसे सफल कवि प्रेमानंद (सन् १६४६–१७१४) हैं। इनके काव्य-ग्रंथों की संख्या पचास से भी अधिक है। इनकी कृतियों में 'दानलीला', 'भ्रमरपचीसी', 'सुदामाचरित्र', 'रुक्मिणीहरण', 'दशमस्कंध' इत्यादि प्रमुख ग्रंथ हैं। प्रेमानंद प्रधानतः वार्ताकार या कथाकार कवि हैं। कथा कहते-कहते श्रोताओं को एक रस से दूसरे रस में संक्रमित करने में वे सिद्धहस्त माने जाते थे। 'दशमस्कंध' में कृष्ण गेंद लेने के लिए यमुना में डुबकी लगाकर अदृश्य हो जाते हैं, उस समय यशोदा के द्वारा गाया गया गीत "मारुं माणकडुं रीसायुं रे" अत्यंत वात्सल्यपूर्ण और करुणगीत है। इसके अनंतर गेंद लेकर बाहर आये कृष्ण को देखकर कवि गाता है :

निज भक्त ने आनंद पमाडवा, जगाडवा सर्प काली,
घोर नादे महुवर वाइ, पिंडार-पीडा टाली।[1]

अठारहवीं सदी में गुजराती में अनेक उत्तमकोटि के कृष्णभक्त कवि हुए,

१. गुजराती साहित्यनी विकास रेखा, डा० धीरुभाई ठाकर, पृ० ६३

इनमें शामलदास, प्रीतमदास, धीरा भगत, भोजा भगत, निरांत, दयाराम आदि प्रसिद्ध हैं। शामलदास एक प्रसिद्ध कथाकार थे। उनका जीवनकाल सन् १७००-१७७० तक का कहा गया है। उनके ग्रंथों में 'नंदबत्रीसी', 'मदनमोहनी', 'रणछोडजीना श्लोको', 'शामलरत्नमाला' आदि प्रसिद्ध हैं। शामलदास अपने छप्पय के लिए साहित्य में विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके संबंध में यह दोहा प्रचलित है :

चंद छंद पद सूर को, दुहा बिहारीदास।
चौपाइ तुलसीदास की, छप्पय शामल खास।[1]

प्रीतमदास (सन् १७२५-१७९८) को जन्मांध कवि कहा गया है। किसी रामानंदी साधु से दीक्षा लेकर वह जीवन भर साधु बना रहा था। उसके 'सारसगीता', 'एकादशस्कंध', 'रणछोडजीना गरबा' आदि प्रेमलक्षणा भक्ति से युक्त कृष्णलीला के ग्रंथ हैं। उसके कुछ पद तो 'गांधी प्रार्थना' में भी बड़े भावपूर्वक गाए जाते रहे हैं। धीरा भगत (सन् १७५३-१८२५) अपनी झगड़ालू पत्नी के कारण भक्ति में तल्लीन हुआ था। उसने 'द्रौपदीवस्त्रहरण', 'आत्मज्ञान' जैसे ग्रंथों की रचना की है। वह अपनी 'काफी' (गीत-शैली विशेष) के लिए गुजराती साहित्य में प्रसिद्ध है। मध्यकाल के अंतिम भक्तकवि दयाराम (सन् १७७७-१८५२) एक अत्यंत शक्तिशाली कवि थे। उन्होंने उत्तम कलागुणवाले लगभग ७५ ग्रंथों की रचना की है। गुजराती के साथ-साथ ब्रजभाषा में भी उन्होंने उत्तमकोटि की रचना की है। उनका समस्त साहित्य प्रेमलक्षणा भक्तिभाव से ओत-प्रोत है। सूरदास की भाँति दयाराम के संबंध में भी प्रचलित है कि उन्होंने सवालाख पदों की रचना की थी, जिनमें से अधिकांश पुष्टिमार्गीय सांप्रदायिक विषयों के संबंध में हैं। 'रसिकवल्लभ' और 'भक्तिपोषण' उनके दो प्रमुख ग्रंथ हैं। गुजराती साहित्य में दयाराम अपनी 'गरबी' के कारण सदैव स्मरणीय रहेंगे। राधा-कृष्ण के प्रेमकलह के बाद रूठी राधा किसी भी श्याम वस्तु से संबंध न रखने की प्रतिज्ञा करती है। वह कहती है :

मारे श्याम रंग समीपे ना जावुं।
नीलांबर काली कंचुकी न पहेरुं, जमुना ना नीरमां न नहावुं।
मरकतमणि ने मेघ दृष्टे ना जोवा, जांबु वंत्याक ना खावुं।

किंतु उसका मन नहीं मानता और :

दयाना प्रीतम साथे मुखे नेम लीधो, पण मन कहे जे न निभावुं।
मारे श्याम रंग समीपे ना जावुं।[2]

---

१. गुजराती साहित्यनी विकास रेखा : पृ० ७१
२. रसिक वल्लभ, कवि दयाराम, : पृ० ८६

इस प्रकार के सुंदर भावपूर्ण गरबीओं से दयाराम का साहित्य भरा पड़ा है। दयाराम ने गोपी हृदय की सूक्ष्म संवेदनाओं को मधुर लयबद्ध गरबीओं में श्रृंगार रसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि इनसे गुजराती जनता को जीवन का आनंद-रस युग-युग तक प्राप्त होता रहेगा। मध्यकाल के पाँच सौ-छः सौ वर्षों की गुजराती कविता भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के उपदेशों से भरी हुई है। इन भक्त कवियों में वैष्णव, जैन, वेदांती, स्वामीनारायणपंथी—सभी संप्रदायों के कवि हैं किंतु इनमें वैष्णवों की संख्या ही सर्वाधिक है। भक्ति के क्षेत्र में कृष्णभक्ति का महत्त्व दर्शाते हुए कवि दयाराम ने कहा भी है :

श्रीकृष्ण भक्ति अंक छे, बीजां साधन सर्वे शून्य।
अंक विना सर्वे आफल छे, सहशून्य, शून्य दसगुण्य।[1]

साहित्य की भाँति ही मध्यकालीन गुजराती समाज भी भक्ति-भाव से ओत-प्रोत था। इसीलिए गुजरात में वैष्णव भक्ति की अखंड धारा किसी भी प्रकार के अवरोध के बिना प्रवाहित होती रही है। इस काल में अनेक वैष्णव कवियों ने श्रीकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि ब्रजप्रदेश की यात्रा भी की थी। इन यात्राओं में ब्रज-साहित्य से वे प्रभावित भी रहे होंगे, अतः अष्टछाप के कवियों का प्रभाव उनपर अनिवार्य रूप से पड़ा होगा। इसके साथ ही कृष्णभक्तिसाहित्य का प्रधान प्रेरणास्रोत सर्वत्र "श्रीमद्भागवत" ही रहा है। अनेक गुजराती वैष्णव कवियों ने 'दशमस्कंध' नाम से भागवत के दशमस्कंध का ही अनुवाद किया है। सूरदास के काव्य-ग्रंथों में 'सूरसागर' उनका प्रधान एवं प्रामाणिक ग्रंथ माना गया है। भागवत के आधार पर ही इसमें बारह स्कंधों की रचना है। इसके लगभग पाँच हजार पदों में से ४३१० दशमस्कंध के हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरागमन तक के प्रसंगों का सविस्तार वर्णन है। समस्त कृष्णकाव्य का प्रेरणास्रोत एक ही होने से गुजराती एवं ब्रजभाषा के काव्यों में पर्याप्त समानता देखी जाती है। साथ ही कविवर सूरदास के पदों का प्रचार-प्रसार उनके जीवनकाल से ही होने के कारण गुजरात के वैष्णव कवियों ने उनके प्रभाव को भी ग्रहण किया है।

गुजराती के प्रथम कृष्णभक्त कवि नरसिंह मेहता सूरदास से पहले हुए थे, फिर भी इन दोनों के काव्यों में अत्यधिक समानता है। कवि सूरदास ने भक्ति का माहात्म्य वर्णित करते हुए भक्ति-रहित मानव-जीवन को स्वान, शूकर, उष्ट्र, वृषभ तथा भैंस के जीवन के समान व्यर्थ बताया है।[2]

नरसिंह मेहता भी सूर के समान ही भक्ति को संसार की सर्वोत्तम वस्तु बताते हुए भक्ति-रहित लोगों को भ्रमित और गर्दभ के समान पशुवत् बताते हैं :

---

१. आपणां साक्षर रत्नो, पृ० १०२
२. सूरसागर, ३५७

भक्ति बिना जे जन जीवे, ते क्यम कहीये मानव देह रे,
मन कर्म बचने हरि नव सेव्या, भूल्या भवमां भटके तेह रे।
दश मास उदरे दुःख पाम्यो, करतो खरने भार रे,
देह धरी हरिनो दासन कहाव्यो, तेहनी जननी ने धिक्कार रे।[1]

दोनों ही कवि पुरुषार्थ अथवा श्रमकी अपेक्षा ईश्वर की कृपा या भाग्य को बलवान मानते हैं। कवि सूरदास का कथन है :

साधन मंत-तंत्र उद्यम बल सुख यह सब डारहु धोई।
जो कछु लिखि राखौ नँदनंदन मेटि सकै नहि कोई।[2]

इसी बात को गुजराती कवि नरसिंह मेहता इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं : **जेहना भाग्यमां जे समे जे लख्युं, तेहने ते समे ते ज पहोंचे।**[3]

सूर और नरसिंह की भाँति गुजराती के अन्य कृष्णभक्त कवियों के विचारों में भी पर्याप्त समानता है। कहीं-कहीं तो भाव और भाषा में इतनी अधिक समानता पाई जाती है कि पाठक को यही प्रतीत होने लगता है कि दोनों कवियों ने साथ-साथ बैठकर ही पदरचना की है। सूरदास के पदों के साथ कृष्णभक्त गुजराती कवियों के कुछ पदों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें।

आचार्य वल्लभ श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म मानते हैं। सूरदास ने भी अपने पदों में कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म-परमेश्वर निरूपित किया है। अनेक गुजराती वैष्णव कवियों ने भी उसी श्रीकृष्ण को पुराण प्रसिद्ध ब्रह्म कहा है और लिखा है कि उनके दर्शन के लिए ब्रह्मा, शंकर, इंद्रादि सभी देवाधिदेव लालायित रहते हैं। ऐसे उन वालक कृष्ण को यशोदा अपनी गोद में खिलाकर फूली नहीं समाती। सूर का कथन है :

पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन, सिव, अंत न जानैं।
गुन-गन अगम, निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।[4]

इसी भाव को भक्त कवि नरसिंह मेहता ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

ते ब्रह्म द्वार आवीने उभा रह्या, गोपिका मुख जोवाने ढूके,
अज भव सुरपति स्वप्ने पेखे नहीं, नेति-नेति कही निगम वामे।[5]

---

१. नरसिंह मेहता, काव्य संग्रह, सं० इच्छाराम देसाई, पृ० ४६१
२. सूरसागर
३. नरसिंह मेहता, काव्यसंग्रह, पृ० २३
४. सूरसागर, ६२१
५. नरसिंह मेहता काव्य, संग्रह, पृ० ४७६

कवि प्रेमानंद ने भी "तूं पूर्ण ब्रह्म भगवंत" कहकर श्रीकृष्ण की भक्ति पूर्ण ब्रह्म के रूप में ही की है।

सूरदास ने भगवान् श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार बताते हुए उनके संपर्क में आनेवाली प्रत्येक वस्तु को किसी न किसी अलौकिक शक्ति का प्रतीक कहा है। वे राधा को ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति मानते हैं तथा गोपियों को वेदों की ऋचा कहते हैं : **वेद ऋचा होइ गोपिका हरिसों कियो विहार।**

इसी बात को कवि प्रेमानन्द ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

गोपी छे वेदनी ऋचा, श्रीकृष्ण वेद स्वरूप।
वृंदावन वैकुंठ जाणवुं, रखे भेद अभागे भूप।
खटराग ते खटशास्त्र छे, वेणु शब्द ते ओंकार।
चंद्रावली ते ब्रह्मविद्या, राधा भक्ति नो अवतार।[1]

सूरदास रचित 'सूरसारावली' में विश्वव्यापी विराट् होली का वर्णन है। इसमें '**खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो, वेद विदित यह बात।**' इसी एक गीत की १००७ कड़ियाँ हैं, जिनमें होली के खेल का निर्देश करते हुए लीला-पुरुष की अद्भुत लीलाओं का सुंदर वर्णन किया गया है।[2] गुजराती कवियों में से भी अनेक ने होली का बड़ा सुंदर वर्णन किया है। कवि प्रेमानंद का निम्नलिखित वर्णन सूर के होली वर्णन से अत्यंत समानता रखता है :

रमे नारायण नट रूपे रे, रमे नारायण नट रूपे रे।
कोटि ब्रह्मांड धरे परमेश्वर, एक लोक रोम कूपे रे।
चोसठ सहस्त्र कर-पद-लोचन, श्रवण चोसठ हजारो।
मस्तक बत्तीस सहस्त्र नासिका, सोल सहस्त्रे निशा भरथारी।[3]

इसी प्रकार जीव, माया, जगत् तथा मोक्ष के संबंध में भी गुजराती कवियों के विचार सूरदास के समान ही हैं। कवि सूरदास मोक्ष या वैकुंठ की अपेक्षा वृंदावन और गोकुल को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार गोपाल के गुणगान, वंशीवट, वृंदावन, गोकुल तथा यमुना तट से जो आनंद प्राप्त होता है, वह मोक्ष, मुक्ति या वैकुंठवास में कदापि नहीं।[4] इसी बात को कविवर दयाराम अपनी एक गरबी में अभिव्यक्त करते हैं। एक ग्वालिन अपनी सखी से कहती है :

व्रज वहालुं रे, वैकुंठ नहि आवुं,
मने न गमे, चतुर्भुज थावुं।
त्यां नंदकुंवर क्यां थी लावुं ?[5]

---

१. श्रीकृष्ण लीला, काव्य पृ० २९५ २. सूर-सौरभ, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १८५
३. दशमस्कंध, पृ० २८८ ४. सूरसागर, ३४९ ५. गुजराती साहित्य, पृ० ६३८

सूरदास वात्सल्य-रस अथवा बालस्वभाव के वर्णन में अद्वितीय माने गये हैं। उन्होंने बालक कृष्ण की शिशु-सुलभ विविध चेष्टाओं तथा बाल-क्रीड़ाओं का बड़ा स्वाभाविक एवं आकर्षक वर्णन किया है। इस प्रकार का कुछ वर्णन तो 'श्रीमद्-भागवत' में उपलब्ध था, उसे सूर ने अपनी कल्पना और भावना से अनेक गुना विस्तृत करके दिखाया है। बाल-स्वभाव की सरलता, चंचलता, हठ, भोलापन, सहज प्रसन्नता आदि का बहुत ही कुशलता के साथ चित्रण किया है। वे इस क्षेत्र में एक-मेव अद्वितीय सफल कवि हैं। गुजराती में भालण, केशवदास, प्रेमानंद आदि ने भी कृष्ण के बालस्वभाव का वर्णन पर्याप्त भावमयता के साथ किया है, किंतु इनके वर्णन में सूर की-सी सूक्ष्मता नहीं आ पाई है। गुजराती कवियों ने सूरदास का अनुकरण करने का प्रयास किया, परंतु वे उतनी दूर तक नहीं पहुँच सके। एक उदाहरण से बाल-वर्णन की तुलना करें।

बालक कृष्ण दूध पीने से इनकार करता है, तब माता यशोदा उन्हें यह कहकर दूध पिलाती है कि दूध पीने से तेरी चोटी बढ़ेगी और दाऊ की चोटी के समान हो जाएगी। कृष्ण दूध पीते जाते हैं और बालों को टटोलकर देखते जाते हैं कि चोटी बढ़ी या नहीं? कुछ समय बीतने पर जब चोटी बढ़ती नहीं दिखाई देती तो वे खीजकर माता से पूछते हैं :

मैया कबहिँ बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिँ दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बनी ज्यौं ह्वै है लाँबी-मोटी।[1]

इसी प्रसंग का वर्णन कवि नरसिंह, भालण और प्रेमानंद तीनों ने किया है। इनके इस वर्णन को भी देखिए :

(क) कढ्या दूध साकर संगाथे एक एक घूंटडै पीजे रे।
वेण वागे वहालाजी तमारी, बलभद्र पे मोटी थाय रे।[2]

(नरसिंह मेहता)

(ख) क्षण एक बेसो मोहनजी, ओलुं तारी चोटी रे।
केवडो घाली गुंथुं ज्यम-त्यम थाये मोटी रे।[3]

(भालण)

(ग) जो कृष्ण गुंथावे चोटली, घणुं माखण आपुं रोटली।[4]

एक अन्य प्रसंग के वर्णन में गुजराती कवि केशवदास पर सूर का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। हमारे समाज में प्रायः देखा जाता है कि छोटा बालक जब शरारत करने पर उतारू हो जाता है, तो उसे 'हाऊ' का भय दिखाकर शांत किया

१. सूरसागर, ७९३

२, ३, ४. गुजराती और ब्रजभाषा का तुलनात्मक अध्ययन, डा० जगदीश गुप्त, पृ० २५०

जाता है। समस्त विश्व के लोकजीवन में पाया जाने वाला यह एक सामान्य सत्य है कि माताएँ बालकों को इस प्रकार डराकर उन्हें अनुचित कार्य से रोकतीं हैं। सूरदास ने इस तथ्य का विविध रूप से प्रयोग किया है :

(क) **दूरि खेलन जनि जाहु लला बन मेरे 'हाऊ' आयो है।**[1]

(ख) **भागि चलै कहि गयो वहाँ ते काटि खाइ है 'हाऊ'।**[2]

गुजराती कवि केशवदास ने भी लिखा है कि जब कभी कोई बालक कृष्ण को 'हाऊ' का डर दिखाता है तो वे माता की गोद में जाकर छिप जाते हैं—**एक कहे, हरि ! 'हाऊ' आवे, धुजतो माता तणां स्तने धावे।**[3] कवि प्रेमानंद कहते हैं कि जब बालक कृष्ण दीपक को छूने का प्रयास करता है, तब माता उसे 'हाऊ' का डर दिखाती है : **प्रकट करे अज्ञान, हाथ दीप ग्रहे रे। ओ रे करडबा आव्यो 'हाऊ', रोतो टप रहे रे।**[4]

कृष्ण की बाललीलाओं की भाँति ही दानलीला, मानलीला, पनघटलीला, रासलीला आदि प्रसंगों के वर्णन में भी गुजराती कवियों का काव्य सूरदास के काव्य से बहुत कुछ समानता रखता है। शृंगार रस के वर्णन में सूर के समान ही गुजराती के भालण, प्रेमानंद, दयाराम आदि का मन भी खूब रमा है। इन्होंने राधा और कृष्ण के रमण प्रसंगों का बड़ा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। रमण से पूर्व की दोनों की मनोदशा, रमण के समय की और उसके बाद की मानसिक स्थिति की रसात्मक अभिव्यक्ति इन्होंने अत्यंत सुंदर ढंग से की है।

कृष्ण-काव्य में 'भ्रमरगीत' का विशिष्ट स्थान है। श्रीकृष्ण के विरह में तड़पतीं गोपियों को उपदेश देने के लिए उद्धव गोकुल जाते हैं और वहाँ अपनी ज्ञान-गठरी खोलते हैं। उसी समय वहाँ उड़ते हुए भ्रमर को देखकर गोपियाँ अपने भावों को अभिव्यक्त करती हैं। ज्ञान और योग के उपदेशक उद्धव को वे पराजित कर देती हैं। इस प्रसंग का वर्णन सूरदास ने बड़े विस्तार के साथ किया है। गुजराती में भी भालण, प्रेमानंद, दयाराम आदि ने इस प्रसंग पर अपनी कलम चलाई है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' प्रसंग में उपालंभ, व्यंग्य, वचनवक्रता आदि के कारण जो मार्मिकता आ पाई है, वह गुजराती में नहीं पाई जाती, फिर भी गुजराती कवियों का मन इस प्रसंग के वर्णन में खूब रमा है। भ्रमर के कालेपन पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ सभी काली वस्तुओं को सदोष बताती हैं। उनके प्रियतम कृष्ण भी काले हैं, अतः वे भी बच नहीं पाते। इस भाव को सूरदासादि व्रजभाषा के कवियों ने तथा गुजराती के

---

१. सूरसागर, १६०

२. वही, २०१

३. श्रीकृष्ण क्रीड़ा-काव्य, ३९

४. बाललीला, २५२

कृष्णभक्त कवियों ने समान रूप से अभिव्यक्ति दी है। सूरदास ने काले रंग का वर्णन अनेक प्रकार से किया है :

ऐसी कारेन की रीति।
मन दै सरबस हरत परायो, करत कपट की प्रीति।
ज्यौं षट्पद अंबुज के दल मैं, बसत निसा रति मानि।
दिनकर उदय अनत उड़ि बैठत, फिरि न करत पहिचानि।[1]

इसी भाव को गुजराती कवियों ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

भालण— काला सघला धूतारा, केमे कर्या नव जाय जी।
मन कालयुं वले नहि तो, कीजे कशो उपाय जी।[2]

प्रेमानंद— जेटला काला ते सहु कपटी, विश्वास कोइनो जब करीए।
कालग सर्पनी संगत करतां, को एक दहाड़ो मरीए।
तेले काला केश पोषीए, अंते धोला थाय।
पंथी को कुशल न आवे, जो काली राते जाय।[3]

दयाराम—मारे श्याम रंग समीपे न जावु।
नीलांबर काली कंचुकी ना पहेरुं, जमुना ना नीरमा न नहावुं।[4]

इस प्रकार के अन्य भी अनेक प्रसंगों के उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि गुजराती कृष्णभक्त कवियों पर सूरदास का प्रभाव अत्यंत प्रचुर परिमाण में पड़ा है। ऐतिहासिक तथ्यों से भी प्रतीत होता है कि गुजरात और ब्रज प्रदेश की बहुत सी परंपराएँ समान रही हैं इसलिए दोनों काव्यों में बहुत से समान तत्त्व देखे जाते हैं। पुष्टिमार्ग का प्रधान केंद्र ब्रजप्रदेश रहा है और इस संप्रदाय के श्रेष्ठ कवि सूरदास रहे हैं, अतः गुजराती के वैष्णव कवियों का सूरदास से प्रभावित होना स्वाभाविक है। वृंदावन की ही भाँति गुजरात की द्वारका भी भक्तों के लिए सदैव आकर्षण का केंद्र रही है। भगवान् श्रीकृष्ण का धाम होने से भक्ति एवं भक्तों का प्रवाह मथुरा-वृंदावन से द्वारका की ओर निरंतर प्रवाहित होता रहा है। इसलिए इन दोनों प्रदेशों में सांस्कृतिक व साहित्यिक आदान-प्रदान सहज रूप से होता रहा है। इन दोनों भाषाओं के कृष्णकाव्य को परस्पर मिलाने का कार्य मीराँबाई ने भी किया है। सूर और मीराँ गुजरात में भी उतने ही लोकप्रिय रहे हैं, जितने ब्रजप्रदेश में। अंत में हम इतना ही कहेंगे कि दोनों भाषाओं में कृष्णकाव्य की आत्मा, उनकी प्रेरणा-भूमि, भावभूमि तथा उद्देश्य एक ही होने से दोनों में पर्याप्त समानता है, जो थोड़ा-बहुत भेद है, वह बाह्य एवं गौण है।

---

१. सूरसागर, ४३७४; द्रष्टव्य ४३७१, ४३७२, ४३७५, ४३७६, ४३७९ आदि।
२. दशम स्कंध, २१४
३. भ्रमर पचीसी, ३२८
४. रसिक वल्लभ, ८६

□ सुश्री शोभा रं० देशपांडे

सूरसाहित्य और मराठी का कृष्णकाव्य

भारतीय धर्मसाधना, संस्कृति, साहित्य तथा कलाएँ कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से जिस रूप में प्रभावित हैं, उतनी वे किसी अन्य चरित से नहीं। कृष्ण आख्यान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। वैसे तो पूरे भारतीय साहित्य में हमें कृष्ण और राम दोनों के चरित्र की झाँकियाँ स्पष्ट रूप से दिखायी देती हैं, फिर भी राम की अपेक्षा कृष्ण-चरित्र अधिक विस्तृत, व्यापक और सर्वांगीण रूप में अभिव्यक्त हुआ है। कहीं उनका क्षत्रिय राजा का रूप स्पष्ट होता है, कहीं धर्मोपदेशक तथा नीतिविशारद रूप तो कहीं बाल-किशोर रूप सामने आता है। कृष्ण के व्यक्तित्व के अन्य अनेक पहलुओं का दर्शन हमें भारतीय साहित्य में कहीं न कहीं हो जाता है। भारत में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और पूर्व से पश्चिम तक के सारे प्रदेशों में कृष्ण-विषयक साहित्य विभिन्न-रूपों में पाया जाता है। 'छांदोग्य उपनिषद्', मेगस्थनीज के 'इंडिया' पतंजलि के 'महाभाष्य', बौद्धों के 'घटजातक' आदि ग्रंथों को प्रायः सभी विद्वानों ने कृष्ण के चरित्र का प्रमुख आधार माना है। वह एक परमयोद्धा तथा महायोगी ही सिद्ध होते हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा 'महाभारत', जो भारतीय संस्कृति के प्रमुख आधार ग्रंथ माने गए हैं, इन दोनों में कृष्ण का एक अलग ही रूप प्रस्तुत हुआ है। महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना काल तक वे एक महापुरुष और धर्म के प्रवर्त्तक के रूप में ही अभिलक्षित होते हैं। अर्थात् इन ग्रंथों में उनका उदात्त चरित्र ही सर्वत्र अंकित हुआ है। लेकिन दूसरी ओर उनके चरित्र के अंतर्गत आनेवाली शृंगार-लीलाओं का समावेश हरिवंश, भागवत और अन्य पुराणों में हुआ। कृष्णचरित्र के इन नवीन मोड़ों से ही कृष्ण से संबंधित प्रायः सभी संप्रदाय चल पड़े हैं। कृष्ण की कथा, विष्णु, ब्रह्म, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, स्कंद, वामन तथा कूर्म-पुराणों में मिलती है। विष्णुपुराण' के रचनाकाल तक आकर

प्राचीन प्रचलित कृष्णकथा में एक नवीन विचारधारा का समावेश हो जाता है, जो भक्ति के आवरण में कृष्ण जौर गोपियों के बीच उदात्त शृंगार की कल्पनाओं को स्वीकार करके परवर्ती साहित्य-सर्जना में निर्दिष्ट प्रवाहक का काम करती है। 'भागवत' धर्म में प्रतिपादित भक्ति में शृंगार की कल्पना एवं कृष्ण की शृंगारमय भक्ति की स्थापना में पौराणिक काल की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है। जयदेव के 'गीतगोविंद' में तो शृंगार के साथ-साथ राधा और कृष्ण को लेकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर लौकिक शृंगार का सांगोपांग चित्रण भी मिलता है। जयदेव के दो सौ वर्ष पश्चात् महाराष्ट्र के संत तुकाराम के अभंगों में राधा और कृष्ण की कामलीलाओं से परे प्राचीन भागवत धर्म में प्रतिपादित भक्ति की पुनः स्थापना के दर्शन होते हैं। तुकाराम की कृष्णभक्ति में कृष्ण का परब्रह्म स्वरूप ही मुख्य है, शृंगार का गौण। ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति के पुनरुत्थान के समय महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म विभिन्न संप्रदायों एवं दार्शनिक विचार-धाराओं को आत्मसात करके व्यापक रूप धारण कर चुका था। धर्म की व्याख्या शास्त्रीय ढंग से होने के कारण उसमें व्यापकता की अपेक्षा वर्णाश्रम धर्म की अक्षुणता, जातिभेद, अस्पृश्यता के कारण वह किसी एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित नहीं। इसी सामाजिक एवं धार्मिक विषमता का निराकरण सर्वप्रथम महानुभाव तथा उसके पश्चात् वारकरी पंथ ने किया और धर्म को जनसाधारण तक पहुँचाया। महाराष्ट्र के वारकरी-संप्रदाय की स्थापना अत्यंत प्राचीन मानी जाती है, जिसका अर्थ है यात्रा करने वाला। वारकरी-संप्रदाय पूर्ण रूप से वैदिक धर्मांतर्गत तथा कृष्णभक्ति-प्रधान होने के कारण भागवत-संप्रदाय भी कहलाता है। वारकरी-पंथ के उपास्यकेव विट्ठल माने जाते हैं। विट्ठल को बालकृष्ण माना जाता है। विट्ठल की कल्पना विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। कई स्थलों पर विट्ठल की मूर्ति को कन्नड़ देश से आयी हुई कहा गाया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो ही जाता है कि भारत की प्रायः सभी भाषाओं में कृष्ण का आख्यान वर्णित है। प्रस्तुत लेख में हम हिंदी तथा मराठी भाषा में चित्रित कृष्णकाव्य का स्वरूप देखने जा रहे हैं। किसी भी काव्य का अध्ययन करने से पहले उसकी पृष्ठभूमि को परखना आवश्यक और उचित हो जाता है, जिससे उसका स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो सके। वस्तुतः किसी भी युग का साहित्य तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिवेश से प्रभावित रहता है। मराठी और हिंदी दोनों के प्रारंभिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि दोनों का साहित्य काव्यमय था, जो भारत की अन्य भाषाओं के इतिहास में भी दिखायी देता है। मराठी के उत्पत्तिकाल के विषय में भी हिंदी की तरह, विद्वानों में मतभेद दिखायी देते हैं। फिर भी प्राचीन काल में महाराष्ट्र की धार्मिक विचारधारा द्रविड़ तथा आर्य संस्कृति से पूर्ण-रूप से प्रभावित रही अतः दोनों संस्कृतियों की देव-देवताओं की उपासना-पद्धति का समन्वय

इसमें हुआ है। महाराष्ट्र सारस्वत तथा महाराष्ट्र परिचय, जो मराठी के इतिहास के प्रमुख अंग माने जाते हैं, उसमें ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व महाराष्ट्र के जनसामान्य में धर्मविषयक भ्रांतियों का स्पष्ट विवरण मिलता है। संक्षेप में, मराठी में धार्मिक परंपरा, विशेषतया कृष्णकाव्य की परंपरा की पृष्ठभूमि, धार्मिकता और सामाजिकता के ही परिणामस्वरूप दिखायी देती है। इसके ठीक विपरीत हिंदी में प्रवाहित कृष्णकाव्य परंपरा सर्वथा भिन्न है। धार्मिक और सामाजिक विद्रोह की अपेक्षा राजनीतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप इसका जन्म हुआ है। मराठी में कृष्णकाव्य परंपरा वैसे बहुत प्राचीन वासुदेव-भक्ति की परंपरा के रूप में प्रवाहित थी, जबकि उसके रूपों में काफी परिवर्तन हुए हैं। लेकिन हिंदी में यह परंपरा कालकी आवश्यकता से ही प्रसूत हुई। भक्तिकाल भारत के इतिहास में हिंदू-जाति के पराभव और असफलता का काल था। देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित होने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व, उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हिंदू समाज पर उदासी के बादल छा गए। जनता अपने धर्म की रक्षा तक नहीं कर सकी। ऐसी परिस्थिति में विक्षुब्ध हृदय को शांति पहुँचाने के लिए भक्ति के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं रहा। भक्ति का जो स्रोत दक्षिण में प्रवाहित था, अब उत्तर भारत में भी प्रसार पाने लगा। एक ओर हिंदू जनता अपने ऐहिक जीवन से खिन्न, निराश हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर वैष्णव आचार्य राम और कृष्ण की भक्ति का प्रचार कर रहे थे। स्वामी रामानंद और वल्लभाचार्य के अनुयायियों ने राम और कृष्ण को आलंबन बनाकर काव्य-रचना-द्वारा जनता में चेतना जगाने का प्रयत्न आरंभ किया। मराठी के इतिहास से भी यही ज्ञात होता है कि जनसाधारण को गलत रास्ते से हटाने के परिणामस्वरूप ही आदिकाव्य का प्रादुर्भाव हुआ, जो नाथ, महानुभाव, वारकरी, दत्त, समर्थ आदि धर्म-पंथों के आश्रय में प्रस्फुटित हुआ। धर्म केवल यज्ञयाग, व्रतवैकल्य, जप-तप तक सीमित रहा तो उच्चवर्ग भोगविलास में मग्न था। अतः जनसाधारण की दृष्टि से महानुभाव पंथ के आचार्यों ने ग्रंथ-रचना संस्कृत में न कर लोकभाषा मराठी में अपने विचार व्यक्त किए,[1] जिसे ज्ञानेश्वर ने भी अपनाया। इनका झुकाव निवृत्तिमार्ग की ओर होने के कारण ही भगवद्गीता को प्रमाण मानकर महाराष्ट्र में कृष्णभक्ति का विकास हुआ।

अस्तु, मराठी तथा हिंदी के अनेक भक्तों ने कृष्ण को अपना उपास्य तथा हृदय के बोलों का आधार बनाकर जनसामान्य का मार्गदर्शन किया। उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र की कृष्ण-भक्ति का उद्गम स्रोत एक ही था, जो दक्षिण का ही भक्ति आंदोलन कहलाता है, फिर भी दोनों के कृष्ण अलग हैं। मराठी के कृष्ण योगेश्वर,

---

१. मराठी साहित्य का इतिहास, ना० वा० गोडबोले, पृ० १०

लोकनायक, महाभारत के प्रणेता, गीता का दिव्य संदेश देने वाले तथा बालरूप हैं। उसमें सर्वत्र दास्य और वात्सल्य भावों की ही प्रधानता है। इसके ठीक विपरीत हिंदी-कविता में दास्य, वात्सल्य की अपेक्षा कांत या माधुर्यभाव तथा सख्य-भक्ति परिलक्षित होती है। रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि "मराठी कृष्णकाव्य का अभीष्ट लोकहित है, जब कि हिंदी कृष्णकाव्य का लोकरंजन।"[१] इसी कारण हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों ने भागवत के दशम-स्कंध के आधारपर कृष्ण की रासलीलाओं से अधिक प्रेरणा ली है। इस विशिष्ट दृष्टिकोण का कारण शुक्ल जी ने वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग को माना है।[२] मराठी और हिंदी के कृष्ण-काव्य को अधिक विस्तृत और व्यापक रूप से देखने, परखने के लिए हमें कृष्ण-भक्त कवियों, उनकी उपासना पद्धति, उनके काव्य में वर्णित विषयों तथा दर्शन को देखना जरूरी है, जिससे दोनों भाषाओं में व्याप्त परंपरा को संश्लिष्ट रूप में देखा जा सके।

मध्यकालीन कवियों पर 'भागवत' का अत्यंत प्रभाव पड़ा है, जो भागवतकार ने महाभारत से ग्रहण किया है। हिंदी में कृष्ण-काव्य का प्रारंभ बहुधा विद्वानों ने विद्यापति से माना है; लेकिन कृष्ण-काव्य में सरसता और प्राण भरने का श्रेय महाकवि सूरदास जी को है। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवाद से महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति-क्षेत्र में वल्लभ-संप्रदाय तथा पुष्टिमार्ग की स्थापना की। भागवत के पोषण अर्थात् भगवदनुग्रह के आधार पर वल्लभाचार्य ने भी पुष्टि शब्द का प्रयोग भगवदनुग्रह के अर्थ में ही किया। वल्लभाचार्य द्वारा इस 'पुष्टिमार्ग की स्थापना के बाद कृष्णभक्ति को अधिक लोक-प्रियता मिली। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा करके वहाँ अपने चार तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ के चार, इस प्रकार आठ शिष्यों का एक मंडल हो गया, जो 'अष्टछाप' कहलाता है : सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास। इस अष्टछाप में भी सूर का स्थान हिंदी के साहित्याकाश में सूर्य के समान माना जाता है। वह एक आशुकवि थे और कीर्तनाचार्य भी। वे जन्मसिद्ध-गायक तथा उच्चकोटि के भक्त माने जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने तो कहा है "सूर में जितनी सहृदयता है उतनी ही वाग्वि-दग्धता।" भगवान् की शील, शक्ति और सौंदर्य-विभूतियों में सूर ने केवल सौंदर्य का ही चित्रण किया है, केवल बाल एवं यौवन से संबद्ध जीवन झाँकियाँ दिखायी हैं। विषय सीमित होने पर भी उसमें सूक्ष्मता अधिक है। एक ही भावना के तीन रूप 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' में दृष्टिगत होते हैं। सूर के प्रमुख तीन काव्य-ग्रंथों में सैद्धांतिक पक्ष 'सूरसारावली' में 'साहित्य-लहरी में उनका काव्य-शास्त्रीय रूप तथा 'सूरसागर' में बाललीला का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। कृष्णावतार के

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १५८   २. वही, पृ० १५६

व्रजलीला, द्वारकालीला और प्रणयलीला ये तीन पक्ष उनको प्रमुख रूप से अभिप्रेत हैं। उनका बाललीला वर्णन काव्य, मनोविज्ञान और भक्ति का संगम है। सख्यभाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्यभक्ति भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। भक्ति के माध्यम से आत्मसमर्पण की एक ही भावना व्यक्त करते हैं। "नटवर वेष काछे स्याम" रूप-माधुरी का सुंदर उदाहरण है। भगवान् को प्राप्त करने के साधनों में कर्म, ज्ञान और भक्ति की गणना होती है, जिसे **"लोकेऽस्मिन् द्विविधानिष्ठा, पुरा पोक्ता मयानघ। ज्ञान योगेन् सांख्यानां, कर्मयोगेन् योगिनाम्।"** गीता में वर्णित किया गया है। इस भगवान् की भक्ति नौ उपकरणों से, जिसे 'नवधा भक्ति' कहते हैं, करते हैं। भक्ति के अंतर्गत भगवान् के प्रति भक्ति का प्रेम-भाव अनिवार्य है। भक्ति के लिए इष्टदेव का सगुण रूप अपेक्षित होता है। तुकाराम कहते हैं **"इच्छिती तयांसी व्हावे जी अरूप। आम्हांसी स्वरूपस्थिति चाड।**[1] इसे सूर की गोपी भी कहती है कि **"निरगुन कौन देस कौ वासी।"**[2] इसलिए कृष्णभक्त कवियों ने भगवान् के सगुण रूप को अपनाया। इस सगुण रूप से भक्त का व्यक्तिगत संबंध तथा अनन्यभाव होता है और वह उसका ही निरंतर गुणगान करता है। भक्त की मनोदशा का चित्रण हिंदी और मराठी कृष्णभक्त-कवियों के काव्यों में अनेक स्थानों पर हुआ है। पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह या कृपा को प्रमुख स्थान दिया गया है। 'भगवद्कृपा' सूर की भक्ति-भावना का एक अनिवार्य-लक्षण है। इष्टदेव के प्रति सूरदास का अनन्यभाव होने के कारण वे अन्य देवताओं का बहिष्कार करते हैं; परंतु मराठी कृष्णभक्त-कवियों ने अनन्य भक्ति का अनुसरण करते हुए भी अन्य देवताओं को इष्टदेव में समाविष्ट कर लिया है। अतः उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। तुकाराम ने इष्टदेव को **"मुंगी आणि राव। आम्हां सारिखाचि जीव"**[3] के अनुसार चराचर में देखा। इस प्रकार भक्त अपने आराध्य के प्रति अपनी भक्तिभावना से किसी प्रकार के फल की अपेक्षा नहीं करता। वह केवल प्रभु की भक्ति में लीन रहता है। इसे मराठी संत तुकाराम की उक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं; जैसे—

हेचि दान देवा। तुझा विसर न व्हावा।
गुण गाईन आवडी। हेचि माझी सर्व जोड़ी।
न लगे मुक्ति धन संपदा। संतसंग देई सदा।
तुका म्हणे गर्भवासी। सुखे घात्नावी आम्हासी।

सूर की भक्ति में एक अलग ही रूप दिखायी देता है। उनके काव्य में 'रागानुगा' भक्ति की ही प्रधानता है। 'रागानुगा' भक्ति के अंतर्गत जो कामरूपाभक्ति मानी जाती है, उसमें कृष्ण सुख के अतिरिक्त अन्य-भावना नहीं रहती तो संबंधरूपा-

---

१. श्रीतुकारामांची देवडी गाथा, देवडीकर अभंग, २५६४
२. सूरसागर, ४२४६
३. तुकाराम वचनामृत, पृष्ठ १४

भक्ति भगवान् और भक्त के संबंध में होती है, जिसमें से सूर में सख्यभाव की भक्ति लक्षित होती है। सूर ने अपने आराध्यदेव कृष्ण की लीलाओं को विविध रूपों में वर्णित किया है। यह पुष्टिमार्गीय भक्ति कृष्णभक्ति ही कहलाती है। आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का सुंदर समन्वय सूर में मिलता है। सूर के मुरली-वर्णन, रास-लीला तथा शृंगार-वर्णन में हम इसे पाते हैं। वल्लभसिद्धांत के अनुसार जीव को भगवान् का ही एक अंश माना जाता है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया गया है। अविद्या और माया को उन्होंने स्वरूप-विस्मृति का कारण माना है। माया के कारण ही जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है; जैसे—"आपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ, जैसे स्वान काँच मंदिर में, भ्रमि भ्रमि भूकि मर्यौ"। ये जीव ईश्वर की कृपा से माया से छुटकारा पाते हैं और मुक्त होते हैं। अविद्या के कारण ही जीव आनंद से विमुख रहता है। अविद्या दूर होते ही जीव को अपना ज्ञान हो जाता है। **"अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ। सब्दहि सब्द भयौ उजियारौं, सतगुरु भेद बतायौ। ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढत फिरत भुलायौ।"**[१] महानुभाव-पंथ के कृष्णभक्त कवियों ने पंथ सिद्धांत के जीव को परमेश्वर से पृथक् पदार्थ माना है। जीव प्रत्येक पदार्थ का अनुभव करता है। इसे ही स्मरण, नामस्मरण कहा गया है। नामस्मरण की महिमा वारकरी संप्रदाय के सभी कृष्णभक्त-कवियों ने गाई है। जैसे ज्ञानेश्वर कहते हैं **"हरि मुखे म्हणा, हरि मुखे म्हणा, पुण्याची गणना कोण करी"**[२] जिसे तुकाराम ने भी कहा है **"नाम संकीर्तन साधन पै सोपें। जत्नतील पापें जन्मांतरिची।**

हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों ने माया को ईश्वर की ही शक्ति माना है। वल्लभाचार्य ने माया को सत्य तथा भ्रम दोनों माना है। विनय के पदों में सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है; जैसे—"**हरि, तुव माया को न बिगोयौ?**"[३] सूर ने माया को मोहिनी, भुजंगिनी, भटिनी आदि से संबोधित किया है तथा उसे अविद्या और तृष्णा कहकर अनेक रूपकों की योजना की है। माया विषयक महानुभाव पंथ के कवियों की कल्पना थोड़ी भिन्न है। उनके मत में माया देवता समूहों से सबसे ऊपर है और सभी देवताओं को व्याप्त किए हुए है। संत एकनाथ ने माया को "मूलमाया" कहा है।[४] इस प्रकार मराठी और हिंदी के कवियों की भक्ति, ब्रह्म, जीव, माया की धारणा एक जैसी है। इसी को हम सूरदास द्वारा वर्णित रास-लीला, मुरली की आध्यात्मिकता को देख सकते हैं। काव्य के भाव तथा कला पक्षों में से अब हम उनके भावपक्ष के अंतर्गत आने वाली विषयवस्तु को देखेंगे। हिंदी

---

१. सूरसागर, ४०७
२. ज्ञानेश्वरी १४/३८५-८६
३. सूरसागर, ४३
४. श्री एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृष्ठ १८५

के कृष्णभक्त कवियों ने भागवत के एकादश स्कंध की अपेक्षा दशम-स्कंध से ही अपने काव्य के लिए सामग्री एकत्रित की है। 'सूरसागर' के तीन चौथाई से अधिक भाग में दशम् स्कंध को ही प्रतिध्वनित किया गया है।[१] लेकिन मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत के एकादश स्कंध, गीता और महाभारत से प्रेरणा ली है। यह भिन्नता की पार्श्वभूमि है; मराठी प्रदेशों की विशिष्ट सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थिति। इसी कारण मराठी कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत का सर्वथा अभाव है, यहाँ तक कि वियोग और संयोग का भी चित्रण इसमें नहीं है। ठीक इसके विपरीत भ्रमरगीत 'सूरसागर' की रत्नराजि मानी जाती है। मराठी-कृष्णकाव्य में कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन सूर की भाँति मनोवैज्ञानिक भी हुआ है, उस पर आध्यात्म का ही आरोप अधिक हुआ है। श्रीमद्‌भागवत की ही तरह मराठी के कृष्ण विशेष रूप से दास्य भक्ति के आलंबन चित्रित हुए हैं, परंतु सूर ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों को अधिक महत्त्व दिया है, जिससे सूर के कृष्ण अधिक मानवीय हो उठे हैं। साथ ही दोनों में कृष्ण के साथ यशोदा, देवकी, वासुदेव, नंद, संगी-साथी और बालगोपालों का भी वर्णन है। इसमें भी सूर ने समस्त पारिवारिक जीवन का जितना समग्र और स्वाभाविक चित्र खींचा है, उतना मराठी में नहीं। रासलीला का वर्णन भी हिंदी-कृष्णभक्त कवियों ने बड़े विशद् रूप से किया है, जिसका प्रमुख आधार है श्रीमद्‌भागवत की 'रासपंचाध्यायी'। हिंदी-कृष्णकाव्य की रासलीला एक वैशिष्ट्यपूर्ण अंग है, जिसका मराठी-कृष्णकाव्य में लगभग अभाव-सा दिखायी देता है। श्रीधर कवि ने इसे विस्तार से वर्णित किया है, जिसमें भोग-विलास का ही प्राधान्य है। सूर ने रासलीला को वैज्ञानिक, भौतिकशास्त्रीय तथा आध्यात्मिक दृष्टि से देखकर उसे बहुत ही व्यापक रूप दिया है। कुछ विद्वानों ने एक शाश्वत् नृत्य की भावना के रूप में तो आध्यात्मिक क्षेत्र में कृष्ण को परमात्मा और राधा तथा गोपियों को अनेक जीव, वृंदावन को सहस्रदल कमल के रूप में माना है, तो वैज्ञानिकों ने रासलीला में कृष्ण को सूर्य तथा राधा और गोपियों को ग्रह-उपग्रहों के रूप में लिया है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रासमंडल के मध्य में स्थित होने के कारण कम से कम रासमंडल के अनुसार उनका प्रधान स्थान है।[२] डा० हरवंशलाल शर्मा ने कहा है, "गोपियाँ भगवान् की आनंदरूपिणी शक्तियाँ हैं, राधा भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है, इसलिए कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। वल्लभसंप्रदाय में गोपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध करने वाली शक्तियों की प्रतीक और राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई है।"[३] संक्षेप में रासलीला को एक प्रकार का रूपक मानकर उसमें कृष्ण

१. सूरदास, नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १४३

२. भारतीय साधना और सूरसाहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा

३. सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ ३१४

तथा राधा और गोपियों को सूर ने चित्रित किया है। राधा कृष्ण की प्रमुख सखी-प्रेमिका हैं, वे कृष्ण पर आसक्त हैं। रति, रंभा, उर्वशी, रमा आदि उसे देखकर मन में घुलती रहती हैं। फिर भी वे कृष्ण के साथ रति-सुख में मग्न हैं। रति-सुख के उपरांत जहाँ राधा की मरगजी सारी, फटी कंचुकी, आलस्य भरे नैन और अटपटे बैन, उसके सहज निर्मल सौंदर्य में किंचित व्यतिक्रम उपस्थित करते हैं, वहाँ रसिकराज को रसवश करने का आत्म-संतोष और उत्फुल्लता भी उसके अंग-अंग से फूट पड़ती है। मराठी काव्य में राधा के स्थान पर रुक्मिणी को महत्त्व मिला है। मराठी-साहित्य में रुक्मिणी-स्वयंवर पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। सबसे प्राचीन महानुभाव की रचना है। 'महदंबा के धवले' इनका पहला काव्य है। इनके बाद नरेंद्र, नृसिंह, संतोषमुनि, कृष्णदास आदि महानुभाव कवियों ने तथा एकनाथ, सामराज, विट्ठल आदि ने भी इस विषय को लेकर काव्य-रचना की। मराठी में केवल रुक्मिणी को आदर्श, भावुक और पतिव्रता पत्नी के रूप में देखा गया है। उनमें परकीयातत्त्व का सर्वथा अभाव लक्षित होता है।

राधा को परकीया नायिका स्वीकार करने से वियोग-शृंगार का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हिंदी-काव्य में हुआ है। हिंदी-कृष्णकाव्य में वियोग-शृंगार के प्रतिपादन के लिए कृष्ण का मथुरा-गमन आधारबिंदु माना गया। कृष्ण के मथुरा-गमन और अक्रूर की कथा से वियोग-शृंगार का आरंभ होता है और उसकी चरमसीमा उद्धव संदेश में होती है। उद्धव और गोपियों का संवाद, तर्क-वितर्क हिंदी-साहित्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रारंभिक आधार श्रीमद्भागवत है। फिर भी यह सूर की मौलिक उद्भावना है। वियोग-शृंगार से संबंधित वह एक सफल-काव्य माना गया है। इसमें विरहिणी व्रजांगनाओं के हृदय की भावनाओं तथा मनोदशाओं का सूक्ष्म-चित्रण मिलता है। वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं, वे सब भ्रमरगीत में मौजूद हैं। विप्रलंभ के आदर्श के साथ-साथ वह उपालंभ-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें मानवीकरण का सुंदर चित्रण मिलता है। **'लखियत कालिंदी अधिकारी'** में कालिंदी का चित्रण हुआ है तो विरह में विरहिणी को प्रकृति का सौंदर्य भी फीका लगता है, जैसे—**'तब तैं इन सबहनि सचु पायौ'** या **'बिनु गोपाल बैरिनि भईं कुंजै।'** उद्धव जब मन को निर्गुण ईश्वर का ज्ञान कराने आता है तब तो गोपियाँ साफ कह देती हैं **'ऊधौ मन नहिं हाथ हमारैं। रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै मथुरा जबहिं सिधारे'** या **'ऊधौ मन माने की बात'**। वह तो कृष्ण के सगुण रूप की ही पूजा करती हैं, उनकी 'आँखें तो हरिदर्शन की भूखी' हैं। इन तर्क-वितर्कों से गोपियों के वाक्-चातुर्य का प्रमाण मिलता है। वे अनेक उपालंभों, उलाहनों द्वारा कृष्ण तथा उद्धव दोनों को खरी-खोटी सुनाने में हिचकिचाती नहीं। भ्रमरगीत में शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा वल्लभाचार्य जी के शुद्धाद्वैतवाद का विवरण

मिलता है। धर्म के ज्ञान, कर्म, भक्ति, तीनों अंगों का समन्वय इसमें दिखायी देता है। इसकी मूल-भावनाओं में सर्वत्र जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण दिखायी देता है। भ्रमरगीत में निहित जीवन-सिद्धांतों में एक ओर जहाँ उद्धव के कल्पनात्मक अध्यात्मवाद का तिरस्कार दृष्टिगत होता है और इसके स्थान पर जीवन की अमर-सत्यता का उद्घाटन हुआ है, वहाँ दूसरी ओर इसमें बौद्धिकता की भी अपेक्षा है, जो जीवन को अतिभौतिक और आजकल के समान कृत्रिम बना देती है।'

कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, रासलीला के साथ ही साथ मुरली को भी भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है। मुरली कृष्ण के रूपसौंदर्य का एक अभिन्न अंग है। इसका विशद्-वर्णन सूर में मिलता है। गोपियों तथा प्रकृति पर उसके व्यापक प्रभाव का सुंदर चित्रण इसमें हुआ है। सूर कहते हैं—**मुरली सुनत भईं सब बौरी छुटि सब लाज गई कुलकानी, सुत पति आरज-पंथ भुलानी।** यह मुरली भगवान की कार्य-साधिका यंत्ररूप माया है, जो विश्व के समस्त जीवों को अपने-अपने कार्य में निरत कर रही है। मुरली की ध्वनि को भी अध्यात्म-क्षेत्र में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। इसे शब्दब्रह्म माना गया है तो हठयोग में कुंडलिनी जाग्रत होने पर जो आवाज ब्रह्मांड भर में गूँजती है, वही मुरली की ध्वनि है। कहीं-कहीं योग-माया के रूप में उसे देखा गया है। 'मुरली हम कहँ सौत भई' कहकर सूर ने कहीं-कहीं गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली राधा की सपत्नी के रूप में मुरली को उपस्थित किया है। इस विषय में भी हम कह सकते हैं कि मुरलीवादन और उसके प्रभाव का जितना महत्त्व या जितना वर्णन हिंदी काव्य में मिलता है, मराठी में नहीं। उसमें मुरली की मोहकता का वर्णन कृष्ण-चरित के एक आवश्यक अंग के रूप में ही हुआ है। मुरली-प्रभाव के उदाहरण तो मिलते हैं लेकिन बहुत ही कम, जैसे नामदेव कहते हैं, **"ऐकतांचि नाद गोकुलींच्या नारी, पाहाबया हरि निघताती। स्तन दैतां बाले टाकिली भूमि सी, मोकलिया केशी निघताती।"**

रस के विषय में कहना हो तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सूर में शृंगार, वात्सल्य रस की ही प्रधानता है। मराठी में नरेंद्र कवि के 'रुक्मिणी स्वयंवर' में सभी रसों का परिपाक हुआ है, तो भास्कर भट्ट के 'शिशुपालवध' तथा एल्हण, के 'अष्ट विवाह', एकनाथ के 'रुक्मिणी स्वयंवर', वामन पंडित के 'राधाविलास', 'कात्यायनी व्रत' आदि में शृंगार रस की प्रधानता है। मराठी में महदंबा के 'धवले', दामोदर पंडित के 'वत्सहरण' भक्तिरस के उदाहरण हैं। काव्य के कलापक्ष के अंतर्गत आनेवाले अलंकार, छंद आदि को जब देखना प्रारंभ करते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि मराठी तथा हिंदी कृष्णकाव्य दोनों की अलग ही विशेषता है। ईश्वर को भजने के मार्ग दोनों के भले ही अलग-अलग हों लेकिन भाव तो एक ही व्यक्त होता है। 'आकाशात् पतितम तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्व देव नमस्काराय केशवंप्रतिगच्छति' के समान मराठी के कृष्णभक्त कवियों ने अपने भाव अभंग, ओवी,

श्लोक, धवले, गोलण आदि भजनोपयोगी छंदों द्वारा व्यक्त किए तो हिंदी के भक्त कवियों ने, विशेषतः सूरदास ने, रागरागिनियों द्वारा भावों को उद्वेलित किया। बहुत से नए रागों का भी प्रचलन सूर ने किया है। 'सूरसागर' में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।[1] तो एकनाथ, तुकाराम, नामदेव, वामन पंडित, मोरोपंत आदि भक्त कवियों ने संकीर्तन महिमा पर जोर दिया अतः वह काव्य लोकगीतों की संगीत पद्धति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

अब मराठी के कतिपय कृष्णभक्त कवियों का विस्तार से परिचय देखना आवश्यक है। मराठी में कृष्ण भक्ति का आरंभ चक्रधर से माना जाता है। इसके पूर्व दक्षिण के आलवार भक्तों ने और रामानुजाचार्य ने वैष्णव भक्ति का प्रचार करके कृष्ण और विष्णु के अभेद को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था लेकिन चक्रधर ने श्रीकृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानकर उन्हें विष्णु से भिन्न प्रमाणित किया। कहीं-कहीं तो उन्होंने स्वयं अपने को ही कृष्ण का अवतार माना है। महानुभाव पंथ श्रीकृष्ण दत्तात्रेय, द्वारावती के श्रीचांगदेव, राउल, ऋद्धिपुर के श्रीगुंडम राउल तथा स्वामी श्री चक्रधर, इन पंच कृष्णों को मानता है और परमेश्वर का पूर्णावतार मानता है। इस पंथ के कवियों में नरेंद्र कवि पहले हैं, जिन्होंने २२६७ ओवियों के 'रुक्मिणी स्वयंवर' नामक महाकाव्य की रचना की तो कृष्ण को शृंगारिक रूप में देखा है। इस पंथ की प्रथम कवयित्री के रूप में महदाइसा सामने आती है, जिसके 'धवले' और 'मातृ की रुक्मिणी स्वयंवर' काव्य प्रसिद्ध हैं। इसके बाद भास्कर भट्ट बोरीकर का 'शिशुपाल वध' भी शृंगारिक है, जिसकी कथा महाभारत, हरिवंश और भागवत पुराण पर आधारित है। श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के प्रेम का तथा गोपियों की विरहावस्था का चित्रण इसकी प्रमुख विशेषता है। महानुभाव पंथ के निवृत्ति-निष्ठ, वेद विरोधी और सामान्य जनता से दूर होने के कारण महाराष्ट्र में वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिए संत ज्ञानेश्वर का प्रादुर्भाव हुआ। महाराष्ट्र में भक्ति-आंदोलन में उनका स्थान प्रमुख और महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिन्होंने एक ओर गीता को महत्त्व दिया और उसे वेदों, उपनिषदों का निचोड़ मानकर जनोपयोगी समझा तो दूसरी ओर उस समय प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा को छोड़कर मराठी के लोकभाषा के रूप को काव्य में प्रतिष्ठित किया। 'ज्ञानेश्वरी' और 'भावार्थ दीपिका' गीता की ओवीबद्ध टीकाएँ हैं, जो मराठी साहित्य के अद्वितीय काव्यग्रंथ है। इनके अभंगों में, मुख्यतः ज्ञान, कर्म तथा भक्तियों का प्रतिपादन हुआ है, साथ हीं अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है, जिसका प्रमाण उनका पहला ही अभंग है, '**ओं नमोजी आद्या। वेदप्रतिपाद्या। जय जय स्वसंवेद्य। आत्मरूप।**' अपने भक्तिपरक अभंगों में

१. सूरदास—आ० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २००

ज्ञानेश्वर ने गोपियों की विरहावस्था का मार्मिक वर्णन किया है। काव्य की दृष्टि से विट्ठल भक्त वारकरी संप्रदाय के संतों में नामदेव प्रवर्त्तक के रूप में आते हैं तो साथ ही एकनाथ का नाम भी उल्लेखनीय है। नामदेव की रचना सूर की तरह ही मुख्यतः पदों में हुई है, जिसमें कृष्ण की रासलीलाओं से संबंधित शृंगारप्रधान पद भी समाविष्ट हैं। नामदेव ने तो न केवल मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि की बल्कि हिंदी साहित्य में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। महाराष्ट्र में नामदेव का वही स्थान है, जो उत्तर भारत में संत कबीर और भक्त सूरदासजी का। सूर के समान वे भी एक सफल, प्रभावी कीर्तनकार थे। उनकी 'गौलणी' और 'विरहिणी' में शृंगार का परिपाक ही महत्त्वपूर्ण है फिर भी उसमें वासना की बू नहीं है। जनाबाई भी ज्ञानेश्वर के समकालीन थीं। अशिक्षित होते हुए भी उनका हृदय सुसंस्कृत था। उनके पदों में कृष्ण और गोपियों का संयमपूर्ण शृंगार है, जो दास्यभाव से परिपूर्ण है। जिस धर्म-संस्थापन का आरंभ संत ज्ञानेश्वर द्वारा हुआ है, तीन सौ वर्ष बाद उसी कार्य को संत एकनाथ ने अपनाया। महाराष्ट्रीय जनता एकनाथ को तो ज्ञानेश्वर का ही अवतार मानती है। लोकजागृति के लिए श्री एकनाथ का कार्य अपने आप में मराठी की एक महत्त्वपूर्ण निधि है। इन्होंने भागवत धर्म को अधिक उदार तथा मानवतावादी बनाया। एकनाथ की ही परंपरा में कवि दासोपंत, त्र्यंबकराज शिवकल्याण तथा रमावल्लभदास का नाम आता है। त्र्यंबकराज के 'बालबोध' शिवकल्याण के "नित्यानंदेवय दीपिका', 'रासपंचाध्यायी' तथा 'ब्रह्मस्तुति', रमावल्लभदास के 'चमत्कारी टीका' आदि काव्यों में कृष्ण-प्रेम की ही अभिव्यंजना हुई है। प्रस्तुत काव्य के अंतर्गत कृष्णभक्ति-परंपरा के अंतिम मुख्य कवि के रूप में तुकाराम का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने पांडुरंग भक्तिपरक असंख्य अभंगों की रचना की। इनके अभंगों में मानवतावाद के दर्शन होते हैं :

जे का रंजले त्यासी म्हणे जो आपुले।
तोचि साधु ओलखावा। देव तोचि जाणावा।

इनकी 'विरणिया' मराठी में बहुत प्रसिद्ध है, साथ ही कृष्ण तथा गोपियों को लेकर उन्होंने अल्पसंख्या में मराठी तथा हिंदी में कुछ अवलणें लिखी हैं। उनके आराध्य विठोबा गोपीनायक कृष्ण न होकर वात्सल्य से परिपूर्ण मातृरूप परमेश्वर हैं।

प्राचीन मराठी काव्य की अंतिम कड़ी के रूप में मुक्तेश्वर का नाम आता है, जिनकी महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध रचना 'महाभारत' मानी गयी है। लौकिक साहित्य की नींव डालने का महत्त्वपूर्ण कार्य इन्होंने किया। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में कृष्णोपासना के स्वतंत्र रूप से आरंभ में, विशेषतया गुजरात का ही हाथ था, जो महानुभाव पंथ के उदय में दिखायी देता है।

सारांश में कहा जाए तो मराठी की अपेक्षा हिंदी के कृष्णभक्ति कवियों की तुलना में अकेले सूरदास का साहित्य भी बहुत व्यापक है। मराठी तथा हिंदी के कृष्णभक्ति संप्रदायों की आधारभूत भिन्नता के कारण ही कृष्ण विषयक उनकी मान्यताओं में भी अंतर आ गया है। दोनों ने भागवत से ही प्रेरणा ली लेकिन हिंदी कृष्णकवियों ने उसके दशम स्कंध से, तो मराठी कृष्णकवियों ने एकादश स्कंध से। मराठी कृष्ण-भक्तकवियों ने गीता तथा महाभारत के कृष्ण को ही अपने काव्य का विषय बनाकर तत्कालीन समाज का मार्गदर्शन कर धर्म की स्थापना की अतः उन्होंने कृष्ण के योगेश्वर रूप का ही वर्णन काव्य में प्रमुखतया किया। अतः शृंगार तथा बाललीलाओं का वर्णन प्रसंगमात्र रूप में ही मिलता है। परिणामतः इनके कृष्णकाव्य पर राष्ट्रीयता का अनूठा रंग चढ़ा हुआ दृष्टिगत होता है। ठीक इसके विपरीत हिंदी कृष्णकाव्य बहुत ही व्यापक रूप में सामने आता है। वैसे देखा जाए तो मराठी की अपेक्षा हिंदी में कृष्ण के बहुविध अंगों का चित्रण नहीं हुआ है केवल बालरूप तथा उसके शृंगार रूप को ही अपनाया है, फिर भी वह अधिक व्यापक और भावों में अधिक सूक्ष्म हो गया है। साथ ही कृष्ण की मुरली, कृष्ण तथा गोपियों की रासलीला, उनके विरह तथा शृंगार का वर्णन प्रभावपूर्ण हुआ है। भ्रमरगीत तो हिंदी की, विशेषतया सूरदास की, मौलिक उद्भावना है, जिसका मराठी में पूर्णतया अभाव दिखायी देता है। इनके भ्रमरगीत का उद्देश्य डा० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में कहना हो तो, "ज्ञान के ऊपर भक्ति की, योग के ऊपर प्रेम की और निर्गुण के ऊपर सगुण की विजय स्थापित करना है। पुष्टिमार्ग अपने स्वरूप में योग, ज्ञान, कर्म, तप, यज्ञ आदि सभी की निरर्थकता सिद्ध करता हुआ भक्ति को ऊँचा पद देता है।" इस प्रकार मराठी तथा हिंदी के कृष्णभक्त कवियों ने जो काव्य लिखा, उसमें उद्देश्य की भिन्नता होते हुए भी दोनों में भक्ति का रूप प्रमुखतया दिखायी देता है। एक ही आराध्य को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखकर दोनों ने अपने-अपने साहित्य में भारतीय-संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया और तत्कालीन ही नहीं अपितु परवर्ती काव्य को भी बहुत सदियों तक प्रभावित किया है। धर्म के क्षेत्र में भी विशेषतः तत्कालीन निराश जनता में प्राण, चेतना भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य इन भक्त कवियों द्वारा हुआ, जो साहित्य और देश के लिए, एक देन के रूप में, एक परंपरा की निधि के रूप में निहित है। सूरसाहित्य तन्मयता के साथ भक्ति-रस में सराबोर होकर कृष्णकाव्य में सरसता के साथ संपन्न हुआ है तो मराठी कृष्णकाव्य भी भक्ति-भावना से संपृक्त होकर लोक-रक्षण करने वाले भगवान् कृष्ण की अलौकिकता को अभिव्यंजित करता है।

☐ डा० एन० चन्द्रशेखरन् नायर

सूरसाहित्य और मलयालम का कृष्णकाव्य

सूरसागर अथवा किसी भी भारतीय भाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य का मूलस्रोत भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति है। तदनंतर उसपर परंपरा का प्रभाव पड़ता है। भक्त होने मात्र से भक्ति-काव्य का उदय नहीं हो सकता, अभिव्यक्ति-कुशलता भी अपेक्षित है। हिंदी कृष्णकाव्य के प्रणेताकवि मूलतः भक्त थे, बाद में कवि। सूर-साहित्य की आत्मा स्वानुभूतिमय समर्पण-भाव में निहित है। पर यह आत्मसमर्पण मीराँ की गोपीभाव से लयीभूत मधुर-भक्ति तक सीमित नहीं है। मीराँ का भाव एकनिष्ठ होने से उनकी अनुभूति में तीव्र संवेद्यता तो है ही साथ ही उनके लिए कवित्त दूसरी वस्तु है। वे स्वयं अपने प्रभु की प्रेमिका थीं। लेकिन सूरदास के लिए यह असंभय था। वे इस स्थान पर भक्त मात्र थे पर राधा के अन्यतम प्रेम की परोक्ष रूप से अनुभूति कर सकते थे, उस प्रेम-जनित मधुर-भक्ति की संवेद्यता का अनुभव भी करा सकते थे।

सूरदास की भक्ति दास्य-भाव से प्रारंभ होती है। भगवान् की विभुता और अपनी लघुता का अखंड भाव लिए हुए वे विनय के गीत गाते थे। उनकी यह दास्य-भाव की अभिव्यक्ति उच्चस्तर तक पहुँची थी। उन्होंने स्वयं को भगवान् का मोल लिया हुआ दास माना है।[१] भगवान् के प्रताप से सूर निर्भय और सुखी हैं, यद्यपि वे अपने को बुरा कहते हैं। परंतु इससे क्या ? उनके अनुसार 'जो हम भले बुरे तो तेरे।'[२] प्रारंभ में इस दास्यभक्ति को अपनाते हुए भी सूरदास के विनय के पदों में भक्ति के नौ स्वरूप[३] दृष्टिगत होते हैं, जिसे चाहे परंपरा कहें अथवा स्वानुभूत सहज अवस्था कहें।

१. सूरसागर, १७१ २. सूरसागर, १७०

३. श्रीमद्भागवत ७।५।२३-२४

भक्ति के सुरक्षित पोत पर चढ़कर भवसागर की सुगम यात्रा करने का पूरा विश्वास एवं आत्मबल भक्तों को होता है। भक्ति-काव्य में भी यही संदेश प्राप्त होता है। हिंदी के कृष्ण-भक्त-कवियों की भक्ति का यही उद्गार मलयालम के कवियों द्वारा भी व्यक्त हुआ है। भक्तिकाव्य की स्वस्थ धारा ने मलयालम साहित्य को भी समृद्ध एवं प्रसिद्ध बना दिया। मलयालम में भी अनेक ख्यातिप्राप्त भक्तकवि हैं। निरणंकवि, चेरुश्शेरी नंपूतिरी, एजुत्तच्छन, पूंतानं नंश्तिरी, कुंचन नंपियार, रामपुरत्तु वारियर, कोटुंगल्लूर कुंचिक्कुट्टन तंपुरान, वैंमणि, रामवर्मा कोइत्तंपुरान, नटुवत्तु अच्छन आदि अनेक प्रसिद्ध कवि इस कोटि में आते हैं। लेकिन इन कवियों को सूरदास की भाँति एकदम भक्तों की श्रेणी में नहीं बिठाया जा सकता। सूरदास जैसे भक्त, कवि एवं गायक थे, वैसे ये मलयालम कवि भक्त एवं एकनिष्ठ गायक नहीं थे। ये मुख्यतः कवि थे, फिर भक्त। मंदिरों और देवालयों से भी किसी न किसी तरह संबंधित थे पर अपने परिवार से भी इनका संबंध था। इन कवियों के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण भी उपलब्ध नहीं है। मलयालम के कतिपय प्रमुख कृष्णकाव्यों और कवियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

निरणं कवियों में शंकर पणिक्कर के दो ग्रंथ मिलते हैं—'श्रीकृष्ण विजय' और 'भारतमाला'। प्रथम रचना का प्रतिपाद्य भागवत के दशम् स्कंध की कथाएँ हैं। दूसरे में भारत की कथाओं का संग्रह है। दोनों में कथाओं को संक्षिप्त रूप में ही दिया गया है। निरणं कवियों को कण्णश्शप्पणिक्कर नाम से भी पुकारा जाता है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रामप्पणिक्कर थे। इनकी रचनाओं में 'भारतम्' और 'भागवतम्' को कृष्णकाव्य के अंतर्गत लिया जा सकता है। निरणं कवियों का जन्मस्थान मध्य केरल में निरणं नामक क्षेत्र है। इस स्थान विशेष के साथ इनका नाम भी 'निरणं' पड़ गया। इनका जन्मकाल पंद्रहवीं शताब्दी है।

चेरूश्शेरी नंपूतिरी मलयालम के कृष्णकाव्य के कृतिकारों में लब्धप्रतिष्ठ हैं। इनका जन्मकाल सन् १४७५ से सन् १५७५ के मध्य माना जाता है। इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'कृष्णगाथा' और 'चेरुश्शेरी भारतम्'। केवल कृष्णगाथा रचकर आप महाकवि के उच्चस्थान के अधिकारी बन गए। इसका प्रतिपाद्य विष्णुभागवतम् के दशम स्कंध की कथा से संबंधित है। यद्यपि इसको विष्णुभागवतम् का अनुवाद ही माना जाता है तथापि यह रचना चेरूश्शेरी की काव्य-प्रतिभा का उत्तम निदर्शन है। अन्य मौलिक गुणों के साथ इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसके प्रस्तुतीकरण और गेयात्मकता में है। आधुनिक मलयालम का सरल एवं सुष्ठु रूप इसमें परिलक्षित है, यद्यपि यह रचना लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी। कोमलकांत पदावली से युक्त इस काव्य को मलयालम का सर्वोत्तम कृष्णकाव्य मानने में दो मत नहीं मिलेंगे।

तुंचन्तु रामानुजन एजुत्तच्छन मलयालम भाषा के परम आचार्य माने जाते हैं। एजुत्तच्छन शब्द का वाच्यार्थ विद्यादाता है। ये मलयालम के सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि थे परंतु मात्र कृष्णभक्त कवि नहीं थे। इन्होंने कृष्णकाव्यों के अतिरिक्त रामकाव्य और अन्य भक्तिकाव्यों का भी सृजन किया। ये उच्चश्रेणी के दार्शनिक थे। ब्रह्म संबंधी इनके विचार अत्यंत गंभीर और अगाध हैं। रामायण, भारत और श्रीमद्-भागवत जैसी रचनाएँ कवि के अद्‌भुत दार्शनिक पक्ष को प्रकट करती हैं। हरिनाम कीर्तनम्' केरल के जन-जन का भक्ति-कीर्तनम् है। 'भारत' का अनुवाद करते हुए एजुत्तच्छन ने मूल के अनेक अंश छोड़ दिए हैं, तथापि कृष्ण को केंद्र बनाकर पांडवों की कथा का ऐसा संयोजन इसमें किया गया है जिससे कृष्ण की दिव्यता और अपार्थिवता स्थापित हुई है। इस दृष्टि से एजुत्तच्छन को कृष्णभक्त कवि मानना आवश्यक हो गया है। कवि के कृष्ण अवतारी होते हुए भी निर्गुण हैं। जन-मन को मोहने वाले होकर भी निरंजन, आनंदकंद, परात्पर, सनातन, निश्चल, निरूपम, सदाशिव, अनन्य, अद्वय, परब्रह्म और निरामय हैं। वस्तुतः गीता का विराट् पुरुष भी यही है और यही विश्वव्यापी, आदिमध्यांतहीन, परमज्योति-परमपुरुष भगवान् सूरसागर में भी यत्र-तत्र भासित होता है।

भक्तकवि पूंतानं नंपूतिरी का मलयालम साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि पूंतानं भगवान् कृष्ण के अन्यतम भक्त थे और संपूर्ण जगत् में भगवान् को परिव्याप्त मानते थे। 'संतान गोपालम पाना', 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्', 'कृष्णलीला' आदि उनकी भक्ति रचनाएँ हैं। ये सब रचनाएँ सरल और सरस भाषा में रचित गेय कृतियाँ हैं। 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' में भागवत के दशम स्कंध के उल्लेखयोग्य सभी प्रसंगों का मनोहारी वर्णन मिलता है। ज्ञानप्पाना का प्रतिपाद्य आध्यात्मिक है, जिस पर उपनिषदों का प्रभाव है। अन्य रचनाओं में कृष्ण के स्तुतिगान हैं। पूंतानं नंपूतिरी का जन्म १५५५ में मालावार की वल्लुवनाटु तहसील में हुआ। उनके घर का नाम पूंतानं था। इसी नाम से वे पुकारे जाते थे।

कुंचन नंपियार की गणना भक्त कवियों में इसलिए होती है, क्योंकि इनकी अधिकांश रचनाएँ 'भागवत' और 'भारत' की प्रसिद्ध कथाओं अथवा घटनाओं के आधार पर हैं। बहुत मात्रा में कृष्णकाव्येतर रचनाओं के होने पर भी भागवत और भारत की कथाओं से इनकी रचनाओं के प्राणान्वित होने के कारण नपियार को कृष्णकाव्यकार मानने में आपत्ति नहीं है। नंपियार मलयालम की काव्यधारा में एक नई विधा के संस्थापक हैं। उन्होंने अपने काव्यों का प्रस्तुतीकरण कला के प्रदर्शन द्वारा ही किया है, जिसमें कथात्मक काव्य, नवीन नृत्त विद्या, अभिनय और इन तीनों की सुंदर अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित तालवाद्य का प्रयोग एक साथ किया गया है। नंपियार की प्रथम कृति 'श्रीकृष्णचरितम मणिप्रवालम्' एक ही रात में रचित है।

वे तत्कालीन समाज की विसंगतियों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे, इस कार्य के पोषक रूप में ही कृष्ण से संबंधित कथाएँ उन्होंने अपनायीं थीं। संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने पर भी उन्होंने मलयालम की ग्राम्य भाषा में अपनी रचना की। उन्होंने कथाओं के माध्यम से समाज की कुत्सित वृत्तियों, अनाचारों और विषमताओं से सभी को अवगत कराया।

रामपुरंतु वारियर का 'वंचिप्पाट्टु' (नौकागान) एक कृष्णकाव्य है। यह नरोत्तमदास के सुदामाचरित की तरह का खंडकाव्य है। वंचिप्पाट्टु का प्रतिपाद्य भी सुदामाचरित है। काव्य में कृष्ण और सुदामा के संबंध का सरस वर्णन हुआ है। यह काव्य नौकागान के उपयोग में आया और अत्यंत ख्यातिप्राप्त भी हो गया। केरल में प्रतिवर्ष नौका दौड़ की प्रतियोगिताएँ होती हैं। इस अवसर पर इसी गीत-काव्य का उपयोग किया जाता रहा है।

इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित अन्य अनेक काव्य मलयालम में रचे गए हैं। सन् १८५० से लेकर १६०० तक मलयालम में महाकाव्य का प्रचुर प्रणयन हुआ है। अनेक कवि इस काल में प्रसिद्ध हुए। उनके द्वारा भी भक्ति को प्रश्रय मिला। कोटुंगल्लूर कोच्चुण्णि तंपुरान का रचा हुआ एक महाकाव्य है 'पाण्वोदयम'। इसमें बाइस सर्ग हैं। पांडवों के अज्ञातवास से लेकर उत्तरा स्वयंवर तक की कथा इसमें आयी है।

महाकवि के० सी० केशवपिल्लै के महाकाव्य 'केशवीयम' का प्रतिपाद्य भागवत दशम स्कंध में वर्णित स्येमंतक (सत्राजित-प्रसेन की कथा) कथा है। इसी प्रकार माधव वारियर का महाकाव्य है 'माधव का महाकाव्य'। इसमें श्रीकृष्ण की कथा का प्रतिपादन है। कवि वेण्मणि नंपूतिरियों ने भी कृष्ण संबंधी श्लोक अत्यंत काव्यात्मक शैली में रचे हैं, जिन्हें मलयालम की निधियाँ मानना चाहिए। सन् १७२५ ई० में कुंचिकुट्टन तंपुरान नामक एक महाकवि ने तीन वर्षों के भीतर व्यासकृत महाभारत का मलयालम भाषा में अनुवाद किया। महाभारत का मलयालम में इतना सुंदर अनुवाद किसी ने नहीं किया। कण्णश्शन और एजुत्तच्छन ने महाभारत का अनुवाद किया था परंतु उन्होंने मूल कृति को अपनी इच्छानुसार लघु करके अथवा बदलकर उसका अनुवाद किया था। सहृदय जन उन्हें 'केरलव्यास' नाम से अभिहित करके उनका समादर करते हैं।

श्री रामवर्मा कोइत्तंपुरान (सन् १८५४ के निकट) की कृतियों में 'कुचेलवृत्तम मणिप्रबालम' और 'गीतगोविन्द' का भाषानुवाद भक्तिकाव्य की रचनाएँ हैं। 'कुचेलवृत्तम' की कथावस्तु सुदामा और कृष्ण की मैत्री के संदर्भ को लेकर है। कोइत्तंपुरान सुकवि एवं विद्वान् थे। उनका व्यक्तित्व प्रस्तुत काव्य द्वारा प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण के बालरूप का मनमोहक वर्णन इसमें है परंतु उस मुरलीधर मनोहर

गोपकुमार को कवि ने साधारण बाल-वर्णन में सीमित नहीं रखा है। मध्य में 'उपनिषद् के प्राण' जैसे संबोधनों से अपने बाल-गोपाल के यथार्थ स्वरूप को भी व्यक्त किया है।

नटुवत्तु अच्छन नंपूतिरी की रचना 'भगवद्दूत' एक नाटक रचना है। उसमें भगवान् कृष्ण का विश्वरूप-वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। एक अन्य नाट्य रचना है 'अक्रूर गोपालम'। इन दोनों पद्यमिश्रित रचनाओं में भक्ति का उदात्त एवं उच्च भाव प्रकट होता हैं। एक पद्य यहाँ दिया जाता है :

परब्रह्म पादं पनिञ्ञुल्लतामि-
प्परागं सरागं शिरस्सिंकलेवम।
धरिच्चीटुवानाय् तरं वन्न मूलम।
धरामण्डले ज्ञान् परं धन्यनायी।

गोकुल पहुँचे हुए अक्रूर अपने प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण के पदकमलों के स्पर्श से पवित्र धूल को भक्ति तथा अनुरागपूर्वक सिर पर धारण करते हुए कहते हैं—'परब्रह्म के पदस्पर्श से पुनीत इस पराग को अनुरागपूर्वक सिर पर धारण करने का यह जो अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, इससे मेरा जन्म धन्य हो गया और मैं परम धन्य हो गया हूँ।'

लगभग एक सौ वर्ष पूर्व तक के मलयालम साहित्य में भक्ति का जो स्रोत बहा था, उसका संक्षिप्त रूप ही ऊपर दिया गया है। पिछली एक शताब्दी से मलयालम पद्य-साहित्य का स्वरूप ही बदल गया है। यहाँ तक बहकर मानों भक्ति का स्रोत बिलकुल सूख गया।

भक्ति ईश्वर के सगुण स्वरूप को मानने पर आधारित है। किंतु हिंदी और मलयालम के ऐसे बहुत से कवि हैं, जिन्होंने सगुण-निर्गुण में अभेद स्थापित किया। अरूप भावना के साथ भक्ति का संबंध तत्त्वतः लुप्तप्राय हो जाता है। फिर साधक और ईश्वर में अभेद का भाव स्फुरित होने लगता है एवं साधक को महावाक्य प्रकरण का भावस्पर्श होने लगता है। इस प्रकार ज्ञान दिव्यानुभव में परिणत हो जाता है। परंतु सूरदास और मलयालम के कवियों ने तात्त्विक समर्थन के रूप में अरूप अथवा निर्गुण को माना है, अन्यथा अपने और ईश्वर के बीच के अभेद को अनुभव के बल पर स्पष्ट नहीं कर दिया। साधारणतः उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म कहा। आद्यंतविहीन और अंतर्यामी, अनंत और ज्ञानगम्य कहा। साथ ही साथ उन्हीं ज्ञान-गम्य भगवान् को अवतारी भी माना। भक्ति के इस स्वभाव को सभी भारतीय भक्त कवियों का विलक्षण साधर्म्य मानना पड़ रहा है। इन भक्त कवियों पर ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् का भी प्रभाव लक्षित होता है। तभी यह भक्ति वेदमार्गीय साधना-स्वरूप से समन्वित होती जाती है। इसी समान धर्म को पूर्णरूपेण मानकर

भी मलयालम कृष्णकाव्य और 'सूरसागर' का तुलनात्मक अध्ययन करना संभव होगा।

कृष्ण-भक्त काव्यों को उपर्युक्त तात्त्विक दृष्टि से परखने पर इन दोनों भाषा कवियों में असाधारण साम्य दृष्टिगत होता है; जैसे भक्ति के नवधा स्वरूप, अवतारी होने पर पूरा बल, भगवान् के लोकरक्षक एवं लोकरंजक स्वरूप का वर्णन, लीला-विवरण, अवतारमूलक सच्चिदानंद परब्रह्म का अरूप-निर्गुण वर्णन, भक्तप्रियता, हृदयशुद्धि पर जोर देना, भगवान् का अंतर्यामित्व, भगवान् की क्षिप्र प्रसन्न होने की प्रकृति, भक्ति एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के मार्ग में माया का बंधन आदि।

मलयालम के भक्त कवियों में राम, कृष्ण और शिव में भेद नहीं। उधर 'सूरसागर' का नवम सर्ग रामावतार को लेकर है, पर इस वर्णन में मानों कवि अधिक नहीं रमते। इसके लिए पुष्टिमार्गी होने का कारण बताया जाता है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का प्रभाव नवम स्कंध के रामवर्णन में नहीं है। मलयालम कृष्णभक्त कवियों में यह बाधा ही नहीं। उनके लिए 'अध्यात्मरामायण' ही मार्गदर्शक है। अध्यात्मरामायण में राम साक्षात् परब्रह्म ही का अवतार हैं। मलयालम के रामभक्त कवियों ने वाल्मीकि के राम को आधार नहीं माना है। राम के वर्णन में सूरदास का जो भाव लक्षित होता है, इससे विदित होता है कि मर्यादापुरुषोत्तम के रूप से अपने आराध्य को देखने में कवि उतने आकृष्ट नहीं होते, जितने अनंत कलानिधान कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप को चित्रित करने में आकृष्ट हैं, यद्यपि सूरदास और तुलसीदास दोनों में दास्यभक्ति का पुट मिलता है। अंतर यही है कि सूरदास की दास्यभक्ति का सूत्र 'सूरसागर' के अंत तक परिलक्षित नहीं होता। 'मानस' की बात इसके विपरीत है।

'सूरसागर' में दर्शित प्रारंभिक दास्य-भक्ति से अधिक बालकृष्ण की सख्य-भक्ति का व्यापक स्वरूप 'सूरसागर' के पश्चातवर्ती पदों में मिलता है। 'सूरसागर' का कवि वस्तुतः ब्रज और गोकुल के कृष्ण और यशोदा में अधिक केंद्रित मालूम होता है। इसलिए वह स्वभावतः अन्य रसों से अधिक वात्सल्य रस पर रम गया। मलयालम के चेरुश्शेरी, पूंतानम् और वेण्मणि नंपूतिरियों के वर्णन में सूरदास के इस बालपक्ष अथवा वात्सल्य रस का अधिक पुट मिलता है। वे बालगोपाल का वर्णन करते हुए वस्तुतः आत्मविभोर हो गए हैं। चेरुश्शेरी की कृष्ण गाथा में कृष्ण के मुरली बजाते समय की ब्रज की दशा देखिए :

'भ्रमरवृंद अपने अद्भुत पुष्प-रस को त्यागकर कृष्ण का गानामृत-पान करने के लिए उनके मुख पर जा लगा। कोकिलजाल मुरली-नाद सुनकर बेबाक हो गया। मधुसिक्त सुंदर मुरली-नाद को अपने गीत से बढ़कर मानकर मानो मौन हो उसे सीखने लगा हो। ब्रज के विविध प्रकार के सुकृती वृक्ष-वृंद कान्ह का वेणुनाद सुनकर मधु

सिंचित अपने सुरभित पुष्पों को बिखेरकर, डालियों को झुकाकर सादर खड़े हो गए। तेज बहने वाली कालिंदी नदी कृष्ण का मुरली-नाद सुनकर अपने अनेक वीची-करों को समेटकर निस्पंद रह गयी।'

पूंतानं नंपूतिरी के शब्दों में बाल-गोपाल का वर्णन देखिए : 'गोकुल में एक बालक है। उसके कर में एक छोटी मुरली है। बालक का नाम बाल कन्हैया है। उसके उदर पर धूल लगी है। बालक के दोनों पाणियों में नवनीत है। बालक के नन्हें पाँवों से कैसा नृत्य चलता है। बालक के पैरों में पायल हैं। बालक के पैर सुडौल-सुंदर हैं। बालक के निकट उसका बड़ा भाई है और सखा बालक चारों तरफ हैं।' अंतिम पंक्तियों में कवि कहते हैं—'शंकर भी ऐसा ही स्तुति-वचन करके वृंदावन के अमोघ आनंद का स्मरण करते हैं।'

कुंचन नंपियार ने भी बाल-गोपाल का मनोहर वर्णन किया है। यशोदा माता कृष्ण को हलधर और गोपाल सखाओं के साथ गायों को चराने के लिए वन भेजती हैं—'माँ यशोदा ने कृष्ण को अपने निकट बुलाया और मंद-मंद आलिंगन किया। घुँघराले बालों को खोलकर फिर ठीक तरह से बाँधा और मुख-पंकज को कोमल बनाया। पाँवों पर वलय बाँधे। बाघ के नाखून का वलय गले में डाल दिया। कटि-प्रदेश में काछनी बाँध दी और सुरभित पुष्पमाला वेणी बंधन में लगा दी। चरणों में मणिनूपुर बाँधकर कमलनयन को बिदा किया। बलदेव को भी उसी प्रकार अलंकृत करके साथ भेजा। हाथों में शृंग, मुरली आदि धारण करके गोपाल बालकों के साथ गौओं और उनके बच्चों को हाँकते हुए अग्रज समेत कृष्ण वन-वीथि में खेलने के विचार से तुरंत ही निकल पड़े। पद-पंकज में लगी हुई धूलि से कानन को एकदम पवित्र कर दिया और कानन मधुसूदन के उन पदरेणुओं से अत्यधिक शोभायमान हो गया। पुष्पराजियों में मधु वर्षा हुई। मधुप-वृंद ने मधुपान आरंभ कर दिया। मयूर और कोकिल मदोन्मत्त हुए। पर्वत और उनके शृंग, वृक्ष और तृण, मृग और वराह प्रमुदित हो गए। हरि और करि, बाघ और वराह, साँप और नेवला आदि परस्पर शत्रुभाव रखने वाले सब प्राणी नरकारि कृष्ण के आगमन के साथ ही आपस का वैर भूलकर निकट आने लगे।'

वेण्मणि अच्छन नंपूतरी यशोदा-स्तुति से युक्त बालकृष्ण वर्णन पढ़िए—'मेघ वर्ण कन्हैया हाथ में मुरली को लिए हुए ही खेल से निवृत्त होकर एकदम माता की गोद में आ बैठा और वर्द्धित रुचि के साथ माँ का स्तन्यपान कर रहा है। सुकृत निधि यशोदा खेल-कूद से थके हुए कृष्ण के कुम्हलाए हुए मुख से निकलने वाले स्वेदामृत की बूँदों को बार-बार पोंछती हैं। मैं उन पुनीत करों के आगे श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।'

'सूरसागर' में बाल-गोपाल का जो मधुर एवं सूक्ष्म वर्णन हुआ है, उसकी

विपुलता और कलावैभव एवं स्वाभाविकता की तुलना में संसार के किसी भी साहित्य में ऐसे संदर्भ का वर्णन बराबरी नहीं कर सकता। मलयालम के कवियों ने भी कृष्ण के बाल-लीला-वर्णन की ओर इतनी बारीकी से ध्यान नहीं दिया है। सूरदास ने बालसहज सभी भावों, चेष्टाओं और कथनों का हृदयहारी चित्रण किया है। इस नेत्रहीन कवि के अंतरनयन अपनी आराध्य मूर्ति का सहज एवं यथार्थ चित्रण करने में कितने सूक्ष्म तथा सर्वग्राही रहे थे, यह सोचकर रोमांच हो उठता है। इसके उदाहरण के दो-चार पद प्रस्तुत करना अपेक्षित मालूम नहीं पड़ता। उदाहरण तो असंख्य हैं। 'सूरसागर' के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध ऐसे पदों से भरा हुआ है। सूर का बालकृष्ण वर्णन अत्यंत मनोहर ही नहीं, मनोवैज्ञानिक भी है। इसमें स्वाभाविकता है। ये सारे वर्णन चित्र सम हैं। किसी चित्रण को लीजिए; कैनवास पर अंकित एक मनोहर चित्र पाइएगा। इतना संजीव, सुंदर, रससिद्ध और व्यापक भावप्रकाशन अन्यत्र कहाँ पाइएगा ?

जिस प्रकार हिंदी के भक्तिकाल को साहित्य का स्वर्णकाल कहते हैं, उसी प्रकार मलयालम की काव्य-गति में, जब से संस्कृत के संबंध से भाषा में रचना-निर्माण हुआ, उस काल की रचनाएँ भारतीय साहित्य की अखंडता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। मलयालम भाषा के परिनिष्ठिन स्वरूप का यही काल है अर्थात् चेरुश्शेरी, पूंतानं एजुत्तच्छन आदि इस निबंध में प्रतिपादित कृष्णकाव्य-कार कवि इसी काल में जीवित रहे थे। उण्णाईवारियर, कोट्टयम केरलवर्मा, मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरी आदि अनेक पंडित कवि उस युग के संस्कृत साहित्य से संबंद्ध कवि थे। इस काल की रचनाओं के दर्शन-पक्ष को मानकर इन्हें श्रेष्ठ भारतीय कवियों के आसन पर आरोहित कर सकते हैं। प्रतिभा, पांडित्य, अभ्यास, नवीन रचनापाटव, जीवनदर्शन आदि अनेक काव्यगत विशेषताओं के निष्कर्ष पर इन चर्चित कवियों को उच्चकोटि के कवि माना जाना चाहिए।

केरलीय भक्ति-साहित्य पर प्रस्थानत्रय का पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। प्रस्थानत्रय के केरलीय व्याख्याकारों में शंकराचार्य का मुख्य स्थान है। आचार्य के मायावाद का भी प्रभाव मलयालम और हिंदी भक्तिकाव्य पर लक्षित होता है। परंतु, फिर भी ईश्वर के सर्वव्यापित्व और महावाक्य प्रकरणों के बारे में भक्त कवियों में कोई विशेष मत-भेद दृष्टिगत नहीं होता। ईश्वर के अंश रूप आत्मा अथवा जीवात्मा को मानना, मनुष्य मात्र में उसका स्फुरण देखना, इस 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव प्राप्त करने के लिए मनःशुद्धि, सत्कर्म तथा अभ्यास को अंगीकार करना और अंततोगत्वा आत्मा-परमात्मा में ऐक्य स्थापित होने की भावना को मानना इत्यादि भक्ति के क्षेत्र में भी विवाद के विषय नहीं रहे हैं। किंतु इस आत्मा-परमात्मा के ऐक्य के मार्ग पर माया के कर्तृत्व को लेकर नए-नए विचार अवश्य उठे। दैहिक

जीवन में माया का अवरोध असंख्य क्षेत्रों और रूपों में मानना पड़ा है। माया-जनित त्रिविध दुःखों की अवस्थिति का आभास व्यक्त किया गया। पर आलोच्य विषय तो यह है कि इन वेदांतपरक विषयों के साथ भक्ति का समावेश कर देने में भारतीय दार्शनिक कवियों ने कोई कसर उठा नहीं रखी है। शांडिल्य भक्तिमार्ग अथवा नारद भक्तिसूत्र की अंतर्धारा भारतीय वेदांत में आत्मसात् की जा सकती है। संक्षेप में चाहे, भक्ति हो, चाहे योग; चाहे दर्शन हो चाहे ज्ञान; सबके मूल में एक ही अंतर्धारा का प्रवाह दौड़ पड़ता है। मेरा यह विश्वास है कि हिंदी और मलयालम के कृष्ण-काव्य के मूल के यही दार्शनिक अंतर्धारा काम करती है। सूरसागर और एजुत्तच्छन की रचनाएँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं। अधिकांश मलयालम कवियों की रचनाओं में भक्ति के माधुर्य, दास्य, सख्य आदि सरल एवं सुगम मार्गों का प्रकटीकरण हुआ है। चर्चित काव्यों एवं कृतिकारों के अतिरिक्त मलयालम के अनेक लोकनृत्य एवं दृश्यकलाएँ हैं, जिनमें कृष्ण के अवतार-कार्य का वर्णन सरस एवं मार्मिक रूप में मिलता है।

☐ डा० एन० एस० दक्षिणामूर्ति

सूरसाहित्य और कन्नड़-कृष्णकाव्य

देवनदी गंगा के समान प्रवाहित भक्तिधारा भारतीय साहित्य की महती विशेषता है। परमज्ञानी सिद्ध पुरुष श्री आद्यशंकराचार्य ने श्री विष्णुसहस्रनाम भाष्य में 'पवित्राणां पवित्रं···' [श्लोक १०] की व्याख्या करते हुए लिखा है कि परमात्मा अपने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से संसारबंधन के हेतुभूत पुण्य-पाप रूपी कर्म तथा उसके कारण अज्ञान सबको विनष्ट कर देता है।[१] हमारे भक्त कवियों ने इस परम रहस्य को जानने के कारण भक्ति से वाणी का श्रृंगार कर जनता के लिए तारण का अमोघ मार्ग सुलभ कर दिया है। 'कलौ केशवकीर्तनम्' के रहस्योद्घाटक, चाहे किसी भी भाषा के क्यों न हों, वंद्य हैं, आदरणीय हैं।

भक्ताग्रगण्य महात्मा सूरदास का 'सूरसागर' हिंदी-साहित्य की अमूल्य निधि है, जो संसारसर्पदष्टों के लिए कृष्ण-मंत्र का भेषज है। कीर्तन-काव्य के रूप में, रस के आगार के रूप में, एक ऋषि कवि की गरिमामय तपःसाधना के रूप में 'सूरसागर' की गणना की जाती है, उसकी यशोदीप्ति उसके कवि के महान् व्यक्तित्व को अनंत-काल तक दीपित रख सकती है। कृष्णचरित-गायन के द्वारा सूरदास जी ने साहित्य-जगत् में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ कीं, जिनका अनुकरण उनके परवर्ती कवियों ने किया। वे ब्रजभाषा की नूतन गेय-काव्य-परंपरा के स्थापनाचार्य हैं; उनका ग्रंथ विभिन्न राग-रागिनियों का अमूल्य भाण्डागार है। संगीत और साहित्य को उनकी देन अद्भुत व अनुपमेय है। हिंदी-कृष्ण-काव्य प्रणेताओं में उनका निश्चय ही सर्वोच्च स्थान है।

कन्नड़ में उपलब्ध जैन परंपरा तथा हिंदू परंपरा का कृष्ण-साहित्य उसके

१. संसारबंधहेतुभूतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म तत्कारणं चाज्ञानं सर्वं नाशयति स्वयायात्म्य-ज्ञानेनेति। —श्री विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य, गीता प्रेस, पृष्ठ १७

द्वैविध्य का द्योतक है। वस्तु, आदर्श, मान्यता, दर्शन आदि की दृष्टि से हिंदू परंपरा के कृष्ण-काव्यों के साथ 'सूरसागर' की तुलना करना यहाँ अभीष्ट है। विषय की व्यापकता की दृष्टि से भी यहाँ जैन-काव्यों की चर्चा आवश्यक नहीं मानी गयी है।

रुद्रभट्ट का 'जगन्नाथविजय' सर्वप्रथम उल्लेख्य कन्नड़-कृष्ण-काव्य है। बारहवीं शती के कन्नड़-कवियों में रुद्रभट्ट का अन्यतम स्थान है। वे वीरबल्लाल (समय ११७३-१२२० ई०) के मंत्री चंद्रमौली के सम्मान के पात्र बने थे। उन्होंने विष्णुपुराण के आधार पर कन्नड़ में 'जगन्नाथविजय' का प्रणयन किया। उनका दूसरा ग्रंथ 'रसकलिके,' जो लक्षण ग्रंथ माना जाता है, आज उपलब्ध नहीं है। काव्य-स्वरूप की दृष्टि से 'सूरसागर' और 'जगन्नाथविजय' में अंतर है। 'सूरसागर' मुक्तक काव्य है तो 'जगन्नाथविजय' प्रबंधकाव्य है। वह अठारह आश्वासों का चंपू शैली में रचित महाकाव्य है, उसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर बाणासुर के युद्ध तक का वर्णन है। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से वह एक उत्तम काव्य माना गया है। संस्कृत पद भूयिष्ठ कवि की शैली उनको पंडित घोषित कर रही है। परंतु शैली में काठिन्य नहीं है, पाठकों को रसानंद में निमग्न करने की शक्ति उसमें है।

'सूरसागर' का आधार श्रीमद्भागवत है तो रुद्रभट्ट के ग्रंथ का आधार विष्णुपुराण है। सूरदास ने भागवत का आधार ग्रहण करते हुए भी नई उद्भावनाएँ की हैं, इस कारण उनका ग्रंथ मौलिक ही माना जाता है। रुद्रभट्ट का काव्य पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए भी सरस और हृदयग्राह्य है। विष्णुपुराण के पंचमांश में वर्णित कृष्ण-कथा काव्य-सौंदर्य से परिपूर्ण नहीं है, उसमें पुराण-कवि के दर्शन मात्र हमको उपलब्ध हैं। परंतु रुद्रभट्ट के ग्रंथ में प्रत्येक प्रसंग रसपूर्ण तथा कवि-प्रतिभा का निदर्शक सिद्ध होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूरदास एवं रुद्रभट्ट दोनों रससिद्ध कवि हैं, उनका दृष्टिकोण पुराण कवियों के दृष्टिकोण से भिन्न है।

सूरदास और रुद्रभट्ट दोनों के काव्य भक्ति के पावन स्थल हैं। भक्ति का वर्णन करते समय दोनों कवि समाधि की स्थिति का अनुभव करते हैं। उनके काव्य का पठन करने वाले पाठक भी उन्हीं भावों में लीन हो जाते हैं। फिर भी, सूर और रुद्रभट्ट की भक्ति के विधान में अंतर है। यद्यपि सूर में स्वाभाविक कवि-प्रतिभा है, तथापि हम उनको सर्वप्रथम भक्त के रूप में देखते हैं, बाद में कवि के रूप में। किंतु रुद्रभट्ट पहले कवि गिने जाते हैं, बाद में भक्त। कवि के रूप में ही कन्नड़-साहित्य में उनको प्रभूत यश प्राप्त हुआ है। एक अंतर और भी है कि रुद्रभट्ट को संगीतज्ञ होने का गौरव प्राप्त नहीं है, भले ही उनके कुछ पद्य संगीत की माधुरी से परिपूर्ण क्यों न हों। संगीत को सूर की अनुपम देन है, यह उनकी ही विशेषता है।

सूरदास के काव्य में प्रकृति की मनोहरता का वर्णन है, यद्यपि उसका

संश्लिष्ट वर्णन उतना अधिक नहीं है । रुद्रभट्ट भी प्रकृति-प्रेमी कवि हैं । उनके काव्य में प्रकृति का सुषमापूर्ण चित्रांकन है । कवि-समय के अनुसार उन्होंने कई वर्णन किए हैं । कथानक की दृष्टि से विचार करें तो सूर और रुद्रभट्ट के काव्यों में कई समानताएँ हैं और विभिन्नताएँ भी । दोनों कवियों के दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण विभिन्नताओं का होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है । शैली-भेद भी विभिन्नताओं का एक कारण है । रुद्रभट्ट का काव्य 'जगन्नाथविजय' है—जग के प्रभु की विजय है जब कि सूर का काव्य रस का सागर, हरि की लीलओं का आगार है । विजय-भेरी का निनाद करने वाले कवि में नियमितता की शृंखला है, रस-सागर लहराने वाले कवि में स्वातंत्र्य की प्रदीप्ति है, इस कारण उसमें विकुंचन और विस्तार दोनों की सीमारेखा निर्धारित नहीं हो सकती ।

श्रीकृष्ण के एकोत्तरशत कृत्यों का वर्णन रुद्रभट्ट के काव्य के कथानक की विशेषता है । किसी लिपिकार ने रुद्रभट्ट के काव्य के अंत में संस्कृत में इनका विवरण इस प्रकार दिया है— "······श्री जगन्नाथविजय महाबंधे प्रथमं तावत्सुरज्येष्ठविज्ञापनम्, सुधार्णवावतरणोद्योगः, बलभद्रावतारः, कृष्णोत्पत्तिः, बाललीलाविनोदः, पूतनावधः, शकटासुरभंजनम्, यमलार्जुनोन्मूलनम्, वत्सगोपालविनोदः, कालिय सर्पदर्पदलनम्, पयोधरागमनम्, धेनुकनिर्धूननम्, प्रलम्बनिशुम्भनम्, शरतकालागमनम्, गिरियज्ञः, गोवर्धनोद्धरणम्, शुक्रागमनम्, गोविंदाभिषेकः, रासक्रीड़ा प्रारम्भः, रासकेलिः, पुंगवासुरसंहरणम्, केशिमयनम्, अक्रूरदर्शनम्, यमुनाहृददर्शनम्, विश्वरूपदर्शनम्, रजकासुरप्रहरणम्, धनुर्भंगः, कुवलयापीडनिष्पीडनम्, चाणूरमल्लमथनम्, मुष्टिकामल्लमथनम्, कोसलकादिमथनम्, कंसध्वंसनम्, उग्रसेनाभिषेकः, पाकशासनसभाकर्षणम्, गुरुपुत्राहरणम्, मकराकरालोडनम्, पंचजनन्यम्, पांचजन्यलांछनम्, नंदकागमनम्, सुदर्शनसमागमः, शाङःप्राप्तिः, कौमोदकी समागमनम्, जरासंधयुद्धम्, परशुरामदर्शनम्, गोमंतदुर्गारोहणम्, तद्दुर्गदहनोपशमनम्, विपक्षाक्षौहिणीचतुर्विशंतिनाशनम्, जरासंधप्रमुखमकुटभंगः, सृगाल वधः, दिव्यरथोपलब्धिः, दर्पिष्ठ नृपसमोच्चाटनम्, राजराजाभिषेकः, दंतवक्रविक्रमडम्बरः, दंतवक्रसंहरणम्, द्वारकानगरनिर्माणम्, तत्पुरप्रवेशः, नारदागमनम्, रुक्मिणीरूपप्रशंसनम्, तदग्रजयुद्धम्, रुक्मिणीविवाहः, सत्यभामाविप्रलम्भः, तदीयविवाहः, अष्टोत्तरशतसतीस्वीकरणम्, नाकजेन्द्रागमनम्, नरकासुराडम्बरः, तद्वधः, षोडशसहस्र दिव्यकान्तास्वीकरणम्, विबुधजननीकुण्डलप्रदानम्, रुक्मिणीपुण्यव्रतम्, प्रद्युम्नादिसहस्रकुमारोत्पत्तिः, नारददत्तपारिजातप्रसूननिमित्त, सत्यभामाप्रणयकलहः, पारिजातापहरणम्, सत्यभामापौलोमीसोपहासवचनम्, सुरेश्वरापजयः, त्रिपुरांतकदर्शनम्, हेमन्तशमयावाप्तिः, शिशिरोपगमनम्, वसन्तसेवनम्, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, षट्पुरेशमथनम्, शिशुपालाडम्बरः, मंत्रालोचनम्, युधिष्ठिरराजसूयनिरीक्षणार्थमिन्द्रप्रस्थप्रयाणम्, रैवतकादिविभवः, तत्तपोवनवर्णनम्, इंद्रप्रस्थपुरप्रवेशः, जरासंधहरणम् रात्रिविहारः, शिशुपालवधः, निदाघकालप्राप्तिः, बाणपुत्री-

मदनपुत्रसंयोगः, अन्धकरिपुयुद्धम्, स्कन्दयुद्धम्, बाणासुरभुजसहस्रच्छेदनम्, रिपुभ्रमणम्, पुरस्तम्भनम्, साल्ववधः, द्वारावतीप्रवेशः इत्येकोत्तरशतकृत्यानि। कथानक के इस रूप के साथ 'सूरसागर' की कथा की तुलना करने पर यह विदित होगा कि गीतात्मक शैली में प्रणीत होने के कारण 'सूरसागर' की कथा में ऐसी व्यवस्था नहीं है। 'जगन्नाथविजय' में प्रबंधात्मकता के अनुरूप प्रसंगों का कथन हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि 'जगन्नाथविजय' में 'सूरसागर' की भाँति न तो राधा का प्रवेश हुआ है, न भ्रमरगीत प्रसंग का ही वर्णन है। 'भागवत' का आधार न ग्रहण करने के कारण रुद्रभट्ट ने भ्रमरगीत प्रसंग को छोड़ दिया होगा अथवा उनका दृष्टिकोण श्रीकृष्ण की दिग्विजय दिखाना रहा होगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' में लीला का विस्तार और श्रीकृष्ण के बालरूप तथा यौवनरूप का प्राधान्य है तो 'जगन्नाथविजय' में श्रीकृष्ण के बालरूप के वर्णन के साथ-साथ उनके लोकसंग्रहात्मक कृत्यों का विशद् वर्णन है। सूर के कृष्ण के समान ही रुद्रभट्ट के कृष्ण भी लौकिक तथा अलौकिक गुणों से संपन्न हैं। वे कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं, सर्वथा कर्तुं समर्थ हैं। लोककंटक दानवों का संहार उनके लिए लीला है। वे अवतार-पुरुष हैं। उनके अवतार के रहस्य का उद्घाटन उनके लोककल्याण के कार्यों द्वारा हुआ है। चर्म-चक्षुओं के लिए वे सामान्य पुरुष हैं, अंतःचक्षुओं के लिए अगन्नाथ हैं, जगत् के सूत्रधारी हैं। काव्य के प्रारंभ में ही कवि ने हरि के सर्वोत्तमत्व का उद्घोष किया है।

'सूरसागर' में वात्सल्य और शृंगार का विस्तार है, परंतु यह भूलना नहीं है कि इनका भी केंद्रबिंदु भक्ति ही है। 'जगन्नाथविजय' में भी वात्सल्य के उत्कृष्ट चित्र मिलते हैं, शृंगार भी प्रसंगानुसार वर्णित है। परंतु, इन दोनों का भी प्राधान्य नहीं है। भक्ति केंद्रबिंदु अवश्य है। उसमें स्थायी भाव उत्साह की पुष्टि होने के कारण काव्यात्मक दृष्टि से उसका अंगीरस वीर माना जाना चाहिए।

बालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में दोनों कवियों की चित्तवृत्ति रमी है। गोप वनिताएँ बालकृष्ण को पालने में सुलाकर लोरी गाती हैं, इसका वर्णन रुद्रभट्ट इस प्रकार करते हैं :

उरदमे तोट्टिलागे भुवनत्रयमं नेरे तालिद देहिव-
गंदं कृतपापपुण्यफलमं सते तूगुव कर्मसाक्षियं
पदुलदे तोट्टिलोल् पडिसि तूगिदरच्युत जो महात्म जो
सदमलबोध जो परम जो हरि जो येनुतं लतोगियर् ॥[1]

अर्थात् उदर के पालने में भुवनत्रय को लटकाकर देहधारियों से आचरित पाप-पुण्य के फल को झुलाने वाले या तोलने वाले कर्मसाक्षी को पालने में सुलाकर

१. जगन्नाथविजय १/३२

वनिताएँ झुलाती हुई गाने लगीं—अच्युत ! सो जा ! महात्मा, सो जा ! सदमल बोध, सो जा ! परम पुरुष, सो जा ! हरि, सो जा ?

यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक दोनों रूपों का अच्छा वर्णन किया है। वस्तुतः उस परम पुरुष का रहस्य यही है कि उन्होंने भक्तों के हित के लिए नाना वेष बनाए हैं। सूर का निम्नांकित पद यहाँ तुलनीय है :

पालनैं गोपाल झुलावैं ।
सुर-मुनि-देव कोटि तैंतीसौ, कौतुक अंबर छावैं ।
जाको अंत न ब्रह्मा जानै, सिब-सनकादि न पावैं ।
अब सो देखौ नंद-जसोदा, हरषि हरषि हलरावैं ।
हुलसत, हँसत, करत किलकारी, मन अभिलाष बढ़ावैं ।
सूर स्याम भक्तनि हित कारन, नाना भेष बनावैं ।[1]

बालकृष्ण के चलने की रीति का वर्णन रुद्रभट्ट ने अत्यंत मार्मिकता के साथ किया है :

ओन्दडियनिट्टु हरि मत्तोन्दडियेत्तुवागलुं विक्रमना—
दंदिन संस्कारं विडदेन्देने बगेगोलिसिदं तलर्नडेवेडेयोल् ।[2]

अर्थात् एक पग रखकर दूसरा पग रखते समय हरि कंपित पगों से इस प्रकार दिखाई पड़े मानों त्रिविक्रम का संस्कार नहीं छोड़ रहे हों। सूरसागर का यह वर्णन यहाँ स्मरणीय है :

चलत देखि जसुमति सुख पावै ।
ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै ।[3]

दूध न पीने वाले बालक को मनाने वाली माता की बातों का वर्णन दोनों कवियों ने सहृदयतापूर्वक किया है। कृष्ण की माखनचोरी के सुंदर दृश्य भी दोनों कवियों के काव्य में हैं। माटी-भक्षण-प्रसंग से संबंधित, संभाषण शैली में निबद्ध 'जगन्नाथविजय' का यह पद्य देखिए :

हरि नीं मण्दिंदे, तिन्ने जननि, पुसिदनेम्मग्रजं, तोरु वक्त्रां
तरमं, नोडेन्दु बायं तेरेवुदुमदरोल् वारियेलुं कुलोर्वी
धरवेलुं, द्वीपवेलुं बेरसु जगमनीरेलुमं कूडे कंड—
च्चरिबट्टे मुच्चुमुच्चाननमनेनुतुमा कांते विभ्रांतेयादल् ॥[4]

अर्थात् हरि : तू ने मिट्टी खायी ? 'नहीं माँ, भाई ने झूठ कहा हैं', 'दिखा अपना मुँह', 'देखो' कहते हुए (श्रीकृष्ण ने) मुँह खोला तो उसके भीतर सप्त समुद्र,

१. सूरसागर, ६६३ — २. जगन्नाथविजय, ३/४२
३. सूरसागर, ७४४ — ४. जगन्नाथविजय, ३/६३

सप्तद्वीप इन सब को एक साथ देखकर साश्चर्य यह कहती हुई कि 'बंद कर, बंद कर, अपना मुँह' वह रमणी (यशोदा) विभ्रांत हो गई।

बालविनोद के ऐसे मनोहारी चित्र सूरसागर में भी हैं।[१] बाल-मन के पारखी कवियों की कुशल अभिव्यंजना पाठकों को रसमग्न करने में सर्वथा समर्थ हैं। इनके चित्र सदा अविस्मरणीय हैं। उत्तम कला और दार्शनिक सुरभि से परिपूर्ण इन कवियों के काव्य अखंड यश के अधिकारी हैं।

रुद्रभट्ट के बाद 'कन्नड़-भागवत' के प्रणेता चाटुविट्ठलनाथ का नाम यहाँ लिया जाना चाहिए। वे विजयनगर के नरेश श्रीकृष्णदेव अच्युतराय के आश्रय में रहे थे। उनका कन्नड़-भागवत कन्नड़ के प्रसिद्ध छंद भामिनी षट्पदी में लिखा गया है। इस ग्रंथ के संपादक प्रो० के० वेंकटरामप्पा के मतानुसार इसका रचनाकाल १५०० ई० के आसपास माना जा सकता है। कतिपय हस्तलिखित ग्रंथों में 'चारु विट्ठलनाथ' पाठ भी मिलता है। कुछ विद्वान् इनको सदानंद योगी से अभिन्न व्यक्ति स्वीकार करते और मानते हैं कि 'नित्यात्मशुक' कवि का विरुद अथवा उपनाम है। ग्रंथ में सर्वत्र अच्युतारण्य यति की प्रशंसा होने के कारण संभवत: वे उनके शिष्य थे।[२]

'कन्नड़-भागवत' संस्कृत-भागवत का अनुवाद होते हुए भी कन्नड़ की छाप से युक्त है। बारह स्कंधात्मक इस ग्रंथ में बारह सहस्र से भी अधिक पद्य हैं। उसमें तो कृष्ण की कथा का सविस्तार वर्णन तथा भक्ति का निरूपण है। यह कहा जा सकता है कि भागवतकार का उद्देश्य 'कन्नड़-भागवत' में प्रतिफलित हुआ है। कवि के शब्दों में, यह कन्नड़-कृत्ति है, इस भावना से इसकी अवज्ञा नहीं होनी चाहिए। दर्पण को आइना कहने से उसमें क्या न्यूनता हो जाती है? अपने मुख का संदर्शन ही उसका फल है न! रचना में भाषा-भेद के कारण हरि-गुण-चरित-वर्णन में क्या न्यूनता होगी भला![३]

कवि ने ग्रंथ-रचना के लिए जो छंद चुना है, वह सर्वथा लोकप्रिय छंद है।

---

१. द्रष्टव्य सूरसागर, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४

२. कन्नड़-भगवत के कवि के विषय में पर्याप्त चर्चा हुई है। 'कर्णाटक कविचरिते' के लेखक स्व० आर० नरसिंहाचार्य जी ने चाटु विट्ठलनाथ को इसका कवि स्वीकार किया है। श्री बेटगेरि कृष्णशर्मा ने लिखा है कि कन्नड़-भागवत के पाँच कवि हैं—आराध्येन्द्र अथवा नित्यात्मनाथ, विद्यायोगी अथवा विद्यानाथ, सदानंद योगी, निर्वाणनाथ एवं चाटु विट्ठलनाथ। प्रो० के० वेंकटरामप्पा जी चाटु विट्ठलनाथ को ही इस ग्रंथ का कवि माना है।

द्रष्टव्य—(१) श्रीकृष्ण चरिते (संपादक—के० वेंकटरामप्पा), मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९५५, भूमिका, पृ० १०-१३

(२) डा० एन० एस० दक्षिणामूर्ति : कर्नाटक और उसका साहित्य, पृ० १६१

३. श्रीकृष्ण चरिते, १/४

उसमें गेय गुण हैं, कर्नाटक संगीत की गमक शैली में भागवत के पद्यों को गा सकते हैं। 'सूरसागर' जैसे अनेक राग-रागिनियों का भंडार है, वैसा तो यह ग्रंथ नहीं है, फिर भी जनता पर इसका न्यूनाधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। वस्तुतः कन्नड़ में भागवत की अपेक्षा रामायण और महाभारत ही अधिक लोकप्रिय हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'कन्नड़-भागवत' में संस्कृत-भागवत के समस्त अंश विद्यमान हैं। 'सूरसागर' में जैसे कुछ प्रसंगों का विस्तार है, वैसे इस ग्रंथ में नहीं है। इसका रूप अत्यंत व्यवस्थित है, अतः यह एक प्रबंधकाव्य का आनंद प्रदान करता है। इसमें हम सामान्य कवि-प्रतिभा का अवलोकन कर सकते हैं। कला की दृष्टि से यह 'सूरसागर' के समान सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है। तथापि इसमें भक्ति की निर्मल धारा सर्वत्र बही है, अतः यह ग्रंथ अनादृत नहीं हो सकता। मूल संस्कृत का अनुकरण होने के कारण 'सूरसागर' के समान इसमें राधा की आवतारणा नहीं हुई है और भ्रमरगीत की नूतन उद्भावना नहीं है। हाँ, कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन कवि ने सहृदयतापूर्वक किया है। सूर के कृष्ण के समान ही कन्नड़-भागवत के कृष्ण लौकिक तथा अलौकिक गुणों से संपन्न हैं। वे पुरुषोत्तम हैं, परब्रह्म हैं। बाललीला के प्रसंग में कवि ने कृष्ण के अलौकिक रूप के दर्शन इस प्रकार किए हैं—'एक दिन निज बालक को नंदभामिनी ने आनंद और अनुराग के साथ गोदी में लिया, बड़े प्यार से उसको स्तन्यपान कराया। लीला से स्तन्यपान कर अधाए हुए बालक का मुँह देखकर उसे चूम लिया, उस महिमामय को बगल में बैठाकर माता दुलारती रही, (उस समय) लक्ष्मी करांबुज लालितांघ्रि के मुँह खोलने से उसमें रमणी ने ब्रह्मांडमंडल को देखा। भूमि, आकाश, समस्त दिविज समूह, नक्षत्र, ग्रह, अनल, चंद्र, सूर्य, मंडल, नदी, गिरि समूह, सप्त द्वीप, सागर, कानन, देश, ग्रामजन सहित सकल चराचर जीव, पशु-पक्षी-मृग, वन-निकर, गोकल-वन, गोकुलजन इन सबको तथा अपने को भी उसके मुँह में देखकर साश्चर्य सोचने लगी कि यह कैसा सुकृत है और कंपित हुई···विभ्रांत हुई।[1] 'सूरसागर' में भी ऐसी आश्चर्यजनक घटनाओं का वर्णन है। माटी-भक्षण प्रसंग में यशोदा कृष्ण के मुँह में अखिल ब्रह्मांड को देखकर स्तंभित रह जाती हैं :

अखिल ब्रह्मंड खंड की महिमा दिखराई मुख माँहि।
सिंधु-सुमेर-नदी-वन-पर्वत चकित भई मन चाहि।
कर तैं साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।
सूर कहै जसुमति मुख मूँदौ, बलि गई सारँगपानी।[2]

राक्षसों का संहार उस लीला-मानुष-विग्रह के लिए खेल है। परंतु, विशुद्ध

---

१. श्रीकृष्ण चरिते (सं० के० वेंकटरामप्पा), ४/४२ से ४५ तक।
२. सूरसागर, ८७३

भाव से पूजा करनेवाले सत्पुरुषों को मुक्ति प्रदान करने में भगवान् की कोई महानता नहीं है, विष पिलाने के लिए आयी हुई भावदुष्टा (पूतना) को मुक्ति प्रदान करने में निश्चय ही उनकी महानता है।[1]

नंद के आँगन में खेलने वाले कृष्ण-बलराम का वर्णन कन्नड़-भागवतकार ने मनोहर रूप में किया है। क्षुद्र घंटिकाओं की छवि, सुंदर अलकावली की कांति, कर्णाभरण-दीप्ति तथा कंकण के क्वणन से भूषित भूषण वाले गोविंद-राम आँगन में लीला करते हुए लसित थे। उनके रूप का आलंकारिक वर्णन कवि के शब्दों में सुनिए :

श्वेतनील महाद्रिगलु मन—
वोनु नर शिशुतनवनांती—
भूतलदोलुदिसिदवो मेणु सितासित द्युतियो
ख्यात रत्नद्वयवो जंगम
जात तरुण सुरद्रुमंगलो
चेतनात्मकरेसेदरुपमातीतरेन्देनिसि।[2]

अर्थात् वे चेतनात्मक उपमातीत होकर इस प्रकार शोभायमान हुए कि मानो श्वेत-नील महाद्रि शिशु-तनु धारण कर चुके हों अथवा सित, असित द्युति हों (किंवा) रत्न द्वय हों, (अथवा) जंगम जात तरुण सुरतरु हों।

यहाँ प्रयुक्त उत्प्रेक्षा और संदेहालंकार रसास्वादन में सहायक हैं। सूर के काव्य में तो ऐसे अलंकारों का मनोमुग्धकारी प्रयोग द्रष्टव्य है। उन्होंने कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन करते समय इन अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। मथुरा की नारियों के मुख से राम-कृष्ण का वर्णन सुनिए :

वे देखौ आवत दोऊ जन।
गोरे स्याम नट नील पीत पट, मनहु मिले दामिनि-घन।
लोचन बंक बिसाल कमल दल, चितवन, चिते हरत सबकौ मन।
कुंडल स्रवन कनक मनि भूषित, जटिल लाल अति लोल मीन तन।
चंदन चित्र बिचित्र अंग पर, कुसुम सुबास धरे नँदनंदन।[3]

कविजन प्रायः सौंदर्य-प्रेमी होते हैं। कन्नड़-भागवतकार की रचना में सौंदर्य का वर्णन अवश्य है, पर 'सूरसागर' जैसा सौंदर्य-वर्णन उसमें अलभ्य है। सूर सौंदर्य के जीव हैं। उनके वर्णन अनुपम तथा स्थायी महत्त्व के हैं। 'सूरसागर' के समान ही

१. श्रीकृष्ण चरिते, ४/१९
२. श्रीकृष्ण चरिते, ४/५१
३. सूरसागर, ३६५४

'कन्नड़-भागवत' भी नाना रसों का निलय है। इसमें प्रसंगानुसार रसों का पोषण हुआ है। भयानक रस से संबंधित एक दृश्य देखिए, जिसमें मेघाडंबर का सहज चित्रण है :

आडिद्वु मिंचुगलु नभदलि
कूडे कत्तलिसितु कल्पद
केडिनंददवोलु गोकुलदेण्टु दिक्किनलि
झाडिसिदुवभ्रदलि गालिग
लीडिरिदुदोरंते सले होडे—
दाडिदुवु बरसिडिलु सुरिदुदु वृष्टि भूतलके ।[1]

अर्थात् आकाश में विद्युल्लताएँ कौंधने लगीं, अंधकार छाने लगा, गोकुल की आठों दिशाओं में कल्प की भयंकरता के समान, अनिल प्रवाह आकाश को ताड़ने-झाड़ने लगा, वज्रध्वनि थर्राने लगी, भूतल पर मूसलाधार वर्षा होने लगी।

यह पद्य गिरिधारण लीला प्रसंग से उद्धृत है। सूरसागर में भी इस प्रसंग में ऐसा ही वर्णन मिलता है, जो भयानक रस का सुंदर चित्र प्रस्तुत करता है :

मेघ-दल-प्रबल ब्रज लोग देखैं।
चकित जहँ-तहँ भए, निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं।
ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भए नंद, महर चकित भए, चकित नर-नारि हरि करत ख्याला।
घटा घन घोर घहरात, अररात, दररात, थररात ब्रज लोग डरपे।
तडित-आघात तररात, उतपात, सुनि नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपे।[2]

कन्नड़ में कृष्णकाव्य-परंपरा प्रबंध रूप में ही नहीं, गेय रूप में भी चली है। कर्नाटक-संगीत के विभूति पुरुष पुरंदरदास इस गेय-परंपरा के मुकुटमणि हैं। वे महान् भक्त थे, कवि थे, संगीतज्ञ थे। सूरदास के व्यक्तित्व से उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अग्रणी भक्त के रूप में वे अपने गुरु से भी प्रशंसित हुए। 'दासरेन्दरे पुरंदरदासरय्या'—सच्चे अर्थ में पुरंदरदास ही भक्त हैं—उनके गुरु ने कहा था। जिस भाँति सूरदास ने कृष्ण के लीलागान द्वारा अपनी निर्मल भक्ति प्रदर्शित की, उसी भाँति पुरंदरदास ने कृष्ण का पावन संकीर्तन कर असीम भक्ति का अभिव्यंजन किया है। दोनों संगीताचार्य हैं, इस कारण दोनों की रचनाओं में अद्भुत मनोहरता तथा आकर्षण है। सूर के पदों में जैसे 'सूर' 'सूरदास', आदि छाप हैं, वैसे ही पुरंदरदास के पदों में 'पुरंदर विट्ठल' की छाप है। पंढरपुर के भगवान् विट्ठल उनके इष्टदेव थे। अतः इष्टदेव का नाम छाप के रूप में उनके पदों में प्राप्त होता है। उनके पद ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के ज्वलंत उदाहरण

१. श्रीकृष्ण चरिते, ५/२८ २. सूरसागर, १४७३

हैं। उन्होंने सरल, सुंदर शैली में दार्शनिक विषयों का ऐसा प्रतिपादन किया है कि देखकर मन मुग्ध हो जाता है। 'भक्तिश्च तत् साधनम्' अर्थात् भक्ति ही मुक्ति का साधन है, इस रहस्य का उद्‌घाटन सूर और पुरंदरदास सरीखे भक्तश्रेष्ठ ही कर सकते हैं। कर्नाटक के भागवतपंथ के वैष्णव भक्त 'दास' कहलाते हैं। ऐसे भक्तों की मंडली को 'दासकूट' कहते हैं। कर्नाटक के दासकूट में पुरंदर का निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य में सूरदास को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान कन्नड़-साहित्य में पुरंदरदास को प्राप्त है।

सूरदास और पुरंदरदास दोनों मुक्तक काव्य प्रणेता हैं, फिर भी उनके पदों में एक प्रकार की व्यवस्था है। भागवतानुसार रचित 'सूरसागर' बारह स्कंधात्मक है। पुरंदरदास के पदों का आधार नाना पुराण, उपनिषद् तथा लोकज्ञान है। अतएव उनमें 'सूरसागर' जैसी कथात्मक व्यवस्था की आशा नहीं कर सकते। प्रतिपाद्य विषयानुसार उनके पदों को कुछ शीर्षकों में अवश्य रख सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) नाम माहात्म्य, (२) कृष्णलीला, (३) हरि-गुरु-महिमा वर्णन तथा स्मरण-भजन, (४) आत्म-निवेदन एवं (५) समाज की आलोचना तथा समाज को प्रबोध। उनकी पद-संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उन्हीं के एक पद के अनुसार उनके पदों की संख्या चार लाख और पचहत्तर हजार है। आशु पद रचना करने वाले पुरंदरदास सरीखे भक्तों के लिए इतने पदों की रचना करना असंभव नहीं है। हाँ, आज उपलब्ध पदों की संख्या डेढ़ हजार से अधिक नहीं है। अखिल कर्नाटक श्रीपुरंदरदास चतुश्शती उत्सव मंडल, धारवाड़ से उनके पदों का प्रामाणिक संस्करण छः भागों में प्रकाशित हुआ है। मैसूर विश्वविद्यालय से भी एक प्रामाणिक संस्करण निकालने की योजना बनाई गई है।

पुरंदरदास सूरदास के समकालीन थे। उनका जन्म १५८० ई० में हुआ था। धनाढ्य परिवार में उनका जन्म हुआ था। जीवन की किसी घटना ने उनके जीवन की धारा में महान् परिवर्तन उपस्थित किया। वे अपनी समस्त संपत्ति गरीबों में बाँटकर विरक्त हो गए। भगवद्‌भजन को ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया। सांसारिक जीवों के उद्धार के लिए उन्होंने अपने पदों द्वारा अमोघ संदेश दिया। सूर की रचना जैसे 'सागर' के नाम से प्रख्यात हुई, वैसे ही पुरंदरदास की रचना 'पुरंदरोपनिषद् कहलायी। उनके गुरु व्यासराय जी का श्रीकृष्णदेवराय के दरबार में बड़ा मान था। यह तो विदित है कि स्वामी वल्लभाचार्य जी श्रीकृष्णदेवराय के दरबार में गए थे। उस समय उन्होंने व्यासरायजी को देखा था। संभव है, उन्होंने पुरंदरदास प्रभृत्ति भक्तों के विषय में भी सुना हो, जो व्यासराय जी के शिष्य थे। स्वयं तेलुगु भाषी होने के कारण उन्होंने आंध्र के भक्त कवि पोतना के विषय में भी जाना था। उनके ये सब अनुभव 'सूरसागर' की रचना के प्रेरक स्रोत रहे हों।

वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण हम सूरदास के पदों में पुष्टिमार्ग के

तत्त्वों का प्रतिपादन देख सकते हैं। कन्नड़ के 'दास-कूट' के भक्तों के लिए द्वैतवाद ही आधार है, अतएव पुरंदरदास के पदों में उसी तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। पुरंदरदास ने वेदोपनिषद्, पांचरात्र, श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि का आधार ग्रहण किया है। सूरदास के पद जैसे लोकरजनकारी हैं, वैसे ही पुरंदरदास के पद सरल, सुबोध शैली में होने के कारण पंडित-पामर सबको अनुरंजित कर सकते हैं। हरि सर्वोत्तमत्त्व, भक्ति की गरिमा तथा मुमुक्षु मार्ग उनके पदों का प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। नवधा भक्ति तथा माधुर्योपासना की दृष्टि से इन दोनों कवियों के पदों की तुलना की जा सकती है। 'सूरसागर' में जैसे विनय के पदों का महत्त्व है, वैसे ही पुरंदरदास के पदों में आर्तभाव की अच्छी अभिव्यंजना हुई है। पर्याप्त संख्या में ऐसे पद उपलब्ध होते हैं। वे गीतिकाव्य के उत्तम उदाहरण हैं। एक पद देखिए :

वादिहिं हौं सब समय गंवायौ।
नर जनम कौ, श्रीरंग कृपालु, हौं तो थिर समुझि रह्यौ। टेक।
आसा मोर दुख कै कारन, दीन हौं उरगसयन।
तब ध्यान बिनु जनम वृथा गयौ, वंचित हौं मधुसूदन॥
सुत-वनिता-मोह अतिहि ग्रस्यौ, मतिहीन हौं अच्युत।
सतत विषयरत मनसाहत हौं, देव! मोर मति भरमत॥
हौं पर-सेवा, पर-स्तुति कीन्ही, मूरख मतिहीन विकल।
भरोसौ केवल तुम, कृपा करि, पाहि पुरंदर विट्ठल॥[1]

उपर्युक्त पद से 'सूरसागर' का यह पद तुलनीय है, जिसमें मनप्रबोध का सुंदर वर्णन है :

जनम तौ ऐसेहिं बीति गयौ।
जैसें रंक पदारथ पाए, लोभ बिसाहि लयौ।
बहुतक जन्म पुरीष-परायन, सूकर-स्वान भयौ।
अब मेरी मेरी करि बौरे, बहुरौ बीज बयौ।[2]

वात्सल्य और श्रृंगार का वर्णन पुरंदरदास के काव्य में भी है। इन दोनों रसों के पोषण में उनको अद्भुत सफलता मिली है। सूर के काव्य में जैसे वात्सल्य के हृदयहारी चित्र हैं, वैसे ही चित्र पुरंदरदास के पदों में भी हैं। इस विषयक पदों में 'गोपी भाव' की अभिव्यक्ति हुई है। सूरदास के पदों में जैसे 'धन्य जसोदा' का वर्णन मिलता है, वैसे ही पुरंदरदास के पदों में यशोदा के भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। 'गोपिय भाग्यविदु, आ परमात्मन अप्पि मुद्दाडुवुदु' (गोपी का भाग्य है,

---

१. 'बरिदे हायितु होत्तु' राग मोहन का रूपांतर। द्रष्टव्य लेखक की पुस्तक 'कर्नाटक और उसका साहित्य, पृ० १६६

२. सूरसागर, ७८

उस परमात्मा को छाती से लगाकर चूमना), 'निन्न मगने ने—गोपम्मा' (तुम्हारा बेटा है, गोपी), 'आडिसिदलु यशोदे' (क्रीड़ा कराई यशोदा ने) आदि पदों का यहाँ स्मरण किया जा सकता है। सूरदास के बाललीला के पद जैसे सहृदयों को बलात् आकृष्ट करते हैं, वैसे ही पुरंदरदास के तद्विषयक पद जनसामान्य की जिह्वा पर रहते हैं। उनका एक प्रसिद्ध पद है 'अम्मा निम्म मनेगललिल, नम्म रंगन काणिरेने' (राग—पुन्नागवरालि), इसका हिंदी रूपांतर नीचे दिया जा रहा है :

देखि री हमरो श्रीरंग कौं।
तुम्हारो घर आयौ माई, हमरो मनमोहन कौं। टेक।
काशी पीताम्बर, कर मुरली धरि तुलसी-माला कौं।
चंदन-र्चाचत देह मनोरम, आयौ वासुदेव कौ।
कर कंकन, अंगुलि अंगुठी, उर बघनखधारी कौ।
नील-कनक-कण्डल-छवि-प्रसरित, आयौ उरगशयन कौं।
× × ×
भगतबछल श्रीपुरंदर विठल, आयौ हमरो प्रभु कौं।[1]

पुरंदरदास के पदों में न भ्रमरगीत का सूर-काव्य जैसा वर्णन है, न राधा की अवतारणा ही। फिर भी वाग्विदग्धतापूर्ण उक्तियों की कमी नहीं है। केवल शृंगार और माधुर्य से संबंधित पदों में ही नहीं, अन्य पदों में भी कवि की वाग्वेदध्यपूर्ण शैली के उदाहरण मिलते हैं। अंततोगत्वा, यह कहा जा सकता है कि भक्त के रूप में, महान् संगीतज्ञ और कवि के रूप में सूरदास तथा पुरंदरदास दोनों को अखंड यश प्राप्त हुआ है। ये दोनों हमारे देश के गौरव हैं।

कन्नड़ 'दास-कूट' की यह विशेषता है कि दासकूट के समस्त भक्तों ने किसी न किसी रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन किया है। दशावतारों में श्रीकृष्ण का अवतार उनके लिए सर्वाधिक आकर्षक रहा है। श्रीकृष्ण की उपासना की यह एक विशिष्ट परंपरा कही जा सकती है। इस उपासनापद्धति का प्रभाव भारत के अन्य प्रदेशों के भक्तों पर भी पड़ा है। अस्तु, कन्नड़ 'दास-कुट' अर्थात् वैष्णव भक्तों की परंपरा में जिन भक्त कवियों का नामोल्लेख किया जाता है, उनके कतिपय पदों की तुलना हम सूरदास के पदों से कर सकते हैं। विषय की विपुलता तथा लेख की सीमा को दृष्टि में रखकर यहाँ केवल एक और भक्त के पदों पर ही विचार किया गया है, वह भक्त हैं—श्रीपादराय, जो दास-कूट के आदि आचार्य हैं और पुरंदरदास के गुरुपितामह हैं। परंपरा में उनका नाम पहले, उसके बाद पुरंदरदास के गुरु व्यसराय जी का नाम, तत्पश्चात् पुरंदरदास का नाम लिया जाता है—**नमः श्रीपादराजाय नमस्ते व्यासयोगिने। नमः पुरंदरार्याय विजयार्याय ते नमः।**

१. संपूर्ण पद 'कर्नाटक और उसका साहित्य' पृ० १७० में देखा जा सकता है।

श्रीपादराय के पदों में 'रंगविठल' की छाप मिलती है। वे श्रीमध्वाचार्य के शिष्य श्रीपद्मनाभतीर्थ की शिष्यपरंपरा के अंतर्गत मुलबागिल के नौवें मठाधीश थे। वे संस्कृत और कन्नड़ के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने पूजा के समय वेद-पारायण के साथ-साथ कन्नड़ में भजन करने की पद्धति चलायी। व्यावहारिक भाषा में उन्होंने भक्तिरसपूर्ण गीत रचकर जनसाधारण का महान् उपकार किया है। उन्होंने कई लोगों को कन्नड़ में गीत रचना करने की प्रेरणा दी। उनके उपलब्ध पदों को तीन शीर्षकों में रख सकते हैं—(१) भ्रमरगीत, (२) वेणुगीत, (३) गोपीगीत। 'सूरसागर' में उक्त तीनों विषयों से संबंधित पद मिलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर के काव्य-सौष्ठव के ये प्रधान स्थल हैं। स्वामी जी ने कन्नड़ में जो पद लिखे हैं, वे भी श्रेष्ठ कला के उदाहरण हैं। उनमें भी हम वक्रोक्ति-नैपुण्य का दर्शन कर सकते हैं। सूर की गोपियों के समान स्वामी जी की गोपियाँ भी विदग्धतापूर्ण शैली में बोल सकती हैं, पर अंतर यह है कि वे कभी भक्त की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं। श्रीकृष्णलीला से संबंधित, वातसल्यभाव को प्रकट करने वाला उनका एक पद यहां उद्धृत किया जा सकता है :

बारो नम्म मनेगे गोपालकृष्ण।
गोल्ल बालकरनु निल्लिसि पेगलेरि। टेक।
गुल्लु माडदे मोसरेल्ल लुडिद कृष्ण।
मूर्जगवनेल्ल बोज्जेयोलगे इट्टु।
गेज्जेय कट्टि तप्हेज्जेयनिक्कुत।
अंगनेयर व्रतभंगव माडिद।
रंगविठल भवभंगव माडुत।[1]

अर्थात् आओ हमारे घर, गोपालकृष्ण! गोप बालकों को खड़ा कर, उनकी पीठ पर चढ़कर, आहट किए बिना दही सब खा लिया, हे कृष्ण! तीनों भुवनों को अपने पेट में रखकर, पायल वाले पदों से गलत पग रखते हुए, अंगनाओं का व्रतभंग करने वाले 'रंगविठल' भवभंग करते हुए आओ।

यहाँ गोपी-भाव और श्रीकृष्ण की लीला का कैसा अच्छा वर्णन है। श्रीकृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक गुणों का यहाँ मणि-कांचन संयोग है। ऊपर के पद की सूरदास के इस पद से तुलना कर सकते हैं :

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि-माखन चोरी कर लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात।
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषति, सदन हमारैं आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज हरि उरहिं छुवावैं।

---

१. हरिदास भक्ति साधने, पद १७३, पृ० १५४

मनहीं मन अभिलाष करति, सब हृदय धरति ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर तैं लै, दैहौं माखन खात।[1]

'इट्हांगे इरुवेनो हरिये, (जैसे तुम रखोगे, वैसा रहूंगा) जैसे पदों में स्वामी जी ने आत्मनिवेदन तथा हरि सर्वोत्तमत्व की भावाभिव्यंजना की है। नाम-माहात्म्य से संबंधित उनका एक प्रसिद्ध पद है :

भूषण के भूषण, इदु भूषण। टेक।
शेष गिरिवास श्रीवेंकटेश। सह टेक।
नालगेगे भूषण नारायणन नाम।
कालिगे भूषण हरियात्रेयु।
आलयके भूषण तुलसि वृंदावनवु
विशाल कर्णके भूषण विष्णुकथेयु।
दानवे भूषण एरडु हस्तंगलिगे।
मानवे भूषण मानवरिगे।
ज्ञानवे भूषण मुनियोगिवररिगे।
मानिनिगे भूषण पतिभक्तियु।
रंगन्न नोडुवुदे कंगलिगे भूषण।
मंगलांगगे मणिव शिर भूषण।
शृंगार तुलसिमणि कंठक्के भूषण।
रंगविट्ठल निम्न नामवति भूषण।[2]

अर्थात् भूषणों का भूषण है शेषगिर वेंकटेश का नाम। जिह्वा के लिए भूषण है नारायण का नाम, पैरों के लिए भूषण है हरि-यात्रा। घर के लिए भूषण है, तुलसी का पौधा व वृंदावन। विशाल कर्णों के लिए भूषण है विष्णु-कथा। दोनों हाथों के लिए भूषण दान है तो मानवों लिए मान ही भूषण है। ज्ञान मुनि-योगियों के लिए भूषण है, सती नारी के लिए पति-भक्ति ही भूषण है। भगवान् के दर्शन आँखों के भूषण हैं। मंगल अंग वाले परमात्मा को नमित होने वाला शिर भूषण है। कंठ के लिए तुलसी-मणिमाला भूषण है, हे रंगविट्ठल ! तुम्हारा नाम अति भूषण है।

सूरदास के 'सोई रसना, जो हरि-गुन गावै'[3] वाले पद से उपर्युक्त पद की तुलना कर सकते हैं। भागवत के सार को इन भक्त कवियों ने अपनी वाणी के द्वारा लोगों को सुलभ कर दिया है। भक्ति का दिव्य-संदेश देकर इन कवियों ने मानव-जीवन की सार्थकता की घोषणा की है। कर्नाटक में और भी अनेक कृष्ण-काव्य-प्रणेता हुए हैं, अस्तु, आध्यात्मिक साधना आदि से मित्रता होने के कारण 'सूरसागर' से उन कवियों के काव्यों की तुलना यहाँ नहीं की गई है।

---

१. सूरसागर, ८६०   २. हरिदास भक्ति साधने, पद १४८, पृ० १३०-३१
३. सूरसागर, ५०

□ श्री पृथ्वीनाथ मधुप

सूरसाहित्य और कश्मीरी का कृष्णकाव्य

भारतीय साहित्य में भक्ति-काव्य का अपना एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें भी कृष्ण-भक्ति-काव्य अपने काव्य-माधुर्य तथा सरसता के कारण अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इन्हीं गुणों के कारण कश्मीरी कृष्णकाव्य का भी कश्मीरी-काव्यधारा में सर्वोत्तम स्थान है।

कश्मीर में यद्यपि प्राचीनकाल से ही शक्ति और शिव की उपासना का प्राधान्य रहा है पर कई ऐतिहासिक तथ्यों एवं कुछ प्रसिद्ध रचनाकारों के साक्ष्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि धुर अतीत से ही यहाँ विष्णु के विभिन्न अवतारों की भी मान्यता रही है। कश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहासकार-कवि कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी' में स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि प्राचीनकाल में विष्णु के श्रीकृष्णावतार की यहाँ प्रतिष्ठा एवं महत्व था।[१] ईसा की दसवीं शती के यशस्वी कवि क्षेमेन्द्र की सुप्रसिद्ध कृति 'दशावतार चरितम्' में भी श्रीकृष्ण का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट रूप से स्वीकारा है कि श्रीकृष्ण का अवतार भूभारहरण के निमित्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं आदि का कश्मीरी जनमानस पर प्रभाव था; इसका इंगित भी क्षेमेन्द्र की 'देशोपदेश' नामक कृति में मिलता है। इसके अतिरिक्त कश्मीर के उन रचनाकारों एवं संतों की वाणियों में भी इस बात का साक्ष्य मिलता है कि श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा कश्मीर में बहुत पहले हुई थी। ईसा की चौदहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में आविर्भूत महायोगिनी ललद्यद अपने एक 'वाख' (वाक्य) में शिव, केशव तथा जैनेंद्र में अभेद स्थापित करते हुए कहती है :

---

१. देखिए राजतरंगिणी, प्रथम तरंग, श्लोक ५६-७३

शिव या केशव या जिन।
ब्रह्मा नाम धारण किये हैं जो।[1]

इसी समय का भट्टअवतार अपनी कृति 'भाणासुर कथा' में; सत्रहवींशती के साहिब कौल अपनी 'कृष्णावतार' नामक कृति में तथा इसी समय की परम पावना तपस्विनी रूपभवानी अपनी रहस्यमयी वार्णी में हमारी उक्त धारणा को पुष्ट करती हैं। रूपभवानी पर भगवान् कृष्ण एवं गोपियों के साथ उनकी महारास लीला का अत्यधिक प्रभाव था। उनकी वाणी से निम्न पंक्ति इस तथ्य का उद्घोष करती है :

···गोपीनाथ, गोपियों के सहायक रास रचें।[2]

उक्त आधार पर निःसंकोच रूप से माना जा सकता है कि श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा कश्मीर में बहुत प्राचीन समय से थी तथा कृष्ण संबंधी रचनाएँ भी किसी न किसी रूप में बहुत पहले से ही हुई थीं। हाँ, उन्नीसवीं शताब्दी से श्रीकृष्ण संबंधी काव्य की अधिक रचना होने लगी; क्योंकि इस काल तक इसके लिए उपयुक्त भूमि एवं वातावरण का निर्माण हो चुका था। महाकवि परमानंद से लेकर आधुनिक कश्मीरी काव्य के 'रसखान' फ़ाजिल कश्मीरी तक कृष्ण-काव्य की धारा सुमधुर कल-कल ध्वनि करती हुई प्रवाहमान होती रही है।

हिंदी काव्याकाश में जिस भाँति सूर सूर्यवत् भास्वर हो रसिकों के उरकंजों को विकसित करते हैं, उसी भाँति कश्मीरी कृष्णभक्त सरस्वती-पुत्र परमानंद निज सरस वाणी द्वारा भक्तों एवं काव्य-मर्मज्ञों को परमानंद प्रदान करते हैं।

सूर और परमानंद दोनों भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हैं। दोनों के सुमधुर काव्य में अत्यंत तन्मयता दृष्टिगोचर होती है। सूर ने कृष्ण-लीला-वर्णन के लिए पद-शैली को अपनाया है; उसी प्रकार परमानंद ने भी इसी शैली से मिलती-जुलती शैली 'लीला' को अपने उद्गारों का संवाहक बनाया है। जो स्थान हरिकीर्तन में पद का है वही (कश्मीर में) 'लीला' का है।

दोनों कवियों के अंतर्साक्ष्य से कुछ ऐसा लगता है कि दोनों का हृदय किसी मर्म-वेदना के कारण आहत था। दोनों लड़खड़ाते हुए-से प्रतीत होते हैं। जहाँ सूर इस कसक को 'करमहीन जनम को अंधौ' कहकर वाणी देते हैं, वहाँ परमानंद के दिल के घाव यों मुखर हो उठे हैं :

कुन तु॑ कीवल सा'र सूरमु॑च़ आश।
न्यप्वतुर तु॑ न्यतु॑रन नु॑ रूदमुत गाश।

---

१. शिव वा कीशव वा जिनवा कमलज़नाथ नाम दारिथ युस।
२. गूपालज़ुव नाट्य करे गूपीसहाय। —रूप़भ़वाऩी रहस्योपदेश

[(मैं) अकेला हूँ मेरी आशाएँ चुक गई हैं, निपूता हूँ नयनों की ज्योति चुक गई है।]

श्रीमद्भागवत का आधार लेते हुए भी जिस प्रकार सूर ने घटनाओं के वर्णन तथा प्रसंगों के चयन आदि में नितांत मौलिकता का परिचय दिया है, उसी प्रकार परमानंद ने भी अपनी काव्य-कृतियों 'राधास्वयंवर', 'स्वदामु॑चर्येथ' तथा अन्य कृष्ण-भक्ति संबंधी कविताओं में मौलिकता से काम लिया है।

दोनों कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में गुरु की महत्ता, उसके असीम प्रताप एवं सामर्थ्य को स्वीकारा है। 'सूरसागर' में सूर कहते हैं :

गुरु बिन ऐसी कौन करै।
भवसागर तैं बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
'सूरस्याम' गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै।[1]

इसी प्रकार परमानंद भी श्रीकृष्ण का पावन नाम रात-दिन स्मरण करने के साथ-साथ तन-मन से सद्गुरु का ध्यान करने को कहते हैं :

कृष्णु॑-कृष्णु॑ करिज़॑ द्यन तुराथ बरिज़॑।
स्वरिज़॑ तनु॑मनु॑ सथग्वरू॑ ध्यान।

गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के जन्म पर नंद महर के घर जाकर बधाई देने की घटना का उल्लेख दोनों कवियों ने किया है। इस उल्लेख में बहुत साम्य है, थोड़ी-बहुत आँचलिकता का भी आभास होता है। देखिए :

आजु बधायौ नंदराइ कैं, गावहु मंगलचार।
आईं मंगल-कलस साजि कै, दधि फल नूतन-डार।
उर मेले नँदराइ कैं, गोप-सखनि मिलि हार।
मागध-बंदी-सूत अति करत कुतूहल बार।[2]

पोशतसज़ि दीवु॑किथि लूख आ'स्य यीवानू॑।
पौशतस पूज़ि आ'स्य लागानो।
पोशतस ज़ि कृष्णु॑ व्वपु॑कारकु॑ सन्तानु॑। —परमानंद

(ब्रजवासी देवकी के घर, कृष्ण जन्म पर बधाई देने के निमित्त आते हैं और असीस देते हैं कि हे देवकी का उपकार करने वाले पुत्र कृष्ण, दीर्घायु होओ।)

मुरली-माधुरी एवं रास-क्रीड़ा का वर्णन दोनों कवियों ने अतीव मनोहर ढंग से किया है। सूर के 'सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई' द्वारा जो व्यंजित होता है, वही परमानंद की गोपियाँ निम्न शब्दों में अभिव्यक्त करती हैं :

---

१. सूरसागर, ४१७ २. सूरसागर, ६४५

स्वरली शब्दाह असिगब कनन ।
वनन छि रादाकृशिनहय आव ।

(सुमधुर मुरली स्वन कर्णगोचर हुआ, सुना है, कृष्ण पधारे हैं ।)

रास-क्रीड़ा के समय गोपियाँ एक-दूसरे के कर-पल्लव थामे भगवान् के सान्निध्य एवं प्रेमासव का पान कर मस्त हो नाचती-गाती हैं । इस मनोहर दृश्य का शब्दांकन सूर ने कितने सुंदर रूप में किया है :

भुज सों भुज जोरि-जोरि लेत तन नव किसोरि ।
गावत श्रीराग मिलै ग्रीव लटकनी ।

इसी संदर्भ में परमानंद लिखते हैं :

रासु॑मन्डु॑ल्यु॑क चथ प्रेमुक मस ।
सासु॑ब्वजु॑ मचु॑ गा'मचु॑ नचुनस ।
अख अ'किस अथु॑वास लायन आसु॑ नादा ।
रादा रादा रादा रादा रादा कृष्नु॑जी ।

(रास खेलने के लिए समवृताकार हो एवं नेहासव का पान कर अनेक (गोपियाँ) नाचने में मस्त हो गई हैं । वे एक-दूसरे के करपल्लव थामे कृष्ण ! कृष्ण !! कृष्ण !!! का नाद कर रही हैं ।)

स्वदामु॑चर्यथ' नामक कृति परमानंद का एक दीर्घ कथा-पद (लीला) है, जिसमें कवि ने सुदामा-कृष्ण के रूपक द्वारा जीवात्मा-परमात्मा का मिलन दिखाया है । साथ ही यह रचना भगवान् की इस घोषणा—'हम भक्तन के भक्त हमारे··· भक्तै काज लाज जिय धरिकै पाइँ पयादे धाऊँ' का दस्तावेज़ है । जब सुदामा भगवान् के महल के मुख्य-द्वार पर पहुँचते हैं तो **'द्रामुत्य तम्बु॑लिथ तिम ननुवा'री'** अर्थात् वे (कृष्ण और रुक्मिणी) नंगे पैर सुदामा की अगवानी को चल पड़े । और :

क्वछि क्यथ ह्यथ न्यूख अन्दु॑र्यु॑म गरय ।
ख्वर ह्यथ रुखु॑मन तु॑ अथु॑ यीश्वरय ।
गिन्दु॑ने लग्यतस बिश्तु ब्रार्येनय ।

अर्थात् उसे गोदी में उठा अंदर महल में ले गए । उसे देख-देख वे अतीव प्रसन्न हुए और रिझाने लगे । सूर के कृष्ण भी सुदामा को निरख आनंदित हो उठे, नहलाया-धुलाया और अनंत वैभव प्रदान किया :

हरि कौं मिलन सुदामा आयौ ।
आदर बहुत कियौ कमलापति, मर्दन करि अन्हवायौ ।
चंदन अगर कुमकुमा, केसर, परिमल अंग चढ़ायौ ।[1]

---

१. सूरसागर, ४८५०

कश्मीर प्राकृतिक सौंदर्य, काव्य, कमल और केसर के अतिरिक्त अनेक तीर्थ स्थानों—अमरनाथ, मार्तण्ड, क्षीरभवान् तथा हरिपर्वत आदि—के लिए भी प्रसिद्ध है। कहा भी गया है, 'भारते यानि तीर्थानि तानि कश्मीर मंडले'। इन तीर्थ स्थानों की यात्रा करने के लिए प्रतिवर्ष हजारों यात्री एवं साधु-महात्मा आते हैं। कश्मीर के कई विद्वानों का अनुमान है कि परमानंद अनेक तीर्थ-यात्री व साधु-संयासियों के संपर्क में आए होंगे और उन्होंने उनसे सूर के पदों का श्रवण अवश्य किया होगा। इसी कारण परमानंद ने हिंदी में भी कुछ (कुल चौदह) कविताएँ, जो उनके काव्य 'राधा-स्वयंवर' में संगृहीत हैं; रची हैं। कवि की इन अटपटी पंजाबीपुट युक्त हिंदी कविताओं और 'सूरसागर' के कई पदों में बहुत हद तक समानता-सी दृष्टिगत होती है। दो एक उदाहरणों का अवलोकन कीजिए :

१. करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ।
नहिं अधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ।[1]

गैयां कडो प्रभु न्यारी अरे।
असी क्यों रखूँ बछ त्वाडे अरे।
ना नंद महर का चाकर हम।
ना तुम से कुछ प्यारे अरे। —परमानंद

२. जागिए गोपाल लाल, आनँद-निधि नंद-बाल।
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे।[2]

जागो जागो श्यामा चढ़ गया दिन,
आ दूध पीने जायो न्हायो बदन। —परमानंद

सूरदास और परमानंद दोनों ही कवि भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त, तन्मयता से कान्हा की कीर्ति एवं लीलाओं का गायन करने वाले भारतीय कृष्ण-भक्ति-काव्य के संपूज्य शारदा-तनय हैं, जिनकी रससिक्त वाणी युगों-युगों तक जनमानस को कृष्ण-भक्ति के अमिय से सरसाती रहेगी। दोनों ही भारतीय कवियों की कृतियाँ विश्व-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

महाकवि परमानंद के पश्चात् कश्मीरी कृष्ण-काव्य-धारा के अंतर्गत जिस कवि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है; वे हैं कृष्ण राज़दान। इनका जन्म कश्मीर की अनंत-नाग तहसील के अंतर्गत 'वनपूह' नामक ग्राम में सन् १८५० ई० में हुआ था। कवि कृष्ण ने भगवान् कृष्ण से संबंधित अनेक कविताओं की रचना की है। परमानंद की ही भाँति इन्होंने भी 'लीला'-काव्यशैली को ही अपनाया। इन्होंने भगवान् कृष्ण के जन्म, प्रभात-लोरी तथा गोपियों के विरह-वर्णन आदि की विभिन्न

---

१. सूरसागर, १३५३ २. सूरसागर, ८२३

अलंकार युक्त काव्याभिव्यक्ति की है। कन्हैया की बाल-सुलभ चेष्टाओं का भी इन्होंने सरस वर्णन किया है।

जब श्याम-सखा उद्धव गोपियों को योग की सीख देने तथा संसार त्यागकर मृग-छाला ओढ़, भस्म रमा तपस्या एवं योग-साधना करने को कहते हैं तो कवि राजदान की गोपियाँ उन्हें दो टूक उत्तर देते हुए कहती हैं :

अ'स्य कमि बापथ करॅबु त्याग
असि ग'छि़ आसुन कृष्णुन राग
सुय गव तफ ज़फ यूगअभ्यास।

अर्थात् हम किस कारण (संसार) त्याग करके योग साधना करें? हमारे हृदय में उत्तरोत्तर कृष्ण-प्रेम की वृद्धि होती रहे; वही प्रेम तो जप, तपस्या और योगाभ्यास है।

गोपियाँ उद्धव के योग का खंडन किस दृढ़ता एवं अटूट आस्था से कर रही हैं; यह पढ़ते ही बनता है! उद्धव गोपियों को योग सिखाने तथा निर्गुणोपासना की दीक्षा देने आए थे, पर गोपियों ने उनकी इन बातों को अस्वीकार किया और परोक्ष रूप से उन्हें ही साकारोपासना की दीक्षा देने लगीं। मुझे लगता है कि 'सूरसागर' की गोपियाँ उद्धव की योग संबंधी बातों को सुनकर जब यह कहती हैं :

'जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह-कान्ह जकरी। सुनत जोग लागत है ऐसो, ज्यों करुई ककरी।' या **'इते मान इहि जोग संदेसन सुनि अकुलानी दूखी।'** अथवा **'ऐसी बात कहो जनि ऊधौ। मन क्रम बचन बिसुद्ध एक मत, कमल नैन रंग राँची'** आदि। इस कथ्य से उनकी दृढ़ भक्ति का उतना उत्कर्ष नहीं दिखाया गया है, जितना कि कवि राजदान की गोपियों के उक्त कथ्य से प्रतिपादित होता है।

'सूरसागर' में रास-लीला से संबंधित अनेक पद हैं, जिनमें रास-सज्जा, रास-नृत्य-शोभा, रास-विधान तथा रास-मोहिनी आदि का सरस-सुंदर वर्णन हुआ है। कवि राजदान ने भी रास-लीला संबंधी अनेक पदों की रचना की है। ब्रज-युवतियाँ रास-क्रीड़ा-हेतु अपने घरों से निकल-निकल कर एक-दूसरे से कहती हैं—**'समिथ करव अथयवास, पकिव रास गिंदा' ने!'** अर्थात् चलो, सभी एक साथ हाथ में हाथ गहकर रास खेलने चलें! कवि राजदान ने यहाँ गोपियों की उसी स्थिति का चित्रण किया है, जिस स्थिति का चित्रण 'सूरसागर' में सूर ने यों किया है, **'जुवतिन्ह तजि गेहवास, बनहि गमन कीन्हौं।'** राजदान की गोपियाँ भी 'संयोग तृषा' से व्याकुल हैं; तभी तो वे कान्ह का हाथ, हाथ में लेकर रास खेलने की इच्छुक हैं। सर्वज्ञ कृष्ण ने भी, सूर के शब्दों में : **'भुज दै भुजा करी मन इच्छा, तृषा संयोग बुझानी।'** जब नंदलाल रास-क्रीड़ा के निमित्त पधारते हैं तो राजदान की गोपियाँ विह्वल एवं

भावविभोर हो एक-दूसरे से कहती हैं—'**नंदु॑लाल आव गिंदु॑ने रास, आरु॑ करिवी आरय।**'—(अरी ! समवृताकार होओ। नंदलाल रास-क्रीड़ा निमित्त पधारे हैं।)

रास क्या है ? इस रहस्य को निम्न पंक्तियों द्वारा कवि राजदान ने स्पष्ट किया है :

श्वोद ज़ाग्रतु॑कुय व्यशीश रास गव
सुय अभ्यास गव गूपियन रव
संकल्पन तु॑ व्यकल्पन छूयन गव।

(रास विशेष शुद्ध जागृति (वह अवस्था, जिसमें सब बातों का परिज्ञान होता रहता है।) है। वही (शुद्ध जागृति का) अभ्यास गोपियों के लिए सूर्य बना। (रास) संकल्प और विकल्प से ऊपर उठना है।)

कवि राजदान के पश्चात् कश्मीरी कृष्ण-काव्य के विशेष उल्लेखनीय कवि हैं नीलकंठ शर्मा। कवि नीलकंठ का जन्म कश्मीर की तहसील गान्दरब के अंतर्गत 'उब' नामक ग्राम में सन् १८८८ ई० को हुआ। इनके वृहत् काव्य संकलन 'श्रद्धाजलि' में श्रीकृष्ण संबंधी अनेक सरस रचनाएँ संगृहीत हैं। इन्होंने कृष्ण-जन्म, बाललीला, गोपी-विरह, उद्धव गोपी संवाद, चीर-हरण आदि अनेक प्रसंगों का सरस, मधुर एवं कलात्मक वर्णन किया है।

माता यशोदा ने भगवान् बालकृष्ण को पालने में सुला दिया है; पर वे थोड़ी देर के बाद ही जाग गए। माँ ने उन्हें गोदी में लिया और थपकियाँ दे-दे गाने लगीं :

बालु॑ गूपाल म्योन कमी वु॑जुनोवुम ?
मंजुलिस हय सोवुम वोंत्रि मंजुलिस हय सोवुम……

अर्थात् मेरे कान्हा को किसने जगा दिया ? मैंने इसे घुँघरुओं से सजे पालने में सुलाया था। कृष्ण की रहस्यमयी बालकेलियों का वर्णन करते हुए वे कहती हैं :

गिन्दान गीन्दान छययिनम म्येचु॑य
वुछिथ बु क्रूदी सपुन्निस येचुय
म्वखु॑ मंजु संसार अ'म्य हय म्यहोवुम।

अर्थात् खेलते-खेलते इसने मिट्टी खाई। यह देखकर मुझे बहुत ही क्रोध आया पर इसने तो मुझे पूरे संसार का दर्शन अपने मुख में ही कराया ! यही बात सूरसागर में निम्न प्रकार से कही गई है :

एक दिना ब्रजपतिकी पौरी खेलत हरि ब्रजबाल।
माटी खाय बदन दिखरायौ चंचल नैन बिसाल।
सकल ब्रह्मांड उदर में देख्यौ ब्रज मंडल पाताल।

कालियनाग नाथनलीला तथा द्रौपदी चीरहरण प्रसंग से संबंधित शर्मा जी की रचनाएँ बड़ी मार्मिक एवं सरस हैं। बाल सखाओं के साथ गेंद खेलते-खेलते जब बालकृष्ण द्वारा गेंद कालियदह में गिरती है तो—**'सूरस्याम' पीताम्बर काछै कूदि परै दह में भहराई।'** इसी संबंध में शर्मा जी लिखते हैं :

व्वठ च्ये॑ ला'यिथ जमनायि अंदर,
प्यन्दिहुन्दिहीतु ही श्यामु॑ स्वन्दर,
काली नाग कड़ुनुय छ्ुये······

(हे श्यामसुंदर ! आप गेंद के निमित्त जमुना में कूद पड़े, आपको कालियनाग नाथना है।)

भगवान् कृष्ण जब से गोकुल छोड़ गए, गोपियाँ विरह के असीम सागर में डूब गईं। इसी कारण सूर की गोपियाँ दुःखी हो कहती हैं—**'जा दिन ते हरि गोकुल छांड्यौ हम पर विरह बिराती।'** शर्मा जी की गोपियाँ भी विरह-वियोग से मतवाली हो अपने हृदयोद्गार यों प्रकट करतीं हैं :

असी अन्दर श्यामु॑स्वन्दर ओसहय रूज़िथ
ब्रमदिथ क्यो, तुय गव कुस ह्यकोन कथ जायि सूज़िथ
गजि होलुं तम्यसुन्दि लोलु॑ तम्यसुन्दि दीह हय छु छनन।
पकिवे सखियव मनु॑मूहन छारोन वनन।

(श्याम सुंदर हमारे संग ही थे, पर हमें भ्रमित कर वे कहाँ चले गए ? उन्हें खोजने हम किसे कहाँ भेज दें ! उनके विरह में हम क्षीण होती जा रही हैं। सखियो, चलो हम उन्हें जंगल-जंगल खोजें।)

इसी प्रकार 'सूरसागर' तथा नीलकंठ शर्मा के रास, उद्धव-गोपी प्रसंग आदि में काफी समानता देखी जा सकती है।

कश्मीरी कृष्णकाव्य के उक्त प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त अन्य कश्मीरी कृष्णकाव्यकारों में लक्ष्मण-जुव 'बुलबुल', ठाकुरजुव मनवटी, मनु॑जुव अतार तथा अलहाज 'फाज़िल कश्मीरी' का नाम लिया जा सकता है। दोनों भाषाओं के कवियों के कृष्णकाव्य का आधार भागवतपुराण ही है अतः 'सूरसागर' और कश्मीरी कृष्णकाव्य में आश्चर्यजनक सीमा तक समानता देखी जा सकती है। कहीं-कहीं यदि कश्मीरी कृष्णकाव्यकार किसी-किसी प्रसंग-चित्रण में सूर से आगे बढ़े हैं, पर यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकारी जा सकती है कि वात्सल्य एवं श्रृंगार-वर्णन में कश्मीरी कृष्णकाव्यकार सूर से बहुत-बहुत पीछे हैं।

विविधा

☐ श्री रामनारायण अग्रवाल

सूरदास के संबंध में प्रचलित अनुश्रुतियाँ

हमारे देश के धर्मप्राण वातावरण में आध्यात्मिकता की जो घुट्टी जन्म से ही शिशुओं को पिलाई जाती रही है, वह हमारे समाज में इस नश्वर संसार के प्रति एक सहज उदासीनता की भावना को उभारने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती रही है। भक्तिरस के अथाह सागर में तैरने वाले हमारे महाकवि तो सांसारिक आकर्षणों और भौतिक यश-लिप्सा से सदा ही कोसों दूर रहे। इसी कारण उन्होंने अपने काव्य में भी अपने व्यक्तित्व या जीवन-क्रम के संबंध में कोई चर्चा करना भी आवश्यक नहीं माना। ऐसी चर्चा प्रसंगवशात् भले ही आ गई है। महाकवि सूर में तो आत्मकथनों का सर्वथा अभाव है। इस विषय में वे तुलसी से भी आगे हैं। ऐसी दशा में ऐसी अनुश्रुतियों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, जो उनके संबंध में यत्र-तत्र प्रचलित हैं। आज के वैज्ञानिक युग में यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि सूर के संबंध में जितनी अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, वे सभी सत्य हैं, परंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि ये अनुश्रुतियाँ जिन आधारों पर गढ़ी गईं व प्रचलित हुई होंगी, उनका निश्चित रूप से उस महाकवि के व्यक्तित्व से घनिष्ठ संबंध था एवं उनकी छाप जन-मानस पर पड़ी थी। अतः इन अनुश्रुतियों के आधार पर सूर के कृतित्व और व्यक्तित्व को समझने में भारी सहायता ली जा सकती है। यहाँ हम कुछ ऐसी ही इनी-गिनी अनुश्रुतियों की चर्चा करना चाहते हैं।

पद-रचना संबंधी अनुश्रुतियाँ—सूर के साहित्य-सृजन के संबंध में निम्नलिखित अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं :

१. एक अनुश्रुति है कि सूर ने सवा लाख पद रचने का संकल्प किया था परंतु इस संख्या को वे अपने जीवनकाल में पूरी नहीं कर सके। उनके लीला-प्रवेश के उपरांत भी सवा लाख पदों की संख्या में जो कमी रह गई, उसे उनके बाद स्वयं

भगवान् श्रीकृष्ण ने पद-रचना द्वारा पूर्ण किया। 'सूरस्याम' की छाप के जो पद पाए जाते हैं, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा रचे हुए हैं।

२. पद-रचना के संबंध में दूसरी अनुश्रुति यह है कि "बादशाह अकबर तानसेन से सूरदास जी के पद सुनकर उनके काव्य से इतने प्रभावित हुय कि उन्होंने यह घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति सूरदास जी के जितने अधिक पद एकत्र करके लाएगा, उसे उतना ही अधिक पुरस्कार मिलेगा। फल यह हुआ कि धन के लोभ से बहुत से कवि सूरदास जी की छाप के पद ले जाकर राजसभा में देने लगे और तब यह समस्या उपस्थित हुई कि असली सूर के पदों की पहचान कैसे हो? बादशाह ने इसकी एक युक्ति निकाली। जो भी पद उनके आगे आते थे, उन्हें वे पानी में डलवा देते थे, इन पदों में जो जाली होते थे वे जल में डूब जाते थे और उनके अक्षर चिथड़ जाते थे। परंतु जो पद असली होते थे वे जल में तैरते थे और उनकी लिखावट ज्यों की त्यों बनी रहती थी। ऐसे ही पदों पर बादशाह के यहाँ से एकत्रित करने वालों को पुरस्कार मिलता था।"

३. कामर गाँव में हमें एक तीसरी अनुश्रुति सुनने को मिली। वहाँ के पुराने लोगों का कहना था कि "सूरदास जी कुछ समय कामर में भी जाकर रहे थे। वहाँ स्वप्न में उन्हें वेदव्यास जी ने दर्शन दिए और रोते हुए कहा कि तुमने सरल लोक-भाषा में कृष्णचरित्र लिखकर इसे सर्वसुलभ बना दिया है। मुझे यह दुःख है कि अब मेरे संस्कृत श्लोकों का पठन-पाठन नहीं होगा। इस स्वप्न के बाद जैसे ही सूरदास जी के नेत्र खुले, उन्होंने अपनी 'सूरसागर' की सवा लाख पदों की पोथी उठवायी और उसे स्वयं अपने हाथों से श्री यमुना जी को समर्पित कर दिया। जैसे ही पोथी यमुना जी में डाली गई, उनके साथी हा-हाकार करते हुए यमुना में कूद पड़े और उनके जितने भी पद डूबने से बच गए थे, उन्हें बाद में फिर से लिखा गया। सूरदास जी के अधिकांश पद इस घटना में नष्ट हो गए।"

सूर की काव्य-रचना के संबंध में प्रचलित इन अनुश्रुतियों पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि सूर के काव्य को उनके जीवनकाल में ही भारी लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी। सम्राट् अकबर की राजसभा से लेकर सर्व-साधारण जनता तक उनके काव्य-माधुर्य से अभिभूत थी। सूर ने बहुत अधिक मात्रा में काव्य-रचना की थी परंतु उसमें से बहुत-सा साहित्य नष्ट भी हो गया है। सूरदास के काव्य के आकर्षण से प्रेरित होकर उनके समय में बहुत से कवि सूरदास की छाप से स्वयं भी काव्य-रचना करने लगे थे और जनता में यह विश्वास घर कर गया था कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही सूर की वाणी में काव्य का प्रणयन करते हैं। वे अपने युग के सिद्ध कवि माने जाते थे।

ये अनुश्रुतियाँ उन बहुत-सी शंकाओं का भी समाधान कर देती हैं, जो अभी

तक सूर पर शोध-कार्य करने वाले साहित्यकारों को चक्कर में डाल रही हैं। सूर की पदावली में बहुत से पद साधारण कोटि के क्यों हैं ? उनके रचे सवा लाख पद क्यों नहीं मिलते ? जैसी शंकाओं का समाधान ये अनुश्रुतियाँ सहज ही कर देती हैं।

सूर-तुलसी-मिलन—महाकवि सूर जब वृद्ध थे तब तुलसीदास तरुण युवक थे। ब्रज में ऐसी कई अनुश्रुतियाँ हैं, जिनमें कहा गया है कि तुलसीदास जी सूरदास जी के दर्शनार्थ ब्रज पधारे थे। उनमें से एक अनुश्रुति यों है, "एक बेर सूरदास जी आनंद में बैठे तुलसीदास जी ते वार्तालाप कर रहे हते तौ एक मतवारे हाथी की चिंघाड़ सुनाई परी। हाथी की चिंघाड़ सुनतेई सूरदास जी घबराय उठे और अपनी लठिया सम्हार के उठ ठाड़े भए तो तुलसीदास जी ने कही कै सूरदास जी, आप डर्‌यौ मती। हमारे कौसलाधीस धनुसधारी हैं, वे हमकूँ बचाय लिंगे। जि हाथी आपकौ कछू नाय बिगारि सकै। ये सुनिकै सूरदास जी बोले—कथन साँचो है पर हमारे बालगोपाल जो कहूँ यहाँ आय गए तो उन्हें या हाथी के मारिवे में व्यर्थ को स्रम करनो परैगौ। मैं उन्हें च्यों कष्ट दऊँ। उन्हें तो मैया जसोदा के आँगन में ही खेलन देऊँ। मैं कहूँ ओट में दुबकि कै बचि जाऊँगौ।

सूरदास जी यह कह ही रहे थे कि इतने में ही कहीं से एक तीर आकर हाथी के मस्तक में लगा और वह चिंघाड़ता हुआ दूर जंगल में भाग गया।

अब यदि आप इस अनुश्रुति का विश्लेषण करें तो सूर और तुलसी की पूरी काव्य-रचना के दृष्टिकोण का अंतर और उद्देश्य की भिन्नता का रहस्य इससे सहज रूप में उद्घाटित हो जाएगा। जो तथ्य इस जनुश्रुति की इनी-गिनी पंक्तियों में व्यक्त किया गया है, उसके आधार पर यदि हम सूर और तुलसी के काव्य का विश्लेषण करने लगें तो इस पर एक लेख ही क्यों ग्रंथ भी लिखा जा सकता है। हमारे वर्तमान आलोचकों ने जो बातें अनेक पृष्ठों में बुद्धि को पूरा व्यायाम कराकर कही हैं, वही तथ्य इस अनुश्रुति में सहज व सुबोध शब्दावली में व्यक्त कर दिया गया है।

रामचरितमानस जीवन का महामंत्र—एक ऐसी ही और अनुश्रुति है, जो इस प्रकार है—"एक दिना काहू विद्वान् ने सूरदास जी ते पूछी कि महाराज, कविता कौन की सर्वश्रेष्ठ है ?" तो सूरदास जी बोले, कि हमारी कविता ही सर्वश्रेष्ठ है। ये सुनिके वो प्रश्नकर्ता चुप्प है गयौ। फिर कछु देर पीछें बा ने पूछी, "कै महाराज तुलसीदास जी की रामायन की कविता कैसी है ?" ये सुनिके सूरदास जी बोले, "भैया तुलसीदास जी की रामायन को कविता मत मानो। बाके तो अक्षर-अक्षर जीवन के महामंत्र हैं।"

यह थी महाकवि सूर की महाकवि तुलसी के संबंध में सहज स्नेह से परिपूर्ण अनुपम प्रशस्ति। आजके युग में कोई वरिष्ठ साहित्यकार अपने से किसी कनिष्ठ के प्रति ऐसा विशद् और विराट् दृष्टिकोण रख सकता है, हमें इसमें संदेह है।

तुलनात्मक समालोचना के युग में सूर और तुलसी के काव्य पर हमारे अनेक महान् आलोचकों ने अपने मत व्यक्त किए हैं। 'तुलसी मानस संदर्भ' में भी डा० राजनारायणराय के लेख में पृष्ठ ३८२ पर डा० रामखिलावन पांडेय की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं—"सूर की प्रतिभा का प्रमाण है काव्यात्मक संयोजन, कलात्मक संरचना, व्यंजना की प्रौढ़ता एवं अभिव्यक्ति की ललित तरंगमयता। तुलसी जनकंठ के अमर कवि हैं, सूरदास कवियों के कवि हैं, कलाकारों के कलाकार हैं, भावों की सांगीतिक स्वर-सिद्धि हैं—तुलसी में उदात्तता है, भव्यता है, सूर में विदग्ता है, मार्मिकता है। संयोजन, संघटन और निर्माण के शिल्पी हैं तुलसी; संवेदना, सांगीतिक भावोन्मेष एवं भावाकुलता के विदग्ध माधव हैं सूर। तुलसी शिल्पी हैं, सूर हैं कलाकार।"

जो बात उक्त समालोचना में बुद्धि-विस्तार से आपका आलोचक कहता है वही बात महाकवि सूर ने स्वयं तुलसी व अपने काव्य का अंतर स्पष्ट करते हुए दो शब्दों में आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व कही थी।

□ श्री निरंकुश

सूरदास का पुनर्मूल्यांकन

हिंदी साहित्य के प्रायः सभी गण्यमान आलोचकों को सूरदास के काव्य-कानन में सौंदर्य-भावना की रजनीगंधा का अनुभव तो हुआ पर जनकल्याण की चमेली महकती नहीं मिली। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा, 'लोक संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने कहा, 'न उन्हें लोकादर्श की चिंता थी और न धर्म के प्रचार ही की।'[2] डा० रामखेलावन पाण्डेय ने उनकी प्रतिभा में काव्यात्मक संयोजन, कलात्मक संरचना, व्यंजना की प्रौढ़ता एवं अभिव्यक्ति की ललित तरंगमयता के ही दर्शन किए।[3] ऐसा लगता है कि हमारे विद्वान् तुलसीदास की उपलब्धियों से इतने प्रभावित हो चुके हैं कि तुलना के लिए उन्हीं को मानक के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ न तो सूर और तुलसी को आमने-सामने खड़ा करके कोई प्रतियोगिता आयोजित करनी है और न ही मूर्धन्य साहित्यकारों की व्यवस्थाओं को चुनौती देनी है। इसे दुस्साहस कहिए या कुछ और कि अब तक उपेक्षित-से रहे सूरदास के पुनर्मूल्यांकन के लिए अनुरोध अवश्य करना है।

सौंदर्यानुभूति व्यक्तिगत होते हुए भी समाज-निरपेक्ष नहीं रह पाती। प्रत्येक युग किसी विशिष्ट भावना के आश्रित होकर चला करता है और उसी के अनुरूप अभिव्यक्ति होती है। वैदिककाल धर्म और सौंदर्य की सम्मिलित सत्ता का था, जिसकी अभिव्यक्ति 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' से हुई। महात्मा बुद्ध के दुःखवाद से प्लावित होकर सौंदर्यानुभूति निवृत्तिपरक बन गयी और पुराणों की रचना के उपरांत

१. भ्रमरगीत सार, पृ० ७

२. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५४२

३. हिंदी साहित्य का नया इतिहास, पृ० १००

वह दिव्य से मानवीय स्तर पर उतरकर लौकिक हो गई, यद्यपि अवतारवाद की परिकल्पना ने उसके अलौकिक तत्त्व को बचाए रखा। कालिदास के इन शब्दों **'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः'**[1] से सौंदर्य के दुराचारोन्मुखी होने की आशंका दूर हो जाती है। सत्य और सुंदर की अभिन्नता और उनमें शिवत्व के विलय से ही कवि की वाणी सार्थक हो पाती है, जैसा कि सुमित्रा नंदन पंत की इन पंक्तियों 'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार, लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार' में व्यक्त किया गया है। सामाजिक गतिविधि की अवहेलना करके सत्य का निर्णय कर पाना संभव नहीं और सौंदर्यबोध तथा नीतिमत्ता के अभाव में सत्य मूर्त्त नहीं होता। मनुष्य जिस देश और काल में रहता है, तदनुसार सौंदर्य के मानदंड की रचना करता है। सुंदरता-असुंदरता का आकलन भी उसी मानदंड से होता है। आचार्य क्षेमेंद्र का औचित्य-वाद इसी तथ्य पर आधारित है, जो विषय और विषयी के बीच समन्वय की सृष्टि करता है। इन स्थापनाओं के संदर्भ में सूरदास के कृतित्व पर विचार करना समीचीन होगा।

पहले उन परिस्थितियों का आकलन आवश्यक प्रतीत होता है, जो सूर के युग में व्याप्त थीं। ऐतिहासिक सूत्रों के अनुसार तेरहवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अंत तक भारतीय नागरिकता के दो संवर्ग बन चुके थे। प्रवर श्रेणी में मुसलमान आते थे, जो विशेषाधिकृत थे और अवर में हिंदू, जो अपने ही देश में दलित समझे जाते थे।[2] हिंदू स्त्रियों के दासीकरण में यवनों को आनंद मिलता था और ऐसी अनेक असहाय महिलाएँ दरबारियों के मनोरंजन के लिए नाचने-गाने पर विवश होती थीं। धर्मपरिवर्तन के बाद बहुत-सी महिलाएँ भेंट स्वरूप राजपुरुषों में वितरित कर दी जाती थीं।[3] जहाँ तक शासकों की व्यक्तिगत भूमिका का प्रश्न है, अलाउद्दीन खिलजी ने हिंदू प्रजा को कुचलकर विपन्न कर देने की नीति अपनायी।[4] फीरोज़ तुग़लक ने देवालयों के विध्वंसोपरांत उनके निर्माताओं की हत्या से हिंदुओं को सावधान कर दिया कि वे मुस्लिम राज्य में अपने स्वामित्व की माँग न करें। उसने प्रलोभन देकर हिंदुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे बड़ी संख्या में मुसलमान हो गए।[5] मथुरा का प्रसिद्ध केशवदेवजी का मंदिर उसी की प्रेरणा से धराशायी किया गया।[6] सिकंदर लोदी

1. कुमारसंभव ५/३६
2. A. L. Srivastava, Medieval Indian Culture, P. 5
3. Ibid. P. 25
4. V. A. Smith, The Oxford Student's History of India, P. 113
5. Ibid. P. 118
6. A. L. Srivastava, Medieval Indian Culture, P. 43

ने वे सारे मूर्ति-भवन नष्ट करवा दिए, जिनकी जानकारी उसको हो सकी।[१] फीरोज तुगलक द्वारा भंजित केशवदेवजी का मंदिर, जो फिर से बन गया था, सिकंदर लोदी के आदेश से पुनः खंड-खंड कर दिया गया।[२] उस धर्मांध नृपति ने उपासना-स्थलों को सरायों और मकतबों में बदलकर यश लूटा। भग्न प्रतिमाएँ मांस तौलने के लिए कसाइयों में वितरित कर सार्वजनिक घोषणा की गयी कि मथुरा का कोई हिंदू न केश और कूर्च मुड़ा सकता है और न कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है।[3] सर जदुनाथ सरकार की यह अभ्युक्ति कि भारत के मध्यकालीन मुस्लिम शासन ने हिंदू-समाज को रसातल में पहुँचाकर इस देश के प्रति सबसे बड़ा अपकार किया है, बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

वर्णाश्रम व्यवस्था लगभग छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। ब्राह्मणों द्वारा खड़े किए गए धर्म-कर्म के आलीशान डेरे-तंबू इस्लाम की काली आँधी में उड़कर कहीं से कहीं जा पड़े थे। वे संपूर्ण देवी-देवता, जिनकी आकृतियों के साधारण से लेकर राजसंस्करण तक स्थान-स्थान पर उपलब्ध थे, आँखों पर पट्टी बाँधे और कानों में तेल डाले चुपचाप बैठे हुए थे। उस दशा में हिंदुओं की परंपरागत मूल्यों में आस्था डिगनी स्वाभाविक थी। जो व्यक्ति बलात् मुसलमान बनाए गए थे, वे कम से कम, घुटन से निकलकर खुली हवा में साँस लेने का अवसर पा गए थे। उन्हें सुख में देखकर सदियों से उत्पीड़ित और उपेक्षित नर-नारी इस्लाम की ओर प्रभूत मात्रा में आकृष्ट हो रहे थे। सूफ़ी फ़क़ीरों ने हिंदू साधुओं की भाँति चाल-ढाल अपनाकर धर्मांतरण का कुचक्र चला रक्खा था।[४] उनमें कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने आततायियों का खुलकर समर्थन किया। सोमनाथ की विजय-यात्रा पर जाते समय महमूद ग़ज़नवी को लाहौर के एक पीर ने आशीर्वाद दिया और अपने हिंदू शिष्यों से सुल्तान का विरोध न करने का वचन लिया। सैयद सालार मसूद हिंदुओं के साथ धर्मयुद्ध कर शहीद होने पर ग़ाज़ी कहलाए और उस उपलक्ष्य में आज तक ज़िला बहराइच स्थित उनके मज़ार पर 'उर्स' मनाया जाता है। मुहम्मद ग़ौरी ने ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के लिए अजमेर के एक मंदिर को तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया, जो 'ढाई दिन का झोंपड़ा' के नाम से प्रसिद्ध है।[५]

मुसलमानी प्रभाव से ग्रस्त कबीर और नानक मैदान में थे अवश्य, परंतु वे

1. V. A. Smith, The Oxford Student's History of India, P. 120
2. A. L. Srivastava, Medieval Indian Culture, P. 43
3. Abdulla, Tarikh-i-Daudi
4. (A) A. L. Srivastava, Medieval Indian Culture, P. 28
   (B) A. M. A. Shustery, Outlines of Islamic Culture, P. 414
5. परशुराम चतुर्वेदी, सूफ़ी काव्यसंग्रह, पृ० १८, ३५, ३७

कई कारणों से अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सके। शंकर के अद्वैत, रामानुज के विशिष्टाद्वैत, निंवार्क के द्वैताद्वैत, मध्व के द्वैत, वल्लभ के शुद्धाद्वैत और विश्वंभर के चैतन्यमतों का उद्गम एक ही था तथा वे सभी भक्ति के महत्त्व पर बल देते थे। उनकी उपासना के सिद्धांतों का भेद अत्यंत सूक्ष्म और तात्त्विक होने के कारण साधारण बुद्धि के लोगों की समझ से परे था। नाथपंथियों के हठयोग में जन-अभिरुचि कभी नहीं रही और उसकी चर्चा में संत कवियों का प्रयास व्यर्थ ही गया। इस प्रकार देखा जाय तो तत्कालीन हिंदू समाज को अपने भीतरी संप्रदायों से उतना खटका नहीं था जितना इस्लाम से, जो एक ओर सूफ़ी संतों द्वारा चालाकी से फैलाया जा रहा था और दूसरी तरफ़ कबीर और नानक प्रभृति ज्ञानियों की अटपटी वाणी से सामान्य व्यक्तियों के विश्वासों को डिगाकर फल-फूल रहा था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि खंडन-मंडन की नीति से बहुत से हिंदू तो मुसलमान हो गए पर कोई मुस्लिम शायद ही हिंदू धर्म का अनुयायी बन सका हो क्योंकि उल्टी दिशा में गंगा के बहाव पर पाबंदी लगी हुई थी।[1] एकछत्र राज्य के उस काल में जबकि मुस्लिम शासकों के समानधर्मियों की संख्या अब की अपेक्षा कहीं कम थी और उसमें वृद्धि करने की राजनीतिक अनिवार्यता भी स्पष्ट थी, मुसलमानीकरण में नरेशों का कितना बड़ा योगदान रहा होगा, आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व के भारत में हुई घटनाओं से अच्छी तरह समझा जा सकता है। अकेले जूनागढ़ का उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जहाँ के नवाब की बेगम ने अहद कर रक्खा था कि वह बिना छः हिंदू लड़कियों को इस्लाम में दीक्षित किए रात्रि का भोजन नहीं करेगी।[2]

हिंदुओं की उस घोर दुर्दशा के काल में सूरदास का जन्म हुआ और उन्होंने महाप्रभु वल्लभ से गुरुमंत्र लिया। वल्लभाचार्य जी के हृदय की वेदना का पता उनके एक लेख के इस अंश से चलता है : "पाप में डूबे हुए मलेच्छों से जब देश भरा हुआ है और भले लोग पीड़ित होकर व्यग्र हैं, ऐसे समय में कृष्ण ही मेरी सहायता करें। आज तीर्थों में रहने वाली हिंदू जनता भी दुष्ट हो गयी है। तीर्थों की ईश्वरीय प्रतिष्ठा नष्ट हो गई है। ऐसे समय में कृष्ण ही मेरे आराध्य हैं। आज लोग वेदों के मंत्रों के ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। अच्छे संकल्पों की ओर उनका ध्यान नहीं रहता। देश की ऐसी अवस्था में मैं कृष्ण की शरण में जाता हूँ।" स्पष्ट है इस मनोदशा वाले गुरु ने जब शिष्य से कहा हो 'सूर है कें काहे कौं घिघियात हौं, कछु भगवद् लीला बरनन करो', तो उसे सोद्देश्य रचना के लिए कितना अपरिमित बल मिला होगा। उस युग की मुख्य समस्याएँ दो थीं। पहली का संबंध हिंदुओं के घटते हुए आत्मविश्वास से

1, A. L. Srivastava, Medieval Indian Culture, P. 78
2. Durga Das, Sardar Patel's Correspondence, Volume VII, P. 699

था और दूसरी का धर्म-परिवर्तन में उनके बढ़ते हुए रुझान से। सूरदास ने पुष्टिमार्गीय अवधारणाओं से उनके समाधान की चेष्टा की।

सूरदास की दृष्टि में उनके समय के सारे हिंदू उस द्रोपदी की दशा में थे, जो दुःशासन द्वारा भरे समाज में निर्वस्त्र की जा रही थी और जिसने गोपीजन-प्रिय की पुकार करके कृष्ण की सहायता प्राप्त की, और अपनी लाज बचायी। इसलिए सूर-काव्य का गोप-समुदाय संकटग्रस्त हिंदू-समाज का प्रतीक है। गोपियों के मनोभावों को इसलिए प्रधानता दी गयी है क्योंकि हिंदू महिलाओं को मुस्लिम दुराचार का अधिक फल भोगना पड़ा था। कृष्ण अपने भक्तों के उद्धार के लिए दौड़ने में कभी विलंब नहीं करते।[१] लेकिन शर्त यह है कि वे असीम विश्वास के साथ बुलाए जाएँ। अस्थिर विश्वास से काम नहीं चलता। पुष्टिमार्ग की आधारशिला इसी धरती पर रक्खी गयी थी। प्रभु की कृपा का पात्र बनने के लिए **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**[२] जैसा निर्देश स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

भक्त के मन में इस प्रकार भगवान् की शरण-ग्रहण करते समय वैसा कोई संकोच नहीं रहना चाहिए जैसा दुर्योधन को गांधारी के समक्ष उपस्थित होते समय हुआ था और जिसके कारण वह माता का अक्षय कवच पाने में असमर्थ रहा। यदि गोपियाँ सर्वमंगल की कामना करती हैं तो उन्हें लोक-लज्जा को त्यागना पड़ेगा। संभवतः कल्याणमूलक अनन्य प्रेम की इसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने उन कुछ पदों की रचना से घृणा नहीं की, जिन पर हमारे आधुनिक साहित्यिक मनीषी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। सच पूछा जाय तो उनसे कहीं अधिक कामोत्तेजक प्रसंग हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराणों में मिलते हैं। इन धार्मिक ग्रंथों में वासना को बढ़ावा देने वाली सामग्री का समावेश कदाचित् नाना जातियों और सभ्यताओं के समागम से उत्पन्न संस्कृति अपमिश्रण की प्रक्रिया से संबद्ध है। जो मान्यताएँ धुर अतीत में प्रबल रही होंगी, वे काल की अबाध गति से धीरे-धीरे शिथिल पड़ गयीं।

जहाँ तक सूरदास की भूमिका का प्रश्न है उसकी समीक्षा में टी० एस० इलियट के इस मत से बड़ी सहायता मिलती है कि 'कलाकृति का पहला संबंध परंपरा से होता है, अपने रचयिता से नहीं और आलोचक को वर्तमान के लिए भूत का निर्वचन करके अतीत के मापदंड से वर्तमान स्थिति का निर्णय करना चाहिए। नारी के प्रति आकर्षण सनातन प्रवृत्ति है लेकिन उससे उत्पन्न प्रेम-भावना वैषयिकता

१. श्रीमद्भगवद्गीता : ४/७-८
२. वही : १८/६७

तक सीमित रहे, ऐसी बात नहीं है। आदर के योग से वह आध्यात्मिक उदात्तता के शिखर को छू लेती है। जामी[१], अरबी[२], शैफ्ट्सबरी[३], शैलिंग[४] सभी सौंदर्य में दैवीगुण की विद्यमानता स्वीकार करते हैं। हाफ़िज़[५] का यह दावा कि कोई ऐसा भी प्रेमी हुआ है, जिसकी दशा पर उसके प्रियतम को दया न आई हो, उसी माधुर्य भक्ति की वकालत करता है, जिससे सूर का काव्य आदि से अंत तक ओतप्रोत है।

रासलीला के वर्णन में ही ऐसे कुछ स्थल[६] देखने को मिलते हैं, जो विवाद का कारण बने हुए हैं। कृष्ण की मुरली में जादू है। सूर के अनुसार **'गई सोलह-सहस हरि पै, छाँड़ि सुत-पति-नेह'**। इन सोलह हज़ार गोपियों में बहुत-सी वे भी हैं, जिन्होंने कृष्ण को गोद खिलाया है और जिन्हें उनकी मोहिनी मूरत और नटखट आदत भा गयी है। वे यशोदा माता जैसी हैं। जो वास्तव में विवाहिता युवतियाँ हैं उन्हें अपने पास दौड़कर आता देख कृष्ण निश्चय ही असमंजस में पड़ जाते हैं और कहते हैं : **कपट-तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ। कंत मानहु भव तरौगी, और नाहिं उपाइ। ताहि तजि क्यौं बिपिन आईं, कहा पायौ आइ।**[७] किंतु गोपियाँ **'हम जाने केवल तुम ही कौं, और बृथा संसार'** का घोष करके फूट-फूटकर रोने लगती हैं।

यह वेणुवादन का रहस्य क्या है, इसे समझने की चेष्टा करनी चाहिए। गोपियों की दशा वैसी ही है जैसी सूर-कालीन हिंदुओं की थी। ब्रजांगनाएँ आयु, कुल, नाते-रिश्ते सबका ध्यान छोड़कर एक स्वर पर, एक स्थान पर जाकर एकत्रित हो जाती हैं और स्वयं को श्रीकृष्ण को समर्पित कर देती हैं। हिंदुओं को भी पारस्परिक मतभेद भुलाकर और रूढ़ियों का परित्याग कर किसी एक लोकनायक की आवाज़ पर संगठित होना आवश्यक था, यदि वे विदेशी शासन से मुक्त होने की इच्छा रखते थे। फिर रासलीला आरंभ होती है, जिसकी पराकाष्ठा पर कृष्ण में सारी गोपियाँ और प्रत्येक गोपी में कृष्ण समाये हुए दीखते हैं। तादात्म्य की यही स्थिति सामाजिक पक्ष में नेता और जनता के बीच अपेक्षित है, जिसे सूरदास ने कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है। गोपी-कृष्ण संबंधों में यौनाचार की प्रतीति करना पाठक और आलोचक के लिए चाहे संभव हो सके, किंतु सूरदास के लिए वह नितांत असंभव था। सूरदास की मनोदशा में कोई विकार नहीं था। उनके चित्रण में कतिपय विलक्षणताओं का

---

१. बरऊदे दिलम नबाख्त यक ज़मज़मा इश्क़। जां ज़मज़मा अमजे पाये ता सरहमइश्क़
२. The basis and the cause of all love is beauty.
३. Beauty is an expression of the divine life of the world.
४. The infinite represented in finite form is beauty.
५. आशिक़ कि शुद के यारः बहालश नज़र न कर्द
६. सूरसागर, १२७७, १६१८ आदि
७. सूरसागर, १६३४

कारण उस आपद्धर्म के संस्तुतिकरण का फल है, जिसमें थोड़ी-सी छूट का सहन करना उसी प्रकार बरेण्य हो जाता हैं, जिस तरह बड़ी बुराई से बचने के लिए छोटी त्रुटि को अंगीकार करके होता आया है।

इसके अतिरिक्त नैतिकता-अनैतिकता और शुभ-अशुभ का निर्णय करना इतना सरल भी तो नहीं है। आणविक अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति का ज्ञान सबको है, फिर भी अणु विस्फोट शांति और अहिंसा में विश्वास रखने वाले राष्ट्रों द्वारा भी किया जा रहा है। संभवतः इसलिए कि वस्तु कोई बुरी नहीं होती किंतु दोषपूर्ण हाथों में पड़कर अच्छी से अच्छी वस्तु हानिप्रद सिद्ध हो सकती है। सूरदास ने तो परकीया के प्रेम को स्वकीया की प्रीति में सुंदरता से ढालने के विचार से राधा का कृष्ण से विवाह तक करा दिया। यदि पाठक, श्रोता अथवा दर्शक की दृष्टि ही दोषपूर्ण हो जाय तो बेचारा कवि क्या करे? खेद तो इस बात का है कि इस युग में जबकि समाजशास्त्री यौन-शिक्षा को पाठ्यक्रम का अंश बनाने पर बल दे रहे हैं और कलात्मकता के नाम पर नग्नता को प्रोत्साहन मिल रहा है, सूर-काव्य के नवीन आलोचक भी वही लकीर के फ़क़ीर बने रहना चाहते हैं।

अब सूरदास की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि पर विचार कर लिया जाय। हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन कराने के लिए मुसलमानों द्वारा जो हथकंडे अपनाए जा रहे थे, उनमें इस्लाम के निर्विकार एकेश्वरवाद, उसके पैगंबर साहब की समाजवादी भूमिका और जीवन के प्रति प्रवृत्ति-प्रधान दृष्टि का अधिःप्रचार प्रमुख थे। सूरदास उक्त अभियान का प्रत्यक्ष विरोध नहीं कर सकते थे।[1] इसलिए उन्होंने हिंदू-धर्म के परंपरागत निर्गुण-सगुण विवाद की आड़ लेकर अपना रचनात्मक कार्य प्रारंभ किया, जिसका लेखा-जोखा 'भ्रमरगीत' में सुरक्षित है। भ्रमरगीत के पदों में सूरदास ने गोपियों से बहुत-सी फ़ब्तियाँ कसवायी हैं, जो निरर्थक नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि क़वि ने श्रीकृष्ण को खुदा, उद्धव को मुहम्मद साहब, गुंजन करते भ्रमर को अबू बकर और गोप-गोपयों को हिंदू-समाज की प्रतीकात्मक भूमिका में उतारने की चेष्टा की है और उनके पारस्परिक संबंधों का दिग्दर्शन अन्योक्ति जैसी विधा से कराया है। इस प्रयत्न में वे पूर्णरूपेण सफल रहे हों, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता परंतु इतना अवश्य है कि उद्दिष्ट संप्रेषणीयता की दृष्टि से वे उपयोगी कार्य कर गए हैं। उनके उद्धव-गोपी-संवाद के आधार पर श्रीकृष्ण और मुहम्मद साहब की इहलीलाओं में

1. The Sultanate enforced strictly the law against blasphemy, and no one was permitted to speak a word against the Prophet of Islam or say anything about the shortcomings of the Muslim religion. For those who were considered guilty of this offence, the punishment was death. —A. L. Srivastava-Medieval Indian Culture, P. 46

सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न करना व्यर्थ की बात होगी क्योंकि न तो वैसा करना सूरदास के लिए संभव था और न किन्हीं दो विभूतियों का जीवनवृत्त एकसा हो सकता है। इन दोनों महापुरुषों के साथ एक कठिनाई यह भी थी कि उनके विषय में अधिकांश सामग्री किंवदंतियों पर आधारित रही है।

सूर-रचित आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी[१], जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है[२], मुक्ति आनि मंदे में मेली[३], ऊधौ तुम ब्रज में पैठ करी[४], ऊधो बेगि मधुवन जाहु[५] आदि पदों को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे कवि उस समुदाय की मनोवृत्ति का चित्रण करने को उत्सुक है, जो व्यापार-वाणिज्य में कुशल रहा हो। यहाँ व्यवसाय के इन क्षेत्रों में अरब के मुसलमानों की विकसित प्रतिभा को विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास एक ओर तो इस्लाम के दार्शनिक तत्त्वों की श्रेष्ठता में शंका पैदा करके हिंदुओं में अपने धर्म के प्रति व्याप्त हीनता की भावना को दूर करना चाहते थे और दूसरी ओर जन-मानस में कृष्ण के लिए अटूट श्रद्धा का पुनर्जागरण करने को कटिबद्ध हुए थे ताकि भगवान् दुष्टों से छुटकारा दिलवाने के लिए शीघ्र अवतार लेने को विवश हो जाएँ। एक दृष्टि से उनके सोचने का ढंग बिल्कुल सही था। उनकी गोपियों ने मानव-शरीरधारी ब्रह्म को अपने मध्य ऐसी लीला करते हुए देखा था, जिसमें उन्होंने स्वयं भी भाग लिया। फिर वे यह कैसे स्वीकार कर सकती थीं कि वह अजन्मा हो सकता है। हिंदुओं का यह विश्वास तनिक अंतर के साथ ईसाइयों में भी प्रचलित था।[६] सूर ने बड़ी चतुराई से उद्धव और गोपियों के बीच विवाद उत्पन्न कराके भक्तों को उनके आराध्य के और समीप पहुँचवा दिया, जिससे वे पथभ्रष्ट न हो जावें। महात्मा ईसा के अवतीर्ण होने पर संत जॉन का प्रयास भी कुछ इसी प्रकार का रहा था।[७] एक बात और भी है। अवतार परंपरा में वासुदेव

१. सूरसागर, ४५८३
२. सूरसागर, ४२८२
३. सूरसागर, ४३४२
४. सूरसागर, ४२८१
५. सूरसागर ४१३५

६. And Christ became a human being and lived here on earth among us and was full of loving forgiveness and truth. And some of us have seen his glory—the glory of the only Son of the heavenly Father. —John 1 : 1-5 The Living New Testament.

७. John replied, "God in heaven appoints each man's work. My work is to prepare the way for that man so that everyone will go to him... The crowds will naturally go to the main attraction—the bride will go where the bridegroom is. A bridegroom's friends rejoice with him. I am the bridegroom's friend, and I am filled with joy at his success. He must become greater and greater, and I must become less and less. —Ibid,

कृष्ण दाशरथि राम से कहीं अधिक अहिंसक रहे हैं। उन्होंने वंशीवादन द्वारा लोक का उतना कल्याण किया जितना शस्त्र उठाकर उनके पूर्ववर्त्ती कोई दिव्य पुरुष नहीं कर पाए। यह स्पष्ट होता जाता है कि हिंसा का मार्ग अंततोगत्वा सार्थक नहीं सिद्ध होता। संभवतः इसी कारण बुद्ध और गांधी जैसी परवर्ती विभूतियों ने, जो एक प्रकार से अवतार शृंखला की मज़बूत कड़ियाँ ही हैं, सदैव अहिंसात्मक संघर्ष पर बल दिया।

तुलसीदास ने लोकादर्श प्रस्तुत करने में निस्संदेह सराहनीय कार्य किया परंतु वे सनातन धर्म की स्थापना में सफल नहीं हो सके क्योंकि युग के बढ़ते हुए चरणों के साथ प्राचीन मर्यादाओं का अक्षरशः पालन करना संभव नहीं रह गया था। उनके द्वारा प्रतिपादित धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था की प्रशंसा तो सबने की परंतु उस पर व्यवहार नहीं के बराबर ही हुआ। इस तरह कथनी और करनी के मध्य की खाई दिनोंदिन बढ़ती गयी, जिसका अनुभव आज का प्रत्येक नागरिक कर रहा है। इसके विपरीत सूरदास असंभव के पीछे बिल्कुल नहीं भागे और उन्होंने व्यावहारिकता पर बराबर दृष्टि रक्खी। सूरदास ने अपनी मधुर वाणी द्वारा जिस अमृत-रस का संचार किया वह जीवन से पलायन करने की घातक प्रवृत्ति को नियंत्रित करने में बहुत सहायक हुआ। रासलीला के रंग में भीगकर हिंदू पर्याप्त सीमा तक अपनी व्यथा को भूलने में सफल हुए, जिसके कारण धर्म-परिवर्तन की बाढ़ में निश्चय ही कमी आई। कृष्ण के जिस मनमोहक स्वरूप का वर्णन सूरदास ने इतनी कुशलता से किया उससे अनेक मुसलमान रसिक-जन और कवि प्रभावित हुए, जिसके फलस्वरूप दोनों धर्मों के अनुयायियों के बीच कटुता की मात्रा न्यून हुई।

सूरदास को इस बात का श्रेय भी मिलना चाहिए कि उनकी काव्य-रचना-पद्धति से ललित-कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। संगीत, चित्रकारी, मूर्ति-निर्माण और स्थापत्य के क्षेत्रों में सर्वत्र राधाकृष्ण की ही छवि दिखाई देने लगी। देश में मुसलमानों की संख्या के उत्तरोत्तर बढ़ने से गौवंश का ह्रास द्रुतगति से हुआ। सूरदास ने गोचारण को काव्य की विषयवस्तु बनाकर और दूध-मक्खन के महत्त्व पर बल देकर गोधन की रक्षा के लिए समाज को प्रेरणा दी। और अंत में यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि सूरदास ने जहाँ तक बन सका नारी को नर के समकक्ष रखने की चेष्टा की। उनकी गोपियाँ किसी अवसर पर हीनता की भावना से ग्रस्त नहीं दिखलायी पड़तीं। अल्पज्ञ होकर भी वे सूझबूझ द्वारा बड़े से बड़े ज्ञानी से तर्क करने का साहस रखती हैं और घड़ी भर को आत्मविश्वास नहीं खोतीं। घुटघुट कर जीना उन्हें पसंद नहीं। पुरुषों के समान स्वच्छंद होकर जीवन व्यतीत करना उनका लक्ष्य है और उसकी पूर्ति में वे किसी परंपरागत बंधन की परवाह नहीं करतीं। इन तथ्यों के प्रकाश में महाकवि सूर की प्रगतिशील, लोकनिर्माणकारी भूमिका को कैसे अनदेखा किया जा सकता है।

☐ डा० श्यामकिशोर शर्मा

सूरसागर में नवजागरण के स्वर

जब कोई युग अथवा समाज निष्क्रिय हो जाता है और अपनी परंपराओं तथा रूढ़ियों में बँधकर अपनी भविष्य-चिंता छोड़ देता है, तब इस गतिरोध की समाप्ति के लिए कोई शक्ति उत्पन्न होती है। यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। श्रीमद्भगवद्गीता में तो भगवान् स्वयं ही कहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ।[1]

नवजागरण एक ऐसी सक्रिय नव्य चेतना है, जो युग अथवा समाज के लहू में परंपराओं से हटकर समाज-सापेक्ष्य चलने की शक्ति उत्पन्न करती है। हिंदी साहित्य कोश में लिखा है कि नवजागरणकाल में साम्राज्य का अस्त और आधुनिक राष्ट्रीय राज्य की परंपरा का उदय, सामंतशाही का ह्रास और पूँजीवाद तथा उसके परिणामस्वरूप एक नए अवकाशभोगी वर्ग का उदय एवं भाषाओं का विकास देखने को मिलता है।[2]

कुछ विद्वान् नवजागरण शब्द को यूरोप के रेनेसाँ (पुनर्जागरण) से जोड़ने की भूल करते हैं। यह नवजागरण तो प्रत्येक युग में दिखाई देता है, जो समाज के प्रतिकूल और उसके विषम तत्त्वों के असहनीय स्वरूप को समूल नष्ट करने के लिए स्वतः सक्रिय होता रहता है—चाहे शासन में हो और चाहे समाज में। देश की वर्तमान स्थिति नवजागरण की प्रक्रिया नहीं तो और क्या है ? मेरा तो दृढ़ विश्वास

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
श्रीमद्भगवद्गीताः ४/५

२. हिंदी साहित्य कोश; भाग १, पृ० ४०४

है कि नवजागरण एक गतिशील, जागरूक एवं विकासमान धारा है, जो रूढ़िवादी एवं मृत अंश को छोड़कर नवीन सत्य को आत्मसात करती है और जनजीवन में नवचेतना का मंत्र फूँकती है।

नवजागरण की प्रतिक्रियास्वरूप सुख-शांति और भौतिक समद्धि प्राप्त होती है, कठोर, शुष्क तथा काष्टदायक जीवन और अशांति का नाश होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति का जीवन-दर्शन ही बदल जाता है और इस बदले हुए जीवन-दर्शन की प्रणाली से उत्प्राणित नव्य चेतना और उससे उद्भूत युगचेतना, जीवन-दृष्टि जीवन-मूल्य और जीवन-बिंबों में नवजागरण के स्वर गूँजने लगते हैं, जो जीवन और जगत् को नयी दिशा (परंपरा से अलग) की ओर अग्रसारित करते हैं।

सूरसागर में नवजागरण के स्वर तीन आयामों में विभक्त किए जा सकते हैं—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। सूरसागर के प्रमुख पात्र कृष्ण इन तीनों आयामों के जागरूक और सशक्त प्रहरी एवं संचालक हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व का निखार और उनकी मर्यादा की रक्षा इन्हीं आयामों की श्रेष्ठता तथा सफलता से हुई।

तत्कालीन समाज कंस और उसके भ्रष्ट, घूसखोर दीवान-दरोगाओं के निर्मम एवं क्रूर अत्याचारों से पीड़ित था। समाज अपने अस्तित्व में मृत-प्रायः सा हो गया था। समाज में विकृत रूढ़ियों और मानव-कल्याण-विरोधी तत्त्वों का आधिपत्य हो गया था। कृष्ण ने इन विकृत और परंपरागत रूढ़ियों तथा समाज-कल्याण-विरोधी तत्त्वों का समूल नाश कर जीवन और जगत् में नव्य चेतना का मंत्र फूँका। सामाजिक दायित्व का भार वहन करते हुए तत्कालीन समाजोद्धार के निमित्त कंस के क्रूर एवं निर्दयी सेवकों का नाश कर समाज को सुख-चैन की वंशी बजाने के योग्य बना दिया। समाज के वातावरण को दूषित बनाने और अशांति फैलाने वाले अनेक कंस-धर्मी एवं उसके इंगितों पर नाचने वाले मानव-अहितकारी तत्त्वों 'पूतना, कागासुर, सकटासुर, तृणावर्त, बकासुर तथा शंखचूड़' आदि का वध कर मानव-कल्याण का पथ प्रशस्त किया। किसी दृढ़ सत्ता और उसके संरक्षकों के विरोध में समाजहित के लिए आवाज उठाना और कर्मरत होना तत्कालीन परिवेश में नवजागरण ही माना जाएगा।

सूरसागर में कृष्ण ने कंस और उसके अनुयायी लठैतों का दमन कर समाज की परिस्थितियों को सुखमय बनाया। कंस अपनी शक्तियों और नीतियों को कृष्ण द्वारा दमन की जाती हुई देखकर विचलित हो उठा और उसने कृष्ण की हत्या की रीतियाँ-नीतियाँ अपनानी शुरू कर दीं। कंस द्वारा प्रेषित पूतना जब अपने दुग्ध-पान से कृष्ण को मारने में असफल रही और स्वयं ही अपना जीवन खो बैठी तो कंस की चिंता गहरी हुई और उसने पुनः भयंकर खूँखवार राक्षसों 'कागासुर, सकटासुर, तृणावर्त, बकासुर, अघासुर, शंखचूड़, बृषभासुर तथा ज़रासंघ' आदि के द्वारा कृष्ण

हत्या के निर्मम उपायों का सुनियोजन किया। समाजोद्धार-निमित्त एवं उसकी सुख-शांति-हेतु प्रकृति द्वारा प्रेषित शक्ति का अंत कर पाना संभव नहीं, यही कारण था कि अतुल शक्ति-संपन्न कंस कृष्ण को न मार सका और प्रत्येक स्थान पर उसने मुँह की खाई।

तृणावर्त कृष्ण-वध के लिए नंद के महल में घुस कर आँगन में लेटे कृष्ण को लेकर आकाश में उड़ गया। चारों ओर अंधकार छा गया। इस विचित्र मँजीकल वातावरण में व्रजवासी चकित हो गए। यशोदा दौड़-दौड़ कर इधर-उधर कृष्ण को पुकारने लगीं, इसी बीच कृष्ण तृणावर्त का आकाश में वधकर और उसके ही शिला-सदृश शरीर पर बैठकर व्रज आ गए। तृष्णावर्त का संहार कर उसकी तामसी-प्रवृत्तियों से जन-जीवन को मुक्ति दिलाई :

अति विपरीत तृनावर्त आयौ।
वात-चक्र-मिस ब्रज ऊपर परि नंद-पौरि कैं भीतर धायौ।
पौढ़े स्याम अकेले आँगन लेत उड्यौ, आकाश चढ़ायौ।
अंधाधुंध भयौ सब गोकुल, जो जहँ रह्यौ सो तहीं छपायौ।
जसुमति धाइ आइ जो देखै, स्याम-स्याम कहि टेर लगायौ।
इहि अंतर अकास तैं आवत, परबत सम कहि सबनि बतायौ।
मार्‍यौ असुर सिला सौं पटक्यौ, आप चढ़्यौ ता ऊपर भायौ।[1]

पूतना और तृणावर्त के संहार के समय कृष्ण बालक ही थे। किंतु उनकी निर्भीकता और साहस-शक्ति ने वड़े-वड़े भयंकर पराक्रमी राक्षसों, यहाँ तक कि अद्भुत शक्तिशाली कंस को भी हिला दिया था। 'तृनावर्त पूतना पछारी तब अति रहे नन्हैया।'[2] और जब कृष्ण बड़े हुए तब उनकी शक्ति और साहस की तुलना ही क्या ? यह समाजोद्धार की दिशा, आततायियों का नाश, विकृतियों को जड़ से उखाड़ फेंकना नवजागरण का ही परिणाम है।

अघासुर जैसे दुष्ट राक्षस का संहार कर कृष्ण ने मानव-जाति का ही उद्धार नहीं किया अपितु अपने प्रिय गो-सुत और गायों का भी उद्धार किया :

गिरि-कंदरा समान भयानक जब अघ बदन पसार्‍यौ।
निडर गोपाल पैठि मुख-भीतर, खंड-खंड करि डार्‍यौ।[3]

शंखचूड़ राक्षस ने समाज में स्त्रियों का मान-मर्यादा से रहना मुश्किल कर दिया था। इस भ्रष्ट एवं पतित राक्षस का वध कर और गोपियों की मान-मर्यादा की

---

१. सूरसागर, ६६५
२. सूरसागर, १०४६
३. सूरसागर, १०५१

रक्षा कर कृष्ण उनके मान-सम्मान के एकाधार बने। प्रेम-रास-क्रीड़ा में निमज्जित सुध-बुध खोई गोपियों को शंखचूड़ उठा कर ले गया। कृष्ण ने गोपियों की करुण-पुकार पर शंखचूड़ का बध कर समूचे स्त्री समाज की रक्षा की :

शंखचूड़ तिहि अवसर आयौ।
गोपी हुतीं प्रेम-रस-माती, तिन कछु सोध न पायौ।
चल्यौ पराइ सकल गोपी लै, दूरि गऐं सुधि आई।
को यह लिये जात कहँ हमकौं, कृष्न कृष्न गुहराइ।
गोपी-टेर सुनत हरि पहुँचे, दानव देखि डरायौ।
मुष्टिक मारि गिराइ दियौ तिहिं, गोपिनि हरष बढ़ायौ।[1]

इस प्रकार समाज को कष्ट पहुँचाने वाले अनेक राक्षसों 'वृषभासुर, केशी तथा व्योमासुर' आदि का जन-मानस के सुख के लिए दमन किया। नवजागरण का मंत्र फूँकने के लिए समाज में एक व्यक्ति-पर्याप्त है, यदि वह निष्ठापूर्वक कार्य करता है। द्वापर में कृष्ण नवजागरण के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।

सूरसागर के कृष्ण ने केवल सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही नवजागरण का कार्य नहीं किया अपितु आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी अनुपम कार्य किया। राजनीतिक क्षेत्र में तत्कालीन राजा कंस से उसकी कुनीतियों के दमनहेतु लोहा लेना और उसको समूल नष्ट करना नवजागरण ही है। कंस के राज्य-संचालन के भ्रष्ट सहयोगियों तथा समाज के आतताईयों का विनाश किया है। कंस जैसे-क्रूर अत्याचारी का वध कर समूची राजनीति को ही पलट दिया। कृष्ण ने यह सब समाज के उद्धार और उत्थान के लिए किया, स्वयं के लिए नहीं। कंस-वध पर इहलोक तो क्या देवलोक तक झूम उठा और नवजागरण के निनाद से भर गया

अमर जय धुनि भई धाक त्रिभुवन गई, कंस मार्‌यौ निदरि देवरायौ।[2]

आर्थिक क्षेत्र में भी कृष्ण का नवजागरण-कार्य अनुपमेम है। पशुधन-स्थापना तथा इंद्र-उपासना आदि का विरोध नवजागरण ही है। इंद्र-पूजा का विरोध यदि आधुनिक दृष्टि से आँके तो पूँजीपति वर्ग का विरोध ही होगा। इस प्रकार पूँजीवादी वर्ग का विरोध कर तथा सर्वहारा वर्ग को उठाते हुए आर्थिक व्यवस्था में नवजागरण के स्वर फैलाए।

पारंपरिक इंद्र-उपासना का विरोध, उसकी सामंती-प्रवृतियों का दमन तथा व्रजवासियों के साथ उसकी आराधना को निस्सार घोषित करना इंद्र और उसकी शक्ति का पूर्णतः विरोध ही था, जो तत्कालीन परिस्थिति में नवजागरण ही कहा

१. सूरसागर, १८२६
२. सूरसागर, ३६६७

जाएगा। समाज में व्यक्ति अथवा शक्ति द्वारा अपने विरोध-प्रतिकार तथा अपनी शक्ति-स्थापना के लिए प्रयत्न अवश्य किया जाता है। इंद्र ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी और अपने आक्रोश एवं आवेश में अपनी सैन्य-शक्ति 'बादलों' द्वारा ब्रज और ब्रजवासियों को ही नहीं समस्त भूतल को ही नष्ट करना चाहा **'सूरदास सुरपति की आज्ञा पर भूतल कहुँ रहन न पावहिं।'**[1] किंतु इंद्र का यह आक्रोश कृष्ण ने विफल कर दिया। बादलों की तीव्र जल-वर्षा से आक्रांत ब्रज और ब्रजवासियों की रक्षा कृष्ण ने गोवर्धन-धारण से करली। इस प्रकार इंद्र के महत्त्व और उसकी पूजा को समाप्त कर गोवर्धन-पूजा की स्थापना की—**पूजा मेटी गुपाल, इंद्र करत यहै हाल, सूर स्याम राखौ ब्रज हरबर अब गिरिवर बल।**[2]

सुरपति की पूजा समाप्त करने और गोवर्धन-पूजा की स्थापना में संघर्ष और कष्ट अवश्य हुआ। यह स्वाभाविक है कि किसी युग अथवा समाज में उसके विपरीत व्याप्त शक्ति के दमन के लिए संघर्ष करना पड़ता है और संवर्ष में कष्ट मिलता ही है।

सृष्टि के प्रारंभ से कोई युग अथवा समाज ऐसा नहीं रहा, जिसमें समाज विरोधी तत्त्व न रहे हों और इन तत्त्वों के नाश के लिए कोई न कोई महापुरुष न जन्मा हो। सूरसागर के प्रमुख नायक 'कृष्ण' अपने युग तथा समाज के नवजागरुक, कर्मठ कर्त्ता-धर्त्ता हैं, जिन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त विद्रूप, कुत्सित, अमानवीय और घोर समाज-विरोधी कुरीतियों और इनके नियामक, पोषक, भ्रष्ट, अत्याचारी तथा आतताई शक्तियों का दमन किया। परिणामतः समाज शांतिमय तथा आनंदोन्मुख हुआ और मानव-मन में आशा का नया सूरज उगा।

---

१. सूरसागर, १४७४
२. सूरसागर, १४७५

☐ डा० कृष्णचंद्र गुप्त

सूर के अंधत्व का रूपांतरण

सूर असाधारण संवेदनशील, रूप-रसिक, मर्मज्ञ तथा कृष्णार्पित, अटल एवं अतर्क आस्था तथा उद्‌भट प्रतिभा-संपन्न कवि हैं। यह उनकी सूक्ष्म, तीक्ष्ण और विस्तृत एवं गंभीर दृष्टि का ही फल है कि बाल-लीलाओं में जैसा माधुर्य है, प्रणय लीलाओं में वैसा ही मन को विभोर करने वाला लावण्य है और विनय के पदों में संसार की स्वार्थपरता, क्षणभंगुरता, आपात रमणीयता, सभी प्रकार के संबंधों का खोखलापन अपनी पूरी विभीषिका से व्यक्त हुआ है। कृष्णमय लीलालोक की रमणीयता तथा कृष्णशून्य जगत् की निस्सारता और अवांछनीयता की अभिव्यक्ति जिस दृष्टि का परिणाम लगती है, उसे केवल अंतर्दृष्टि या दिव्यदृष्टि मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। जन्मांध व्यक्ति बाहर और भीतर के इतने विराट्, इतने गंभीर और इतने सूक्ष्म वैविध्य का इतनी सहजता और सफलता से अंकन कर सकता है, यह विश्वास मध्ययुगीन मनोवृत्ति को हो तो हो, जो बाह्य चरम चक्षु के अभाव में दृष्टि की दिव्यता, अलौकिकता पर विश्वास कर लेती है, लेकिन आधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तथ्य को स्वीकार करना असंभव-सा ही है। इसके साथ यह भी सहज विश्वस्य है कि सूर युवावस्था में थोड़ी-बहुत दुनिया अच्छी प्रकार देख लेने पर नेत्र-ज्योति से वंचित हुए होंगे और इस महान् दुर्घटना को इस असाधारण प्रतिभा और संवेदना के कवि ने कैसे झेला होगा, यदि इसका कोई अंतः या बाह्य साक्ष्य नहीं मिलता, तो यह मान लेना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक होगा कि उन्हें कुछ भी व्यथा-वेदना नहीं हुई। अपने संपूर्ण जीवन के विषय में ही मौन-सा धारण कर लेने वाला व्यक्ति इस व्यथा को ही क्यों व्यक्त करता ? फिर एक साकार विराट् सौंदर्य-सत्ता से संयुक्त हो जाने पर भी इन वैयक्तिक सुख-दुख की छोटी-मोटी या बड़ी भी सही, दुर्घटनाओं पर रोने-धोने की आवश्यकता या अवकाश ही कहाँ बचता है ! कल्पना

की जा सकती है कि विधाता के इस महान् अत्याचार को भी जैसे-तैसे इस व्यक्ति ने सहन कर ही लिया होगा और 'प्रभुलीला' समझकर इस भीषण और मर्मांतक अभिशाप को वरदान मान लेने के ही लिए अपने मन को तैयार कर लिया होगा। जनसामान्य क्या, विशिष्ट विद्वन्मंडली में भी सूर के मन में इस महान् दुर्घटना की प्रतिक्रिया की कोई चर्चा हुई, ऐसा सुनाई नहीं पड़ता लेकिन कृष्ण एवं गोपियों की लीला में गोपियों के रूप-रसिक नेत्रों को लेकर सूर ने जो पद लिखे हैं, उनमें कृष्ण के अछोर रूप को पूर्णतः देखपाने में असमर्थ नेत्रों की अपर्याप्तता, रूप का अथाह और अपार सागर और नेत्रों द्वारा उसका पूर्णतः पान न कर पाने की असमर्थता का अहसास और कृष्ण की खोज में निकल जाना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिसमें सूर के अंधत्व का दंश, उसका संप्रसारण, उसका रूपांतरण अर्थात् गोपियों के रूप-लालची नेत्रों पर आरोपण या जाने-अनजाने गोपियों के माध्यम से अंधत्व का प्रक्षेपण संभावित है। यह प्रसंग इस दृष्टि से मनोविज्ञान और सहज मानवीय प्रतिक्रिया संपन्न आधुनिक दृष्टि से विचारणीय तो है ही। इसके निष्कर्षों से सहमति या असहमति कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन प्रसंगों के अध्ययन से सूर के अंधत्व के दंश का रूप कलात्मक और परोक्ष रूपांतरण, संप्रसारण या प्रक्षेपण कोई बहुत उठा-पटक किए बिना या दूर की कौड़ी लाए बिना ही देखा जा सकता है।

इस संभावना के सबसे प्रबल आधार के रूप में रास-वर्णन के प्रस्तुत पद को लिया जा सकता है: **रास-रस रीति नहिं बरनि आवै। यह माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ।**[१] यदि अंधत्व को प्रभुलीला का वरदान ही मान लिया होता तो यह याचना की जाती? क्या इसके मूल में विधाता के इस असह्य अत्याचार का दंश नहीं है? लेकिन इसे अनिवार्य अभिशप्त नियति समझकर स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और मार्ग भी क्या है? फिर कृष्ण से जुड़ जाने पर इसकी पीड़ा वैसे ही विस्मृत हो गई। तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि इसका दंश उन्हें हुआ ही नहीं या सदैव के लिए समाप्त हो गया। क्या किसी आँख वाले कलाकार ने ऐसी याचना इतनी मार्मिकता से की है? नरदेह का महत्त्व और उसमें नेत्र-ज्योति का वरदान। सोने में सुहागा! क्या सूर अपने अंधत्व से मुक्ति नहीं चाहते? कितनी बड़ी प्रवंचना झेलनी पड़ी होगी सूर को दृष्टि से वंचित होकर। सामान्य व्यक्ति भी इस मार को सहन नहीं कर पाता, फिर असाधारण संवेदना और प्रतिभा के व्यक्ति के मन को यह दंश कितनी गहराई से चीर गया होगा, इसकी कल्पना क्या आज के मनोविज्ञान के प्रकाश में असहज या असंभव है? अतः इस प्रसंग को इस दृष्टि से देखने पर सूर के व्यक्तित्व का एक अछूता और मानवीय पक्ष उद्घाटित होता है।

---

१. सूरसागर, १६२४

कृष्ण का अछोर रूपसागर और उसका पान करने के लिए केवल दो नेत्र विधाता ने दिए; जो रूपतृषा को तृप्त करने के स्थान पर और भी अधिक बढ़ा देते हैं :

(क) **विधना द्वै नैन रचे, अंग ठानि ठान्यौ।**
लोचन नहिँ बहुत दियौ, जानिकै भुलान्यौ।
× × × ×
हमकौं द्वै नैन दिये, तेऊ नहिँ आछे।[1]

(ख) **बिधना अतिहीं पोच कियौ री।**
कहा बिगार कियौ हम वाकौ, ब्रज काहैं अवतार दियौ री।
रोम-रोम लोचन इकटक करि, जुवतिनि प्रति काहैं न ठियौ री।
अखियाँ द्वै, छबि की चमकनि वह, हमतौ चाहति सबै पियौ री।[2]

रोम-रोम में नेत्र देते तब तो कृष्ण के सौंदर्य का दर्शन होता। क्योंकि **'नैन द्वै छबि धरौं कैसें, लगति तापर पलक'**[3] केवल दो ही नेत्र और वे भी पलक झपकाने के कारण सौंदर्य-दर्शन में बाधक होते हैं। इस बाधा के कारण वे इतनी अधीर हो जाती हैं कि पलकों को ही कोसने लगती हैं :

सुन री सखी बचन इक मोसौं।
रोम रोम प्रति लोचन चाहति, द्वै साबित हैं तो सौं।
मैं बिधना सौं कहौं कछू नहिं, नित प्रति निमि कौं कोसौं।
येऊ जो नीकैं दोउ रहते निरखत रहती हौं सौं।[4]

लेकिन गोपियों को लगता है कि बेचारे पलकों का क्या दोष? यह तो 'विधाता की करनी' है कि कहाँ तो कृष्ण का क्षण-क्षण नवीन होता जाने वाला रूप और कहाँ ये पलकों वाले नेत्र :

कह काहू कौं दोष लगावैं।
निमि सौं कहा कहति, कह बिधि सौं, कह नैननि पछतावैं।
स्याम हितू कैसौं करि जानति, औरौ निठुर कहावैं।
छिन मैं ओर और अँग सोभा, जोवैं देखि न पावैं।
जबहीं इकटक करि अवलोकति, तबहीं वै झलकावैं।[5]

भरे पूरे नेत्रों वाली गोपियाँ भी जब अंतरतम में यह अनुभव करती हैं कि रूपराशि कृष्ण के लावण्य को देखने में ये पलक बाधा डालते हैं, तब निपट अंधे सूर के मन में क्या हूक नहीं उठती होगी कि उनके साथ विधाता ने क्या क्रूरतम मजाक

१. सूरसागर, २४५४ २. सूरसागर, २४४६ ३. सूरसागर, २४४५
४. सूरसागर, २४४७ ५. सूरसागर, २४४८

किया है ? 'सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास' में क्या केवल गोपियों की ही व्यथा-विवशता व्यक्त हुई है ? क्या कुछ भी इसका प्रत्यक्ष परोक्ष संबंध सूर के अपने अंधत्व के अभिशाप से नहीं है। यदि सूर स्वयं अंधे न होते तो नेत्रों के विषय में ऐसी मर्मस्पर्शी उद्भावनाएँ वे संभवतः नहीं कर पाते। इसीलिए निमिष रहित नेत्र और वे भी दो-चार नहीं, अपितु रोम-रोम में प्रदान करने की याचना विधाता से की है :

जौ बिधना अपबस करि पाऊँ।
तौ सखि कह्यौ होइ कछु तेरौ, अपनी साध पुराऊँ।
लोचन रोम-रोम-प्रति माँगौं, पुनि-पुनि त्रास दिखाऊँ।
इकटक रहैं पलक नहिं लागैं, पद्धति नई चलाऊँ।
कहा करौं छबि-रासि स्यामघन, लोचन द्वै नहिं ठाऊँ।
एते पर ये निमिष सूर सुनि, यह दुख काहि सुनाऊँ।[1]

गोपियों की इस आतुरता के पीछे क्या अंधे सूर की अपनी विवशता और कातरता नहीं झाँकती-सी लगती ? 'यह दुख काहि सुनाऊँ' की गहरी विवशता सूर की भी नहीं लगती क्या ? या सूर की ही नहीं लगती ? चाहे अनचाहे मन के किस गह्वर से यह बिडंवना या विवशता या असहायत्व निकल कर गोपियों की इस उक्ति को जो मार्मिकता प्रदान कर रहा है, उसकी कुछ तो देखभाल होनी चाहिए। अधिकांश जीवनभर अंधत्व का अभिशाप झेलने वाले इस असाधारण कवि और मानव ने नियति के क्रूरतम व्यंग्य को झेल तो लिया ही होगा लेकिन उसके चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने इस व्यंग्य का दंश परोक्ष-प्रत्यक्षतः इन उक्तियों में झाँक जाता है, यह मानना सहज स्वाभाविक ही है।

अपने नेत्रों के विषय में गोपियों की यह अनुभूति भी इस प्रसंग में विचारणीय है—'**द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।**'[2] क्योंकि बार-बार पलक झपकने से दृष्टि खंडित हो जाती है। गोपियों को पलभर के लिए कृष्ण-दर्शन में बाधा जब असह्य हो उठती है तब जीवन भर के लिए दृष्टि खो देने वाले कवि की वेदना का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' वाली विवशता की तीखी अनुभूति गोपियों को भी होती है :

इनहुँ मैं घटिताई कीन्ही।
रसना स्रवन, नैन की होते, की रसनाहीं इनहीं दीन्हीं।[3]

काश ! इन नेत्रों को वाणी मिली होती। तब इनके आह्लाद या तृप्ति का कुछ आभास औरों को होता। काश ! सूर के अंधत्व के अभिशाप को वाणी मिली होती, तब मालूम पड़ता कि यह दंश कितना तीखा, गहरा और मार्मांतक सिद्ध हुआ। फिर भी इसके विषय में कुछ अनुमान तो लगाया ही जा सकता है इन उक्तियों से।

---

१. सूरसागर, २४६५ २. सूरसागर, २४६८ ३. सूरसागर, २४७६

कृष्ण-रूप-रस में पगे गोपियों के नेत्र मनमानी तो करते ही हैं, कृष्ण के अधीन होने के कारण ये परवश नेत्र गोपियों को लोकसमाज में निरादर-व्यंग्य-विद्रूप का पात्र भी बनाते हैं—**'लोचन गए निदरि कै मोकौं'**।[1] क्या सूर को कम तिरस्कार, उपेक्षा, व्यंग्य, विद्रूप का दंश झेलना पड़ा होगा अंधा होने पर ? क्या उन्हें दैन्य, दारिद्र्य और असहायत्व का अभिशाप कम मिला होगा ? और क्या उन्हें दूर-दूर तक भी यह आशंका थी कि वे अंधे और वह भी निपट अंधे हो जाएँगे ? गोपियों के इन कथनों के पीछे क्या सूर की अपनी नियति नहीं झाँकती :

(क) **नैन गए न फिरे री माई।**[2]

(ख) **जब तैं नैन गए मोहि त्यागि।**[3]

(ग) **नैना मेरे मिलि चले इंद्री अरु मन संग।**
मोकौं व्याकुल छाँड़िकै आपुन कौं करैं जु रंग।
× × ×
सूर सुमिरि गुन नैन के बिलपति है ब्रजनारि।[4]

अंतिम दो पंक्तियों में नेत्रों के चले जाने पर कृष्ण के पास, गोपियों की जो परवशता और व्याकुलता व्यक्त की गई है, वह क्या सूर की व्याकुलता और परवशता से भिन्न है ? जीवन भर अंधत्व के अभिशाप के मर्मांतक दाह को ढोने वाले असाधारण संवेदनशील कवि और मानव की व्यथा-वेदना को इन उक्तियों के पारदर्शी या अपारदर्शी आवरण के पीछे देखा जा सकता है। इसके लिए सहज मानवीय करुणा और कल्पना को मनोवैज्ञानिक धरातल पर उठाकर ले जाने की आवश्यकता है। सूर ने जानबूझ कर अपनी मनोव्यथा का रूपांतरण, संप्रसारण या प्रक्षेपण किया है, इसका तो कोई अंतः या बाह्य साक्ष्य है नहीं, लेकिन ये प्रसंग सूर के अंधत्व की पृष्ठभूमि में, कुछ अवश्य इंगित कर सकते हैं या करते ही हैं, सोचना भी निराधार नहीं है। कथापात्रों के माध्यम से ऐसे कथन, जो रचयिता की मनोदशा से मेल खाते हैं, कुछ न कुछ उसके आत्मकथ्य को प्रत्यक्ष-परोक्षतः व्यक्त कर ही देते हैं। नयन माधुरी के इन १८१ पदों में उपलब्ध ये संकेत कृष्ण-गोपी-संदर्भ के पार जाकर सूर की वैयक्तिक मनोदशा को व्यंजित करते हैं, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. सूरसागर, २८५०
२. सूरसागर, २८३४
३. सूरसागर, २८३५
४. सूरसागर, २८३६

☐ डा० श्रीराम त्यागी

सूर का समर्पणभाव

साहित्य जहाँ समाज का दर्पण है वहाँ समाज का प्रेरक भी है। सामाजिक परिस्थितियाँ व गतिविधियाँ साहित्य को विषय व साहित्यिक धारा को दिशा एवं गति प्रदान करती हैं। यही कारण है कि मुग़लों के अंतिम दिनों में जब मुग़लदरबार तथा तत्कालीन भारतीय समाज रोमांटिक रँगरेलियों में डूब गए तो अधिकांशत: रोमांटिक साहित्य की रचना हुई और तत्कालीन कवियों ने इन्हीं प्रसंगों को अपने साहित्य में स्थान दिया। इसी प्रकार मराठा उत्थानकाल में ऐसे साहित्यकारों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी लेखनी से मराठा जाति में उत्साह, साहस व नई उमंग उत्पन्न कर हिंदुपदपादशाही की स्थापना का जयघोष दिया। समकालीन मराठा साहित्य ही ऐसी रचनाओं से ओतप्रोत नहीं वरन् भूषण जैसे महान् कवियों ने भी वीररस का वह पीयूष-स्रोत बहाया कि बुंदेले तथा मराठे उसका पानकर अपने देश, धर्म व संस्कृति की बलिवेदी पर हँसते-हँसते कुर्बान होने में अपना जीवन धन्य समझने लगे। वीरगाथाकाल, शृंगारकाल आदि हिंदी साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों का विश्लेषण करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक परिस्थिति व गतिविधियाँ ही साहित्य को विषय तथा दिशा प्रदान करती हैं। उन्हीं प्रसंगों से साहित्य विषय प्राप्त करता है तथा उन्हीं प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में वह अपने उद्‌गारों को शब्दों का रूप देकर समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। यह दूसरी बात है कि वह उनमें बहकर उनका चित्रण मात्र करता रहे तथा तत्कालीन परंपराओं को ही ग्रहण करने तथा बनाए रखने के लिए अपनी कलम तोड़ दे। यदि वे शाश्वत् हैं तो यही श्रेयस्कर है परंतु यदि ये गतिविधियाँ सामयिक हैं और अधिक टिकाऊ नहीं हैं तो ऐसे लेखक का साहित्य चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य सामयिक ही होगा और वह इतिहास के अधिक निकट होगा परंतु यदि वे परंपराएँ सामयिक सत्य न होकर शाश्वत् सत्य हैं तो

उनका रचनाकार ऐसे साहित्य का भी सृजन करेगा, जो स्थायी हो और जो अनेक वर्षों तक अपने पाठकों का प्रेरणास्रोत बना रहे। शेक्सपियर तथा कालिदास का साहित्य इसी कोटि में आता है। उनका काव्य समाज की उन भावनाओं से ओतप्रोत है, जो मनुष्य की सहज व स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं तथा जो जन्म जन्मांतर तक मानव समाज में दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा साहित्यकार समाज को अधिक स्थायी साहित्य प्रदान करता है। परिणामस्वरूप पाठक सदैव उनके काव्य का रसास्वादन करता रहता है, उसके पठन-पाठन से उसे सत्यं शिवं सुंदरम् की अनुभूति होती है।

साहित्यकारों का एक अन्य वर्ग भी है, जो तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण तो करता ही है साथ ही साथ सामयिक समस्याओं का निदान भी प्रस्तुत करता है। ऐसा साहित्यकार केवल साहित्यकार न होकर विचारक भी है, भविष्य द्रष्टा भी है। वह तत्कालीन परिस्थितियों में सोते हुए समाज को दिशा-बोध कराता है कि इस दिशा में चलो और तुम अपनी उलझनों से मुक्त हो जाओगे। ऐसा साहित्यकार युगावतार सा होता है। यह नहीं कि उसका साहित्य तत्कालीन समाज से न उपजा हो। स्रोत तो उसे समाज से ही प्राप्त हुआ परंतु वह केवल एक चित्रकार की भाँति समाज का चितेरा मात्र बना रहने से संतुष्ट नहीं रहा वरन् अपने चिंतन से आत्मिक व मानसिक मंथन कर वह एक अमर संदेश भी अपने काव्य के माध्यम से देता है कि हे मानवो! उठो, उस संदेश को ग्रहण करो और तुम्हारा कल्याण होगा। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। तुलसीदास को ले लीजिए, उनका जीवनकाल हुमायु, शेरशाह व अकबर का शासनकाल था। उस समय भारत पर मुगलों का राज्य था, जो यवन थे। यवनों का यह आधिपत्य सिंध की अरबों की विजय से प्रारंभ हुआ और महमूद गजनवी, मौहम्मद गौरी के आक्रमणों से निकलता दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी व अफगानों के शासन से गुजरता मुगलों तक पहुँचा। इन आक्रमणकारियों, विजेताओं व शासकों के विरुद्ध बार-बार देशी शासक जूझे परंतु बार-बार वे विफल हुए। इस विफलता के साथ-साथ अनेक बार मंगोलों के आक्रमणों ने तथा एक बार तैमूर के आक्रमण ने भारत की वह दुर्दशा की कि शब्दों में वर्णित नहीं की जा सकती। लगभग एक हजार वर्ष के इस लंबे समय में हिंदुओं ने क्या नहीं देखा—अपने प्रियजनों, बीवी-बच्चों की निर्मम-हत्या, धार्मिक अपमान, मंदिरों का विध्वंस ग्रामों व नगरों का विनाश, संस्कारों की भ्रष्टता, अपने राजवंशों की पराजय, सब कुछ उन्हें दृष्टिगोचर हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि वे इस दुर्दशा के मूक-दर्शक रहे। उन्होंने इससे उबरने के अनेक राजकीय व स्थानीय प्रयत्न किए और उनमें वह अपूर्व साहस व शौर्य्य दिखाया कि भारतीय इतिहास उनकी वीर-गाथाओं को सदैव स्वर्ण अक्षरों में लिखता रहेगा परंतु यह सब साहस, वीरता तथा बलिदान जहाँ आने वाली पीढ़ियों के लिए अनेक प्रेरक प्रसंग छोड़ गया, वहाँ तत्कालीन पराभव को रोकने में

सफल न हो सका। इसका एक परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन सामाजिक व राजकीय नायकों का पुरुषार्थ से विश्वास उठ गया। उनमें निराशावाद घुस गया।

इस मरुस्थिति से उबरने के दो ही साधन हो सकते थे कि या तो कोई युग-द्रष्टा काव्य की वह दुंदुभी बजाए कि उससे सम्मोहित हो जनता फिर पुरुषार्थ के लिए जाग उठे और जननायक एक सतत् प्रयत्न करने के लिए नव उत्साह बटोर सामूहिक प्रयत्न करने के लिए अग्रसर हों तो कोई अन्य काव्य-सृजक अपने साहित्य के माध्यम से जनता-जनार्दन को ऐसा शाश्वत् संदेश दे कि वे अपनी तत्कालीन परिस्थिति को आत्मसात् कर उसी में प्रसन्नता का अनुभव करने लगें। तुलसी ने पहिले युगद्रष्टा का पथ चुना। उन्होंने राम को चुना और 'रामचरितमानस' के नाम से ऐसे महा-काव्य की रचना की, जिससे पुरुषार्थ की वर्षा हुई। इस ग्रंथ के माध्यम से तुलसी ने जनता को यह संदेश दिया कि तत्कालीन परिस्थिति में निष्क्रिय रहने, निराशावादी दृष्टिकोण अपनाने अथवा भाग्यवाद पर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। अपने साधनहीन नायक राम को भालुओं व बानरों की सेना संगठित कर रावण जैसे महाशौर्यशाली सम्राट् के विरुद्ध सफल अभियान करा कर तुलसी यह निदान प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं कि परिस्थिति से घबराने की आवश्यकता नहीं। उनसे जूझने की आवश्यकता है। राम प्रस्तुत साधनहीनता में से साधन संयोजित कर रावण के विरुद्ध चल दिए और विजयश्री का वरण किया :

पुरुषार्थ में अटूट विश्वास की इस अभूतपूर्व प्रेरणा का स्रोत आदि ऋग्वेद है। जब आर्यों की दृष्टि मुख्यतः इसी जीवन पर थी। देवताओं में उनका विश्वास है। उनकी पूजा के लिए वे मंत्र रचते हैं, उन्हें गाते हैं, यज्ञ करते हैं परंतु प्रत्येक पग पर सफलता प्राप्त करने के कारण उनका विश्वास है कि प्रार्थना करते ही देवता मनुष्यों की सहायता को दौड़ते हैं, उनकी विघ्न-बाधाओं को दूर करते हैं और शत्रुओं का विनाश करते हैं। आर्य सभ्यता की यह आशावादी धारा कभी पूर्णतया लुप्त नहीं हुई। प्रत्येक काल में व प्रत्येक स्थान पर पुरुषार्थवादी व आशावादी मनुष्य बने रहे परंतु प्रयत्न की सफलता व विफलता के अनुसार उनकी संख्या घटती-बढ़ती रही।

७१२ ई० में अरबों की सिंध-विजय से प्रारंभ कर सूरकाल अर्थात् अकबर के समय तक आते-आते मुस्लिम शासकों ने भारत की हिंदू राजसत्ता, धर्म व संस्कृति को जो विषम झटके दिए उससे भारतीय संस्कृति भक्तिमार्ग की ओर अधिक झुकी। नानक, कबीर, मीराँ आदि ने समाज की इसी धारा को पकड़ा। ठीक है कि पुरुषार्थ पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ परंतु उसमें आस्था कम अवश्य हुई। ऐसी परिस्थिति में दो ही विकल्प थे––प्रथम, पुरुषार्थ के प्रति आस्था की पुनरावृति, जो तुलसी ने रामचरितमानस में की, दूसरा, कृष्ण द्वारा प्रतिपादित 'सर्व धर्मेन् परित्यज्य मामेकं

शरणं व्रज' का अनुसरण करके सब कुछ कृष्ण अथवा भगवान् पर छोड़ने का। सूर ने इस दूसरे विकल्प को अपनाया और कृष्ण को इतना आत्मसमर्पण किया कि अपना सर्वत्र व्यक्तित्व ही खो बैठे। उनका अंधापन, जो वैसे ही एक मनुष्य को दूसरों पर आश्रित कर देता है, इस विचारधारा के अनुकूल बैठता था अतः हर क्षण कृष्ण की ही गाथा और उनका ही गुणगान—और वह भी इस सीमा तक कि कृष्ण-जीवन की कोई झाँकी अथवा व्यवहार ऐसा नहीं, जिसे उनकी काव्यकला तथा लेखनी ने चित्रित न किया हो। कृष्ण कभी बालक के रूप में तो कभी सखा के रूप में, कभी भगवान के रूप में तो कभी अन्य किसी के रूप में उनके काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं। संक्षेप में यह कि सूर और कृष्ण एक आत्मा व दो शरीर बन गए और इस संयोजन से सूर इतने आत्मविभोर हुए कि काव्य का वह अद्भुत स्रोत उनकी वाणी से फूटा, जो जन मानस को सदैव आनंदित व आत्मविभोर करता रहेगा।

☐ डा० सूर्य प्रसाद दीक्षित

सूर संबंधी शोध एवं समीक्षा

गत पाँच शताब्दियों में महाकवि सूरदास से संबंधित जो अनुसंधान-कार्य हुआ है, उसका विकासात्मक अध्ययन स्वयं में एक बड़ा विचारोत्तेजक विषय है। इस अध्ययन-परंपरा पर संश्लिष्ट विचार करने पर कई तथ्य प्रकट होते हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि १९वीं शती के आरंभ तक सूर की प्रतिष्ठा मुख्यतः भक्ति के क्षेत्र में रही है। 'भक्तमाल', 'भक्तविनोद', 'रामरसिकावली', हरिरायकृत 'श्रीमद्-भागवत'—'अणुभाष्य', 'भविष्यपुराण', 'आइन-ए-अकबरी', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' आदि ग्रंथों में सूर को एक चमत्कारी भक्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'साहित्यलहरी' के अंतर्साक्ष्यों एवं बाबा बेनीमाधव, कवि नागरीदास जैसे परवर्ती भक्तों के बहिर्साक्ष्यों द्वारा भी उस रूप की पुष्टि होती है। धीरे-धीरे सूर का साहित्यिक-पक्ष प्रोद्भासित होने लगता है, फलतः ब्रज-मंदिरों तथा मध्यदेश के लोकजीवन में बिखरे हुए उनके तथोक्त 'सवालक्ष पदों' के संग्रह का यत्न आरंभ हो जाता है और विभिन्न सूरदासों का विश्लेषण करते हुए 'सूरसागर' एवं 'साहित्यलहरी' की पांडुलिपियों को सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित करने का उपक्रम किया जाता है। इस दृष्टि से भारतेंदु जी का महत्त्व सर्वोपरि है। उन्होंने सुकवि सेनापति की तरह सूर के अनेक कूटों का संकलन किया; साथ ही, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' की भूमिका लिखकर उनके जीवनवृत्त की एक स्थूल रूपरेखा बनायी। यहीं से अष्टछाप, वल्लभ संप्रदाय, पुष्टिमार्ग आदि संप्रदायों की चर्चा आरंभ हो जाती है, जो कालांतर में सूर के जीवन-साहित्य का अभिन्न अंग सिद्ध होती है।

एक भक्त-कवि की इस जीवनीपरक चर्चा के विकासक्रम में ऐतिहासिक शोध-दृष्टि का सन्निवेश भी आवश्यक था। विदेशी और भारतीय विश्वविद्यालयों में जब हिंदी-शोध का शुभारंभ हुआ तभी विद्वानों का ध्यान सूर के गवेषणात्मक अध्ययन की

ओर गया और फिर तो एक प्रतिस्पर्धा-सी चल पड़ी। यह एक विचित्र सुयोग है कि जिस वर्ष भारत में हिंदी 'रिसर्च' का श्रीगणेश हुआ,[1] उसी वर्ष (अर्थात् १९३४ ई० में) डा० जनार्दन मिश्र ने कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से 'सूरदास'[2] पर 'डाक्ट्रेट' प्राप्त की। यद्यपि यह प्रबंध हिंदी-देवनागरी में न लिखा होकर अँग्रेजी में था, फिर भी विदेशों में १९१० ई० से शुरू होने वाली हिंदी शोध-परंपरा का ५-वाँ और सूर संबंधी यह पहला शोधप्रबंध था।

इसके पश्चात् सूर संबंधी शोध-प्रबंधों की भरमार-सी हो जाती है। आज इनकी संख्या सौ के ऊपर पहुँच गयी है। इन प्रबंधों में कुछ मूल रूप से प्रकाशित हुए हैं, कुछ नामांतर विषयांतर तथा प्रक्षेपपूर्वक प्रकाशित हुए हैं और कुछ अद्यावधि अप्रकाशित पड़े हुए हैं। इनमें से अनेक प्रबंध मध्ययुग, कृष्णकाव्य, ब्रजभाषा आदि से भी संबंधित हैं, पर हैं वे सूर पर ही केंद्रित।

सूर विषयक इन प्रबंधों को विषयानुसार कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे—

१. जीवनीपरक ऐतिहासिक अध्ययन—इस श्रेणी में वे ग्रंथ विचारणीय हैं, जिनमें सूर के देश, काल, जन्म, मृत्यु, कुल, परिवेश आदि का तथ्यात्मक अन्वेषण किया गया है। इस अध्ययन-प्रणाली का आरंभ मूलतः राधाकृष्णदास, डा० श्याम-सुंदरदास, डा० ग्रियर्सन, सूर्यकांत शास्त्री, केशवप्रसाद मिश्र, हरप्रसाद शास्त्री, मिश्र-बंधु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० बड़थ्वाल आदि के निबंधों या स्फुट मत-मतांतरों से माना जा सकता है। इनसे प्रेरित होकर फिर अनेक स्वतंत्र जीवनीपरक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, जैसे—

(१) भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास—नलिनि मोहन सान्याल (१९३८ ई०), (२) सूरदास : जीवन और काव्य का अध्ययन—डा० व्रजेश्वर वर्मा (१९४५ ई०), प्रकाशित 'सूरदास' (१९५० ई०), (३) सूरदास और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा (१९५५ ई०), (४) सूरदास तथा सूरनिर्णय—द्वारकाप्रसाद पारीक (१९५२ ई०), (५) सूर सौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा (१९५७ ई०) (६) सूर की झाँकी—डा० सत्येन्द्र (१९५६ ई०), (७) सूरदास—दामोदर गुप्त आदि।

इन स्वतंत्र ग्रंथों के अतिरिक्त अष्टछाप और कृष्णकाव्य के नाम पर कई ग्रंथ प्रकाश में आए हैं, जिनमें सूरदास का व्यक्तित्व और कृतित्व सविस्तार विवेचित हुआ है; जैसे—'अष्टछाप' (गोकुल दास), 'अष्टछाप' (डा० धीरेंद्र वर्मा), 'अष्टछाप

---

१. डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोयट्री, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, १९३४ ई०।

२. यूनाइटेड प्रेस, पटना से १९३५ ई० में प्रकाशित।

के कवि' (प्रभुदयाल मीतल), 'अष्टछाप-परिचय' (प्रभुदयाल मीतल) 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (डा० दीनदयालु गुप्त), 'अष्टछाप के कवियों में ब्रज-संस्कृति' (श्यामेंद्र प्रकाश शर्मा, १९५८ ई० अप्रका०), 'अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्यांकन' (डा० मायारानी टंडन) आदि। इसी संदर्भ में भक्तमाल, पुष्टिमार्ग और 'वार्ता साहित्य' विषयक ग्रंथ भी अवलोकनीय हैं। इनमें 'सूर और उनकी वार्ता' (हरिराय, २००८ वि०), 'वार्ता साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन' (हरिहरनाथ टंडन, १९५६ ई०) आदि कृतियाँ प्रमुख हैं। स्पष्ट है कि इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त सूरदास की जीवनी से संबंधित कई श्रेष्ठ शोध-समीक्षात्मक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं।

२. **कृतिपरक अध्ययन**—सूरदास की रचनाओं को अपना मूल लक्ष्य बनाने वाली कृतियों में संकलन-संपादन, भाष्य एवं टीका ग्रंथों का बाहुल्य है। इनकी भूमिकाओं में आलोच्य कृति की प्रामाणिकता की विधिवत् परीक्षा की गई है, उसका पाठालोचन किया गया है और विशद् भाष्य भी। इस कोटि के ग्रंथों में 'सूरसागर' संबंधी विभिन्न संस्करण सर्वप्रमुख हैं, जैसे—(१) सूरसागर (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८६३ ई०), (२) सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस, १८९६ ई०), (३) 'सूरसागर' (रत्नाकर एवं नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २००५ वि०), (४)सूरसागर राग कल्पद्रुम (कलकत्ता, १८४१ ई०) आदि। स्पष्ट है कि ये प्रकाशन लगभग १८४१ ई० से प्राप्त होते हैं। इनमें कहीं 'सूरसागर' को भागवत का भावानुवाद माना गया, कहीं संगीतशास्त्र। धीरे-धीरे इसकी विभिन्न पांडुलिपियों का समाकलन करके वर्तमान रूप का गठन हुआ। सुविधा की दृष्टि से इसके संक्षिप्त संस्करण[1] बहुत प्रचलित हुए और तभी 'सूरसागर सारावली' (सूरसारावली) का विवाद उत्पन्न हो गया। स्फुट विचारों के अतिरिक्त प्रभुदयाल मीतल ने 'सूरसारावली' ग्रंथ द्वारा उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि की और डा० प्रेमनारायण टंडन ने उसे एक अप्रामाणिक रचना घोषित किया। इस प्रकार सूरदास के कृतित्व से संबंधित सैकड़ों संकलन प्रकाशित हुए हैं। इनमें अनेक पाठ्य क्रमोपयोगी संकलन मात्र हैं, फिर भी वे इस लोकप्रिय कवि की बहुव्याप्ति के सूचक अवश्य हैं। हाँ, अभी 'सूरसागर' के विस्तृत भाष्यों का अभाव अवश्य खटकने वाला है, यों उसकी यत्किंचित पूर्ति डा० हरदेव बाहरी एवं राजेंद्र कुमार कृत, सूरसागर-टीका भाग १ तथा आचार्य सीताराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित सूर ग्रंथावली (४ भाग) से होती दिखाई दे रही है।

---

१. संक्षिप्त सूरसागर—बेनीप्रसाद
,, संक्षिप्त सूरसागर जवाहरलाल चतुर्वेदी
सूरसागर-सार—डा० धीरेंद्र वर्मा, १९५९ ई०
सूर पंचरत्न—लाला भगवानदीन, रामनारायण,
संक्षिप्त सूरसागर—डा० प्रेमनारायण टंडन
बाल सूरसागर—श्रीचन्द्र, १९३१ ई०

कृतिपरक अध्ययन के अंतर्गत सूर के कूटकाव्य, भ्रमरगीत और उनके राम-काव्य का पृथक् विवेचन किया गया है। 'साहित्यलहरी' के अतिरिक्त कूटकाव्य संबंधी ये ग्रंथ इस संदर्भ में उद्धरणीय हैं—(१) 'सूर के १०० कूट' (चुन्नीलाल १९२३ ई०), (२) 'सूरसागर के कूटकाव्य का अध्ययन' (डा० रामधन शर्मा १९६३ ई०), (३) 'सूर का कूटकाव्य' (संग्रह) (देशराज भाटी १९७० ई०) आदि।

'भ्रमरगीत' सूरसाहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अंश है, अतएव उसके अनेक संकलन एवं अन्वेषण हुए हैं; यथा—(१) 'भ्रमरगीत सार' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल, १९४३ ई०),(२) 'भँवरगीत' टंडन, (१९४४ ई०) (३)'हिंदी में भँवरगीत'(डा० सरला शुक्ल, सं० २०१० वि०), (५) 'हिंदी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा' (डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, १९५८ ई०), (६) 'भ्रमरगीत' का काव्य सौंदर्य' (डा० सत्येंद्र एवं पारीक, १९६९ ई०), (७) 'सूर का भ्रमरगीत : एक अन्वेषण' (डा० विश्वंभर उपाध्याय, १९६४ ई०), (८) 'सूर का भ्रमरगीत साहित्य' (सुरेशचंद्र शर्मा),(९) सूरदास और उनका भ्रमरगीत (श्रीनिवास शर्मा), (१०) 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत' (श्यामसुंदर दीक्षित) आदि। 'कूटकाव्य' एवं 'भ्रमरगीत' की अपेक्षा सूर का रामकाव्य अप्रचलित रह गया है। इस क्षेत्र में 'सूर का रामकाव्य' (संपा०, डा० प्रेमनारायण टंडन) एवं 'सूर का रामकाव्य' (त्रिलोकचंद्र गुप्त) जैसे कुछ ही ग्रंथ उल्लेख्य हैं। स्पष्ट है कि सूरदास की कृतिपरक विवेचना से संबंधित ग्रंथों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस ओर द्वारकाप्रसाद पारीक, प्रभुदयाल मीतल जवाहर लाल चतुर्वेदी जैसे विद्वानों का विशिष्ट योग रहा है। ब्रज क्षेत्र के इन अध्येताओं ने भले ही मोहवश यत्र-तत्र प्रक्षेपों को प्रश्रय देकर सूरदास के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को सुविधानुसार प्रस्तुत करने का उपक्रम किया हो, फिर भी उनका शोध-सर्वेक्षण सराहनीय है।

३. विषयवस्तुपरक अध्ययन : सूरसाहित्य का अनुशीलन करते हुए विद्वानों ने उनके विभिन्न पक्षों का तथ्योद्घाटन किया है। उन्होंने अपना सर्वाधिक अवधान सूर के काव्य-पक्ष पर केंद्रित किया है; उदाहरणार्थ कुछ प्रतिनिधि कृतियाँ द्रष्टव्य हैं :

(१) महाकवि सूरदास (नंददुलारे वाजपेयी, १९५२ ई०), (२) सूर समीक्षा (डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' १९५३ ई०), (३) सूर मीमांसा (डा० ब्रजेश्वर वर्मा, १९५३ ई०), (४) सूरदास का काव्यवैभव (डा० मुंशीराम शर्मा १९५५ ई०), (५) सूर काव्य की आलोचना (डा० हरवंशलाल शर्मा), (६) सूर की काव्यकला (डा० मनमोहन गौतम), (७) सूर साहित्य (हजारीप्रसाद द्विवेदी १९६१ ई०), (८) सूर साहित्य की भूमिका (डा० रामरतन भटनागर), (९) महाकवि सूरदास (जयकिशन खंडेलवाल, १९७० ई०), (१०) सूरसाहित्य : नव मूल्यांकन (डा० चंद्रभान रावत, १९६७ ई०) आदि।

४. शिल्पपरक अध्ययन : काव्य-सौष्ठव का मूल्यांकन करने वाले इन ग्रंथों

के अतिरिक्त सूर के अभिव्यंजना-कौशल की व्याख्या स्वतंत्र रूप से भी हुई है। शिल्प संबंधी इन ग्रंथों में सूर की भाषा तथा छंदोबद्ध संगीत, पद-शैली आदि से युक्त उनकी अभिव्यंजना शक्ति का तात्त्विक विवेचन हुआ है। इनमें से कुछ अध्ययन मध्यकालीन कृष्णकाव्यों तथा ब्रज भाषा काव्यों तक परिव्याप्त हैं, फिर भी वे मूलतः सूर-साहित्य से ही सम्बद्ध हैं।

सूर की काव्यकला के विचारक्रम में उनकी भाषा पर सर्वाधिक विचार किया गया है। इस क्षेत्र के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं : (१) 'सूर की भाषा' तथा 'ब्रजभाषा सूरकोश' (डा० प्रेमनारायण टंडन, १९५७ ई०), (२) 'सूरसागर शब्दावली' (डा० निर्मला सक्सेना, १९६२ ई०) आदि। इस संदर्भ में डा० शिवप्रसाद सिंह का ग्रंथ सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य भी उल्लेखनीय है, क्योंकि सूरपूर्व ब्रभाषा का विवेचन करते हुए लेखक ने सूर की भाषा को ही अपना निकष बनाया है।

छंदोविधान के अंतर्गत सूर की पद-शैली, संगीत प्रणाली और अभिव्यंजना विषयक कई ग्रंथ विरचित हुए हैं। इनमें से कतिपय सीधे-सीधे सूर से संबंधित न होकर भी सूर-संबंधी सामग्री को सँजोए हुए हैं :

(१) 'हिंदी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत' (डा० उषा गुप्ता, १९६० ई०), (२) 'सूरसाहित्य का छंदःशास्त्रीय अध्ययन' (डा० गोरीशंकर मिश्र द्विजेंद्र), (३) 'मध्यकालीन हिंदी कृष्णकाव्य में मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन' (शिवनंदन प्रसाद, १९५८ ई०) (४) 'ब्रजभाषा के कृष्णभक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प' (सावित्री सिन्हा १९६० ई०) आदि। इसी प्रकार सूरसागर में प्रतीक योजना' (डा० बी० लक्ष्मैया शेट्टी, १९७२ ई०)। 'कृष्णभक्ति साहित्य में रीति काव्य परंपरा, (राजकुमारी मित्तल १९६७ ई०) आदि ग्रंथ भी शिल्पपक्ष में गणनीय है।

५. वस्तुपरक अध्ययन : सूरदास की मूल विषयवस्तु को पहले संश्लिष्ट रूप से और फिर पृथक्-पृथक् रूप से विवेचित किया गया है। आनुपातिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि सूर की विचारधारा का विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने उनके भक्ति-भाव एवं दर्शन का गहन-मनन किया है। भक्ति-भावना के अंतर्गत वैदिक भक्ति, पुष्टिमार्गीय भक्ति, मधुरोपासना आदि कई पक्ष उद्घाटित हुए हैं, जैसे—(१) 'सूरदास और भगवद्भक्ति' तथा 'भक्तिकालीन वैदिक भक्ति तथा मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति' (डा० मुंशीराम शर्मा, १९५८ ई०), (२) 'ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति' (रूपनारायण, १९६१ ई०) (३) 'हिंदी कृष्णकाव्य में माधुर्योपासना' (डा० श्यामनारायण पांडेय, १९६३ ई०) (४) 'हिंदी के कृष्णभक्ति साहित्य में मधुरभाव की उपासना' (पूर्णमासी राय, १९७४ ई०) (५) 'हिंदी

साहित्य में पुष्टिमार्गीय सेवा भावना' (धर्मनारायण ओझा, १९६३ ई०) (६) 'सूर की विनयपत्रिका' आदि ।

सूर की दार्शनिक विचारधारा का अवगाहन करने वाले ग्रंथों में 'सूरसाहित्य और सिद्धांत' (यज्ञदत्त शर्मा) 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' (डा० मुंशीराम शर्मा, १९५१ ई०) जैसे कार्य महत्त्वपूर्ण हैं । इस प्रकार प्रकट है कि सूरदास के भक्ति, अध्यात्म, दर्शन आदि पक्षों पर पर्याप्त और उच्चस्तरीय कार्य संपन्न हो चुका है ।

सूर-साहित्य की वस्तून्मुखी विवेचना करते हुए उनके वात्सल्य और शृंगार-विप्रलंभ को सर्वाधिक वरीयता दी गयी है । सूर वात्सल्य में सर्वोपरि हैं, अतः उनके वात्सल्य को प्रायः संपूर्ण साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, उदाहरणार्थ—'हिंदी काव्य में वात्सल्य रस' (डा० आशा शिरोमणि १९६१ ई०) तथा 'मध्ययुगीन हिंदी भक्तिकाव्य में वात्सल्य एवं सख्य' (करुणा वर्मा १९६१ ई०) आदि प्रबंध देखे जा सकते हैं । शृंगार के अंतर्गत कई ग्रंथ उल्लेख्य हैं; जैसे—

(१) 'सूरदास की शृंगार भावना' (डा० रमाशंकर तिवारी, १९६२ ई०), (२) 'हिंदीभक्तिकाव्य में शृंगार' (मिथिलेश कांति, १९६१ ई०), (३) 'सूरदास की लालित्य चेतना' (डा० परेश, १९७३ ई०), (४) 'हिंदी कृष्णकाव्य में शृंगार' (पुरुषोत्तमदास अग्रवाल, सं० २०२७ वि०)

इस शृंगार को प्रायः मधुराभक्ति के विचारक्रम में देखा गया है । इसका विप्रलंभपक्ष 'भ्रमरगीत' के संदर्भ में भी उद्घाटित हुआ है, साथ ही काव्य, सिद्धांत तथा विविध पक्षों में भी । यही नहीं, कृष्ण-राधा आदि चरित्रों के साथ भी इसका विवेचन हुआ है ।

सूर के कृष्ण को लेकर, साथ ही राधा तथा गोप-गोपिकाओं को अपना स्वतंत्र विषय बनाकर कई ग्रंथ प्रस्तुत किए गए हैं; यथा :

(१) 'सूर के कृष्ण' (शशि तिवारी, १९६९ ई०) (२) 'मध्ययुगीन हिंदी साहित्य में कृष्ण' (सरोजिनी, देवी कुलश्रेठ, १९६० ई०) (३) 'सूर की गोपिका' (प्रभारानी भाटिया)

वस्तु-पक्ष के अंतर्गत सूर की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं लोकतात्त्विक विवेचना भी प्रचुर मात्रा में हुई है । इस संदर्भ में नारी भावना, मध्ययुगीनता आदि पर भी मनन किया गया है, अस्तु ये सब पृथकतः उल्लेखनीय हैं :

(१) 'मध्यकालीन हिंदी साहित्य में चित्रित समाज' (गणेशदत्त, १९५६ ई०), (२) 'मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति' (हरगुलाल, १९६७ ई०), (३) 'कवित्रयी (सूर-तुलसी-जायसी) का सामाजिक पक्ष' (वेंकट रमण १९६१ ई०), (४) सूरदास तथा परिदृश्य' (हरगुलाल), (५) 'सूरसागर में लोकजीवन' डा० हरगुलाल, १९६७ ई०)

६. **तुलनात्मक अध्ययन :** सूरदास पर श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों का जो प्रभाव पड़ा है तथा सूर के भक्तिकाव्य और अन्य तुलनीय भाषाओं के भक्ति काव्य में जो भाव-साम्य है उनका विद्वानों ने विधिवत् निरूपण किया है; जैसे :

(१) 'हिंदी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य' (भास्करन नायर, १९५५ ई०), (२) १६वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि' (रत्नकुमारी, १९५५ ई०), (३) 'हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन' (हिरण्यमय, १९५६ ई०) ,(४) 'गुजराती और व्रजभाषाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (जगदीश गुप्त, १९५३ ई०) (५) 'हिंदी कृष्णकाव्य पर पुराणों का प्रभाव' (शशि अग्रवाल, (१९६० ई०). (६) 'भक्तिकालीन कृष्ण-भक्तिकाव्य पर पौराणिक प्रभाव' (सदानंद मदान, १९५८ ई०), (७) 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' (हरवंशलाल शर्मा, १९५३ ई०) (८) 'श्रीमद्भागवत और सूरदास के वर्ण्य विषय का तुलनात्मक अध्ययन' (वेदप्रकाश) (९) 'मध्ययुगीन हिंदी कृष्णभक्तिधारा और चैतन्य संप्रदाय' (मीरा श्रीवास्तव, १९६१ ई०)।

उपर्युक्त तालिका से प्रकट है कि सूर संबंधी शोध एवं समीक्षा का यह चालीस वर्षीय इतिहास आरोहावरोहपूर्ण है। यद्यपि इनमें से कई अध्ययन अप्रकाशित रह गए हैं, बहुतों में पुनरावृति हुई है और कुछ पक्ष अनुद्घाटित भी रह गए हैं; फिर भी ये क्रमशः अधिक गहन एवं सूक्ष्म होते जा रहे हैं। विगत को देखते हुए इनका भावी रूप और भी संभावनापूर्ण लगता है।

□ परिशिष्ट : एक

सूरदास विषयक साहित्य

□ श्री चितरंजनकुमार

१. **अष्टछाप** : डा० धीरेंद्र वर्मा; रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद।
२. **अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय २ भाग** : डा० दीनदयालु गुप्त; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३. **अष्टछाप काव्य : सांस्कृतिक मूल्यांकन** : डा० मायारानी टंडन; हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
४. **अष्टछाप परिचय** : प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा।
५. **कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत** : श्यामसुंदरलाल दीक्षित।
६. **कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत** : डा० उषा गुप्ता; लखनऊ वि० वि०।
७. **ब्रजभाषा सूर कोश भाग १-४**, डा० प्रेमनारायण टंडना हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
८. **भक्त सूरदास** : सं० ठा० सूर्यनाथ सिंह।
९. **भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास** : नलिनी मोहन सान्याल।
१०. **भारतीय साधना और सूरसाहित्य** : डा० मुंशीराम शर्मा, ग्रंथम, कानपुर।
११. **भ्रमरगीत का विश्लेषण और मूल्यांकन** : जयबहादुर लाल।
१२. **भ्रमरगीत सार** : नरेन्द्र सिंह शास्त्री, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
१३. **भ्रमरगीत सार** : राजनाथ शर्मा, रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा।
१४. **भ्रमरगीत सार दर्शन** : दुर्गाशंकर मिश्र, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
१५. **भ्रमरगीत सार में काव्य, कला और जीवन दर्शन** : प्रेमकृष्ण अनामिल, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

१६. **भ्रमरगीत सार समीक्षा एवं व्याख्या** : पुष्पलाल सिंह; अशोक प्रकाशन, दिल्ली।
१७. **भ्रमरगीत सार** : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
१८. **महाकवि सूरदास** : आचार्य नंददुलारे बाजपेयी; आत्माराम एण्ड संस दिल्ली।
१९. **महाकवि सूरदास** : जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल; रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर
२०. **महाकवि सूर और भ्रमरगीत** : डा० शंकरदेव अवतरे।
२१. **महाकवि सूरदास : कला और कृत्तियाँ** : पं० दी० वर्मा।
२२. **सूर और उनका भ्रमरगीत** : दामोदरदास गुप्त, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
२३. **सूर और भगवद्भक्ति** : डा० मुंशीराम शर्मा; साहित्य भवन, इलाहाबाद।
२४. **सूर और सूरदास** : दुर्गाशंकर मिश्र, मालवीय प्रकाशन, लखनऊ।
२५. **सूर और उनका साहित्य** : डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
२६. **सूर का रामकाव्य** : त्रिलोकचंद्र गुप्ता।
२७. **सूर का शृंगार-वर्णन** : डा० रमाशंकर तिवारी, अनुसंधान प्रकाशन कानपुर।
२८. **सूर का भ्रमरगीत : एक अन्वेषण** : विश्वंभरनाथ उपाध्याय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
२९. **सूर काव्य की आलोचना** : डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
३०. **सूर की वार्ता** : सं० डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
३१. **सूर की काव्य कला** : शंभुनाथ पांडेय, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।
३२. **सूर की काव्य कला** : डा० मनमोहन गौतम, एस० चांद कं०, दिल्ली।
३३. **सूर की भाषा** : डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
३४. **सूर की काव्य साधना** : डा० गोविंद शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
३५. **सूर की साहित्य साधना** : सं० डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, एवं विश्वंभर अरुण, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं०, आगरा।
३६. **सूर की वार्ता** : हरिराय, साहित्य संस्थान, मथुरा।
३७. **सूर के सौ रत्न** : प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा।

३८. **सूर के सौ कूट** : चुन्नीलाल शेष, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।
३९. **सूर : जीवनी और ग्रंथ** : डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार लखनऊ ।
४०. **सूर दर्शन** : डा० कृष्णलाल हंस, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद ।
४१. **सूर निर्णय** : द्वारिकाप्रसाद पारीख एवं प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।
४२. **सूर परिचय** : डा० शिवनाथ अरोड़ा, रामा बुक डिपो, मुरादाबाद ।
४३. **सूर पंचरत्न** : श्री भगवान दीन ।
४४. **सूर प्रभा** : सं० दीनदयालु गुप्त, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ ।
४५. **सूर मीमांसा** : गणेशदत्त गौड़, भारत प्रकाशन मंदिर, मेरठ ।
४६. **सूर मीमांसा** : डा० ब्रजेश्वर वर्मा, ओरियंटल बुकडिपो, दिल्ली-६
४७. **सूर वाणी** : डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।
४८. **सूर संगीत** : लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस ।
४९. **सूर संदर्भ** : नंददुलारे वाजपेयी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।
५०. **सूर संचयन** : डा० मुंशीराम शर्मा, किताबघर, ग्वालियर ।
५१. **सूर सारावली** : सं० प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा ।
५२. **सूर सारावली : एक अप्रामाणिक रचना** : डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ ।
५३. **सूर साधना और साहित्य** : त्रिलोकी नाथ प्रेमी, आदर्श पुस्तक भंडार, कलकत्ता ।
५४. **सूरसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन** : डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ ।
५५. **सूरसाहित्य का छंदःशास्त्रीय अध्ययन** : डा० गौरीशंकर मिश्र, 'द्विजेंद्र' सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली ।
५६. **सूरसाहित्य और सिद्धांत** : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६
५७. **सूरसाहित्य की भूमिका** : डा० रामरतन भटनागर, रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद ।
५८. **सूर साहित्य** : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६
५९. **सूर साहित्य दर्पण** : श्री जगन्नाथ राय ।
६०. **सूर साहित्य में पुष्टिमार्गीय सेवा भावना** : धर्मनारायण ओझा ।
६१. **सूर साहित्य नवमूल्यांकन** : डा० चंद्रभान रावत ।
६२. **सूर सुषमा** : सं० नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

६३. **सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य** : डा० शिवप्रसाद सिंह, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
६४. **सूरदास** : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, बनारस।
६५. **सूरदास** : डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग।
६६. **सूरदास** : सं० डा० हरवंशलाल शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
६७. **सूरदास** : जनार्दनमिश्र, यूनाइटेड प्रेस, पटना।
६८. **सूरदास** : डा० पीतांबरदत्त बड्थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
६९. **सूरदास** : दामोदर स्वरूप गुप्त, हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली।
७०. **सूरदास** : वि० विद्यार्थी।
७१. **सूरदास** : प्रो० शिवशंकर सारस्वत।
७२. **सूरदास** : गणेशदत्त गौड़, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
७३. **सूरदास** : डा० रामरतन भटनागर, किताब महल, इलाहाबाद।
७४. **सूरदास** : राधिकारमण प्रसाद सिंह, अशोक प्रेस, पटना-६
७५. **सूरदास** : वर्मा, नवयुग पुस्तक भंडार, लखनऊ।
७६. **सूरदास** : रामनारायण अग्रवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
७७. **सूरदास** : मुकुंददेव शर्मा, नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी।
७८. **सूरदास और उनका साहित्य** : पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, सर्चलाइट प्रेस, पटना।
७९. **सूरदास और उनका भ्रमरगीत** : प्रो० राजकुमार शर्मा।
८०. **सूरदास और उनका भ्रमरगीत** : डा० श्रीनिवास शर्मा।
८१. **सूरदास का काव्यवैभव** : डा० मुंशीराम शर्मा, ग्रंथम, कानपुर।
८२. **सूरदास की लालित्य चेतना** : डा० परेश, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
८३. **सूरदास के दार्शनिक विचार** : डा० नारायणप्रसाद वाजपेयी।
८४. **सूरदास के दृष्टकूट** : नवल किशोर प्रेस।
८५. **सूरसागर** : सं० प्रो० राम, एम० ए०।
८६. **सूरसागर** : सं० नंददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० सभा, काशी।
८७. **सूरसागर** : (सटीक), डा० हरदेव बाहरी तथा डा० राजेंद्र कुमार, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
८८. **सूरसागर** : सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी।
८९. **सूरसागर** : सं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।
९०. **सूरसागर सार** : डा० धीरेंद्र वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
९१. **सूरसागर में लोकजीवन** : डा० हरगुलाल।
९२. **सूरसागर शब्दावली** : डा० निर्मला सक्सेना, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद।

□ परिशिष्ट : दो

लेखक परिचय

१. **डा० अरविंद देसाई** : हिंदी विभाग, एम० टी० बी० कालेज, सूरत; १६ महादेवनगर, सगरामपुरा, सूरत (गुजरात)

२. **डा० एन० चंद्रशेखरन नायर** : प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एन० एस० एस० कालेज, मट्‌टनूर, केरल

३. **डा० एन० एस० दक्षिणामूर्ति** : हिंदी विभाग, मैसूर वि० वि०; विजयनिवास, पैलेस रोड, ननजनगुड, मैसूर

४. **डा० एस० एन० गणेशन** : हिंदी विभाग, मद्रास, विश्वविद्यालय, मद्रास

५. **डा० कुंदनलाल जैन** : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बरेली कालेज; जे १३/३५ रामपुरबाग कालोनी, सिविल लाइंस, बरेली (उ० प्र०)

६. **डा० कृष्णचंद्र गुप्त** : हिंदी विभाग, सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर; २३५ आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

७. **डा० कृष्णचंद्र वर्मा** : अध्यक्ष हिंदी विभाग, महारानी लक्ष्मीवाई कालेज; १८३ सिंधा कालोनी, ग्वालियर (म० प्र०)

८. **डा० कृष्णाचार्य** : हिंदी विभाग, नेशनल लायब्रेरी, बेलवेदियर, कलकत्ता; १५० बेलवेदियर एस्टेट, कलकत्ता-२७

९. **डा० कैलाशचंद्र भाटिया** : प्रोफेसर हिंदी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, लालबहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी, मसूरी (उ० प्र०)

१० **डा० गिरिधरप्रसाद शर्मा** : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, भारतीय विद्याभवन, हजारीमल सोमानी कालेज, चौपाटी रोड, बंबई-७

११. **डा० गिरिराजशरण अग्रवाल** : हिंदी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर; हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ० प्र०)

११. **डा० गोपीनाथ तिवारी :** भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, गोरखपुर वि० वि०; सत्यसदन, विंध्यवासिनी नगर, गोरखपुर (उ० प्र०)

१२. **श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' :** शंकर निवास, झाँसी (उ० प्र०)

१३. **डा० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र' :** रीडर, हिंदी विभाग, भागलपुर वि०वि०; भीखनपुर, भागलपुर (विहार)

१४. **डा० चंद्रपाल शर्मा 'मधु' :** हिंदी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर

१५. **श्री चंद्रप्रकाश शर्मा :** द्वारा डा० रामस्वरूप आर्य, नई बस्ती, बिजनौर

१६. **श्री चितरंजन कुमार :** हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ० प्र०)

१७. **डा० जगदीशचंद्र शर्मा 'इंदु' :** हिंदी विभागाध्यक्ष, साहूजैन कालेज, नजीबाबाद (उ० प्र०)

१८. **डा० देवर्षि सनाढ्य :** हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय; २६ ग हीरापुरी, गोरखपुर विश्वविद्यालय; गोरखपुर (उ० प्र०)

१९. **डा० नंदकिशोर तिवारी :** हिंदी विभाग, शांतिप्रसाद जैन डिग्री कालेज, सहसराम (बिहार); निराला निलय, बिजली शहीद, सहसराम (रोहतास)

२०. **डा० निजाम उद्दीन :** हिंदी विभाग, इस्लामिया कालेज, श्रीनगर-२

२१. **डा० निरंकुश :** बी २७ बटलर पैलेस, लखनऊ

२२. **डा० परेश :** हिंदी विभाग, पंजाबी वि० वि०, पटियाला (पंजाब)

२३. **श्री पृथ्वीनाथ 'मधुप' :** ३४७ तेलीवाड़ा, शाहदरा, दिल्ली-३२

२४. **डा० बाबूलाल गोस्वामी :** हिंदी विभाग, श्यामलाल कालेज, दिल्ली; ए २।४ कृष्णनगर, दिल्ली-५१

२५. **डा० बी० लक्ष्मैया शेट्टी :** हिंदी विभागाध्यक्ष, काकरपर्ति भावनारायण कालेज, बिजयबाड़ा

२६. **आचार्य बैजनाथ राय :** एफ १/५४, सेंट्रल गवर्नमेंट क्वार्टर्स, नारकेल-डाँगा, कलकत्ता-५४

२७. **डा० बैजनाथ सिंहल :** हिंदी विभागाध्यक्ष, वैश्य कालेज, भिवानी (हरियाणा)

२८. **डा० भगवतशरण अग्रवाल :** प्रोफेसर्स क्वार्टर्स, यूनी० क्वार्टर्स मार्ग नवरंगपुरा, अहमदाबाद-९ (गुजरात)

२९. **डा० भगवान्शरण भारद्वाज 'प्रदीप' :** हिंदी विभाग, बरेली कालेज, बरेली (उ० प्र०)

३०. **डा० भगीरथ मिश्र :** हिंदी विभागाध्यक्ष, सागर वि०वि०, सागर (म०प्र०)

३१. **डा० मनमोहन गौतम :** ११४७, शोराकोठी, सब्जीमंडी, दिल्ली

३२. **सुश्री मीना अग्रवाल :** हिंदी साहित्य निकेतन, अनाजमंडी, बिजनौर

३३. **डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'** : ९/७ आर्यनगर, कानपुर (उ० प्र०)
३४. **डा० रंजन** : प्राचार्य, ठाकुर निरंजनसिंह महा०, गोटेगाँव (नरसिंहपुर)
३५. **डा० राजमल बोरा** : ६ आनंदनगर, टाउनहाल, औरंगाबाद (महा०)
३६. **डा० राजनारायण राय** : हिंदी विभागाध्यक्ष, आर्मी कैडेट कालेज, घोरपड़ी, पूना
३७. **डा० राजेंद्र कुमार** : हिंदी विभाग, इलाहाबाद वि० वि०; १८४ ए, एलनगंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)
३८. **श्री रामनारायण अग्रवाल** : सूरपंचशती राष्ट्रीय समारोह समिति, किसान भवन, मथुरा (उ० प्र०)
३९. **डा० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ** : हिंदी विभाग, जयपुर वि० वि०; जे १३५, आदर्शनगर, जयपुर (राज०)
४०. **डा० राममूर्ति त्रिपाठी** : हिंदी विभागाध्यक्ष, विक्रम वि० वि० उज्जैन; ई १, वि० वि० आवास, उज्जैन, (म० प्र०)
४१. **डा० रामशंकर द्विवेदी** : हजारीपुरा, उरई
४२. **डा० रामस्वरूप आर्य** : हिंदी विभागाध्यक्ष, वर्धमान कालेज; नई बस्ती, बिजनौर (उ० प्र०)
४३. **डा० रामेंद्र पांडेय** : १८ चंद्रनगर, शारदासदन के पीछे, रायबरेली
४४. **डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल** : हिंदी विभागाध्यक्ष, कुरुक्षेत्र वि० वि०, ई १०, विश्वविद्यालय क्षेत्र, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
४५. **डा० लक्ष्मीनारायण दुबे** : हिंदी विभाग, सागर वि० वि०; स ४४, सागर वि० वि०, सागर (म० प्र०)
४६. **डा० विद्याधर त्रिपाठी** : हिंदी विभाग, बरेली कालेज, बरेली; २१६ बाग बेरगटान, बरेली (उ० प्र०)
४७. **डा० विश्वनाथ मिश्र** : हिंदी विभागाध्यक्ष, सनातनधर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
४८. **डा० विश्वनाथ शुक्ल** : रीडर हिंदी विभाग, अलीगढ़ वि० वि०, अलीगढ़
४९. **डा० विश्वदेव त्रिगुणायत** : हिंदी विभाग, शंभूदयाल कालेज, गाजियाबाद (उ० प्र०)
५०. **श्री वेदप्रकाश गर्ग** : १४ खटीकान स्ट्रीट, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
५१. **श्री व्योहार राजेंद्र सिंह** : साठिया कुआ, जबलपुर (म० प्र०)
५२. **डा० शंभुशरण शुक्ल** : हिंदी विभाग, उपाधि महाविद्यालय, पीलीभीत
५३. **सुश्री शोभा सत्यदेव** : २६०/१ खिड़की अलीबेग, फैजाबाद (उ० प्र०)
५४. **सुश्री शोभा रं० देशपांडे** : शोध सहायक, पुणे विद्यापीठ, गणेश खिंड, पूना–७

५५. **डा० श्यामकिशोर शर्मा** : हिंदी विभाग, राजा ज्वालाप्रसाद कालेज; बिजनौर; अनाजमंडी, बिजनौर (उ० प्र०)

५६. **डा० श्यामबहादुर वर्मा** : हिंदी विभाग, पी० जी० डी० ए० वी० कालेज (सांध्य) मंदिर मार्ग, नई दिल्ली

५७. **डा० श्यामप्रकाश** : हिंदी विभाग, के० एम० भाषा विज्ञान संस्थान, आगरा; १४ गोपालकुंज, बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा-२

५८. **डा० श्यामसुंदर बादल** : राठ (उ० प्र०)

५९. **प्रो० श्रीचंद्र जैन** : प्राचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, संदीपनी स्नात० महा०, उज्जैन (म० प्र०)

६०. **प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव** : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (बिहार)

६१. **डा० श्रीराम त्यागी** : भूतपूर्व प्राचार्य, वर्धमान कालेज, बिजनौर

६२. **डा० सत्येंद्र** : ए २६।११ विद्यालय मार्ग, तिलकनगर, जयपुर-४ (राज०)

६३. **डा० सत्यनारायण शर्मा** : हिंदी विभाग, एस० के० आर० कालेज, बरबीघा (मुंगेर) बिहार

६४. **डा० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ** : प्राचार्या, किशोरीरमण कन्या महा०, मथुरा (उ० प्र०)

६५. **श्रीमती सविता किशोर** : द्वारा डा० श्यामकिशोर शर्मा, अनाजमंडी, बिजनौर (उ० प्र०)

६६. **डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित** : हिंदी विभाग, जोधपुर वि० वि०; ७२४ मार्ग ३ सरदारपुरा, जोधपुर (राज०)

६७. **डा० श्रीमती स्नेहलता प्रकाश** : १४ गोपालकुंज, बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा–२ (उ० प्र०)

६८. **डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी** : ए ३३, रवींद्रपुरी, वाराणसी (उ० प्र०)

६९. **डा० हरगुलाल** : हिंदी विभाग, पी० जी० डी० ए० वी० कालेज, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली; ५३।६१ रामजस रोड, करौलबाग, नई दिल्ली

७०. **डा० हरवंशलाल शर्मा** : निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली; ४२, अशोक रोड, नई दिल्ली–१

७१. **डा० हर्षनंदिनी भाटिया** : नंदन, लाखनू कम्पाउंड, मैरिस नगर, अलीगढ़ (उ० प्र०)

संरक्षक व विशिष्ट सदस्य

१. डा० आनंदशरण रतूड़ी : कुलपति, रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली।
२. श्री ईश्वरशरण अग्रवाल, : एडवोकेट, नई बस्ती, बिजनौर।
३. श्री एम० एल० जैथलिया : स्योहारा शुगर मिल्स, स्योहारा।
४. श्री कन्हैयालाल रस्तौगी : आढ़ती, संभल (मुरादाबाद)।
५. श्री कांतिप्रसाद : आढ़ती, अमरोहा (मुरादाबाद)।
६. डा० के० के० गोयल : अमरोहा (मुरादाबाद)।
७. श्री के० एन० अग्रवाल : चीफ कैमिस्ट, धामपुर शुगर मिल्स।
८. श्री गंगाशरण दीक्षित : अति० सचिव, माध्य० शिक्षा परि०, मेरठ।
९. डा० चंद्रप्रकाश अग्रवाल, अनाजमंडी, बिजनौर।
१०. डा० जनार्दनदत्त शुक्ल : ५ बटलर रोड, लखनऊ।
११. श्री प्रभुदयाल मीतल : साहित्य संस्थान, मथुरा।
१२. श्री बनवारीलाल गोयल : आढ़ती संभल (मुरादाबाद)।
१३. श्री बालकृष्ण खन्ना : जीवन बीमा निगम, बिजनौर।
१४. श्री ब्रजभूषण बजाज : ६-३-८६२ अमीर पेठ, हैदराबाद-१६।
१५. श्री रामनारायण अग्रवाल : गली रावलिया, लाल दरवाजा, मथुरा।
१६. श्री शांतिप्रसाद मित्तल : नीलकमल टाकीज, बिजनौर।
१७. श्री शांतिस्वरूप सर्राफ : अमरोहा, (मुरादाबाद)।
१८. श्री शोभाराम अग्रवाल : मुख्यकार्यकारी अधिकारी, धामपुर शुगर मिल्स।
१९. श्री सतीशचन्द्र गुप्त : तहसीलदार, अमरोहा, (मुरादाबाद)।
२०. डा० सत्येन्द्र : ए २६/११ विद्यालय मार्ग, तिलकनगर, जयपुर-४।
२१. श्री सुरेन्द्रपाल सिंह, बिक्रीकर अधिकारी, धामपुर।
२२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : ए ३३, रवींद्रपुरी, वाराणसी।
२३. डा० हरवंशलाल शर्मा : निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली।
२४. श्री हरिश्चन्द्र गर्ग : कृषियंत्र उद्योग, संभल, (मुरादाबाद)।
२५. श्री हितेशकुमार शर्मा : एडवोकेट, सिविल लाइंस, बिजनौर।

• • •


कर साहित्य संदर्भ